सिद्ध-सारस्वत

(राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित)

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन

अभिनन्दन-ग्रन्थ

चित्र

प्रो. सुदर्शन लाल जैन बैठे हुए

सिद्ध-सारस्वत प्रोफेसर (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन
के 75वें जन्म-दिवस पर प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक
प्रतिष्ठाप्रज्ञ पं. विमल कुमार जैन 'सोंरया'
सैलसागर, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश

सम्पादक मण्डल

प्रो. पी.सी. जैन, जयपुर
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फर नगर
प्रो. विजय कुमार जैन, लखनऊ
प्रो. वीर सागर जैन, नई दिल्ली
प्रो. मनुलता शर्मा, वाराणसी
प्रो. गोपबन्धु मिश्र, सोमनाथ
प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, वाराणसी
प्रो. अशोक कुमार जैन, वाराणसी

सम्पादक
डॉ. पंकज कुमार जैन, भोपाल

संयोजक
डॉ. सर्वज्ञदेव जैन, भोपाल

संयोजक
पं. वर्द्धमान कुमार जैन सोंरया, टीकमगढ़

प्रकाशक
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
वीतरागवाणी ट्रस्ट (रजि.)
सैल सागर, टीकमगढ़ (मध्यप्रदेश) - 472001

सिद्ध-सारस्वत

प्रोफेसर (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ
पता - एफ 3/103 ग्लोबल ग्रीन एकर्स
एअरपोर्ट रोड, लालघाटी, भोपाल (म.प्र.) 462030
मोबा. 8085730800

प्रेरणास्रोत - प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार सोंरया

प्रकाशन प्रसंग - 75वें जन्मदिवस के अवसर पर अभिनन्दनीय

प्रकाशन वर्ष - वी.नि.सं. 2545
ई. सन् 2019
वि.सं. 2075

प्रतियाँ - 500

सहयोग राशि - 500/-

प्रकाशक -
वीतरागवाणी ट्रस्ट (रजि.)
सैल सागर, टीकमगढ़ (म.प्र.) 472001
मोबा. 9407060670

अक्षरसंयोजन - श्री रोहित पचौरी, भोपाल

मुद्रक - विकास ऑफसेट प्रिन्टिंग, भोपाल

प्राप्तिस्थान -
वीतरागवाणी ट्रस्ट (रजि.)
सैल सागर, टीकमगढ़ (म.प्र.) 472001
मोबा. 9407060670

चित्र
भगवान् जी का
कुण्डलपुर बड़े बाबा

प्रोफेसर (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन के आदर्श एवं प्रेरणा स्त्रोत

क्षुल्लक 105 श्री
गणेश प्रसाद वर्णी

क्षुल्लक 105 श्री जिनेन्द्र
वर्णी

गुरुवर्य प्रो.
सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

गुरुवर्य पं. श्री
जगन्मोहन लाल जी
शास्त्री

पं. कैलाशचन्द्र जी
शास्त्री

प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा

महात्मा गाँधी जी

महात्मना पं. मदनमोहन
मालवीय जी

चित्र

प्रो. सुदर्शन लाल जैन खड़ी मुद्रा में

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

संरक्षक

स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी महास्वामी, श्रवणबेलगोला
स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी, मूडबिद्री
श्रीमान् प्रदीप जी आदित्य, पूर्व केन्द्रीय मन्त्री, भारत सरकार
श्री विमल कुमार जी जैन, पूर्व सत्र न्यायाधीस, भोपाल

अध्यक्ष

श्री डॉ. विजय कुमार जी चौधरी, एडवोकेट, पूर्व जज, भोपाल

उपाध्यक्ष

श्री कपूरचंद जी पाटनी, गौहाटी
श्रीमान् सुरेश जी जैन, आई.ए.एस., भोपाल
डॉ. जितेन्द्र जी जैन, भोपाल
श्री शीलचंद जी जैन, लचकया, भोपाल
डॉ. श्री जयकुमार जी जलज, रतलाम
श्री संजीव कुमार जैन, लखनऊ
श्री वर्द्धमान कुमार जैन सोंरया, प्राचार्य, टीकमगढ़
इजी. डॉ. पंकज जैन, जैननगर, भोपाल

महामंत्री

श्री प्रमोदकुमार जी जैन चौधरी, एडवोकेट, भोपाल

उपमंत्री

श्री सुरेश सरल जी, जबलपुर
श्री सुधीर कुमार जैन, बहराईच
श्री प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी
श्रीमन्त सेठ श्रीपाल जी जैन, वरोदिया
श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, इटियाथोरक
श्री डॉ. फूलचंद जी प्रेमी, दिल्ली

संयोजक

श्री डॉ. सर्वज्ञ देव जैन, भोपाल
अरिहंत शरण जैन, बिलासपुर

प्रधान सम्पादक

प्रतिष्ठाप्रज्ञ पं. विमल कुमार जैन 'सोंरया'

सम्पादक मण्डल

प्रो. पी.सी. जैन, जयपुर

प्रो. मनुलता शर्मा, वाराणसी

डॉ. जयकुमार जैन, नई दिल्ली

प्रो. गोपबन्धु मिश्र, सोमनाथ

प्रो. विजय कुमार जैन, लखनऊ

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, वाराणसी

प्रो. वीर सागर जैन, नई दिल्ली

प्रो. अशोक कुमार जैन, वाराणसी

सम्पादक

डॉ. पंकज कुमार जैन, भोपाल

संयोजक

पं. वर्द्धमान कुमार जैन सोंरया, टीकमगढ़

संयोजक

डॉ. सर्वज्ञदेव जैन, भोपाल

सम्पादकीय

सुप्रसिद्ध विद्वान् मनीषी प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन का अभिनन्दन ग्रन्थ देश के सहृदयी विद्वानों एवं पूज्य सन्तों के करकमलों में समर्पित करते हुए अति प्रसन्नता है। विद्वानों की सेवाओं के इतिहास को लिपिबद्ध करने के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन निश्चित रूप से स्वागत योग्य है। विद्वानों का जीवन उनका स्वयं का श्रम एवं समाज का जीवन अधिक होता है। उनके विचारों का उनकी लेखनी में समाज का दर्शन मिलता है। तेरहवीं शताब्दी के बाद भट्टारकों का काल आया जब देश के विभिन्न स्थानों में भट्टारकों की गद्दियां स्थापित होने लगी थीं और भट्टारकगण अपने अपने प्रदेश के सर्वोपरि धार्मिक अधिकारी माने जाने लगे थे। उस समय के भट्टारक एक ओर पूजा विधान एवं प्रतिष्ठा समारोहों के लिए समाज में रुचि जाग्रत करने लगे तो दूसरी ओर उन्होंने साहित्य प्रचार की ओर ध्यान दिया। भट्टारकों का यह युग 18वीं शताब्दी तक चलता रहा। इस युग में सबसे अधिक पूजा स्तोत्र साहित्य लिखा गया परिणामत: समाज का अधिकांश वर्ग क्रियाकाण्ड में व्यस्त हो गया। इसी समय भट्टारकों के विरोध में एक और विद्वत् परम्परा का उदय हुआ जो आरम्भ में अध्यात्मी पंडित कहे जाते रहे फिर तेरह पंथी पंडित कहे जाने लगे। महान् विद्वान् पं. टोड़रमल जी इस परम्परा के प्रमुख पंडित थे।

विगत 80/90 वर्षों से समाज का पंडित वर्ग सुधारक एवं पुरातन विचारधाओं का पोषक इन दो भागों में बटा रहा। उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा की समाप्ति के बाद साधु संस्था का उदय हुआ। चारित्रचक्रवर्ति आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने अपने संघ के साथ उत्तर भारत में विहार किया तो समाज के अधिकांश पंडित उनके साथ हो गए। परिणामत: समाज का नेतृत्त्व पंडितों के हाथ से निकल कर मुनिराजों के हाथ में चला गया। परन्तु मुनिराजों को भी पण्डितों के सहारे की आवश्यकता पड़ी, इसलिए वे भी पंडितों को अपने साथ रखने लगे और अपने विचारों को पण्डितों के माध्यम से समाज में पहुँचाने लगे। परिणामत: समाज में विद्वानों-साहित्यकारों एवं समाज सेवियों के सम्मान में अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशित करने की एक परम्परा चल पड़ी जिसका सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया। अभिनन्दन ग्रन्थों को विद्वानों ने जैनधर्म एवं इतिहास का एक संदर्भ ग्रन्थ बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास का बहुत सफल परिणाम सामने आया। इसके माध्यम से समाज को नया ज्ञान प्राप्त हुआ तथा शोधार्थियों एवं विद्वानों को जैन धर्म-साहित्य-संस्कृति की गूढ़ परतों को खोलने में सहायक सिद्ध हुआ। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ को भी इन सभी सन्दर्भों में साकारता दी गई जिसे पढ़कर समाज का प्रबुद्ध वर्ग अपने आपको लाभान्वित कर सकेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही सन्तों-विद्वानों एवं श्रेष्ठ समाजसेवियों के सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ अथवा स्मृति ग्रन्थ निकालने की परम्परा का जन्म हुआ। सम्भवत: सर्वप्रथम स्वनामधन्य पं. नाथूरामजी प्रेमी मुंबई का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। जिसका सम्पूर्ण भारत में हार्दिक स्वागत किया गया। इसके पश्चात् यशस्वी शीर्ष साहित्यकारों विद्वानों पूज्याचार्यों एवं श्रेष्ठ समाजसेवियों के अभिनन्दन ग्रन्थ एवं स्मृतिग्रन्थों का प्रकाशन साकार होने लगा जो समाज संस्कृति की एक धरोहर के रूप में गौरान्वित है। समाज ने एवं विद्वानों ने इसका सदैव स्वागत किया है। विद्वानों के सम्मान की परम्परा 19 वीं शताब्दी से अभिनन्दन ग्रन्थों के रूप में साकार देखी गई है। यद्यपि जब से विद्या का आदर है तभी से विद्वानों की स्तुति होती आ रही है। नीतिकारों ने भी लिखा है **'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'** इस प्रकार की उक्तियाँ लिखकर सदैव विद्वानों का अभिनन्दन किया गया है। विद्वानों ने ही साहित्य, धर्म और श्रमण संस्कृति की रक्षा करते हुए उत्तरोत्तर समुन्नति की ओर ले जाने का भागीरथी श्रम किया है। एक साधक अपनी साधना से जिस प्रकार आत्मा को मोक्ष का पात्र बना देता है उसी प्रकार विद्वान् भी अपनी अविरल ज्ञान साधना से समाज, संस्कृति, धर्म और धर्मात्मा को उन्नति के अग्रमार्ग पर ले जाने में मूल हेतु रहा है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक जितने भी आयाम हैं सबकी समुन्नति उस देश के विद्वानों पर आश्रित है। किसी भी राष्ट्र की चहुंमुखी समुन्नति का मुख्य हेतु उसका साहित्य और साहित्यकार होता है। भारतदेश में आज भी हजारों वर्षों के पूर्व के विद्वानों का चिन्तन आज के इस बदलते हुए विकासवादी युग में क्यों नवीनता लिए हुए है। इसका मुख्य कारण है कि उन्होंने जिस विषय पर अपना चिन्तन गहराई तक ले जाकर वस्तु के तथ्य को जब तक प्राप्त नहीं कर लिया तब तक अपने चिन्तन की धारा को निरन्तर बढ़ाते रहे।

तथ्य और सत्य को प्राप्त कर लेने के बाद उसे शब्दों के रूप में प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता उनमें थी। यही कारण है कि हजारों बार उनकी वाणी को पढ़ने के बाद भी उसमें चिन्तन के नए-नए स्वरूप निरन्तर देखने को मिलते हैं।

आज के विकासवादी विज्ञान का मूल आधार प्राचीन महापुरुषों के चिन्तन का ही फल है। जिसे आज का विज्ञान प्रायोगिक रूप में प्रतिफलित करता है। विद्वानों ने जिस अपूर्व श्रम साधना के द्वारा ज्ञानाराधना की प्रवृत्ति को जितनी गहराई तक अपने मानस पटल पर उतार कर उसे चिन्तन की गहराई तक ले गए और उसके अभूतपूर्व प्राप्त अनुभव को शब्दों के द्वारा प्रस्तुत करने की जो क्षमता दिखाई वह अपने आप में मौलिक और अमरत्व रूप रही है। उससे व्यक्ति समाज और राष्ट्र को आगे बढ़ने एवं जीवन दिशा बदलने तथा चिन्तन के आधार पर स्वरूप प्राप्ति में अग्रसर होने का जो सर्वांगीण रहस्य सामने आया उसका हेतु विद्वान् ही रहे हैं। अत: सार्वजनिक रूप में ऐसे चिन्तनशील विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की जो भी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति, संस्था, समाज, राज्य अथवा राष्ट्र द्वारा अपनाई गईं वे सम्मान की श्रेणी में समाहार हुईं।

विद्वानों की इस अभिनन्दन परम्परा को देखकर बीसवीं शताब्दी में कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी इस परम्परा का साकार रूप बनाया, जिन्होंने समाज-राष्ट्र या अन्य संस्था आदि की सेवा कर अपने जीवन के बहुभाग क्षणों को बिताया। ऐसा अभिनन्दन जहाँ दूसरों को प्रेरणा देने का प्रतीक बन सकता है तो अभिनंदित के प्रति उसके कृतित्व की कृतज्ञता का रूप माना जा सकता है। किन्तु विद्वान् का जो अभिनन्दन है वह किसी की प्रेरणा के लिए अथवा उसके कृतित्व की कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए नहीं होता है बल्कि उसकी साधना की पूजा के प्रतीक के रूप में उसे समाहित किया जाता है। नीतिकार ने एक जगह इस हेतु से लिखा है -

विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जन-परिश्रमम्।
न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्।।

अर्थात् विद्वान् के परिश्रम को विद्वान् ही जान सकता है जिस प्रकार प्रसव की वेदना को प्रसव करने वाली स्त्री अनुभव कर सकती है, वन्ध्या महिला नहीं।

ऐसे विद्वानों के अभिनन्दन की इस गौरव परम्परा में डॉ. सुदर्शन लाल जैन का जो सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा सम्मान किया जा रहा है वह इनके ज्ञानाराधन पूर्वक साधक जीवन से प्राप्त प्रेरणा प्रकाशपुञ्जों का वन्दन है। उन्होंने चिन्तन की गहराइयों में गोते लगाकर उससे प्राप्त अनुभूत मणियों की उस दिव्यता की यह पूजा है जिसके आलोक से वर्तमान दिगम्बर जैन समाज को जहाँ दिशाबोधता का स्वरूप तो दिखा ही साथ ही जिनवाणी के विकृत स्वरूप में साम्प्रदायिकता की अथवा पंथवाद की दुर्गन्ध प्रतिभाषित हुई। परिणामत: व्यक्ति से लेकर समाज ने अपनी असलियत चेतना की अँगड़ाई ली और तथ्य के सत्य को जानने का उपक्रम किया। ऐसे मानवीय गुणों से अलंकृत महामानव की परिगणना में समाहारित डॉ. सुदर्शन लाल जी का यह अभिनन्दन ग्रन्थ युगों युगों तक हमें अपने कर्त्तव्य से जहाँ सजग तो करेगा ही पथ से पथभ्रष्ट होने से भी बचाएगा। प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जी ने तुलनात्मक दृष्टि से अन्य दार्शनिक ग्रन्थों से जैनागम की जो उत्कर्षता, श्रेष्ठता तथा वैज्ञानिकता दर्शाई है वह प्रभावक एवं बेजोड़ है। हिन्दी साहित्य के साथ ही आप संस्कृत-प्राकृत-पालि और अंग्रेजी भाषा के निष्णात विद्वान् तो हैं ही व्याकरण, काव्य, साहित्य, वेद, भाषाविज्ञान के अपरिमेय ज्ञाता भी हैं। साथ ही बौद्ध, वेदांत, सांख्य तथा मीमांसा आदि भारतीय दर्शनों के विलक्षण विद्वान् तथा पाश्चात्य दर्शनों के ज्ञाता उच्चकोटि के लेखक सफल प्रबुद्ध साहित्यकार हैं। आपके इस संदर्भ में सैकड़ों शोधालेख देश की अनेक शोधपरक ख्यातिप्राप्त पत्रिकाओं तथा अभिनन्दन ग्रन्थों में प्रकाशित हैं।

सर्वप्रथम उच्चशिक्षा प्राप्त कर आप हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए। अपनी विलक्षण ज्ञान प्रतिभा एवं प्रशासनिक उत्कृष्ट क्षमता के कारण रीडर बने पश्चात् प्रोफेसर के गौरवशाली पद पर कार्य करते हुए अनेक छात्रों को पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान कराने में अपनी गौरव ज्ञान प्रतिभा का परिचय दिया। आपकी प्रखर विद्वत्ता, उत्कृष्ट प्रशासनिक क्षमता को प्रस्तुत करने के कारण भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा आपको राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत कर सम्मानित किया गया।

सेवा निवृत्ति के बाद मध्यप्रदेश की गौरव राजधानी भोपाल में आपने अपना स्थाई निवास बनाया। भोपाल में रहकर यहाँ की समाज को भी अपनी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित कर रहे हैं।

भोपाल प्रवास के समय जब मैंने 10/15 साथी श्रेष्ठ विद्वानों के बीच आदरणीय डॉ. सुदर्शनलाल जी के संदर्भ

में चर्चा की तो सभी ने हार्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की कि ऐसे श्रेष्ठ विद्वान् को अवश्य अभिनन्दन ग्रन्थ से सम्मानित होना चाहिए। विद्वानों की भावनाओं को पढ़कर मैंने अपने वीतरागवाणी ट्रस्ट रजिस्टर्ड के ट्रस्टियों की मीटिंग में ऐसे श्रेष्ठ विद्वान् के सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशक का प्रस्ताव रखा तो सभी ने एकमत से स्वीकृति प्रदान की जिसे मैंने वीतरागवाणी मासिक पत्रिका में प्रकाशित कर देश के यशस्वी विद्वानों, साहित्य मनीषियों, कविगणों एवं प्रतिष्ठित जैनों से साहित्यिक सहयोग देने की अपील की। मुझे लिखते हुए अपार प्रसन्नता है कि मात्र 4 माह में मुझे इतनी सामग्री प्राप्त हो गई कि मैं सहजता से डॉ. साहब का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने में सफल हो सका। यह डॉ. साहब की समाज एवं विद्वत् वर्ग में उनकी लोकप्रियता का प्रमाण है। डॉ. श्री सुदर्शन लाल जैन जी के सम्मान में प्रकाशित हो रहे इस अभिनन्दन ग्रन्थ से डॉ. सुदर्शन लाल जी का मात्र अभिनन्दन ही नहीं हो रहा अपितु समाज, धर्म और जैन संस्कृति का सम्मान भी हो रहा है। इस अभिनन्दित के अभिनन्दन से स्वयं अपने आप मैं अभिनंदित हो गया। ग्रन्थ सम्पादन के कार्य में हमारे सम्पादक मण्डल के श्रेष्ठ सुयोग्य विद्वानों का हमें पर्याप्त सुझाव और सहयोग मिला सम्पादन का कार्य बड़ा दुरूह और श्रमसाध्य होता है। जिससे हमारे साथी सम्पादकों ने ग्रन्थ की सर्वांगीण सौरभता को महकाया है। ग्रन्थ की उपयोगिता की दृष्टि से इसकी सामग्री चयन करने में जो भी महत्त्वपूर्ण अच्छाई है उस का श्रेय हमारे सम्पादक मण्डल का है। विशेषकर डॉ. पंकज कुमार जी जैन, प्रबंध सम्पादक के अथक श्रम और सहयोग के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। अपने साथी सम्पादक मण्डल के विद्वानों के प्रति विनम्रता पूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ जिनका मार्गदर्शन साहित्यिक अवदान हमें सुलभता से प्राप्त हो सका। इन सभी साहित्यकार लेखकों के प्रति भी सहृदयता व्यक्त करता हूँ जिनके गौरवशाली शोधलेख हमें ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ प्राप्त हुए। सुन्दर कम्पोजिंग के लिए श्री रोहित जी पचौरी तथा आदरणीय श्री विकास जी जैन गोधा के प्रति विनम्रता पूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ का गौरवशाली मुद्रण कर हमें सहयोग दिया। अन्त में कहना चाहूँगा कि –

परम उपासक सरस्वती के जिनका नाम सुदर्शन है।
बोलें तो मिसरी सी घोलें, वाणी में आकर्षण है।।
विविध विद्याओं के ज्ञाता हैं अनुपम जिनका दर्शन है।
इन पावन बेला पर उनका बार-बार अभिनन्दन है।।

सैलसागर चौराहा
टीकमगढ़ (म.प्र.) 472001

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार सोंरया
पूर्व प्राचार्य, शा.सं. महाविद्यालय
टीकमगढ़, मध्यप्रदेश
प्रधान सम्पादक व सम्पादक मण्डल

विषयानुक्रमणिका

प्रथम सोपान : शुभाशंसाएँ एवं संस्मरण

(क) आचार्य, मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक एवं भट्टारक -

पृ.संख्या

1. प.पू. सन्तशिरोमणि आचार्यश्री 108 विद्यासागर जी महाराज
2. प.पू. राष्ट्रसंत सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 विद्यानन्द महाराज
3. प.पू. आचार्यश्री 108 वर्द्धमान सागर जी महाराज
4. प.पू. गणाचार्यश्री 108 विराग सागर जी महाराज
5. प.पू. आचार्यश्री 108 विशुद्धसागर जी महाराज
6. प.पू. सराकोद्धारक आचार्यश्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज
7. प.पू. पट्टाचार्य श्री 108 अनेकान्त सागर जी महाराज
8. प.पू. वैज्ञानिक संत आचार्यश्री 108 निर्भयसागर जी महाराज
9. प.पू. आचार्यश्री 108 विवेकसागर जी महाराज
10. प.पू. उपाध्याय 108 उदयसागर जी महाराज
11. प.पू. मुनिपुंगव श्री 108 सुधा सागर जी महाराज
12. प.पू. मुनि श्री 108 योग सागर जी महाराज
13. प.पू. मुनि श्री 108 प्रमाण सागर जी महाराज
14. प.पू. मुनि श्री 108 समता सागर जी महाराज
15. प.पू. मुनि श्री 108 अभय सागर जी महाराज
16. प.पू. मुनि श्री 108 संभव सागर जी महाराज
17. प.पू. मुनि श्री 108 सुव्रत सागर जी महाराज
18. प.पू. मुनि श्री 108 पारस सागर जी महाराज
19. प.पू. मुनि श्री 108 श्रेयांस सागर जी महाराज
20. प.पू. मुनि श्री 108 कुन्थु सागर जी महाराज
21. प.पू. मुनि श्री 108 प्रमुख सागर जी महाराज
22. प.पू. मुनि श्री 108 पार्श्व सागर जी महाराज
23. प.पू. मुनि श्री 108 सन्धान सागर जी महाराज
24. प.पू. श्री 105 आर्यिका गणनी प्रमुख ज्ञानमति माता जी एवं चन्दनामति माता जी
25. प.पू. श्री 105 आर्यिका विज्ञानमति माता जी एवं आदित्यमति माता जी
26. प.पू. श्री 105 आर्यिका संभवमति माता जी
27. प.पू. श्री 105 आर्यिका 105 स्वस्तिभूषण माता जी
28. प.पू. श्री 105 क्षुल्लक ध्यान सागर जी महाराज
29. स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक, श्रवणबेलगोल
30. स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक, मूडविद्री
31. स्वस्ति श्री देवेन्द्र कीर्ति भट्टारक, हुमचा
32. स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक ज्वालामालिनी

(ख) राजनेता, विद्वान् एवं समाज

33. संदेश – आनन्दी बेन पटेल, राज्यपाल (मध्यप्रदेश)
34. संदेश – प्रकाश जावड़ेकर
35. A dedicated sholar – प्रो. सत्यव्रत शास्त्री, नई दिल्ली
36. शुभाशंसा – पद्मश्री प्रो. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, वागीशः, वाराणसी
37. शुभाशंसा – प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, पूर्वकुलपति, भोपाल
38. मंगल-भावना – प्रो. राकेश भटनागर, कुलपति, बी.एच.यू.
39. मंगल-भावना – प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय, कुलपति, नई दिल्ली
40. प्रशंसनीय और अनुकरणीय व्यक्तित्व – प्रो. वेणीमाधव प्रसाद शुक्ल, पूर्वकुलपति, गोरखपुर, वाराणसी
41. अनुशंसा – प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी
42. अनुशंसा – प्रो. गोपबन्धु मिश्र, कुलपति, सोमनाथ
43. शुभकामना संदेश – पद्मश्री प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी, वाराणसी
44. भावि पीढ़ी के लिए तर्जनीवत् – प्रो. ए. अरविंदासन, पूर्वकुलपति, वर्धा
44. पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व एवं शोध-कर्ताओं के हृदय सम्राट् – प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल सोंरया, टीकमगढ़
45. जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् और बुन्देलखण्ड के रत्न – डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, जयपुर
46. कथनी करनी की एकरूपता के आदर्श – प्रो. सागर मल जैन, शाजापुर
47. हार्दिक अभिनन्दन – प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी
48. शुक्लपक्षीय-चन्द्रवदुदात्त-शुभचरितम् – प्रो. धर्मदत्त चतुर्वेदी, सारनाथ
49. सुदर्शनाभिधानः सः सर्वगुणविचक्षणः – प्रो. भागचन्द जैन 'भागेन्दु' दमोह
50. सिद्धसारस्वतस्याभिनन्दनम् – प्रो. कुसुम पटोरया, नागपुर
51. ओजस्वी मीठी वाणी का ज्ञान-भण्डार – पं. जवाहर लाल जैन, भिण्डर, उदयपुर
52. आत्मप्रशंसा से दूर समर्पित मनीषी – डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर
53. वैदुष्य और सदाशयता की मूर्ति – प्रो. मारुतिनन्दन तिवारी, वाराणसी
54. नारिकेलसम स्वभावी – प्रो. श्रीमती अन्नपूर्णा शुक्ल, वाराणसी
55. विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन – प्रो. डॉ. जयकुमार जैन सामरिया, वाराणसी
56 प्राच्यविद्या मनीषी – प्रो. प्रेमसुमन जैन एवं डॉ. श्रीमती सरोज जैन, उदयपुर
57. सरल एवं सहज व्यक्तित्व के धनी – डॉ. रीना जैन 'वेद' जयपुर
58. वन्दे गुरुं सिद्ध-सारस्वतम् – डॉ. प्रताप शास्त्री, भोपाल
59. सौम्यमूर्ति गुरुदेव प्रो. सुदर्शन लाल जैन – डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, गाजियाबाद
60. जैन जगत के गणमान्य बहुश्रुत व्यक्ति – प्रो. हुकम चन्द जैन, उदयपुर
61. विद्याव्यसनी प्राच्यभाषाविद् – प्रो. धर्मचन्द जैन, जोधपुर
62. सुदर्शनाष्टकम् – डॉ. श्रीमती राका जैन, लखनऊ
63. वरिष्ठ विद्वानों के गुरु. प्रो.० – प्रो. अनेकान्त कुमार जैन, नई दिल्ली
64. मेरे सहपाठी की विविध क्षेत्रों में ऊँची उडान – प्रो. धर्मचन्द जैन, कुरुक्षेत्र
65. सादा जीवन उच्च विचार – डॉ. शीतल चन्द जैन, जयपुर
66. सरलता और सहजता की प्रतिमूर्ति – डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, वाराणसी
67. सारस्वत विद्वान् : एक आदर्श विभूति – डॉ. अखिल बंशल, जयपुर
68. सौम्य और अद्भुत प्रतिभा के धनी – डॉ. अरविन्द जैन, भोपाल
69. विद्वत् गौरव हमारे आदर्श – डॉ. ज्योति बाबू जैन, उदयपुर

70. प्रशासन में त्वरित समाधान क्षमता – प्रो. बिहारी लाल त्रिपाठी, वाराणसी
71. बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी – डॉ. सुनील कुमार जैन 'संचय' ललितपुर
72. एक सौम्य एवं कर्मनिष्ठ व्यक्तित्व – डॉ. विवेक पाण्डेय, हंडिया
73. कीर्तिर्यस्य स जीवति – डॉ. परमेश्वरदत्त शुक्ल, वाराणसी
74. सरलता और विनम्रता के अमूल्य आभूषण – प्रो. वीरसागर जैन, नई दिल्ली
75. धीर-गम्भीर और शान्त स्वभावी – प्रो. अशोक कुमार जैन, रुडकी
76. प्रणति-ततय: – प्रो. माधव जनार्धन रटाटे, वाराणसी
77. सफल शिक्षक एवं कुशल प्रशासक – प्रो. शुकदेव भोई, नई दिल्ली
78. विद्वत्परिषद् के गौरव – डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती', बुरहानपुर
79. आचार्य सुदर्शन लाल जैन – प्रो. प्रद्युम्न दुबे, वाराणसी
80. प्राच्य भाषाओं के मनीषी विद्वान् – डॉ. ऋषभ चन्द जैन फौजदार, वैशाली
81. एक मृदुभाषी सुहृद् विद्वान् – प्रो. रमेशचन्द्र गुप्त, वाराणसी
82. नई पीढ़ी के मार्गदर्शक – श्री शान्ति कुमार पाटिल, जयपुर
83. कुशल शोध-निर्देशक – डॉ. विवेकानन्द जैन, वाराणसी
84. श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् – प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, वाराणसी
85. Passing the Batom of Knowledge – प्रो. पतञ्जलि मिश्र, वाराणसी
86. Eminent Honourable – प्रो. शुभचन्द्र जैन, मैसूर
87. Maintaining the Hindu Snaskriti in his Family – मुरली कोट्टे, अमेरिका
88. Nature of simplicity and Hardwork – प्रो. कमल शील, वाराणसी
89. Well Known Scholar – प्रो. विश्वेश्वर भट्टाचार्य एवं डॉ. शिप्रा भट्टाचार्य, वाराणसी
90. Outstanding and Brilliant Academician – प्रो. डी.एन. तिवारी, वाराणसी
91. Amicable in nature and Hardwork - Dr. T.S. Giriprakash, Madurai
92. सर्वविदुषामभिनन्दनीया: – प्रो. दामोदर शास्त्री, लाडनूं
93. एक विलक्षण व्यक्तित्व – प्रो. पी.सी.जैन, जयपुर
94. आपके वैदुष्य एवं सरलता को नमन – श्री प्रमोद चौधरी एडवोकेट, भोपाल
95. आपका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रेरणा स्तम्भ बने – डॉ. प्रेमचन्द रांवका, जयपुर
96. ज्ञानसूर्यसम अवलोकित – श्री महेन्द्र जैन एवं श्रीमती शशि जैन
97. सिद्ध सारस्वत प्रो. सुदर्शन लाल जी : यथा नाम तथा गुण – डॉ. निहाल चन्द जैन, बीना
98. श्री गुरवे नम: – डॉ. श्रीमती उषा वर्मा
99. विराट व्यक्तित्व के धनी प्रो. सुदर्शन लाल जी – डॉ. पंकज कुमार जैन 'ललित' भोपाल
100. अनुपम प्रेरणास्पद व्यक्तित्व – डॉ. सन्तोष कुमार जैन, सीकर
101. प्रशासनिक उच्च पद पर कार्यरत लोगों के लिए प्रेरणा स्रोत – प्रो. उमादेवी जोशी, वाराणसी
102. जैन विद्यानुरागी विद्वान् – प्रो. श्रेयांस सिंघई, जयपुर
103. सिद्ध सरस्वती के सारस्वत वरदपुत्र – पं. शिवचरण लाल जैन, मैनपुरी
104. जैन विद्वानों की परम्परा के दैदीप्यमान भास्कर – डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बडौत
105. मेरे विद्यागुरु और अभिभावक – प्रो. अशोक कुमार जैन, वाराणसी
106. सोमनस्स सम्बन्धो – प्रो. हरिशंकर शुक्ल, वाराणसी
107. हमारे मार्गदर्शक – प्रो. विजय कुमार जैन, लखनऊ

108. पात्रस्नेही परार्थकृत् गुरुवर – डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
109. डीन के रूप में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये– प्रो. कमल कुमार जैन, नई दिल्ली
110. आलोचना और छिद्रान्वेषण से दूर – श्री ध्रुवकुमार जैन एवं श्रीमती सरिता जैन, वाराणसी
111. सम्बन्धों में निश्छल आत्मीयता – डॉ. अभय कुमार जैन, सारनाथ
112. मेरा भी सादर प्रणाम – डॉ. रमेश चन्द्र जैन, बिजनौर
113. पण्डितप्रवर को जैसा मैंने अनुभव किया – डॉ. आर. के. जैन, कोटा
114. आलोचकों को भी भक्त बनाने की अद्भुत क्षमता– प्रो. नरेन्द्र कुमार जैन, सामरिया,वाराणसी
115. हमारे आदर्श उच्चतर कीर्तिमान स्पर्शकर्त्ता – प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी
116. विद्वत्ता, धर्मवत्सलता और उदारता का संगम – पं. खेमचन्द जैन, जबलपुर
117. अनेक प्रज्ञाओं के संगम – प्रो. रतनचन्द जैन, भोपाल
118. आत्मीय सुहृद् आप बहुत याद आते हो – डॉ. प्रेमचन्द जैन, नजीबाबाद
119. हमारे अग्रजकल्प आदरणीय भाईसाहब – प्रो. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, वाराणसी
120. यशस्वी विद्वान् एवं शिक्षाविद् – स्व. डॉ. नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद
121. एक साक्षात्कार विद्वद्वरेण्य – डॉ. श्रीमती ज्योति जैन, खतौली
122. सारस्द–वरेण्णो – प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर
123. शिष्या: सदा नमन्तिस्म तान्हि प्रणत मानसा – प्रो. मुरली मनोहर पाठक, गोरखपुर
124. गगन के प्रखर प्रकाश पुञ्ज – कवि सुरेन्द्र जैन 'सरस' भोपाल
125. कर्तव्यनिष्ठ एवं समन्वयवादी विचारक – श्री विमल कुमार जैन, वाराणसी
126. विद्वद्वरेण्य के प्रति मेर अन्तस् भाव – श्री संतोष कुमार जैन, भोपाल
127. अमेरिका में प्रवचन–प्रभावना – श्री अशोक जैन एवं श्रीमती रेखा सेठी
128. बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी – डॉ. विकास एवं श्रीमती वन्दना चौधरी, उदयपुर
129. अथाह वैदुष्य के धनी तथा शिक्षार्थियों के प्रति उदारवृत्ति – पं. संजीव कुमार, ललितपुर
130. सबसे प्रेमभाव – डॉ. ओमप्रकाश सिंह, वाराणसी
131. समादरणीय बैंक खाता धारक – श्री विवेक तिवारी, भोपाल
132. सुमति सुधा श्रुत–संवर्द्धक – प्रतिष्ठाचार्य पवन कुमार 'दीवान' मुरैना
133. हम सबके चहेते पं. जी – श्री मुल्तान चन्द जैन, भोपाल
134. पाषाण–कणिका से हीरा बने – प्रो. शीलचन्द जैन, वरुआसागर
135. सीधी–सीधी बात करते हैं – पं. केशरी मल जैन, भोपाल
136. पूजा–विधान में फिल्मी संगीत में अरुचि – श्री संतोष कुमार जैन, भोपाल
137. जैनागम के गूढरहस्य प्रतिपादक – श्रीमती रानी जैन, भोपाल
138. सर्वगुणरूपी रत्नों की खान – श्रीमती कल्पना जैन, भोपाल
139. – पं. सुदर्शन जैन, पिंडरई, मण्डला
140. ऋषितुल्य महामानव – डॉ. संतोष कुमार पाण्डेय, हरहुआ
141. विद्वानों की शृङ्खला में स्तम्भ पुरुष – प्रतिष्ठारत्न पं. सुरेश चन्द जैन, दमोह
142. गुरुदेव को प्रणाम – डॉ. जया मिश्रा, वाराणसी
143. स्तुत्य और चिरस्मरणीय व्यक्तित्व – पं. सनत् कुमार जैन, खिमलासा
144. देशभक्त मनीषी – श्री विजय कुमार मलैया, दमोह
145. जैन जगत के गौरव – श्री अनूप चन्द जैन, एडवोकेट, इलाहाबाद
146. सरस्वती बसी कंठ में होकर सरसवती – पं. कवि लालचन्द राकेश, भोपाल
147. एक चुम्बकीय व्यक्तित्व – श्री पद्मचन्द जैन, भोपाल

148. निष्पृही दृढ सिद्धान्तवादी – इंजि. दिनेश जैन, भोपाल
149. अभिनन्दनीय व्यक्तित्व – डॉ. सर्वज्ञदेव जैन भोपाल
150. वन्दनीय पं. जी – श्री नील चौधरी एडवोकेट, भोपाल
151. सरस्वती एवं सरलता का विरल संगम – श्री राजीव जैन, भोपाल
152. आदर्श पुरुष – ई. विवेक चौधरी, भोपाल
153. जैनदर्शन के अधिकारी विद्वान् – पं. सुरेश जैन, मारौरा
154. यशस्वी व्यक्तित्व – प्राचार्य पं. वर्द्धमान कुमार जैन सोंरया, टीकमगढ़
155. गौरव गरिमा के प्रतीक – डॉ. अरहंत शरण जैन, बिलासपुर
156. संस्कारवान् पत्नी के सहभागी – श्रीमती मिली जैन, भोपाल
157. मेरे दादा गुरु डॉ. सुदर्शन लाल जी – श्रीमती मीना जैन, उदयपुर
158. अविस्मरणीय संस्मरण – डॉ. मुकेश जैन, कलकत्ता
159. आने वाला कल भी गायेगा पं. जी की गाथा – पं. मुन्नालाल शास्त्री, गंजबासोदा
160. विद्वानों के निर्माता – डॉ. मुकेश जैन 'विमल' दिल्ली
161. विद्वज्जगत् में सर्वोपरि प्रतिष्ठा – डॉ. संजय जैन, भोपाल
162. निष्काम निर्लोभवृत्ति – डॉ. नीरजाकान्त पाण्डेय, मीरजापुर
163. हमारे सहपाठी आज भी सरल प्रकृति हैं – श्री नेमीचन्द जैन भोपाल
164. श्रुतसेवक विद्वान् मनीषी – कवि चन्द्रसेन जैन, भोपाल
165. जिनवाणी के सिद्धान्तों से समझौता अस्वीकार – श्री अजय ज्योतिषी, भोपाल
166. प्रतिष्ठा, उपासना और विद्यानुराग प्रेमी – श्रीमती डॉ. शोभा मिश्रा, लखनऊ
167. बुंदेलखण्ड की महान् विभूति – डॉ. मनीष कुमार जैन, वाराणसी
168. अनुकरणीय व्यक्तित्व – श्री प्रभात कुमार जैन, भोपाल
169. ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनन्दन – डॉ. अरहन्त शरण जैन, बिलासपुर
170. विद्याव्यसनी – श्रीमती गजरादेवी जैन, टीकमगढ़
171. पिता की छवि देखी – डॉ. प्रियङ्का, इलाहाबाद
172. जैन आगमों के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटक – श्री विनोद जैन, भोपाल
173. जिनवाणी के गहन अध्येता – कु. सपना जैन,
174. वात्सल्य मूर्ति मनीषी – श्री अरुण जैन, भोपाल
श्रुताराधक का अभिनन्दन – श्री पद्मचन्द्र जैन, जैननगर, भोपाल

(ग) अध्ययन-अध्यापन काल में प्राप्त हमारे स्मृतिशेष गुरुजनों के आशीर्वाद –

175. Keen sense of responsibility – प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, बी.एच.यू.
176. Devoted to his studies – डॉ. डी.सी. गुहा, बी.एच.यू.
177. Devoted to his studies – प्रो. एन. के. तेलङ्ग, बी.एच.यू.
178. अध्ययन प्रिय एवं समाज सेवी – प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, बी.एच.यू.
179. Intelligent and Promissing Person – प्रो. वीरमणि प्रसाद उपाध्याय, बी.एच.यू
180. Studied Indian and European Philosophy– प्रो. आर.आर. द्रविड, बी.एच.यू.
181. विनम्र, होनहार और अध्यवसायी – पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय
182. बुद्धिमान् एवं विनयशील – पं. दरबारी लाल कोठिया, बी.एच.यू.
183. विषय-प्रतिपादन शैली उत्तम – पं. हीरावल्लभ शास्त्री, बी.एच.यू.
184. विद्वान् भी मुग्ध हो जाते हैं – पं. मूलशङ्कर शास्त्री, बी.एच.यू.
185. सरल और विद्या व्यसनी स्वभाव – पं. पी.एन. पट्टाभिरामशास्त्री, सं.सं.वि.वि.वाराणसी
186. न केवलं नाम्ना सुदर्शनः – पं. महादेवशास्त्री, बी.एच.यू.

(घ) परिवार और रिश्तेदारों की कलम से -

187. विवाहोपरान्त पति के साथ जीवन यात्रा - डॉ. मनोरमा जैन, भोपाल
188. मेरे सबसे अच्छे माता-पिता - डॉ. सन्दीप कुमार जैन, अमेरिका
189. My Father is Respectable Personality - श्री संजय कुमार जैन, अमेरिका
190. सबसे अच्छे मम्मी-पापा - श्री अभिषेक कुमार जैन, मुम्बई
191. A Nobel Personality - डॉ. मनीषा जैन, भोपाल
192. माता-पिता तुल्य मेरे सास-ससुर - श्रीमती अर्चना जैन, अमेरिका
193. My Father-in-law is an Example of the Hard work- डॉ. आरती जैन, आमेरिका
194. मेरे सास-ससुर मेरे माता-पिता - श्रीमती नीलू जैन, मुंबई
195. पण्डितप्रवर सुदर्शन लाल जी जयवन्त रहें - श्री जिनेश्वर कुमार जैन, कोरबा
196. आदरणीय सावजी साहब को बधाई - श्री संतोष कुमार जैन, शहडोल
197. हिमगिरि सम उन्नत ललाट - श्री नन्दन लाल शास्त्री, जबलपुर
198. संस्कृत-प्राकृत के पुरोधा मेरे अपने मामा जी - श्री सुशील कुमार जैन, जबलपुर
199. हर्ष एवं गर्व की अनुभूति - प्रमोद जैन, जबलपुर
200. My most memorable visit to my Dadaji's (Dean's) Office- कु. अर्चिता जैन, अमेरिका
201. Dadaji is still in touch with his inner child - कु. संजिता जैन, अमेरिका
202. Discipline Nature - श्री ऋषभ जैन, पूना

द्वितीय सोपान : स्व जीवन वृत्त (मैं कौन हूँ)

प्रारम्भिक संस्मरण **पृ.संख्या**

[पूर्वज ( ), शाहगढ़ से दमोह आगमन ( ), मेरी अध्ययन-अध्यापन यात्रा ( ), सेवानिवृत्ति के बाद ( ), पिता स्व. श्री सिद्धेलाल जैन की वंशावली ( ), मेरे माता-पिता की जीवन यात्रा ( ), पिता जी द्वारा अपनी बहिन, भाई और स्वयं का विवाह ( ), पिता जी की सन्तानें उनका जन्म और माता जी का स्वर्गवास ( ), बेटियों का तथा मेरा विवाह ( )]

डीन के रूप में कार्य

संस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य

डायरेक्टर के रूप में कार्य

अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् के मंत्री के रूप में कार्य

प्रमुख घटनाएँ

[कैसे जीवन की दिशा बदली ( ), भक्तामर का चमत्कार ( ), विपरीत दिशा की ट्रेन में बैठा ( ), देवदूत आया ( ), ट्रेन यात्री के पैसे टी.टी. से वापिस दिलवाए ( ), टी.टी. से पत्नी के पैसे वापिस दिलवाए ( ), परीक्षा के दौरान गुंडे की धमकी ( ), परीक्षा सम्बन्धी अन्य घटना ( ), विश्वविद्यालय को अनिश्चितकालीन बन्दी से बचाया ( ), चीफ प्राक्टर को छात्रावास में फोर्स के साथ आने से रोका ( ), अध्यापक को छात्रहित में समझाया ( ), छात्रों द्वारा सम्मान ( ), मीटिंग में पुन: जाकर छात्र को डिग्री दिलवाई ( ), प्रवेश-प्रक्रिया में एक अध्यापिका का अडंगा ( ), विभागीय कुछ अध्यापकों के विरोध से विभिन्न विषयों का ज्ञाता बना ( ), सेवानिवृत्ति पर नो ड्यूज कुलपति द्वारा ( ), रात्रि भोजन त्याग का फल ( ), जीवन की दिशा बदलने वाले निमित्त ( )]

अन्य घटनाएँ

[गंगा नदी में कूंदा ( ), साइकिल दुर्घटना ( ), बस दुर्घटना ( ), झूठे मारपीट के केस में फंसाया ( ), पुत्र ने डकैतों का सामना किया ( ), पुत्री की ट्रेन बीच में रद्द हुई ( ),चोरी का धन वापस पाया ( ), बीमारियाँ - मोतीझरा, छोटी बड़ी माता, हाईड्रोसिल ऑपरेसन स्कूटर एक्सीडेंट, हृदय की वायपास सर्जरी, मोतियाबिन्द आपरेशन, साईटिका आदि ( ), पुत्र, पिता जी तथा सासु जी के आपरेशन आदि कराए ( ), सास को अपनी माँ मानकर उनकी सेवा की और रक्तदान किया ( )]

अमेरिका और सिंगापुर यात्राएँ
पूजा आदि धार्मिक क्रियाएँ
परिवार के सदस्यों का मोक्षमार्ग की ओर कदम
स्वतंत्रता संग्राम में योगदान
मेरी पत्नी मनोरमा और उनकी माता जी
हमारी योजनाएँ
स्पोर्ट्स में अभिरुचि
परिवार में परस्पर प्रेमभाव
मेरे आत्मीय जिनकी विशेष याद आती है।
संक्षिप्त कृतित्व एवं व्यक्तित्व

[परिवार ( ), शैक्षणिक योग्यता ( ), शिक्षा संस्थान ( ), अध्यापन ( ), शोध-निर्देशन ( ),सम्मान पुरस्कार ( ), प्रकाशित ग्रन्थ ( ), प्रशासनिक एवं शैक्षिक पद ( ), विषय-विशेषज्ञ के रूप में आमन्त्रण ( ), पर्यूषण पर्व एवं महावीर जन्यती पर विशिष्ट व्याख्यान एवं सम्मान ( ), संगोष्ठी एवं कार्यशाला - अध्यक्षता, मुख्यवक्ता, उद्घाटन कर्त्ता, पत्रवाचक तथा संयोजक ( ), आकाशवाणी से संस्कृत वार्तायें ( )]

प्रकाशित लेखों की सूची
पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त लेखों की सूची

तृतीय सोपान : साहित्य सृजन

प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी द्वारा लिखित आलेख -

क्र.	विषय		पृ.संख्या
1.	जैनदर्शन में भक्ति क्यों और कैसे ?	-	
2.	भारतीय चिन्तन में आत्म तत्त्व : एक समीक्षा	-	
3.	भारतीय चिन्तन में मोक्ष तत्त्व : एक समीक्षा	-	
4.	त्रिरत्न में सम्यग्दर्शन का स्थान	-	
5.	सांख्यदर्शन और जैन दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन	-	
6.	सांख्य और जैनदर्शन में ईश्वर	-	
7.	जैन श्रमण संस्कृति की प्राचीनता एवं वैदिक संस्कृति	-	
8.	यज्ञ : एक अनुचिन्तन	-	
9.	पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर और श्वेताम्बर दृष्टि	-	
10.	सभी विरोधों का समाधान : अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद	-	
11.	प्रायश्चित्त तप	-	
12.	आहार-विहारादि में उत्सर्ग-अपवादमार्ग का समन्वय (आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में)		
13.	जैन साहित्य में श्री हनुमान्	-	
14.	महावीर की दृष्टि में जाति, वेष, लिङ्ग आदि का कितना महत्त्व ?	-	
15.	तीर्थङ्कर चिह्न : एक अनुशीलन	-	
16.	भगवान् महावीर का जीवन सन्देश और वर्तमान युग	-	
17.	आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में निश्चय और व्यवहार नय	-	
18.	जैन और बौद्ध धर्म-दर्शनों में साम्य-वैषम्य	-	
19.	इक्कीसवीं शताब्दी और श्रमणाचार : एक मौलिक चिन्तन	-	

20. आओ खोजें : संसार की वस्तुयें किस तत्त्व से बनी हैं व कर्म सिद्धान्त –
(जैन सिद्धान्तों का बालनाट्य विधा से कथन) –
21. किन कार्यों से किस कर्म का बन्ध होता है –
22. दशलक्षण या पर्यूषण पर्व –
23. जैनधर्म की ऐतिहासिकता –
24. दीपावली –
25. णमोकार मन्त्र –
26. आत्मा की वैभाविकी शक्ति –
27. दक्षिण भारत में जैन धर्म –
28. जैनधर्म केवल निवृत्ति प्रधान नहीं है समन्वयात्मक प्रवृत्ति प्रधान भी है –
29. तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और उनके दस भव –
30. उपवास –
31. श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में अन्तर –
32. श्रावक और श्रमण की प्रतिमाएँ –
33. Is peaceful co-existence possible through Jainism -
34. How do Digambaras and Svetambaras perform their worship (puja)-
35. जैनदर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध –
36. प्रमाण–स्वरूप (प्रथम भाग) –
37. प्रमाण–स्वरूप में स्वापूर्वार्थ विचार (द्वितीय भाग) –
38. पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं, अक्रमबद्ध भी : एक समीक्षा –
39. श्वेताम्बर जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य –
40. अङ्ग आगमों के विषयवस्तु सम्बन्धी उल्लेखों का श्वेताम्बर और दिगम्बर
आगमों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन –
41. सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् की दृष्टि में जैनदर्शन : एक समीक्षा –
42. जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण –
43. परीक्षामुख : एक परिशीलन –
44. आचार्य हरिभद्रसूरि और उनकी धर्मसंग्रहणी –
45. पं. आशाधर की सर्वतोमुखी प्रतिभा और उनका सागार धर्मामृत –
46. आचार्य प्रभाचन्द्र –
47. जयोदय में वर्णित पदलालित्य –
48. वीरोदय (महावीरचरित) काव्य में ऋतुवर्णन –
49. पं. महेन्द्र ुकमार न्यायाचार्य–सम्पादित न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन–वैशिष्ट्य –
50. वेद के अपौरुषेयवादत्व की समीक्षा –
51. गुरु पं. जगन्मोहन लाल जी शास्त्री को शत शत वन्दन –
52. मार्गणाओं द्वारा जीवों की स्थिति का ज्ञान –
53. आचार्य विद्यासागर : एक अनुशीलन –
54. आठ योग दृष्टियाँ (आ. हरिभद्रकृत योगदृष्टि–समुच्चय के आलोक में) –
55. पूर्वविद् गुणधराचार्य विरचित 'कषायपाहुडं' –
56. प्राकृत और संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन –
57. महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृतस्थ मूल 'य' वर्ण का अभाव –
58. क्या बौद्धदर्शन में आत्मा और पुनर्जन्म है ? –

59. मीमांसा दर्शन में निषेध-मीमांसा –
60. श्रीमता शुभचन्द्रेण प्रणीतो ज्ञानार्णव: –
61. भारतीयदर्शनेषु ईश्वरविचार: –
62. श्रवणबेलगालायां गोम्मटेश्वरस्य मूर्त्ते: निर्माणेतिहास: –
63. जैनदर्शनानुसारं नारीणां स्थिति: –
64. किं जैनदशनं नास्तिकम्? –
65. भारतीयदर्शनेषु भ्रमज्ञानविचार: (ख्यातिवाद:) –
66. ब्रह्मवैवर्तपुराणम् : संक्षिप्त: परिचय: –
67. स्वरूपसम्बोधनदेशनाया: परिशीलनम् –

चतुर्थ सोपान : साहित्य समीक्षा एवं विशिष्ट आलेख

प्रो. जैन के ग्रन्थों की समीक्षायें

क्र.	विषय	लेखक	पृ.संख्या
1.	रत्नत्रय की अनुपम प्रकाशिका 'देव, शास्त्र और गुरु' की समीक्षा	– डॉ. पंकज कुमार जैन	–
2.	'प्राकृत-दीपिका' एक प्राकृत भाषा ज्ञानप्रदीप	– प्रो. विजय कुमार जैन	–
3.	मुनिसुव्रत काव्य : एक समीक्षा	– प्रो. सत्यदेव कौशिक	–
4.	साहित्य समाराधना का निस्यन्द : 'मुनिसुव्रत काव्य'	– प्रो. मनुलता शर्मा	–
5.	संस्कृत भाषा प्रशिक्षिओं की राजपद्धति 'संस्कृत-प्रवेशिका'	– प्रो. गोपबन्धु मिश्र	
6.	'तर्क संग्रह' एक समीक्षा	– प्रो. उमादेवी जोशी	–
7.	सुदर्शन लाल जैन कृत व्याख्या से सरल बनी 'कर्पूरमञ्जरी'	– डॉ. सुरेन्द्र भारती	–
8.	'उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशील' की समीक्षा	– डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	–
9.	'पूजा का वैज्ञानिक अनुशीलन' एक अनुपम कृति	– डॉ. मनोरमा जैन	–
(ख) विद्वानों के आलेख			
1.	अपराजेय व्यक्तित्व के धनी आचार्य कुन्दकुन्द	– हुकुमचन्द भारिल्ल	–
2.	जिन-प्रतिमा पर सूरिमन्त्र क्यों?	– पं. विमल कु.सोंरया	–
3.	जैन आगम के आलोक में पूजन-विधान	– पं. वर्द्धमान सोंरया	–
4.	मोक्षमार्ग-पाथेय : सल्लेखना	– अखिल बंसल जैन	–
5.	वैयावृत्ति कहाँ, कैसे और क्यों?	– डॉ. प्रेमचन्द जैन 'नगला'	–
6.	योगसार में ध्यान योग का स्वरूप	– डॉ. प्रेमचन्द रांवका	–
7.	निमित्त उपादन : चिन्तन के कुछ बिन्दु	– डॉ. अनेकान्त कु. जैन	–
8.	अहिंसा महाव्रत : प्रतिपाद्य	– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी	–
9.	चार तीर्थङ्करों की जन्मभूमि काशी	– प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी	–
10.	महाकवि पुष्पदन्त विरचित महापुराण	– डॉ. मनोरमा जैन	–

मङ्गल आशीर्वाद

जीवन में उतार-चढ़ाव, लाभ-हानि, यश-अपयश आदि विरोधी धर्मों का आना-जाना लगा रहता है फिर भी जीवन जीने की कला सीख लेते हैं। ठीक इसी तरह द्रव्य की पर्यायों में उत्पाद-व्यय होते रहने पर भी वह नित्य बना रहता है। आपने अध्यात्म के रहस्यों का गहराई तक अध्ययन तो किया है परन्तु भौतिकवाद के प्रभाव से मन में शंकाओं की हिलोरें उठती रहती हैं। ऐसे में आराध्य देव या गुरु की शरण में जाकर उन शंकाओं को शान्त करो। आपने भी देव, शास्त्र और गुरु का प्रामाणिक विवेचन करने वाली पुस्तक लिखी है। जिसे आपने छपने के पूर्व मुझे भी अमरकण्टक में पढ़कर सुनाया था। मेरी दृष्टि में आप एक भव्य जीव हो। अब आसन्न भव्य बनने के मार्ग का अनुगमन करो। यही मेरा आशीर्वाद है।

सन्त शिरोमणि पं. पू. आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः।। – सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 7/90

अर्थ – जिनेन्द्र देव का यह शासन ऐसा विशाल भवन है जो छोटे-बड़े असंख्य खम्भों पर टिका हुआ है। अनादिकाल से आज तक यह किसी एक ही पुरुष के कन्धों पर नहीं टिका है।

तात्पर्य यह है कि जिनशासन की रक्षा-सुरक्षा और प्रचार-प्रसार में अनादि काल से आज तक असंख्य लोगों का योगदान रहा है और उसी से यह आज टिक कर चल पाया है, अतः हमें सभी का योगदान स्वीकार करना चाहिए, सभी को मिल-जुल कर रहना चाहिए, किसी का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

प्रो. सुदर्शनलाल जी ने भी जिनशासन की प्रभावना में बड़ा योगदान किया है। उनके अभिनन्दन के अवसर पर मैं भी उनको मङ्गल आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

परम पूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती श्वेतपिच्छाचार्य 108 श्री विद्यानन्दजी मुनिराज

मङ्गल आशीर्वाद

क्षुल्लक प्रवर श्री गणेशप्रसादवर्णी द्वारा संस्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, शान्तिनिकेतन कटनी, तथा महामना मदनमोहन मालवीय द्वारा संस्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्यात्म और आधुनिक विषयों का अध्ययन करके आपने जैन और जैनेतर जगत् में ख्याति अर्जित की है। भारत राष्ट्र के महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणवमुखर्जी जी से सम्मान पत्र प्राप्त किया है। अ.भा. दि.जैन विद्वत्परिषद् के महामन्त्री भी रहे हैं। जैन और जैनेतर दर्शनों का अध्ययन करके जैन सिद्धान्तों की महत्ता को प्रकट किया है। आपका जो यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है वह समयोचित है। आप सुदीर्घ काल तक जिनवाणी की सेवा करते हुए संयम के मार्ग पर चलते रहें। यही हमारा मंगल आशीष है।

प.पू. पट्टाचार्य 108 श्री वर्धमान सागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

सिद्धसारस्वत प्रो. सुदर्शन लाल जैन बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हैं। जैनागम के साथ संस्कृत-प्राकृत-पालि भाषा के मनीषी हैं। न्याय, दर्शन, काव्य, भाषाविज्ञान आदि विषयों पर आपने शोधपूर्ण ग्रन्थ तथा आलेख लिखे हैं। वाराणसी में मेरी पुस्तक 'सम्यग्दर्शन' का आपने सम्पादन भी किया है। गुरुभक्त तथा सदाचार सम्पन्न हैं। अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत हैं। इनकी देव-शास्त्र और गुरु पुस्तक बहुत प्रामाणिक है तथा प्रसिद्धि को प्राप्त है। प्राकृत-दीपिका, संस्कृत-प्रवेशिका आदि ग्रन्थ विद्वानों में लोकप्रिय हैं। वस्तुतः आप सिद्ध-सारस्वत हैं जन्म से तथा कर्म से भी। फिर भी आपके कल्याणार्थ मेरा आशीर्वाद है -

आदहिदं कादजदिवं सक्कदि पारहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

प.पू. 108 श्री गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज

मङ्गलाशीष

विशाल श्रमण परम्परा, विश्व की सनातन परम्परा है। जिसने सम्पूर्ण लोक को शारीरिक अहिंसा का ही नहीं, अपितु वैचारिक अहिंसा का भी उपदेश दिया है। जैन दर्शन कहता है कि – किसी भी प्राणी के प्रति अशुभ विचार लाना भी हिंसा है।

हिंसा से बचने के लिए वस्तु-स्वतन्त्रता, कारण-कार्य व्यवस्था, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद तथा तत्त्व-विद्या का उपदेश दिया। जिसके उपदेष्टा तीर्थंकर, गणधर, आचार्य परमेष्ठी हुए जिन्होंने अनेक भाषाओं में सर्वहित-दृष्टि से व्याख्यान दिए। साधु-परम्परा के साथ-साथ, विद्वानों ने भी स्व-प्रज्ञा का आगम से शोधन कर जैन वाङ्मय की अपूर्व महती सेवा की है।

विद्वानों की दीर्घा में विद्वद्वरेण्य प्रोफेसर श्री सुदर्शनलाल जैन सम्प्रति सरस्वती-आराधना में अग्रगण्य स्थान रखते हैं। संस्कृत-प्राकृत भाषा प्रवीण हैं। अनेकानेक पुरस्कारों से पुरस्कृत हैं।

उन्हें यही मङ्गलाशीष है कि वाग्वादिनी की मङ्गलाराधना करते हुए स्व-समाधि की सिद्धि करें। पञ्च परमेष्ठी के पादमूल में भावीकाल में श्रुत-संवेग भावना के फल से श्रुत केवली पद को सुशोभित करें।

।। इति शुभं भूयात्।।

प. पू. 108 श्री दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनि

मङ्गल आशीर्वाद

जैन सिद्धान्त अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में दृढ आस्था रखने वाले सिद्ध-सारस्वत प्रो. सुदर्शन लाल जैन जैनधर्म की पताका को देश-विदेश में फहराने की इच्छा रखते हैं। इसीलिए आप जैन सिद्धान्तों का अन्य दर्शनों के साथ तथा आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक चिन्तन करके जैन सिद्धान्तों की महत्ता बतलाना चाहते हैं। आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर जैन समाज तथा जैनेतर समाज ने कई बार आपका अभिनन्दन किया है। महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणवमुखर्जी ने भी आपको पुरस्कृत करके विद्वज्जगत् का मान बढ़ाया है। वीतरागवाणी ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा यह अभिनन्दन उसकी कड़ी का एक हिस्सा है। प्रो. जैन विद्वान् होने के साथ अनुसन्धानप्रिय, सरल तथा विवेकी हैं। अत: मेरा मंगल आशीर्वाद है कि आप श्रेय (मुक्ति का मार्ग) और प्रेय (सांसारिक मार्ग) इन दो मार्गों में से श्रेयमार्ग के अनुगामी बनकर पूर्ण सिद्ध-सारस्वत बनें।

सराकोद्धारक प.पू. आचार्य 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

भगवान् महावीर की दिव्यदेशना को जन-जन तक प्रसारित करने में गणाधरों, आचार्यों, मुनियों से लेकर विद्वत् परम्परा का योगदान रहा है। इसी परम्परा में वर्तमान विद्वद्वरेण्य सिद्ध-सारस्वत प्रो. सुदर्शन लाल जैन का भी एक नाम है। अ.भा.दि.जैन विद्वत् परिषद् के महामन्त्री रह चुके विद्वत् प्रवर का ज्ञानावरणीय कर्म का भी अच्छा छयोपशम है। आपने श्रुताराधना में महनीय श्रम किया है। आधुनिक विद्याओं के भी मनीषी हैं। संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान है। राष्ट्रपति से भी पुरस्कृत हैं। वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा सम्पादित किये जा रहे अभिनन्दन ग्रन्थ का समर्पण एक सराहनीय कार्य है। इसके लिये प्रतिष्ठाप्रज्ञ पं. विमल कुमार सोंरया और उनकी टीम को आशीर्वाद है। प्रो. जैन सरस्वती की आराधना के साथ भगवान् महावीर की दिव्यदेशना का सम्यक् रहस्य समाज के समक्ष प्रस्तुत करें तथा मोक्षपथ के अनुगामी बनें। यही आशीष है।

प.पू. पट्टाचार्य श्री 108 अनेकान्तसागर जी महाराज

शुभाशीष

पिता श्री सिद्धेलाल जी के सिद्ध-सारस्वत एवं माँ सरस्वती देवी के सरस्वती पुत्र, देव शास्त्र और गुरु के परम आराधक, बी.एच.यू. केन्द्रीय विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष, राष्ट्रपति सम्मान से अलंकृत, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के महामन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण पदों से प्रतिष्ठित रहने वाले प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जैन के 75 वें जन्मदिवस पर प्रकाशित होने जा रहे सिद्ध सारस्वत अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार जैन सौरया, प्रबन्ध सम्पादक डॉ. पंकज कुमार जैन आदि समस्त सम्पादक मण्डल को शुभाशीर्वाद। प्रो. सुदर्शनलाल जी शतायु हों एवं यह ग्रन्थ ऐतिहासिक धरोहर बनकर पाठकों को प्रेरणादायी बने, यही शुभ भावना है।

प.पू. आचार्य 108 श्री निर्भयसागर जी महाराज

मङ्गलाशीष

डॉ. सुदर्शन लाल वर्तमान दिगम्बर जैन परम्परा के विद्वानों में वरिष्ठतम हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन करके शास्त्र-संरक्षण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वे अच्छे विद्वान् होने के साथ-साथ देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी सच्ची निष्ठा रखते हैं। उनका जीवन विद्वानों की नवीन पीढ़ी के लिए अनुकरणीय है।

उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में संस्कृत भाषा का अध्यापन करने के साथ-साथ जैन धर्म के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कार्य किया है। जैन समाज के लिए यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि डॉ. सुदर्शनलाल जैन के सम्मानार्थ उनके अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन वीतरागी वाणी ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा है। उन्हें मेरा मङ्गल आशीर्वाद है कि वे निरन्तर स्वस्थ रहते हुए ज्ञानाराधना में संलग्न रहें और व्रतों को धारण कर अपने जीवन को सार्थक बनाएँ।

प. पू. आचार्य श्री 108 विवेक सागर

आशीर्वाद

जिनवाणी का गहन अध्ययन कर ग्रन्थ लेखन, पत्र-सम्पादन, आलेख प्रस्तुतियों, व्याख्यानों के आदि माध्यम से श्रुत की प्रभावना करने वाले विद्वानों का सम्मान होना ही चाहिये। आज आप लोगों ने बताया कि प्रो. डॉ. सुदर्शन लाल जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, मेरा उन्हें आशीर्वाद है वे सच्चे देव-शास्त्र गुरु की प्रभावना करते रहें तथा एकान्तवाद और छद्म-अध्यात्म से भोले श्रावकों को बचायें।

परम पूज्य मुनिपुंग व श्री 108 सुधासागर जी महाराज

मंगल कामना

बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रो. सुदर्शन लाल जैन से जबलपुर में साक्षात्कार हुआ था। आप बड़े विनम्र, मुनिभक्त तथा सरलप्रकृति के हैं। जैनधर्म एक उत्कृष्ट धर्म है, वैज्ञानिक है। आप जैसे विद्वान् इस धर्म की उत्कृष्टता और वैज्ञानिकता को विश्व स्तर पर प्रसारित करें। आप सम्यक्त्व के शिर पर विराजमान हों ऐसी मंगल कामना है। सम्यक्त्व के बिना मनुष्य जन्म लेना निरर्थक है क्योंकि -

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः।।

'आपका ज्ञान सम्यग्ज्ञान बने तथा सम्यक्चारित्र की ओर कदम बढ़े' यही हमारा आशीर्वाद है।

प. पू. मुनिश्री108 योगसागर जी महाराज

मङ्गलाशीष

(सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के परम अनुरागी)

डॉ. सुदर्शनलाल जैन बूहुत ही सुलझे हुए सुसंस्कृत विद्वान् हैं। साथ ही साथ उनमें एक अच्छे सुश्रावक के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। वे सच्चे देव शास्त्र गुरु के परम अनुरागी हैं। आपने जिनशासन की महती सेवा की है। ऐसे विद्वान् के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रकाशन हो रहा है। निश्चयत: यह प्रशंसनीय है। उनका सही मूल्याङ्कन होना चाहिए। उनके द्वारा किए गए रचनात्मक कार्यों की मैं प्रशंसा करता हूँ। उनकी कई कृतियाँ हैं जिनमें से उनकी देव शास्त्र और गुरु की रचना निश्चय से प्रशंसनीय है, उससे हमारी समाज का तद्विषयक मिथ्यात्व दूर हुआ है। सबने उसे स्वीकार किया है।

डॉ. सुदर्शन लाल जैन जीवन की अंतिम सांस तक जिनवाणी माँ की सेवा करते रहें तथा श्रुताराधना करते हुए उसका फल भी प्राप्त करें। अन्त में समाधिमरण पूर्वक शरीर का विसर्जन करें। इस मङ्गल भावना के साथ मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

प. पू. मुनिश्री108 प्रमाणसागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

'गुदड़ी का लाल' यदि प्रो. सुदर्शन लाल जैन को कहूँ तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मातृछाया बचपन में ही छिन जाने तथा अर्थापकर्ष होने पर भी आप कहाँ से कहाँ पहुँच गए। श्रुत की आराधना में आपने अपना जीवन लगा दिया है। एक अच्छे विद्वान् होने के साथ आप विनम्र, सरल एवं मधुर स्वभावी हैं। आपके द्वारा लिखित ग्रन्थ और आलेख प्रामाणिक एवं ख्याति प्राप्त हैं। अनेक शोधछात्रों को डॉक्टरेट की उपाधि दिलवाई है। प्रशासन कुशलता का गुण भी आपमें है। हमारा प्रथम परिचय कटनी की संगोष्ठी में हुआ था। सूरत भी संगोष्ठी में पधारे थे। आप जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते हुए रत्नत्रय को धारण करें। मोक्ष पथिक बने। यही हमारा आशीष है।

प. पू. मुनिश्री 108 समता सागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमस्सति, जस्स धम्मे सया मणो।।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है जो अहिंसा, संयम और तपरूप है। जिसका मन सदा धर्ममय होता है उस मनुष्य को देवता भी नमस्कार करते हैं। अहिंसा जहाँ है वहाँ समरसता है। संयम और तप भी अहिंसा में ही पलते हैं। अहिंसा कायरता नहीं है। अहिंसा को परमधर्म कहा है। जैनधर्म में अहिंसा से ही साधुधर्म तथा गृहस्थ धर्म पलता है। अत: अहिंसा को मूल में रखते हुए जैन सिद्धान्तों की व्याख्या करना चाहिए। जितने भी नियम उपनियम हैं सबकी मूल कसौटी अहिंसा है। जहाँ अहिंसा है वहीं वीतरागता भी है।

आप विद्वान् हैं। आपका यश भी है। हम चाहते हैं कि आप वीतरागता की ओर कदम बढ़ायें और आत्म सुख प्राप्त करें। सद्धर्म वृद्धिरस्तु।

प.पू. 108 श्री संभव सागर जी महाराज

शुभाशीष

स्वगृहे पूज्यते मूर्खः, स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः।
स्वराज्ये पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।।

अगर प्रतिभा को उचित अवसर न मिले तो वह कुण्ठित होकर दम तोड़ देती है। अगर प्रतिभा को उचित समय पर उचित अवसर मिल जाए तो वह कई मायनों में खरी उतरती है तथा कालान्तर में वटवृक्ष जैसा विशाल रूप लेकर नगर, देश, समाज, धर्म आदि का नाम रोशन कर सकती है। यही कुछ प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन के सन्दर्भ में देखने को मिलता है जिन्होंने एक छोटे से ग्राम में जन्म लेकर भी देश के महामहिम राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्ति तक का मार्ग प्रशस्त किया और जिससे वे सिद्ध-सारस्वत बन गए।

प्रो. जी काफी सरल, सहज और ज्ञान के धनी हैं और ऐसी समग्रता एक विद्वान् में मिलना काफी कठिन है। उन्हें देखकर यह कठिन कार्य भी सहज सा लगता है। वस्तुत: यह सब वैभव जिनशासन को समर्पित करने में अग्रणी हैं। प्रो. जैन के उज्ज्वल भविष्य की हम कामना करते हैं और यही भावना भाते हैं कि उन्हें शाश्वत् सिद्ध-सारस्वत बनने का सौभाग्य मिले।

सुखिया होवे सारी दुनियाँ, कोई दुःखी न होवे।
हे प्रभु। निजमङ्गल के पहले, जग का मङ्गल होवे।।

।। शुभं भूयात् ।।

प.पू. मुनि श्री 108 श्रीसुव्रत सागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

लब्धप्रतिष्ठ विद्वत्प्रवर प्रतिष्ठाचार्य विमल कुमारजी एवं प्रतिष्ठाचार्य वर्धमान सौंरया जी टीकमगढ़ को आचार्य 108 पारससागर महाराज का मङ्गल आशीर्वाद।

प्रसन्नता हुई कि आपके द्वारा विद्वत् प्रवर सम्मानीय प्रो. सुदर्शनलाल जैन का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। उन्हें हम अपने आशीष वचन लिख रहे हैं।

''प्रो. सुदर्शनलाल का जीवन परिचय पढ़कर प्रत्येक आचार्य/मुनि./श्रावक गण आश्चर्य में हो जायेंगे, जिन्हें 10 माह की अल्पावस्था में माँ का प्रेम छिन गया हो, अनेकों संकटों से जूझते हुये जिन्होंने सर्वोच्च शिक्षा ग्रहण कर अपने-आपको सम्हाला संवारा हो और 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी' में जिन्होंने संस्कृत विभाग में 39 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया हो एवं 44 छात्रों को पी-एच.डी. की उपाधि दिलाई हो। यह सब उनके पूर्वजन्म का तीव्र पुण्य एवं वर्तमान जीवन का कठिन परिश्रम, लगन, उत्साह का प्रतिफल है। उच्च पद के साथ-साथ उन्होंने अपने जीवन में धार्मिक चर्या का विशेष ध्यान रखा, जैनत्व के गुणों का पालन किया। ऐसे महान व्यक्तित्व का होना समाज के लिये गौरव की बात है। हम उनके उज्जवल भविष्य की कामना करते हैं। शतायु हों एवं स्वस्थ रहें, अन्त में अपने जीवन को व्रती बनाकर समाधि पूर्वक जीवन समापन करें। पुनः प्रो. सुदर्शन लाल को मङ्गल आशीर्वाद। धर्मवृद्धिरस्तु, ऐश्वर्य-वृद्धिरस्तु।

प. पू. आचार्यश्री 108 पारस सागर जी महाराज
श्री आदिनाथ मन्दिर, सोनागिर, गोवा

आशीर्वाद

पाटन जिला जबलपुर से आपका विशेष सम्बन्ध है। आपके बहनोई वहाँ विधान करा रहे थे जिसमें आप भी सम्मिलित हुए थे। वहीं आपकी विद्वत्ता तथा सरलता देखी। प्रसन्नता है कि आपका अभिनन्दन ग्रन्थ छप रहा है। आप जैसे योग्य सिद्धसारस्वत विद्वान् का अभिनन्दन होना भी चाहिए। पाटन में भी आपका सम्मान किया गया था। मेरा आशीर्वाद आपके साथ है। आप मिथ्यात्व कर्म को पाटकर गुणश्रेणी निर्जरा करें।

प. पू. आचार्यश्री 108 श्रेयांस सागर जी महाराज

आशीर्वाद

वर्तमान भौतिकता की चकाचौंध में जैन दर्शन न्याय विषयक विद्वान् दुर्लभ होते जा रहे हैं। हमारी संस्कृति एवं धर्म का संरक्षण इन्हीं विद्वानों के माध्यम से सुरक्षित है। इन्हीं विद्वानों में विद्वद्वरेण्य प्रो. पं. सुदर्शनलाल जैन जी जिनका बहुत लम्बे समय से मार्गदर्शन इस समाज को प्राप्त होता रहा है। आप अच्छे वक्ता के साथ-साथ जैन दर्शन के मर्मज्ञ हैं। आपके द्वारा अनेक कार्य सहज-सरलता से मनीषी विद्वत् वर्ग को प्राप्त हुए हैं। आपने राष्ट्रपति सम्मान से विभूषित होकर जैन धर्म की प्रभावना की है। आपका ज्ञान, प्रभावना के साथ आचरण की ओर बढ़े और आप संयम का पालन करते हुए महाव्रतों को धारण कर बोधि, समाधि की प्राप्ति करें, ऐसा हमारा आशीर्वाद है।

प. पू. मुनि श्री 108 कुन्थुसागर जी महाराज

आशीर्वाद

सरस्वती के पुत्र, कलम के धनी, विद्वत् श्रेष्ठी श्री सुदर्शन लाल जी! आपने जो जैन जगत् में जिनवाणी की सेवा की है शिक्षा को आगे बढ़ाया है और मूल भाषा प्राकृत एवं संस्कृत में भी पी-एच. डी. की है। उसके लिए बहुत बहुत 'आशीर्वाद'।

75वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हो। अब शेष और विशेष जीवन चारित्र की सेवा स्वीकार करने में लगाओ। संयम धारण करो और श्रुतसेवा से श्रुत केवली बन पूर्ण केवली बन मोक्ष को प्राप्त करो।

प. पू. मुनि श्री 108 प्रमुख सागर जी महाराज

शुभाशीष

''**विद्वान् सर्वत्र पूज्यते**'' विद्वानों का सभी जगह आदर होता है। यह भारतीय संस्कृति है। पण्डित सुदर्शन लाल जी तो वैसे ही सरस्वती के गर्भ से उत्पन्न हुये हैं फिर उनके रक्त में उस माँ सरस्वती के संरक्षण का भाव क्यों नहीं होगा, अवश्य ही होगा। उन्होंने अपने ज्ञान के क्षयोपशम का सही उपयोग कर विद्वानों को एक नयी दिशा प्रदान की है। अनेक ग्रन्थों का सम्पादन एवं लेखन करने वाले पण्डित जी के लिए इस अवसर पर भावना भाता हूँ कि वे अपने ज्ञान को प्रयोग में ढालकर शाश्वत सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति करें। इस कार्य में जो भी सहयोग कर रहें हों उनको भी शुभाशीष।

प.पू. मुनि श्री 108 सन्धान सागर जी महाराज

मङ्गल आशीर्वाद

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य प. पू. श्री 108 शान्ति सागर जी महाराज जी ने जिनशासन की मुरझाई ज्ञानलता को पुन: पल्लवित किया था। उसी के प्रभाव से आज त्यागीवर्ग तथा विद्वद् वर्ग जिनशासन के रथ को आगे बढ़ा रहे हैं। सिद्ध सारस्वत प्रो. सुदर्शन लाल जैन उनमें से एक धुरी हैं। आप स्पष्टवादी एवं सरल प्रकृति के विद्वान् हैं। आप कई बार जम्बूद्वीप हस्तिनापुर दर्शनार्थ तथा संगोष्ठियों में आए हैं। मांगीतुङ्गी तीर्थक्षेत्र पर भी दर्शनार्थ पधारे थे। आपको तत्त्व-चर्चा में आनन्द आता है।

आप पूर्वाचार्यों की आगमोक्त वाणी का प्रचार-प्रसार करते हुए सिद्ध-सारस्वत इस नाम को सार्थक करें तथा सुदर्शन से सम्यग्दर्शनधारी बनें। यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प.पू. श्री 105 आर्यिका गणनी प्रमुख ज्ञानमति माता जी एवं
प.पू. श्री 105 आर्यिका चन्दनामति माता जी

शुभाशीष

संसार की सरकती सरिता में सबकुछ बह रहा है, बहता जा रहा है, स्थिरता के नाम पर यदि कुछ है तो आत्म तत्त्व। उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति का एक ही उपाय है, जिनागम का स्वाध्याय और तदनुरूप आचरण।

पं. सुदर्शनलाल जैन जी ने अभावों में रहकर भी सरस्वती की अर्चना करके उन्हें हृदयासन पर बिठाया है। 2015 के वर्षायोग में (जैन नगर भोपाल, नन्दीश्वर धाम लालघाटी, भोपाल) आपसे परिचित हुए, तभी आपके संस्कृत के ज्ञान से भी परिचय हुआ। सच में आपका ज्ञानार्जन आदर्श है। प्रेरणास्त्रोत भी है। भगवान् से यही प्रार्थना है कि आप अपनी अंतिम श्वास तक सरस्वती की सेवा, अध्ययन, लेखन, मनन-चिन्तन करते हुए ही जीवन को शुभोपयोगमय बनाये रखें। यही शुभाशीष है।

प.पू. श्री 105 आर्यिका विज्ञानमति माता जी एवं
प.पू. श्री 105 आर्यिका आदित्यमति माता जी

आशीर्वाद

(अभूतपूर्व प्रतिभा के धनी)

भारतीय वसुन्धरा पर जन्म लेकर संस्कृत, हिन्दी प्राकृत साहित्य में एक नई दिशा नई रोशनी एवं नई ऊँचाई प्रदान करने वाले प्रो. सुदर्शनलाल जी बचपन से ही माँ के दिवंगत हो जाने पर भी तथा आर्थिक परेशानियों को झेलते हुए, धार्मिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, सिद्धान्त एवं अन्य दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। देश में ही नहीं विदेशों में भी आपने जैन सिद्धांतों की महती प्रभावना की है एवं महावीर भगवान के अहिंसामयी सिद्धान्त ''जिओ और जीने दो'' को नई दिशा प्रदान की है।

आप जब चिन्तन की गहराई में डूब जाते हैं तो नये-नये विषयों का रहस्य उद्घाटित होता है। आप एक निश्छल, निरभिमानी, निराडम्बर, प्रखर वक्ता और स्पष्टवादी हैं। सेवा निवृत्त होने के बाद भी आप लेखन कार्य एवं सम्पादन कार्य में संलग्न हैं, जो सराहनीय है।

आशीर्वाद स्वरूप आप भी इस मानव पर्याय के उच्चपद अर्थात् मुनिव्रत को धारण कर इसे सार्थक करें।

प.पू. श्री 105 आर्यिका संभवमति माता जी

सद्धर्मवृद्धिरस्तु

भारत देश का महानगर वाराणसी जैनों के चार तीर्थङ्करों (सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ) की जन्मभूमि से अत्यन्त पवित्र तीर्थ क्षेत्र है। यह अनादि काल से धर्म-प्रभावना का महान् केन्द्र रहा है। यहां हिन्दूओं, बौद्धों तथा जैनों की त्रिवेणी कहलती ही। कई शिक्षा के शोध संस्थान हैं जिनमें बी.एच.यू. सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रो. जैन ने यही आलस्य छोड़कर निष्ठापूर्वक अध्ययन किया और 38 वर्षों तक यहीं अध्यापन एवं शोध निर्देशन किया। आपने विद्यार्थियों को धर्म, संस्कृति, दर्शन, साहित्य, संस्कृत, प्राकृत आदि विविध विषयों का ज्ञान कराया तथा सदाचार का पाठ पढ़ाकर महनीय योगदान दिया। जो अविस्मरणीय है। माता-पिता के संस्कारों से देव, शास्त्र और गुरु में अटूट श्रद्धा रखते हैं तथा श्रावकों के षडावश्यकों का पालन करते हैं।

मैं जब 1991 में भदैनी स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में रहता था तब प्रो. जैन विश्वविद्यालय कैम्पस में रहते थे और स्याद्वाद महाविद्यालय में सक्रिय योगदान देते थे। साधु-संतों की संगति करना, समाज को चतुराई से संगठित करना तथा छात्रों की उन्नति में सहायक बनना आपका लक्ष्य था। दक्षिण भारत के तीर्थक्षेत्रों से भी आपका सम्बन्ध था। वहाँ की संगोष्ठियों में जाकर शोधपूर्ण वक्तव्यों से सभी का मन मोह लेते रहे हैं। जैन काशी मूडबद्री के पूर्ववर्ती चारुकीर्ति आपके सहपाठी रहे हैं। आप जब सपत्नीक मूडबद्री आए थे तो उन्होंने आपको उस कक्ष में ठहराया था जहाँ भारत की पूर्वप्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी को ठहराया था। आपने जैन विद्यालय कटनी, मोराजी सागर, स्याद्वादमहाविद्यालय वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से ज्ञानार्जन किया। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश स्वाध्याय के इन पाँचों भेदों के माध्यम से छात्रों एवं श्रावकों की शङ्काओं का समाधान किया। क्षमा, समता, आकिञ्चन नम्रता, विवेक आदि गुण आपमें शुरू से विद्यमान हैं। कई ग्रन्थों का प्रणयन, संपादन तथा अनुवाद किया। स्याद्वाद पत्रिका आपके छात्रजीवन में आपके प्रयत्न से पहली बार छपी उसके बाद नहीं छप सकी। राष्ट्रपति पुरस्कार भी आपको मिला समाज ने तो कई बार पुरस्कृत किया। आपके आदर्श गुरु श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी, पं. जगन्मोहन लाल, पं. कैलाशचन्द्र, पं.हीरालाल, डॉ. नेमीचन्द ज्योतिषाचार्य, पं.दयाचंद सागर, प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, पं. मूलशंकर शास्त्री आदि।

आपकी 75वीं जन्मदिन जुबली पर जैनकाशी मूडबद्री तीर्थ की तरफ से अभिनन्दन। श्रीपार्श्वनाथ स्वामी, द्वादशाङ्ग श्रुत देवी तथा जिनशासन देवी-देवता आपका मङ्गल करें। इसी भावना के साथ 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' जिनशासन प्रभावात् भद्रं भूयात्।

पाषाणेषु यथा हेम दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये यथा शिवः।।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति।।
तथा पण्डितेषु सिद्ध-सारस्वत-सुदर्शनः।।

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति, भट्टारक नगर,कर्नाटक
श्रीजैन मठ मूडबद्री कुन्दकुन्दाचार्य मूलसंघ संस्थान

आनन्दीबेन पटेल
राज्यपाल,
मध्यप्रदेश

राजभवन,
भोपाल मध्यप्रदेश

4 सितम्बर, 2018

संदेश

यह हर्ष का विषय है कि प्राकृत एवं संस्कृत विद्या के मूर्धन्य मनीषी यशस्वी विद्वान प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के 75 वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध-सारस्वत' का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्कृत हमारे देश की प्रचीन और देव भाषा है। इसके प्रचार-प्रसार और युवा पीढ़ी तक पहुंचाने में प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन का योगदान अनुकरणीय है। प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन अपनी धार्मिक आस्था, संस्कार और पुरुषार्थ के बल पर शिक्षा के क्षेत्र में उच्च शिखर तक पहुंचे। विशिष्ट साहित्यिक अवदान एवं संस्कृत-प्राकृत भाषा के संरक्षण-संवर्धन के लिए उनके द्वारा दिये गये योगदान के लिए उन्हें राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित किया गया।

मुझे आशा है कि उनके सम्मानार्थ प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ आने वाली पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक और प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

शुभकामनाओं सहित।

(आनन्दीबेन पटेल)
राज्यपाल मध्यप्रदेश, राजभवन,भोपाल

शुभकामना संदेश

अत्यधिक हर्ष का विषय है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के सेवानिवृत्त प्रो.सुदर्शन लाल जैन के 75वें जन्म वर्ष पर उनके अभिनन्दनार्थ 'सिद्ध-सारस्वत' अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित प्रो. सुदर्शन लाल जैन संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। राष्ट्र के शैक्षिक और साहित्यिक विकास में उनकी सेवाओं का महनीय योगदान रहा है।

उनके इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर मैं उन्हें शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ एवं उनके स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की मंगल कामना करता हूँ।

प्रकाश जावडेकर

मानव संसाधान विकास मन्त्री, भारत सरकार, नई दिल्ली

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि जैन दर्शन प्राकृत एवं संस्कृत विद्या के मूर्धन्य यशस्वी विद्वान् प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के 75वें जन्मदिवस पर सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ सिद्ध–सारस्वत का प्रकाशन किया जा रहा है।

ग्रन्थ में प्रकाशित जानकारी, संग्रहणीय, सरल, तथ्यपरक एवं समाज के लिए उपयोगी होगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

यह अवसर पूरी मानव जाति के लिये असीम आनन्द प्रदान करने का है। इस अवसर पर समुदाय के लोगों व कार्यक्रम के आयोजनों को एवं ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित है।

श्री आलोक शर्मा
भोपाल

A Dedicated Scholar

Thank you for your kind e-mail. I am very happy to note that you are bringing out a Felicitation Volume in honour of Prof. Sudarshan Lal Jain. I greatly admire him. He is a fine specimen of a decent and cultured person as well as a dedicated scholar. His contribution to the field of Jainology is stupendous. His researches show him a highly erudite and penetrating scholar who goes deep in the field of his study. It is people like him who do the country proud. I wish him a long life of good health and meaningful constructive literary activity. Please convey him my high regards.

Prof. Satya Vrat Shastri
New Delhi

शुभाशंसा

(बाधाओं के बबंडर से अविचलित प्रो.सुदर्शन लाल जैन)

वीरभूभाग बुन्देलखण्ड के तेजस्वी लाल माणवक सुदर्शनलाल जैन ने वहाँ से निकल कर विद्याभूमि ज्ञानप्रकाशी काशी की यात्रा की। मार्ग में आये संकटों को सुदर्शन ने सुदर्शन चक्र की भाँति खण्डित करते हुए निरवरोध अग्रगामिता प्राप्त की। मिट्टी के ढेले को भूमि पर पटकने पर वह विकीर्ण होकर धूल में परिवर्तित हो जाता है। उसकी ऊर्ध्वगति नहीं हो पाती। युवक सुदर्शन लाल प्रतिभाप्रकर्ष और उत्साह से संबलित थे। विपत्तियों के थपेड़े खाने पर भी बिखरे नहीं, खरे उतरे, कन्दुक के समान उत्कृष्टता प्राप्त की। काशी की ज्ञानगंगा में अवगाहन किया। वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में पारम्परिक शास्त्रों के विद्याभ्यास द्वारा प्राच्य-विद्याओं का चूडान्त ज्ञान प्राप्त किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्याभ्यास के द्वारा पाश्चात्त्य विद्यासरणि में कौशल प्राप्त किया। वहीं पर 38 वर्षों के दीर्घ अवधि में विद्यादान में निरत रहे। शिष्यों के अज्ञानान्धकार को दूर करना ब्रह्मयज्ञ से कथमपि न्यून नहीं ठहरता-'**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः**।' अध्यापन ज्ञानदान के अतिरिक्त आपने निर्देशन, अनुसन्धान, ग्रन्थलेखन और सम्पादन कार्य भी सुसम्पन्न किये। शुभाशंसनाओं से विभूषित करते हुए मुझको पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में भी आप ज्ञानधारा को अग्रसारित करते रहेंगे।

चिरायुष्य की कामना के साथ,

पद्मश्री प्रो0 भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

पूर्वनिदेशक, अनुसन्धान संस्थान, सं.सं.विश्वविद्याल, संस्थापक, वाग्योग चेतनापीठम

शुभाशंसा

अतिविचित्रपरम्परावाही खल्वयं संसार:। अत्र सभ्या विरला:। सभासु वाक्पाटवप्रकटीकरणविचक्षणास्तु विरलतरा:। तेष्वपि मनोगतं सम्यग् वाचि निवेश्य गम्भीरमर्थं यथोचितं प्रकाशं प्रापयन्तो भवन्ति विरलतमा: धैर्यधुरीणा: साधवो मानधना: ज्ञानगहना:। यथोक्तं महाकविना भारविणा –

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां
मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा
गभीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम्।।

सारस्वतयात्राया: अध्यवसायी पान्थ: शान्तो दान्त: शुचिर्धीमान् श्रीमान् सुदर्शनलालजैन: एतादृशेषु सभ्येषु अन्यतमत्वं भजते। अयं महानुभाव: संस्कृतव्याकरणे, संस्कृतपालिप्राकृतसाहित्ये च कृतभूरिपरिश्रम:।

विनयश्च नयश्चैव सा सारस्वतसाधना।
श्रीसुदर्शनलालस्य प्रशस्यं सर्वमेव वै।।
समग्रे भारते पुण्ये प्रसृता शिष्यमण्डली।
राराजते पताकेव सुकीर्तेरस्य निर्मला।।

एतादृशस्य सुजनकल्पतरो: सम्माने ग्रन्थ: प्रकाश्यत इति महतो हर्षस्य परितोषस्य च विषय:। शतायुरयं भवतु, अनिशं सरस्वतीं सेवमान: स्वास्थ्य सन्तोषं सुख समृद्धिं चानुभवतु इति कामयते –

प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी
पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
पूर्वकुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

मङ्गल कामना

प्रो. सुदर्शन लाल जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं और उन्होंने कला सङ्काय के अन्तर्गत आने वाले संस्कृत विभाग में 38 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया है। संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और कालसङ्काय प्रमुख (डीन) के रूप में कुशल प्रशासन का परिचय दिया। शैक्षणिक गतिविधियों में कई नए आयाम स्थापित किए। कलासङ्काय के सङ्कायप्रमुख के रूप में कार्यरत रहते हुए आपने उर्दू, मराठी, म्यूजियोलाजी, भारत कला भवन, जर्मन आदि विभागों के अध्यक्ष के रूप में भी समय समय पर दायित्व का निर्वाह किया। भारत शासन द्वारा समस्त विश्वविद्यालयों में नयी परीक्षा पद्धति लागू किये जाने का निर्णय लिए जाने पर विश्वविद्यालय के कलासङ्काय में स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर सेमेस्टर सिस्टम लागू करने में आपकी महनीय भूमिका रही है। स्वभावत: सरल प्रकृति के साथ अनुशासनप्रिय प्रो. जैन के सङ्काय के प्राध्यापकों तथा छात्रों के साथ मधुर सम्बन्ध रहे। मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई की जैन शास्त्र व वाङ्मय के क्षेत्र में किए गए अभूतपूर्व कार्यों के लिए भारत शासन ने आपको देश के सर्वोच्च सम्मान **राष्ट्रपति पुरस्कार** से सम्मानित किया है।

आपके अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन का समाचार सुनकर प्रसन्नता हुई। यह हमारे लिये हर्ष का विषय है कि विश्वविद्यालय तथा महामना मालवीय के प्रति आपका जो आदरभाव रहा है और जिस समर्पण के साथ आपने संस्था और जैनविद्या को अपनी सेवाएँ प्रदान की हैं वे आपके सेवानिवृत्त होने के उपरान्त भी निरन्तर बनी हुई हैं। विश्वविद्यालय परिवार की तरफ से मैं आपके भविष्य की तथा उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता हूँ।

प्रो. राकेश भटनागर

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मङ्गल-भावना

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं एवं जैनदर्शन के वरिष्ठ मनीषी आदरणीय गुरुवर प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी का अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

आपके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत विभाग में अध्यापन के समय मुझे भी आपसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपकी सादगी, विनम्रता तथा विद्वत्ता विद्यार्थियों के लिए अनुकरणीय रही है। वहाँ संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कला सङ्काय के प्रमुख के रूप में भी आपने सफल दायित्व का निर्वाह किया। प्राकृतभाषा में विशिष्ट योगदान के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित आपने संस्कृत तथा जैनदर्शन के क्षेत्र में भी कई नवीन कृतियों का सर्जन एवं सम्पादन किया है, जिसके लिए जैनविद्या की सम्पूर्ण परम्परा कृतज्ञ है।

आप दीर्घायु हों तथा इसी प्रकार श्रुत की आराधना एवं सेवा करते रहें- यही मङ्गल भावना है।

आदर एवम् अशेष शुभकामनाओं सहित।।

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपति, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

प्रशंसनीय और अनुकरणीय व्यक्तित्व

मुझे बड़ी ही प्रसन्नता है यह जानकर कि प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन जी, जिन्होंने अनेक वर्षों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विषय का अध्यापन किया तथा प्राशसनिक कार्य भी बड़ी कुशलता से किए, उनके सम्मान हेतु जो अभिनन्दन ग्रन्थ वीतराग वाणी ट्रस्ट निकाल रहा है, बड़ा ही स्तुत्य कार्य है। मैं प्रो. जैन की विनम्रता, सरलता, स्पष्टता तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का सदा प्रशंसक रहा हूँ। उनका शैक्षणिक जगत् में योगदान सर्वविदित, प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। वे बी. एच. यू. के छात्र भी रहे हैं। अनेक विषयों के तथा भाषाओं के ज्ञाता हैं। राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित हैं।

सेवानिवृत्ति के बाद समर्पित भाव से पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में निदेशक के रूप में अनेक प्रशंसनीय कार्य किये हैं। विभिन्न अवसरों पर उच्चस्तरीय सङ्गोष्ठियों में मुझे जाने का अवसर मिला और उनकी विद्वत्ता की छाप ऐसी सङ्गोष्ठियों में देखने को मिली।

ईश्वर से प्रार्थना है कि वे आगामी वर्षों में भी विद्वज्जगत् में अपना अद्वितीय योगदान करते रहें। हम उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

प्रोफेसर वेणीमाधव प्रसाद शुक्ल
पूर्वकुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

शुभाशंसा

प्रो0 सुदर्शनलाल जी जैन परम नैष्ठिक जैन धर्मावलम्बी हैं। इनके साथ इनकी धर्मपत्नी और पूजनीया सास, जो अब शिवसायुज्य को प्राप्त कर गयी हैं, को मैंने देखा है कि वे जैन धर्म के आचार-व्यवहार का साक्षात् विग्रह रही हैं। जैन धर्म में प्राप्त होने वाले सामान्य व विशिष्ट दोनों प्रकार के आचार-व्यवहार आपके परिवार में प्रतिष्ठित हैं, यह प्रसन्नता का विषय है। आचार की शुद्धि से ही सत्त्व की शुद्धि होती है और वही मनुष्य के बन्धन के कंचुक को समाप्त करने में साधक होता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में सुदीर्घ सेवाकाल के दौरान प्रो0 जैन निरन्तर अध्ययनशील रहे और यथामति नवीन ग्रन्थों के लेखन, सम्पादन, अनुवाद, संरक्षण और सर्वोपरि छात्रोपयोगी संस्कृत व्याकरण - 'संस्कृतप्रवेशिका' के रूप में उपलब्ध कराने में सहायक रहे। उनकी यह सफलता श्लाघनीय है। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ और उनके दीर्घायुष्य और उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता हूँ।

प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी

अध्यक्ष, कालिदास संस्थान,इमेरिटस प्रोफेसर, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान सङ्काय,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शुभाशंसनम्

काश्यां पूततमे क्षेत्रे पुण्ये भागीरथीतटे।
विश्वविख्यातहिन्द्वाख्याविश्वविद्यालयः स्थितः।।1।।

कलेत्याख्येऽत्र सङ्काये विभागोऽस्त्येव संस्कृतः।
शास्त्रज्ञैर्बहुभिः पुष्टो देशदेशान्तरे श्रुतः।।2।।

विभागाध्यक्षतारूढः सङ्कायप्रमुखस्तथा।
सुदर्शनाख्यजैनोऽसौ लोकविश्रुतितां गतः।।3।।

कायेन मनसा वाचा यस्यास्ति दर्शनं शुभम्।
सोऽयं सुदर्शनो नामा ख्यातेऽस्ति कर्मनिष्ठया।।4।।

मीमांसादर्शने प्रौढः संस्कृतवाक्प्रशिक्षणे।
जैनागमादिशास्त्रेषु कृतभूरिपरिश्रमः।।5।।

सम्मानितोऽस्ति सद्योऽसौ राष्ट्रपतिमहोदयैः।
पुरस्कृतोऽस्ति तत्कीर्त्या बहुभिः प्रान्तशासनैः।।6।।

अतीव सरलः श्रेयान् मृदुभाषी स्वभावतः।
जैनधर्मावलम्ब्येष वाङ्मनः संयमव्रती।।7।।

निर्वैरो निर्भयश्चासौ परहितकरः सदा।

विश्वविद्यालये ख्यातः सुदर्शनः सुदर्शनः।।8।।

छात्रप्रणयवृत्तित्वाद् बहुधा क्लेशमाश्रितः।
प्राशासकैः पदैर्युक्तः स्यादथवा पदं विना।।9।।

दीर्घायुषां भवेदेष युक्तः स्वस्थश्च संयमात्।
संस्कृतजीवनश्चासौ संस्कृतसेवयान्वितः।।10।।

प्रो. गोपबन्धुमिश्रः
पूर्वसंस्कृत विभागाध्यक्षः, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयः
कुलपतिः, श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, गुजरातप्रदेशः

शुभकामना संदेश

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन के अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष तथा भूतपूर्व निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी डॉ0 सुदर्शन लाल जैन बहुत ही सरल स्वभावी एवं विनयशील मनीषी हैं। इन्होंने संस्कृत विभाग तथा कला सङ्काय के समुन्नयन में सराहनीय कार्य किए हैं। आप छात्रों के हित में सदैव तत्पर रहते हैं। आप संस्कृत-हिन्दी भाषाओं के साथ-साथ प्राकृत एवं पालि भाषाओं के भी निष्णात विद्वान् हैं। जैन दर्शन तथा भारतीय दर्शन के साथ साहित्य और भाषाविज्ञान के भी मनीषी हैं। कई शोध-लेख तथा ग्रन्थ लिखे हैं। जिससे इन्हें महामहिम राष्ट्रपति द्वारा भी सम्मानित किया गया है। वास्तव में आप सिद्ध-सारस्वत हैं।

हम आपके उज्ज्वल भविष्य के साथ स्वस्थ निरोगी रहने की कामना करते हैं। यह भी प्रभु से प्रार्थना है कि आप जीवन के अंतिम समय तक सरस्वती की उपासना करते रहें।

'पद्मश्री' प्रो. रामशंकर त्रिपाठी
पूर्व श्रमणविद्यासङ्कायाध्यक्ष, सं.सं.विश्वविद्यालय, वाराणसी

भावि पीढ़ी के लिए 'तर्जनीवत्'

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी पर केन्द्रित अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन विद्वद् समाज में मार्ग-दर्शन का कार्य करेगा। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर जितनी सामग्री उसमें प्रकाशित होगी वह अगली पीढ़ी के लिए तर्जनीवत् प्रमुख अंगुली साबित होगी। अध्यापकीय जीवन में यही मुख्य है कि हम नई पीढ़ी को क्या दे पा रहे हैं। हम अपने समाज को क्या दे पा रहे हैं। प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी ने अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता के माध्यम से यह अनायास ही कर दिखाया है। उनके शतायु होने की कामना है।

प्रो. ए. अरविंदासन
भूतपूर्व कुलपति,महात्मा गांधी अन्ताराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व एवं शोधकर्त्ताओं के हृदय सम्राट्

विद्यावारिधि, सिद्धान्तमहोदधि, शोधमनीषी सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान्, मृदुभाषी, सौम्यमूर्ति तथा मिलनसार प्रकृति के स्नेही विद्वान् प्रो. डॉ. श्री सुदर्शन लाल जी अपने व्यवहार से प्रत्येक मिलने वाले को आकर्षित किए बिना नहीं रहते। प्राय: देश की ऐसी कोई साहित्यिक पत्रिका नहीं जिसमें इनका निबंध न छपा हो। सभी प्रकार के निबंधों का एकमात्र लेखन ज्ञान प्रोफेसर साहब में विद्यमान हैं। शोधार्थी छात्रों के लिये तो डॉक्टर साहब कल्पवृक्ष रहे हैं। आपकी अनेक साहित्यिक रचनाएँ एवं उनके साहित्यिक महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसे हैं जिनसे उनका अक्षय पाण्डित्य प्रसिद्ध है।

जैन संस्कृति के मौलिक तत्त्वों पर तो आपका असमान्य अधिकार है ही परन्तु हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-अंग्रेजी जैसी भारतीय भाषाओं के अनुशीलन में भी आपकी अनुपम अभिरुचि है। उसके कारण आपका ज्ञान क्षेत्र इतना विस्तीर्ण हो चुका है जिससे अनेकों स्नातकों ने अभूत पूर्व लाभ प्राप्त किया।

आपके आलेखों में विशाल एवं निष्पक्ष हृदय की पूरी-पूरी झलक मिलती है। आपका व्यक्तित्व वस्तुतत्व का परिचयाक एवं धार्मिक मूल्याङ्कन का प्रशंसनीय प्रतीक है। जिस लगन के साथ आप अपना काम करते हैं वह सर्वथा प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। आपने जीवन भर निष्काम भाव से जो साहित्य सेवा की व कर रहे हैं वह सदैव स्मरणीय एवं प्रेरणादायी रहेगी।

श्री प्रो. डॉ. सुदर्शन लाल जी का अभिनंदन केवल उन्हीं का अभिनंदन ही नहीं वह तो जैनसंस्कृति एवं जैन श्रावक समाज का एक अद्भुत प्रतिभाशाली विभूति का अभिनंदन है।

हमारी शुभकामना है कि आप दीर्घकाल तक साहित्य सेवा के साथ-समाज-धर्म एवं श्रमण संस्कृति की सेवा के साथ आत्म-साधना में संलग्न रहकर जीवन के क्षणों का सदुपयोग करते रहें। मेरी हार्दिक मंगल कामना है कि प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जी दीर्घायु होकर धर्म समाज साहित्य संस्कृति की सेवा कर यशस्वी बने। मेरी ओर से नम्रता पूर्वक अभिवादन।

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार जैन सोंरया

प्रधान सम्पादक-वीतरागवाणी मासिक टीकमगढ़ (म.प्र.)

जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् और बुंदेलखण्ड के रत्न

मुझे यह जानकर प्रमोद हुआ कि जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान बुन्देलखण्ड के रत्न 'डॉ. सुदर्शनलाल जैन' का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। आप अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के वरिष्ठ सदस्य रहते हुए अनेक पदों को सुशोभित कर चुके हैं। 'देव-शास्त्र-गुरु' आपकी मौलिक कृति का समाज में अच्छा समादर हुआ है।

एकीकृत विद्वत्परिषद् में आपने महामंत्री तथा बाद में हमारे साथ उपाध्यक्ष व कार्याध्यक्ष जैसे पदों पर रहकर महान कार्य किया है।

बुंदेलखण्ड की इस विभूति पर मुझे गर्व है। आप निरन्तर स्वाध्यायशील रहकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें, यही मङ्गल भावना है।

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अध्यक्ष, अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद एवं

महामन्त्री, प. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

कथनी-करनी की एकरूपता के आदर्श

डॉ. सुदर्शनलाल जैन से मेरा परिचय लगभग 56 वर्ष पूर्व का है, जब वे उत्तराध्ययनसूत्र पर अपना शोधकार्य कर रहे थे। मेरे शोध का विषय भी उत्तराध्ययन, धम्मपद और गीता का तुलनात्मक अध्ययन ही था। मेरे शोध प्रबन्ध की मौखिकी हेतु डॉ. भीकनलाल अंत्रे आए थे, उन्होंने मुझे बताया कि उत्तराध्ययन पर तो बनारस में श्री सुदर्शनलाल जैन काम कर रहे है, अत: उन्होंने मुझे विषय बदलने का सुझाव दिया, फलत: मुझे अपना शोध विषय उनके सुझाव अनुसार एक ही रात में बदलना पड़ा। यद्यपि मैं इसी समय से ही श्री सुदर्शनलालजी जैन को जानता हूँ, फिर भी उनसे निकट परिचय मुझे प्रतिनियुक्ति पर बनारस जाने के बाद हुआ। वे एक श्रमनिष्ठ और पुरुषार्थी पुरुष है और उत्तराध्ययनसूत्र के माध्यम से उनकी श्वेताम्बर आगम साहित्य में भी गहरी पेठ है। उनके शोधप्रबन्ध का श्वेताम्बर परम्परा में हिन्दी से गुजराती में अनुवाद भी हुआ है और वह पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से प्रकाशित भी है। डॉ सुदर्शनलाल जैन सरलमना व्यक्तित्व के धनी हैं, उनमें कथनी और करनी की एकरूपता है और यही कारण था कि विचारों के इस पक्ष पर मेरी उनसे गहन मित्रता भी है। दिगम्बर परम्परा में उत्पन्न होकर भी उन्होंने एक श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ को अपना शोध का विषय बनाया, यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। डॉ. सुदर्शनलाल जैन का व्यक्तित्व खांड के समान मधुर है। वे स्वभाव से सहज और सरलमना व्यक्तित्व के धारक हैं। उनके जीवन में मैंने दोहरेपन का अभाव पाया है। उन्होंने प्राकृत भाषा के लिए 'प्राकृत-दीपिका' नामक ग्रन्थ भी लिखा है। मैं उनके सहज व्यक्तित्व को प्रणाम करता हूँ और यह अपेक्षा करता हूँ कि वे शतायु होकर जीवनपर्यन्त ऐसे ही बने रहें। एक श्रमनिष्ठ और दूरदर्शी के रूप में उनका व्यक्तित्व दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होता रहे। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ आपका भाई -

प्रो. सागरमल जैन

संस्थापक एवं डायरेक्टर, प्राच्य विद्या शोध संस्थान, शाजापुर

हार्दिक अभिनन्दन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय कला सङ्काय के संस्कृत एवं जैनविद्या के विद्वान प्रो. सुदर्शन लाल जैन का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह जानकर अतिशय प्रसन्नता हुई। अभिनन्दन ही आनन्द दायक होता है यदि अभिनन्दन ग्रन्थ ही प्रकाशित हो रहा हो तो आनन्द में वृद्धि स्वाभाविक हो जाती है। प्रो. सुदर्शनलाल जी सुदर्शन होने के साथ साथ स्वभाव से विनम्र और सरल हैं। व्यवहारकुशल एवं मृदु भाषी होने के कारण तनाव पूर्ण परिस्थितियाँ इनसे दूरी बनाये रहती हैं और ये सदैव प्रसन्न रहते हैं। सेवा निवृत्ति के बाद भी ये शैक्षणिक संस्थाओं की विभिन्न गतिविधियों से सदैव जुड़े रहते हैं। इनकी शैक्षणिक सेवाओं के निमित्त इन्हें राष्ट्रपति सम्मान से अलंकृत किया जा चुका है। विद्वान् के जीवन का सुखद पक्ष यही होता है कि उसका स्वाध्याय, मनन, चिन्तन और लेखन निर्बाध चलता रहे। शिक्षण संस्थायें एवं सांस्कृतिक-सामाजिक संगठन उनके ज्ञान से लाभान्वित होते रहें। इन्हीं विशेषताओं से विद्वान् कभी सेवा निवृत्त नहीं माना जाता। उसकी सेवाओं की सदैव अपेक्षा बनी रहती है। मुझे विश्वास है भविष्य में भी संस्थायें प्रो. जैन की सेवाओं से लाभान्वित होती रहेंगी।

मै इनके स्वस्थ, कर्मठ एवं दीर्घ जीवन की कामनाओं के साथ हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

पूर्व सङ्काय प्रमुख- संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, बी.एच.यू, वाराणसी

॥श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहमङ्गलानि॥

शुक्लपक्षीयचन्द्रवदुदात्तशुभ्रचरितम्

विविधविद्याविद्योतितान्तःकरणविदुषां नगरीयं काशी, तत्रापि विविधधर्मदर्शनविद्वद्वरेण्यानां संस्कृतसाहित्यालोडने प्रतिभात्येवानिर्वचनीयं किञ्चिद्विशिष्टं योगदानम्। तादृशतपस्विमूर्धन्यविद्वत्सु सारस्वतमन्थनाल्लब्धापरिमितविज्ञाननवनीतानां जागतिकदुर्दान्तप्रपञ्चच्छिदां महावीरस्वाम्याराधकपरमभक्तानां स्याद्वादानेकान्तवादादिप्रौढसिद्धान्तनिष्णातानां न दैन्यं न पलायनमिति नीतिमाचरतां शास्त्रानुकूलपरिपूतात्मनां शुक्लपक्षीयचन्द्रवदुदात्तशुभ्रचरितानां सर्वमानवेषु द्रवीभूतचित्तानां क्षान्त्यौदार्यविभासितजीवनानां विधृतप्रसङ्गोचितमतिविवेकानां लब्धसीमितसंसाधनैरपि परमसन्तोषिणां विकसित-सुमधुरपुष्पाकृतीनां विद्याविनयमूर्तीनां निजविद्यार्थिहितेष्वाहितमतीनां लोकविश्वासचातुरीप्रतिपन्नानामङ्गीकृत-सङ्कल्पनिर्वाहकाणां सुपक्वधान्योपमविनयव्रतिनां निजोदात्तगुणवैभवेन सहिष्णुतया च विपरीतमतिकानपि प्रसादयतामरिन्दमानां संस्कृतसाहित्यविमर्शे चाविरामं विहितदुर्गमयात्राणां स्वजन्मना प्राकृतिकरमणीयताभासित-मध्यप्रदेशीयावनीमलङ्कुर्वता-मुत्तराध्ययनसूत्र-संस्कृतप्रवेशिका-प्राकृतदीपिकातर्कसंग्रह-कर्पूरमञ्जरी-द्रव्यसङ्ग्रह-सम्यग्दर्शनादिकृतिसम्पादकलेखकानां महामहिमराष्ट्रपतिपुरस्कारसम्मानितानां किम्बहुनोत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानीय-पुरस्कारचतुष्टयैर्विभूषितानां बी.एच.यू.शिक्षकश्रीसम्मानसभाजितानां काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीयसंस्कृतविभागाचार्याणां तत्रैव विभागाध्यक्षपदं निर्व्यूढवता सुयशस्विनां परमश्रद्धेयानां **प्रो.सुदर्शनलालजैन**महोदयानां तत्तद्विद्वन्मण्डलेन प्रकाशनीयेऽभिनन्दनग्रन्थे स्वीयशुभाशंसनशब्दप्रसूनाञ्जलिं समर्प्य परमसौभाग्यमनुभवामि।।

जैनाचार्या इमे निजशास्त्रीयावदानेन स्वगुणगरिम्णा चाशेषकीर्तिभाजो विलोक्यन्त एव। अहं तदीयमाङ्गल्यसौख्यारोग्यायुष्यैश्वर्याणि साम्बसदाशिवाय काशिकेयाय निवेदयन् नितरामद्यापि संस्कृतशास्त्रविमर्शयज्ञे छात्रोपकारे च तदीयविशिष्टज्ञानाहुतिं कामयमानस्तदभिनन्दनग्रन्थे प्रकाशयितुमुपगच्छत्यस्मिन् जैनाचार्याणामेषामभिनन्दनं विदधानश्शुभकामनां वितरामि सन्तुष्यामि चेति।

प्रो.धर्मदत्तचतुर्वेदी
संस्कृतविभागाध्यक्षः शब्दविद्यासङ्कायप्रमुखश्च
केन्द्रीयउच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), सारनाथः, वाराणसी

सुदर्शनाभिधानः सः सर्वगुण-विचक्षणः

(महामहिम राष्ट्रपति-सम्मान से विभूषित मनीषी डॉ. सुदर्शनलाल जैन सर्वगुण-सम्पन्न विद्वत्प्रवर हैं)

'मञ्जला' नाम्नी जयति नगरी श्रीजिनेन्द्रप्रसादात्,
यत्राजस्रं भवति सुखदा धर्मवर्षा प्रशस्या।
'सिद्धेलालः' सरलजनकः 'सरस्वती' -सिद्धा च माता,
स्वं स्वं दायं प्रवहन् मुदा 'दमोह'-नगरे हि वसतः।।1।।

ज्ञानाभ्यासी सुतश्श्रेष्ठस्- तयोरासीच्च नैष्ठिकः।
'सुदर्शना'-भिधानः सः, सर्व-गुण-विचक्षणः।।2।।

बुन्देल-भूमौ सञ्जातः, 'कटनी-सागर'-शिक्षितः।
वाराणस्यामधीतो यः, 'सुष्ठु'-'दर्शन'-पण्डितः।।3।।

प्रशस्त-साधना-शीलः, नित्योद्यम-परायणः।
प्रज्ञा-पारङ्गतः एषः, प्राच्य-भाषा-विशारदः।।4।।

प्रत्युत्पन्नमतिर्युक्तो, सम्यक्- शासन-शासकः।
'मनोरमा'- पत्नी विज्ञा, प्रसन्नवदना सदा।।5।।

कर्मवीरो दयावीरः, विद्यावीरः सनातनः।
'सुदर्शनो' गतदर्पः, 'विद्या-व्रत'-परायणः।।6।।

श्रमण-विद्या-मर्मज्ञः, 'आचार्योपाधि'-मण्डितः।
साधूनामाशिषं प्राप्तो, जैन-विद्या-निदेशकः।।7।।

'डाक्टरोपाधि'-संयुक्तो, नैकग्रन्थ-विधायकः।
'विद्वत्परिषत्'-मन्त्री यः, 'उपाध्यक्षत्त्व-मण्डितः।।8।।

व्याख्याने सुष्ठु मर्मज्ञः, 'श्रुतरत्नः' सनातनः।
सफलो योजकश्चैव, नैक-संस्थान-देशकः।।9।।

महामहिम-राष्ट्र-प्रमुखेन, सम्मानित-सुधीवरः।
कृतकृत्यः सदा-नम्रः, शोधकर्म-निदेशकः।।10।।

यो भाषासु तथा तदङ्ग-निचये चातुर्य-चूडामणिः,
यश्चाशेष-कला-कलाप-कलनो वैदग्ध्य-रत्नाकरः।
संस्कृत-प्राकृत-जैनतत्त्व-निपुणस् सम्यक् -सुधीः स्थैर्यवान्,
बहु-भाषा-विद् पण्डितो गुणगणी, 'सुदर्शना'-ख्यः सुधीः।।11।।

विद्वद्-भूषणो वाग्मी, 'सुदर्शनः' सदा सदा।
जीव्याच्छताधिकं वर्षं, काम्यते हि पुनः पुनः।।12।।

प्रो. डॉ. भागचन्द्रो जैनो 'भागेन्दुः'
पूर्व सचिवः, मध्यप्रदेश-शासन-संस्कृत-अकादमी, भोपाल (म.प्र.)
पूर्वनिदेशकः, राष्ट्रियप्राकृत अध्ययन संशोधन संस्थान, श्रवणवेलगोला (कर्नाटक)
निदेशकः, संस्कृत प्राकृत तथा जैनविद्या अनुसन्धान केन्द्र, दमोह (म.प्र.)

सिद्धसारस्वतस्याभिनन्दनम्

निवृत्तिमापन्नो यो विश्रुतकाशीविश्वविद्यालयात्।
सत्कृतोऽसौ सुदर्शनः राष्ट्रपतेः पुरस्कारेण।।
स्वबुद्धिं सूक्ष्मां सदा, निवेश्यातिगहने शास्त्रसमुद्रे।
कीर्तेः विस्तृतं पटं, वयते स सुधीनां संसदि।।
सिद्धान्तसुचिन्तायां रमतेतरां यस्य सदा शेमुषी।
सिद्धसारस्वतोऽसौ प्रकृतिमृदुलोऽभिनन्दनीयः।।
शिष्यायापत्यसमानवत्सलतया ज्ञानप्रदो नित्यशः।
प्राकृतसंस्कृतादीनां भाषाणां पण्डितो गीयते।।
नानाशास्त्रप्रवीणः नैकग्रन्थप्रणेता सुहृदयः।

जिनप्रभुशरण एषो वरेण्यः सुदर्शनलालः।।
लब्धप्रतिष्ठो लोके वैदुष्यादिगुणाचलाग्रवसतिः।
समर्पितं येन निजं सुजीवनं वाङ्मयसेवने मुदा।।
जीयात् स शरदां शतं सौभाग्यारोग्यकीर्तिसमन्वितः।
सर्वविधैः सौख्यैरिति नः हार्दकल्याणकामना।।

प्रो. कुसुम पटोरिया, डी.लिट्
पूर्व प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

ओजस्वी मीठी-वाणी का ज्ञान-भण्डार

अग्रजवर्य प्रो. सुदर्शनलाल जी को वर्षों से जानता हूँ। आप बी.एच.यू. में संस्कृत विभागाध्यक्ष रहे हैं। इनके घर पर मैंने अनेक बार भोजन किया है। पूज्य भाभी जी (आपकी पत्नी) का जीवन संयमित है। उच्च पदस्थ होते हुए भी सादा जीवन उच्च विचार आपमें अनुस्यूत रहे हैं। जयधवल पुस्तक 16 में पं. श्री फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री जी के साथ हम दोनों ने संशोधक के रूप में कार्य किया है। उदयपुर में आपके आगमन पर भी आपसे मिलना हुआ है।

ओजस्वी मीठी वाणी से आपके ज्ञान का भंडार सब को वश में कर लेता है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की पावन बेला में हम दम्पती आपका अभिनन्दन एवं अभिवादन करते हैं तथा भावी जीवन मङ्गलमय हो यह भावना व्यक्त करते हैं। अभिलाषा है कि अल्पतम भव में सम्यक्त्व को प्राप्त करें तथा संयम की पूर्णता करके मुक्तिरमा का वरण करें। भद्रं भूयात्। शुभास्ते पन्थानः।।

पं. जवाहरलाल जैन एवं श्रीमती कैलाश जैन
मिण्डरवाले, उदयपुर

आत्म- प्रशंसा से दूर समर्पित मनीषी

डॉ. सुदर्शनलाल जैन पुरानी पीढ़ी के ऐसे विरल विद्वान् हैं जिन्होंने विश्वविद्यालयीन सेवा में रहते हुए भी जैन समाज से जीवन्त सम्पर्क बनाए रखा तथा पारम्परिक विद्वान् के रूप में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के संस्कृत, प्राकृत साहित्य का गहन गम्भीर अध्ययन कर अकादमिक समुदाय को अनेक श्रेष्ठ कृतियाँ उपलब्ध कराई हैं। यदि श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र पर उन्होंने अपना शोध प्रबंध लिखा तो संस्कृत-प्रवेशिका एवं प्राकृत-दीपिका लिखकर इन भाषाओं के अध्ययन की शुरूआत करने वाले युवा विद्वानों का पथ सुगम किया। मैंने आपकी कृति देव शास्त्र गुरु पढ़ी है जो **गागर में सागर** है। प्रो. जैन के निर्देशन में 44 विद्यार्थियों ने पी-एच.डी सफलतापूर्वक पूर्ण की है। यह स्वयं ही एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय से 44 विद्यार्थियों को पी-एच.डी. कराना स्वयं में एक कीर्तिमान है।

समाज और विद्वान दोनों में आपकी समान पेठ है तभी तो आप जहाँ एक ओर जैन समाज काशी, नरिया दिगम्बर जैन मन्दिर काशी, गणेशवर्णी संस्थान वाराणसी आदि के प्रबंधन से अध्यक्ष, मंत्री आदि पदों के माध्यम से जुड़े रहे तो दूसरी ओर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के मंत्री और उपाध्यक्ष के रूप में परिषद् के स्वर्णिम काल में आपने नेतृत्व प्रदान किया। म. प्र. की राजधानी भोपाल आ जाने से अब म. प्र. के विद्वान् निकट सम्पर्क में रहकर आपके वैदुष्य का लाभ ले सकेंगे।

मैं अपनी एवं विद्वत् महासङ्घ की ओर से डॉ. जैन के अमृत-महोत्सव के पुनीत अवसर पर प्रकाशित होने वाले **सिद्ध-सारस्वत** ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता तथा प्रो. जैन के स्वस्थ, सुदीर्घ, सक्रिय एवं यशस्वी जीवन की मङ्गल कामना करता हूँ।

डॉ.अनुपम जैन
कार्याध्यक्ष, तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासङ्घ, इन्दौर

वैदुष्य और सदाशयता की मूर्ति

मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला इतिहास विभाग में था और प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ही संस्कृत विभाग में थे और मुझसे वरिष्ठ थे। प्रो. जैन ने कला सङ्काय के सङ्काय प्रमुख के रूप में अपनी प्रशासनिक क्षमता से सभी को अपना बना लिया था और अध्यापक उनके निर्देश एवं परामर्श को गम्भीरता से लेते और अमल करते थे। शैक्षणिक दृष्टि से भी सङ्काय प्रमुख के रूप में उनके कार्यकाल में विभिन्न विभागों में कई कार्य एवं सङ्गोष्ठियाँ हुईं। उनके कार्यकाल में स्वयं मैंने भी विभागाध्यक्ष के रूप में भारतीय कला के मनीषी विद्वान् प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल पर एक सङ्गोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें प्रत्येक स्तर पर उनका परामर्श और सहयोग मिला, जो अविस्मरणीय है।

प्रो. जैन संस्कृत के साथ ही जैनविद्या के भी अप्रतिम विद्वान् हैं, इसी कारण वाराणसी जैन शोध संस्थान पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अवकाश प्राप्ति के बाद प्रो. जैन को निदेशक के रूप में कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया गया। संस्थान के निदेशक के रूप में भी शोध, प्रकाशन और अन्य शैक्षणिक गतिविधियों को प्रो. जैन ने गति प्रदान की।

वास्तव में व्यक्ति जब तक कार्यक्षेत्र में प्रशासनिक और अन्य पदों पर कार्यरत रहता है उसका आकलन हम अपनी-अपनी स्वार्थपूर्ति की दृष्टि से करते हैं। वास्तविक आकलन तो अवकाश प्राप्ति के बाद ही हो पाता है। इस दृष्टि से मैं यह कह सकता हूँ कि एक विद्वान् एवं सहृदय व्यक्ति के रूप में आज सभी प्रो. जैन का सम्मान करते हैं और उसी रूप में याद करते हैं। यह प्रो. जैन की उपलब्धि मानी जायेगी, नहीं तो अवकाश प्राप्ति के बाद कौन याद करता है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अग्रज प्रो. सुदर्शनलाल जैन दीर्घायु हों और विद्याध्ययन के क्षेत्र में सर्वदा हमें अपने अध्ययन एवं शोध का लाभ देते रहें।

प्रो. मारुतिनन्दन तिवारी

प्रोफेसर एमिरेटस, कला इतिहास, विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नारिकेल-सम स्वभावी

प्रो. सुदर्शन लाल जैन का हमारे घर प्रायः तत्त्वचर्चा हेतु आवागमन होता रहता था। इनका सरल व्यक्तित्व और निर्भीक पाण्डित्य बड़ा प्रभावक होता था। वे स्वभावतः सरल प्रकृति के हैं परन्तु अनुशासन-प्रिय हैं। 'नारिकेलसम' आपका स्वभाव ऊपर से कठोर और अन्तरङ्ग से मधुर है। ये संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। बी.एच.यू के 23 विभाग वाले कला सङ्काय के डीन के रूप में आप संस्कृत के साथ मराठी, उर्दू, म्यूजोलॉजी, भारतकला भवन, जर्मन आदि विभागों के भी अध्यक्ष रहे हैं। कला सङ्काय को एक नया रूप प्रदान किया है। कई नये पाठ्यक्रम प्रारम्भ कराये। सामाजिक विज्ञान सङ्काय और विज्ञान सङ्काय के विषयों को पढ़ने की सुविधा भी आपने अपने कला सङ्काय के छात्रों को दिलाई।

आपकी प्रशासन क्षमता सबसे बड़ी विशेषता थी अध्यापकसङ्घ और छात्रों से तालमेल बनाए रखते थे। आपकी यह कर्मठता सदा बनी रहे और स्वस्थ रहकर देश की सेवा करते रहें।

प्रो. श्रीमती अन्नपूर्णा शुक्ला

पूर्व प्राचार्य, महिला महाविद्यालय, बी.एच.यू., वाराणसी

विदद्वरेण्य कर्मठ प्रो0 सुदर्शन लाल जैन

प्रो0 सुदर्शन लाल जी का जन्म दमोह (म.प्र.) के एक गाँव में हुआ था। बचपन में ही आपको अपनी माता की मृत्यु के कारण मुसीबत का सामना करना पड़ा। आपके पिता एक शिक्षक थे एवं वे चाहते थे कि बेटा भी वहीं शिक्षक की नौकरी कर ले। मगर कुछ अलग करने की ललक आपमें थी एवं आपने वाराणसी को अपना कार्य क्षेत्र बनाया।

आर्थिक संकट के कारण आपने वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय में अपना अध्ययन जारी रखा एवं यहीं आपने उच्च शिक्षा ग्रहण की तथा कलान्तर में आपने पी-एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। आपने अपना उद्देश्य एवं लक्ष्य हमेशा आगे बढ़ने का रखा। आपको काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लेक्चरर के पद पर चुना गया। संस्कृत विभाग में आपको कई प्रतिद्वंदियों का सामना भी करना पड़ा। मगर अपनी समझबूझ से सबका सहयोग प्राप्त किया। आर्थिक अभाव के बावजूद आपने यही ध्यान रखा कि उनके पुत्र संदीप, संजय एवं अभिषेक की एवं पुत्री मनीषा की उच्च शिक्षा मिले एवं उन्हें किसी भी प्रकार का आर्थिक अभाव न झेलना पड़े।

आर्थिक परेशानियों के साथ ही साथ आपको कई भारी पारिवारिक परेशानियों का भी सामना करना पड़ा। आपके बड़े पुत्र संदीप जैन को पोलियो रोग की वजह से हुई अपंगता के इलाज व शारीरिक व्यायाम के लिए हमेशा अपने कंधे पर अस्पताल ले जाना पड़ता था, जो कि एक बहुत ही मुश्किल काम था उसको भी आपने बड़ी तन्मयता तथा जिम्मेदारी से कई सालों तक निभाया। आपके अथक प्रयासों की वजह से ही पुत्र संदीप की शुरुआती शिक्षा से लेकर

आई.आई.टी में सेलेक्शन संभव हो सका जिससे कि वह आज कम्प्यूटर इंजीनियर बन कर पिछले कई वर्षों से अमेरिका के कई बड़ी कम्पनियों में उच्च पद पर कार्य कर रहा है। यह सब आपके अथक प्रयास एवं कठिन मेहनत से ही संभव हो सका।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन भी आपकी संघर्ष में हमेशा साथ-साथ रहीं। कालान्तर में आप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में डीन पद पर रहे। आपने पार्श्वनाथ जैन इन्स्टीट्यूट में डायरेक्टर के पद पर भी कार्य किया।

आप हर काम चाहे सामाजिक हो अथा विभागीय हमेशा ईमानदारी से करते रहे। आपने अपने कुशल निर्देशन में करीब 44 छात्रों को गाईडेंस देकर पी-एच.डी. की डिग्री से अलंकृत करवाया।

आपको भारत के राष्ट्रपति द्वारा संस्कृत में उच्च योगदान के लिए सम्मानित किया गया।

आपके दो पुत्र संदीप जैन एवं संजय जैन इस समय अमेरिका में मैनेजमैंट के उच्च पद पर कार्यरत हैं तथा पुत्री डॉ. मनीषा जैन भी बाम्बे यूनिवर्सिटी से मेडिकल की पढ़ाई करके वर्तमान में भोपाल में डॉक्टर के पद पर कार्यरत है। आज भी डॉ. सुदर्शन लाल जैन भोपाल में अपना शोध कार्य जारी रखे हुए हैं। आप इसी तरह आगे बढ़ते रहें।

डॉ. जे.के. सामरिया
पूर्व प्रोफेसर एण्ड हेड
डिपार्टमेण्ट ऑफ चेस्ट डिजिजेज, बी.एच.यू, वाराणसी
प्रमिला सामरिया
मंत्री,अखिल भारतीय दिगम्बर जैन
महिला संगठन, वाराणसी

प्राच्यविद्या मनीषी : प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन शान्ति निकेतन विद्यालय कटनी (म. प्र.) में हमारे सहपाठी रहे हैं। फिर हम बनारस में भी श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में एकसाथ रहकर अध्ययन में रत रहे। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक हमारे गुरु भी एक समान थे, किन्तु आगे चलकर प्रो. सुदर्शन जी ने संस्कृत के क्षेत्र में विकास किया और मैंने प्राकृत भाषा एवं साहित्य को चुना। संयोग से हम दोनों की ससुराल भी दमोह (म. प्र.) बनी, अत: हम सहपाठी के साथ रिश्तेदार भी बन गये।

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जी प्रारम्भ से अध्ययनशील और चिन्तक रहे हैं। परिणामस्वरूप आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी प्रसिद्ध युनिवर्सिटी में और संस्कृत विद्या के विशाल आकाश में लम्बी प्रतिस्पर्धा को पार करते हुए अपनी पहचान बनायी। संस्कृत विद्या के क्षेत्र में बनारसी पण्डितों के बीच युनिवर्सिटी प्रोफेसर और डीन के पद पर प्रतिष्ठित होना प्रो. जैन की कर्मठता और लगन का सुपरिणाम है।

बनारस में कई प्रकार की प्रतिष्पर्धाएँ, कठिनाईयाँ झेलनी पड़ती हैं, किन्तु प्रोफेसर सुदर्शन जैन ने उन सबको पार किया है। तभी वे संस्कृत विद्या के श्रेष्ठ मनीषी के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। जैन दर्शन के विद्वान् होने के नाते डॉ. जैन ने प्राकृत साहित्य का भी गहन अध्ययन किया है। उनका शोध-प्रबन्ध भी प्राकृत के आगम ग्रन्थ पर है। प्राकृत व्याकरण पर आपने पुस्तक भी लिखी है। परिणामस्वरूप आपको पालिप्राकृत अध्ययन में निष्णात होने के लिए भारत के राष्ट्रपति द्वारा गौरव सम्मान प्रदान किया गया है। यह संयोग ही है कि उस समय भारत सरकार की इस सम्मान चयन समिति में सदस्य होने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ था। हम दोनों के गुरुवर्य स्वनामधन्य आदरणीय पं. जगन्मोहन लाल जी सिद्धान्तशास्त्री एवं आदरणीय पण्डित प्रवर कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री के आशीष का ही यह फल है।

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन अच्छे शिक्षक एवं सूक्ष्मदर्शी अनुसन्धाता के साथ कुशल प्रशासक भी हैं। आपने बनारस की प्रमुख शोध संस्था पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम में निदेशक के रूप में भी अपनी सेवाएँ दी हैं। आपके निदेशन में 40 से अधिक शोधार्थियों ने पीएच.डी. उपाधि प्राप्त की है। अत: डॉ. जैन का शिष्य समुदाय भी बड़ा है। जैन समाज की शीर्ष संस्थाओं को भी डॉ. जैन का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इन सब अकादमिक उपलब्धि और यश:कीर्ति की प्राप्ति में आपकी धर्मपत्नी एवं हमारी भाभी जी श्रीमती डॉ. मनोरमा जैन का उन्हें पग-पग पर सहयोग प्राप्त रहा है। आपके युगल प्रयास और संस्कार से आपकी सन्तान ने उच्च शिक्षा और पद-प्रतिष्ठा प्राप्त की है। ऐसे सांस्कृतिक एवं सुशिक्षित परिवार के लिए हम सबकी ओर से हार्दिक बधाई है। प्रोफेसर एस. एल. जैन सा. सुखद, स्वस्थ्य एवं स्नेहपूर्ण दीर्घायु प्राप्त करें, यही मङ्गल कामना है। उनके अमृतवर्ष जयन्ती पर हार्दिक शुभकामनाएँ।

प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन एवं डॉ. श्रीमती सरोज जैन,
पूर्व अध्यक्ष, प्राकृत विभाग तथा डीन, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

सरल एवं सहज व्यक्तित्व के धनी

भारतभूमि रत्नगर्भा है। इस वसुन्धरा ने अनेक रत्न उगले हैं। ऐसे ही रत्नों में से एक दीप्तिमय रत्न ज्ञानमय अपनी पूर्ण आभा के साथ तेजस्वी छटा बिखेर रहे प्रो. सुदर्शनलालजी जैन है। आप की सहजता, सरलता व सादगी के बारे में जितना लिखा जाये उतना ही कम है। आपका शांत चित्त निरन्तर साहित्य सेवा में लगा रहता है। कई पुरस्कारों से सम्मानित होते हुए भी आपके व्यवहार में सदैव विनय व सादगी नजर आती है। मेरा परम सौभाग्य था कि आपश्री ने ही मेरा पीएच.डी. का वायवा (मौखिकी) लेकर मुझे उपाधि प्रदान की थी।

प्रो. सुदर्शनलालजी जैन जैसे सात्त्विक, सदाशयी, सद्भावपूर्ण तथा सर्वमङ्गलकारी व्यक्तित्व के धारी समर्पित निष्ठावान तथा मनस्वी पुरुष संसार में विरले हैं जिन्होंने नवीन अनुसंधान करके सारस्वत क्षेत्र को उज्जवल बनाया।

आपके बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

'शिक्षा से मेरा तात्पर्य व्यक्ति के सामाजिक, आध्यात्मिक तथा चारित्रिक गुणों का विकास है।' महात्मा गांधी के इस वाक्य को सार्थक करते हुए विद्वद्वर्य प्रो. सुदर्शनलालजी ने कई ग्रन्थों की रचना की और आपको श्रेष्ठ पुरस्कार राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित किया गया।

भारतीय संस्कृति में ज्ञान व्यापक शब्द है। ज्ञान के बिना जीवन अधूरा है। इसीलिए ज्ञान के बिना व्यक्ति को पशु-तुल्य बताया है। ग्रन्थ या पुस्तक ज्ञान के माध्यम हैं, इनका स्वाध्याय करना तप माना गया है। स्वाध्याय को शास्त्रों में परम तप के रूप में संदर्भित किया है। पश्चिमी संस्कृति में भी पुस्तक जीवन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। 'पुस्तक सर्वश्रेष्ठ मित्र है।' ज्ञान तथा शिक्षा का जीवन में सर्वोपरि महत्त्व है। जैन संस्कृति ने इन्हें पूज्य माना है। आपश्री द्वारा निरन्तर लेखन आपके अगाध ज्ञान का ही फल है।

आपका जीवन मङ्गलमय हो और आप निरन्तर जिनवाणी की सेवा करते रहें। यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है।

डॉ. रीना जैन (बेद)

प्रशासनिक ऑफीसर, प्राकृत भारती, जयपुर

वन्दे गुरुं सिद्धसारस्वतम्

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे !

श्रद्धेयानां गुरुप्रवराणां सिद्धसारस्वतानां सत्प्रेरकानां मार्गदर्शकानां विविधशास्त्रनिष्णातानां तत्त्वज्ञानां जैनविद्यास्नातकानां राष्ट्रपतिसम्मानविभूषितानां परमविदुषां विद्वद्वरेण्यानां प्रो. सुदर्शनलालजैनमहाभागानां सम्मानार्थम् अभिनन्दनग्रन्थोऽयं 'सिद्धसारस्वतः' इत्यभिधानात्मकः प्रकाशितो भवति, हर्षस्य विषयोऽयम्। गुरुवर्याणां वैदुष्यं विलसति विशिष्टं तथा च विलसति सरलस्वभावयुतं व्यक्तित्वम्। भवतां ज्ञानयशः सर्वत्र सुप्रसारितं वर्तते विद्वज्जगति। भवादृशाः महान्तः छात्रहितचिन्तकाः गुरवः यत्र भवन्ति तत्र शिष्यहितं भवत्येव निश्चयेन। भवतां श्रद्धेयगुरुवर्याणां प्रथमदर्शनं भोजराजनगर्यां भोपालनगरे जातं, भवताञ्च आशीर्वादाः अस्माभिः प्राप्ताः। तत्र राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य भोपालपरिसरस्य जैनदर्शनविभागेन समायोजितायां राष्ट्रियशोधसंगोष्ठ्यां भवन्तः मुख्यातिथिरूपेण समागताः आसन्। तत्र भवतां वैदुष्यं सरलव्यक्तित्वञ्च अस्माभिः साक्षीकृतम्। भवद्भिः जीवने अद्भुतसाहित्यसेवा कृता। नैकाः उत्तमाः श्रेष्ठाः कृतयः भवद्भिः रचिताः सन्ति। तासु रचनासु विषयगाम्भीर्यं स्पष्टरूपेण दृश्यते। तत्रैव सरसा सरला सुबोधा प्रभावात्मकरचनाशैली च अस्माभिः अवलोकिता। भवतां व्यक्तित्वे अस्त्येकं सकारात्मकप्रभावात्मकमाकर्षणं येन आकर्षिताः भवामः वयम्।

भवन्तः एवं प्रकारेणैव संस्कृतप्राकृतयोः साहित्यसेवां करिष्यन्ति, यस्मात् मादृशानामबोधवालानां मार्गः प्रशस्तः भविष्यति। श्रद्धेयगुरुवर्याः! भवन्तः सर्वदा स्वस्थाः प्रसन्नाः जिनवाणीसेवारताः भवन्त्विति भगवन्तं प्रार्थये।

विद्वत्गुणानुरागी

डॉ. प्रतापशास्त्री

अध्यक्षः जैनदर्शनविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, भोपालपरिसर

सौम्यमूर्ति गुरुदेव प्रो० सुदर्शन लाल जैन

अन्तर्मुखी प्रतिभा के धनी, सौम्यमूर्ति सम्माननीय गुरुदेव प्रो० सुदर्शन लाल जैन जैनदर्शन, प्राकृत एवं संस्कृत के मूर्धन्य मनीषी विद्वान् हैं। जीवन पर्यन्त वे श्रुताराधना करते हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। सामाजिक एकता और अखण्डता बनाये रखने के लिए भी आप निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में दीर्घावधि तक संस्कृत-प्राकृत भाषा के प्रोफेसर रहकर आपने अनेक विद्यार्थियों को संस्कृत-प्राकृत भाषा में दक्ष बनाया है। विषय-विशेषज्ञ आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर सरकार और समाज द्वारा आपको अनेक बार सम्मानित किया जा

चुका है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम, गणेश वर्णी संस्थान जैसे उच्च प्रतिष्ठानों में आपने निदेशक और मंत्री के रूप में अपनी सेवाएं प्रदान कर उन संस्थानों का गौरव बढ़ाया है। सम्प्रति वयोवृद्ध होते हुए भी आप निरन्तर लेखन कार्य करते हुए समाज का मार्गदर्शन करते रहते हैं।

मुझे स्मरण है कि श्री स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय भदैनी, वाराणसी में सन् 1967 में प्रथमवार मेरा आपसे परिचय हुआ था। उस समय आप सम्भवत: वर्धमान कालेज बिजनौर में संस्कृत के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हो चुके थे। एक वर्ष पश्चात् ही आपकी नियुक्ति काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक के पद पर हो गई थी। प्रारम्भ में आप सपरिवार स्याद्वाद महाविद्यालय के पास में स्थित, विद्यालय के ही एक भवन में रहते थे। इसलिए प्राय: प्रतिदिन आपके दर्शन हो जाया करते थे। विनम्रता, सहजता, शालीनता आदि गुणों से विभूषित सम्मान्नीया भाभी जी सहित आपके सहज स्नेह के आकर्षण के कारण हम सभी छात्रों का आपसे विशेष लगाव था। सन् 1973 से सन् 1979 तक काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान आपसे विशेष सम्पर्क रहा। विना किसी संकोच के हम लोग गुरुदेव से शैक्षणिक परामर्श लेते रहते थे। साथ ही एम0ए0 में मुझे आपसे साक्षात् अध्ययन करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इस तरह आप मेरे साक्षात् विद्यागुरु भी रहे हैं, यह मेरे लिए अत्यन्त गौरव की बात है।

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि जिनवाणी के अनन्य उपासक, श्रमण संस्कृति के सम्वर्द्धक एव समाज के मार्गदर्शक के रूप में आपके महनीय उपकार से प्रभवित होकर, समाज उनके 75 वें जन्मदिवस के शुभावसर पर उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध सारस्वत' का प्रकाशन करने जा रहा है। ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमारी अनन्त शुभकामनाएं हैं और सम्माननीय गुरुदेव का लाभ समाज और हम सभी शिष्य समुदाय को प्राप्त होता रहे, एतदर्थ हम सभी उनके स्वस्थ रहते हुए शतायु होने की कामना करते हैं।

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन
पूर्व प्राध्यापक, डिग्री कालेज, गाजियाबाद (उ0प्र0)

जैनजगत के गणमान्य बहुश्रुत व्यक्तिः प्रो. जैन

प्रो. सुदर्शन लाल जी के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इससे अधिक खुशी की बात क्या हो सकती है। ऐसे गणमान्य बहुश्रुत व्यक्ति का सम्मान होना ही चाहिए। जिसने भी इस योजना को बनाया है वे बहुत साधुवाद के पात्र हैं। आपके बारे में जितना कुछ लिखें या गुणगानों का बखान करें उतना ही कम है। आपने देश-विदेश की यात्राएँ कीं। अपने व्याख्यानों के माध्यम से जैनजगत में जैन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। आपने अनेक छात्रों को पीएच. डी. करवायी। आपके छात्र आपके प्रति नतमस्तक हैं। आप एक पॉजिटिव विचारधारा के व्यक्ति हैं। आपने कभी किसी का अहित नहीं किया है, इसी कारणवश जैन जगत में आप प्रसिद्ध हैं। आपने अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। आपका शोध प्रबन्ध भी पार्श्वनाथ विद्याश्रम से प्रकाशित है, जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे रखा गया है। जिसका लाभ शोधछात्रों को प्राप्त हो रहा है। आपने राष्ट्रपति पुरस्कार के साथ ही अन्य अनेक पुरस्कार भी प्राप्त किये हैं। आप न केवल प्राकृत अपितु संस्कृत, पालि एवं अन्य भाषाओं के विद्वान हैं। आपके बारे में जितना लिखा जाये या गुणगान किया जाये वह कम है। आप एक सरल मृदु स्वभाव वाले पुरुष हैं। मैं ऐसे प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के दीर्घायु की कामना करता हूँ। आपकी मुझ पर भी बहुत कृपा रही है। अत: मैं आपका जितना भी गुणगान करूं उतना ही कम है। वास्तव में प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन गुणों का अथाह समुद्र हैं। आपमें जीवन-मूल्य एवं नैतिक-आदर्शरूपी रत्न भरे पड़े हैं। वास्तव में आप एक प्रस्फुटित गुलाब की तरह हैं जिसकी भीनी-भीनी खुशबु रूपी यश जैनजगत में व्याप्त है। ऐसे प्रो. साहब को मेरा कोटि- कोटि प्रणाम।

प्रो. हुकमचन्द जैन
सेवानिवृत्त आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

विद्याव्यसनी प्राच्यभाषाविद्

जैन धर्म-दर्शन, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ मनीषी प्रो. सुदर्शनलाल जैन से लगभग 25 वर्षों से सुपरिचित हूँ। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कला सङ्काय के अधिष्ठाता पद को अलंकृत कर आपने जैन समाज को गौरवान्वित किया है। प्राकृत भाषा के अध्ययन की दृष्टि से आपके द्वारा रचित 'प्राकृत-दीपिका' पुस्तक जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है। प्रो. जैन सुखद दाम्पत्य जीवन के धनी होने के साथ विद्या व्यसनी हैं। आदरणीया भाभीजी का आपकी विद्योपासना में निरन्तर सहयोग रहता है। वर्ष 2005 में आप मेरी शोधछात्रा डॉ. श्वेता जैन के शोध प्रबन्ध 'जैनदर्शन में कारणवाद के संदर्भ में पंचसमवाय : एक समीक्षा' की मौखिकी परीक्षा हेतु जोधपुर पधारे थे, तब आपने सेवा मन्दिर में प्रतिमाह आयोजित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत **'भारतीय दर्शन में अनेकान्तवाद'** विषय पर विश्लेषणात्मक एवं बोधपरक व्याख्यान दिया था। आपसे अनेक संगोष्ठियों में मधुर मिलन हुआ है तथा आपके वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों और वक्तव्यों से बहुत कुछ सीखने को मिला है। मैं आपके दीर्घायुष्य, उत्तम स्वास्थ्य एवं सुखद भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

प्रो. धर्मचन्द जैन
अधिष्ठाता, कला, शिक्षा एवं समाज-विज्ञान सङ्काय,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

सुदर्शनाष्टकम्

बुन्देलखण्डे जनिं लब्ध्वा, पूज्यः जैनमण्डले।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।1।।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठित-शुचि दक्षः सुबुद्धिमान्।
मनोरमा-युतः सुदर्शनः प्राकृतभाषा-विशारदः।।2।।
सितसौम्य-स्वभावस्य, विद्याविपिनचारिणः।
शास्त्राध्ययनलग्नस्य के न वाञ्छन्ति दर्शनम्।।3।।
विद्याविनय-सम्पन्नः, राष्ट्राध्यक्ष-पुरस्कृतः।
काशीविद्वत्सभा-मान्यः जयतु नित्यं सुदर्शनः।।4 ।।
दीर्घायुः धीरः साहसी वीरः, सुसमृद्धः प्राकृतविद्याधरः।
शान्तः, दान्तः सुकान्तः सारस्वत-सुदर्शन-युतः।।5।।
सरस्वती-सिद्धयोः सूनु, श्री-धी-विद्या-संयुतः।
काशीपीठे कलासङ्कायाध्यक्षः जिनविद्यासमलंकृतः।।6।।
शास्त्राकाशदिवाकरम् अभिनवमाचार्यचूडामणिम्।
दीपो ज्ञानमयो येन गुरुणा प्रज्वालितो भास्वरः।।7।।
तं वन्दे सुर—भारती-सुतनयं दर्शनज्ञं सुदर्शनम्।
आचार्यं सुदर्शनवरं गुरुवरं प्राकृतसंस्कृतविद्यावरम्।।8।।

डॉ. श्रीमती राका जैन
धर्मपत्नी, प्रो. विजय कुमार जैन, लखनऊ

वरिष्ठ विद्वानों के गुरु प्रो. जैन की प्राकृत-दीपिका मेरा आदर्श

आदरणीय अंकल जी (प्रो. सुदर्शन लाल जैन) को मैं बचपन से जानता हूँ। बाल्यकाल से ही उनका स्नेह मुझे प्राप्त हुआ है। जब अपने पिताजी (प्रो. डा॓ फूलचंद जैन प्रेमी) के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित उनके आवास पर जाता था तब इनका छोटा बेटा अभिषेक भी हमारे साथ खेला करता था। मुझे उन दिनों आपकी विद्वत्ता का भान भी नहीं था। किंतु जब मैं भी धर्म दर्शन संस्कृत प्राकृत विद्या के क्षेत्र में आया तब इनका भी साहित्य पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ।

आपकी प्राकृत भाषा पर आधारित कृति है 'प्राकृत दीपिका' जो कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी से प्रकाशित है। इस कृति ने मुझे बहुत प्रभावित किया। प्राकृत के व्याकरण सूत्रों के साथ व्यवस्थित रूप से सिखाने का कार्य यह पुस्तक करती है। वर्ष 2013 का महर्षि वादरायण व्यास युवा राष्ट्रपति पुरस्कार जब मुझे प्राप्त हुआ तब मैंने उस राशि का उपयोग प्राकृत भाषा के लिए ही करने का मानस बनाया और 'पागदभासा' नामक एक पत्रिका निकाली। अब इसके प्रत्येक अंक में समाचार लेख और सम्पादकीय लिखना भी एक चुनौती से कम नहीं लगा, ऐसे वक्त में मुझे प्राकृत दीपिका ने बहुत मदद की। आज इस पुस्तक की दो प्रतियां मेरे पास हैं, एक मेरे घर के कार्यालय जिन फाउंडेशन, नई दिल्ली में और दूसरी मेरे अध्यापन कार्य स्थल, जैन दर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में। वो इसलिए कि पता नहीं होता कब इस कृति की आवश्यकता मुझे पड़ जाए।

मुझे भोगीलाल लेहरचंद इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, दिल्ली में भी जब प्राकृत कार्यशाला में पढ़ाने जाना होता है तब भी मैं यह कृति अपने साथ ही रखता हूँ।

आदरणीय अंकल जी के साथ मुझे ज्यादा वक्त गुजारने के मौका तो कभी नहीं मिला क्योंकि वे वरिष्ठ विद्वान थे, तथा मेरे पिताजी के साथ आज के डॉ. जयकुमार जैन तथा डॉ. नरेंद्र जैन जी आदि अनेक वरिष्ठ विद्वानों के भी गुरु जी रहे हैं किन्तु इन सभी से तथा पिताजी के मुख से इनकी अनेक विशेषताओं को सुनता रहा हूँ। मेरी भावना है कि आप शतायु हों तथा निरंतर माँ जिनवाणी की सेवा करते हुए आत्मकल्याण के शाश्वत मार्ग पर भी अग्रसर हों ।

प्रो. अनेकान्त कुमार जैन
अध्यक्ष, जैन दर्शन, दर्शन सङ्काय, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ ,नई दिल्ली

मेरे सहपाठी की विविध क्षेत्रों में ऊँची उड़ान

संस्कृत, प्राकृत एवं जैन विद्या के वरिष्ठ मनीषि विद्वान प्रोफेसर डॉ. सुदर्शनलाल जैन अपने जीवन के 75 बसन्त पूर्ण कर रहे हैं, यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुयी। उन्हें भूरिश: साधुवाद।

सहज प्रतिभा सम्पन्न, जागरूक एवं प्रबुद्ध प्रो. जैन संस्कृत महाविद्यालय वर्णीभवन मोराजी, सागर तथा श्री स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी, वाराणसी में एक समय (1959-1960) हम दोनों एक साथ एक ही कक्षा एवं विषयों के अध्ययन में रत रहे हैं। सन् 1962 में साहित्य शास्त्री परीक्षा भी एक ही साथ पास की है। निस्संदेह डॉ. सुदर्शन लाल जैन सौभाग्यशाली हैं जो पठन-पाठन में मुझसे कुछ आगे निकल गए।

पी-एच.डी. उपाधि धारण करते ही आप 1967 में बिजनौर जैन कॉलेज में प्राध्यापक बने और अगस्त 1968 में संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी में आपकी प्राकृत-संस्कृत प्रवक्ता के रूप में नियुक्ति हो गयी। इसी विश्वविद्यालय में आगे बढ़ते हुए आप रीडर एवं प्रोफेसर बने तथा विश्वविद्यालय के विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्विघ्न सफलतापूर्वक निर्वहन करते हुए विभागाध्यक्ष एवं कला सङ्काय के अधिष्ठाता (डीन) भी रहे। प्रो. जैन शिक्षा जगत् की 39 वर्षों तक मनोज्ञ एवं सफल सेवा कार्य करते हुए 30 जून 2006 में सेवानिवृत्त हुए।

मेघावी प्रो. जैन ने अपने को गुरुजनों की दृष्टि में सदैव उत्कृष्ट बनाए रखा जो इनकी एक विशिष्ट विशेषता है। विनयशील डॉ. जैन स्वभावत: सरल, हंसमुख और मृदुभाषी हैं। छात्रों, मित्रों एवं सहयोगियों में परस्पर सद्भाव एवं मैत्री

भाव बनाए रखना इनके औदार्य गुण को स्पष्ट दर्शाता है।

ओजस्वी वक्तृत्वकला के धनी प्रो. जैन का धन एवं सुख-सुविधाओं के धनी प्रो. नीचे से ऊपर की ओर उठते हुए निरन्तर अपने को समुन्नत करना, इनका प्रतिष्ठा प्राप्त करना यही उजागर करता है कि आप कितने अधिक कर्मठ, साहसी, समर्थ, कर्त्तव्य-निष्ठ, धैर्यशील एवं बुद्धि कौशल पूर्ण विविध गुणों से ओत-प्रोत है।

मार्गदर्शक, जीवनोपयोगी, महत्त्वपूर्ण अनेक ग्रन्थों के रचयिता प्रो. सुदर्शनलाल जैन राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित हैं। साथ ही अन्य अनेक सर्वोष्कृष्ट पुरस्कारों से भी आप अलंकृत हैं।

ऐसे समाजसेवी, संस्कृत, प्राकृत एवं जैनविद्या के मनीषि विद्वान प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन का जैन समाज विशेषकर वीतराग वाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़ के महानुभाव सदस्यगण भावभीना ओजस्वी सम्मान करने जा रहे हैं। आनन्द का प्रसंग है कि इसी सन्दर्भ में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी उनके सम्मानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। विद्वान् का सम्मान करना सर्वोत्तम कार्य तो है ही, साथ ही राष्ट्र का भी सम्मान है।

मैं प्रोफेसर डॉ. जैन के वैभव सम्पन्न सुखी एवं दीर्घजीवन की सपरिवार मङ्गल भावना भाता हूँ और अपेक्षा करता हूँ कि वे सदैव अपने सुन्दर कृतित्व से समाज एवं राष्ट्र का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

ओम् शान्ति।

प्रोफेसर धर्मचन्द्र जैन
सेवानिवृत्त, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

सादाजीवन उच्च विचार

विद्वज्जगत में आदरणीय डॉ. सुदर्शनलाल जैन के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से शायद ही कोई अपरिचित हो। मेरा परिचय लगभग 4 दशकों से है। मुझे उन्होंने लघुभ्राता तुल्य स्नेह दिया। आपको मैंने हमेशा सहज और सादी वेशभूषा में ही देखा है। आपके विचारों और सिद्धान्तों को देखना है तो आपके द्वारा लिखी गयी महत्त्वपूर्ण कृति 'देव शास्त्र और गुरु' को अवश्य पढ़ें। आप विद्वत्परिषद् के यशस्वी महामंत्री रहे हैं। आपके कार्यकाल में परिषद् सुदृढ़ रही है क्योंकि आपके विचार सुलझे एवं विद्वानों को मार्गदर्शक रहे हैं। आपकी प्रगति में आदरणीया भाभी श्रीमती मनोरमा जी का महती योगदान है। मैं जब नरिया वाराणसी में रहता था तो आप के द्वारा मैंने किसी की बुराई या निन्दा करते नहीं सुना। हमेशा प्रसन्नचित्त रहना और उचित सलाह देना, आपके घर का सिद्धान्त रहा है। धार्मिक कार्यों में सदा अग्रणी रहना आपकी विशेषता है। मैं युगल दम्पति के प्रति दीर्घायुष्य एवं उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

आपको वीतरागवाणी ट्रस्ट के द्वारा अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। इसके लिये मैं प्रधान सम्पादक आदरणीय प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार जी सोंरया की हृदय से प्रशंसा करता हूँ कि आपने विद्वानों के मूल्यांकन का जो कार्य प्रारम्भ किया है वह स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है। मैं शुभकामना करता हूँ कि आप दीर्घायुष्य होकर विद्वानों का मूल्यांकन एवं जिनवाणी की निरन्तर सेवा करते रहें। प्रो. सुदर्शन लाल जैन भी स्वस्थ रहकर दीर्घायु हों तथा जिनवाणी की निरन्तर प्रतिष्ठा बढ़ाते रहें।

डॉ. शीतल चन्द जैन
निदेशक, श्री दिगम्बर जैन श्रमण ,संस्कृति संस्थान, सांगानेर,जयपुर।

सरलता और सहजता की प्रतिमूर्ति प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन

अत्यन्त ऋजुप्राज्ञ, गवेषणापटु मनीषी, जैनविद्या के सुप्रतिष्ठ हस्ताक्षर प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन वैदुष्य की वह प्रतिमा हैं जिनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

प्रोफेसर जैन अपने आप में एक संस्था हैं। जैनविद्या की उदारवादी समीक्षा और पूर्वाग्रह रहित चिन्तन से उसे आपने नई अस्मिता दी तथा उसके अनेक नये आयामों का उद्भावन किया जो निश्चय ही श्लाघनीय है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ को यदि आपकी कर्मस्थली कहें तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि आपने अपना शोध यहीं से किया

तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् 1968-2006 लगभग 38 वर्षों तक अध्यापन के बाद 11 मार्च 2010 को पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक बने और दो वर्षों तक निदेशक के रूप में अपने लेखन, शिक्षण तथा बहुमुखी प्रतिभा से विद्यापीठ को नई ऊंचाइयाँ दी। जैनविद्या के क्षेत्र में आपके अप्रतिम योगदान के लिये आपको **राष्ट्रपति पुरस्कार** से सम्मानित किया गया।

आपके व्यक्तित्व में तात्त्विकता और सात्विकता का मणिकाञ्चन सुयोग है। आप जितने बड़े विद्वान् हैं उतने ही सरल, सात्विक और सहज हैं। अर्जित ज्ञान को अपने जीवन में आचरण करना आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। आप जैसा साधुचरित, शोध-सूक्ष्मेक्षिका सम्पन्न निरहंकारचेता व्यक्ति होना प्रायः विरल है। आपकी विद्वता, भावों की सम्प्रेषणशीलता, सहजता, अर्थबोध, वात्सल्य हमारे लिये सदा एक धरोहर के रूप में हमारे साथ रहेगा। आपकी जीवनचर्या का एक-एक पल अनुकरणीय, मननीय एवं महनीय है।

आपके इस अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर हम आपको अपनी प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए आपके सुदीर्घजीवी होने हेतु मङ्गल कामना करते हैं।

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय
संयुक्त निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

सारस्वत विद्वान् डॉ. सुदर्शनलाल जैन : एक आदर्श विभूति

प्रो. सुदर्शनलालजी जैन दिगम्बर जैन समाज के अग्रगण्य मनीषी हैं। परवार जैन समाज की इस विभूति का जन्म सागर (म.प्र.) जिले के छोटे से गाँव 'मञ्जला' में मास्टर सिद्धेलालजी बड़कुल के यहाँ सरस्वती देवी की कोख से 1 अप्रैल 1944 को हुआ था। आपने संस्कृत विषय में एम.ए. करने के उपरान्त पी-एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। वर्द्धमान कॉलेज - बिजनौर (उ.प्र.) में संस्कृत विभाग में एक वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में आपने 38 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया और प्रोफेसर के पद पर पहुँचकर विभागाध्यक्ष व कला सङ्काय के डीन पद को सुशोभित किया। आपने अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन सफलतापूर्वक किया और वहीं से 30 जून 2006 को सेवानिवृत्त हुए।

डॉ. मनोरमा जैन आपकी सहधर्मिणी हैं जिनसे तीन पुत्र डॉ. सन्दीप जैन, संजय जैन व अभिषेक जैन तथा एक पुत्री डॉ. मनीषा जैन हैं। दोनों बड़े पुत्र अमेरिका में निवास करते हैं तथा छोटा पुत्र मुम्बई में कार्यरत हैं। पुत्री-दामाद भोपाल में पीपुल्स मेडिकल कॉलेज में सेवारत हैं। आप भी अब भोपाल में निवास कर रहे हैं। रिटायरमेन्ट के पश्चात् आपने पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में 11 मार्च 2010 से 30 अप्रैल 2012 तक निदेशक के रूप में कार्य किया। आपके निर्देशन में अब तक करीब 44 शोध छात्रों ने पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

अविभाजित विद्वत्परिषद् में आपने 1992 से 1996 तक पाँच वर्ष मंत्री पद का दायित्व बखूबी सम्हाला पश्चात् आपने उपाध्यक्ष तथा कार्याध्यक्ष जैसे पदों को सुशोभित किया। जैनधर्म व दर्शन के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु आप सदा कटिबद्ध रहे व अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों के सफल संयोजक रहे। आपके शताधिक शोधपूर्ण आलेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। आपने अपने व्याख्यानों से देशवासियों को तो लाभान्वित किया ही विदेशों में भी महत्ती धर्म-प्रभावना की। संस्कृत-प्राकृत भाषा के संरक्षण व संवर्द्धन हेतु भारत सरकार की ओर से महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणवमुखर्जी द्वारा आपको सम्मानित भी किया गया जो सर्वाधिक गौरव का विषय है। समय-समय पर आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। आपकी अनेक मौलिक व सम्पादित कृतियाँ आज समाज की धरोहर हैं। विद्वत्परिषद् द्वारा देव-शास्त्र गुरु पुस्तक विशेष चर्चित रही। मुझे अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी में आपके साथ प्रकाशन व प्रचार मंत्री के रूप में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वीतराग-वाणी ट्रस्ट आपके गौरवशाली अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहा है, जो निसंदेह मील का पत्थर बनकर आगे आने वाली पीढ़ी का मार्गदर्शन करेगा। मैं आप जैसे सारस्वत विभूति को नमन करता हुआ आपके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

डॉ. अखिल बंसल
महामंत्री, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् तथा महामंत्री, अ.भा. जैन पत्र सम्पादक सङ्घ, जयपुर

सौम्य और अद्भुत प्रतिभा के धनी डॉ0 सुदर्शनलाल जी जैन

किसी के व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण होता हैं कि सामने वाला बरबस उससे प्रभावित हो जाता है। सकारात्मक सोच के कारण जो किरणें सम्मुख प्रस्फुटित होती हैं, उनसे जुड़ने का प्रयास करता है और उनकी ओर से अपनत्व मिलने से आपसी परिचय के उपरान्त उनके गरिमामय वार्तालाप से अपने आप जुड़ जाता है और वार्तालाप से उस व्यक्ति का अनुभव, ज्ञान, गंभीरता और विद्वत्ता का आभास होने से अनायास जुड़ने का मन होने लगता है या जुड़ जाता है।

ऐसे ही बहुआयामी प्रभिता के धनी जिन्होंने पूरा जीवन ज्ञान-पिपासा के लिए समर्पित किया और उसके उपरान्त जो ज्ञान उन्होंने संजोया, उसे उन्होंने अपने छात्रों और साथियों को भरपूर लुटाया और एक लम्बी विरासत के रूप में अनेकों को समरूप बनाया, ये निम्न पंक्तियों से सिद्ध होता हैं -

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभिष्टुवंताः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।

मेरी भेंट डॉक्टर साहब से एक कार्यक्रम में हुई और उनसे परिचय के उपरान्त उनके द्वारा बहुत आत्मीयता प्रदर्शित की गई। मैं तो मात्र लेखक साहित्यकार होने के कारण उन्हें व्हाटऐप्स के जरिये अपनी बात पहुंचाता था उस पर उनका प्रोत्साहन बराबर मिलता रहा और फिर मैंने पुनः उनके निवास स्थान पर जाकर दर्शन लाभ और आशीर्वाद प्राप्त किया। आपके पास अद्भुत आगम ग्रन्थों का खजाना है उन्होंने बहुतेरे छात्रों को डॉक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित कराने का सौभाग्य प्राप्त किया जो उपरोक्त श्लोक के द्वारा सार्थक प्रयास है।

बिना कोई बाह्य आडम्बर के, आर्जव भाव से, ज्ञान-पिपासुओं को सञ्चित ज्ञान रूपी धन को प्रवाहित करने को आतुर रहते हैं। बस प्यासा उनके पास आये और जीवंत ज्ञानकोष का दोहन करे।

कुछ भेटों ने मुझे जीवंत ज्ञान पुंज से जो भी शिक्षा मार्गदर्शन और प्रोत्साहन मिला वह मेरे लिए अमूल्य हैं। मैं उनके शतायु जीवन की मङ्गल कामना करता हूँ और भविष्य में उनका आशीर्वाद मुझे मिलता रहेगा ऐसा विश्वास है।

डॉक्टर अरविन्द जैन
संस्थापक, शाकाहार परिषद्, भोपाल

विद्वत् गौरव हमारे आदर्श

सारस्वत विद्वान् राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित तथा अन्य अनेक सम्मानों से विभूषित हमारे आदर्श आदरणीय प्रोफेसर सुदर्शनलाल जी विशिष्ट साहित्यानुरागी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, परोपकारी, प्राच्य भाषाओं के संरक्षण और विकास में अनवरत संलग्न हैं।

समय के अनन्त अनवरत प्रवाह में लोग अपने अस्तित्व की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं पर कुछ चंद लोग ऐसे भी होते हैं जो समय के प्रवाह को समय की इस धारा को रोकने में समर्थ होते हैं। जीवन यात्रा में वे अपने पद-चिह्न छोड़ जाते हैं, जो उनके उत्तराधिकारियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। उन्हीं में से एक यथानाम सम्यग्दर्शन के साथ सुदर्शन और शोधार्थियों को सम्यक् मार्गदर्शन प्रदान करने वाले प्रो. सुदर्शन जी हैं जो कि हम सभी के लिए आदर्श हैं। जिनके मार्गदर्शन में लगभग अर्धशतक शोधार्थियों ने पी-एच.डी. की उपाधियां प्राप्त की हैं। ग्रन्थलेखन, सम्पादन से अनेक अचेतन कृतियों के साथ आपने शोधार्थियों, विद्यार्थियों को उचित मार्गदर्शन देकर अनेक चेतन कृतियों का भी निर्माण किया है।

श्रुताराधक, साहित्य मनीषी के 75वें अवतरण दिवस पर अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध-सारस्वत' का प्रकाशन हम सब के लिए अभिनन्दनीय है। आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से आने वाली पीढियां प्रेरणा प्राप्त करेंगीं, ऐसा मेरा विश्वास है। अनेक अवसरों पर मुझे आपका आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है जिसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

एकहि अक्षर ज्ञान का जो गुरु देय बताय।

पृथ्वी पर नहीं द्रव्य है जो देकर चुक जाय।।

हमारी सतत् भावना है कि आप शतायु एवं स्वस्थ रहें और आपका उपयोग प्राच्य विद्याओं के प्रचार-प्रसार में लगा रहे। अन्त में अन्त:ज्योति को प्रकट कर कैवल्य ज्ञान-ज्योति को प्राप्त होवें ऐसी मङ्गल कामना करते हैं।

डॉ. ज्योतिबाबू जैन
सहायक आचार्य, जनविद्या-प्राकृत विभाग, मो. सु. वि. वि. उदयपुर

प्रशासन में त्वरित समाधान-क्षमता

प्रोफेसर जैन साहब से विश्वविद्यालय स्थित उसी कालोनी के निवासी होने से लगभग प्रतिदिन मुलाकात होती रहती थी। उनके सहज स्वभाव से हम लोग सपरिवार एक दूसरे के घर बिना किसी पूर्व सूचना के आते जाते रहते थे। मिलने पर हमेशा आत्मीयता मिलती थी लेकिन उनकी प्रशासनिक क्षमता का ज्ञान तो उनके कला सङ्काय के डीन के रूप में देखने को मिली। कला सङ्काय में कई पाठ्यक्रम खोले, रुके हुए दीक्षान्त समारोह कराए, नियुक्तियाँ कराईं, छात्रों को समाजविज्ञान सङ्काय के विषयों को पढ़ने की सुविधा दिलाई आदि। मुझे छात्रसलाहकार के पद पर उन्होंने नियुक्त किया। छात्रों की बड़ी से बड़ी समस्या का हल इतनी आसानी से निकालते थे कि हम लोग स्तब्ध रह जाते थे। अभी भी किसी विषय पर उनकी सलाह हम लोग प्राप्त करते रहते हैं। भगवान उन्हें शतायु करे और हम लोगों का मार्गदर्शन करते रहें।

प्रोफेसर बिहारी लाल त्रिपाठी
प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, बी.एच. यू., वाराणसी

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता और गौरव की अनुभूति हो रही है कि जैनदर्शन-प्राकृत एवं संस्कृत जैसी प्राच्य विद्याओं के मूर्धन्य विद्वान् परम आदरणीय प्रो0 सुदर्शन लाल जी भोपाल के महनीय अवदान को देखते हुए उनके सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। आदरणीय प्रोफेसर सुदर्शन लाल जी की विद्वता और उनके गहन अध्ययन के बारे में सम्पूर्ण जैन समाज सुपरिचित है। आपने अपनी गरिमा के अनुरूप अपने सारगर्भित व्याख्यानों एवं लेखन से व्याख्याता विद्वानों एवं लेखकों में जो मानक स्थापित किए हैं वे अत्यन्त ही प्रशंसनीय और स्पृहणीय हैं। बुन्देलखंड की पवित्र भूमि के सागर जिले में जन्मे परम आदरणीय प्रोफेसर सुदर्शनलाल जी ने जैन विद्वता के क्षेत्र में एक विशेष कीर्तिमान स्थापित किया है।

आदरणीय प्रो0 साहब समाज की अनुपम निधि हैं, उनका सम्मान समाज का सम्मान है, जिनवाणी का सम्मान है। आदरणीय प्रो0 साहब की सहदयता, सहजता, सरलता सभी के लिए अनुकरणीय है। आपके मुंह की स्मितता और प्रसन्न मुख मुद्रा अन्तरंग में प्रवाहित आत्मानन्द के अविरल स्रोत का सूचक है। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी आदरणीय प्रो0 सा0 का व्यक्तित्व बहुत ही स्पृहणीय, अनुकरणीय और प्रेरणास्पद है।

आपने जैनधर्म के शीर्षस्थ सिद्धांत ग्रन्थों का न केवल सूक्ष्म अध्ययन कर विपुल ज्ञानार्जन ही किया है, अपितु उसे अपने जीवन में उतार कर स्व-पर कल्याणार्थ भरपूर सदुपयोग भी किया है। आपने अनेक कृतियों का प्रणयन कर सरस्वती के भंडार को समृद्ध करने में अहम भूमिका का निर्वाह किया है।

सरस्वती पुत्र प्रो0 सुदर्शनलाल जी जैन समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान् हैं। उनकी अविरल सेवाओं के फलस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। यह समाज को गौरव की बात है। आदरणीय प्रो0 सा0 जैनदर्शन और जैन सिद्धांत के अधिकारी विद्वान तो हैं ही लेखक, ग्रन्थकार, सफल सम्पादक भी हैं।

आपने जैन जगत की महनीय सेवा की है। आपके योगदान को देखते हुए आपको श्रुतसंवर्द्धन पुरस्कार, मुनि सुधासागर पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान आदि अनेक पुरस्कारों से जहां सम्मानित किया गया है वहीं देश के

तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम प्रणव मुखर्जी के कर-कमलों से आप राष्ट्रपति के महत्त्वपूर्ण पुरस्कार से भी अलंकृत हो चुके हैं। यह हमारे लिए गौरवपूर्ण है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ जैसे शोध संस्थान में आप निदेशक जैसे महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहे।

हमारी समाज के लिए यह गौरव का विषय है कि देश ही नहीं पूरे एशिया में अपना एक अहम स्थान रखने वाले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के संस्कृत विभाग में 38 वर्षों तक जहां अध्यापन कराकर सैकडों उत्कृष्ट छात्रों का निर्माण किया। इसी के साथ आपने सङ्काय प्रमुख जैसे महत्त्वपूर्ण पद को भी शोभायमान कर एक मिशाल कायम की है। मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे भी समय-समय पर आपका मार्गदर्शन मिलता रहा है। जब मैं वाराणसी के सुप्रसिद्ध श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्ययनरत था उस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में पदस्थ थे। पांच वर्ष वाराणसी में अध्ययनकाल में आपका स्नेह और दिशा-निर्देशन मुझे हमेशा मिलता रहा। अनेक बार आपके घर आना-जाना होता था। स्याद्वाद महाविद्यालय में आपका आना-जाना था। आपकी सह धर्मिणी आदरणीया डा0 मनोरमा जी का भी खूब स्नेह मिलता था। प्रो0 साहब जब वाराणसी के लंका रोड स्थित नरिया जैन मन्दिर के मंत्री थे उस दौरान मुझे वहां धार्मिक विधि-विधान कराने आप बुलाते थे। काशी जैन समाज भी आपको खूब आदर और सम्मान देती थी।

इस मांगलिक अवसर पर मेरी वीर प्रभु से प्रार्थना है कि उन्हें चिरायु करें, वे हमेशा स्वस्थ रहें, यही उनके चरणों में मेरी विनयाञ्जलि है। अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए हमारी हार्दिक शुभकामनाएं। आशा है, आपका यह अभिनन्दन ग्रन्थ अनेक लोगों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

डॉ. सुनील जैन 'संचय'
प्रचारमंत्री,अ0 भा0 दि0 जैन शास्त्रिपरिषद्, ललितपुर

प्रो0 सुदर्शनलाल जैन : एक सौम्य व कर्मनिष्ठ व्यक्तित्व

आचारवत्वादाचार्यः कर्मनिष्ठो विचारवान्।
सुदर्शनो गुरुर्विज्ञः, कल्पतां श्रेयसे सदा।।
भावरूपकुसुमानामञ्जलिरियं समर्प्यते भक्त्या।
तुच्छं वस्त्वपि श्रद्धार्पितमतिशयितं हि जायते सत्यम्।।

आदरणीय प्रो0 सुदर्शनलाल जैन सर के साथ प्रारम्भिक सम्बन्ध तथा परिचय की मूल कड़ी पूज्य पिताजी महामहोपाध्याय स्व0 डॉ. कपिलदेवपाण्डेयजी थे। पूज्य पिताजी के साथ आप का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ मित्रता का रहा है। कदाचित् मेरे जन्म के पूर्व 1962 ई0 का है। आप दोनों ही महनीय विद्वानों ने दर्शनशास्त्र के अति विशिष्ट स्वनामधन्य विद्वान् स्व0 प्रो0 सिद्धेश्वर भट्टाचार्यजी के अन्तेवासित्व में शोधकार्य पूर्ण कर पी-एच0डी0 की उपाधि अधिगत की है। आप दोनों की मैत्री का यह सम्बन्ध इतना पुराना तथा इतना व्यापक रहा है की उन सबकी प्रत्यभिज्ञा करके लेखबद्ध करना सहज कार्य नहीं है। फिर भी प्रो0 जैन सर से सम्बंधित वस्तुचित्र मेरे मानस पटल पर सदैव अंकित रहते हैं और जिनके कारण हमारा अन्तर्मन उन्हें एक असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न मनस्वी तथा एक सम्माननीय जैन परम्परा के पोषक आदर्श पुरुष, श्रेष्ठ विद्वान् व विशिष्ट गुरु के रूप में देखता है और उन्हें निर्व्याज गौरव प्रदान करता है।

पूज्य पिताजी के मैत्री सम्बन्ध की प्रगाढ़ता सारस्वत व सामाजिक पथ से होती हुई दिनानुदिन बढ़ती गई। वर्ष 1991 में मेरे एम्0 ए0 करने के पश्चात् पी-एच0डी0 हेतु शोध निर्देशक की भूमिका के लिए सहर्ष स्वीकृति प्रदान करना प्रो0 जैन सर का पूज्य पिताजी के प्रति स्नेहपूर्ण सम्बन्ध के अनुबंध का निदर्श ही था। पग-पग पर मैं प्रो0 जैन सर का स्नेह भाजन बना जो कि आज भी मुझे सहज ही प्राप्त है। नि:संदेह आप जैनदर्शन व साहित्य तथा प्राकृत भाषा के विशिष्ट विद्वान् होने के साथ ही एक विशिष्ट शिक्षक, कुशल प्रशासक, उत्कृष्ट कर्मयोगी व सहज सौम्य अभिभावक रहे हैं। आप अनेकों जैन शोध संस्थानों के संरक्षक व मार्गदर्शक हैं। आप के निर्देशकत्व में शोध कार्य कर मैं अपने आप को सौभाग्यशाली मानता हूँ।

'यत्रापि कुत्रापि गताः भवन्ति हंसाः महीमण्डलमंडनाय' उपर्युक्त सूक्ति अक्षरशः हमें प्रो0 जैन सर में देखने

को मिली। पुष्प कहीं भी खिलता है पर अपनी सुरभि से दिग्दिगंतर को सुरभित करना उसका प्राकृतिक अधिकार होता है। प्रो0 जैन सर ने जब से शिक्षा ग्रहण कर शैक्षणिक जगत् में प्रवेश किया तब से ही अपने अन्त: में निगूहित सहज स्नेहपूर्ण ज्ञानरूप गुण के मकरंद को प्रसारित करने लगे। कभी मित्रों, सहकर्मियों, शिष्यों व परिवारजनों के उत्थान में तो कभी अनेक विशिष्ट ग्रन्थों के प्रणयन के माध्यम से व वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों के माध्यम से संस्कृत ज्ञान परम्परा विशेषत: जैन परम्परा का अतिशय वर्धन किया।

वस्तुत: कर्म से ही मनुष्य जीवन्त होता है तथा यही उसके अस्तित्व का प्रमाण भी है **'मनुष्या: कर्म लक्षणा:'** कथन द्वारा व्यास ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। जो कर्म को अपना मानक नहीं समझते उन्हें न तो अपनी सत्ता का बोध होता है और न व्यक्ति के रूप में वे व्यक्त ही होते हैं। जिनमे प्रबल जिजीविषा है वे समाज के ज्योतिष्मान नक्षत्र बनकर अपनी अभिव्यक्ति करते हैं अथवा अपने को इस धरती का गन्ध-पादप सिद्ध करते हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ कहना या अभिनन्दन करना, न केवल उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करना है, अपितु अपने मनुष्यत्व या शिष्यत्व का परिचय भी देना है। एक ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति की सारस्वतयात्रा का कार्य संभार अभिनन्दन के व्याज से अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। जो अपने आप में विशिष्ट जीवन जीने का एक प्रतिदर्श है।

प्रो0 जैन सर मात्र विषय-विशेष के विद्वान ही नहीं अपितु जैन शास्त्र, दर्शन व परम्परा को अहर्निश वृद्धिंगत करने में आपका अभूतपूर्व अद्भुत योग अनुयोग व प्रयोग ही आपके वैश्विक सम्मान की पृष्ठभूमि है। आप शासन से अधिक अनुशासन प्रिय हैं तथा अनुशासन का विस्तार आत्मानुशासन तक किया है। आप की विनम्रता, अपूर्व सौम्यभाव व कर्मनिष्ठा इसी का अङ्गभूत है। ऐसे निष्ठावान सत्पुरुष विद्वान् और गुरु के चिरायुष्य व चिरकीर्ति के चिरन्तन संवर्धन की हार्द शुभकामना तथा मङ्गलकामना और शत शत प्रणाम। अन्त में -

अधिसदसि भवन्तो भाविनो भव्य राजा
विततविहितयज्ञा ब्रह्मपारायणज्ञा।
सुचिररुचिरभाषा लोकशिक्षार्थमात्र-
मुपशतशरदानामायुषा वर्तयन्तु।।

डॉ. विवेक पाण्डेय
एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पी0 जी0 कॉलेज, हंडिया, इलाहाबाद

कीर्तिर्यस्य स जीवति

आयुष्यं रुचिरं चिरं बहुविधं, धान्यं धनं पेशलं,
वंशो वश्यसमाकुल-कुलमहो ते निष्कलङ्कं महत्।
आचारश्च विचार-चारु सुभगो विधानवद्या तथा,
काङ्क्षा नो अवशिष्यते मुहुरहो जीयात्स भूयोऽवनौ।।

रजत जयन्ती के परम पावन पचहत्तरवीं वर्षगांठ के अवसर पर सिद्ध-सारस्वत राष्ट्रपति सम्मानालङ्कृत प्रो. सुदर्शन लाल जैन, प्राकृत-जैनदर्शन एवं संस्कृत विद्या के परिनिष्ठित विद्वान् स्वयं में अभिनन्दनीय हैं। अपने छात्र जीवन से मैं गोस्वमी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस का पाठ करता था। उसमें लिखा है किं **'उपजहिं अनत-अनत छवि लहहीं'** अर्थात् कमल की जड़ अन्यत्र होती है और उसका पुष्प और पत्र अपनी जड़ से दूरी पर अपनी शोभा को विखेरता है, उसी प्रकार प्रो. जैन का प्रादुर्भाव काशी से सुदूर ग्राम मंजला, जिला सागर में हुआ और उन्होंने अपनी छवि एवं ज्ञान का प्रसारण काशी में आकर सन्तवत् किया। सन्त साधनविहीन होकर अन्यत्र उत्पन्न होता है किन्तु उसके सन्तत्व का प्रसार अन्यत्र जाकर प्रस्फुटित होता है। मेरे मन में विचार आया कि जब वाल्मीकि ने भगवान् श्रीराम के सम्बन्ध में रामायण लिख दिया तो अन्य महाकवियों को रामचरित का गुणगान करने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर महाकवि जयदेव विरचित प्रसन्नराघव में मिला कि -

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुकुलतिलकमेकं कलयतां

कवीनां को दोषः? स तु गुणगणानामवगुणः।।

अर्थात् भगवान् राम अनन्तगुणगणनिलय हैं। किसी महाकवि ने भगवान् के किन्हीं गुणों को लेकर चित्रण किया, किन्हीं ने किन्हीं अन्य गुणों का। अत: अनेकों रामायण बनते गये। अत: ऐसे ही ईश्वर-कृपापात्र प्रो. जैन के भी अनेकों गुण हैं। इनकी विनम्रता, साधुता, विद्वत्ता, सहृदयता, दयादाक्षिण्यता, शिष्यों पर कृपा, गुरुजनों के प्रति दृढ़ निष्ठा आदि गुण हैं। गोस्वामी जी ने कहा है -

कीरति भनिति भूति भक्ति सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

कीर्ति-भनिति (काव्य) और ऐश्वर्य वही श्रेयस्कर है जिसमें माँ सुरसरिता के समान सबका हित हो। माँ गंगा यह नहीं देखतीं कि उसमें कौन मज्जन (स्नान) कर रहा है, किसी भी भाव से मज्जन करने वाले को अपना शैत्य, पावनत्व एवं मुक्ति प्रदान करती हैं। इस प्रकार से प्रो. जैन समान भाव से 'सर्वजन हिताय' की भावना से पूर्णतया ओतप्रोत हैं। मैंने अपने छात्र जीवन से लेकर अद्यावधि इनके सुचरित्र एवं सदाशयता का अनुभव किया है। मैं इनके सेवाकाल का प्रथमशोधच्छात्र हूँ, अत: इन्हें अन्तरङ्ग रूप से देखने का अवसर मुझे प्राप्त है। संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अप्रितम विद्वान् प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य (पूज्य गुरुदेव) की इन पर महनीय कृपा थी। इन्होंने उनसे संस्कृत ज्ञान के साथ-साथ 'शोध-प्रबन्ध' की सम्पूर्ति कराने की अद्भुत क्षमता प्राप्त की थी। उसी अद्भुत ज्ञान का प्रयोग करके इन्होंने मेरी शोधोपाधि को पूर्णता प्रदान की। अपनी अलौकिक कृपा से मुझे लघु भ्राता के समान ज्ञान आदर एवं सम्मान प्रदान किया। इनकी सहधर्मचारिणी श्रीमती मनोरमा जैन की स्नेहिल कृपा मेरे ऊपर उसी प्रकार बरसती थी जैसे एक माता अपने पुत्र के ऊपर बरसाती है। हमने अपने छात्र जीवन में कभी भी अनुभव नहीं किया कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे महासागर में मेरा कोई संरक्षक नहीं है।

हम आपको भूरिशः प्रणाम करते हैं, ऐसे सन्त स्वरूप संस्कृत और विविध शास्त्रों में गति रखने वाले कृपामय सुदर्शन लाल जैसे पुत्र रत्न को लोकहित में आविर्भूत करने वाली माँ सरस्वती देवी एवं श्रेद्धेय सिद्धेलाल जैन को। जिससे काशी ही नहीं अपितु भारतवर्ष में अनेकशः शिष्यों को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त हुआ। हम प्राणिपात करते है उन औघडदानी भगवान् विश्वनाथ भगवान् शिव और माँ अन्नपूर्णा को, जिन्होंने आप जैसे विद्वान् की काशी में लीला एवं कर्मस्थली बनायी।

मैं दृढ़तापूर्वक यह कह सकता हूँ कि प्रो. सुदर्शन लाल सचमुच सुदर्शन व्यक्तित्व-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, सौम्यस्वरूप एवं प्रतिभा के धनी व्यक्ति हैं। इनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने पर हम अतिशय आह्लादित हैं। अत: मैं अपनी वाक्य-सुमनाञ्जलि ऐसे महापुरुष को अर्पित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

सौम्य स्वरूप सनेह सनातन,
दिव्यता ज्यों प्रतिरोम बसी है।
माथे पे शील ललाट पे कान्ति,
औ अधरान पे मन्द हँसी है।।
ऐसा स्वभाव प्रभाव का मेल है
कीरति की कविता निकसी है।
लाल सुदर्शन जीवें सदा
'परमेश्वर' भाव सुधा बरसी है।।

डॉ. परमेश्वरदत्त शुक्ल 'रामायणी'
प्राचार्य, श्री रामानुज संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी

सरलता और विनम्रता के अमूल्य आभूषण

आदरणीय विद्वान् प्रो. सुदर्शनलालजी जैन प्राकृत, संस्कृत एवं जैन विद्या के स्थापित विद्वान् हैं। आपने अत्यन्त विषम परिस्थितियों में बचपन बिताकर भी अपने पुरुषार्थ के बल पर विश्वविद्यालय के अनेक उच्च पदों तक अपनी पहुँच बनाई। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में लगभग 39 वर्षों तक व्याख्याता से लेकर विभागाध्यक्ष एवं सङ्कायप्रमुख आदि उच्च पदों पर सेवारत रहे। आपने अनेक ग्रन्थों का लेखन-सम्पादन भी किया। आपके मार्गदर्शन में अनेक छात्रों ने पी-एच. डी. भी की। आपने भारत में ही नहीं, विदेशों में जाकर भी जैन विद्या का प्रचार-प्रसार किया। कुल मिलाकर आपका पुरुषार्थ सभी के लिए शिक्षाप्रद है, अभिनन्दनीय है।

न केवल ज्ञान, आपका स्वभाव भी बहुत अच्छा है। सरलता और विनम्रता उनके अमूल्य आभूषण हैं। यही कारण है कि आपने अनेक सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से भी जैन संस्कृति की रक्षा-सुरक्षा में अपना विशेष योगदान किया है। आपकी प्रेरणा और मार्गदर्शन के फलस्वरूप मैं पी-एच.डी. कर सका।

आपके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं आपके स्वस्थ एवं दीर्घायु रहने की मङ्गल कामना करता हूँ। आपके निमित्त से जैन विद्या की महती प्रभावना हो। जैनं जयतु शासनम्।

प्रो0 वीरसागर जैन

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

धीर-गम्भीर और शान्त स्वभावी प्रो. सुदर्शन लाल जी

आदरणीय डॉ सुदर्शन लाल जी का अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार हो रहा है यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। जैन समाज के पुरानी पीढ़ी के विद्वान, जैसे कि पण्डित फूलचंद्र जी, पण्डित कैलाश चंद्र जी, पण्डित जगन्मोहन लाल जी, इत्यादि मूर्धन्य विद्वान् डॉक्टरेट की उपाधि से रहित विद्वान थे। इन्होंने कभी सरकारी सेवा नहीं की। परन्तु अगली पीढ़ी में इनके शिष्यों की एक लम्बी कतार का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं में से अनेक ने डॉक्टरेट करना प्रारम्भ किया और इस श्रेणी में जो विद्वान् आगे आये, उनमें डॉ. सुदर्शन लाल जी का नाम पहली पंक्ति में आता है। इसका नतीजा यह रहा कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों में इन विद्वानों ने अपना स्थान बनाया। इसे सुविधाभोगी विद्वानों की परम्परा की शुरूआत कहा जा सकता है। पता नहीं क्यों भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा में सरस्वती तथा लक्ष्मी को सर्वदा विरोधी बताया जाता रहा है। मुझे ऐसा लगता है की यह प्राचीन भारत में विद्वानों को धनपतियों के आधीन रखने की एक साज़िश रही है। क्या एक विद्वान् गरिमा पूर्वक नहीं रह सकता। उसे हमेशा दयनीय क्यों दिखाया जाता है। अच्छे सरकारी संस्थानों में पद पाने वाले विद्वानों से यह साज़िश कुछ हद तक समाप्त हुई। डॉ सुदर्शन लाल जी ने भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कई दशकों तक अपनी गरिमा को कायम रखते हुए अपनी सेवाएं दीं। वे संस्कृत एवं प्राकृत के एक अच्छे विद्वान् हैं। इन भाषाओं के लिए 2012 में उनको राष्ट्रपति द्वारा सम्मान प्रमाण पत्र भी दिया गया। अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने अनेक ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन भी किया। जैन समाज की लगभग सभी सामाजिक संस्थाओं से वे जुड़े रहे। अपने पारिवारिक जीवन में भी वे अत्यन्त सफल रहे हैं। मैंने उनको हमेशा एक धीर गंभीर तथा शांत मुद्रा में ही देखा है। यह उनका स्वाभाविक गुण है। इसी के चलते वे अपने जीवन में हमेशा उन्नति के पथ पर अग्रसर रहे हैं। आज भी लगभग 75 वर्ष की आयु में वे पूर्ण रूप से सक्रिय तथा सजग दिखाई देते हैं। यह भी उनकी शांत वृत्ति का ही परिणाम है। मैं उनको जीवन के इस सोपान पर अपनी हार्दिक शुभकामनायें तथा बधाई देता हूँ। यह भी मङ्गल कामना करता हूँ की वे एक लम्बे समय तक समाज का मार्गदर्शन करते रहें।

प्रो. अशोक कुमार जैन

पूर्व विभागाध्यक्ष एवं वरिष्ठ प्रोफेसर, आई.आई.टी., रुड़की

सम्मानित प्रोफेसर, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा, प्रतिष्ठित प्रोफेसर, अकाल यूनिवर्सिटी, पंजाब

प्रणति-ततयः

आदरणीय प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन गुरुजी एक गम्भीर विद्वान् व्यक्तित्व हैं। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला सङ्कायान्तर्गत संस्कृत विभाग में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष तथा कला सङ्काय के अध्यक्ष पद पर आसीन रह चुके हैं। आप भारतीय दर्शन विशिष्टतया जैन दर्शन तथा संस्कृत साहित्य के उच्च कोटि के विद्वान् हैं। साथ ही साथ जैन धर्म के उपदेशक के रूप में भी आपकी ख्याति रही है। अनेक शैक्षणिक संस्थानों के उन्नयन में आपका सक्रिय योगदान रहा है।

मैं तथा मेरी बहन सौ. सुमन आपके शिष्य रहे हैं। मेरी बहन ने तो आपके निर्देशन में ही पी-एच-डी. सम्पन्न की। मैंने एम.ए. कक्षा में तत्कालीन पाठ्यक्रमानुसार कर्पूरमञ्जरी, सर्वदर्शनसंग्रह तथा अर्थसंग्रह आदि ग्रन्थों का अध्ययन आपसे किया। आदरणीय जैन गुरुजी की यह विशेषता है कि उन्हें संस्कृत, हिन्दी और अङ्ग्रेजी के अतिरिक्त प्राकृत भाषा का भी अच्छा ज्ञान है। प्राकृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ कर्पूरमञ्जरी को वे सहज ढंग से अध्यापित करते थे। जैन दर्शन के सिद्धान्तों को भी आत्मसात करके बड़े ही सहज ढंग से आप कक्षा में उन सिद्धान्तों पर व्याख्यान देते थे। मेरे पिताजी प्रातःस्मरणीय स्व. डॉ. जनार्दन गंगाधर रटाटे संस्कृत विभाग में ही अध्यापक थे। अतः प्रो. जैन गुरुजी तथा मेरे पिताजी की अच्छी मित्रता थी। इस कारण मेरा प्रो. जैन गुरुजी से अधिक सान्निध्य बना रहा। आदरणीय प्रो. जैन गुरुजी का अभिनन्दन ग्रन्थ वस्तुतः सम्पूर्ण जैन परम्परा का अभिनन्दन ग्रन्थ है। इस अवसर पर मैं अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु शुभकामनायें देते हुए गुरुवर प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी को प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

प्रो. डॉ. माधव जनार्दन रटाटे
प्रोफेसर संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान सङ्काय,बी.एच.यू.वाराणसी

सफल शिक्षक एवं कुशल-प्रशासक

प्रो. सुदर्शन लाल जैन ने वर्धमान कालेज बिजनोर के बाद मुख्यरूप से संस्कृत विभाग, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अपना अध्यापन कार्य अध्यापक के रूप में शुभारंभ किया तथा क्रमशः रीडर एवं प्रोफेसर पद को अलंकृत किया। तदुपरान्त दो बार विभागाध्यक्ष एवं सङ्काय प्रमुख के रूप में आपने समर्पण पूर्वक कार्य किया। अत्यन्त अल्पावधि में ही आपने स्वयं को एक सफल शिक्षक तथा एक कुशल प्रशासक के रूप में स्थापित कर लिया। शिक्षा जगत में अतुलनीय योगदान के लिए आपको राष्ट्रपति पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा एवं जैन दर्शन के लिए देश-विदेश से बहुत से पुरस्कार आपको प्राप्त हुए हैं। सेवा-अवसर के उपरान्त आपकी शिक्षा, दीक्षा एवं सफल प्रशासक की छवि को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण जैन शिक्षाविदों ने आपको बनारस स्थित जैन शोध संस्थान, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में निदेशक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

समाज में प्रो. जैन का व्यक्तित्व एक सरल, परोपकारी, सहृदय, निष्ठावान् तथा नैतिज्ञ के रूप में स्थापित है। आपके स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर मैं आपको नमन पूर्वक हार्दिक बधाई देता हूँ, एवं आपके निरोग एवं दीर्घायु जीवन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

प्रो. शुकदेव भोइ
पूर्व डीन साहित्य एवं संस्कृति सङ्काय, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत, विद्यापीठ, नई दिल्ली

विद्वत्परिषद् के गौरव

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री तथा वर्तमान में वरिष्ठ विद्वान् सदस्य प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन से मेरा सर्वप्रथम परिचय सन् 1978 में वाराणसी में हुआ जब मैंने श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रवेश लिया और दो-चार दिनों के बाद ही अग्रज श्री अशोककुमार जैन एवं उनके मित्र श्री धरमचन्द जैन (जो प्रो. साहब के रिश्तेदार भी हैं) के साथ आपके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर स्थित निवास पर मिला और आशीर्वाद प्राप्त किया। मुझे आज भी याद है कि उस समय आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन (हम सबकी भाभी जी) ने पानी में आधा चम्मच ग्लुकोज (ग्लुकोन-डी) मिलाकर स्वागत किया था। यह उनके मधुर व्यवहार का प्रतीक था जो प्राय: आगन्तुकों को देखने में मिलता था। सहजता से हँस-हँसकर बात करना, स्नेह व्यक्त करना, कुशलक्षेम पूछना आप में स्वाभाविक गुण के रूप में विद्यमान है। आप दम्पती के साथ परिचय निरन्तर बना हुआ है। अध्ययन के उपरान्त अनेक संगोष्ठियों में आपसे मिलने, आपके विचारों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

एक समय ऐसा आया जब जैन समाज में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को लेकर चर्चा गर्म थी तब विद्वत्परिषद् की ओर से आपकी कृति 'देव-शास्त्र-गुरु' प्रकाशित हुई। यह कृति निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को आगम के अनुरूप बताने वाली सिद्ध हुई और विद्वत्समाज के द्वारा इस कृति का भरपूर समादर किया गया।

संस्कृत, प्राकृत के अध्ययन-अध्यापन के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पदस्थ रहते हुए आपने शोधकार्यों को बढ़ावा दिया जिससे अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ। आपके मन में हमेशा चाह रहती है कि विद्वान् शोध कार्य में संलग्न हों। आपके द्वारा लिखित एवं सम्पादित कृतियाँ विद्वत्परिषद् की विचारधारा के अनुरूप हैं, अभिनन्दनीय हैं। हमारे लिए यह गौरव का विषय है कि विद्वत्परिषद् के कुछ विद्वान् महामहिम राष्ट्रपति के करकमलों से पुरस्कृत हुए हैं। आप उनमें से एक हैं। अत: हम सभी के लिए सम्माननीय हैं।

आपके व्यक्तित्व में कठोरता एवं कोमलता का सम्मिश्रण है। जब आपके बाह्य स्वरूप को देखते हैं तो कठोरता का एहसास होता है किन्तु जब आपके साथ घुलमिल जाते हैं तो आपके हृदय की कोमलता का स्वरूप सामने आ जाता है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आपका आन्तरिक कोमल पक्ष बाह्य में प्रकट हो।

वीतराग वाणी ट्रस्ट के द्वारा प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया (हमारे काका जी) के प्रधान सम्पादकत्व में आपको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करते हुए अभिनन्दन किया जा रहा है। मैं समझता हूँ कि यह आपका ही नहीं अपितु सम्पूर्ण अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का अभिनन्दन है। क्योंकि आप विद्वत्परिषद् के गौरव हैं। मेरे लिए वर्तमान महामन्त्री के नाते इससे अधिक और प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है। आप शतायु हों और आपका पुन: पुन: अभिनन्दन हो ऐसी कामना है।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'
महामन्त्री, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्, प्रधान सम्पादक, पार्श्व ज्योति, बुरहानपुर (म.प्र.)

आचार्य सुदर्शन लाल जैन

मैंने सन् 1971 ई0 में एम0ए0 संस्कृत में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं पालि विभाग में प्रवेश लिया था। उस समय गुरुवर जैन जी विभाग में प्रवक्ता पद पर प्रतिष्ठित थे। मैंने एम0ए0 द्वितीय वर्ष में 'जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म' वर्ग चुना था। उस समय गुरुवर जैन जी मुझे 'उत्तराध्ययनसूत्र', 'द्रव्यसङ्ग्रह' एवं 'पञ्चास्तिकायसार' जैसे ग्रन्थों को पढ़ाया करते थे। गुरुवर अध्यापन हेतु कक्षा में नियमितरूप से आते थे। सरल प्रकृति के डॉ0 जैन विषय की स्पष्ट व्याख्या करते थे। संस्कृत में एम्0ए0 करने के पश्चात् भी मेरा आदरणीय गुरुवर से सम्बन्ध बना रहा, क्योंकि मैंने उसी विभाग से पुन: पालि विषय से पी-एच.डी. की और सन् 1977 से प्रवक्ता के रूप में वहीं अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया।

सन् 1982 ई0 में संस्कृत एवं पालि विभाग दो विभागों - संस्कृत विभाग तथा पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग

में विभक्त हो गया तथापि हम लोगों का सम्बन्ध बना रहा। गुरुवर डॉ जैन यथासमय रीडर एवं प्रोफेसर पदों पर नियुक्त हुए। इन्होंने संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा कला सङ्काय के प्रमुख के रूप में कुशलतापूर्वक अपने दायित्वों का निर्वाह किया। गुरुवर प्रो0 जैन ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के निदेशक पद पर भी सकुशल कार्य सम्पादित किया।

प्रो0 जैन जी ने 39 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया और इनके निर्देशन में 44 शोध छात्रों ने पी-एच0डी0 प्राप्त की। इन्होंने कई पुस्तकों का सम्पादन एवं लेखन कार्य किया। गुरुवर प्रो0 जैन को 2012 में राष्ट्रपति-सम्मान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त इन्हें कई पुरस्कार प्राप्त हुए हैं।

प्रो. जैन जैसे कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक बहुत कम होते हैं। मैं ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ सारस्वत-साधना करने वाले गुरुवर प्रो0 सुदर्शन लाल जैन के स्वस्थ शतायु जीवन की मङ्गल कामना करता हूँ।

प्रो. प्रद्युम्न दुबे (राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त)
पूर्व अध्यक्ष, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी

प्राच्य भाषाओं के मनीषी विद्वान्

देश के शीर्षस्थ विद्वानों की जन्म-भूमि के रूप में विख्यात बुन्देलखण्ड की पावन धरती की गोद में बसे सागर जिले में जन्मे प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन, प्राच्य भाषा जगत् के विशेषकर जैन परम्परा के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। डॉ. जैन ने देश के विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों में अध्ययन कर स्वयं को स्व-पर हिताय प्रतिष्ठित किया तथा उन संस्थानों के गौरव को भी बढ़ाया। आपने वर्धमान कालेज, विजनौर और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत विभागों, कला सङ्काय में विभागाध्यक्ष, सङ्कायाध्यक्ष आदि पदों पर रहकर उनके दायित्व का कुशल संवहन किया है। आपने अपने विद्यार्थियों को हमेशा पुत्रवत् स्नेह प्रदान किया है।

देश की विद्यानगरी वाराणसी में रहने के कारण आपने स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्ययन हेतु आने-वाले विद्यार्थियों को अभिभावकत्व भी प्रदान किया तथा अभिभावक के रूप में करणीय सभी सम्भव सहयोग किया। आज आपसे साक्षात् शिक्षा प्राप्त करने वाले सैकड़ों विद्वान् देश-विदेश में ज्ञान देकर अपने गुरुजनों तथा विद्या का मान बढ़ा रहे हैं। स्याद्वाद महाविद्यालय के नीति-नियन्ताओं की अदूरदर्शिता से निर्मित नयी शिक्षा नीति अथवा अपनी निजी परिस्थितियों के कारण भले ही मुझे आपसे साक्षात् अध्ययन का अवसर न मिल पाया हो, किन्तु वाराणसी में अध्ययनरत रहने के कारण मुझे भी आपका वात्सल्यभाव सहज ही मिलता रहा है।

प्राच्य विद्याओं को समर्पित ऐसे महान् विद्वद्विभूति के जीवन के 75वें वर्ष में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का उपक्रम नि:सन्देह प्रशंसनीय है। मैं प्रो. जैन की सारस्वत मनीषा को सादर प्रणाम करता हूँ तथा उनके सहज आशीष की अपेक्षा रखता हूँ। प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली के कार्य संचालन में आपका मार्ग-दर्शन हमें प्राप्त होता रहा है। इसलिए बिहार सरकार के शिक्षा विभाग और संस्थान की ओर से मैं आपके सुख, समृद्धि तथा यशस्वी जीवन की कामना करते हुए अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन
निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा, शोध संस्थान वैशाली (मुजफ्फरपुर)

प्रो. सुदर्शनलाल जैन : एक मृदुभाषी सहृद् विद्वान्

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन से मेरा परिचय सन् 1678 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राङ्गण में साथ-साथ निवास करते समय हुआ। मैं विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिकी संस्थान के धातुकीय अभियान्त्रिकी विभाग में अध्यापक था और प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन विश्वविद्यालय के कला सङ्काय अन्तर्गत संस्कृत विभाग में अध्यापक थे। हम लोगों के अलग-अलग शैक्षिणिक विभाग होने के कारण शायद ही कभी सम्पर्क हो पाता था, क्योंकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एक विशाल शिक्षा-मन्दिर है, जिसमें हजारों की संख्या में शिक्षक कार्य करते हैं। परन्तु एक ही निवास संकुल जिसे

'टीचर्स फ्लैट' कहते हैं उसमें निवास का सानिध्य व उनके पुत्र का प्रौद्योगिकी संस्थान में शिक्षा हेतु प्रवेश मिलना हमारे आपसी मेल-मिलाप का कारण बना। हमारे घरेलू सम्बन्ध स्थापित हो गये। हम एक दूसरे के सुख-दुख के साथी बने। कुछ वर्षों बाद हमें बृहद् आवास आवण्टित हो गये, निवास की सानिध्यता समाप्त होने के पश्चात् भी यदा-कदा मिलना हो जाता था। लगभग 25 वर्षों के परिचय के बाद हम दोनों के सेवानिवृत होने के पश्चात् मेल-मिलाप में एक ठहराव सा आया परन्तु सम्बन्ध मधुर बने रहे। 25 वर्षों के आपसी परिचय ने प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन को बहुत निकटता से जानने का अवसर मिला रहे।

संस्कृत विषय में शिक्षा के पश्चात् उन्होंने अपना शिक्षण कार्य 1667 में बिजनौर से प्रारम्भ कर 1968 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला सङ्काय अन्तर्गत संस्कृत विभाग में एक अध्यापक के पद पर कार्य करना प्रारम्भ किया। अपने उत्कृष्ट शिक्षण कार्य के कारण आप सतत पदोन्नति पाकर विभागाध्यक्ष पद पर कार्य करते करते 2003 से 2006, तक कला सङ्काय प्रमुख के पद पर कार्य करने का गौरव प्राप्त किया। 62 वर्ष की आयु सीमा के कारण आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा से 2006 में निवृत्त हो गये। आप सेवानिवृत होने के पश्चात् भी शोधकार्य में संलग्न रहने के कारण आपको सदैव देश के विभिन्न संस्थानों से भाषण के लिये आमन्त्रित किया जाता रहा। आपको अपनी विद्वत्ता के कारण वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्यापीठ में 2010 से 2012 तक निदेशक के पद पर रहने का गौरव भी प्राप्त हुआ। वर्तमान में आप भोपाल नगरी में निवास कर रहे हैं।

यह मेरा सौभाग्य था कि प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् से 40 वर्षों के अन्तराल के बाद भी मेरे सम्बन्ध जीवन्त हैं। आप एक अत्यन्त मृदुभाषी, सहृदय एवं प्रेमी व्यक्ति हैं। आपका एक हँसता खेलता परिवार है जिसका पूर्ण श्रेय आपकी धर्मपत्नी डा0 मनोरमा जैन को जाता है। डा0 मनोरमा जैन एक सुशिक्षित गृहणी के साथ प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन की सहयोगी भी हैं।

यह एक अत्यन्त हर्ष का विषय है कि प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन के जीवन पर एक स्मारिका का मुद्रण प्रगति पर है और मुझे इस चिरस्मरणीय ग्रन्थ का एक अङ्ग बनने का अवसर मिल रहा है। अन्त में मैं प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन व उनकी धर्मपत्नी डा0 मनोरमा जैन के उत्तम स्वास्थ्य तथा मङ्गलमय जीवन की कामना करते हुये स्मारिका के सम्पादक व प्रकाशक को धन्यवाद देना चाहता हूँ।

प्रोफेसर रमेश चंद्र गुप्त
भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, धातुकीय अभियांत्रिकी विभाग, प्रौद्योगिकी संस्थान, का0हि0वि0वि0, वाराणसी

नई पीढ़ी के मार्गदर्शक

विद्वद्वरेण्य डॉ. सुदर्शनलालजी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन का निर्णय स्तुत्य है। आपके द्वारा संस्कृत व प्राकृत के संरक्षण व सम्वर्द्धन में जो कार्य किया गया है उसे दीर्घकाल तक याद किया जाएगा। आपके निर्देशन में बड़ी संख्या में शोध छात्रों ने शोधकार्य किया है जो प्रशंसनीय है। अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी में आपका सान्निध्य मुझे भी मिला है, अनेक बार आप टोडरमल स्मारक पधारे और हमारे बीच रहकर समय दिया उसके लिए आभारी हूँ। यह अभिनन्दन ग्रन्थ नयी पीढ़ी का मार्गदर्शन करेगा। इसी सद्भावना के साथ ।

श्री शान्तिकुमार पाटिल
श्री टोडरमल स्मारक, भवन जयपुर।

कुशल शोध-निदेशक

एशिया के सबसे बड़े आवासीय विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला सङ्काय के सङ्काय प्रमुख (डीन) रहे प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन ने संस्कृत भाषा के साथ-साथ जैन धर्म एवं दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण शोध कार्य कराये। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 'उत्तराध्ययन सूत्र का दार्शनिक परिशीलन' विषय पर प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

जी के निर्देशन में शोध कार्य सम्पन्न किया तथा पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। आपने अनेक छात्रों को पी-एच.डी. कराई। आपसे हमारा पारिवारिक आत्मीय सम्बन्ध आज भी है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय विगत सौ वर्षों से शैक्षणिक गुणवत्ता एवं शोध के लिये दुनिया में जाना जाता है। राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य से काशी हिन्दू वि.वि. की स्थापना भारत रत्न पं. मदन मोहन मालवीय जी ने सन 1916 ई. में की थी। आपने अपने सङ्काय में अनेक नियुक्तियाँ कराईं। आप स्वाभिमानी तथा निर्भीक स्वभाव के हैं। कई नए पाठ्यक्रम प्रारम्भ कराए। प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन को आपके कार्यों की गुणवत्ता के आधार पर भारत सरकार महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित किया गया। अन्य अनेक सम्मान आपको मिले हैं। आप एक सुलझे हुए विद्वान् हैं। कुशल प्रशासक भी हैं। छात्रों के हित चिन्तक हैं।

मैं आपके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

डॉ.विवेकानन्द जैन

पुस्तकालयाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

मैं इसको अपने जीवन का सर्वोच्च पुण्य मानता हूँ कि महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उच्चशिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य मुझे मिला और मिले वहाँ अध्यापन तथा संस्कार की दृढ़ नींव के नियामक आदरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जैन जैसे गुरु।

1981 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल से ही बारहवीं कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला सङ्काय में स्नातक (आनर्स) प्रथम वर्ष में प्रवेश प्राप्त किया। इसमें प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व तथा भारतीय दर्शन के साथ मैंने संस्कृत को आनर्स विषय के रूप में चुना। आनर्स विषय संस्कृत होने के कारण संस्कृत विभाग के प्राध्यापकों से अध्ययन तथा वहाँ की शैक्षणिक गतिविधियों तथा छात्र प्रतियोगिताओं में सहभागिता का अवसर निरन्तर मिलता रहा। इसी सक्रियता के कारण विभाग के प्राध्यापकों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। हमारे गुरुजी आचार्य प्रो0 विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, प्रो0 श्रीनारायण मिश्र, प्रो0 कमला प्रसाद सिंह, प्रो0 जयशंकरलाल त्रिपाठी, प्रो0 रामायण प्रसाद द्विवेदी, प्रो0 उमादेवी जोशी इत्यादि प्राध्यापकों ने स्नातक स्तर पर हमको कक्षाओं में अध्यापन किया और जीवन को नयी दिशा प्रदान की। मैं इसको अपना पुण्य मानता हूँ की सभी प्राध्यापकों ने मुझको अपार स्नेह तथा आशीर्वाद प्रदान किया। प्रो0 सुदर्शनलाल जैन जी इनमें से अन्यतम रहे।

1981 से 1984 तक स्नातक कक्षाओं में तीन वर्ष तक अध्यापन के समय आप विभाग में प्रवक्ता के पद पर कार्यरत थे। आपने हमको अनेक विषयों में काव्यों के साथ न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' को पढ़ाया। हमारे जैसे नवप्रवेशी छात्र के लिए विषय नया था तथा ग्रन्थ शास्त्रीय संस्कृत भाषा में लिखित। आपकी अध्ययन शैली, छात्रानुरूप विषय का स्पष्ट प्रतिपादन तथा कठिनाई महसूस होने पर सटीक व सरल समाधान ने उस ग्रन्थ को भी अन्य ग्रन्थों के समान सरल और सुबोध बना दिया। आपने पंक्तियों को याद करने पर बल दिया। हम अक्षरशः याद कर गए और समझा बाद में उसका महत्त्व। उस समय परीक्षा में तो सर्वोत्तम अङ्क मिले ही पर आज भी आवश्यकता पड़ने पर अध्यापन के दौरान उस ग्रन्थ की पंक्तियों को कक्षाओं में बोलते समय हमको आपके द्वारा दी गयी प्रेरणा का स्मरण हो जाता है और प्रसन्नता होती है कि हमने उसको महत्त्व दे ग्रन्थ कण्ठस्थ किया। स्नातक कक्षा में तीनों वर्ष आप हमारे अध्यापक रहे। इस प्रकार आपका आशीर्वाद प्राप्त होता रहा।

1987 में संस्कृत विभाग से ही स्नातकोत्तर (साहित्य) कक्षा उत्तीर्ण करने के दौरान ही हमने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) की राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित कनिष्ठ शोधवृत्ति (जे.आर.एफ.) परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और उसी वर्ष विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक प्रो0 विश्वनाथ भट्टाचार्य जी के शोधनिर्देशन में पीएच0 डी0 की उपाधि हेतु पंजीकरण हुआ। 1992 में उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त वृत्ति की समस्या सामने आ खड़ी हुई। कहीं अवसर नहीं दिख रहे थे। तभी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध दयानन्द महाविद्यालय (डी.ए.वी कालेज) में संस्कृत के प्रवक्ता का

एक पद विज्ञापित हुआ। हमने भी आवेदन कर दिया। प्रो0 जैन विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत थे और नियमानुसार रहे चयनसमिति के सदस्य। कलासङ्कायप्रमुख थे भारतीय पुरातत्त्व और संस्कृति के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो0 लल्लन जी गोपाल। वे चयन समिति के पदेन अध्यक्ष थे। 1993 जुलाई माह में इस पद का साक्षात्कार हुआ। उम्मीदवारों की संख्या थी 59 । चयन प्रक्रिया पूर्ण होने के उपरान्त नियुक्ति पत्र महाविद्यालय प्रशासन ने निर्गत नहीं किया। नियुक्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर एक उम्मीदवार के व्यर्थ का न्यायायिक वाद कर दिया, स्थानीय न्यायालय में। उसमें फैसला पक्ष में हुआ क्योंकि चयनसमिति ने हमारे नाम की संस्तुति की थी। नियुक्ति के इस वाद का निस्तारण होने तक हमारी नियुक्ति अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद पर हो गयी। यह केन्द्रीय विश्वविद्यालय है और यहाँ की नियुक्ति का है विशेष महत्त्व। महाविद्यालय की इस चयनप्रक्रिया में प्रो0 जैन की प्राशासनिक दृढ़ता और निर्भीकता सर्वोपरि थी।

1994 के अप्रैल माह में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति मिली थी। तीन वर्ष वहाँ रहने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1997 के फरवरी महिने में संस्कृत विभाग के प्रवक्ता पद का साक्षात्कार सम्पन्न हुआ। सफलता मिली नियुक्ति प्राप्त करने में। छात्रावस्था के अनन्तर संस्कृत विभाग की एक अध्यापक के रूप में सेवा करने का अवसर मुझको मिला।

विभाग में कार्यरत प्रो0 सुदर्शन लाल जैन जी को निरन्तर किसी न किसी नये ग्रन्थ की रचना या फिर किसी नवीन शैक्षणिक गतिविधि में संलग्न देख हमको प्रेरणा मिलती रही, अपने समय का सदुपयोग करने की और हम भी किसी न किसी शैक्षणिक परियोजना को विभागीय स्तर पर और व्यक्तिगत रूप से निरन्तर क्रियान्वित करते रहे। विभागीय परिस्थितियाँ अध्यापक के रूप में सङ्घर्षपूर्ण होती गयीं, परन्तु प्रो0 जैन की शुभकामना सदा मेरे साथ रही। उन्होंने शैक्षणिक स्तर पर हमारी निरन्तर सक्रियता को ध्यान में रख हमेशा प्रोत्साहित किया। आपको संस्कृत विभाग का विभागाध्यक्ष दो बार बनाया गया। दोनों बार का आपका कार्यकाल विभाग की उन्नति के लिए उल्लेखनीय व ऐतिहासिक रहा, क्योंकि काशी के मूर्धन्य विद्वानों के निरन्तर व्याख्यान, सेमिनार तथा कार्यशालाओं के आयोजन के प्रति आपने विशेष रुचि दिखाई। इसके अतिरिक्त इन सबके सफल आयोजन में आपने हमेशा मुझको पहले तो छात्र के रूप में और बाद में प्राध्यापक के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया। आप कलासङ्काय के संकाप्रमुख बने। उस समय हमको सङ्काय के स्तर पर अनेक शैक्षणिक उत्तरदायित्व प्रदान कर आपने उपकृत किया। इनमें से प्रमुख था सङ्काय की वार्षिक शोधपत्रिका 'अपूर्वा' का प्रकाशन तथा सम्पादन।

स्नेहपूर्ण व्यवहार, चुनौतीपूर्ण विभागीय प्रशासनिक और शैक्षणिक कार्यों के निर्वहण का उत्तरदायित्व आपने मुझको प्रदान किया और हमको भी इससे सीखने का अवसर मिला। आपने किसी भी कार्य को सौपने के उपरान्त कभी नहीं पूछा कि किया की नहीं? क्योंकि आपको पूरा विश्वास था हमारी कार्यशैली पर और कार्य के सम्पादन के प्रति समर्पण पर। आपसे मुझको हमेशा आत्मीयता तथा स्नेह मिला। वर्ष 2003-2004 में विभाग में रीडर के पद का साक्षात्कार होना था। तीन पद थे। मैं भी अभ्यर्थी बना वरिष्ठता के अनुरूप। कुलपति के सामने समस्या रखी गयी। उन्होंने आदेश दिया कि सीधे पद विज्ञापित किए जाएँ। आपने दृढ़ता दिखाई और वैसा ही किया। अवसर उपस्थित हुआ साक्षात्कार का। आन्तरिक विरोध चरम पर था। मैं कुलपति से मिला, अपने शैक्षणिक कार्यों के विषय में। वे खुश हुए। नियुक्ति में उन्होंने आपके विभागाध्यक्ष तथा सङ्कायप्रमुख रहते मुझको प्रमोट भी किया और रीडर पद पर नियुक्ति भी प्रदान की। योग्य का संरक्षण करना आपका अभ्यास तथा सङ्कल्प रहा हैं। उस समय मेरे अतिरिक्त अन्य दो पदों पर प्रो0 गोपबन्धु मिश्र तथा प्रो0 मनुलता शर्मा की विभाग में रीडर के पद पर नियुक्ति हुई। विभाग में इन नये अध्यापकों के आगमन से गतिविधियाँ बढ़ीं और आपका कार्यकाल अत्यन्त सफल रहा, संस्कृत भाषा तथा शास्त्रों के संरक्षण तथा संवर्धन की दृष्टि से।

एक और दिलचस्प संस्मरण। सङ्कायप्रमुख के रूप में कलासङ्काय की स्नातक कक्षाओं के लिए निर्धारित 600 सीटों पर प्रवेश हेतु आपके द्वारा निर्मित प्रवेश समिति का मैं सदस्य बनाया गया। प्रवेश के लिए निर्धारित आरक्षण के प्रावधानों को कड़ाई के साथ लागू किए जाने पर प्रशासन की कड़ी नजर थी। निर्धारित सीटों पर छात्रों के प्रवेश में इनको लागू किया गया। विषय चयन में इनको लागू करने का कोई प्रावधान नहीं था। कुछ आरक्षण के दायरे में आ रहे नवप्रवेशी छात्रों को अपने मनचाहे विषय नहीं मिले। बस उसमें विषय चयन में आरक्षण दिए जाने का प्रावधान कहीं नहीं था। आरक्षण के नियमों को सुचारु रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के स्तर पर एक हाई पावर समिति गठित

थी। उसके सभी सदस्य सङ्काय में दाखिल हए, छानबीन करने के लिए। प्रवेश समिति के सदस्य के रूप में अन्य अध्यापकों के साथ मैं भी उनसे मिला। कड़ी छान-बीन के बाद सभी सदस्य सन्तुष्ट होकर चले गये, क्योंकि नियम सङ्कायप्रमुख प्रो0 जैन द्वारा लिए गए निर्णय के पक्ष में रहे। उस समय आपकी दृढ़ता और सफाई के साथ अपना पक्ष निष्पक्षतापूर्वक रखने के कौशल को देख हमको नयी सीख मिली।

ऐसे ही अनेक संस्मरण हैं जिनका एकत्र उल्लेख समयसाध्य है। निरन्तर कुछ नया शैक्षणिक कार्य करते रहने की प्रेरणा मुझको आदरणीय सर से मिली। किसी भी व्यक्ति को मिलने वाला अपने ज्येष्ठ का संरक्षण तथा निरन्तर मिलने वाला आशीर्वाद अन्दर से बल प्रदान करता रहा। पूर्ण मनोयोग से अपने लिए निर्धारित दुरूह से भी दुरूह विषय को अध्यापन किए जाने के साथ विद्या तथा संस्था के प्रति समर्पण का परिणाम है कि आज विश्वविद्यालय में अनेक नवीन शैक्षणिक दायित्वों को भी बखूबी निभाने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता। निष्पक्षता तथा सच्चाई के साथ अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह की प्रवृत्ति को आदरणीय जैन सर के सम्पर्क ने और दृढ़ किया।

मैं आदरणीय जैन सर के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ और काशीपति बाबा विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा से प्रार्थना करता हूँ कि उनकी कृपा बनी रहे और आप संस्कृत विद्या की सेवा में निरन्तर समर्पित रहते हुए अपने जीवन को सफल बना सकें। आदरणीया माता जी तथा उनकी पूजनीया माता जी का स्नेह आज भी स्मरण मात्र से चित्त को प्रमुदित कर देता है। उनको भी प्रणाम निवेदन।

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

Passing the Batom of Knowledge

I have known aged eminent scholar Prof. Sudarshan Lal Jain for almost 30 years. He is an erudite of Sanskrit literature, Prakrit literature and Jain philosophy. Time and again he has been showered with many honors by many organizations. Prof. Jain has directed the students like us while being posted as a head and a professor in Sanskrit department in B.H.U. He has also graced the post of Dean of Arts Faculty. Approx 45 research scholars have pursued their researches on deep and sophisticated subjects under his surveillance. Prof. Jain's students who are posted in different colleges and universities round the country as competent lecturers and professors are carrying his traditions ahead. Seeing his efforts and contributions in the field of education, our country's former President Shri Pranab Mukharjee has also awarded him with the Rashtrapati Award. From time to time Prof. Jain has propitiated the society of Sanskrit scholars in his area Kashi through his writings and delineations. Apparently Uttar Pradesh Sanskrit Sansthan awarded him many times for his works. It is delighting that his festschrift is going to be published which is a matter of complacency! I pray to Lord may. Prof. Jain's life and fame be long lived.

Prof. Patanjali Mishra
Department of Veda, S.V.D.V., B.H.U., Varanasi

Eminent Honourable Prof. Sudarshan Lal

It gives me great pleasure to write a few words about Prof. Sudarshan lal Jain for the volume to be released on the occasion of his 75th birth anniversary.

Dr. Sudarshan lalji Jain is as senior scholar of the first order in the country in the field of jainology Prakrit and Sanskrit. Being a scholar in Sanskrit he has tought in the prestigious Kashi Hindu University in the Dept. of Sanskrit for more than three decades. He has served the university in the capacity of professor & chairman of the department and also as the Dean of the faculty. Under his able guidance more than 40 scholars have obtained their Ph.D. Degree.

Prof. Sudarshan lal ji held the honour of serving the All India Digambars Jain Scholars Guild as the Chief Secretary and also as the Vice President. He has success fully organised many National and International conferences and seminars on Jainism and Jain philosophy. He is awarded by Sri Pranab Mukharji, the then President of India awards, for his contribution to Sanskrit and Prakrit languages and literature.

Prof. Sudarshanlalji Jain has visited many foreign countries to spread Indian values, culture and literature across the world.

I had the proud privilege of participating with him is many national and international seminars in India.

I wish him from the bottom of my heart, long life and good health to serve the society in many more capacities.

Prof. SHUBHA CHANDRA

Chairman, Indology and Prakrit, University of Mysore

Maintaining the Hindu Snaskriti in his Family

I, Murali Kotte, has been living at Cupertino, California, USA for the past 20+ years. My very good and friendly neighbors are Sandeep and Sanjay Jain and their families. Both Sandeep and Sanjay are sons of Professor Sudarshan Lal Jain and I got the opportunity to meet Professor Sudarshan Lal and his wife when they visited USA.

I have heard about Professor Sudarshan Lal Jain as a great Sanskrit Scholor and his contributions at Benaras Hindu University, Varanasi, India. It was a great opportunity to meet him in USA and subsequently at Varanasi at their home. Though living in US, both Sandeep and Sanjay's families are well disciplined and maintain Hindu sanskriti and culture and certainly all this is due to Professor's upbringing and cultivating these values within his family.

I am very fortunate to get the opportunity to live next door to Professor's

sons and had the privilege of spending some time with the professor. I wish the Professor a very happy retired life and pray to God to give him and his family good health and long life and enable him to continue his contributions to Sanskrit studies.

Best wishes
Shri Murali Kotte
19680 Drake Drive Cupertino, CA 950149 USA

Nature of Simplicity and Hardwork

l have great appreciation for your simplicity and hard work. l express my best wishes for your future literary activities and personal achievements.

I wish you long life with good health.

Pro. Kamal sheel
Former dean , Faculty of Art BHU , VARANASI

Well Known Scholar

We are delighted to know that a felicitation volume is being brought out in appreciation of academic contribution of Prof. Sudarshan Lal Jain who is a well known scholar in the field of Sanskrit literature. His academic career was shaped under the supervision of my father Prof. Siddheswar Bhattacharya. Dr.Jain had long association with my father, initially as a beloved student and later as a dependable colleague in the department of Sanskrit and Pali at Banaras Hindu University. We are confident that many of his colleagues and students have contributed to this volume to make a noticeable mark of this important subject.

Prof. Sudarshan Lal Jain is known for his significant academic contribution through publications, research and teaching. In recognition, he has been rewarded with several awards and ovrations. We wish him all the success and good health for future.

Prof. Visweswar Bhattacharya
Former HOD, Plastic Surgery, IMS;BHU,
President Association of Plastic Surgeons of India-2008
Dr. Shipra Bhattacharya
(MA;PhD, English literature, Free lance writer)

Outstanding and Brilliant Academician

I feel great pleasure in writing a brief note on our social and academic interactions with Prof. Sudershan Lal Jain, a superannuated Professor of Sanskrit of Banaras Hindu University. We are known to each other since 1976 ever since we were accommodated in the same apartment on the university campus. As far as I know Professor S. L. Jain is an outstanding and brilliant academician in his subjects and produced about four dozen Ph.D. students apart from publishing several research papers/articles in reputed journals/magazines. After talking to his students I came to know he is a wonderful teacher and delivers his well prepared lectures. The simplicity and purity of Prof. Jain's life, the devotion with which he has served the university will be remembered by his colleagues including his students. It is a matter of great satisfaction to me to pen-down a few words about our social and academic interactions while living on the university campus for more than thirty years. As far as our family relations are concerned I found them extremely friendly and beneficial. I take this opportunity to congratulate his wife Mrs. Manorama Jain who has been highly sincere and hard working housewife. I admire her helpful attitude with all the family members residing in the same apartments.

I wish him and his family a peaceful, healthy and happy life for the years to come.

Prof. D.N. Tiwari
Ex. Professor, Department of Botany, B.H.U. Varansi

Anicable in nature and Hardwork

I am very much delighted to know the scholarship of Prof. Jain. He had a very long service in the former Banaras Hindu University, Varanasi. that too, in the Dept. of Sanskrit. Varanasi haves got very long academic history regarding the Sanskrit langauge and literature. He had a very long band of students who were blessad with his sholarship, by which, he attained the most respectful position in academic area.

He is wost pious, amicable in naure his hard work and studiouoness must have brought him like glttering star among the scholars of BHU. He must have followed the principle or a saying in sanskrit litrature in his yonnlr days.

''विद्यातुराणां न सुखम् न निद्रा''

can his 75th birthday celebration, I wish him all the best and pray the Lord of seven hills, to bloss slim with very long life and strenth to do still many more acadimic works in the developmant of Sanskrit Language and literature.

Dr. T.S. Giriprakash MA. Ph.D.
(Retd.) Professor of telugu and chair person
kamarj University, Madurai, Tamilnadu

सर्वविदुषामभिनन्दनीयाः

विद्वद्वरेण्य-जैनविद्यावारिधिपारङ्गातानां प्रो. सुदर्शनलालजैनमहाभागानां पञ्चाधिकसप्ततितमे जन्मदिवसे हार्दिकमभिनन्दनं समर्प्यते -

ये प्राकृते त्रिदशवाचि च समं नदीष्णाः,
देशस्य राष्ट्रपतिनाऽपि पुरस्कृताश्च।
मान्याः सुहृद्वरसुदर्शनलालजैनाः,
ते सन्ति सर्वविदुषामभिनन्दनीयाः।।

प्रो. दामोदर शास्त्री
अध्यक्ष, प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग, जैन विश्वभारती (मान्यविश्वविद्यालय), लाडनूं

एक विलक्षण व्यक्तित्व

प्रो. सुदर्शनलाल का अभिनन्दन सम्मान।
करता विद्वद् समाज है, इस मिस स्व-सम्मान।।
सुन्दर आकर्षक व्यक्तित्व है, और है कृतित्व भी महान।
शीर्ष विद्वानों में है गिनती आपकी, अनुपम है पहचान।।
प्रो. सुदर्शन ने किया प्राकृत वाङ्मय को खूब समृद्ध।
किया जैन-भारती कोष को, है यह जगत प्रसिद्ध।।
साहित्य-मनीषी आप हैं, दर्शन-मनीषी भी आप।
अक्षर-प्रज्ञ भी आप हैं, अक्षय-निधि हैं अमाप।।
शोध-समीक्षक आप हैं, कवि-मनीषी भी आप।
वक्ता और व्याख्याता आप हैं, साहित्य के सिरताज।।
सम्पादक, लेखक, वक्ता, प्रवक्ता विद्वानों में शीर्ष सुदर्शन।
मेधावी, गुणशील, मनस्वी, वर्चस्वी, विद्यातीर्थ ऋजुल निदर्शन।।
धर्मनिष्ठ, कर्मविज्ञानी, श्रावकवर्य, करुण सुज्ञान।
महामैत्र, माध्यस्थ-प्रमोदी सज्जनता के विभु वरदान।।
देव-शास्त्र-गुरु के परम आराधक, स्वस्तिकर, पुरुषार्थी प्रमेय गुणवान्।
मुनिगण-प्रिय, महामनीषी, शान्त, प्रियदर्शी, सुधीवरेण्य, धीर मतिमान्।।
हे अग्रज। राष्ट्रपति-पुरस्कृत, प्रज्ञापुरुष, कीर्तिस्वरनन्दन।
अमितकीर्ति मंजला-निवासी, कीर्तिपुरुष, सनातन वन्दन अभिनन्दन।।
मम मन बगिया है तुमसे नन्दन।
अभिनन्दन हर पल अभिनन्दन।।

प्रो. पी.सी. जैन
मानद डायरेक्टर, इंस्टीट्यूट ऑफ हायर स्टडी एवं रिसर्च, जयपुर

आपके वैदुष्य एवं सरलता को नमन

बड़ी ही प्रसन्नता हो रही है कि इस देश के जैन समाज के विद्वान् ख्यातिलब्ध पं. सुदर्शन लाल जी पर अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन वीतराग वाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ की देख रेख में हो रहा है। इस शुभ कार्य के लिए मैं जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और देश के प्रख्यात प्रतिष्ठाचार्य वाणीभूषण पं. विमल कुमार जी सौंरया शास्त्री को आत्मीय साधुवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने एक सुयोग्य, सरल, सहज एवं साहित्य तथा संस्कृति एवं समाज के लिये अपना पूरा जीवन समर्पित करने वाले साहित्य के प्रकाण्ड मर्मज्ञ व्यक्ति पर अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का सोचा।

श्री पं. सुदर्शन लाल जी से मेरी मुलाकात जैन नगर भोपाल में हुई। उनके ज्ञान, ध्यान के बारे में चर्या शिरोमणि आचार्य 108 विशुद्ध सागर जी महाराज का उनको विशेष आशीर्वाद प्राप्त है। जैन धर्म में आपकी गहरी रुचि है तथा निस्वार्थ समाज सेवा में आपने पूरा जीवन समर्पित किया है।

आपकी बहुआयामी प्रतिभा से समाज को बहुत लाभ हुआ है। संस्कृत एवं शिक्षा के क्षेत्र में महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मान मिलना अपने आप में अमूल्य योगदान समाज को जाता है क्योंकि आपके उत्कृष्ट कार्य से समाज का नाम रोशन हुआ है। आपने अपने पूरे परिवार को उच्च शिक्षा दिलवाई। आपकी महान धार्मिकता, सौम्यता, कर्मठता से परिपूर्ण व्यक्तित्व वा कृतित्व का प्रकाश सदैव समाज का मागदर्शन कर रहा है तथा भविष्य में भी करता रहेगा। समाज सदैव ही आपका ऋणी रहेगा।

अन्त में भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि आपका जीवन सुखी तथा निरोगी रहे। आप निस्वार्थ परमार्थ सेवा करते रहें। आप यशस्वी हों। इसी मङ्गलकामना के साथ हम जैन नगरवासियों एवं भोपाल जैन समाज का परम सौभाग्य है कि आप जैसे महान् मङ्गलकारी विद्वान् का स्नेह सानिध्य हम सभी को मिल रहा है।

आपको में पूरी समाज की तरफ से नमन करता हूँ। जय जिनेन्द्र।

शुभकामानाओं सहित।

श्री प्रमोद चौधरी, एडवोकेट
अध्यक्ष - श्रीनन्दीश्वरदीप जिनालय ट्रस्ट जैननगर, भोपाल

आपका अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रेरणा स्तम्भ बने

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जैनदर्शन प्राकृत एवं संस्कृत भाषा-साहित्य के वरिष्ठ विद्वान् प्रो. सारस्वत साधक सुदर्शनलाल जी जैन के 75 वें जन्मदिवस के माङ्गलिक शुभावसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होगा।

सन् 1965 से अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् की सदस्यता के समय से ही मैं विद्वत्वरेण्य डॉ. सुदर्शनलाल जी से भलीभाँति परिचित रहा हूँ। प्रो. सुदर्शनलाल जैन जी प्रारम्भ से ही सरस्वती के साधक रहें हैं। नाना सङ्घर्षमयी परिस्थितियों के मध्य भी आपकी साहित्य-साधना अनवरत चलती रही। पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, डॉ. हरीन्द्र भूषण जी, डॉ. कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल आदि वरिष्ठ विद्वानों के सानिध्य में अपनी साहित्य-साधना करते रहे। विद्वत्परिषद् के मन्त्री के रूप में आपने अनेक स्थलों पर जैन विधा विषयक साहित्य सङ्गोष्ठियों का सफल सञ्चालन किया है। लगभग 20 वर्ष तक अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी के सक्रिय सदस्य रहने से मुझे आपके साहित्य-साधना के कार्यवृत्त से सानिध्य प्राप्त हुआ है। भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान और देवशास्त्र-गुरु ये आपकी दो रचित एवं सम्पादित कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्रारम्भिक जीवन के सङ्घर्षों के मध्य अपनी धार्मिक आस्था, साहित्य-साधना और सम्यक् पुरुषार्थों से अपनी उच्चतम उपलब्धियों से जैन विद्वत्समुदाय के शिरोमणि बने हैं। सम्प्रति आप विद्वानों के शिरोमणि स्वरूप हैं। आपकी सहधर्मचारिणी श्रीमती डॉ. मनोरमा जी आपके साथ साहित्य-साधना में रत रहती हैं। आपकी अनवरत साहित्य-साधना का प्रतिफल राष्ट्रपति सम्मान है। आपके 75 वें जन्मदिवस के शुभावसर पर आपके उत्तम स्वास्थ्य और निरन्तर अभ्युदय की मङ्गलकामना में आपका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रेरणा स्तम्भ बने।

डॉ. प्रेमचन्द रांवका
पूर्व प्रोफेसर, भाषाविज्ञान, जयपुर

ज्ञान-सूर्य-सम आलोकित

जैन जगत् के ख्याति प्राप्त मूर्धन्य विद्वान् प्रो. सुदर्शनलाल जैन के अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन, वीतराग वाणी ट्रस्ट शैल सागर टीकमगढ़ से देश के ख्याति प्राप्त प्रतिष्ठाचार्य पं. श्रीविमल कुमार जी सौंरया, प्रधान सम्पादक वीतराग वाणी के मार्गदर्शन एवं सम्पादकत्व में होने जा रहा है। यह समाचार जब मुझे प्राप्त हुआ तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता की अनुभूति हुई। मेरे अन्तस् में एक हिलोर उठी कि मुझे भी कुछ पंक्तियों का योगदान देना चाहिए।।

वैसे तो पण्डित जी से मेरा परिचय अत्यन्त लघु समय का है, जब से वे जैन-नगर में निवास कर रहे हैं तभी से है। इस समयावधि में मैंने जितना समझा उसका निष्कर्ष यही है कि इतनी विशिष्ट सम्मानीय उपाधियों के धारक शिक्षा के क्षेत्र में अनेकानेक उच्च प्रतिष्ठित पदों पर सेवायें अर्पित करने एवं लगभग अर्धशतक शोधार्थियों को पी-एच.डी. करवाने वाले ये महान् विभूति देश की बौद्धिक धरोहर हैं तथा सदैव रहेगी, अत्यन्त सहज, सरल, मृदुभाषी, निराभिमानी एवं उच्चकोटि के संस्कृत भाषा के साथ-साथ आगम शास्त्रों के गहन-ज्ञाता तो हैं ही एक उत्कृष्ट प्रवचन कर्ता भी हैं। अध्ययनशील तथा सहयोग करने में तत्पर रहते हैं।

उनकी एक विशेषता यह है कि वे आगम प्रणीत विषय बिन्दुओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से समझने की जिज्ञासा रखते हैं तथा तर्कपूर्ण विवेचना के माध्यम से वे सम्पूर्ण समाधान प्राप्त कर ही सन्तुष्ट होते हैं। उनका यथार्थ कथन है कि वर्तमान में विज्ञान सापेक्ष सन्तुष्टि कारक व्याख्या विवेचना ही वर्तमान पीढ़ी के जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट कर सकती है जो उनकी आगम पर दृढ आस्था बनाए रहने के लिये आवश्यक है अन्यथा वे आगम प्रणीत विवेचनाओं पर अविश्वास करते रहेगें ? यद्यपि वे स्वयं विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में डिग्रीधारी नहीं हैं तो भी वे ज्ञानवान् हैं तर्कशील बुद्धिजीवी हैं। मेरे विचार से देश के सभी विद्वानों को इस सन्दर्भ में उनके दृष्टिकोण से सहमत होना चाहिये।

उनको प्राप्त उपाधियों, पुस्कारों, शैक्षिक-योग्यताओं एवं सेवाओं आदि के सन्दर्भ में अनेकानेक विद्वान् लिखेगें अत: मैं पुनरावृत्ति नहीं करना चाहूँगा।

पण्डित जी का अवतरण ग्राम मंजला, जिला सागर, म.प्र. में दिनांक 1 अप्रैल 1944 को प्रात: 07:30 बजे हुआ था। मास्टर साहब परमादरणीय श्री सिद्धेलाल जी बड़कुल एवं पूज्य मातुश्री सरस्वती देवी के घर सरस्वती माँ के उदर से सरस्वती पुत्र का जन्म ही तो होगा, सो हुआ। पिताश्री सिद्ध के लाल, सिद्धेलाल के स्वयं सिद्ध ज्ञानदिवाकर प्रकट हुए थे।

इनके जन्म समय के ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव ऐसा था कि मातुश्री अपने नन्हें से सरस्वती-चिराग को 10 माह की अवस्था में ही श्रीसिद्धेलाल जी की गोद में सौंप कर स्वर्गारोहण कर गईं। चिराग रोशन रहेगा यह अटल विश्वास लेकर गईं तथा स्वर्ग से ही आशीषों की प्रखर रश्मियों के पुञ्ज सम्प्रेषित करती रहीं।

इनके ही आशीर्वाद एवं पिता श्री सिद्धेलाल के वरदहस्त से विषम परिस्थियों में भी इनका कालजयी रथ प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहा।

जिस शिशु का जन्म प्रात: कालीन वेला में होता है वह बालक गतिमान सूर्य की तरह यश: कीर्ति वाला होता है तथा उसका अन्तस् सदैव ज्ञानसूर्य से आलोकित रहता है। यदि बाल्यावस्था में सूर्य बादलों की धुंध से आच्छादित भी हो तो भी कुछ समय पश्चात् धुंध छठ जायेगी, सूर्य का प्रकाश पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जायेगा। यही हमारे विद्वान् श्री के जीवन में घटित हुआ। ऐसे शिशु का बाल्यपन यदि कुछ विपरीत प्रतिकूल परिस्थितिओं से ग्रसित भी रहा हो तो भी समय आने पर भाग्य का सितारा चमकेगा, ऐसे व्यक्तित्व अपने पुरुषार्थ से ही स्वयं का निर्माण कर कीर्तिमानों का सोपान चढ़ते जाते हैं। (Self made Man) समय आने पर -

सङ्घर्षों की इस दुनियाँ में, मिल गई एक सहेली।
सती मनोरमा सम मनोरमा, अब तक थी जो अकेली।।
सौम्य साम्य मृदुभाषी, प्रबल भाग्यशाली वह विदुषी।
संग चली वन चेली, अरु पुरुषार्थ भी तब ही फलता,
जब संग हो ऐसी सहेली।

पत्नी का हो भाग्य प्रबल तब ही पुरुषार्थ है फलता।
नहीं नहीं तो पुरुषपति, केवल हाथ ही मलता।।
जैन दर्शनाचार्य हुईं और डाक्ट्रेट भी कीना।
विशिष्ट योग्यता पायी इनने, और स्वर्णपदक है लीना।।
पण्डित जी भी नहीं कहीं कम, राष्ट्रपति कीन्हा सम्मान।
रहे सुदर्शन सदा सुदर्शन, नहीं तनिक कोई अभिमान।।
सूर्यचन्द्रमा के चिराग भी कैसे धुँधले रहते।
सभी पुत्र-पुत्रियाँ भी अब नक्षत्रों से दमकते।।
पुत्रवधुयें और दामाद सभी प्रिय उच्च सुशिक्षित लाये।
सभी नभ में नक्षत्रों जैसे, कीर्तिध्वजा लहराये।।
यही कामना है हम सब की अमर रहे जय गाथा।
नहीं अस्त हो सूर्य किसी का धन्य हे भाग्य विधाता।।

श्री महेन्द्र जैन एवं श्रीमती शशि जैन
पूर्व मैंनेजर, स्टील प्लांट, अनप्रेक्षा सदन, भोपाल

सिद्ध-सारस्वत प्रो. सुदर्शनलाल जी : यथानाम तथा गुण

जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन के स्थापित वरेण्यमनीषी प्रो. सुदर्शनलाल जी से मेरे व्यक्तिगत सम्बन्ध विगत 50 वर्षों से हैं, जब आप एक बार मेरे ग्राम-मड़ावरा (ललितपुर) उत्तरप्रदेश पधारे थे। श्री दि. जैन नया मन्दिर जी में आपका एक प्रवचन आयोजित था। प्रवचन के पश्चात् एक औपचारिक मुलाकात हुई और तभी से जुड़े रहने का कोई न कोई माध्यम मिलता रहा। वस्तुत: यह परिचय तब से और गाढ़ा होता गया जब अ.भा. विद्वत्सङ्गोष्ठियों में अथवा कभी कभार वाराणसी जाने पर मिले। विचारों का आदान-प्रदान होता रहा और हम लोग बुन्देलखण्ड की माटी की संस्कृति से भीगे होने के कारण सम्बन्धों का गाढ़ापन आत्मीय होता गया।

विद्वत्ता में विनम्रता की महक, बचपन के संस्कार, स्वावलम्बन और गरीबी की गरीयसा से ज्यादा सुरभित होती है। प्रो. सा. और मेरे बचपन की कथा-कहानी लगभग एक सी रही है। आपको मातृ-वियोग बचपन में, मुझे पितृ-वियोग बचपन में। आप गरीबी की गरिमा से तपे हुए बाहर नि:शुल्क शिक्षा के सुयोग से उत्तरोत्तर बढ़ते गये और मुझे भी 5 वर्ष (1953-58) श्री दि. जैन देशभूषण गुरुकुल अयोध्या (उ.प्र.) में नि:शुल्क शिक्षा का सुअवसर मिला। जहाँ रहकर आत्मनिर्भरता का पाठ भी पढ़ा। दोनों भौतिक अभावों से जीवन लक्ष्य के भावों को और मजबूती से प्राप्त कर, प्रशस्त भाग्य और पुरुषार्थ की जुगलबन्दी से जीवन निर्माण की दिशा में आगे बढ़े। शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ प्रो. साहब जैनदर्शन/बौद्धदर्शन, साहित्य और पाली-प्राकृत की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अग्रगण्य रहे वहीं मैं विज्ञान भौतिकी में स्नातकोत्तर शिक्षा सागर विश्वविद्यालय से प्राप्त कर म.प्र. शिक्षा विभाग में प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुआ। मेरे मित्र प्रो. सुदर्शनलाल जी जैसे वरेण्य विद्वानों की सन्निधि और शुभांकाक्षा से इनसे बहुत कुछ सीखा और जैनाचार्यों / जैन सन्तों के आशीर्वाद का प्रशस्त पुण्य प्राप्त किया।

मुझे प्रो. सुदर्शन लाल जी के हँसमुख और उदात्त व्यक्तित्व ने बहुत प्रभावित किया। आपको अपनी विद्वत्ता का कहीं भी अहंकार नहीं है। देश के सर्वोच्च काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के संस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर रहकर अन्त में कला सङ्काय के डीन जैसे गरिमामय पद से सेवा निवृत्त हुए। सामाजिक क्षेत्र में भी कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर, न केवल शिक्षा जगत में अपितु प्रशासनिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में अनन्य उपलब्धियाँ रहीं। अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत महामहिम राष्ट्रपति पुरस्कार (2012) आपकी विलक्षण प्रतिभा का शिलालेख है।

ज्ञान-यज्ञ की समाधि में आपक शोधप्रबन्ध 'उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन' विशेष चर्चित रहा है।

विद्वानों का अभिनन्दन मात्र औपचारिक नहीं है। मेरा विश्वास है कि यह उनकी जीवन भर की शैक्षणिक

तपस्या और धार्मिक व सामाजिक सेवाओं का प्रतिफल है, जिसके वे हकदार हैं।

प्रो. सुदर्शन लाल जी का ग्रहस्थ जीवन - सुखद एवं समृद्धि से भरा हुआ है। आपकी सहधर्मिणी (मेरी भाभी सा.) डॉ. मनोरमा जैन एक विदुषी और धार्मिक महिलारत्न हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त हैं। पारिवारिक जिम्मेदारियों को कुशलता और बुद्धि-विवेक से अपने पुत्रों/पुत्री को उच्च शिक्षा से दीक्षित करवाया। आपके सभी बच्चे संस्कारों की महक से दीपित माता-पिता के गौरव को प्रवर्तमान किये हैं।

मैं प्रो. साहब के दीर्घायु की मङ्गल कामना करता हूँ। सत् -पुरुषों को दीर्घ आयु मिलती है तो वे उसे आत्मोन्नति के साथ, राष्ट्र, समाज और निजधर्म के उत्थान के लिए समर्पित करते हैं। अस्तु प्रो. सुदर्शनलाल जी स्वस्थ रहें और धर्मसेवा के संकल्प से जुड़े रहें, यही कामना करता हूँ।

पं. निहालचंद जैन
पूर्व प्राचार्य, बीना, म.प्र.

श्रीगुरवे नमः

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, कला सङ्काय प्रमुख, प्राकृत, जैनदर्शन तथा संस्कृत साहित्य में विशेषाधिकार प्राप्त, अनेक ग्रन्थों के प्रणयन कर्त्ता, अनुवाद एवं सम्पादन कर्ता, केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी अपने वैदुष्य से सम्मानित, अनेक शैक्षणिक एवं सामाजिक कार्यो के फलस्वरूप महामहिम राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित, आपके निर्देशन में मुझे शोधकार्य करने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ एतदर्थ मैं गौरवान्वित हूँ। पठन-पाठन के क्रम में मुझे गुरु-पत्नी द्वारा भी अत्यधिक स्नेह प्राप्त हुआ, मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। सेवा निवृत्ति के पश्चात् भी आप अनवरत रूप से शैक्षणिक कार्यों में संलग्न हैं, जिसे दृष्टिगत करते हुए मुझे एक पंक्ति स्मरण हो आयी **'काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'** आपके दीर्घायु की कामना पूर्वक आपकी शिष्या-

श्रीमती डॉ. उषा वर्मा
एसोसियट प्रोफेसर, संस्कृत, वसन्त महिला म. वि. राजघाट, वाराणसी

विराट् व्यक्तित्व के धनी प्रो. सुदर्शनलाल जी

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शनलाल जी असाधारण व्यक्तित्व के धनी हैं। विलक्षण मेधा के धनी प्रो. साहब के विराट् व्यक्तित्व का निर्माण सतत सङ्घर्ष के जिस पथ पर चलकर हुआ है उस पथ पर चलने वाले लोग अत्यन्त विरल हैं। प्रो. साहब ने बचपन से ही जिस कठिन सङ्घर्ष का समाना किया है उसके आगे बड़े से बड़े धैर्यशाली लोग भी बिखर जाते हैं। दस माह की अल्प अवस्था में मातृ-वियोग सहकर भी अपने सङ्घर्षशील व्यक्तित्व के कारण ही प्रो. साहब ने जीवन के चरमोत्कर्ष को प्राप्त किया है।

अपने गाँव की छोटी सी पाठशाला में प्राथमिक अध्ययन प्रारम्भ करके डॉ. साहब ने विभिन्न जैन गुरुकुलों में अध्ययन किया। डॉ. साहब का अध्ययन केवल किताबों तक सीमित नहीं रहा है। आपने धर्म-दर्शन और संस्कृति एवं प्राकृत जैसी भाषाओं के शास्त्रों के गहन अध्ययन के साथ-साथ मानव जीवन और समाज के विविध पक्षों को भी गहराई से समझने का भरसक प्रयास किया है। यही कारण रहा है कि आपने देश के सर्वोच्च विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सबसे बड़े सङ्काय के अध्यक्ष पद का निवर्हन कुशलतापूर्वक किया है।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे परमादरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी का सान्निध्य तब से प्राप्त हो रहा है जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रो. कमलेश कुमार जी के निर्देशन में शोधकार्य कर रहा था। प्रो. सुदर्शन लाल जी से मैंने अपने शोधकार्य के दौरान अनेक बार मार्गदर्शन प्राप्त किया है। उनके अगाध शास्त्र वैदुष्य ने मुझे अनेक बार

अभिभूत किया है। उनका वैदुष्य जितना गहन है उनका हृदय उतना ही सरल है। उनका चिन्तन सभी प्रकार की संकीर्णताओं से परे अत्यन्त व्यापक है। आप अपने इसी व्यापक चिन्तन और उदारवादी दृष्टिकोण के कारण दिगम्बर जैन विद्वानों के साथ-साथ श्वेताम्बर जैन विद्वानों में भी समादृत हैं। आपने 'उत्तराध्ययन सूत्र' जैसे श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ पर शोधकार्य करके अपने विशाल उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

वर्तमान विद्वत्परम्परा में आप प्राय: सभी विद्वानों में वरिष्ठ हैं। आपने अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री और उपाध्यक्ष जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर अपने उत्तरदायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन करके विद्वानों की प्रतिष्ठा वृद्धिंगत की है। इन महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर आपने अपनी महत्त्वपूर्ण समन्वय दृष्टि का परिचय दिया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी के निदेशक रहते हुए भी आपने जैन आगम के संरक्षण-संवर्धन एवं शोधकार्य के विकास के लिए अथक प्रयास किया है।

आपके व्यक्तित्व में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति असीम श्रद्धा झलकती है। जिनवाणी माँ के प्रति अपार श्रद्धा होने के कारण आप सदैव शास्त्र-सपर्या में संलग्न रहते हैं। इसी श्रुतसेवा के भाव से ही आपने अनेक शास्त्रों का सम्पादन एवं लेखन कार्य किया है। आपके कृतित्व में जहाँ एक ओर आपका अगाध वैदुष्य झलकता है वहीं आपके मौलिक चिन्तन से शास्त्रों के गूढ़ रहस्य भी सहज ही प्रकट हो जाते हैं।

आपके विराट् व्यक्तित्व का एक पक्ष यह भी है कि आपने समाज के साथ-साथ अपने पुत्र और पुत्रियों को भी उच्च शिक्षित करके साथ-साथ श्रेष्ठ संस्कार भी प्रदान किये हैं। समाज और परिवार के प्रति समानरूप से उत्तरदायित्व का निवर्हन करने वाला आपके जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है। आपके इस आदर्श व्यक्तित्व के विकास में आपकी सहधर्मिणी डॉ. मनोरमा जी का भी अविस्मरणीय अवदान है। डॉ. मनोरमा जी सरलता और वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। अतिथ्य सत्कार के लिए वे सदैव आतुर रहती हैं। घर-गृहस्थी के कठिन से कठिन कार्य भी वे सहजता से कर लेती है। मुनियों को आहार दान देने और त्यागी व्रतियों की सेवा में आपकी गहरी रुचि है। प्रो. सुदर्शनलाल जी के सङ्घर्षशील जीवन में उनकी धर्मपत्नी डॉ. मनोरमा जी ने पग-पग पर साथ दिया है।

आदरणीय गुरु श्री सुदर्शन लाल जी ने अपने सतत सङ्घर्ष से सफलता का आसमान छुआ है। भारत के महामहिम भूतपूर्व राष्ट्रपति प्रणवमुखर्जी ने अपने कर कमलों से आपको सम्मानित करके आपके प्रति राष्ट्र की कृतज्ञता व्यक्त की है। इस के साथ ही देश की विभिन्न संस्थाओं और समाज ने भी आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया है। इसी शृंखला में आपके सम्मानार्थ वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा आपके अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

आपके अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन वस्तुत: समाज और राष्ट्र का आपके विराट् व्यक्तित्व के प्रति एक आभार प्रदर्शन है। एक कृतज्ञता ज्ञापन है। आपका अभिनन्दन करके समाज अपने लिए एक ऐसा आदर्श स्थापित कर रहा है जिसके अनुकरण की अपेक्षा समाज को अपनी वर्तमान और भावी पीढ़ियों से है।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रबन्ध-सम्पादक का उत्तरदायित्व मिला है। इस उत्तरदायित्व के निर्वहन करने में मुझे प्रो. साहब के विराट् व्यक्तित्व को निकटता से समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनसे मिलकर ही मैं यह जान पाया हूँ कि श्रद्धेय गुरु जी प्रो. सुदर्शन लाल जी का वैदुष्य जहाँ हिमालय सा ऊँचा है वहीं उनके हृदय में स्वाभाविक सरलता और सहजता का सागर भी लहराता है। उनका यह अद्वितीय व्यक्तित्व ही उन्हें महान् बनाता है। मैं गुरुजी प्रो. सुदर्शनलाल जी के अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि गुरुजी सदैव स्वस्थ और सानन्द रहें एवं दीर्घायु रहकर हम सभी को सदैव आशीर्वाद प्रदान करते रहें।

डॉ. पंकज कुमार जैन 'ललित'
प्राध्यापक- जैनदर्शन विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल, म.प्र.

अनुपम प्रेरणास्पद व्यक्तित्व

श्रद्धेय गुरु जी जैनदर्शन, प्राकृत एवं संस्कृत विद्या के मनीषी विद्वान् हैं। विषम परिस्थितियों में अध्ययन करते हुए भाग्य और पुरुषार्थ के बल पर ऊँचाइयों के शिखर पर पहुँचने वाले विद्वानों में से एक विशेष हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में मुझे भी एम. ए. (संस्कृत) करते समय पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं गुरुचरणों में नत मस्तक हूँ। सागर जिले के मंजला ग्राम को अपने जन्म से गौरवान्वित करने वाले परम आदरणीय गुरुजी प्रो. सुदर्शनलाल जी ने विद्वत्ता के क्षेत्र में एक विशेष कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2006 में सेवानिवृत्त होने के बाद गुरुजी ने अपना सारा जीवन धर्म प्रचार एवं प्रसार में समाज को समर्पित कर दिया है। आदरणीय गुरुजी समाज की अनुपम निधि हैं, उनका सम्मान समाज का सम्मान है, जिनवाणी का सम्मान है। गुरुजी की सहृदयता, सहजता, सरलता सभी के लिए अनुकरणीय है। आपका व्यक्तित्व अत्यधिक स्पृहणीय, अनुकरणीय और प्रेरणास्पद है। आप वास्तव में बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं।

आपने जैनधर्म के सिद्धान्त ग्रन्थों का न केवल सूक्ष्म अध्ययन कर ज्ञानार्जन किया है अपितु ज्ञान को अपने जीवन में उतारकर स्व-पर कल्याणार्थ अत्यधिक सदुपयोग भी किया है। आपके मुख में सरस्वती का वास है। जैनधर्म के गूढ़ विषयों को सरल उदाहरणों के माध्यम से समझाना आपकी स्वाभाविक विशेषता है।

प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन समाज के यशस्वी विद्वान् हैं। आपके द्वारा की गई अविरल सेवाओं के परिणामस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। यह भारतवर्ष की समाज के लिए गौरव की बात है। आदरणीय गुरुजी जैनदर्शन और जैनसिद्धान्त के अधिकारी विद्वान् तो हैं ही, लेखक, ग्रन्थकार, सफल सम्पादक भी हैं। आपने जैन जगत् की महनीय सेवा की है। अतः आपको महामहिम राष्ट्रपति पुरस्कर, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ द्वारा स्वलिखित ग्रन्थों पर चार पुरस्कार, मुनिपुङ्गव सुधासागर पुरस्कार, आचार्य सुमतिसागर स्मृति श्रुत संवर्धन पुरस्कार, शिक्षक सम्मान आदि अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। आपने अखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् आर्ष मार्गी विद्वानों की संस्था के यशस्वी मन्त्री और उपाध्यक्ष के रूप में जिनवाणी की अतुलनीय सेवा की है।

विद्यार्थी जीवन से ही मुझे समय-समय पर आशीर्वाद मिलता रहा है। यह मेरा सौभाग्य है। जैनदर्शन के अधिकारी विद्वान् के रूप में आपका जीवन अविरल प्रेरणास्रोत है। आपने ज्ञान, ध्यान, चिन्तन, मनन के द्वारा समाज को अमृत-रसपान कराया है। गुरुजी चिरायु-स्वस्थ रहें, यही गुरु चरणों में मेरा निवेदन है।

श्री गुरुपद नख गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

डॉ. सन्तोष कुमार जैन
सीकर (राजस्थान)

प्रशासनिक उच्चपद पर कार्यरत लोगों के लिए प्रेरणास्त्रोत

भागीरथी के तट पर स्थित मनीषी तथा कर्मयोगी महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी की तपोभूमि काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में अध्ययन-अध्यापन पूर्वजन्मों के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। काशी में निवास करते हुए यह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। विद्वानों से समृद्ध संस्कृत विभाग में अध्ययन काल में मुझे अनेक गुरुजनों का सानिध्य प्राप्त हुआ। ऐसे ही आचार्य सुदर्शन लाल जैन जी से एम.ए. (संस्कृत) की कक्षा में 'सर्वदर्शनसंग्रह' तथा 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली जैसे क्लिष्ट ग्रन्थ की विवेचना आसान नहीं होती है किन्तु गुरुवर्य ने सरलीकरण करते हुए न्यायदर्शन के सिद्धान्तों की प्रस्तुति की, जिससे विषय के साथ ही साथ

गुरु-शिष्य के स्नेहिल सम्बन्धों का भी ज्ञान हुआ।

अध्ययन के उपरान्त संस्कृत विभाग, कलासङ्काय में अध्यापिका के रूप में नियुक्ति होने पर मैंने गुरुदेव के दूसरे स्वरूप को पहचाना। जिस विभाग में मैंने अध्ययन किया था, उसी में गुरुजनों के मध्य अत्यन्त सङ्कोच का अनुभव हो रहा था। इस असहज वातावरण में जैन सर मेरे सहयोगी होने के साथ ही पथप्रदर्शक बने। 2004 का वह समय जब आपने विभागीय परिधि से उन्नत कर सङ्कायस्तर पर मेरी पहचान बनायी, जो अविस्मरणीय है।

विभागाध्यक्ष तथा सङ्कायप्रमुख के पदों का निवर्हण गुरुदेव ने अत्यन्त कुशलता से किया। इन दोनों पदों पर एकसाथ प्रतिष्ठित होकर कार्य करते हुए अनेक कठिन एवं विषम परिस्थितियों में भी मैंने उन्हें अविचलित तथा शान्तचित्त देखा। अवश्य ही उनका यह व्यवहार उच्च पदों पर कार्य करने वालों के लिए अनुकरणीय तथा प्रेरणादायक है। उनके धैर्य धारण करने की क्षमता पर सहसा यह श्लोक स्मृतिपटल पर छा जाता है-

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

आप जैसे गुरु के प्रति संस्मरणों द्वारा ही कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है। यह मेरे लिए सम्मान और गौरव का विषय है। अत: गुरुवर्य के पचहत्तरवें जन्मोत्सव पर मैं परमात्मा से उनके स्वस्थ तथा दीर्घायु जीवन की कामना करती हूँ।

प्रो. उमा देवी जोशी
भूतपूर्व प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

जैन विद्यानुरागी विद्वान् प्रो. सुदर्शन लाल जी

मनुष्य जन्म पाना तो पुण्यार्जन का ही परिणाम है। वहाँ भी जैनविद्यानुरागी होकर जीवन जीना तदधिक पुण्यात्मा होने का परिज्ञापक है। पुरा विद्वानों की श्रृंखला में प्रो. सुदर्शनलाल जी आज कनिष्ठिकाधिष्ठित विद्वान् के रूप में हम लोगों के भाग्य से हमारे सामने मौजूद हैं। उनकी साधना से उनका जीवन तो धन्य हुआ ही है जैन विद्या को जानने-समझने की जिजीविषा रखने वाले शिष्यों को अपना जीवन धन्य करने का अवसर प्रो. जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से मिल सका है। मैं भी जैनविद्या और संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय का विद्यार्थी रहा हूँ। और आज भी हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि मैं भी उनसे प्रत्यक्ष-परोक्ष विधि उपकृत होता रहा हूँ। प्रो. जैन जैनविद्या के मनीषी तो हैं ही प्राकृत एवं संस्कृत वाङ्मय के अधिकारी विद्वान् भी हैं। उनके अवदान का आकलन कर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से लोक जीवन को उपकृत करने के लिये जागरुक सामाजिकों द्वारा उनका सामाजिक अभिनन्दन करने का निर्णय सराहनीय है। इस अवसर पर उनके व्यक्तित्व को स्थायी बनाने की दृष्टि से उनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह सराहनीय और अनुकरणीय उपक्रम है, मैं इसकी अनुमोदना करता हूँ। प्रो. जैन के व्यक्तित्व को नमन करते हुए तथा उनके कृतित्व के उपयोग से कृतार्थ होते रहने की भावना से उन्हें प्रणाम करता हूँ। मेरी कामना है प्रो. जैन स्वस्थ रहकर शतायु हों और साहित्यिक साधना करते रहें। उन्हें सादर नमन।

प्रो. श्रेयांश कुमार सिंघई
आचार्य एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर

सिद्ध-सरस्वती के सारस्वत वरदपुत्र

परम आदरणीय प्रखर मनीषी विद्वान् प्रो. सुदर्शन लाल जी मेरे दीर्घकाल से परिचित साथी हैं। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ पं. प्रवर प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार जैन सोंरया के प्रधान सम्पादकत्व में वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इसलिये मुझे अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। राष्ट्रपति सम्मान से विभूषित होने के समय ही यह कार्य सम्पन्न होता तो और अधिक प्रसन्नता होती। सबसे बड़े हर्ष का विषय है कि पुण्यों से उनको दो सरस्वती माताओं का आशीर्वाद और दुलार प्राप्त हुआ है। एक पुण्य है भौतिक देह को जन्म देने वाली माता सरस्वती

देवी और दूसरी पुण्य ज्ञानरूपी अमृत से पुष्ट करने वाली माँ भारती सरस्वती जिनवाणी। यहाँ दोनों की ही पूज्यता प्राप्त हो रही है।

जैनधर्म-दर्शन के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् प्रो. साहब के अल्पवय में ही मातृ-वियोग की स्थिति में अपने परम पूज्य पिताश्री से उच्च शैक्षणिक योग्यता प्राप्त की और साथ ही अनेकों संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन होकर शिक्षा-संस्थानों में शैक्षणिक सेवा देकर समाज पर बड़ा उपकार किया है।

आपने अनेक शोधछात्रों को विविध प्रकार के विषयों पर डॉक्ट्रेट की उपाधि दिलवायी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में निदेशक और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में विभागाध्यक्ष एवं कला सङ्काय प्रमुख के उत्तरदायित्वों को निभाते हुए जैन और जैनेतर विद्या के अध्येताओं को ज्ञानदान एवं मार्गदर्शन दिया है। वे अनेक संस्थाओं से गरिमामय जुड़े रहे। अनेकों सम्मान मिलकर भी उनके गुणों का समादर करने में हम असमर्थ हैं।

उन्होंने साहित्यक्षेत्र में अपनी मौलिक अनुदित (अनुवादित) एवं सम्पादित कृतियों के द्वारा माँ सरस्वती के विशाल भंडार को भरा है। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व आदर्श हैं।

प्रो. जी सीधे-साधे, सरल, सहज व्यक्तित्व के धनी हैं। उन्होंने अपने परिवार को भी भलिभाँति श्रेष्ठ कार्यों में संयोजित किया है। भगवान् से मैं मङ्गल कामना करता हूँ कि वे स्वस्थ एवं दीर्घायु रहकर समाज का मार्गदर्शन करते रहें। वे सर्वत्र आदरणीय हों।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक माननीय सोंरया जी लगभग 50 वर्षों से मेरे सम्पर्क में बड़े आदर भाव से प्रतिष्ठित हैं। इस पुनीत कार्य के लिये उन्हें हार्दिक बधाई एवं सम्पादक मण्डल एवं संयोजक डॉ. सर्वज्ञदेव जैन और प्रबन्ध सम्पादक डॉ. पंकज कुमार जैन आदि के लिये बधाई और आशीर्वाद।

वीतराग वाणी ट्रस्ट के लिए शुभकामना कि वह इसी प्रकार से अपेक्षित सामाजिक कार्यों का प्रकाशन कर शिखर पर विराजमान रहे। अन्त में प्रो. साहब के विषय में निम्न पंक्तियाँ जो सटीक चरितार्थ होती हैं उसे भी अंकित कर रहा हूँ -

विद्वत्ता भूभृतश्चैव, नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

भद्रं भूयात् शुभं भूयात्

पं. शिवचरण लाल जैन, मैनपुरी
संरक्षक एवं पूर्व अध्यक्ष तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासङ्घ
संरक्षक- अखिल भा. वर्षीय दि. जैन शास्त्री परिषद्

जैन विद्वानों की परम्परा के दैदीप्यमान भास्कर

जैन विद्वानों की परम्परा के दैदीप्यमान भास्कर प्रो. सुदर्शनलाल जैन संस्कृत एवं प्राकृतविद्या के श्रेष्ठ हस्ताक्षर हैं। इन्होंने स्याद्वाद महाविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्ययन करके प्रावीण्यता प्राप्त की और इनकी विशेषता रही कि अपनी ही शिक्षण संस्था में प्रवक्ता के रूप में शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। उसी काल में मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवेश लिया। सौभाग्य से डॉ. जैन को अपने शिक्षागुरु के रूप में पाया। इनके अध्यापन की शैली प्रभावी थी। हम सभी विद्यार्थी इनसे पढ़कर हमेशा प्रमुदित रहते थे। ये विषयबोध कराने में तो दक्ष थे ही साथ ही हमें हमेशा मार्गदर्शन देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान किया करते थे।

आज भी डॉ. साहब हमारे गुरु के रूप में ही हैं। सतत जैन विद्या के विविध आयामों पर कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। मुझे अनुजकल्प मानकर इनके द्वारा जो शिक्षाएँ दी जा रहीं हैं उनसे मैं विशेष लाभान्वित हो रहा हूँ।

डॉ. जैन की सहधर्मिणी श्रीमती डॉ. मनोरमा जैन का भाभी के रूप में सदैव वात्सल्य मिलता ही रहा है। पारिवारिक और शैक्षिक कार्यों के लिए इनके द्वारा दी गयी प्रेरणा ही हमारे विकास में सहयोगी बनी है। हम अपने गुरुवर्य प्रो. जैन साहब के अभिनन्दन ग्रन्थ की अनुशंसा करते हैं और कामना करते हैं कि ये शत शरद ऋतुओं के सुमनों से सुवासित रहें तथा जैन विद्या के क्षेत्र में इनकी यश:पताका सदैव फहराती रहे।

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष - अखिल भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्रि-परिषद, बड़ौत्

मेरे विद्यागुरु और अभिभावक

भारत के ख्यातिलब्ध जैन विद्वानों में प्रो. सुदर्शनलाल जैन जी का नाम अग्रगण्य है। वे संस्कृत, प्राकृत, पाली तथा जैनविद्या के विशेषज्ञ हैं। उनसे मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे मुझे निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर हेतु प्रोत्साहित करते रहते थे। मेरे विद्यागुरु के साथ उन्होंने अभिभावक के रूप में संरक्षण एवं निर्देशन दिया। अपने सहाध्यायी डॉ. धर्मचन्द्र जैन के साथ उनके घर पर जाना होता रहता था। जहाँ उनके परिवार के सदस्यों का स्नेहासिक्त वातावरण प्राप्त होता था। प्रो. जैन की सहधर्मिणी डॉ. मनोरमा जैन का स्वभाव भी हंसमुख एवं मिलनसारिता का है। इनके पुत्र देश-विदेश में उच्च प्रतिष्ठित पदों पर सेवा कार्य में संलग्न हैं। वाराणसी की प्रतिष्ठित संस्थाओं जैसे स्याद्वाद महाविद्यालय, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान की कार्यकारिणी समितियों में विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित होकर उनके विकास में उल्लेखनीय भूमिका का डॉ. जैन ने निर्वहन किया। जब में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन-बौद्ध दर्शन विभाग में नियुक्त हुआ तो बराबर इस विभाग के उन्नयन में इनका सहयोग एवं मार्गदर्शन मिलता रहा। जैन संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन, प्रचार-प्रसार में उनका एवं उनके परिवार के सदस्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके द्वारा लिखित कृतियाँ जैसे उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन, देव-शास्त्र-गुरु, प्राकृतदीपिका, संस्कृतप्रवेशिका बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके कृतियों पर इन्हें राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। उनका महनीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व हम सभी के लिए आदर्श है। अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मण्डल के माध्यम से उनकी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता का अर्घ्य समर्पित कर हम गौरव की अनुभूति कर रहे हैं। हम उनके यशस्वी एवं दीर्घजीवन की हार्दिक मङ्गलकामना करते हैं।

प्रो. अशोक कुमार जैन
विभागाध्यक्ष, जैन बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सोमनस्स-सम्बन्धो (सौमनस्य - सम्बन्ध)

इदं खो पन मञ्हं सोमनस्स-विसयो ति यँ आचरिय सुदस्सन-लाल-जेन महोदयेन सह मञ्हं सम्बन्धं कदा कथं अहोसि। तेन सह मम परिचयो एकूनासी ति अधिकं एकूनवीसति ईसा सम्बद्धरतो अत्थि। ततो पट्ठाय निरन्तरं निबद्धगतिना नाना विसय-पसंगे तेन सद्धिं अञ्ञमञ्ञं संल्लापो होति। तस्मा किञ्चि सद्देहि तेन सह सम्बन्धं व्याकरोन्तो अहं आनन्दं, पामोदे पामोज्जं च अनुभवामि। सो अतिचिय उदारो पण्डितो ति। सो सिस्सानं विज्जत्थीनं वा एको उपकारको सहायको च आचरियो ति। सो वोहार-कुसलो सुविदितो पुरिसो पि अत्थि। सद्धा-हिरि-ओतप्प-पटिवलेहि सम्पयुत्तो पुग्गलो अत्थि। सो सङ्खत-पालि पाइय भासानं विपुल-माणंपि रक्खति। तस्मा तेन अनेक पोत्थकानि लिखितानि होन्ति। सो नानप्पकारानं गारवोपाधिनेहि सम्मानेहि वा सम्मानितो अहोसि। अहं तं अभिनन्दनं करोन्तो तस्स सबलं जीवितिन्द्रियं दीघमायुं च कामयामि। अहं एतमत्थं भगवन्तं याचयामि।

प्रो. हरिशंकर शुक्ल
पूर्व अध्यक्ष, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

हमारे मार्गदर्शक

प्रो. सुदर्शनलाल जी से मेरा पहला साक्षात्कार 1973 में हुआ। जब मैं कटनी के शांति निकेतन जैन विद्यालय में पढ़ता था। उस समय डॉ. साहब का उदाहरण दिया जाता था कि यहाँ के छात्र का. हि. वि. वि. में प्रोफेसर पद पर चयनित हुए हैं। इनके भांजे श्री नन्दनलाल जी के साथ पहली बार वाराणसी गया। श्री नन्दन लाल जी पहले ही दिन

इनके घर ले गये। पूरे परिवार से स्नेहिल प्यार मिलने के कारण वाराणसी में अपनापन पाया। फिर इन्होंने मुझे बी.ए. में भी पढ़ाया तथा समय-समय पर मार्गदर्शन भी देते रहे।

इनके द्वारा लिखी हुई 'उत्तराध्ययन सूत्र : एक समीक्षात्मक परिशीलन, 'प्राकृत-दीपिका', 'संस्कृत-प्रवेशिका' तथा जैनदर्शन की मुख्य पुस्तक 'देव-शास्त्र-गुरु' से मैं बहुत उपकृत हुआ।

शांत-स्वभाव के साथ आप जहाँ छात्रों का कल्याण चाहते हैं वहीं अपने बच्चों को भी खूब योग्य बनाया। तीनों बच्चे कुशल इंजीनियर तथा एक बच्ची का चयन एम.बी.बी.एस. में महान उपलब्धि कहा जाता था। कला सङ्काय के डीन पद पर भी आप आसीन हुए तथा अखिल भारतवर्षीय दि.जैन विद्वत्परिषद् के महामन्त्री पद पर रहते हुए जैनसमाज का गौरव बढ़ाया।

आपके आगे बढ़ने में आदरणीया भाभी जी डॉ. मनोरमा जैन का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। आप कुशल गृहिणी, धार्मिक वृत्ति एवं शिक्षा में भी प्रवीण हैं। मेरा एवं हमारे परिवार का आप विशेष ध्यान रखती हैं तथा अच्छी सलाह भी देती रहती हैं।

मैं पुन: कामना करता हूँ कि प्रो. सुदर्शन लाल जी शतायु हों तथा संस्कृत एवं प्राकृत की सेवा करते हुए हम सबका मार्गदर्शन करते रहें।

प्रो. विजय कुमार जैन

सङ्काय प्रमुख एवं प्राचार्य, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, गोमती नगर, लखनऊ

पात्रस्नेही परार्थकृत् गुरुवर

विद्वद्वरेण्य प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण की आयोजना विलम्ब से ही सही, पर एक उत्तम प्रयास है। मैं लगभग चार दशक से प्रो. जैन से सुपरिचित हूँ। जब में अध्ययनार्थ वाराणसी पहुँचा तो आप काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रवक्ता थे तथा आपकी छवि एक पात्रस्नेही परोपकारी शिक्षक के रूप में, एक अच्छे इंसान के रूप में शिष्य समुदाय में सर्वत्र व्याप्त थी। वर्ष 1971 में इंटर कर लेने के बाद जब मैंने बी.ए. में का.हि.वि.वि. में प्रवेश लिया तो गुरुवर में मैंने उन सब गुणों को प्रत्यक्ष देखा, साक्षात् पाया जिन्हें मैं सुना करता था। मुझे गौरव है और इसे मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ कि मुझे प्रो. जैन जैसे गुरु से स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर पढ़ने का सौभाग्य मिला। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के सुवेत्ता आपकी भारतीय दर्शनों में अबाध गति है। राष्ट्रपति पुरस्कार आदि अनेक सम्मान आपको पाकर सार्थक हुये हैं। साहित्य-सपर्या के क्षेत्र में आपका महनीय योगदान है। श्री अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा प्रकाशित आपकी कृति 'देव-शास्त्र और गुरु' ने श्रमणों और श्रावकों में अक्षुण्ण कीर्ति अर्जित की है।

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जी जैन का 'जीवन जितने कष्ट कंटकों में गुजरा है, जिसका जीवन सुमन खिला सौरभ गन्ध उसे उतना ही यत्र-तत्र सर्वत्र मिला' की जीती जागती कहानी है। उन्होंने अपने पुरुषार्थ के बल पर भाग्य को पटखनी दी। उनका सम्पूर्ण परिवार उच्च शिक्षित, संस्कारवान् एवं उच्च पदों पर प्रतिष्ठित है। उनकी अर्धांगिनी श्रीमती डॉ. मनोरमा जैन जैनदर्शन की विदुषी हैं, सन्तति संस्कारनिर्माण कर्त्री हैं, सही अर्थ में माता हैं। आज जिस उच्चासन पर प्रो. जैन विराजमान हैं, उसमें आदरणीया डॉ. मनोरमा जी का महनीय अवदान है।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर जिसके सम्पादक-मण्डल का मैं सहभागी हूँ, अपनी ओर से, अपने परिवार की ओर से प्रो. साहब के चरणों में अपनी विनम्र विनय प्रकट करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि वे स्वस्थ दीर्घायुष्य को पाकर साहित्य एवं समाज की सेवा में सैदव शिरोमणि बने रहें।

डॉ. जयकुमार जैन

अध्यक्ष, श्री अ.भारतवर्षीय दि.जैन. विद्वत्परिषद्,मुजफ्फरनगर

डीन के रूप में अनेक कीर्तिमान स्थापित किए

मैं और प्रोफेसर (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन दोनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन करते थे। मैं सिविल इंजिनियरिंग में था और प्रो. जैन संस्कृत विभाग, कला सङ्काय में थे। जैन होने के नाते हम लोगों का परिचय प्रगाढ़ होता चला गया। एक दूसरे के घर आना-जाना होता रहा। आप जैन विद्या के प्रकृष्ट विद्वान् हैं साथ-साथ एक बहुत ही सरल और सहृदय व्यक्ति हैं। जैनधर्म सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान मुझे आपसे मिलता था। आप क्रमशः उन्नति के शिखर पर बढ़ते हुए काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के सबसे बड़े कला सङ्काय के डीन (प्रमुख) बने। इस सर्वोच्च पद पर रहकर आपने बड़ी कुशलता से प्रशासन किया और अनेक नए आयामों की स्थापना की। आपका ऑफिस और घर का दरबाजा हमेशा सभी (अध्यापक, छात्र, कर्मचारी) के लिए खुला रहता था। सभी आपसे प्रसन्न रहते थे। विडला छात्रावास के भी प्रमुख थे और छात्रों की कुशलता से सुरक्षा करते थे। इतिहास में पहली बार उनको छात्रों ने अभिनन्दन किया। कुलपति, रजिष्ट्रार, फाइनेंस ऑफीसर आदि भी आपके प्रशासन से खुश रहते थे। आपने अनेक कीर्तिमान स्थापित किए।

आपके इस अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से आपको मङ्गल कामना प्रेषित करते हैं। भाभी जी श्रीमती डॉ. मनोरमा जी भी बधाई की पात्र हैं।

प्रो. कमलकुमार जैन
एफ - 70 काल्का जी, नई दिल्ली

आलोचना और छिद्रान्वेषण से दूर

प्रो. सुदर्शनलाल जी और भाभी जी श्रीमती डॉ. मनोरमा जी से मेरा और मेरे परिवार का परिचय बहुत पुराना है। जब से उन्होंने वाराणसी में निवास करना प्रारम्भ किया था तभी से वे मेरे परिचय में हैं। उनके मधुर व्यवहार और शास्त्रीय ज्ञान ने मुझे आकर्षित करना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे मेरी उनके प्रति आत्मीयता और सम्मान बढ़ता चला गया। उनका स्नेह भी मेरे और मेरे परिवार के प्रति सदैव रहा है। उनमें मैंने कहीं भी अहङ्कार नहीं देखा है। वे कशी के जैन विद्वानों में वरिष्ठ रहते हुए भी अति विनम्र और सरल हैं। वे जटिल से जटिल प्रश्न का उत्तर भी बड़ी ही सरलता से दे देते हैं। उनके समाधानों में धर्म के शास्त्रीय पक्ष के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष की भी प्रधानता रहती है।

प्रो. साहब से मैंने जब-जब धार्मिक या सामाजिक विषयों पर चर्चा की है तब-तब मैंने देखा है कि उनकी दृष्टि सदैव गुण-ग्राहक रही है वे आलोचना और छिद्रान्वेषण करने से हमेशा बचते हैं। पण्डित जी पन्थ निरपेक्ष रहकर हर स्थान से सिर्फ अच्छाई ग्रहण करने पर बल देते हैं। जितना ज्ञान उन्हें दिगम्बर शास्त्रों का है उतना ही ज्ञान श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों तथा जैनेतर दर्शनों का भी है। संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। आप सदैव धर्म के मूल सिद्धान्तों और आगम के अनुकूल जैन धर्म की समीचीन मान्यताओं के संरक्षण पर बल देते हैं। मुझे धर्म सभाओं और सामाजिक कार्यक्रमों में अनेक बार उनके व्याख्यानों को सुनने का अवसर मिला है। वे गूढ़ से गूढ़ विषय का सार सरल भाषा में व्यक्त करने में निष्णात हैं। वे काशी में निर्विवादरूप से सर्वमान्य हैं। जब से आप वाराणसी से सेवानिवृत्त होकर भोपाल निवास करने लगे हैं तब से काशी की जैन समाज आपको सदैव याद करती रहती है। मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि आपके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। आपने अपने अमूल्य ज्ञान से समाज पर जो उपकार किया है समाज उसके लिए सदैव आपकी ऋणी रहेगी। मैं जिनेन्द्र प्रभु से यह मङ्गल कामना करता हूँ कि आप और भाभी जी सदैव स्वस्थ और दीर्घायु बने रहें और मेरे और मेरे परिवार पर सदैव आपका आशीर्वाद बना रहे।

श्री ध्रुव कुमार जैन एवं श्रीमती सरिता जैन
वाराणसी

सम्बन्धों में निश्छल आत्मीयता

आदरणीय भाईसाहब श्री सुदर्शनलाल जी जैन से मेरा सम्बन्ध 1973-74 के आसपास हुआ था। मेरे पिताजी स्व. श्री जमनालाल जैन पार्श्वनाथ शोधपीठ में कार्य कर रहे थे। मैं बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय में बी.ए. का छात्र था। भाईसाहब का शोधपीठ में आना जाना लगा रहता था। जल्दी ही हमारा सम्बन्ध पारिवारिक हो गया। भाभी जी (श्रीमती मनोरमा जी) मेरी माँ स्व. विजया देवी की आत्मीय हो गयीं। मैं अक्सर उनके आवास पर चला जाता था। इनका बड़ा बेटा सन्दीप और छोटा बेटा संजय मेरे साथ खूब खेलते थे। बेटी मनीषा तो बहुत ही छोटी थी। बाद में मैंने दोनों बच्चों को भूगोल भी पढ़ाया।

मेरी माँ को प्लेटलेट डिफीशियेन्सी की बिमारी थी। एक बार उनको बी.एच.यू. अस्पताल में इमरजेन्सी में भर्ती कराना पड़ा। उस समय भाभी जी और भाईसाहब ने काफी मदद की। उन दोनों में निश्छलता और सहृदयता कूटकूट कर भरी थी। सम्बन्धों को मधुर कैसे बनाये रखा जाता है यह आप दोनों से सीखना चाहिए। मेरी उनसे पुन: मुलाकात 2017 में भोपाल लालघाटी के जैनमन्दिर में हुई। वहाँ मेरी पत्नी सरोज के भतीजे की शादी थी। शाम को मन्दिर परिसर में भाभी जी से मुलाकात हो गई फिर उनके साथ उनके घर पर गये और भोजन किया।

जब भी मैं बी.एच. यू. जाता हूँ तो आप दोनों की याद ताजा हो जाती है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आप दोनों का जीवन स्वस्थ और प्रसन्न रहे।

डॉ. अभय कुमार जैन
सा. 14/37 ए, बरईपुर, सारनाथ (वाराणसी)

मेरा भी सादर प्रणाम

आदरणीय डॉ. सुदर्शन लाल जैन को मैं विद्यार्थी जीवन काल से जानता हूँ। स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी वाराणसी में वे वरिष्ठ कक्षा के छात्र थे। मैं उनसे दो-तीन कक्षाएँ पीछे था। वे बहुत लगनशील, अन्तर्मुखी, कर्त्तव्यनिष्ठ और मेधावी छात्र थे। उन्होंने अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में लीन रहकर साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य और एम.ए. संस्कृत जैसे विषयों में स्नातकोत्तर उपाधियाँ प्राप्त की थीं। वाराणसी में ही प्रतिष्ठित पं. दरबारी लाल कोठिया के वे प्रिय शिष्य थे। उस समय यह बात व्याप्त थी कि कोठिया जी उन्हें गोद लेने जा रहे हैं। एम. ए. करने के बाद पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी से स्कालरशिप प्राप्त कर वहीं से 'उत्तराध्ययन सूत्र : एक दार्शनिक परिशीलन' विषय पर आदरणीय डॉ. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य के कुशल निर्देशन में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। जब वे शोधकार्य में लीन रहकर निरन्तर अध्ययन मनन करते थे तो मेरे मन में भी यह बात आती थी कि मैं भी इसी प्रकार पी-एच.डी. करूँ। पी-एच.डी. उपाधि अर्जित कर वे वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर में संस्कृत प्रवक्ता पद पर नियुक्त हो गये। स्याद्वाद महाविद्यालय ने उन्हें भावभीनी विदाई दी। उस समय विद्यालय के अधीक्षक भगत हरिश्चन्द्र जी ने कहा था कि थोड़े समय के लिए ही बिजनौर जा रहे हैं, बाद में यहीं बनारस आ जायेंगे। भगत जी की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। एक वर्ष बाद ही उनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद पर हो गई। एम. ए. द्वितीय वर्ष में मैं उनका छात्र रहा। यह मेरा सौभाग्य था। यह संयोग ही कहना चाहिए कि जिस बिजनौर को वो छोड़कर आ गए थे, वहाँ पर उन्हीं के पद पर मेरी नियुक्ति अनायास ही हो गई और मेरे जीवन का स्वर्णिम काल वहीं साहित्य साधना करते बीता। यह भी अनुपम संयोग था कि श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री और डॉ. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जैसे धुरन्धर विद्वानों से अध्ययन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। डॉ. सुदर्शनलाल जी की धर्मपत्नी डॉ. मनोरमा जैन अपने पति की निरन्तर अनुगामिनी रहीं और उनकी सेवा के कारण सुदर्शनलाल जी अब भी बढ़ी उम्र में भी सुदर्शन बने हुए हैं।

डॉ. सुदर्शन लाल जी जिन ऊँचाइयों को छूना चाहते थे, उन सबको छूकर आज भी अनुकूल स्थिति में रहकर

आत्मसेवा और श्रुत-सेवा में लीन हैं। वे मेरे लिए वयोवृद्ध हैं, ज्ञानवृद्ध और धनवृद्ध हैं। वे इसी प्रकार प्रसन्नमुख और सौम्यमुख रहकर प्रगतिशील रहें, इसी भावना के साथ उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ।

डॉ. रमेशचन्द्र जैन
पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर, उ.प्र.
पूर्वनिदेशक- राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)

पण्डित प्रवर को जैसा मैंने अनुभव किया

हमारे पिताश्री के मित्र डॉ. सुदर्शन जी जब बी.एच.यू मे सेवारत थे, तब उस समय केवल यह ध्यान था कि किसी विभागाध्यक्ष के यहाँ जा रहे हैं। पति-पत्नि के आवभगत से अभिभूत, उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों से अवगत कराया, तब ज्ञात हुआ कि हम सौम्य, सरल, मृदुभाषी विद्वान् से मिल रहे हैं।

इसके पश्चात् तो अनेकों बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हर मुलाकात में उन्होंने कभी यह महसूस नहीं होने दिया कि हम बहुत बड़े विद्वान् से मिल रहे हैं। तनिक भी अहङ्कार का आभास नहीं हुआ। मेरी पुस्तक जैन तीर्थ वंदना एवं दर्शनीय स्थल एवं जैन दिगम्बराचार्य प्रेरक सन्त के सङ्कलन में मार्गदर्शन के साथ सदैव प्रोत्साहित करते रहे, जिसके कारण दोनों कृतियाँ स्तरीय बन गईं।

आप विद्वान् के अतिरिक्त अतिथिप्रिय, सर्वहिताय, कुशल प्रवचनकर्ता भी हैं। यह अनुभव हमारे भोपाल प्रवास में हुआ, जब आचार्य श्री विद्यासागर जी का चातुर्मास चल रहा था। आपने स्वयं रात्रि में जाकर लालघाटी स्थित नंदीश्वरदीप मन्दिर में हमारे लिये आवास व्यवस्था की एवं प्रात: भोजन के लिये आमन्त्रित किया। ऐसे सरल, सौम्य विद्वान् का सान्निध्य पाकर हम अभिभूत थे।

राष्ट्रपति एवं अनेक संस्थाओं से सम्मानित एवं पुरस्कृत, अनेक शोध ग्रन्थों के लेखक, पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक, कई कृतियों के अनुवादक, अ.भा. विद्वत् परिषद् के मन्त्री एवं अध्यक्ष, कई संस्थाओं के मन्त्री एवं निदेशक डॉ. सुदर्शन जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली है कि कई साधुसन्त अपनी कृतियों का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन आपसे कराना चाहते हैं।

ऐसे व्यक्तित्व का अभिनन्दन कर हम अल्पज्ञ स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते हैं। आप शतायु हों और समाज को साहित्य के साथ धर्म-प्रभावना का कार्य करते रहें, ऐसी भावना करते हैं।

डॉ. आर. के. जैन
स्टेशन रोड, कोटा

आलोचकों को भी भक्त बनाने की अद्भुत क्षमता

यह बहुत प्रसन्नता का विषय है कि प्रो. सुदर्शन लाल जैन का अभिनन्दन ग्रन्थ उनके 75 वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर प्रकाशित किया जा रहा है। यह उनके द्वारा की गई जैन धर्म एवं संस्कृत-प्राकृत भाषा की सेवाओं को देखते हुए सर्वथा अनुकूल अवसर है।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन के निर्देशन में 40 से अधिक छात्रों ने पी-एच.डी. की उपाधि अर्जित की है। समय-समय पर जैनधर्म पर आयोजित सेमिनारों एवं कान्फ्रेंसों में अपने मौलिक लेखों से विद्वत् समाज में ख्याति प्राप्त की।

आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में 38 वर्षों तक लेक्चर, रीडर एवं प्रोफेसर के रूप में कार्य किया एवं कलासङ्काय के प्रमुख (डीन) पद का सफलता पूर्वक निर्वहन किया।

प्रोफेसर सुदर्शनलाल जी जैन में एक अद्भुत क्षमता थी कि उनके आलोचक भी उनके भक्त बन जाया करते थे एवं आपका निर्बाध रूप से सहयोग करते थे। कला सङ्काय की मीटिंग में एक प्रखर आलोचक को दो मिनट में अनुकूल कर लेने पर सभी विभागाध्यक्ष आश्चर्य-चकित होकर पूछने लगे जैन साहब कौनसा मन्त्र फूँका है।

प्रो. सुदर्शन लाल जी ने अपने तीन पुत्रों एवं एक पुत्री को उस समय के अनुसार सर्वोत्तम शिक्षा दिलाई।

हालांकि कई बार आपकी राह में आर्थिक बाधाएँ भी आईं मगर आपने धैर्य पूर्वक निर्वाह किया। प्रो. सुदर्शन लाल जैन अपने प्रखर व्यक्तित्व के कारण विद्वज्जनों में आदरणीय रहे हैं। जैन समाज काशी द्वारा आपको समय-समय पर जैन दर्शन पर व्याख्यान के लिए निमंत्रित किया जाता रहा है। अपनी लेखनी द्वारा आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो कि भविष्य में 'मील का पत्थर' के रूप में जानी जायेगीं। आपकी संस्कृत-प्राकृत भाषा की सेवाओं के फलस्वरूप ही भारत सरकार द्वारा सन् 2012 में महामहिम राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी द्वारा सम्मानित किया गया। उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ द्वारा भी आपको स्वलिखित ग्रन्थों पर कई बार सम्मानित किया गया।

जिस तरह से हर बड़े व्यक्ति के जीवन में उन्हें सफल बनाने के पीछे किसी न किसी का हाथ होता है, उसी तरह से आपको अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन का हाथ रहा है।

आज डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन के पुत्र डॉ. सन्दीप जैन एवं बहू अर्चना जैन (अमेरिका), संजय कुमार जैन एवं बहू आरती जैन एम.डी. (अमेरिका) एवं पुत्र अभिषेक जैन एवं बहू नीलू जैन एम.बी.ए. (मुम्बई) में कार्यरत हैं। पुत्री डॉ. मनीषा जैन एम.डी एवं अजय जैन एम.सी-एच. भोपाल में डाक्टर के पद पर कार्यरत हैं।

इस प्रकार डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन ने अपने परिवार को बहुत ही साधारण परिवार से होते हुए भी एक अतिप्रतिष्ठित परिवार के रूप में सींचा और बड़ा बनाया।

प्रो. डॉ. नरेन्द्र कुमार सामरिया
सेवानिवृत्त प्रोफेसर, मेकेनिकल विभाग, आई. आई. टी. (बी.एच.यू), वाराणसी

हमारे आदर्श तथा उच्चतर प्रतिमान स्पर्शकर्त्ता

मैं सन् 1969 में श्री शान्ति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय कटनी से वाराणसी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु आया था। कटनी विद्यालय में गुरुजन समय-समय पर उन मेधावी छात्रों की चर्चा करते रहते थे, जो कटनी विद्यालय से प्रारम्भिक शिक्षा पूर्णकर अन्यत्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने चले गये थे अथवा उच्च शिक्षा प्राप्त कर किसी स्थान विशेष में उच्च पदासीन हो गये थे।

उस समय कटनी विद्यालय में स्वनामधन्य श्रद्धेय पं. जगन्मोहनलाल जी यशस्वी प्राचार्य पद पर आसीन थे। वे जब विद्यालय के मेधावी छात्रों की चर्चा करते थे तो प्राय: डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी (वैशाली), श्री नीरज जैन (सतना), डॉ. सुदर्शन लाल जैन (वाराणसी) और डॉ. प्रेम सुमन जैन (उदयपुर) आदि का नाम गौरव के साथ लेते थे और बतलाते थे कि ये सभी छात्र कटनी विद्यालय के हैं तथा उच्च पदों पर आसीन हैं। पूज्य पण्डित जी द्वारा जब इन विद्वानों के नाम सुनते थे तो हृदय में अत्यन्त हर्ष की अनुभूति होती थी और मन में ये विचार आते थे कि हम भी उन्हीं विद्वानों जैसी उच्च शिक्षा प्राप्तकर आगे बढ़ें, क्योंकि इन विद्वानों के प्रति मन में अपार आदरभाव तो था ही, साथ ही ये हमारे आदर्श भी थे।

स्याद्वाद् महाविद्यालय के समीप में ही डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन सपरिवार निवास कर रहे हैं, ऐसा जानकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ और एक ही गुरु श्रद्धेय पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के शिष्य होने के कारण आदरणीय भाई साहब डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन से धीरे-धीरे निकटता बढ़ती गई और मैं आदरणीय भाईसाहब एवं भाभी जी श्रीमती मनोरमा जैन का स्नेहपात्र कब बन गया ? मुझे ज्ञात न हो सका। हाँ सुख-दु:ख में हम लोग एक-दूसरे का सहयोग अवश्य करने लगे।

यद्यपि डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक और मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अदना सा छात्र, किन्तु एक ही गुरु के शिष्य होने के कारण प्राध्यापक और छात्र की दूरियाँ प्राय: कम होती गईं और वे मुझे छोटे भाई की तरह स्नेह देने लगे और मैं उन्हें बड़ा भाई जैसा सम्मान देने लगा।

मेरे भाग्य ने पलटा खाया और श्रद्धेय गुरुवर्य सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, श्रद्धेय प्रो. उदयचन्द्र जी जैन आदरणीय भाई साहब डॉ. कोमलचन्द्र जी जैन एवं आदरणीय भाईसाहब डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन आदि के आशीर्वाद एवं मङ्गलकामनाएँ फलीभूत हुईं और मेरी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान

संङ्काय के अन्तर्गत जैन-बौद्धदर्शन विभाग में प्राध्यापक के पद पर हो गई।

'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' के आधार पर हम दोनों में निकटता तो बढ़ी ही, पारिवारिक सम्बन्ध भी दृढ़ से दृढ़तर होते गये। दूसरी ओर डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन लेक्चरर से रीडर तथा रीडर से प्रोफेसर बन गये और वे संस्कृत विभाग के दो बार अध्यक्ष भी बने। इतना ही नहीं वरिष्ठता के आधार पर वे कलासङ्काय के सङ्काय प्रमुख भी बने और सङ्काय प्रमुख होने के कारण अनेक विभागों के अध्यक्ष भी बने।

इस प्रकार उन्होंने उत्तरोत्तर अनेक पदों को सुशोभित तो किया ही, साथ ही उनके निर्देशन में करीब चार दर्जन पी-एच.डी. छात्र भी निकले, जो आज अनेक उच्च पदों पर आसीन हैं तथा उनका निरन्तर यशोगान कर रहे हैं। सन् 2006 में आपने विश्वविद्यालय की सेवाओं से अवकाश प्राप्त कर लिया है और अब स्वान्तः सुखाय अपने घर भोपाल में लेखनादि कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

आपने प्रारम्भ से ही अनेक मौलिक ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एवं अनुवाद आदि करके माँ सरस्वती के भण्डार की श्रीवृद्धि की है। फलस्वरूप आप राष्ट्रपति सम्मान से पुरस्कृत हैं।

मेरा सौभाग्य यह है कि मुझे भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में क्रमशः लेक्चरर से रीडर, रीडर से प्रोफेसर और जैन बौद्ध दर्शन विभाग का विभागाध्यक्ष बनने का अवसर मिला है तथा अल्पकाल के लिये संस्कृतविद्या धर्म विज्ञान सङ्काय का सङ्काय प्रमुख बनने का भी अवसर मिला। मेरी इन सब उपलब्धियों में आदरणीय भाईसाहब डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन की महती भूमिका रही है। उनका सतत स्नेह एवं आशीर्वाद अब भी मेरे साथ है। इन सबके लिये मैं आदरणीय भाईसाहब का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

एक बात और आ.भाई सा. की धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन ने मेरे निर्देशन में राजमल्ल कृत पञ्चाध्यायी पर शोधकार्य करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है, इसमें उनका पुरुषार्थ फलीभूत हुआ है। मैं तो निर्देशक के रूप में एक निमित्त मात्र बना। इस शोध प्रबन्ध पर श्रीमती मनोरमा जैन को अनेक राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं ने पुरस्कृत भी किया है, जो निश्चय ही अध्ययन के प्रति उनकी लगन और रुचि का परिणाम है।

अभिनन्दनीय का अभिनन्दन एक सुखद अनुभूति कराता है। अतः डॉ. सुदर्शन लाल जी जैन के सम्मान में प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु मैं अन्तःकरण से अपनी मङ्गलकामनाएँ प्रेषित करता हूँ और भावना भाता हूँ कि आदरणीय भाईसाहब एवं भाभी जी सपरिवार निरन्तर उच्च से उच्चतर प्रतिमानों का स्पर्श करते रहें तथा हमारे आदर्श के रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहें।

डॉ. कमलेश कुमार जैन
पूर्वप्रोफेसर,जैनबौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, बी.एच.यू., वाराणसी

विद्वत्ता, धर्मवत्सलता और उदारता का संगम

बुंदेलखंड की सस्यश्यामला वसुन्धरा ने अनेक रणबांकुरों को जन्म दिया है, वहीं अनेक बुंदेली कवियों, साहित्यकारों को भी आश्रय प्रदान किया है। इसी श्रृंखला में सर हरिसिंग गौर जैसे विधि वेत्ताओं, लेखकों को भी समलंकृत किया है। पूज्य श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैसे समाज सुधारकों एवं शिक्षा जगत् के महनीय कार्य करने वाली महान् विभूतियों को भी संरक्षण प्रदान किया है।

इसी उर्वरा वसुंधरा में ही सागर जिले के मंजुला ग्राम में मातुश्री स्व. सरस्वती देवी की कुक्षी से इस बालक का जन्म हुआ। पर कुछ समय बाद ही उन्हें अपनी मातु श्री का दुलार प्यार प्राप्त नहीं हुआ और वे इन्हें अकेला छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं। पिता जी की छाया एवं लाड प्यार में इनका पालन पोषण हुआ। बढ़ते हुए समय के साथ-साथ आप भी बढ़े एवं ज्ञान-प्राप्ति हेतु आपके पूज्य पिता श्री सिद्धेलाल जी ने इन्हें श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय में पढ़ने भेज दिया। प्रतिभा सम्पन्न, लगनशील परिश्रमी आपने ज्ञानाराधना में अत्यन्त रुचि के साथ ज्ञानोपार्जन किया तथा हमेशा उच्च स्थान प्राप्त किया। यह क्रम निरन्तर बढ़ता ही चला गया। इसके पश्चात् श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। अपने वैदुष्य के कारण आपने पी-एच.डी. की

उपाधि प्राप्त की एवं अध्ययन के दौरान अनेक साहित्यिक पुरस्कारों से अपने आपको गौरवान्वित किया। 'होनहार विरवान के होत चीकेन पात' इस उक्ति के अनुसार आपने अपनी वाक् कला लेखन-कला का उत्कृष्ट प्रसाद सभी को वितरित किया व जीवन में 'चरैवेति चरैवेति' इसका निरन्तर पालन किया और विद्या के क्षेत्र में अनेक नए कीर्तिमान स्थापित किए।

उदार व्यक्तित्व - श्री डॉ. सुदर्शनलाल जी अत्यन्त उदार व्यक्तित्व के धनी हैं। अत: आपने अपने वैदुष्य का लाभ सहस्रों छात्रों में वितरित किया। आप स्वयं गरीबी के अभिशाप से त्रस्त रहे, अत: आपने जीवन में उसकी पीड़ा का अनुभव किया था। अत: आप में 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त मुखर था ,उसी के फलस्वरूप आपने सैकड़ों गरीब छात्रों को विभिन्न छात्रवृत्तियाँ प्रदान कराईं तथा स्वयं अपने पास से उनकी आर्थिक मदद की। उन्हें पुस्तकें, वस्त्र आदि भी प्रदान किए।

जैन वाङ्मय के अध्येता, त्यागियों, व्रतियों को भी आपने स्वयं पढ़ाया तथा उनकी आहारचर्या की भी व्यवस्था कराई।

गुणाः गुणेषु गुणाः भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्य तोयः प्रवहन्ति नद्याः, समुद्रमासाद्य भवत्यपेयाः।।

गुणवानों के सान्निध्य में रहकर निर्गुणता पलायन कर जाती है। तदनुरूप आपके आचरण से सामान्य व्यक्ति भी गुणी बन जाता है। आपकी सहृदयता, विशालता, उदारता एवं कर्मवत्सलता का एक उदाहरण देखिए- आपने श्री अर्हन्त गिरि के भट्टारक स्वामी जी को समुचित मार्गदर्शन दिया एवं उन्हें जैनधर्म की सर्वोच्च उपाधि प्रदान कराई। अनेक शोधार्थियों की भरपूर सहायता की जो आज अनेक पदों पर पदासीन हैं। कुंथुगिरि की तीर्थयात्रा में मेरे सामने छात्रों को अपनी ओर से ग्यारह हजार रुपये दान दिए। विद्वत्शास्त्रीपरिषद् से प्राप्त पुरस्कार उसी संस्था को वापस दे दिया। गुणायतन को भी 51 हजार दान दिए। इस तरह दान करते रहते हैं।

40 से अधिक छात्रों को पी-एच.डी. कराई, आपके वैदुष्य में एक नया आयाम जब जुड़ा जब आपने आचार्य श्री विद्यासागर महाराज जी से 'मिथ्यात्व अकिंचित्कर है' विषय पर गहन विचार कर सभी की शंकाओं को समूल रूपेण दूर कराया।

आपने महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणवमुखर्जी के कर-कमलों से राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त कर समूचे विद्वत् समुदाय में अपनी यशोपताका फहराई और कीर्ति का नया अध्याय जोड़ा।

प्रसिद्ध साहित्यकार - अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है, मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।

आपने अपनी प्रशस्त लेखनी द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन, संस्कृत प्रवेशिका, प्राकृत दीपिका आदि कई पुस्तकों का लेखन एवं मुनिसुव्रत काव्य, तर्कसंग्रह, कर्पूरमंजरी आदि का अनुवाद कर माँ सरस्वती के भंडार की श्रीवृद्धि की। अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन-प्रकाशन किया।

वर्तमान में संस्कृत बोलना समझना आकाश में तारे तोड़ना जैसा दुष्कर कार्य है पर आप जैसे सिद्ध-सारस्वत ने आकाशवाणी से संस्कृत वार्तायें भी प्रकाशित कराकर विद्वत्ता की अमिट छाप सबमें छोड़ी। प्रशस्त एवं उदार व्यक्तित्व के धनी एवं बुंदेली माटी के इस सपूत ने जैन जगत् में अपनी अलग पहचान बनाई। अपने सम्पूर्ण पुत्रों, पुत्रियों एवं पत्नी को भी पढ़ा लिखाकर सुयोग्य बनाकर उच्च पदों पर आसीन कराया। आप सभी के आदर्श हैं। आपका व्यक्तित्व कर्मठता का सन्देश देता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।।

तथा **परेषां हिताय सतां विभूतयः** के आदर्श एवं यथार्थ से ओतप्रोत सभी के आदर्श, विद्वत् वर्ग में समादरणीय सम्मानीय श्री डॉ. सुदर्शनलाल जी के प्रति में प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि आप निरोगी रहें, सुखी रहें एवं विद्वानों के प्रेरणास्रोत बने रहें। शतायु हों आपका जीवन मङ्गलमय हो।

पं. खेमचन्द जैन
प्राचार्य, श्रीऋषभदेव विद्वत् महासङ्घ, जबलपुर

अनेक प्रज्ञाओं के संगम

राष्ट्रपति सम्मान से अलंकृत, विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन विद्वज्जगत् के एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। आप अनेक प्रज्ञाओं के संगम हैं। आप संस्कृत-प्राकृत भाषाओं तथा उनमें रचित साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् एवं सुदक्ष विश्वविद्यालयीन प्राध्यापक हैं। आप एक मँजे हुए लेखक, शोधकर्त्ता, शोधनिर्देशक एवं प्रभावोत्पादक वक्ता हैं।

आपकी विद्वत्ता, धर्मानुरागता एवं श्रुतज्ञता के फलस्वरूप देश के सभी विद्वान्, साहित्यकार, निर्ग्रन्थ आचार्य, मुनिराज एवं आर्यिका माताएँ आपसे सुपरिचित हैं। आपने भारत के सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन विद्यापीठ 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी' में 38 वर्षों तक लेक्चरर, रीडर एवं प्रोफेसर के रूप मं संस्कृत का अध्यापन किया है। साथ ही विभागाध्यक्ष एवं कला सङ्काय प्रमुख (डीन) के उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। आपके विद्वत्तापूर्ण कुशलनिर्देशन में 44 शोधार्थी पी-एच.डी. उपाधि से विभूषित हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में भी आप निदेशक पद पर आसीन रहे हैं।

आपका ज्ञानक्षितिज बहुत विस्तृत है। उसका परिचय आपकी विविध उपाधियाँ ही दे देती हैं। एम. ए. (संस्कृत), पी-एच.डी., जैनन्यायतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री एवं जैनबौद्धदर्शनशास्त्री, उपाधियों की यह कतार प्रो. सुदर्शनलाल जी के बहुमुखी ज्ञान और अध्ययन का उद्घोष करती हैं। अनेक मौलिक कृतियों के कर्त्तृत्व, सम्पादन, शताधिक शोधलेखों के आलेखन एवं प्रभावोत्पादक व्याख्यानों के द्वारा आपने अपने अगाध वैदुष्य का परिचय दिया है। आपने अपने व्याख्यानों के द्वारा न केवल भारत में, अपितु अमेरिका, सिंगापुर आदि विदेशों में भी जैन सिद्धान्तों की महती प्रभावना की है। आपके इस विशिष्ट साहित्यिक अवदान एवं संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के संरक्षण संवर्द्धन के लिए किये गये महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए आपको भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी द्वारा राष्ट्रपति-सम्मान से सम्मानित किया गया है।

आपकी नैतृत्व-क्षमता भी श्लाघनीय है। आपने अखिल भारतवर्षीय दि.जैन विद्वत्परिषद् के महामन्त्री तथा उपाध्यक्ष पद के उत्तरदायित्वों को अतिदक्षतापूर्वक निभाते हुए विद्वानों की गरिमावृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। जैन सिद्धान्तों एवं जैन जीवनपद्धति के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु आपके द्वारा अनेक राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय विद्वत्सङ्गोष्ठियों का प्रभावी संयोजन किया गया है।

इस बौद्धिक व्यक्तित्व की श्रेष्ठता के साथ भावात्मक व्यक्तित्व की श्रेष्ठता भी आपके यश की वृद्धि करती है। आप अत्यन्त निरभिमानी एवं मृदुहृदय पुरुष हैं। आप सदा दूसरों का उपकार करने में तत्पर रहते हैं। आप सच्चे अर्थों में अभिनन्दनीय हैं। आपका अभिनन्दन प्रत्येक विद्वान् का अभिनन्दन है। आपके अभिनन्दनार्थ वीतरागवाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहा है। अत: वह भी अभिनन्दनीय है। मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ।

प्रो. रतन चन्द्र जैन
पूर्व आचार्य- बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

आत्मीय सुहृद् आप बहुत याद आते हो

मुझे कुछ दिनों पहले संकेत मिला था कि डॉ. सुदर्शन लाल जैन के सम्मान में एक भव्य समारोह के बीच अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाना है। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। कारण ? प्रात: स्मरणीय पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी द्वारा स्थापित स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी घाट, वाराणसी में अध्ययन करने वाले छात्रों के साथ हम दोनों सहपाठी और साथी थे। अतएव समस्त 'भूत' मानस-पटल पर छा गया। मुझे लगा कि अब पीछे मुड़कर यात्रा किये बिना कुछ भी संभव नहीं है। यात्रा के लिए साधन चाहिए और कुछ नहीं तो, स्वस्थ शरीर तो होना ही चाहिए। कहा भी गया है - 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। क्या कहें ? शरीर तो जर्जर हो गया है। सोचने में ही सही देखने में भी सफर लम्बा तो है ही। एक ओर महान् विद्वान् सहपाठी ही नहीं डॉ. जैन मेरे लिये आत्मीय सुहृद भी हैं। जिन्हें ऐसे शुभावसर पर मैं

अपनी मङ्गलकामनाएँ प्रेषित करना चाहता हूँ। वाराणसी अध्ययनकाल की यादों का सफर तय करने के लिए भी प्रथमत: शरीर तदोपरान्त मानस् भी स्वस्थ हो। यादें तो एक-दो नहीं अनेक हैं। फिर भी तारतम्य से सजाना भी आसान नहीं है।

दरअसल हमारी कक्षा के ये निर्विवाद सहिष्णु विद्यार्थी थे। पूज्य वर्णी जी महाराज ने स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री को 'विद्यालय का प्राण' कहा था। उनसे लेकर अन्य समस्त गुरुजनों द्वारा इनकी सराहना की जाती थी। वाराणसी के श्रेष्ठतम विद्वान् पंडित हमारे महाविद्यालय में अध्यापन करते थे। पं. भोलानाथ पाण्डेय, पंडित दिवाकर जोशी, पंडित अमृतलाल जैन शास्त्री, पं. बालचन्द्र जैन शास्त्री आदि। एक नैयायिक गुरु जी पंडित सूर्यनारायण उपाध्याय हम सबको प्रिय थे। उन्होंने स्नेह से सुदर्शन लाल जी का अपर नाम भिक्खू रख रखा था। अगर किसी दिन उन्हें सुदर्शनलाल जी नहीं दिखते थे, तो पूछते - प्रेम आज भिक्खू नहीं दिखा...। हम लोग भी इनकी सहजता और सहिष्णुता से हैरान हो जाते थे। हम लोगों की कड़वी बातें भी इनकी मुस्कान को प्रभावित नहीं कर पातीं थीं। इनका एक विशेष गुण था कि ये गुरुजनों, विद्वानों और शिक्षकों के कुछ समय में ही स्नेह भाजन बनने में सफल रहते थे जो आज भी विद्यमान है। सहपाठियों में मैं इनका प्रशंसक था। आज भी हूँ।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि सहपाठी के साथ एक लम्बी अवधि का समय बीता है। अत: अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो उनके विवेक एवं सहिष्णुता से सम्बन्धित हैं। उन सबके विवरण खंगालने के लिए पचास वर्ष पीछे का सफर तय किये बिना संभव नहीं है। एक ओर मेरी स्वास्थ्य सम्बन्धी असमर्थता और दूसरी ओर -

न, माँझी, न रहवर, न हक में हवाएँ हैं, कश्ती भी जर्जर - यै कैसा सफ़र है ?
अलग ही मजा है फकीरी का अपना, न पाने की चिन्ता, न खोने का डर है।।

डॉ. जैन मेरे सहपाठी मात्र न होकर मेरे मित्र भी हैं। यानी ''पापान्निवारयति योजयते हिताय...'' वाले सन्मित्र। सच्चे मित्र के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु का कथन है, 'सच्चे मित्र हीरे की तरह कीमती और दुर्लभ होते हैं, झूठे दोस्त पतझड़ की पत्तियों की तरह हर जगह मिल जाते हैं।' आप जानते हैं ऐसे सच्चे मित्र जीवन के हर मोड़ पर याद आते हैं।

डॉ. सुदर्शन लाल जी जब पी-एच.डी. कर रहे थे। तब उन्हें श्री पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी की अच्छी स्कालरशिप मिल रही थी। शोध-संस्थान में ही आपको एक क्वाटर एलॉट था। वहाँ आपने सपत्नीक रहते हुए बड़ी निष्ठा एवं लगन से निर्धारित अवधि में शोध सम्पन्न किया और उपाधि प्राप्त की। इनकी धर्मपरायणा विदुषी पत्नी का इनके अध्ययन में निर्वाध योगदान का मैं साक्षी हूँ।

कुछ समय बाद ही ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता बने। इसके बाद तो इन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। अनेक कीर्तिमान स्थापित किये। सम्मान एवं पुरस्कार भी अनेक जैन संस्थान तथा विश्वविद्यालयों से मिलते रहे। एक लब्धप्रतिष्ठित राष्ट्रीय सम्मान भारत गणराज्य के राष्ट्रपति के करकमलों से इन्हें प्राप्त हो चुका है। अब आप ही बताइये ऐसे सुख्यात मित्र को एक और अभिनन्दन ग्रन्थ तथा सम्मान दिये जाने पर किसे आह्लाद नहीं होगा ? मैं अत्यधिक प्रसन्न एवं आनन्दित हूँ। अतएव में डॉ. साहब एवं इनकी विदुषी पत्नी डॉ. मनोरमा जैन के निरोगी दीर्घायुष्य की मङ्गलकामनाएँ और सद्भावनाएँ प्रेषित करता हूँ। सहपाठियों तथा मित्रों की अनेकानेक अविस्मरणीय यादें हैं। उनमें कुछ दोस्त बहुत याद आते हैं फिर तो आप आत्मीय सुहृद हो। हिन्दी साहित्य के कवि डॉ. हरिवंशराय बच्चन की एक लम्बी कविता है, उसकी कुछ पक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ -

मैं यादों का किस्सा खोलूँ तो, कुछ दोस्त बहुत याद आते हैं।
मैं गुजरे पल को सोचूँ तो, कुछ दोस्त बहुत याद आते हैं।
कुछ बातें थी फूलों जैसी, कुछ लहजे खुशबू जैसे थे।
मैं शहरे चमन मैं टहलूँ तो, कुछ दोस्त बहुत याद आते हैं.....।।

आप जैसे सुहृत (आत्मीय) बहुत याद आते हैं। कोटिश: शुभकामनाएँ, यादें स्वीकारेंगे। आभारी रहूँगा।

डॉ. प्रेमचन्द्र जैन
नजीबाबाद

हमारे अग्रजकल्प आदरणीय भाईसाहब

मुझे कटनी के श्री शान्ति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय में सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रद्धेय पं. जगन्मोहन लाल जी सिद्धान्त शास्त्री के पास पढ़ने का सौभाग्य मिला। श्रद्धेय पं. जी प्रो. सुदर्शन लाल जी के भी गुरु रहें हैं। उस समय कटनी विद्यालय के पूर्वछात्र श्री सुदर्शन लाल जैन जी एवं प्रेमसुमन जी उच्चशिक्षा हेतु वाराणसी स्थित स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे। इन दोनों की हम छात्रों के मध्य आदर्श छात्र के रूप में चर्चा होती थी। पूर्वमध्यमा के बाद हम चार छात्रों के साथ स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी उच्च शिक्षा हेतु आए तो आते ही कटनी के पूर्वोक्त दोनों पूर्व विद्वान् छात्रों से मिलकर अच्छा स्नेह और मार्गदर्शन प्राप्त किया। वाराणसी जैसे बड़े शहर में रहकर आगे बढ़ते रहने में इनका मार्गदर्शन अच्छा सम्बल साबित हुआ।

स्नातकोत्तर के बाद श्रद्धेय पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री के परामर्शानुसार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ही डॉ. सुदर्शनलाल जी के निर्देशन में मूलाचार जैसे श्रमणाचार परक प्राकृत के प्राचीन शास्त्र पर शोधकार्य करने लगा। शोधकार्य हेतु गणेश वर्णी दि. जैन शोध संस्थान नरिया, वाराणसी के संस्थापक पं. फूलचन्द्र जैन जी ने आर्थिक सहयोग देने का आश्वासन दिया। किन्तु कुछ समय बाद कुछ बाधाओं के कारण प्रो. सुदर्शन लाल जी के परामर्श एवं सहयोग से उसी विषय पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक डॉ. मोहन लाल जी मेहता के निर्देशन में शोधकार्य हेतु पंजीयन करा लिया। फिर भी मुझे आदरणीय भाई साहब का प्रोत्साहन मिलता रहा। संयोग से सन् 1997 में मेरी नियुक्ति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के जैनदर्शन विभाग में प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष के रूप में हो गई। प्रो. सुदर्शन लाल जी मेरी रीडर और प्रोफेसर की नियुक्ति में एक्सपर्ट थे और उन्होंने मेरी नियुक्ति में सहयोग किया। आपकी विदुषी धर्मपत्नी एवं मेरी भाभी श्रीमती डॉ. मनोरमा जैन एक अच्छी धार्मिक गृहिणी हैं। जब मैंने देखा आ. भाभी जी बी.ए. उत्तीर्ण हैं, तब मैंने अपने विभाग से जैनदर्शन से आचार्य की पढ़ाई हेतु प्रेरित किया। तब उन्होंने जैनदर्शनाचार्य कक्षा में स्वर्णपदक के साथ उत्तीर्णता प्राप्त की। यह उनके अदम्य साहस और विद्या के प्रति निष्ठा का ही प्रतीक है। वे यहीं तक नहीं रुकीं अपितु पी-एच.डी. की उपाधि बी.एच.यू. से प्राप्त कर ली।

आदरणीय भाई साहब हर दृष्टि से बड़े भाग्यशाली हैं कि उन्होंने शैक्षणिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में विशिष्ट पदों को प्राप्त किया। शास्त्रों के ज्ञान के प्रति लगाव से ही आप मात्र जैनदर्शन तक ही सीमित नहीं रहे अपितु अन्य भारतीय दर्शन के शास्त्रों में एवं प्राकृत, पालि, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं एवं इनके साहित्य में भी आपने दक्षता प्राप्त की। आपने अपने पूरे परिवार को सुनियोजित तो किया ही है, साथ ही आपके अनेक छात्र आज अच्छे पदों पर अपनी सेवायें दे रहे हैं। आपको राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया जा रहा था, तब हमें भी सपरिवार राष्ट्रपति भवन में उस सम्मान में साक्षी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। क्योंकि मेरे पुत्र डॉ. अनेकान्त को भी उसी समय बादरायण पुरस्कार मिला था। ऐसे महनीय वरिष्ठ विद्वान् के अभिनन्दन ग्रन्थ के अवसर पर हम अपने पूरे परिवार की ओर से आपके यशस्वी जीवन एवं दीर्घायुष्य की मङ्गलकामना करते हैं।

प्रो. डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी
पूर्व जैनदर्शन विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
पूर्व अध्यक्ष, अ.भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्

यशस्वी विद्वान् एवं शिक्षाविद्

'प्रश्नोत्तरमाला' में किसी जिज्ञासु के द्वारा पूछे गये दो प्रश्नों - (1) 'मातेव का' या 'सुखदा का'? तथा (2) ॐ किमेधते दानवशात् ? के उत्तर एक ही शब्द में दिए गये- 'सुविधा'। यह सत्य है कि विद्या मनुष्य के लिए एक अविनाशी निधि है। उसके सामने धन-सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। माता के समान सुख देने वाली तथा दानों देते रहने पर भी सदा-सदा बढ़ती रहने वाली 'सुविधा' एक दुर्लभ वस्तु है। विद्या-विमुख व्यक्ति को आदर का पात्र नहीं माना जाता। इसलिए कहा गया है - 'ज्ञानं नरा भव्यतमा वहन्ति' अर्थात् भव्यतम पुरुष ही ज्ञान को धारण कर पाते हैं, अहित से बचने के लिए विद्या को संजीवनी कहा गया है।

आज से सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व समाज में विद्वानों का अभाव था। गाँव या शहर में यदि कोई बालक मिडिल कक्षा की परीक्षा पास करके आ जाता तो सभी लोग उसकी प्रशंसा करते, सर्व श्री गणेशप्रसाद वर्णी, पण्डित गोपालदास वरैया, महात्मा भगवानदीन आदि ने जब धर्म-समन्वित उच्च लौकिक शिक्षा का महत्त्व बताया, तब हमारे उस समय के पूर्वजों के मन में अपने बाल-गोपालों को पढ़ाने की लगन लगी। मोरेना, वाराणसी, हस्तिनापुर आदि में स्थापित विद्यालयों से पढ़कर अनेक विद्वान् बनने लगे। आज जो घर-घर में धर्म-चर्चा सुनाई देती है, इसका श्रेय इन्हीं विद्यालयों को जाता है।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन का व्यक्तित्व स्वनिर्मित है, उनकी माँ तो उन्हें जन्म देकर दसवें माह ही स्वर्ग सिधार गईं थी। पूज्य पिताश्री प्रायमरी स्कूल में शिक्षक थे। उनकी इच्छा थी कि बालक सुदर्शनलाल भी कम से कम इतना तो पढ़ ही ले कि वह प्रायमरी स्कूल में शिक्षक बनकर आजीविका चला सके, किन्तु सुदर्शनलाल के प्रारब्ध में तो उच्च कोटि का प्राध्यापक बनना लिखा था, पूर्व जन्म के संस्कार और इस जन्म के प्रबल पुरुषार्थ से आज जैन-जगत के वरिष्ठतम विद्वानों में उनकी गणना की जाती है।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन अनेक कृतियों के लेखक और सम्पादक हैं। 44 शोधार्थी उनके कुशल निर्देशन में डाक्टरेट की डिग्रियाँ प्राप्त कर विद्वत्परम्परा की श्री-वृद्धि कर रहे हैं। डॉक्टर साहब ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवक्ता, रीडर और प्रोफेसर के रूप में 38 वर्षों की सुदीर्घ सेवाओं के बाद 30 जून 2006 को सम्मानपूर्वक अवकाश प्राप्त किया है। उनके सुपुत्र, पुत्रवधु, पुत्री और दामाद भी उच्च शिक्षा प्राप्त हैं। कुछ देश में और कुछ विदेश में सेवारत हैं। एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत एवं सुरुचिसम्पन्न परिवार का मुखिया होना उनके पुष्य का सूचक है।

अनेक पदवियाँ, उपाधियाँ और पुरस्कार उनके कण्ठहार बनकर गले की शोभा बढ़ाते रहे हैं। आज इस बढ़ती उम्र में भी अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षिक संस्थाओं से सम्बद्ध रहते हुए वह **'यः क्रियावान् सः पण्डितः'** की उक्ति को सार्थक कर रहे हैं। युगनायक परमपूज्य आचार्य प्रवर श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित यह दोहा उनके बारे में बड़ा ही सटीक है -

कल्पवृक्ष से अर्थ क्या, कामधेनु भी व्यर्थ है।
चिन्तामणि को भूल जा, सन्मति मिले समर्थ।।

सन्मति प्रदायिका विद्या-निधि जिसे प्राप्त है, उसके लिए कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि की कोई आवश्यकता नहीं है।

राष्ट्रपति-सम्मान से अलंकृत विद्वद्वरेण्य डॉ. सुदर्शनलाल जैन के अमृत महोत्सव वर्ष में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर उनके कराम्बुजों में समर्पित करने का संकल्प सराहनीय है। इसके लिये वीतराग वाणी ट्रस्ट तथा ग्रन्थ के यशस्वी प्रधान सम्पादक प्रतिष्ठाचार्य पण्डित विमल कुमार जैन सोंरया की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। सिद्ध-सारस्वत डॉ. साहब के स्वस्थ, सुखी एवं सुदीर्घ जीवन के लिए हमारी शतशः मङ्गल कामनाएँ।

प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन
पूर्व अध्यक्ष अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद्, फिरोजाबाद

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन- एक साक्षात्कार

1. डॉक्टर साहब आपके साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक जीवन यात्रा के समग्र व्यक्तित्व को दर्शाने वाला अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। आप कैसा अनुभव कर रहे हैं ?

उत्तर - मैं भाई प्रतिष्ठाप्रज्ञ विमल सोंरया जी का प्रेम मानता हूँ जिन्होंने मुझे इस बावत बार-बार प्रेरित किया। इसके साथ आप सभी मित्रों का प्रेम पाकर हर्षित हूँ। यह मेरा नहीं एक विद्वान् का अभिनन्दन है। मैं तो उपलक्षण हूँ।

2. बुंदेलखंड की धरा जिसने देश/समाज को अनेकानेक विद्वान्, साहित्यकार, चिंतक और आत्मसाधना में रत अनेक साधकों को जन्म दिया। उस मातृभूमि के प्रति आपकी क्या अनुभूतियाँ हैं ?

उत्तर - बुंदेलखंड की धरा बड़ी उर्वरा शक्ति सम्पन्न है जिसने अनेक विद्वानों, आत्मसाधकों को जन्म दिया। आचार्य विद्यासागर जी ने संभवत: इसीलिए इस धरा को अपनी साधना स्थली बनाया। मैं इसे प्रणाम करता हूँ।

3. जीवनक्रम में आपको अनेक पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कुछ संस्मरण बतायें जो आपके व्यक्तित्व को जीवंत बनाते चले गए ?

उत्तर - आपका कथन सही है। जीवन में कठिनाइयाँ न आये तो कोई कैसे उचाईयाँ प्राप्त कर सकता है। सोना तपकर ही शुद्ध होता है। मातृवियोग के बाद तो मानो मेरा जीवन निरर्थक सा हो गया था परन्तु भाग्य और पुरुषार्थ ने मुझे ऊपर उठाया। मेरे जीवन में अनायास किसी न किसी ने सहायता की है। जैसे बड़े सुपुत्र को पोलियो होने पर, वायपास आपरेशन होने पर, इसी प्रकार विभागाध्यक्ष द्वारा 'नो ड्यूज' न देने पर कुलपति प्रो. पंजाब सिंह जी द्वारा 'नो ड्यूज' करना आदि। विशेष मेरी जीवन यात्रा में देखें।

4. प्रोफेसर साहब विरले लोग होते हैं जो जीवन के विकास-क्रम के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचते हैं। आप उनमें से एक हैं। इस उपलब्धि पर आप किन-किन को स्मरण करेंगे।

उत्तर - माता-पिता, गुरु और मित्र। 'सिद्ध-सारस्वत' में सब निहित है। **सिद्ध**- सिद्ध, अर्हन्त, पिता सिद्धेलाल, गुरु सिद्धेश्वर, सारस्वत-माँ सरस्वती, जिनवाणी आदि। पं. जगन्मोहन लाल जी, पं. कैलाश चन्द्र जी, डॉ. कमलेश चन्द्र, प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पं. दयाचंदजी, पं. मूलशंकर शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य पं. विमल कुमार सोंरया जी, प्रो. पंजाबसिंह आदि।

5. भारतीय संस्कृति विशेषकर संस्कृत साहित्य और जैन साहित्य में आपका महनीय योगदान है। इस साहित्यिक यात्रा के कुछ प्रमुख बिन्दुओं को बताएँ ?

उत्तर - मेरा साहित्यक अवदान ही इसका उत्तर है। विशेषकर तुलनात्मक और वैज्ञानिक चिन्तन करना सरल और तर्क पद्धति की शैली से करना।

6. आप लंबे समय तक देश के गौरवशाली काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में विभिन्न पदों पर कार्यरत रहे और अपने उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहन किया। कुछ यादगार अनुभव ?

उत्तर - विरोधियों का धैर्यपूर्वक सामना करना। अपने को सकारात्मक बनाये रखना। ईश्वर का ध्यान करना और मानवीय आचरण से च्युत न होना। 'प्रमुख घटनायें और योगदान' जीवन यात्रा में देखें।

7. इसी कड़ी में एक सवाल और उठ रहा है ? आपने विद्वानों की तीन पीढ़ियाँ देखी हैं। पं. कैलाशचंद जी, पं. फूलचंद जी आदि वाली परम्परा, फिर डॉ. श्रेयांस कुमार, डॉ. जयकुमार आदि वाली परम्परा और डॉ. पंकज कुमार, डॉ. सुनील कुमार सञ्चय आदि वाली परम्परा आपको क्या परिवर्तन दिखाई दे रहा है ?

उत्तर - मैं अपने से पूर्ववर्ती, समवर्ती और उत्तरवर्ती तीनों परम्पराओं को देख रहा हूँ। पूर्ववर्ती परम्परा में जिनवाणी की सेवा प्रमुख थी। समवर्ती पीढ़ी में जिनवाणी की सेवा के साथ धनोपार्जन भी मुख्य हो गया। परवर्ती पीढ़ी में जिनवाणी पर ऊहापोह चालू हो गया जिससे अन्वेषण की प्रक्रिया आ गई। धनोपार्जन और यशोपार्जन की लालसा बढ़ गई, फिर भी जिनवाणी पर श्रद्धा है।

8. डॉक्टरसाहब श्रमण और श्रावक के बीच की कड़ी के रूप में विद्वान् जाना जाता था पर आज वह बात नहीं रही, क्या कारण है ?

उत्तर – जैसाकि मैंने वर्तमान पीढ़ी की मानसिकता पर आपके सातवें प्रश्नोत्तर में कहा है, वही कारण मुख्य है। समाज में विद्वानों के प्रति आदर घट रहा है मुनियों के प्रति श्रद्धा के साथ अंधश्रद्धा भी है जिससे शिथिलाचार भी कहीं कहीं पनपने लगा है। गृहस्थाश्रम को घोराश्रम कहा गया है। विद्वान् ही श्रमण-श्रावक के मध्य सेतु का कार्य कर सकता है परन्तु विद्वानों में भी अब शिथिलाचार आने लगा है।

9. देव शास्त्र गुरु पर आपकी अटूट श्रद्धा है आज साधु वर्ग में शिथिलाचार की घटनायें बढ़ती दिखाई दे रहीं हैं। एकल विहार जैसी समस्या दिनोंदिन बढ़ रही है इस सम्बन्ध में आप क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर – एकल विहारी पर प्रतिबन्ध हो। भौतिक सुख-सुविधा भोगी श्रमणों का बहिष्कार हो। मूलाचार का पालन हो। स्त्रियों से पुरुषों की और पुरुषों से स्त्रियों की दूरी हो। यद्यपि ये चतुर्थकाल नहीं है, संहनन हीन है फिर भी मूल भावना रहना चाहिए। आज साधु नगरों में रह रहा है। प्रशासनिक और सामाजिक वातावरण भी दूषित हो रहा है। अत: केवल साधु दोषी नहीं है। हम श्रावक ही उन्हें सुविधायें देकर शिथिलाचारी बना रहे हैं।

10. देश के सर्वोच्च नागरिक राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कार मिलना एवं अन्य पुरस्कार आपके जीवन की अनमोल निधि हैं। इन यादगार पलों को आपने अपनी स्मृति में कैसे संजोया ?

उत्तर – अप्रत्याशित व अज्ञात पुरस्कार था मेरे लिए। मुझे पता भी नहीं था कि मेरा नाम तदर्थ भेजा गया है, यह मेरी प्रिय छात्रा की गुरुदक्षिणा थी जिसने तदर्थ मेरा वायोडाटा भेजा था, उसके प्रति मेरा स्नेह बढ़ गया। बहुत प्रसन्नता हुई। नाम है प्रो. मनुलता शर्मा। इन पुरस्कारों से गौरव तो होता है परन्तु अब बात बदल गई है।

11. आपने अनेक पुस्तकों का लेखन-सम्पादन एवं अनुवाद किया, क्या आज भी कुछ करने का भाव बनता है?

उत्तर – बहुत कुछ करना चाहता हूँ, कर भी रहा हूँ क्योंकि वह मेरा भोजन है, परन्तु स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा है।

12. आप शिक्षण कार्य से सदैव जुड़े रहे। शिक्षक का समाज में एक विशिष्ट स्थान होता है। वर्तमान समाज के परिवर्तन पर आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर – आज भी शिक्षक का सम्मान है परन्तु कुछ शिक्षकों ने अपने नैतिक मूल्य गिरा दिये हैं, उनकी बजह से शिक्षक बदनाम होते हैं। आज भी अच्छे शिक्षक हैं जो अपने शिष्य को अपने से आगे देखना चाहते हैं। मेरा सम्मान छात्रों ने ही ज्यादा किया है। मैं भी छात्रों को पुत्रवत् स्नेह देता रहा हूँ।

13. आपके निर्देशन में अनेक शोधकार्य (पी-एच.डी.) हुए शोधकार्यों की दिशा और दशा पर आप क्या कहना चाहेंगे?

उत्तर – कुछ तो अच्छे शोध हैं और कुछ स्तरीय। आज येन केन प्रकारेण पी-एच.डी. डिग्री प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है जिसमें शिक्षकों की भी कमजोरी है।

14. वैसे तो अब इस प्रसंग का महत्त्व नहीं है फिर भी बहुत सारे लोगों के मन में एक सवाल उठता है कि अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद् के विघटन में क्या कोई ऐसी स्थिति नहीं बन पा रही थी कि इसे बचाया जा सकता ?

उत्तर – विघटन आज भी बचाया जा सकता है। मन्त्री की हैसियत से मैंने पूरा प्रयत्न किया परन्तु 2-3 लोगों की महत्त्वाकांक्षा ने विघटन करा दिया। मैं चाहता तो अध्यक्ष बन सकता था परन्तु मैंने दु:खीभाव से अपना नाम अध्यक्ष पद की दौड़ से वापिस ले लिया। परन्तु एकता के लिए सतत प्रयत्नशील रहा। मेरे उदासीन होने के बाद पुन: एक और विघटन हो गया। श्री भारिल्ल जी की परिषद् ने मुझे न जाने पर भी उपाध्यक्ष और कार्याध्यक्ष बनाए रखा परन्तु एकता न बन पाने की सुनिश्चितता देख त्यागपत्र दे दिया और मूल परिषद् में आ गया परन्तु उदासीन ही रहा। यदि अहं छोड़ दें तो एकता हो सकती है।

15. वर्तमान पीढ़ी धर्म और धार्मिकता को एक अलग तरह से ले रही है तब जैन धर्म के सिद्धान्तों की परम्परा कैसे विकसित होगी ?

उत्तर – आपका कथन सही है। हमारे वीतरागी साधुगण ही इसे सुरक्षित कर सकते हैं परन्तु वहाँ भी मतभेद हैं। विघटन की ओर जैनधर्म निरन्तर बढ़ रहा है। जैनत्व का प्रचार-प्रसार और प्रदर्शन खूब हो रहा है परन्तु वहाँ पुण्यार्जन की इच्छा तथा अन्ध श्रद्धामात्र है, विवेक नहीं। आज जैनधर्म का वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक परीक्षण करना चाहिए। मैंने इस योजना

बावत अपनी जीवन यात्रा के अन्त में लिखा है।

16. जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में कौन से कदम उठाना चाहिए ?

उत्तर - (1) विद्वान् और मुनिवर्ग में एकरूपता हो। (2) जैनधर्म का वैज्ञानिक और तुलनात्मक प्रस्तुतिकरण सरल पद्धति से स्याद्वाद पद्धति से दुराग्रह के बिना हो। (3) एक विद्वानों की समिति हो जो जैनधर्म के सिद्धान्तों के ज्ञाताओं तथा तत् तत् विषयक वैज्ञानिकों की परस्पर मन्त्रणा कराकर प्रकाशन किया जाए। अन्य धर्मावलम्बि विद्वानों को भी जोड़ा जाए। (4) विवादात्मक विषयों (स्त्री अभिषेक, पूजापद्धति आदि) का स्याद्वाद रीति से समन्वय हो। (5) कथनी और करनी में एकरूपता हो। (6) क्रियाकाण्डों पर गम्भीरता से विचार हो। (7) आध्यात्मिक और सांसारिक विषयों पर संभाव्य सयुक्तिक समन्वय हो। (8) जिनवाणी के ज्ञाताओं को गृहस्थ मानकर उचित पारिश्रमिक मिले। (9) जैनत्व का चिह्न (रात्रि भोजन त्याग आदि) समाजेतर में दिखलाई देवे। (10) परस्पर सहयोग भावना। (11) आधुनिक शिक्षा-पद्धति, स्वास्थ्य, सेवा केन्द्र, सामान्य लोगों तक व्यापक हो मिशनरियों की तरह (12) आर्थिक सहयोग हो ऋणरूप में, मुफ्त नहीं।

17. एक सफल गृहस्थ जीवन का दायित्व आपने बखूबी से निभाया और इस सफलता में आपकी धर्मपत्नी का कदम-कदम पर सहयोग रहा। कुछ यादगार पल ?

उत्तर - मेरी पत्नी का हर कदम पर सहयोग रहा है। उनमें धार्मिक भावना है और सेवाभाव है। घर की अन्नपूर्णा हैं।

18. आपके पुत्र डॉ. सन्दीप, श्री संजय, पुत्रवधु-श्रीमती अर्चना, डॉ. आरती, पुत्री डॉ. मनीषा डॉ. अजय (दामाद) और बाल गोपाल एक भरा पूरा परिवार है सबके बीच अब और कौनसी कल्पना का आप साकार करना चाहते हैं ?

उत्तर - जब भरा पूरा परिवार है तो अब क्या चाहिए सिवा आत्मकल्याण के।

19. इस जीवन यात्रा में अनेक लोगों से आप प्रभावित हुए होंगे। स्मृति पटल पर किसे याद करेंगे?

उत्तर- इसका उत्तर हम प्रश्न क्रमांक 4 में दे चुके हैं। उनके अलावा मेरी तीनों बहिनें, बुआ आदि को भी जोड़ना चाहूँगा। कुछ नाम अपनी जीवन यात्रा के अन्त में दिये हैं।

20. एक ऐसा कार्य जिसे आज भी आप करना चाह रहे हैं ?

उत्तर - कार्य तो बहुत बाकी हैं परन्तु आयु के निषेक कम बचे हैं। शरीर भी साथ नहीं देता है फिर भी (1) समाज में एकता। (2) पूजा, विधान की सार्थ और शुद्ध पुस्तक प्रकाशन। (3) गरीब छात्रों और विधवाओं को आर्थिक सहयोग (मुफ्त नहीं) क्योंकि इससे अकर्मण्यता आती है। (4) जैन विद्यालयों का आधुनिकीकरण। (5) जैन सिद्धान्तों का प्रचार आदि।

डॉ. श्रीमती ज्योति जैन
पत्रकार, खतौली

सारस्सद-वरेण्णो

पाचत्तरे हु दिस दिव्व मणीसि-पण्णे
सारस्सदे सरद-सारद सोम्य- सम्मे।
अम्हाण देसग-पबोहग-विज्ज-विज्जे
पण्णा पदे सिरिसुदंसण लाल सोहे।।1

हम लोगों के मार्ग दर्शक, प्रबोधक, विद्याओं में पारङ्गत, प्रज्ञापद पर राजित श्री सुदर्शन लाल हमारे आदर्श हैं। उनके 75 वें दिव्य जन्मदिन पर ऐसे प्रज्ञामनीषी, सारस्वत पद विभूषित शरद् ऋतु के सदृश शारदा की सौम्य प्रकृति वाले होकर शोभित हैं।

अप्पावए हु दहमाह-अबोह-बालो
लालिच्च-सुण्णा जणणीइ सुलाल लालो।
माउत्तभाव परिरित्ति पिदुं च अंके
कीलेज्ज लीलण-अभाव गिहे हु मिट्टं।।2

यह अल्पवय बालक दश माह का ही था कि लालित्य से शून्य, जननी से रहित भी सभी का प्यारा था। यह मातृत्व भाव से रहित पितु श्री के अंक में ही मातृत्व भाव को पा सका। यह कीलन अभाव में (क्रीड़ा के खेल खिलौनों

के अभाव में) गृह की मिट्टी में ही खेलता रहा।

को मे हु कत्थ कल-सिक्खण रम्म पत्ते
जाणेमि णो वि परमत्थ पुणीय विज्जं।
तत्तो वि सो जघ पढेदि तघेव पण्णो
धण्णण्ण-धण्ण-धणहीण सुविज्ज सिक्खे।।3

मैं जानता हूँ पर वास्तव में ये सुदर्शन परमार्थ विद्याओं के क्षेत्र में रहे, धन्य-धान्य के अभाव में। वे जहाँ भी विद्या अध्ययन करते वहाँ प्राज्ञ (अग्रणी) रहते। मैं कौन हूँ, मैं कहाँ जाऊँगा, क्या पढूँगा एवं कैसे उत्तम शिक्षा लूँगा, उन्हें उसका बोध नहीं था।

सिद्धे हु लाल इणमो अवि सिक्खो वि
मादा सरस्सइ-मही-गरिमा गिही हु।
गामे हुं मंजल चवालिस सण्ण काले
सड्ढा-सुभावण-गुणी मह खेत्त खेत्ते।।4

आप हैं, सिद्धेलाल शिक्षक के पुत्र। सरस्वती माता के लाल जो गरिमामयी गृहिणी थीं, ग्राम मंजुला में 1.4.1944 में जन्म लिया, पर आप प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए जो इनकी श्रद्धा का सुफल है।

आग्गे भवंत-पढणे गह- उच्च-सिक्खं
सो सक्किदे ति-णव-बी इच विस्से।
उक्किट्ट-संकपमुहो बहुभास-भासी
सो सक्किदं पयडि-पागिद अंगलग्गी।।5

आप पढ़ने में अग्रणी उच्च शिक्षा वाले, 39 वर्ष तक बी.एच.यू में संस्कृत में शिक्षण कराते रहे। आप सङ्कायप्रमुख बहुभाषाभाषी प्राकृत, संस्कृत एवं अंग्रेजी में भी अग्रणी रहे हैं।

रट्ठिज्ज-रट्ठ-गरिमा जुद-एस पण्णो
सम्माण रट्ठवइ-भूसिद-लेहगो वि।
सम्पादगो बहुविहे हु समाज मण्णो
सोहे रदे हु चदुपञ्च-सुधी-वरेण्णो।।6

आप हैं राष्ट्र के गौरवशाली मनीषी, राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त लेखक, सम्पादक एवं समाज के नाना पदों पर रहने वाले प्रज्ञ। आपके निर्देशन में 45 छात्र सुधी पी-एच.डी. प्राप्त करके अनेक पदों पर सुशोभित हैं।

अद्धंगिणी वि विदुसी वि मणोरमा वि
सन्दीव संजय-सुओ अहिसेग-सगे हु पुत्ती।
पीपुल्समेडि-अजयो भिसगो मणीसा
अच्ची अणिस्स-सुधि-संजिय सक्किदीए।।7

आपकी अर्धांगिनी डॉ. मनोरमा तो विदुषी हैं। आपके पुत्र डॉ. सन्दीप, संजय एवं अभिषेक भी पढ़े लिखे हैं। पुत्री डॉ. मनीषा डॉ. अजय (दामाद) पीपुल्स मेडिकल कॉलेज भोपाल में हैं। पौत्रियाँ अर्चिता, संजिता, स्वस्ति, संस्कृति और अनिष्का हैं।

साहिच्च-पण्ण मइमंत गुणी गुणण्हु
बुंदेलखण्ड-तणयो भरहे पसिहो।
सम्माण-पण्ण उदयो पणमेज्ज भूओ
पाचत्तरे हु सुद-साहग-पाद-मूले।।8

आप साहित्य प्रज्ञ, मतिमंत, गुणी, गुणज्ञ एवं बुंदेलखंड के तनय/ भारत में प्रसिद्ध हैं। मैं उदय ऐसे प्रज्ञ का सम्मान करता हूँ, उनके 75 वर्ष के गौरवपूर्ण श्रुतसाधक को नमन करता हूँ, क्योंकि उनके पादमूल में रहकर मैं भी प्रज्ञ बना हूँ।

माया-उदय-पाचीए पिउ मणीस भावणा-
मे चाहं पवेसो वि पाचहत्तरे हु देसए।।

डॉ. उदयचंद जैन सपरिवार
पूर्व प्रोफेसर, सुघाडिया विश्वविद्यालय, 29 पार्श्वनाथ कालोनी, उदयपुर (राज.)

शिष्याः सदा नमन्तिस्म तान्हि प्रणतमानसा

श्रीसुदर्शनलालाख्य विद्वांसः ....।
संस्कृते प्राकृते चापि निष्णाता..........।।1।।
विश्वविद्यालये चैव काशीस्थे हिन्दुसंज्ञके।
दत्तवन्तो निजां सेवां विभागे संस्कृते शुभाम्।।2।।
सन्मनुष्यस्वरूपेण सदध्यापकरूपिणः।
अध्यापने सदा लग्ना जैनसंज्ञा विजतेन्द्रियाः।।3।।
शिष्याः सदा नमन्तिस्म तान्हि प्रणतमानसा।
यशो विस्तारयन्तीह सदा प्रीत्यादयः साम्प्रतम्।।4।।
एवं हि गुरवः सम्यक् शिक्षां दत्वा मुदा सदा।
रञ्जयन्तस्तथा लोकान् मोदन्ते मोदयन्ति च।।5।।
लालाः सन्ति सुदर्शनाख्यमहिताः श्रीजैनसंज्ञा बुधाः,
काश्यामेव निजां प्रकर्षसहितां सेवां मुदाऽपूपुरन्।
अद्यत्वे निवसन्ति भोजनगरे मध्यप्रदेशे मुधा
जीवन्त्वत्र सदा कुटुम्बसहिताः तच्चेतसा कामये।।6।।

प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
पूर्वसंस्कृत-प्राकृतविभागाध्यक्षः, गोरखपुरविश्वविद्यालयः

गगन के प्रखर प्रकाश पुञ्ज

पल पल जिये ज्ञान मान सम्मान में जो
कहो ऐसे अभिमान को मान दूँ क्या
उपाधि पद सम्मान चरन के चेरे देखो
ऐसे चरणों का गुणगान करूँ मैं क्या
अल्प ज्ञान, अल्प ध्यान प्रज्ञा मेरी अल्पज्ञ
वहुमान ऐसे विद्वान का करूँ मैं क्या
प्रखर प्रकाश पुञ्ज आप हो गगन के
ऐसे दिनमान का बखान में करूँ क्या।।1।।
महामहिम दिया जिन्हें राष्ट्रपति सम्मान
भाल चमकाया धरि रोली चन्दन है
ज्ञान पुञ्ज ज्ञान कुंज ज्ञान के सुमेरू हैं जो
किन शब्दों में करूँ आपका वंदन है
ज्ञान के दिवाकर रत्नाकर प्राभाकर हैं
अज्ञ किन आखरों से करूं में नमन है
नष्ट किया तम का अज्ञान सुदर्शन ने
काव्य का ये दीप धरूं आपके चरन है।।2।।
करूँ अभिनन्दन सिद्ध सारस्वत ग्रन्थ का मैं
अभिनन्दन करूँ इस शारदे के लाल का
अनगढ़ पत्थरों को किया शिलालेख जैसे

अभिनन्द करूँ ज्ञान दाता इस विशाल का
अभिनन्दन करूँ वाणी भूषण श्री सोंरया जी का
कराया सम्मान प्रोफेसर सुदर्शन लाल का
संरस की शुभकामना है शत: वर्ष जियें
ऐसे ही सम्मान होता रहे सदा भाल का।।3।।

कवि सुरेन्द्र जैन 'सरस'
162 जैन नगर, लालघाटी, भोपाल

कर्तव्यनिष्ठ एवं समन्वयवादी विचारक

प्रो0 सुदर्शनलाल जैन जी ने श्रीस्याद्वाद महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कला सङ्काय के संस्कृत विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्षता के साथ कलासङ्काय प्रमुख का दायित्व भी संभाला। आप प्रारम्भ से ही बड़े मेधावी और अनुशासन प्रिय रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सेवानिवृत होने के पश्चात् प्रो0 सुदर्शन लाल जी स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रबन्धतन्त्र के अध्यक्ष भी रहे तब मुझे प्रबन्धक के रूप में आपके साथ कार्य करने का अवसर मिला आप पहले भी विद्यालय के उपाधिष्ठाता रह चुके हैं। आप बहुत ही निर्भीक, कर्तव्यनिष्ठ एवं समन्वयवादी विचारों के विद्वान् हैं। आपको अपनी विद्यास्थली के विकास करने की भावना सदा रहती है। आपको आपके अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन पर बहुत-बहुत बधाई एवं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि आप स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों तथा जैन धर्म का प्रचार करते रहें।

श्री विमल कुमार जैन
प्रबन्धक, स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शनलालजी जैन के प्रति मेरे अन्तस् भाव

काट लेना कठिन-मंजिल का, कुछ मुश्किल नहीं।
इक जरा इन्सान में, चलने की आदत चाहिए।।

बहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी यशस्वी विद्वान् परम आदरणीय प्रो. सुदर्शनलालजी जैन के बारे में कहां से प्रारम्भ करूँ, कैसे लिखूँ उनकी सरलता, सहजता और उनकी योग्यता के विषय में।

लगभग अठारह माह पूर्व ही मुझे अपने परिवार के साथ जैन नगर में बसने का मौका मिला। इसी बीच श्री नन्दीश्वरद्वीप जिनालय में आपको देखने, मिलने और आपके द्वारा पर्यूषण-पर्व आदि में मुखरित प्रवचनों, वाचनाओं एवं मूक-माटी विषय पर आपके द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान को विद्ववानों की विचार मन्थन सङ्गोष्ठी में अपनी मीठी आत्मीय आवाज में सुनने और आपके व्यक्तित्व को समझने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है।

बड़े ही हर्ष का विषय है कि आपके 75 वें जन्म दिवस पर प्रतिष्ठाचार्य अतुलनीय वाणीभूषण पण्डित श्री विमल कुमार सौंरयाजी के सम्पादकत्व में 'सिद्ध-सारस्वत' अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। प्रो. सुदर्शनलाल जैन जी के विशिष्ठ व्यक्तित्व एवं जीवनवृत्त को रेखाङ्कित करते हुए, अपनों के बीच छिपे हुए अपने ही एक अनमोल विद्वान् हीरे का पूर्ण परिचय एवं सम्मान करना हमारे आदरणीय पण्डित श्री सौंरयाजी जैसे जौहरी का ही कार्य है।

प्रो. सुदर्शनलाल जैन ने बचपन से ही परिस्थितिजन्य प्रतिकूलताओं में पलते-बढ़ते हुये विद्यार्जन की श्रेष्ठतम सीढ़ी तक पहुंच कर देश की प्रसिद्ध संस्था बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अपनी विधा के शीर्ष पद पर आसीन हुए। आपने अपने सृजनशील व्यक्तित्व से अन्य विद्वानों एवं रचना-धर्मियों को निश्चित ही आकर्षित किया है।

भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा आपकी योग्यता एवं क्षमता को ध्यान में रखते हुए सम्मानित किया है। आपके 39 वर्षों के प्रेरक निर्देशन में, 44 शोध छात्रों ने मार्गदर्शक के रूप में आपका नेतृत्व प्राप्त कर अपनी पी-एच.डी.

की उपाधियों को प्राप्त कर आपको भी गौरवान्वित किया है।

यह भी आपके पूर्व-सञ्चित पुण्य का ही प्रभाव है कि आपके द्वारा कई अन्य देशों में भी आपने अपने व्याख्यानों से जैनत्व की प्रभावना कर यश तो अर्जित किया ही, साथ ही साथ एक योग्य स्वर्ण पदक प्राप्त जीवन सङ्गिनी श्रीमति डॉ. मनोरमा जैन (जैनदर्शनाचार्य) के सुयोग्य से जन्मी सभी योग्य एवं उच्च शिक्षित पुत्र-पुत्रियां एवं आपकी पुत्र-वधुयें भी अपने अपने कर्म क्षेत्रों की अग्रणी पंक्तियों में रहते हुए यश एवं वैभव को प्राप्त कर आपकी प्रतिष्ठा को और भी आगे बढ़ा रहे हैं।

अन्त में मैं यही कहना चाहूँगा कि किसी भी संस्था विभाग के सर्वोच्च अधिकारी का दायित्व एक असामान्य व्यक्तित्व, कृतित्व और नेतृत्व को व्याख्याङ्कित करता है। जहां कि व्यक्ति पद से अधिक अपने विचार और व्यवहार से मूल्यांकित होता है और अपनी वाणी और व्यवहार की सहजता सरलता और विनम्रता से औरों के अन्दर तक चला जाता है। अपनी इसी मानवीय सहजता सरलता आपकी आत्मशक्ति ने ही आपको पहले ज्ञानी फिर विद्वान् बनाकर आपको संस्कृत-साहित्याकाश में नक्षत्र की भांति चमक देकर शिक्षा जगत को आलोकित करने का सुअवसर दिया ।

आपके सम्मानार्थ इस सिद्ध-सारस्वत अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में भावनात्मक रूप से जुड़ते हुए आपके जीवन के उत्कृष्ट मूल्यों का अभिनन्दन करता हूँ। इस सुअवसर पर आपके पूरे परिवार को अपने परिवार की ओर से बधाई देते हुए शत-शत नमन प्रेषित कर हर्षित हैं।

अभिनन्दन-ग्रन्थ में कामना 'सन्तोष' करता यही सहर्ष,
साढ़े-सात दशकों के सावन चढ़ गऐ, प्रिय हमारे सुदर्शनजी,
अब रहते शतायु आप, जिऐं हजारों वर्ष-जिऐं हजारों वर्ष।

इन्हीं मङ्गलकारी भावनाओं के साथ नवाचार मञ्जूषा पत्रिका परिवार की ओर से भी शुभकामनाएँ।

श्री सन्तोष कुमार जैन (सपरिवार)
प्रकाशक एवं सम्पादक 'नवाचार मञ्जूषा' पत्रिका, भोपाल

मीलपिटास अमेरिका में प्रवचन-प्रभावना

मेरी भेंट श्री सुदर्शनजी से अमेरिका में हुई जब वे यहाँ दसलक्षण पर्व पर आए थे। उनका यहां पर बहुत ही बढ़िया कार्यक्रम रहा और पूरे सङ्घ को धर्म लाभ मिला। उनसे उसके बाद भी कई बार भेंट हुई जब-जब भी वे अपने पुत्र के यहां आते रहे। जैन शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता हैं। वैज्ञानिक चिन्तन है। उनकी एक यात्रा के समय हमने उनसे तत्त्वार्थ सूत्र का स्वाध्याय भी किया और धर्म लाभ प्राप्त किया। बहुत ही सरल स्वभावी हैं।

हमारी ओर से उनको बहुत बहुत शुभकामनाएँ।

श्री अशोक और रेखा सेठी
केलिफोर्निया, अमेरिका

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी

प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन साहब बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं वह सभी को आकर्षित एवं सन्तोष प्रदान करने वाले हैं। प्राकृत एवं जैन दर्शन के क्षेत्र में आपका जो योगदान है वह अतुलनीय है। आप एक सिद्धहस्त लेखक के साथ-साथ समर्पित शिक्षाविद् भी हैं। आपकी लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का लेखन, सम्पादन और प्रकाशन किया जा चुका है। आपके द्वारा लिखित एवं सम्पादित कृतियों में उत्तराध्ययन सूत्र: एक परिशीलन, संस्कृत प्रवेशिका, प्राकृत-दीपिका, तर्कसंग्रह, कर्पूरमञ्जरी, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्दर्शन, जैनकुमारसम्भव, पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन, धरती के देवता आदि प्रमुख कृतियाँ है।

प्राकृत एवं जैनविद्या की सेवा के लिए आप अनेक संस्थानों से सम्मानित हुए हैं। जैन समाज और प्राकृत विद्वानों के बीच में आपका गौरवपूर्ण स्थान है। आपका अनेक राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मान हुआ है। भारत सरकार द्वारा

आपको राष्ट्रपति सम्मान से विभूषित किया गया है। इस आयु में भी आप अपना शैक्षणिक अवदान समाज को प्रदान कर रहे हैं। जैन संस्कृति के इतिहास में आपकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी आपका मार्गदर्शन हमें प्राप्त होता रहे। आप अपने शोध-छात्रों के सदैव हितैषी और उच्च कोटि के मार्गदर्शक रहे हैं, आपने अपनी साहित्य साधना से जो कुछ भी प्राप्त किया उसे मुक्त हस्त से अपनी शिष्य परम्परा को बाँटा है। आपकी सरलता, आत्मीयता, स्नेह और शैक्षणिक जागरूकता से विद्यार्थी और शोधार्थी सदैव ही लाभान्वित हुए हैं।

आप संस्कृत-सौदागिनी, स्यादवाद् एवं श्रमण पत्रिका आदि शोध पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में भी लगे रहे। इसके अतिरिक्त आपने शताधिक शोध पत्र एवं समसामयिक चिन्तनपरक लेख भी प्रस्तुत किये है, साथ ही आपकी आकाशवाणी से संस्कृत में वार्तायें भी प्रसारित होती रही हैं। आपके 75 वें जन्मदिवस पर हम तीर्थंकर भगवान् से यही मङ्गल कामना करते हैं कि आप दीर्घायुष्य रहकर आरोग्य को प्राप्त हों और जैनदर्शन एवं प्राकृत के क्षेत्र में सदैव जयवन्त बने रहें। प्राकृतविद्या एवं जैन दर्शन के क्षेत्र में हमें आपका मार्गदर्शन सदैव प्राप्त होता रहे।

डॉ. विकास चौधरी एवं श्रीमती वन्दना चौधरी
एल - 188, बप्पा रावल नगर, हिरण मगरी, उदयपुर-313002

अथाह वैदुष्य के धनी तथा शिक्षार्थियों के प्रति उदारवृत्ति

विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी संस्कृत वाङ्मय, दर्शनशास्त्र एवं प्राकृत आदि भाषाओं के तलस्पर्शी ज्ञाता हैं। आपकी कृतियाँ (मौलिक+सम्पादित), शताधिक शोध पत्र इस बात के परिचायक हैं कि आप अथाह वैदुष्य के धनी हैं।

मात्र दस मास की अवस्था में आपको मातृवियोग का दंश झेलना पड़ा। अनेक विपरीत परिस्थितियों में भी आप श्रुत-आराधना से विमुख न हुए। आर्थिक-विपन्नता, शारीरिक-पीड़ाओं के रहते हुए भी आपने साहित्य-सर्जन एवं शोध के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं। आपकी शोधात्मक क्षमता का ही सुफल है कि आपकी कृतियों में धर्म एवं विज्ञान का समन्वय सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

आपने अनेक विश्वविद्यालयों में शिक्षा देने के साथ-साथ कला सङ्काय अध्यक्ष, (डीन) जैसे पदों को भी अलंकृत किया। आपकी साहित्य सपर्या को अविरल बनाये रखने में धर्मपत्नी डॉ. मनोरमा जी का समर्पण अद्भुत है। विदुषी होने के साथ-साथ डॉ. मनोरमा जी आदर्श गृहिणी भी हैं।

मुनिपुंगव 108 श्री सुधासागर पुरस्कार की राशि श्रमण संस्कृति संस्थान को तुरन्त भेंट दे देना आपके दान बहुल गुण को दर्शाता है। शारीरिक पीड़ा के बावजूद शिष्य डॉ. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर के अभिनन्दन ग्रन्थ लोकार्पण समारोह में जाना आपके शिष्य वात्सल्य का परिचायक है।

समाज, राष्ट्र के उत्थान के लिए विद्वत्ता का सम्मान अनिवार्य है। राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत आदरणीय प्रो. साहब के 75 वें जन्मवर्ष पर आपके अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध-सारस्वत' के प्रकाशन का समाचार पाकर मन-मयूर आनन्दित है। आशा है भविष्य में आपके अनुभवों एवं शोधवृत्ति का लाभ प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ से नवोदित विद्वानों को अवश्य मिलेगा।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक, प्रबन्ध सम्पादक, संयोजक, सम्पादक मण्डल को इस महनीय, श्रमसाध्य, अनुकरणीय कार्य के लिए बधाई, आभार। प्रो. सुदर्शन लाल जी शतायु हों, हमारा मार्गदर्शन करते रहें। इसी भावना के साथ।

पं. संजीव कुमार
जैनाचार्य, महरौनी, ललितपुर, उ.प्र.

सबसे प्रेमभाव

प्रो. सुदर्शन लाल जैन जैन-विद्या के मूर्धन्य विद्वानों की प्रथम पंक्ति में आते हैं। प्रो. जैन जी से मेरा प्रथम परिचय मई 1991 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सेमिनार में पार्श्वनाथविद्यापीठ में हुआ। पुस्तकालय का उपयोग करने के लिये आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ आते रहते थे।

प्रो. जैनसाहब से नजदीकी सम्बन्ध तब हुआ जब आप 11 मार्च 2010 को पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक का पदभार ग्रहण किये। इनके कार्यकाल में पार्श्वनाथ विद्यापीठ का काफी विकास हुआ। मेरे शोध के पञ्जीकरण में आपका काफी सहयोग रहा है।

प्रो. जैन बहुत ही सरल और उदार प्रवृत्ति के विद्वान् हैं। सबको साथ लेकर चलना और संस्था के विकास में ईमानदारी से लगे रहना, आपकी विशेषता है। आपने विद्यापीठ में अनेक कार्य किए। श्रमण-पत्रिका को भी नया रूप प्रदान किया।

इनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने का निश्चय एक श्लाघनीय प्रयत्न है। मैं इनके दीर्घायु एवं स्वस्थ्य रहने की कामना करता हूँ। यह इनके अमूल्य कार्यों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति है।

डॉ. ओम प्रकाश सिंह
ग्रन्थालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

समादरणीय बैंक खाताधारक

मैं डॉ. सुदर्शन लाल जैन को विगत दो-तीन वर्षों से जानता हूँ। ये हमारे स्टेट बैंक की एयरपोर्ट शाखा के नियमित ग्राहक हैं। इनका व्यवहार बहुत ही सरल एवं सहयोगात्मक रहता है। आप जैनदर्शन के एवं संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं। राष्ट्रपति द्वारा उनको सम्मान स्वरूप पुरस्कार प्रदान किया गया है। आप जैसे व्यक्ति यदि इस बैंक से जुड़ते हैं तो बैंक का अहोभाग्य है। मैं उनके उज्ज्वल भविष्य एवं संस्कृत की निरन्तर सेवा करते रहने हेतु ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

श्री विवेक तिवारी
शाखा प्रबन्धक, भारतीय स्टेट बैंक, एयरपोर्ट रोड शाखा, भोपाल

सुमति सुधा श्रुत-संवर्धक

जैन जगत के सरस्वती पुत्र, आज तलक हैं बहु विद्वान।
भूतकाल भी हुये अनेकों, वर्तमान अर भावि काल।।
मङ्गल बेला एक आज है, हृदय उठी है हर्ष लहर।
अभिनन्दन ग्रन्थ है जिन्हें समर्पित, लाल सुदर्शन नगर।।1।।

बुन्देली भूजिला है सागर, ग्राम मंजला बड़कुल जैन।
पिता सिद्धेलाल जी शिक्षक जानो, जन्मदात्री माँ सरस्वती जैन।।
अल्पवय में माँ वियोग सह, पितृ छांह में पले बढ़े।
परिजन-पुरजन प्यार प्राप्तकर, शिक्षा और संस्कार मिले।।2।।

युवा हुये तो जीवन पथ में, मनोरमा का संग मिला।
जीवन बगिया हुई है पुष्पित, कुल दीपक त्रय पुत्र भला।।
कन्यारत्न भी मिली मनीषा, और पौत्रियाँ नातिन हैं।

पुण्योदय में सब कुछ पाया, श्रुतोपासना-साधन है।।3।।
शिक्षा पाई एम.ए.संस्कृत, शोधकार्यकर जैन न्याय तीर्थ।
सिद्धान्त शास्त्री, साहित्य रत्न हो, जैन दर्शन प्राकृत-प्रवीण।।
अध्ययन कीना दमोह-कटनी में, सागर नगरी मोराजी।
वाराणसी-स्याद्वाद विद्यालय, बी.एच. यू. है वाराणसी।।4।।
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, पार्श्वनाथ विद्या है पीठ।
शिक्षापूर्ण कर कर्तव्य पालना, अर्थोपार्जन जतन है कीन।।
शिक्षक बन शिक्षा भी दीनी, वर्धमान कालेज संस्कृत बिजनौर।
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वर्ष अड़सठ बने शिर मौर।।5।।
लेक्चरर, रीडर, प्रोफेसर बन, विभागाध्यक्ष-अनुशासन से।
दो हजार छ तीस जून में सेवा मुक्ति शासन से।।
शोध छात्रगण आप चौबालिस, पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त।
देश-देशान्तर सेवारत हैं, पठन-पाठ शिक्षा संस्थान।।6।।
पार्श्वनाथ विद्यापीठ निदेशक, विद्वत् परिषद् मन्त्री आप।
उपाध्यक्ष भी आप रहें हैं, मन्त्री काशी नरिया जैन समाज।।
गणेश वर्णी संस्थान निदेशक, प्रबन्ध तन्त्र अध्यक्ष थे आप।
स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, अन्य पदों की शोभा आप।।7।।
महामहिम राष्ट्रपति पुरस्कार, सुमति सुधा श्रुत सम्वर्द्धन हैं।
शिक्षा क्षेत्र के अन्य बहुत से, पुरस्कारों का अर्जन है।।
श्रुतसेवा के विविध रूप हैं, अनुदित कृतियाँ मौलिक हैं।
सम्पादित तो बहुतांहि कृतियाँ, सदुपयोग समय अलौकिक है।।8।।
अन्तर्भावना - हम सबकी है यही कामना, होंय शतायु विद्वत् श्रीमान्।
देवागमगुरु परमोपासक, लाल सुदर्शन बने महान।।
अभिनन्दन की आनन्द बेला, समाधि मरण हो अन्त श्रमण।
नरतन होगा सफल आपका, भावय यही 'दीवान पवन'।।9।।

प्रतिष्ठाचार्य पवन कुमार जैन 'दीवान'
मुरैना

हम सबके चहेते पं. जी

बड़े ही हर्ष की बात है कि सेवानिवृत्ति के बाद हमारे जैन नगर भोपाल में रहने वाले पं. सुदर्शन लाल जैन जी के 75 वें जन्मदिवस पर वीतराग वाणी ट्रस्ट उनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है। पं. जी हम सभी जैन नगरवासियों के चहेते हैं। ये बड़े विद्वान् होने के साथ सरल तथा मिलनसार हैं। इनके बारे में कुछ कहना सूरज के सामने दीपक दिखाना है। मास्टर श्री सिद्धेलाल जैन और श्रीमती सरस्वती देवी के सुपुत्र श्री सुदर्शन लाल जैन जी ने अपने गुणों के द्वारा अपने माता-पिता का नाम रोशन किया तथा स्वयं भी अपने पुरुषार्थ के बल से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में प्रोफेसर, अध्यक्ष और डीन जैसे पदों पर पहुँचे। देश-विदेश में अपनी विद्वत्ता का विगुल बजाया। भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणवमुखर्जी ने भी आपको सम्मानित किया।

पूर्व जन्म के पुण्योदय से डॉ. मनोरमा जैन जैसी विदुषी आपकी अर्धाङ्गिनी बनी। जिन्होंने आपके जीवन में चार चाँद लगा दिए। सभी पुत्रों तथा पुत्री को अच्छी शिक्षा और संस्कार देकर उच्च पदों पर सुप्रतिष्ठित किया। अच्छे संस्कारों के कारण सभी मातृ-पितृ भक्त हैं। पं. जी स्वयं जिनेन्द्र भक्त, देश भक्त, गुरु भक्त तथा मातृ-पितृ भक्त हैं।

मैं और मेरा परिवार आपके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता है। आप स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों तथा धर्मक्षेत्र में निरन्तर अग्रसर हों।

श्री मुल्तानचंद जैन (काका जी)
जैन नगर, भोपाल

'पाषाण-कणिका से हीरा बने'

प्रो. श्री सुदर्शन लाल जैन के 75वें जन्मदिन के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है यह विशेष खुशी की बात है। साधन विहीन अवस्था में भी आपने अपने पुरुषार्थ एवं उपादान के बल पर अनुकूल निमित्तों को प्राप्त कर अपने जीवन को शिखर पर पहुँचाकर श्री देवशास्त्रगुरु के परम आराधक बनकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष व डीन के पद के साथ छात्रों का उत्कृष्ट अध्यापन कार्य करवाकर अपने पदों को गौरवान्वित किया। आपने अनेक शोधछात्रों को पी-एच.डी. प्राप्त कराई एवं शताधिक शोधलेखों का लेखन कार्य किया।

आप अपनी विद्वत्ता से भारत के महामहिम राष्ट्रपति के सम्मान से अलंकृत हुए। आपका जीवन पूर्ण सतत् संस्कारित रहा तथा आपने अपने परिवार के बच्चों व बेटियों को अहिंसा, अनुशासन, नैतिक ज्ञान, आराधना व आध्यात्म का ज्ञान कराया जिससे वे भी सद् संस्कारित हुये। वे उच्च पदों को प्राप्तकर धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में प्रगति कर रहें हैं। प्रो. साहब धार्मिकता, सरलता, विनम्रता, दयालुता, सौजन्यता, कर्तव्यपरायणता, शालीनता, उदारवादिता, मैत्रीवत्सलता, परोपकारता, वात्सल्यता आदि सद्गुणों के कारण महामानव बने हैं। वस्तुतः आप पाषाण-कणिका से हीरा बने हैं।

अन्त में आप दीर्घायु के साथ-साथ आत्मकल्याण करें, ऐसी मेरी विनयाञ्जलि है।

प्रो. शीलचन्द जैन
पूर्वप्राचार्य, वरुआसागर

सीधी-सीधी बात करते हैं

पं. सुदर्शन लाल जैन के प्रति अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से मैं अपने उद्गार व्यक्त कर रहा हूँ।श्रमण संस्कृति, जैन आध्यात्म एवं दर्शन की धर्मध्वजा प्राचीन काल से ही फहराती रही है। वर्तमान काल खण्ड में अर्थात् आजादी के बाद के समय में प्राकृत एवं संस्कृत के विद्वान् होकर आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के माध्यम से जैन दर्शन की प्रभावना करते रहे हैं, जो अपने आप में अनूठा कार्य रहा।

आपकी शिक्षण शैली सरल एवं जन सामान्य को समझ आने वाली है और आप सीधी-सीधी बात कहते हैं। विद्वानों की ऐतिहासकि संस्था अ.भा.दिग.जैन विद्वात्परिषद् के माध्यम से एवं अन्य संस्थाओं के उच्च पदों पर रहते हुए समाज एवं आगम की सेवा की है जो स्तुत्य एवं सराहनीय है। आपकी प्राकृत से हिन्दी में अनुवाद शैली अति उत्तम है। 44 शोधप्रबन्धों का निर्देशन करना महती उपलब्धि है।

आपके 75 वें जन्मदिन पर मेरी शुभकामनाएँ हैं एवं आप जिनवाणी की सेवा करते रहें ऐसी भावना करता हूँ। वीतरागी वाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ भी साधुवाद का पात्र है, जो आपके सम्मानार्थ इस अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है। विद्वानों का अभिनन्दन करना एक अच्छी उचित प्रेरणादयक परम्परा है। आप स्वस्थ और शतायु हों।

पं. केशरीमल जैन
जैननगर, भोपाल

धार्मिक पूजा-विधान में फिल्मी सङ्गीत में अरुचि

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि वीतराग वाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ पं. सुदर्शनलाल जी के 75 वें जन्मदिवस पूर्ण होने के उपलक्ष्य में पं. जी को भेंट स्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर उन्हें सादर भेंट करने जा रहा है। मैं भी संक्षिप्त शब्दों के माध्यम से उनके अभिनन्दन स्वरूप अपने भाव प्रकाशनार्थ यहाँ लिखकर सम्प्रेषित कर रहा हूँ। आप भारत के राष्ट्रपति एवं अन्य अनेकानेक प्रतिष्ठित संस्थानों से पुरस्कृत एवं सम्मानित व्यक्तित्व हैं। सहज सरल राष्ट्रीय स्तर के विद्वान् हैं। ये सम्मान-पुरस्कार विद्वान् की विद्वत्ता के उच्च स्तर को स्वयं ही परिभाषित करते हैं। अत: इस सन्दर्भ में कुछ कहने का प्रथक् से कोई औचित्य नहीं है।

मेरा परिचय तभी से है जबसे वे जैननगर में निवास हेतु पधारे। वे अत्यन्त मृदुभाषी, सहज, सरल, निराभिमानी, उत्कृष्ट प्रवचन करने वाले, सरल भाषा में क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को समझाने में पारङ्गत, सहयोगी विद्वान् हैं। वे आगम के सन्दर्भ से जो भी विवेचनायें करते हैं वे पूर्ण तर्क-संगत तथा वैज्ञानिकता पूर्ण दृष्टिकोण लिये हृदयग्राही होती हैं। उनके सभी पुत्रगण, पुत्रवधुयें, पुत्री दामाद सभी उच्च शिक्षित हैं जो सहज ही है। जब पिता तथा माता दोनों मेधावी उच्चशिक्षित हों तो उनकी सन्तति तो उन जैसी होगी ही। आपने अपने कार्यकाल में अर्धशतक के लगभग शोधार्थियों को डॉक्ट्रेट (पी-एच.डी) की उपाधि से विभूषित करवाकर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। पं. मदनमोहन मालवीय के हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में संस्कृत विभागाध्यक्ष रहना, वह भी इतने लम्बे समय तक यह भी एक अनुपमेय उपलब्धि है। पण्डित जी की एक विशेषता मैंने देखी कि आप धार्मिक आयोजनों जैसे पूजा विधान आदि के संगीतमय कार्यक्रमों में जो फिल्मी धुनों पर बजने वाले गीत आदि होते हैं उन्हें सर्वथा अप्रिय लगते हैं। उनका आग्रह होता है कि मौलिक संगीत पर आधारित संगीतमय प्रस्तुति होना चाहिए। उनका द्दष्टिकोण सर्वथा उचित है क्योंकि ऐसे अनुत्कृष्ट धुनों पर बजने वाले गीत-भजन आादि मन को अशांत एवं दूषित ही करते हैं। समाज को इस द्दष्टिकोण पर ध्यान देना चाहिए।

मैं यही भावना करता हूँ कि वे पूर्ण स्वस्थ तथा दीर्घजीवी रहकर अपने ज्ञान से समाज को लाभान्वित करते रहें।

श्री सन्तोष कुमार जैन
23 ओम शिव नगर, लालघाटी, भोपाल

जैनागम के गूढ़-रहस्य प्रतिपादक

जैनदर्शन, प्राकृत एवं संस्कृत विद्या के मूर्धन्य मनीषी यशस्वी विद्वान् प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन अपने 75वें जन्मदिन के सुअवसर पर आत्महित की तीव्र भावना के दीप प्रज्ज्वलित कर शाश्वत सुख-शांति को प्राप्त करें। ऐसी भावना के साथ हम आपका अभिनंदन करते हैं। वर्तमान शासन नायक अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर की देशना के गूढ़ रहस्यों को आपने लेखन और वाणी के माध्यम से समाज को चिंतन की एक दिशा प्रदान की है। निज-हितार्थ आप देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करते रहें। इसी मङ्गल भावना के साथ हमारे परिवार की ओर से आपको बहुत-बहुत शभकामनाएँ।

मानुष भव उत्तम मिला, छोड़ो भव का पन्थ।
उर विवेक जाग्रत करो, मार्ग चलो निर्ग्रन्थ।।

फूल बाग में हो या जङ्गल में उसकी पहचान स्वयं से है। उसे कोई जाने या न जाने उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आदरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन को मेरी और मेरे परिवार की ओर से बहुत-बहुत बधाई।

जिनवाणी पथ पर चलो, धारण करो श्रुतेश।
जिनवाणी का श्रद्धान ही, करे सिद्ध सम वेश।।

श्रीमती रानी जैन एवं कु. अनमोल जैन
200 ओम शिव नगर, लालघाटी, भोपाल

सर्वगुणरूपी रत्नों की खान

यह दिगम्बर जैन समाज का परम सौभाग्य का विषय है कि माननीय पण्डित जी के 75 वें वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में अभिननन्द ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

यह हर्ष का विषय है कि मैं अपने यशस्वी प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के 75 वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर कुछ अन्तरङ्ग भाव व्यक्त करना चाहती हूँ। वैसे तो पण्डित जी से मेरा परिचय मात्र कुछ सालों से ही हुआ है फिर भी उनका व्यक्तित्व उनके हाव-भाव, चेहरे का तेज, सौम्य भाव सरलता अनायास ही आकर्षित करता है। मेरी दृष्टि में आप अवश्य ही सर्वगुण रूपी रत्नों की खान हैं। जब हम आपसे मिले तो आपके विषय में जैसा सोचा था उससे भी अधिक गहन-गम्भीर सागर निकले। आपने उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन, संस्कृत प्रवेशिका, प्राकृत दीपिका आदि अनेक कृतियों का सृजन करके जिस प्रकार साहित्य परम्परा को आगे बढ़ाया है वह साहित्य जगत की अमूल्य व स्थायी धरोहर है। आपकी समाजसेवा, शैक्षणिक सेवा, अनेकानेक उपलब्धियाँ, साहित्य सेवा, सम्पूर्ण जैन समाज को गौरवान्वित करने के लिए पर्याप्त ही नहीं अपितु आपके विशिष्ठ साहित्यक अवदान एवं संस्कृत प्राकृत भाषा के संरक्षण-संवर्धन के लिए किये गये महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए आपको भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी द्वारा राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित किया गया है।

आप धार्मिक आस्था, सुसंस्कार, भाग्य व पुरुषार्थ के बल पर सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हैं। आप जैन समाज में एक स्तम्भ की भाँति सभी को प्रेरणा के आधार हैं। आपने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उच्च लक्ष्य को दृढ़ ध्येय बनाकर निश्चय से उस लक्ष्य को प्राप्त किया है। आप स्वस्थ, निरोग व शतायु होकर निरन्तर ऐसे ही परिवार, समाज एवं देश की उन्नति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देकर यह भव और परभव सफल बनायें।

मैं विनय, श्रद्धा एवं आदर के साथ आपके प्रति नतमस्तक हूँ तथा अपने परमाराध्य देवाधिदेव भगवान नेमिनाथ जी से यही प्रार्थना करती हूँ कि ऐसी ही सदा अनवरत जिनवाणी की सेवा करते रहें। ऐसी आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि सरस्वती माँ की कृपा आप पर बनी रहे। गुरु की कृपा से जीवन में सादा जीवन उच्च विचार की धारा निरन्तर बहती रहे। इसी भावना के साथ अनेक शुभकामनाएँ।

श्रीमती कल्पना जैन
जैननगर, भोपाल

सरस्वती पुत्र श्री सुदर्शन लाल जी जैन जगत् के वह मूर्धन्य व्यक्तित्व है जिन्होंने अपने कुल, परिवार, ग्राम, क्षेत्र, देश को ही नहीं अपितु जैन जगत को, जैन दर्शन को महिमा से मंडित किया। जिनाराधना एवं श्रुताराधना को आधार बनाकर सम्पूर्ण जीवन निर्वाह करने वाले श्री सुदर्शन लाल जी की कार्य शैली उनके व्यक्तित्व की परिचायक रही।

मेरा इनसे परिचय विद्वत् सङ्गोष्ठी के माध्यम से हुआ, मैंने इन्हें प्रथम बार सुना तो सुनकर मुझे लगा इनके अंदर ज्ञान का असीम भंडार है जो इनकी वाणी से सहजरूप से नि:सृत होता है। अनेक विद्याओं के अधिपति आप उदारमना व्यक्तित्व के धनी हैं।

आचार्य भगवन् श्री विद्यासागर जी महाराज के परम प्रभावक शिष्य शंका समाधान प्रणेता, श्रमणश्रेष्ठ मुनि श्री प्रमाण सागर जी के दर्शनार्थ चातुर्मास के उत्तरार्द्ध में आप अपनी जीवनसंगिनी श्रीमती मनोरमा जी के साथ अजमेर में पधारे। तब आपसे प.पू.महाराज श्री से चर्चा की। प्रियतम शिष्यों में एक हैं। सुखद बात यह है कि आपने ही गुणायतनप्रणेता गुरुदेव प्रमाणसागर जी के मनमस्तिष्क में गुणायतन के निर्माण की रूपरेखा प्रकट कराई थी। आपने महाराज श्री को एक बार दर्शन के दौरान चर्चा कर उन्हें गुणायतन के निर्माण के लिए उत्प्रेरित किया था और यही कारण है कि आज गुणायतन जैन धर्म के सभी तीर्थों का एक अद्भुत गौरव बनने जा रहा है। जिसका सम्भवत: लोकार्पण 2020 में हो जायेगा।

इतना ही नहीं आपने गुणायतन निर्माण में स्वार्जित पुण्यशाली धनराशि प्रदान कर एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में गुणायतन से जुड़कर अपने जीवन को धन्य तो किया साथ ही परिवार को भी गौरवान्वित किया है।

ऐसे बहुभाषाविद्, सरल एवं सुलझे व्यक्तित्व के धनी श्री सुदर्शनलाल जी के स्वर्ण जयन्ती वर्ष पर सादर नमन।

पं. सुदर्शन जैन
पिंडरई, मण्डला

ऋषितुल्य महामानव

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

परम श्रद्धेय गुरुवर, प्रातःस्मरणीय, यशस्वी, सरस्वती के वरदपुत्र प्रो. सुदर्शन लाल जैन सर एक महान् व्यक्तित्व वाले, साम्यस्वभाव, जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान्, ऋषितुल्य महामानव हैं। श्रद्धेय गुरुवर से हमारा साक्षात्कार जब में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग में परास्नातक प्रथमवर्ष (1999-2000)का छात्र था, तब हुआ। उसी समय से इनकी बड़ी महनीय कृपा हमारे ऊपर है।

जब मैं संस्कृतविभाग में छात्र के रूप में पहुँचा तब उस समय वहाँ हमारा कोई पूर्व परिचित व्यक्ति या अध्यापक नहीं था। परम श्रद्धेय गुरुवर के ऋषि स्वभाव के कारण मैं इनके सान्निध्य में रहना पसन्द करता था। गुरुवर उस समय हमको कर्पूरमञ्जरी नामक एक प्राकृत सट्टक पढ़ाते थे। यह आज भी मुझको स्मरण है। इस स्मरण का कारण उनका प्राकृत भाषा के सरल एवं सारगर्भित अध्यापन को है। जो आज भी हमारे मानस पटल पर सजीव रूप से विद्यमान है।

प्रातः स्मरणीय गुरुवर का विशेष सान्निध्य हमको सन् 2003 में मिला। जब यू.जी.सी. नेट परीक्षा उत्तीर्ण कर पी-एच.डी. में प्रवेश लेने हेतु पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पहुँचा। शोधकार्य किसी गुरु के निर्देशन में ही होता है। एक दिन की बात है जब मैं अशान्त मन से संस्कृत विभाग पहुँचा। उस समय गुरुवर प्रो. जैन सर संस्कृतविभाग के प्रमुख थे और विभाग में ही विराजमान थे। मैं अपने गुरुप्रेम स्वभाव से उनके पास गया, चरण स्पर्श किया और अशान्त मन उनके कक्ष से वापस होने को पीछे मुड़ा। तब तक गुरुवर सहसा बोल पड़े 'बेटा कोई काम है क्या ?' मैंने कातर मन से उनकी तरफ देखा और अशान्त मन की व्यथा उनसे कह दी। गुरुवर हंस पड़े और विभाग के बाबू ए.के.सिंह को आवाज लगा कर कहा कि सन्तोष के फार्म पर मेरा नाम लिख दो। उस समय मुझको अपार हर्ष का अनुभव हुआ। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे मरणासन्न को पुनः जीवन मिल गया हो।

यह कहानी गुरुजी के सहृदयी स्वभाव एवं अनाथों के नाथ होने की है। पूज्य गुरुवर प्रो. जैन सर कुछ ही महिनों के पश्चात् बी.एच.यू. कला सङ्काय के प्रमुख हो गये। कार्याधिकता से व्यस्त रहने लगे, किन्तु उस व्यस्त समय में भी इनकी कृपा हमारे ऊपर बनी रहती थी। इनके कुशल निर्देशन में हमारा शोध-कार्य अतिशीघ्र पूर्ण हो गया। पद से सेवा निवृत्त होने के पश्चात् जब आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में प्रधान के रूप में अपनी सेवा देने गये तो उस समय हमको इनकी कृपा से ही सभी दर्शनों को समझने की सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हुई। आपकी कृपा से जैनदर्शन के अनेक शोध सङ्गोष्ठियों एवं वर्कशाप में प्रतिभाग करने का सुअवसर मिला।

पूज्य गुरुवर प्रो. जैन सर की महिमा एवं कृपा का वर्णन मैं अपनी अल्पबुद्धि से नहीं कर सकता। हमारा अन्तःकरण इनकी कृपा का साक्षी एवं सदैव ऋणी है।

मैं आज जो कुछ भी हूँ सब केवल उन्हीं की कृपा का फल है। मैं हृदय की गहराइयों से गुरुवर का स्वागत, कोटि-कोटि वन्दन एवं अभिनन्दन करता हूँ। अस्तु, अन्त में केवल इतना ही कहूँगा कि -

अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

डॉ. सन्तोष कुमार पाण्डेय
प्रवक्ता, संस्कृत, बाबा बहुआदास पी.जी.कालेज, अम्बेडकर नगर

मनीषी विद्वानों की श्रृंखला के स्तम्भ पुरुष

दमोह नगर में बड़े पले मास्टर सिद्धेलाल के गृहाङ्गण में बचपन की अठखेलियाँ खेलने वाले बालक सुदर्शन को कोई नहीं जानता था कि यह बालक एक दिन जैन जगत का सिद्धहस्त मनीषी विद्वान् के रूप में अपनी अमिट छाप बिखेरेगा। गर्व-दंभ से परे सरस्वती के वरद पुत्र सारस्वत मनीषी की विद्वत्ता की सुरभि देश क्या विदेश में भी विखेर रही है। आपका जब भी दमोह आगमन होता था तब मेरे घर पर मेरे पिता जी (पं. अमृतलाल जी प्रतिष्ठाचार्य के घर) के साथ घंटों धर्म चर्चारत रहते थे। उनसे बात करने पर ऐसे प्रतीत होता जैसे वे मेरे परिजन (चाचा) हैं। उनकी चर्चा का मुख्य विषय बहुधा स्याद्वाद् विद्यालय के विकास का होता था। वे जैन संस्थाओं की व्यवस्थाओं के परिवर्तन परिवर्धन की भी चर्चा करते थे। शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े, शिक्षण के प्रति पूर्ण-निष्ठावान् रहते हुये आपने अपनी सेवायें दी हैं जिसके प्रतिफल स्वरूप आपको राष्ट्रपति पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

समाज के चारित्रिक उत्थान के प्रति चिंतनशील तथा समाज को सही दिशा निर्देशन करना आपकी जीवन शैली का अंग बना।

आपकी देव, शास्त्र, गुरु प्रामाणिक व पठनीय है। यह देव शास्त्र गुरु के स्वरूप का शोधपूर्ण ग्रन्थ है। आपके शोध आलेख आपकी विद्वत्ता का उद्घाटन करते हैं। सम्प्रति एक छोटे से गाँव मंजला (शाहपुर) में जन्म लेकर उन्नति के शिखर पर पहुँचने की विधा ने सुदर्शन को प्रोफेसर सुदर्शन लाल के रूप में विख्यात कर दिया। पूरा परिवार शिक्षा के उत्कर्ष का आश्रय प्राप्त कर देश क्या विदेश में भी आपकी शालीनता, सहृदयता, सहजता का डंका पीट रही है। आप स्वस्थ्य एवं दीर्घायु हों। हे परवार जैन समाज के अग्रिम पंक्ति के पुरोधा है। विद्वत्ता के धनी आपकी सादगी के लिये नमन।

पं. सुरेशचंद जैन
प्रतिष्ठारत्न- प्रतिष्ठाचार्य, दमोह (म.प्र.)

निरभिमानी गुरुदेव को प्रणाम

भारतीय संस्कृति के संपोषक, संरक्षक, परम्परा के निर्वाहक, नियमित आचार पद्धति एवं संस्कारयुक्त जीवन शैली को जीवन्त करने के लिए संकल्पित भारत के गणमान्य विद्वानों में अग्रणी होने पर भी अभिमान न होना, न वैदुष्य का, न सत्ता का, न पद का, न धन का। प्राय: देखा जाता है कि विद्या के क्षेत्र में विशिष्ट ख्याति रखने वाले मनस्वी एवं तपस्वी व्यावहारिक एवं प्रशासनिक जीवन पर उतनी पकड़ नहीं रखते। किन्तु आदरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी को देखकर ज्ञात हुआ कि आपके व्यक्तित्व में न केवल तपस्वी विद्वान् अपितु मनस्वी प्रशासक भी उतने ही प्रखर रूप में दिखाई देता है।

आचार्य द्वारा जब ज्ञात हुआ कि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है और उस ग्रन्थ में मुझे भी कुछ संस्मरण लिखना है, तब उस समय जो हर्षानुभूति हुई उसको वर्णित करना मेरे लिए असम्भव है। मैंने स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया कि मैं भी अपनी सुकुमार बुद्धि से अपने भावों को लिपिबद्ध कर कुछ प्रो. जैन जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर सकूँ। आप कर्म एवं भाग्य उभय सामञ्जस्य की डोर तथा नारिकेलफल सम्मित व्यवहाररूपी सोपान हैं। कुशल तथा उत्तम शिक्षक के साथ-साथ उदारता तथा महनीयता आपके जीवन में प्रकार गुम्फित है। जिस प्रकार रुद्राक्ष में 'शिवाक्षर मन्त्र' गुम्फित होता है। एक स्मृति है जो आजीवन मानसपटल पर छायी रहेगी। आर्य महिला में मुझे 'संस्कृत प्रवक्ता' पद हेतु साक्षात्कार में आमन्त्रित किया गया, वैसे साक्षात्कार की प्रकृति भयावह होती है किन्तु साक्षात्कार कक्ष में प्रवेश करते ही चिरपरिचित आकृति को देखकर मेरा सारा भय न जाने कहाँ लुप्त हो गया। आपका सौम्य मुख देखकर ढाढस मिला और आपका मात्र इतना ही कह देना कि यह तो 'अपनी ही शिष्या' है, मानसिक रूप से मुझे बल मिला और उसके बाद जो फल मिला उसके लिए सर मैं आपकी सर्वदा ऋणी रहूँगी।

आपके सम्मान में 'अभिनन्दन ग्रन्थ' के प्रकाशन पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करती हूँ। इसके साथ ही भगवती अन्नपूर्णा एवं बाबा विश्वनाथ से आपके दीर्घायु की कामना करती हूँ। आपकी शिष्या–

श्रीमती डॉ. जया मिश्रा

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, आर्य महिला पी. जी. कालेज, वाराणसी

स्तुत्य और चिरस्मरणीय व्यक्तित्व

सम्मानीय विद्वद्वरेण्य साहित्य मनीषी डॉ. सुदर्शन लाल जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है, अपने जन्म स्थान मंजुला ग्राम जो कि छोटा सा गाँव सागर जिले में है। वहाँ की मिट्टी में जन्मे श्री सुदर्शनलाल जी 10 माह के अल्पवय में ही उनकी माता जी का साया उनके सर पर से उठ गया। परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी उन्होंने अल्पवय से ही निःशुल्क जैन छात्रावासों में रहकर अध्ययन किया एवं संस्कार प्राप्त किये। धार्मिक संस्कार प्राप्त कर देव शास्त्र गुरु की भक्ति कर आज वह बड़े विद्वान् के रूप में विख्यात हैं। उनके परिवार में सब उच्च पदों पर हैं। सभी प्रकार के धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत हैं। ये उनकी देन ही है कि मैं उनके 75 वें वर्ष की बधाई प्रेषित कर रहा हूँ एवं उनकी दीर्घायु की कामना श्री वीरप्रभु से करता हूँ।

मैं आपके गुणों का अभिनन्दन करता हूँ कि वह गुण मुझे भी प्राप्त हों। आप एक बहुत ही सरल मनोवृत्ति के विद्वान् हैं। आपमें जरा भी अभिमान नहीं है। आपका सरल सौम्य स्वभाव स्तुत्य है एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी भविष्य में स्तुत्य रहेगा एवं चिरस्मरणीय रहेगा।

पं. सनत कुमार जैन

खिमलासा, सागर (म.प्र.)

देशभक्त मनीषी

अनेक वर्षों से मैं प्रो. सुदर्शनलाल जैन को जानता हूँ। इनके परिवार के साथ हमारे निकट सम्बन्ध रहे हैं। इनके पिता जी से मेरी प्रायः प्रतिदिन धर्म और समाज विषयक चर्चा होती थी। वे एक कुशल, अनुशासन प्रिय तथा देशभक्त मास्टर थे। उनके पुत्र में भी वे सभी गुण हैं। सुदर्शन लाल जैन संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि भाषाओं के ज्ञाता हैं। अच्छे विद्वान् और विनम्र स्वभावी हैं। देशभक्ति के कारण जब 1962-63 में देश पर आक्रमण हुआ तो आपने प्रधानमन्त्री को अपनी छात्रवृत्ति प्रदान करने हेतु पत्र लिखा था। धर्म में अच्छी रुचि है। इनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

श्री विजय कुमार मलैया

विजय आयल मिल, दमोह (म.प्र.)

जैन जगत के गौरव

प्राचीन काशी नगरी सदैव से विद्वानों को सम्मान व गौरव देती रही है। यह पावन धरा जैन धर्म के चार तीर्थंकरों (सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ) की जन्म भूमि है। यहाँ भारतीय वाङ्मय दर्शन और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की प्राचीन परम्परा अब तक सुरक्षित है। इसी काशी (वाराणसी) नगरी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष व डीन जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्यरत तथा अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के महामन्त्री से सुशोभित माननीय प्रो. सुदर्शन लाल जी का नाम पूरे भारत वर्ष के जैन विद्वानों में बहुत ही आदर व सम्मान से लिया जाता है।

वैसे प्रो. साहब से मेरा सीधा वास्ता प्रारम्भ में नहीं था किन्तु मेरे पूज्य पिताजी स्मृतिशेष प्रो. (डॉ.) प्रेमचन्द्र जैन जी (विधि प्रो. हेड व डीन ला फैकल्टी) से आपका गहरा आत्मीय मधुर नाता था। जिससे मेरा आपसे परिचय हुआ।

आप अपने शैक्षिक कार्य से 'लोक सेवा आयोग' तथा अन्य संस्थाओं में आते थे एवं शुद्ध आहार व अनुकूल

वातावरण के लिए अधिकांशतः हमारे निवास पर ही ठरहते थे। तभी से मेरा परिचय प्रो. साहब से हुआ।

आपका व्यक्तित्व बहुत ही अनूठा है। आप व आपकी पत्नी बहुत ही सीधे सादे पहनावा के साथ रहते हैं तथा उनके मुखमण्डल पर सदैव निश्छलता, सौम्यता, सरसता झलकती रहती है।

नम्रता के प्रेरक प्रो. जी सीधे साधे शब्दों में अपनी बात कह देते हैं। विद्वत्ता के प्रति अहंकार की क्षीण रेखा भी आनन पर नहीं दिखाई देती है। जिसकी झलक आप द्वारा रचित पुस्तिका 'देव शास्त्र गुरु' में दिखाई देती है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् जैसी उच्च कोटि की संस्था के महामन्त्री पद पर सुशोभित रहते हुए आपने भगवान् आदिनाथ की तपस्थली व ज्ञानस्थली तीर्थ नगरी प्रयागराज (इलाहाबाद) में एक भारतवर्षीय विद्वत्सङ्गोष्ठी का बहुत ही सफल शानदार आयोजन किया था।

सरल, सहज, मृदुभाषी, कुशल, साहित्य-सृजक प्रो. सुदर्शनलाल जैन जी का अभिनन्दन करते हुए वीर प्रभु से यही कामना करता हूँ कि ऐसे महान् व्यक्तित्व के धनी प्रो. जी का सान्निध्य व संरक्षण दीर्घकाल तक प्राप्त होता रहे तथा आपके आशीष तले ज्ञान का दीप हमेशा प्रज्ज्वलित होता रहे।

आपके जीवन के शानदार 75 वें वर्ष पर अभिनन्दन महोत्सव के अवसर पर आपके दीर्घ जीवन की कामना करते हुए मैं स्वयं मेरा परिवार एवं पूरा जैन समाज गौरवान्वित महसूस कर रहा है।

श्री अनूप चन्द्र जैन, हाईकोर्ट एडवोकेट
महामन्त्री, श्री पदम प्रभु दि. जैन अतिशय तीर्थक्षेत्र, श्री प्रभाषगिरि (कौशम्बी)

सरस्वती है बसी कंठ में होकर के सरसवती

विद्वद्वरेण्य सिद्धसारस्वत, सिद्ध-सरस्वती-नन्दन।
प्रोफेसर श्री सुदर्शन लाल का, हम करते हैं अभिननन्दन।। 1।।
कारण, वर्ष पचहत्तरवें में, आपश्री कर रहे प्रवेश।
हर्षित होकर डायमण्ड जुबली, मना रहा है पूरा देश।। 2।।
दशम माह की अल्प आयु में, सहा आपने मातृ-वियोग।
बाल्यकाल से रहा आपको, घोर गरीबी का संयोग।। 3।।
प्रायमरी स्कूल में करते, पूज्य पिताश्री शिक्षण कार्य।
चाह रहे थे बने भी बेटा, रहे नयन सम्मुख अनिवार्य।। 4।।
धार्मिक आस्थावान आप हैं, पुरुषसिंह पुरुषार्थी नर।
भाग्य बनाता स्वयं व्यक्ति है, अथक-अकथ सार्थक श्रमकर।। 5।।
पहुँच गये इसीलिये आप भी, ऊँचाइयों के उच्च शिखर।
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, रहे लेक्चरर, प्रोफेसर।। 6।।
यही नहीं डीन तक पहुँचे, किया अड़तीस वर्ष शिक्षण।
हुए रिटायर दो हजार छै, सरस्वती का कर वंदन।। 7।।
बहुभाषाविद् आप हैं श्रीमन्, प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी।
वाणी में माधुर्य समाया, जैसे गंगा - कालिन्दी।। 8।।
सरस्वती है बसी कंठ में, होकर के सरसवती।
प्राप्त हुआ सम्मान आपको, द्वारा भारत राष्ट्रपति।। 9।।
व्यक्ति एक है, कार्य बहुत से, कहाँ तक कहें, गिनायें हम।
अवर्णनीय, गूंगे का गुड़ है, नहीं पूर्ण संस्था से कम।। 10।।
रहें निरोग, शतायु होवें, बढ़े प्रगति पर पग अविराम।
थोड़ा लिखा, बहुत मानना, हम लेते हैं यहीं विराम।। 11।

पं. कवि लालचंद जैन, 'राकेश' जैन
भोपाल (म.प्र.)

ज्ञानामृत का झरना

जिन अभिनंदन हम कर रहे, किया काशी ने अति हर्षाय
मनोहार की ज्ञान की, दिया जहाँ दोनों हाथ-लुटाय।
प्रथम नमाऊं शीष मैं, उन मात-पिता को जाय,
जिनने ऐसा लाल जना, श्री राष्ट्रपति ने किया सम्मान बुलाय।। 1।।
निर्धन कुल में जन्म लिया, नाम पितु सुदर्शन दिया रखाय,
साक्षात सरस्वती माँ जिनकी, पितु सिद्धेलाल कहाय।
कीचड़ में उग कमल ने, लावण्यता ऐसी दई दिखाय,
जो आया सम्पर्क में, वो हुआ प्रभावित जाय।। 2।।
सङ्घर्ष मई जीवन जीया, मसीहा विधि ने दिया बनाय,
ज्यों अंधकार को चीर दिवाकर, अवनी पै ले अंगडाय।
छात्रवृत्ति से पढ़े सदा, महाविद्यालय पहुँचे जाय,
उच्च प्रतिष्ठित पद पाकर, ज्ञान की ज्योती दई जलाय।। 3।।
उन्तालीस वर्ष तक ज्ञान उढ़ेला, पद विभागाध्यक्ष निर्माय,
सङ्काय प्रमुख भी रहे वहाँ, निज ज्ञान का दीप जलाय।
फिर भी अहं नहीं जागा, निज गरिमा दई दिखाय,
छात्र सभी नतमस्तक हुये, ऐसे गुरु को पाय।। 4।।
चौबालीस छात्र डॉक्ट्रेट कराई, निर्देशन दिया दिखाय,
ऐसे ज्ञानपुञ्ज ने सबको, निज प्रतिभा दई दिखाय।
रहे सदा वो उच्च पदों पर, ज्यों ध्रुवतारा चमकाय,
ऐसे मूर्धन्य मनीषी को, रहे शत-शत शीष नमाय।। 5।।
जैन धर्म के उच्च पदों को, किया सुशोभित जाय,
अखिल भारतीय जिन समूह ने, लीना शीष बिठाय।
ऊँचा मस्तक कर दिया, हम तातें रहे बढ़काय,
निज कुल और निजधर्म को, दीना व्योम चढ़ाय।। 6।।
भाग्योदय जब होत है, वैसे सब योग मिलाय,
ऐसे पुत्र मिले उनको, दिया पितु का मान बढ़ाय।
ज्ञान क्षितिज-को छू करके, अमेरिका में पहुँचे जाय
उच्च पदों को किया सुशोभित, राष्ट्र का डंका दिया बजाय।। 7।।
पिच्चहत्तरवीं हम वर्षगांठ को, हो पुलकित रहे मनाय,
सौवीं भी वर्षगांठ मनायें, मन में मोद- मनाय।
ज्ञानामृत झरता रहे, झर-झर अवनी पै आय
'उत्साही' करता कामना, अज्ञान तिमिर विनशाय।। 8।।

श्री नरेन्द्र 'उत्साही'
जैननगर, भोपाल

एक चुम्बकीय व्यक्तित्व

प्रोफेसर पं. सुदर्शन लाल जैन मेरे लिये कुछ समय पहले तक एक अजनवी थे। पर मैं नहीं जानता कि हम लोगों का परिचय कैसे हो गया। पर यह स्वयं सिद्ध है कि चुम्बक लोहे को खींचता है। पं. जी का व्यक्तित्व एक चुम्बक के समान ही है जो हम जैसे लोहे को खींच लिया।

पं. जी वाराणसी में संस्कृत के प्रोफेसर रहे हैं। प्राकृत भाषा में भी इनका पाण्डित्य है। पं. जी एक विद्वान्, मृदुभाषी, सरल स्वभावी एवं मिलनसार व्यक्तित्व के धनी हैं। आचार्यश्री 108 विशुद्धसागर जी का जब 2014 में आगमन जैन नगर में हुआ था। पं. जी भी उसी समय भोपाल में आए थे। श्रीसिद्धचक्र विधान का अवसर था। उस समय आचार्य श्री के मुख से पं. जी का नाम सुना था। उसी समय पं. सोंरया जी ने ही मुझे उनकी ओर आकर्षित किया था और कहा था कि पता लगाओ कि प्रोफेसर साहब रहते कहाँ हैं। यह संयोग ही था कि मैंने भी रुचि दिखाई और परिचय हो गया। परिचय के बाद ही पता चला कि वे मेरे मामाजी के सहपाठी रहे हैं।

मेरा परिचय बढ़ता गया फिर मैंने पं. जी से कहा कि वे सुबह या रात्रि में स्वाध्याय शुरु करावें। उन्होंने हमारी विनय को स्वीकार करके सुबह स्वाध्याय कराना शुरु किया। काफी समय तक स्वाध्याय अनवरत चलता रहा और काफी लोगों ने इसका लाभ लिया। पर्यूषण पर्व आये, रात्रि को एवं सुबह प्रवचन के लिये पं. की आवश्यकता थी। पंडित जी को वगैर सूचित किये एवं बिना स्वीकृति के नाम हमने लिख दिया। जब पं. जी मन्दिर आये तो उनसे प्रवचन के लिये कहा। इतनी सरलता कि पंडित जी कुछ कह न सके और दस दिन मोक्षशास्त्र एवं दश धर्मों के प्रवचन का लाभ जैन नगर समाज को मिला।

एक और घटना याद आ रही है आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी का चातुर्मास हबीबगंज भोपाल में चल रहा था। पं. जी ने एक दिन मुझसे कहा कि चलो आचार्य जी के दर्शन कर आयें, मैं उनके साथ गया। उस भारी भीड़ के बीच आचार्य श्री आहार के उपरान्त अपने कक्ष में जा रहे थे। मैं और पंडित जी भी भीड़ में उनके दर्शन करने के लिये घुटनों के बल जमीन में बैठकर आचार्य श्री का अभिवादन कर रहे थे। जैसे ही आचार्य श्री नजदीक आये हम लोगों ने नमोस्तु कहा। आचार्यश्री ने पंडित जी को देखा, क्षण भर रुके और कक्ष में आने का संकेत किया। पर आचार्यश्री के कक्ष में जाना सरल बात नहीं थी फिर भी बात बन गई और आचार्यश्री के कक्ष में पहुँच गये। काफी समय तक आचार्यश्री और पण्डित जी की चर्चा होती रही। आचार्य श्री कनखियों से कभी-कभी मुझे भी देख लेते थे। पंडित जी ने भांप लिया और और आचार्य श्री से मेरा परिचय भी कराया, जिस का फल मुझे आशीर्वाद के रूप में मिला। वे क्षण जो पंडित जी की वजह से मुझे प्राप्त हुये थे मैं कभी नहीं भूल सकता। उसी समय मैंने जाना कि पंडित जी का व्यक्तित्व कितना महान् है। मैं पंडित जी की दीर्घायु की कामना करता हूँ और इच्छा करता हूँ कि पंडित जी की विद्वत्ता का लाभ जैन नगर की समाज को तथा अन्य सभी को काफी समय तक मिलता रहे।

श्री पदम चन्द जैन
सेवावृत्त इंजीनियर, जैन नगर, भोपाल

निष्पृही दृढ़ सिद्धान्तवादी

आदरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन, जैनदर्शन, प्राकृत, संस्कृत के तलस्पर्शी विद्वान् हैं। उन्होंने लगभग 40 वर्षों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग को सुशोभित किया। वे विभागाध्यक्ष एवं डीन के पद पर भी रहे। विश्वविद्यालय में विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी उन्होंने अपने पद की गरिमा का पूर्णरूप से निर्वाह किया। किसी भी प्रकार के भय, लालच, लोभ से वे अपने सिद्धान्तों से नहीं डिगे। जन्म से गरीबी का संसर्ग रहने पर भी लाभप्रद पद उन्हें विचलित नहीं कर पाया। अनेक छात्रों ने आपके मार्गदर्शन में शोधकार्य करके पी-एच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त की हैं।

राष्ट्रपति सम्मान एवं अन्य सम्मानों से पुरस्कृत होने पर भी उनमें लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। आपकी सरलता, सादगी, निस्पृहता प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। आपने अध्यापन कार्य में रत रहते हुए भी अपना समय विद्वत् परिषद्. जैन समाज वाराणसी आदि के लिये सहर्ष, ईमानदारी पूर्वक दिया। जैसे आपको अपने माता -पिता से नैतिक, धार्मिक सुसंस्कार मिले थे, वही आपने अपनी सन्तानों को दिये हैं।

75 वर्ष की उम्र होने पर भी धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में आपकी सह-भागिता प्रशंसनीय है। वर्तमान में भोपाल में निवासरत होते हुए वहाँ की समाज में आपका शैक्षणिक प्रवचन आदि योगदान महत्त्वपूर्ण है। वीर प्रभु से मङ्गलकामना है कि आप शतवर्ष पूर्ण करें और आपकी धार्मिक क्षेत्र में सक्रियता मील का पत्थर बने। इसी मङ्गल भावना के साथ

इंजी. श्री दिनेश जैन

अरिहन्त फर्नीचर्स, आजाद मार्केट, रिसाली, भिलाई

अभिनन्दनीय व्यक्तित्व

नेत्रों में सरलता एवं पैनी-दृष्टि सौम्य-मुखाकृति और गौरवशाली व्यक्तित्व प्रो. सुदर्शनलाल जी जैन का है।

मैंने श्री सुदर्शन लाल जी के लिए श्रद्धा के जिस बीज को कभी मानस-पटल पर अनायास बोया था वह उनके प्रभावक, निश्च्छल और आत्मीयता भरे सरल व्यक्तित्व के कारण अंकुरित एवं प्रफुल्लित होता गया और उसका फल मधुर तो है ही, आनन्दप्रद भी है।

श्री सुदर्शनलाल जी से ज्यादा पहले से मैं परिचित नहीं था। 4-5 वर्ष पूर्व जब आप भोपाल में नन्दीश्वर द्वीप जिनालय में दर्शन/पूजन हेतु अपनी धर्मपत्नी श्रीमति डॉ. मनोरमा जैन के साथ नित्य आते थे जिस कारण मुलाकात निकटता में परिवर्तित होती गयी। उनके जीवन से प्रभावित न हो ऐसा नहीं हो सकता। आप शोधरस पायी भ्रमर हैं। आपको नई शोध उपलब्धि से अपार सन्तोष मिलता है। आप अपने लक्ष्य में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती है।

''स्वनगरे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'' की उक्ति मैंने सुनी थी जो अपने जीवन में अनेकों श्रेष्ठ विद्वानों के चरित्रों को पढ़ने से अनुभूति भी हुई। वर्तमान में दिगम्बर जैन समाज के सौभाग्य से राष्ट्रस्तर के साहित्यकार, विद्वान एवं भारत की सर्वश्रेष्ठ यूनीवर्सिटी हिन्दू विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त डीन प्रोफेसर श्री डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन के द्वारा पढ़ाए गऐ उच्च शिक्षा प्राप्त हजारों शिष्य देश विदेशों में गौरवपूर्ण पदों पर कार्यरत हैं। शिक्षा जगत् में प्रोफेसर सा. को राष्ट्रस्तर पर भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित किया गया है। जो आपकी विलक्षण विद्वत्ता अपार-कर्मष्ठता और ख्याति प्राप्त शिक्षण-पद्धति की प्रामाणिकता का प्रतीक है।

आपके सम्मान में प्रकाशित हो रहा अभिनन्दन ग्रन्थ आपकी विलक्षण प्रतिभा, उन्नत व्यक्तित्व असीम कर्मठता और अप्रतिम विद्वत्ता का एक ऐतिहासिक दस्तावेज होगा। भारतीय दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक आपके सम्मान में प्रकाशित हो रहे अभिनन्दन ग्रन्थ से भावी पीढ़ियाँ प्रेरणा प्राप्त करती रहेंगी। आप यशस्वी सुखी-दीर्घ जीवन के साथ आपके गौरवमय जीवन में धर्माचरण में प्रवृत्ति साकार होती रहे। इसी मङ्गल कामना के साथ मैं हृदय से आपका अभिनन्दन करता हूँ।

डॉ. सर्वज्ञदेव जैन

चिकित्सक तथा सम्पादक, वीतराग वाणी, 252 जैन नगर लाल घाटी, भोपाल

वंदनीय पं. जी

पं. सुर्दशन लाल जी आदर्श चरित्र के धनी हैं। अपने आदर्शों एवं शोघ के लिए जैन समाज में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण साहित्य के क्षेत्र में आपने अमिट स्थान प्राप्त किया है। आपने जैन समाज का नाम रोशन किया है। साथ ही अपने परिवार (पुत्र, पुत्री, पत्नी) को शिक्षा के क्षेत्र में शिखर पर पहुंचाया है।

आपने जन्म से ही कठिन समय व्यतीत करके अपने लक्ष्य को नहीं छोड़ा, आज इस भावना को देखकर एवं इनके कार्य, दृढ़ इच्छा शक्ति, आपकी किसी युवा से कम नहीं है। आपका ज्ञान हम सभी साधर्मियों को मिलता रहे, आप दीर्घायु हों, हमारे बीच में रहकर हमें प्रेरणा दायक मार्ग को प्रशस्त करते रहें। भगवान से यही कामना करता हूँ।

श्री नील चौधरी
एडवोकेट, जैन नगर, भोपाल

सरस्वती एवं सरलता का विरल संगम

पं. सुर्दशन लाल जी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा है जो भी इनके सम्पर्क में आता है वो इनका होकर रह जाता है। 5/6 साल से आपका सान्निध्य मुझे प्राप्त है।

आप साधारण वेषभूषा, मुस्कराता चेहरा, क्रोध के क्षणों में अपूर्व धैर्य तथा स्नेह बरबस ही अपनी ओर खींच लेता है। आपमें एक आकर्षण है जो दूसरों से अलग रखता है।

आपने धार्मिक, सामाजिक शैक्षणिक क्षेत्र में स्वत: उच्च शिखर को प्राप्त किया है साथ ही सैकड़ों क्या हजारों विद्यार्थियों सामाजिक कार्यकर्त्ताओं धर्माविलम्बियों को मार्गदर्शन दिया है। जिससे उनके अन्दर का ज्ञान ने स्फूर्ति प्रदान की। आप सरस्वती पुत्र हैं, आपके बारे में क्या लिखूं जो भी लिखूँगा वह कम है। आप स्वस्थ रहें, धर्म मार्ग में जीवन यापन कर अपने ज्ञान का दान करते रहें। यही कामना है।

श्री राजीव जैन
मंत्री, दिगम्बर जैन चौक कमेटी, भोपाल।

आदर्श पुरुष

पं. सुर्दशन लाल जी जैन एक गौरव पुंज व्यक्तित्व है। धर्म प्रभावना, समाज सेवा, संस्कृति के क्षेत्र में आपका अविस्मणीय योगदान रहा है। आपने चालीस से अधिक शोध कराकर विद्या के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। साथ ही दिगम्बर जैन समाज का भी नाम रोशन किया है। आपका यश हमेशा समलङ्कित रहेगा। आपकी सेवाएं चिरस्मरणीय रहेंगी। आपके यशस्वी सुखी उन्नतशील दीर्घ जीवन के प्रति मेरी सद्भावनायें हैं।

इं श्री विवेक चौधरी
ट्रस्टी, नदीश्वर द्वीप जिनालय तथा अध्यक्ष, पार्श्वधाम दि. जैन मन्दिर भानपुर, भोपाल

जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान् डॉ. सुदर्शन जैन

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है कि सिद्ध-सारस्वत व्यक्तित्व का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। बुंदेलखण्ड की माटी में जन्मे इस सपूत ने नाना प्रकार के कष्ट सहते हुये विषम परिस्थितियों से जूझते हुये, जिसके भविष्य का कोई अता-पता नहीं, जीवन के 75 वर्ष पूरे कर लिये हैं। आज जिनका देश-विदेश में जैन दार्शनिकों में नाम गिना जाता है, आधिकारिक विद्वान् डॉ. सुदर्शन जी से मेरा परिचय बहुत विलम्ब से 2015 में हुआ।

पूत के पांव पालने में दिखते हैं, इस कहावत को चरितार्थ करने वाले सुदर्शन जी ने अपने पैत्रिक संस्कारों के बल पर पुरुषार्थ और भाग्य के सहारे शिक्षा और धर्म की प्रथम सीढ़ी से अंतिम सीढ़ी तक सफर करते हुये अपनी सहजता, सरलता, सौम्यता, ईमानदारी के साथ-साथ जैसा नाम वैसा मन, किसी के प्रति ईर्ष्या न रखना सबको एक समान वात्सल्य और आदर देना सीखा है।

देवशास्त्र गुरु के परम आराधक, प्राकृत-संस्कृत भाषा के उद्भट विद्वान् होकर 40 वर्षों तक निरन्तर जिनवाणी की सेवा करते हुये अर्धशतक छात्रों को पी-एच.डी. की उपाधि के योग्य बनाकर राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त किया। सिद्ध सारस्वत अवदान विशिष्ट व्यक्ति के प्रति हार्दिक शुभकामनाऐं-मङ्गल कामनायें। इन शब्दों के साथ प्रस्तुत है -

यही प्रार्थना वीर से शांति रहे चहुँ ओर।
हिलमिल कर आगे बढ़े -बढ़े धर्म की ओर।।

पं. सुरेश जैन मारौरा
अध्यक्ष-प्रभावना जन कल्याण परिषद

यशस्वी व्यक्तित्व

भारतीय दिगम्बर जैन समाज के गौरवपुञ्ज यशस्वी विद्वान श्रीमान प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन वाराणसी हाल भोपाल में मैं गत अनेक वर्षों से परिचित हूँ। वह जैन दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ ही हिन्दू विश्वविद्यालय में सर्वोच्च पद से सेवानिवृत्त होकर भोपाल में स्वात्म कल्याण के पथ पर अग्रसर हैं। देश में हजारों उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त शिष्य आज भी आपकी विद्वत्ता शिक्षण शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। डॉ. जैन ने विद्वत्ता पूर्ण अनेक कृतियों का आलेखन-सम्पादन किया है जो साहित्य जगत में सदैव गौरवान्वित रहेंगी। सरल स्वभावी-विनम्र एवं विद्वत् जनों के जो भी गुण हैं वे सब आपमें चरितार्थ हैं। ऐसे भारतीय जैन समाज के गौरवशाली विद्वान् का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हुआ भगवान जिनेन्द्रप्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह शतायु होकर समाज, संस्कृति और साहित्य की सदैव समुन्नति करते रहें।

पं. वर्द्धमान कुमार जैन सोंरया
प्राचार्य, एम.एस.सी., एम.एड., टीकमगढ़ (म. प्र.)

गौरव गरिमा के प्रतीक

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि देश के यशस्वी साहित्यकार विद्वान् प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जी जैन हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से सेवानिवृत्त होकर भोपाल राजधानी में निवास करने लगे है। अ. भा. दि. जैन प्रबुद्ध समाज ने राष्ट्रीय स्तर पर आपका अभिनन्दन करने के सङ्कल्प को साकारता प्रदान करने हेतु एक भव्य गौरवमयी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर आपको हीरक जयंती के पावन प्रसंग पर समर्पित करने जा रहा है।

यद्यपि आपका राष्ट्र स्तर पर महामहिम राष्ट्रपति द्वारा गौरवपूर्ण सम्मान किया जा चुका है, परन्तु दि. जैन समाज आपके उन्नत व्यक्तित्व और अपार कृतित्व के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ से सम्मानित करने जा रहा है। यह हम सबका परम सौभाग्य का विषय है। आज भारत में आपके पढ़ाए अनेकों साहित्यकार विद्वान, लेखक, एवं उच्च पदों पर आसीन व्यक्ति आपके इस गौरव सम्मान से प्रमुदित हैं।

मैं भगवान महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हूँ कि आप दीर्घ आयु प्राप्त कर यशस्वी सुखी धर्ममय जीवन के साथ समाज-संस्कृति, धर्म और साहित्य की सेवा में निरन्तर लगे रहें। यह भी एक सुखद संयोग है कि आपकी धर्मपत्नी भी उच्च शिक्षा के साथ डॉक्टरेट हैं और आपके साहित्य सम्बर्धन में सदैव सहयोगी रहती हैं।

डॉ. अरिहंत शरण जैन
एम.बी.बी.एस., एम.डी. मेडीसिन, बिलासपुर

संस्कारवान् पत्नी के सहभागी

पं. सुदर्शनलाल जी का अभिनन्दन किया जा रहा है यह जानकर बहुत प्रसन्ता होती है। साथ ही डॉ. मनोरमा जैन जो पं.जी की धर्म पत्नी हैं, उनका भी सम्मान होना चाहिए। वे एक कुशल गृहिणी, संस्कारवान् धार्मिक महिला हैं। अपने परिवार को बनाना एवं सभी को प्रोत्साहन देना आपका स्वभाव है। आपने साहसिक बाधा-निवारण का कार्य किया है।

पं. जी एवं आप सपरिवार दीर्घायु एवं स्वस्थ हों, यही भगवान से कामना है।

श्रीमती मिली जैन
भोपाल

मेरे दादागुरु -डॉ. सुदर्शनलाल जी

अभी अधिक समय नहीं बीता मुझे रिसर्च के कार्य से जयपुर जाना पडा। वहां टोडरमल स्मारक में डा. बी.एल.सेठी व अखिल बंसल जी से मिलना हुआ।अखिल जी की अलमारी में एक पुस्तक थी जिसका नाम था 'देव, शास्त्र और गुरु' पुस्तक के लेखक थे डा. सुदर्शन लाल जैन। देव-शास्त्र -गुरु के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाली यह अद्भुत कृति है।

अभी 24 से 26 अक्टूबर 2018 तक अ.भा.जैन पत्र सम्पादक सङ्घ के तत्तवावधान में गोवा में त्रय दिवसीय सङ्गोष्ठी का आयोजन मुनि श्री प्रमुखसागर जी ससङ्घ के सान्निध्य में किया गया,मेरा भी इस सङ्गोष्ठी में जाना हुआ। उद्घाटन सत्र में मेरे समीप ही धवल वस्त्रों में जो महानुभाव सपत्नीक विराजमान थे वह सुदर्शनलाल जी ही थे। उनसे इतनी जल्दी मिलना हो जाएगा इसकी उम्मीद ही नहीं थी। हमारा उनका यह साथ एक सप्ताह से अधिक रहा। मुझे पहली बार इतने बडे विद्वान को निकट से जानने का अवसर मिला। बातों ही बातों में यह भी पता चला कि वह मेरे गुरु ज्योति बाबू जी के भी गुरु हैं इस नाते वे मेरे गुरूणाम् गुरु हुए। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है, मेरा भी कुछ लिखने का भाव बना जो मेरी विनम्र भावाञ्जली के रूप में प्रस्तुत है।

सहज, सरल व विराट व्यक्तित्व के धनी डॉ.सुदर्शनलाल जी का जन्म म.प्र. में सागर जिले के मञ्झला ग्राम में ननिहाल में हुआ था। आपकी सहधर्मिणी डॉ. मनोरमा जैन कुशल ग्रहिणी के साथ जैनागम की निष्णात विद्वान् हैं। आपने पंचाध्यायी पर रिसर्च कार्य किया। आपके शोधग्रन्थ पर विद्वत्परिषद् ने आपको पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया।

आपने अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् में कार्याध्यक्ष,उपाध्यक्ष व मंत्री पद पर रहकर जिनागम की सेवा की। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में संस्कृत विभागाध्यक्ष व प्रोफेसर के पद को सुशोभित किया। 44 से अधिक छात्रों ने आपके अधीनस्थ शोधकार्य कर गुरु का मान बढाया। सन् 2012 में आपको राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। आपके स्वरचित ग्रन्थों पर आपको चार बार राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है जो हम सभी को गौरव का विषय है।आपकी अनेक मौलिक कृतियाँ समाज में समादर पा चुकी हैं। आपकी सम्पादित कृतियाँ भी अनेक हैं। आपकी लेखनी से प्रसूत शताधिक आलेख गोष्ठियों के विषय तो बने ही विभिन्न पत्र - पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर जन सामान्य के लिए भी उपयोगी रहे।

आपका यह अभिनन्दन ग्रन्थ समाज के लिए पथ प्रेरक बनेगा, ऐसा विश्वास है। मैं आपके दीर्घायु की कामना करती हूँ। आप निरामय रहकर समाज को मार्गदर्शन देते रहें, यही भावना है।

श्रीमती मीना जैन
सम्पादिका,अहिंसा संवाद, रिसर्च स्कालर,उदयपुर

अविस्मरणीय संस्मरण

प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन से हमारा प्रथम परिचय बनारस में हुआ, उस समय मैं वहां के एक निजी चिकित्सालय में न्यूक्लियर मेडिसिन विभाग प्रमुख के तौर पर सेवाएं दे रहा था। प्रो. जैन स्वभाव से एक अनुशासन प्रिय, स्वाभिमानी तथा गंभीर कुशल प्रशासक हैं, हमारे प्रति उनका व्यवहार एकदम सहज एवं आत्मीय रहा, धीरे धीरे दोनों परिवारों में आत्मीयता बढ़ती गई और वे हमारे परिवार के अभिवावक एवं प्रेरणास्रोत हो गए। हमें दो बार उनके साथ एक ही कार में सम्मेदशिखर जी की यात्रा एवं दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ (एक बार बनारस एवं एक बार कोलकता से) और उस दौरान उनके वैदुष्य एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व से भी परिचय हुआ, उनके द्वारा जैन धर्म की गूढ़ परिभाषाओं का सरल शब्दों में एवं व्यवहारिक व्याख्यायें की उनकी हमें धर्म को समझने एवं व्यवहार में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वे निर्भीक एवं स्पष्टवादी हैं एवं जल्दी किसी बात के लिए वचन नहीं देते पर जिस कार्य का दायित्व स्वीकार करते हैं उसे पूरा निभाते हैं, सम्मेद शिखर जी मे गुणायतन के निर्माण में उनकी परिकल्पना का साकार रूप शाश्वत है। जो मुनिश्री प्रमाणसागर के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है।

वे सरस्वती के वरदपुत्र, सादा जीवन उच्च विचार रखने वाले तथा जैन धर्म एवं संस्कृत-प्राकृत के मनीषी हैं एवं राष्ट्रपति पुरस्कार से अलंकृत हैं। आपका अभिनन्दन एक गौरवपूर्ण प्रेरक कदम है एतदर्थ मैं प्रतिष्ठाप्रज्ञ श्री सौरयां जी का आभार प्रकट करता हूँ एवं प्रो.जैन के उज्ज्वल एवं स्वस्थ्य भविष्य की कामना करता हूँ, ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उनका स्नेह एवं आशीर्वाद हम पर सदैव बना रहे एवं मानव समाज उनके ज्ञान एवं अनुभवों से लाभान्वित होता रहे।

डॉ मुकेश जैन
विभाग प्रमुख, न्यूक्लियर मेडिसिन, RTIICS , कोलकता

आने वाला कल भी गायेगा पं. जी की गाथा

प्रो. पं. श्री सुदर्शन लाल जी वाराणसी को कौन विद्वान् है जो इनको नहीं जानता इनका जीवन सदैव जिनवाणी की सेवा में समर्पित रहा है। मेरी इनके प्रति शुभकामनाएँ हैं-

जब तक नभ में हैं सूर्य चन्द्र, गंगा यमुना की धारा है।
तक तक इनका नाम वना रहे प्रभु से नमन हमारा है।
इनका सरल स्वभाव देखकर झुक जाता है माथा,
आने वाला कल भी गायेगा पंडित जी की गाथा।।

श्री मुन्नालाल शास्त्री
प्राचार्य, गंजबासौदा

विद्वानों के निर्माता

महामनीषी डॉ. सुदर्शन लाल जी मेरे गुरु डॉ. जयकुमार जी मुजफ्फरनगर के शिक्षा गुरु हैं। अनेक अवसरों पर आपसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा आपसे मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ। मुझे प्रसन्नता है कि विद्वानों के निर्माता एवं श्रुत के सेवक डॉ. साहब का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ प्रकाशन समिति सम्पादक मण्डल एवं विशेष रूप से डॉ. पंकज जी धन्यवाद के पात्र हैं जो कि यह विशिष्ट कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

डॉ. मुकेश जैन 'विमल'
आर्यपुरा, सब्जी मण्डी, दिल्ली - 7

विद्वज्जगत् में सर्वोपरि प्रतिष्ठा

बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि हमारी जन्मस्थली बंडा के पास ही एवं मेरे कर्मस्थल पटौवा (जहाँ मैं मेडिकल आफिसर रहा) के पास मंजला ग्राम में जन्मे विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शन लाल जैन साहब विद्वद्वरेण्य सिद्ध-सारस्वत एवं राष्ट्रपति जी से सम्मानित व्यक्तित्व है। आपके 75वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर सम्मानार्थ प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ में मुझे कुछ विचार प्रेषित करने का अवसर मिला यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय है। सागर मेडिकल कालेज में न्याय चिकित्सा विभाग में पदस्थ रहते हुए मुझे अहमदाबाद से किसी सज्जन ने फोन कर पंडित प्रवर प्रो. एस.एल. जैन के बारे में, एवं उनका फोन नम्बर चाहा, मैंने पूछा क्यों, तो वह बोले मेरी धार्मिक शंका जो आज तक कोई भी विद्वान् दूर नहीं कर पाया उसका निराकरण करना चाहता हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त भारतवर्ष में आप संस्कृत, प्राकृत, साहित्य, न्याय एवं जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् माने जाते हैं। पंडित जी साहब शतायु हों एवं हम जैसे लोगों को आशीर्वाद मिलता रहे, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ।

डॉ. संजय जैन, एम. डी.
न्याय चिकित्सा विभाग, गांधी मेडिकल कालेज, भोपाल

निष्काम-निर्लोभवृत्ति

आपके कार्यकाल में कई नियुक्तियाँ हुईं जिसमें आपने योग्यता एवं विषय विशेषज्ञता का विशेष ध्यान रखा। इसके लिए संस्कृत विभाग आपका चिरऋणी रहेगा। आपने दबाव में और प्रलोभनों में आकर कोई काम नहीं किया।

आपका छात्रों के साथ वात्सल्य भाव रहता है जिससे छात्र-छात्राओं के अन्तर्मन में आपकी अमिट छाप पड़ जाती है। आपकी विद्वत्ता, विनम्रता, गंभीरता, सहजता एवं सौम्यता ही आपके व्यक्तित्व के परिचायक हैं। आपके शोध-निर्देशन में अनुसंधान करने वाले लगभग सभी छात्र आज उच्च शिक्षा से जुड़कर शिक्षण एवं शोध में अपना अमूल्य योगदान दे रहे हैं।

आप निरन्तर संस्कृत के कार्य में नित्य नवीन उपलब्धियाँ एवं पुरस्कार प्राप्त करते रहें। सर्वदा स्वस्थ, सुखी एवं साहित्य सर्जना में गतिशील रहें यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है। आपका आशीर्वाद हम शिष्यों को अनवरत प्राप्त होता रहे इन्हीं कामनाओं के साथ आपका चरणावनत शिष्य-

डॉ. नीरजाकान्त पाण्डेय
प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय इण्टर कालेज, मीरजापुर

हमारे सहपाठी आज भी सरल प्रकृति हैं

श्रीमान् पं. प्रवर प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के विद्यार्थी जीनव की कुछ बातें वर्तमान में भी स्मरणीय हैं, कटनी शांति निकतन विद्यालय में 1956 से 5 वर्ष तक हम दोनों ने एक साथ रहकर अध्ययन किया। पं.जी कक्षा में पढ़ने वाले छात्रों में हमेशा प्रथम स्थान प्राप्त करते थे क्योंकि जीवनशैली सात्विक थी एवं स्मरण शक्ति भी तीव्र थी। पं. जी सरल स्वभावी, हंसमुख उनकी मधुरभाषी, निस्पृही एवं सहज शान्ति के प्रतीक रहे। मेरा तो पं. जी से विद्यार्थी जीवन में घनिष्ठ प्रेम रहा उनके सम्बन्ध में जितना लिखूँ कम ही पड़ेगा। आज भी उनमें वही सरलता एवं सहजता है। इतनी उन्नत पदवी पाकर भी हम जैसों को आत्मीय मित्र मानते हैं। हम उनके उज्ज्वल भविष्य की ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

पं. नेमीचन्द जैन
भोपाल

श्रुत सेवक विद्वान् मनीषी

श्रुत सेवक विद्वान् मनीषी
ज्ञान विभूति सरल हृदय
निष्पक्ष तुम्हारे अवदानों को
याद रखेगा सदा समय
स्वाभिमान की ओढ़ के चादर
फसल उगाई तुमने
जीवन का आनंद उठाया
संघर्षों की धुन में
उपलब्धि के आसमान में
अनगिनत जड़े सितारे
रमा मनोरमा संग जिन्होंने
स्वप्निल रंग संवारे
जगतख्यात विश्वविद्यालय में
तुम शीर्ष पदों तक पहुँचे
राष्ट्रपति जी पुरस्कार के
पदक तुम्हें भी सौंपे
माँ गंगा के नगर बनारस
की स्मृतियों को बाँधे
चले आये झीलों के शहर में
है सौभाग्य हमारे
है विराट व्यक्तित्व आपका
हम भाव रंग भरते हैं
पंडित प्रवर सुदर्शन जी का
हम अभिनन्दन करते हैं
यही प्रार्थना है भगवन
आनंद में आँखें नम हो
जिनवाणी के वरदपुत्र का
जीवन और सुगम हो
जो भव सागर से पार लगाये
बैठ सके उस नाव में
सबके पंथ सुदर्शन हो
भगवान तुम्हारी छाँव में ।
सदैव आपके स्नेही ऋणी

कवि श्री चंद्रसेन जैन
भोपाल

जिनवाणी के सिद्धान्तों से समझौता अस्वीकार

डॉ. सुदर्शन लाल जी बहुत ही शान्त स्वभाव के सरल परिणामी जीव हैं जिनेक आस पास क्रोध तो आता ही नहीं है। आपके द्वारा धार्मिक और सामाजिक सङ्गोष्ठियों में अनेक महत्त्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किये गये हैं। पंडित जी के द्वारा वर्ष 2014 में आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज के चातुर्मास के दौरान विद्वत्सङ्गोष्ठी में एक आलेख प्रस्तुत किया गया था जो बहुत ही मार्मिक एवं गम्भीर था। विद्वज्जनों के द्वारा बहुत ही तारीफ की गई थी। आचार्य श्री ने भी आलेख की तारीफ की थी।

पं. जी स्वयं सरस्वती पुत्र हैं, मातृपक्ष से तथा विद्वत्ता के पक्ष से। मंजला (जिला सागर) आपकी जन्मभूमि है। बचपन में ही मातृवियोग हो जाने से पिताश्री स्व. सिद्धेलाल जी ने तथा उनकी बहिनों ने पं. जी का पालन पोषण किया। धार्मिक जैन संस्थानों में पढ़कर अपनी लगन से ऊँचाईयों को प्राप्त किया। 15 अगस्त 2012 में आपको विद्या के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के कारण महामहिम राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कार की घोषणा की गई जिसकी राशि पं. जी को जीवन भर मिलती रहेगी। जब से पं. जी वाराणसी से जैन नगर भोपाल पधारे हमारा सौभाग्य है। आपकी अपने धर्म पर दृढ आस्था है। दो बार आपको विपरीत धर्म मानने वाले लोगों ने उनके साथ जुड़ने का आग्रह किया और प्रलोभन भी दिया, यह भी कहा कि आपको बहुत ऊँचाइयों पर पहुँचा देंगे। हाथी पर बैठाकर जुलूस निकालेंगे परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्त से समझौता नहीं किया। आपके पास अखण्ड ज्ञान का भण्डार है, हीरे मोती सब हैं उन्हें समेटने वाला होना चाहिए। आपके प्रवचनों में एक सम्मोहन है। इस सबका श्रेय पं. जी अर्धाङ्गनी डॉ. मनोरमा जैन को देते हैं। वस्तुत: सुयोग्य धर्मपत्नी न हो तो ऊँचाईयों तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु हों तथा जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में लगे रहें। मैं उनके चरणों में प्रणाम करता हूँ।

ज्योतिषी श्री अजय जैन
जैन नगर भोपाल

प्रतिष्ठा, उपासना और विद्यानुराग प्रेमी

मध्यप्रदेश के दमोह जिले से काशी आकर आदरणीय प्रो0 सुदर्शनलाल जैन ने काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया और लगभग 5 दशकों तक यहाँ निवास कर संस्कृत भाषा तथा जैनशास्त्रों के संरक्षण व संवर्धन के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित किया। आपकी आस्था यहाँ के प्रति गहरी बनी रही, विशेषकर इन जैन तीर्थों के प्रति। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के समीप स्थित जैन मन्दिर तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ से आप निरन्तर सम्बद्ध रहे। विद्यापीठ के आप निदेशक रहे और उस दौरान आपने जैन कुमारसम्भव का सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया। मुझे इस काव्य को पढ़ने का अवसर आपके सौजन्य से प्राप्त हुआ था। विश्वविद्यालय के समीप स्थित जैन मन्दिर में दर्शन करने का आपका नित्यक्रम बना रहा। इन जैन तीर्थों में आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में आपकी निरन्तर उपस्थिति और काशी के जैन समाज में आपकी प्रतिष्ठा, उपासना और विद्यानुराग के कारण निरन्तर बनी रही। काशी में 1906 में स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध पार्श्वनाथ विद्यापीठ, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, भारतीय ज्ञानपीठ, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्राकृत जैन सोसाइटी, जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, श्री जिनेन्द्र वर्णी शोध संस्थान, महावीर प्रेस आदि अनेक संस्थाओं से आपका सम्पर्क रहा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राकृत तथा जैन दर्शन की विशेषज्ञता के अध्ययन अध्यापन में समर्पित रहते हुए भी आप विश्वविद्यालय के ही संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान सङ्काय में स्थित जैन बौद्ध दर्शन विभाग तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में स्थित श्रमण विद्या सङ्काय से भी जुड़े रहे और जैन दर्शन, जैनागम, प्राकृतभाषा और सम्पूर्ण जैन वाड्मय को अपनी अभूतपूर्व सेवा प्रदान करते रहें। में उनके प्रति नतमस्तक हूँ।

डॉ. श्रीमती शोभ मिश्रा

बुंदेलखंड की महान विभूति

बुंदेलखंड की धरा पर अनेक विद्वानों का जन्म हुआ है, जिससे बुंदेलखंड की माटी को विद्वानों की जननी होने का गौरव प्राप्त हुआ है। आदरणीय प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन संस्कृत प्राकृत पाली हिंदी अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के उच्च कोटि के विद्वान् हैं, जिससे भारत सरकार ने प्रोफेसर साहब को राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया है।

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन की सहजता सरलता और सौम्यता तो समाज को आदर्श के रूप में ग्रहण करनी चाहिए। प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन एक प्रभावशाली प्रशासक भी रहे हैं। जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में कला संकायाध्यक्ष के पद पर थे, तब उनसे अनेक लोग बहुत ही प्रभावित हुए और उनकी प्रशासन कार्यशैली से सभी ने सीखने का प्रयास किया। इसके बाद श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रबन्धतन्त्र के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए तबसे उनका बच्चों के प्रति स्नेह बहुत ज्यादा था। विद्यालय को किस प्रकार से आगे तक विकसित किया जाए उनकी इस नई सोच ने नई दिशा देने का प्रयास किया। प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन से हमारा संपर्क सन् 2007 में श्री स्यादवाद महाविद्यालय में हुआ था। इसके बाद जब मैं श्री गणेश वर्णी दिगंबर जैन शोध संस्थान में शोध अधिकारी पद पर नियुक्त हुआ तब से उनका मार्गदर्शन और आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है ,और उम्मीद ही नहीं पूर्ण विश्वास है की आगे भी प्राप्त होता रहेगा। प्रोफेसर साहब संपूर्ण भारत के जैन रत्नों के खजानों के कोहिनूर हैं। मैं क्या लिखूं मेरे पास कोई शब्द नहीं हैं। मैं उनके चरणों में अपनी विनयाञ्जली समर्पित करता हूं, और भगवान महावीर स्वामी से उनकी दीर्घायु की कामना करता हूं।

डॉ. मनीष कुमार जैन

शोधाधिकारी श्री गणेश वर्णी दिग. जैन शोध संस्थान नरिया, वाराणसी

अनुकरणीय व्यक्तित्व

किसी देश की महत्ता उसकी भौतिक समृद्धि से नहीं वरन् उसकी संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले विद्वानों से होती है। ऐसे ही मूर्धन्य विद्वान् माँ सरस्वती के आराधक, जैनदर्शन के मर्मज्ञ प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के सान्निध्य का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ है। बुन्देलखण्ड की उर्वरा-धरा के रत्न, संस्कृत एवं प्राकृत साहित्याचार्य, विद्वद्वरेण्य, सिद्ध-सारस्वत प्रो. जैन ने संस्कृत के गढ़ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को अपनी मेधा से अलंकृत किया। यहाँ पर अपने सुदीर्घ सेवाकाल में सैकड़ों छात्रों को शिक्षण के साथ-साथ अपने अनुकरणीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व के द्वारा सन्मार्ग की ओर अग्रसर किया। आपके प्रेरणास्पद मार्गदर्शन में भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अनेक विद्वानों का उदय हुआ। आपके साहित्य-सृजन एवं संपादन कार्य में गहन चिन्तन मनन की छाप परिलक्षित होती है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु आपके द्वारा किये गये प्रयास अविस्मरणीय हैं। शिक्षा जगत् के साथ-साथ धार्मिक जगत को भी आपने अपने बहुमूल्य योगदान से उपकृत किया है। समाज सेवा के साथ-साथ विदेशों में जैनदर्शन के प्रचार-प्रसार में अग्रसर रहकर जैन सिद्धान्तों की महती प्रभावना की है।

जहाँ एक ओर प्रो. साहब ने प्रबुद्ध निष्ठावान् आदर्श प्राध्यापक और कुशल प्रशासक के रूप में अपनी पहचान बनाई, तो दूसरी ओर उनके व्यवहार कुशल, मृदुभाषी, निश्चल, निरभिमानी व्यक्तित्व एवं सहज मुस्कान में एक ऐसा आत्मीय आकर्षण है, जो मिलने वालों को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। आपका सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व न सिर्फ अपनेपन का अहसास कराता है वरन् मन को भी जीत लेता है।

आपका व्यक्तित्व एवं कृतित्व संपूर्ण समाज के लिये अभिनंदनीय एवं अनुकरणीय है। हमारी हार्दिक मङ्गलकामना है कि प्रो. साहब दीर्घकाल तक हम सभी के प्रेरणास्रोत बनकर पथ प्रदर्शन करते रहें।

'जीवेत् शरदः शतम्'

श्री प्रभात कुमार जैन

प्रबन्धक, बैंक ऑफ इण्डिया, भोपाल

ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।

श्री सुदर्शनलाल जैन सा बना हृदय का हार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।
जिसने अपने सद्विवेक से जन जन को आलोक दिया।
जिसने अपने पुण्य प्रयासों से मानव को योग दिया।।
जिसने क्षमता समता से मानव मन को आल्हाद दिया।
जिसने अक्षय ज्ञानपुंज से नवयुग को निर्माण दिया।।
जो धरती पर बन आया माँ सरस्वती का प्यार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।।
जिसने अपने पौरुष से अपना इतिहास बनाया है।
जिसने अपने कर्त्तव्यों से सत् साहित्य रचाया है।।
जिसने अपनी सद् वाणी से नर को पथ दर्शाया है।
जिसने अपनी कृत करणी से पावन गुरुपद पाया है।।
इस युग के बुधजन गण का बना एक आधार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।।
जिसकी पावन पुण्य लेखनी से आलोकित लोक हैं।
जिसकी ज्ञानमयी प्रतिमा को जन जन देता घोक है।।
जिसने अपने बुधविवेक से मिटा दिया सब शोक है।
जिसके आगे आने वाले युग को दिया आलोक है।।
जो जन जन के लिए बना अब अलख ज्ञान का द्वार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।।
जिसकी पावन सद् शिक्षा से धर्म जगा इन्सान में।
नर से नारायण बन कर विचरा सम्यक् ज्ञान में।।
माँ सरस्वती की पावन वाणी का जिसमें सम्मान है।
अगणित जन जिसकी शिक्षा से शिक्षित हुए महान् हैं।
इस गौरव जन के अभिनंदन का गूंथा यह हार है।
ऐसे ज्ञान ज्योति दिनकर का अभिनंदन शतवार है।

डॉ. अरिहंत शरण जैन
एम.बी.बी.एस.एम.डी., बिलासपुर

विद्याव्यसनी श्री सुदर्शन लाल जी

प्रोफेसर डॉ. सुदर्शनलाल जी भारत के नामांकित विद्वानों की गणना में अपना गौरवशाली स्थान रखते हैं। एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर भारतीय जैन समाज के लिए साहित्य सृजन की जो सेवाएँ एक प्रतिभाशाली जैन शासन के पुत्र के रूप में दीं हैं वे सदैव श्रमण साहित्य में स्मरर्णाय रहेंगी। एक प्रोफेसर का जीवन उस गुलाब के पुष्प की भाँति होता है जो स्वयं कांटों में रहकर सबको सौरभ प्रदान करता है। उसी प्रकार एक प्रोफेसर अपनी वाणी एवं कल्याणी लेखनी द्वारा सभी को लाभान्वित करता है। जैन दर्शन साहित्य और शैक्षणिक सेवा के क्षेत्र में आपने अजोड़ जीवन प्राप्त किया है। इस प्रकार के साधु-स्वाभाव और जैन समाज के गौरवशाली पुत्र का सम्मान करना यह सभी प्रज्ञजनों का परम कर्त्तव्य है। इनका सम्मान तो भारतीय संस्कृति का सम्मान है। आशा है, इस अभिनंदन ग्रन्थ से समाज की युवा पीढ़ी प्रेरणा लेकर भावीजीवन को सफल बनायेगी। भगवान् जिनेन्द्र देव आपको स्वस्थ्य सुखी एवं दीर्घायु बनावें।

श्रीमती गजरादेवी जैन सोंरया
पूर्व प्रकाशक, वीतरागवाणी मासिक, टीकमगढ़

पिता की छवि देखी

मेरे वाइवा में मुझे इतना स्नेह दिया कि मुझे यह एहसास ही नहीं हुआ कि मैं अपने परीक्षक के साथ बैठी हूँ आपके साथ बिताये गए समय में मैंने अपने पिता की छवि देखी, आपसे मुझे पितृवत् स्नेह मिला।

इस शुभ अवसर पर आपको, आण्टी जी को ढेर सारी शुभकामनाएँ।

आपकी शिष्या **डॉ. कु. प्रियङ्का**
इलहाबाद

जैन आगमों के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटक

प्रखर वक्ता, कुशल प्रशासक, धर्मनिष्ठ, उदभट मनीषी तथा सरलप्रकृति प्रो. सुदर्शन लाल जैन ने जैन शास्त्रों का गहराई से अध्ययन किया है तथा तदनुसार जीवन जीते हैं। समाज को भी जैन आगम-ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को बतलाकर तदनुसार चलने की प्रेरणा देते हैं। आपका विषय को समझाने का तरीका बहुत सरल होता है। आप सचमुच में सिद्ध-सारस्वत हैं। आपकी धर्मपत्नी भी विदुषी, कर्मठ और धर्मनिष्ठ हैं। आपके उज्जवल भविष्य की कामना करते हैं। आपका यह अभिनन्दन ग्रन्थ आगामी पीढ़ी के मार्गदर्शक बने।

विनोद कुमार जैन
जैन नगर, भोपाल

जिनवाणी के गहन अध्येता

मेरा सौभाग्य है कि मुझे आदरणीय प्रो. सुदर्शन लाल जैन जी से संस्कृत और प्राकृत व्याकरण पढ़ने का सुयोग मिला। आपके द्वारा लिखित 'संस्कृत-प्रवेशिका' और 'प्राकृत-दीपिका' दोनों संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के व्याकरण जानने के लिए ये बहुत सुगम और सर्वजनोपयोगी हैं। आप विद्वानों में अग्रणी हैं परन्तु आपको अहंकार नहीं है। आप ज्ञानी के साथ सरल और निर्लोभवृत्ति वाले भी हैं। आपका व्यक्तित्व सुलझा हुआ है तथा आप विवादों से दूर रहते हैं। आपकी जैन सिद्धान्तों पर दृढ़ आस्था है। सन्तों के प्रति सम्मान भाव है। व्यवहार-कुशलता है। इस संदर्भ में एक पद्य है-

जिनवाणी का गहन मनन है, कर्मबन्ध से मुक्त कथन है।
हैं आभारी हे सुखदर्शन। ज्ञान आपने दिया सुदर्शन।।

सपना जैन
एम.ए. अंग्रेजी

वात्सल्य-प्रतिमूर्ति मनीषी

अत्यन्त गौरव एवं प्रसन्नता के क्षण है कि साहित्य सृजन के क्षेत्र में राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित डॉ. सुदर्शन लाल जैन के 75वें जन्मदिवस के सुअवसर पर उनके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ 'सिद्ध-सारस्वत' का प्रकाशन किया जा रहा है।

आ. सुदर्शन लाल जी का अवतरण दिनांक 01.04.1944 को ग्राम-मंजला, जिला-सागर में मास्टर सिद्धेलाल एवं श्रीमती सरस्वती देवी के पुत्र के रूप में हुआ था। अल्प अवस्था में ही माता जी की छाया से वंचित होने एवं पारिवारिक विपन्नता के उपान्त भी अपनी अध्ययन शीलता एवं पुरुषार्थ के बल पर आपने अनेक उपलब्धियों और उपाधियों को प्राप्त किया। आपने काशी विश्वविद्यालय के लेक्चर, रीडर, प्रोफेसर पदों के सोपान पर कार्य के उपरान्त वही विभागाध्यक्ष एवं कला संकाय प्रमुख (डीन) जैसे अति प्रतिष्ठित पद को सुशोभित किया। साथ ही आपने अपने

निर्देशन में 40 विद्यार्थियों को शोध करवा कर पी-एच.डी. करवाई, कई मौलिक कृतियों की रचना की, कई कृतियों का अनुवाद एवं सम्पादन कर आपने साहित्य को समृद्ध किया।

हमारे परिवार का परम सौभाग्य है कि जैन दर्शन, प्राकृत एवं संस्कृत के मूर्धन्य मनीषी यशस्वी विद्वान् एवं साहित्य सर्जक डॉ. सुदर्शन लाल जी (पंडित जी सा.) एवं उनकी धर्मपत्नी डॉ. श्रीमती मनोरमा जैन, जैनदर्शनाचार्य (लब्ध विदुषी) का सान्निध्य विगत वर्षों में हमें प्राप्त हुआ, दोनों ही अत्यन्त सरल, सौम्य, सादगी, वात्सल्य-प्रतिमूर्ति और आशीष प्रदत्ता दम्पति के ूप में हमारे मानस पटल पर अंकित हैं। आप सदैव हमारी सामाजिक और धार्मिक जिज्ञासाओं एवं शङ्काओं का समाधान कने के लिए तत्पर रहते हैं। आप दोनों सदैव स्वस्थ्य एवं प्रसन्न रहते हुए शतायु हों ऐसी इष्टदेव से प्रार्थना है। आपका स्नेह एवं संरक्षण हमें एवं समाज को निरन्तर प्राप्त होता रहे।

आपके सम्मान में प्रकाशित होने वो अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए मंगल कामनाएँ।

इंजी. अरुण कुमार जैन एवं श्रीमती सुमन जैन

ग्लोबस ग्रीन एकर्स, लालघाटी, भोपाल

श्रुताराधक का अभिनन्दन

पं. सुदर्शन लाल जी से मेरा परिचय सन् 2014 में हुआ था जब वह भोपाल के जैननगर में रहने आये थे। इनका नाम तो पूर्व में ही सुन रखा था, परन्तु साक्षात्कार नहीं हुआ था। मिलने पर आपके सरल स्वभाव और वैदुष्य का पता लगा। आपसे दश लक्षण पर्व पर व्याख्यान देने तथा तत्त्वार्थसूत्र पढ़ाने का जब अनुरोध किया तो आपने सहर्ष स्वीकार कर लिया। आपके प्रवचनों से जैन नगर की समाज को बहुत लाभ हुआ। जब आपसे एतदर्थ सम्मान राशि का अनुरोध किया तो आपने इसे स्वीकार करने से स्पष्ट मना कर दिया। जब-जब आपसे अनुरोध किया तब तब आपने शास्त्र वाचन करके यहाँ की समाज को धर्मलाभ से लाभान्वित किया।

आपको अनेक पुरस्कार मिले एवं राष्ट्रपति द्वारा आपको सम्मानित किया गया यह आपके वैदुष्य का ही परिणाम है। बी.एच.यू. जैसे शिक्षण संस्थान में अध्यापन कार्य करते हुए डीन जैसे उच्च पद को भी आपने सुशोभित किया। अनेक विद्यार्थियों का पी-एच.डी. हेतु निर्देशन भी किया। मेरे व्यक्तिगत अनुरोध पर आप मेरी भतीजी ब्रह्मचारिणी सपना जैन को जो आचार्य विशुद्ध सागर जी से दीक्षा लेना चाहती है उसको संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण भी नि:शुल्क पढ़ा रहे हैं। श्रुत की आराधना आपका लक्ष्य है। मैं आपके दीर्घायुष्य और स्वास्थ्य की मङ्गल कामना करता हूँ। इसके साथ ही वीतराग वाणी ट्रस्ट के प्रमुख प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया का भी अभिनन्दन करता हूँ जिन्होंने प्रो. सुदर्शन लाल जी जैन के गुणों को परखकर उनका अभिनन्दन करने का निश्चय किया।

इंजीनियर श्री पद्मचन्द्र जैन

जैननगर, भोपाल

Dr. Jain will shine in the field of Education

I have much pleasure in testifying to the abilites of my colleague, Dr. S.L.Jain, Dr. jain joinde the department in 1968 and since then has established himself as a competent teacher respected by students. His amiable disposition is his forte. As for as I have seen him, Dr. Jain impressed me as a deeply devoted to his subject and possesing a keen sense of responsibility. I am confident that with these qualities of head and heart, Dr. Jain will shine in the field of education. I wish him all success.

Prof. Siddheswar Bhattacharya

Head, Sanskrit Department, BHU

Devoded to his studies

I am glad to testify to the high merits and attachments of shri Sudarshan Lal Jain, M.A., who has been my student.He has passed several oriental examinations and thus has got good training in interpreting scriptures in the right direction. All through his education career I have found him to be very pains taking and arduous scholar devoted to his studies,The career of Shri Jain is also very bright. I wish him success in life.

Dr. D.C. Guha D.litt.
Reader in Sankrit College of Indology, BHU,Varanasi

Devoted to his Study

I have great pleasure to certify that Shri Sudarshan lal Jain attended my lectures on Sahitya and Darshan during his study for M. A. examination. I always found him devoted to his study. Shri Jain is studies by nature and his moral character is excellent. I wish him. all success in life .

Dr. N.K. Teleng
Reader in Sanskrit, BHU.

अध्ययन प्रिय एवं समाज सेवी

डॉ. सुदर्शन लाल जैन मेरे छात्र रहे हैं। एक अच्छे लेखक हैं। बड़े मधुर, परिश्रमी, अच्छे शिक्षक, अध्ययनप्रिय तथा समाजसेवी हैं। प्रशासन कुशलता है। खेल-कूंद में भी अभिरुचि है। कई पुरस्कार भी मिले हैं। दिए गए उत्तरदायित्व को पूर्ण करना ये अपना कर्तव्य समझते हैं। जैनदर्शन के अच्छे ज्ञाता हैं।

प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा
प्रो. एवं अध्यक्ष, संस्कृत एवं पालि विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

Intelligent and Promising Person

I have grat pleasure in certifying that Dr. Sudarshan Lal Jain Studied the Nyaya Muktavali with me. He impressed me all the time as an intelligent, promising and well read person. He showed an unusual keenness deep into intricacies of the Nyaya technicalities and catch the spirit of the topics discussed there in. I have no doubt that he will be able to master to a satisfactory extent very soon.

I wish him success in life.

Prof. Veermani Prasad Upadhyay
U.G.C. Honorary Research Professor of Sanskrit, BHU

विनम्र, होनहार और अध्यवसायी

श्री सुदर्शन लाल 1959 जुलाई से इस महाविद्यालय के छात्र रहे हैं। यहाँ अध्ययन करके इन्होंने आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की है। ये बहुत विनम्र, होनहार, अध्यवसायी, मेधावी और कुशल व्यक्ति हैं। अपने उत्तरदायित्व का योग्यतापूर्वक निर्वाह करते हैं। गतवर्ष इन्होंने स्याद्वाद पत्रिका का सम्पादन किया था और उसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई थी। इनका चरित्र उत्तम है। खेलकूंद, भाषणप्रतियोगिता आदि में सफलता प्राप्त की है। मैं इनकी अभ्युन्नति का इच्छुक हूँ।

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रधानाचार्य, श्रीस्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

Devoded to his studies

This is to cartify that Sri Sudarshan Lal jain studied Indian and European Philosophy with me in B.A. He always impressed me as an intelligent and hard working student. He has a keen interest in Philosophy and its problems. I have no doubt that he will be very successful as a research worker. My best wishes are with him.

Dr. R. R. Dravid

Lecturer in Philosopy, C.H.C. (Arts College) BHU

बुद्धिमान् एवं विनयशील

श्री सुदर्शन लाल जैन को मैं विगत कई वर्षों से अच्छी तरह जानता हूँ। ये मरे छात्र भी हैं। ये बहुत बुद्धिमान्, विनयशील और योग्य व्यक्ति हैं। कोई भी दायित्व इन्हें दिया जाए तो ये उसे योग्यतापूर्वक सम्पन्न करते और उसमें सफलता प्राप्त करते हैं। इनका संस्कृत, प्राकृत, पाली, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर अधिकार है। मैं आपका उत्कर्ष चाहता हूँ। मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं।

डॉ. पं. दरबारी लाल कोठिया

प्राध्यापक, जैनदर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, बी.एच.यू.

विषय प्रतिपादन शैली उत्तम

मैं श्री सुदर्शन लाल जैन को अच्छी तरह से जानता हूँ। मेरे छात्र रहे हैं। ये बड़े परिश्रमी, अध्ययनशील, अनुशासन प्रिय, सज्जन एवं सच्चारित्र व्यक्ति हैं। इनकी लेखन शैली उत्तम श्रेणी की है। इनकी विषय प्रतिपादन शैली उत्तम है। डिबेटों में भी पुरस्कार प्राप्त किये हैं। इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

पं. हीरावल्लभ शास्त्री

प्राध्यापक, दर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, बी.एच.यू.वाराणसी

विद्वान् भी मुग्ध हो जाते हैं

श्री सुदर्शन लाल जैन को मैं अध्ययन काल से जानता हूँ। ये न्याय, वेदान्त, सांख्य, जैन, बौद्ध, योग आदि दर्शनों के मार्मिक विद्वान् हैं। भारतीय दर्शनों के दुरुह अभिप्रायों को ये इतनी सरल पद्धति से प्रकट कर देते हैं कि सुनकर विद्वान् भी मुग्ध हो जाते हैं। ये सुशील, विनयी, कर्मनिष्ठ एवं प्रदत्त उत्तरदायित्व को भलीभाँति निभाते हैं। इन्होंने मुझसे नव्यन्याय और वेदान्त शास्त्र पढ़ा है। मैं इनकी प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति चाहता हूँ।

पं. मूलशंकर शास्त्री

प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, बी.एच.यू.

७

सरल और विद्याव्यसनी स्वभाव

श्री सुदर्शन लाल जैन मेरे पास मीमांसा दर्शन का अध्ययन करने आया करते थे उनका मीमांसा दर्शन में ' निषेध मीमांसा विषयक लेख प्रामाणिक और सुन्दर ढंग से लिखा गया है। लेख से प्रतीत होता है कि जैन महोदय मीमांसादर्शन का अध्ययन ठीक ढंग से किए हैं। उनके सरल और विद्याव्यसनी स्वभाव से मैं बहुत प्रभावित हूँ।

महामहोपाध्याय पी.एन. पट्टाभिराम शास्त्री

पद्मभूषण, वेदमीमांसा अनुसन्धान केन्द्र, सं.सं.वि.वि. वाराणसी

न केवलं नाम्ना सुदर्शनः

अयं न नाम्ना केवलं सुदर्शनः किन्तु अर्थतोऽपि सुदर्शनः साहित्यसौहित्यमासादयन चातुर्य-माधुर्यधुराधिरूढः प्रतिभात स्वीयशास्त्रभिः शोभते। अध्यापनकर्मणि कौशलं कलयन मां प्रणयतीति सहर्षवर्षं समुदाहरामि।।

पं. महादेव शास्त्री

साहित्यविभागाध्यक्ष, संस्कृतमहाविद्यालय, बी.एच.यू. वाराणसी

विवाहोपरान्त पति के साथ जीवन-यात्रा

मेरे पति के मित्र सेठ सुमत जैन और उसकी बहिन कमला जैन के साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध थे। उनकी माताश्री की इच्छा थी कि कमला का वैवाहिक संबन्ध सुदर्शन लाल से कर दिया जाए। परन्तु आर्थिक परिस्थितिओं में बहुत अन्तर था। मेरी भी कमला के साथ घनिष्ठ मित्रता थी, एक साथ एक ही विद्यालय में पढ़ते थे। यह एक प्रबल पूर्वजन्म का संयोग था कि मेरा वैवाहिक सम्बन्ध डॉ. सुदर्शनलाल के साथ तय हो गया। कमला ने मुझे चिढ़ाते हुए कहा यह तो ऐतिहासिक सेठ सुदर्शन-मनोरमा की जोड़ी होगी। जो सच हुई।

विवाह में किसी तरह के दहेज आदि की बात नहीं हुई क्योंकि पिता जी (ससुर जी) को मेरा कार्य पसन्द था, वे मेरी धार्मिकता तथा कर्तव्यकर्मों की कर्मठता से प्रभावित थे। मेरे पति भी दहेज विरोधी थे। दिनाङ्क 13.05.1965 को मेरा इनके साथ विवाह हो गया और मैं ससुराल आ गई। यहाँ आने पर मुझे पुत्रीवत् प्रेम मिला। मैंने भी पूरे परिवार को अपना लिया। कुछ समय बाद मेरे पति मुझे वाराणसी लिवा ले गए, जहाँ वो रिसर्च कर रहे थे। एक छोटा सा कमरा था 200 रूपया उन्हें छात्रवृत्ति मिलती थी। उसी में खर्च चलाना पड़ता था क्योंकि मेरे पति बड़े स्वाभिमानी हैं। अत: किसी से आर्थिक सहयोग हेतु नहीं कहते हैं। कंट्रोल से प्राप्त अमेरिकन लाल गेंहू खाकर भी हम लोग प्रसन्न थे। शहर से बाहर जाकर श्वेताम्बर जैन आश्रम में रहते थे। अत: मेरे परिवार के लोग कहते थे मेरी बेटी तो राम के साथ वनवास में हैं।

पतिदेव शोधकार्य में लगे रहते थे।

दिनांक 28.9.1967 को मैंने ससुराल (दमोह) में प्रथम पुत्ररत्न को जन्म दिया। सर्वत्र खुशियों की लहर दौड़ पड़ी। ये पास में नहीं थे। इन्होंने विजनौर के वर्धमान कालेज में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में दिनांक 05-09-1967 से सर्विस शुरु कर दी थी। दुर्भाग्य से इन्होंने वहाँ हाइड्रोसिल का आपरेशन कराया जो बिगड़ गया और मुझे पिता जी के साथ बिजनौर आना पड़ा। पुत्र संदीप अभी तीन माह का ही था। दुर्भाग्य से एक दिन बन्दर ने पुत्र को घेर लिया जिसे पड़ौसी की मदद से छुड़ाया। पतिदेव के साथ मेरठ होते हुए दिल्ली डॉक्टर को दिखाने गये वहाँ सौभाग्य से पतिदेव के घाव से धागा निकला और वे ठीक हो गये। थोड़े समय बाद ही इनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के संस्कृत विभाग में हो गई। वहाँ से हम वाराणसी आ गए और दिनांक 12-08-1968 को इन्होंने ड्यूटी ज्वाइन कर ली। इसमें तत्कालीन विभागाध्यक्ष गुरु प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य तथा कोमलचन्द जैन का बड़ा सहयोग रहा। उसी समय मध्यप्रदेश शासन तथा मेरठ से भी नियुक्ति पत्र आ गए जिन्हें नजर-अन्दाज कर दिया।

दिनांक 28-09-1968 को हमारे बड़े पुत्र का प्रथम जन्मदिन मनाया गया। परिवार के कई लोग वाराणसी आए थे और सबके साथ शिखरजी की यात्रा पर चले गए। वहाँ पानी गिर रहा था। बेटा न तो डोली वाले की डोली में बैठ रहा था और न किसी के पास जा रहा था जिससे पूरे पहाड़ की यात्रा इन्होंने अपने कंधे पर बैठाकर की।

कालान्तर में 08.09.1969 को द्वितीय पुत्र संजय हुआ। दोनों जब गली में निकलते थे तो मोहल्ले वाले 'राम-लक्ष्मण' की जोड़ी कहकर पुकारते और गोदी में उठाकर खिलाते थे। इसके बाद सुन्दर गुणी एक कन्या मनीषा हुई। जिसकी हमें बड़ी चाहना थी। दिनांक 19.04.1975 को हमारे पाप कर्मोदय से बड़े पुत्र संदीप को सर्वांग में पोलियो हो गया। बहुत परिश्रम के बाद वह वैशाखी पर चलने लगा। आगे उसने बी.एच.यू. से कम्प्यूटर इंजिनियरिङ्ग में ग्रेजुएशन करके पूना में सर्विस की। शीघ्र ही अमेरिका में पी-एच.डी. हेतु स्कालरशिप के साथ प्रवेश मिल गया। वहाँ उसने पी-एच.डी. करके सर्विस ज्वाइन कर ली। आज वहाँ अच्छी पोस्ट पर है, दो बच्चियाँ हैं। एक ग्रेजुएशन कर चुकी है। मनीषा के बाद मेरा एक पुत्र अभिषेक हुआ जो एम.बी.ए. करके मुंबई में ऊँची पोस्ट पर कार्यरत है। इसी समय इनका कुलपति के लिए नामांकन हुआ परन्तु चिकुनगुनिया हम दोनों को हो जाने के कारण राज्यपाल से मिलने नहीं जा सके। ई. 2012 में इन्हें राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। इसके बाद बेटी के विशेष आग्रह पर जून 2014 को भोपाल आ गए और यहीं रहने लगे। अपरिचित स्थान था धीरे-धीरे परिचय हुआ और सबने पं. जी कहकर सम्मान दिया। आचार्य विशुद्धसागर जी का चौमासा था उन्होंने समाज में मेरे पति की विद्वत्ता की प्रशंसा की। नंदीश्वर मन्दिर के अध्यक्ष श्री प्रमोद चौधरी जी, एम.सी. जैन, पी.सी. जैन, अजय जोशी जी आदि से बड़ा सम्मान मिला। इसी बीच मेरा विशेष परिचय प्रतिष्ठाप्रज्ञ पं. विमल सोंरया जी से हुआ। उन्होंने निश्छल भाई-बहिन का प्रेम दिया। और वे हम लोगों से भी प्रभावित हुए। उन्होंने इनके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का साग्रह प्रस्ताव रखा जिसे स्वीकार करके अपेक्षित सामग्री एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने (सोंरया जी ने) वीतराग वाणी में इसकी घोषणा कर दी तथा वरिष्ठ सम्पादक बना दिया।

मेरे पति हमेशा पढ़ने की प्रेरणा देते तथा पढ़ने वालों का सहयोग करते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से मैंने जैनदर्शनाचार्य किया तथा पी-एच.डी. की। मैं अपने आप को बड़ी सौभाग्यशाली मानती हूँ कि ऐसे पति मिले तथा जैनत्व के संस्कार मिले। वाराणसी के बाद जैन नगर भोपाल में सभी से हमें आत्मीयता मिली। मेरे पति का यह अभिनन्दन ग्रन्थ वस्तुतः जैनधर्म, संस्कृति, विद्वत्ता और समाज का है। हमें इसी तरह का प्यार मिलता रहे और हम सपरिवार सतत धर्माराधना में संलग्न रहें, यही प्रभु से कामना है।

डॉ. मनोरमा जैन, जैनदर्शनाचार्य
एफ 3/103 ग्लोबस ग्रीन एकर्स, लालघाटी, भोपाल (म.प्र.)

मेरे सबसे अच्छे माता-पिता

मैं अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान हूँ। मेरा जन्म होने पर दादा जी ने खूब बधाईयाँ कराईं और मिठाईयाँ बांटी क्योंकि बहुत समय बाद परिवार में पौत्र हुआ था। मैं बहुत सुन्दर और स्वस्थ भी था जिस कारण सभी रिस्तेदार, पड़ौसी बगैरह मुझे देखने अस्पताल और घर पर आए। विधि का विधान कहें या अशुभ कर्म का उदय कि आठ वर्ष की अवस्था में (19.04.1975) अचानक मुझे पोलियो हो गया। पहले स्कूल में बुखार आया तो मेरी क्लास टीचर ने मुझे घर भिजवा दिया। आचनाक पलंग से उठने पर मैं नीचे गिर पड़ा। पैर सुन्न हो गया। मेरी मम्मी ने पड़ौसी डॉक्टर को बतलाया। उन्होंने तुरन्त अस्पताल ले जाने की सलाह दी। पिता जी तुरन्त अस्पताल ले गए और बच्चों के वार्ड में भर्ती करा दिया। डॉक्टर के निर्देशानुसार मेरे बेड के पास आक्सीजन का सिलेंडर रख दिया गया और रीढ़ की हड्डी से पानी निकालकर जांच को भेज दिया। वह रात्रि मुझे अच्छी तरह याद है प्रतिपल मेरा शरीर अपङ्ग होता जा रहा था परन्तु कुछ पुण्यकर्म का फलोदय हुआ जिससे सांस बन्द नहीं हो पाई। पिता जी का हाल बेहाल था। माँ की भी यही स्थिति थी। भगवान् का नाम सब लोग जप रहे थे। शरीर का तीन चौथाई भाग पोलियो की चपेट में आ चुका था। पिता जी लखनऊ, दिल्ली, मुम्बई आदि कई जगह लेकर गए, किसी को इस भयानक बीमारी का अंदाज नहीं था। मुंबई में एक छोटा सा आपरेशन कराया। पिता जी के साथ कोई नहीं था और न कोई जान पहचान वाला था। आपरेशन करने वाले डाक्टर ने बड़ी सहायता की। आपरेशन के बाद रात्रि में वार्ड में पिताजी को नहीं रहने दिया क्योंकि पुरुषवर्ग की मनाही थी। वाचमेन की मदद से पिताजी बाहर कमरे में सो गए। परन्तु आँखों में नींद नहीं थी। एक श्वेताम्बर जैन साधु सङ्घ में शरण लेकर खाना रहना किया। कुछ समय बाद मुझे लेकर वाराणसी आए, इधर सेन्ट्रल स्कूल बी.एच.यू. केम्पस के प्रिंसपल ने वार्षिक परीक्षा न दे पाने पर भी पिछला रिकार्ड (छ:माही तक) देखकर अग्रिम कक्षा में प्रवेश दे दिया। मैं कक्षा में हमेशा प्रथम द्वितीय रहता था।

एक बार जब मैं 10 वीं की वार्षिक परीक्षा दे रहा था तो पिता जी ने हाथ की अंगुलियों की कमजोरी की वजह से दिल्ली पत्र लिखकर मुझे परीक्षा में आधा घंटा अतिरिक्त दने की अनुमति दिला दी परन्तु मैंने उस समय का फायदा नहीं लिया। बारहवीं पास करने के बाद मेरा बी.एच.यू. में बी.टेक (कम्प्यूटर साइंस) में एडमीशन हो गया। पिता जी ने एक ट्राई स्कूटर खरीदकर दिया। मैं उसे चलाकर कॉलेज जाने लगा।

बी.टेक. (बी.ई.) करने के बाद मैं पूना में (सी.डेक कम्पनी) में सर्विस करने लगा। फरवरी 1989 में मैं पूना से वाराणसी पहुँचा, अपनी बी.टेक की डिग्री लेने। Convocation के समय मुझे स्वर्ण पदक की प्राप्ति होनी थी, परन्तु मेरे पिताजी जिनकी प्रेरणा व सहयोग से मैं इस मुकाम तक पहुँचा था, वो शामिल न हो सके। विधि का विधान ऐसा कि पिताजी कटनी से जिस ट्रेन में आ रहे थे वो लेट हो गई। पिताजी ने मालगाड़ी, बस आदि के धक्के खाते हुए किसी हाल में पहुँचे पर समय से चूक गये। ये उनका प्रगाढ़ प्रेम था जो वो मेरी तरक्की पर कितना गर्वान्वित महसूस कर रहे थे। सन् 2015 को जब मेरी बेटी अर्चिता 12 वीं कक्षा पास कर Convocation से निकली तो मुझे पिताजी की वो भावना महसूस हुई।

जब मैं अमेरिका आया तो कार चलाने लगा और भी काम अपने आप करने लगा। इधर पिताजी मेरी शादी की चिन्ता में कन्या खोज रहे थे। अन्त में मेरी अर्चना से शादी हो गई जो मेरी सही अर्धांगिनी होकर सहयोग कर रही है। आज मैं दो बच्चियों का पिता हूँ तथा सिस्को कम्पनी में डायरेक्टर की पोस्ट पर हूँ। ये सब मेरे पिता जी और माता जी की देन है जो आज मैं इस मुकाम पर हूँ। मैं चाहता हूँ कि ऐसे माता-पिता मुझे पुन: अगले जन्म में मिले।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाँव।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो मिलाय।।

माता-पिता हमें जन्म देते हैं और वे हमारे पहले गुरु होते हैं। बचपन में प्रथम दिन से वे हमें प्यार देते हैं, हमारी जरूरतों को पहले समझ कर पूर्ति करते हैं। हम उनको प्रतिपल देखते हैं और छोटी-छोटी व बड़ी-बड़ी बातों को समझते हैं व अपनाते हैं। हर पल उनके साथ रहते हुए हम उनकी छवि को अपने अन्तरङ्ग में बसाते हैं। इतनी शिक्षा, मार्गदर्शन, वह भी बिना अपेक्षा भाव के, हमारे जीवन को वो रूप देते हैं जो हमें इस संसार के सुख भरे व दु:ख भरे पलों

को महसूस करने के लिए सक्षम करते हैं। मेरी माता जी ने मेरी देखरेख सही ढङ्ग से की तथा उन्होंने पी-एच.डी. होने पर भी सर्विस नहीं की। यदि में ये कहुँ कि मेरे माता-पिता मेरे सबसे प्रथम व सक्षम और सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं, तो यह कोई अतिशयोक्ति न होगी। मुझे इस जीवन में जो भी प्राप्त है वह उनके मार्गदर्शन, सहयोग, समर्पण और प्रेम का प्रतिफल है। इस निधि को पाकर मेरा जीवन आपका कृतज्ञ है और मैं आपको शत-शत प्रणाम करता हूँ।

डॉ. संदीप जैन

डायरेक्टर, सिस्को ग्रूप, सैन्फ्रांसिस्को, अमेरिका

My Father is Respectable Personality Sartaga

The untold story of my father Prof. Sudarshan Lal Jain cannot be lost to time. It is not only a story worth telling, but also the story that shaped the person I am today. The story that circulates in his circle of peers is the one that begins at his professorship, or perhaps earlier when he began college. However, the true significance of the story can be found in the folds of his beginnings.

(1) He was born in Damoh, M.P and grew up without his mother, in the shadow of a loving but strict father, It was a small place, where building a family and working at home were of higher priority than extended schooling. Children were expected to know only what they needed in order to continue the family business at best, and then to come support a family. It was a decision time for him. His passion for studies on one hand and responsibilities of his sister and dad on the other hand. He then made a wise decision to pursue his passion but did not give up on his responsibility towards his family.

(2) After years of self-guided, self-motivated study, which he persisted upon despite a staggering lack of support from the community, he traveled to Katni, M.P for the next level of his education. During breaks in his schooling, he returned to his quiet small town to support his family, and he cooked and cleaned and studied between it all. He progressed even further, moving to Varanasi, U.P for his graduation and post-graduation.

(3) It was at this time that he built a family of his own, on a foundation of books and ink and the love he held for his education. He married my mother Smt Manorama Jain, who supported not only his dreams of becoming a professor, but also his dreams of supporting his family. Soon after, my brother was struck with polio in his youth, and somehow both my parents bore the resultant stress with stoicism and strength. Despite all these setbacks, he continued to push the boundaries of excellence defined by people around him.

(4) Surrounded by studious individuals who encouraged his voracious appetite for knowledge, my father completed his research from Parshwanath Vidyapeeth Varanasi and got awarded his Ph.D., which was recognized and awarded by government of U.P for his excellent work in Jainism. Soon after he started lecturing at BHU Varanasi and fought his way upward, eventually becoming head of his department. And he kept ascending, his growth did not stop there as he became

Dean of Arts Faculty and was eventually awarded the President's Award for his contribution to Jainism, the subject he so relentlessly pursued for so many years, climbing over trials and tribulations that plagued his life, without dropping responsibility for his family, or ever failing to show them his love and admiration for his wife and children.

(5) He travelled to all parts of India providing education on Jainism in a simplified practical way. We had the pleasure of hosting him here in JCNC, CA, USA. Not only he shared his views on Jainism with local Jain society but was also a part of the panel discussion on Multi Faith Philosophy debate. That reminds me that when we took him to Grand Canyon – it was snowing there, and he made snow angel with my little one. He was 65 then and doing what 5 year old does.

My dad has never failed to show his love for me. Every person believes that their parents are inspirational, and yet, my dad has outshone many, many people of his own generation and that is truly inspirational. I am who I am because of him, and even today with all my successes and financial achievements I don't feel that I have achieved what he has. Money can be earned in many ways, but earning respect, being recognized by people of your own caliber... that is a true testament to someone's success – and my dad has earned it.

Shri Sanjay Kumar Jain

Senior Principle Software Engineer Sisco co.(USA)

सबसे अच्छे मम्मी -पापा

मेरे मम्मी-पापा ने बचपन से ही अच्छे संस्कार दिए। फलस्वरूप आज मैं इन ऊँचाइयों पर पहुँच सका हूँ। मेरे पापा जी कहते थे यह बालक तो नेता बनेगा क्योंकि यह अकेला नहीं चलता 2-4 साथी हमेशा इसके साथ बने रहते हैं। उन्होंने मुझे इंजिनियरिंग या मेडिकल में भेजना चाहा परन्तु मेरी रुचि देखकर मेनेजमेन्ट में प्रवेश करा दिया। मैं प्रारम्भ से ही कुशाग्र बुद्धि वाला था जिसके फलस्वरूप मेनेजमेन्ट में टाप पर आ गया। बी. एच. यू. से एम.बी.ए. करने के बाद मैं एकाकी सर्विस खोजने मुम्बई आ गया। यहाँ पर मैंने कुछ कम्पनियों में सर्विस की और अन्त में महेन्द्र एण्ड महेन्द्रा में ग्रुप लीडर मैंनेजर बन गया। मैंने कई लोगों को सर्विस दिलाई।

मैं घर में सबसे छोटा था जिससे मुझे माता पिता के साथ भाई-बहिन का भी प्रेम मिलता था। जब भाई सर्विस पर बाहर चले गए और बहिन मुंबई मेडिकल की पढ़ाई करने चली गई तो मैं अपने आप को असहाय एवं एकाकी अनुभव करने लगा। नकारात्मकता हावी होने लगी। ऐसे समय में मम्मी-पापा के मित्रवद् व्यवहार तथा सपोर्ट से मुझमें परिवर्तन आया। उसी का परिणाम है कि मैं आज अच्छी पोजीशन में हूँ। मेरी पत्नी भी मेरी ही कम्पनी में ग्रूप लीडर है। मेरी एक छोटी सी बच्ची है जिसका नाम अनिष्का है। यह नाम मेरे पिताजी ने ही रखा है इसमें पूरे परिवार के साथ ईश्वर का नाम भी समाविष्ट है।

मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरे मम्मी-पापा जैसे मम्मी-पापा सबको मिलें। मैं आज जो कुछ भी हूँ वह उनके मित्रवद् व्यवहार तथा सपोर्ट (सहयोग) का परिणाम है। मैं उनकी जितनी सेवा कर सकूँ उतनी भी कम है। सदैव उनका ऋणी रहूँगा।

श्री अभिषेक जैन

बिजनिस (फाईनेन्स) हेड महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा, मुम्बई

A Nobel Personality

Born in a small village of Madhya Pradesh, Central India, most of my childhood was spent in a town of Western Uttar Pradesh, India, Bihar and U.P. are the two leading states of India known for sex discrimination since time immemorial.

I was brought up at a place where daughters were never considered to be a member of the family as they had to leave their houses after marriage. The 'son' was considered to be the saviour and legal heir of the family. The importance of sons in families was many fold as they were considered to spread the family tree in to future generation.

And I was born amidst not one or two but three sons as my brothers. Had it been some other family, as most of my classmates would narrate to me, even basic education would have been a privilege. But I was born to a father who was different, unconventional, un-traditional and unorthodox, not just in thoughts but in his actions also. Being a free thinker and liberal, my father not just gave me freedom to think but also provided me with wings to fly high and pursue my dreams with his full and everlasting support. I was allowed to pursue my dream and career of my choice as it was for my brothers. There was no discrimination. On the contrary, I was given more freedom than my brothers.

Today, I am working as a leading gynaecologist and when I look back, more than 80% of my schoolmates could not go beyond even graduation. I am proud to be born in such a family and I am proud to be born as a daughter of my father. I owl my success to the efforts of my father, spoken and unspoken many a time.

Dr. Manish Jain
Associate Professor, Government Medical college, Vidisha. (M.P.)

माता-पिता तुल्य मेरे सास-ससुर

हरेक लड़की की इच्छा होती है कि उसे ससुराल में पति के साथ सास-ससुर का भी प्यार मिले, जैसा मायके में मम्मी पापा से मिलता है। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे ससुराल में माँ-बाप का प्यार मिला। मेरे पति अमेरिका में कम्प्यूटर इंजिनियर के पद पर सर्विस कर रहे थे तथा उनका परिवार वाराणसी (भारत) में रह रहा था। मैं यहाँ कुछ घटनाओं को प्रकाशित करना चाहती हूँ -

जब प्रथम बार मुझे अमेरिका जाने के लिए बीसा हेतु दिल्ली जाना पड़ा, तब मेरे ससुर मेरे साथ दिल्ली गए। उन्होंने बीसा बनवाने में काफी प्रयत्न किए और दूसरी बार में बीसा बनवा दिया। जब दिल्ली से वाराणसी लौट रहे थे तो टिकिट कन्फर्म नहीं हुई थी। RAC में ही यात्रा काशी विश्वनाथ एक्सप्रेस से करना पडी। रात्रि में जब सोने का समय आया तो मैंने जमीन पर चादर बिछाकर सोने का प्रयत्न किया तो मेरे ससुर प्रो. सुदर्शन लाल जैन ने नीचे जमीन पर नहीं सोने दिया अपितु मुझे वर्थ पर सुलाया और स्वयं नीचे सो गए। मैं बड़ी लज्जित हुई परन्तु उनकी जिद्द के आगे मेरी नहीं चली। ये था मेरे ससुर का मेरे प्रति पिता-पुत्री का अद्भुत प्यार।

जब मैं प्रथम विदाई के समय अपने मायके जा रही थी। तब अपने सास-ससुर के प्यार से मैं अपनी सास से लिपट कर रो रही थी और सास ससुर सान्त्वना दे रहे थे। उस समय वाराणसी स्टेशन पर ट्रेन में बैठे लोग बोले क्या बेटी को ससुराल भेज रहे हैं ? मैं उस समय बड़ी अभिभूत हुई और आज तक उस घटना को नहीं भूल सकी।

अमेरिका में प्रवचनों के लिए समाज ने मेरे ससुरजी को बुलवाया था, ये उनकी प्रथम विदेश यात्रा थी उस समय का संस्मरण मुझे बहुत अच्छे से याद है। हमारा पूरा परिवार अपने आप में बहुत गौरवान्वित महसूस कर रहा था। पापा ने वहाँ बहुत धर्म-प्रभवना की, बहुत लोगों को प्रभावित किया, अपनी तत्त्व चर्चा और प्रवचनों के माध्यम से बहुत सारे लोग जिज्ञासा लेकर आते और पापा सभी को उचित समाधान बताते। तत्त्वार्थसूत्र की क्लास में भी समाज के सभी वर्ग के लोगों ने पढ़ने-समझने में बहुत रुचि दिखाई। लाइव टेलीकास्ट भी होता था। फोन से उसी समय प्रश्न भी आते थे। हमारी काफी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान किया और हमें धर्म के सही ज्ञान के प्रति रुझान जगाया।

पापा जब भी कोई नयी जगह जाते हैं या वस्तु देखते हैं तो वे बड़े तार्किक और प्रामाणिक दृष्टि से परखते हैं। बहुत बारीकी से अवलोकन करते हैं। सारे पहलुओं पर वे बहुत जुझारु, लगनशील एवं मेहनती हैं।

पिता एक वट वृक्ष है, जिसकी शीतल छाया में, सम्पूर्ण परिवार सुखी रहता है। हर छोटे संकटों में माँ ही याद आती है। पर जब बड़े संकट आते हैं तो पिता से ही सलाह लेते हैं। उमड़ते घुमड़ते विचारों को मैं डायरी में लिखा करती थी, वही एक अच्छी दोस्त थी मेरी। अचानक एक दिन मेरी डायरी के सारे पन्ने फटे हुए मिले मेरे तो आँसू आ गए। परन्तु पापा जी दूसरे दिन मेरी डायरी को पुनः व्यवस्थित कर मेरे सामने खड़े थे। उस क्षण खुशी से मेरी आँखे नम हो गयीं। बहुत ध्यान रखते हैं सभी की खुशियों का, ऐसे हैं मेरे ससुर (पिता)। भगवान् करे मेरे जैसा सास-ससुर-पति-देवर-ननद वाला परिवार मिले। यहाँ मुझे लगता ही नहीं कि में ससुराल में हूँ।

श्रीमती अर्चना जैन
सारटोगा, केलिफोर्निया, अमेरिका

My Father-in-law is an Example of the Hard work

As daughter-in-law, privilege that only 3 people have, I was inspired by my father-in-law even before I became his daughter-in-law. I had heard about my father-in-law's achievement even before my marriage.some lessons that I have tried to incorporate in my life.

(1) During the marriage ceremony, I truly witnessed his mastery of litrature when he effortlessly tied all the relatives name from both families into a piece of literature. Since then I have seen him explaining many facets of Jainism in a very simplified manner which makes us all understand those complex granthas into common person language.

(2) I have seen him follow his true zest of knowledge almost all the time. Many a times it is not about Jainism, but it would be anything from our daily life use where he would tirelessly try to figure out and fix things which are not his cup of tea. That shows focus and dedication. Something that today's generation can certainly learn from, a trait he showed when learning about computers and social media. He did not shy away from it but put in the effort to learn it and use it to further his goals and passion. That to me is amazing.

(3) Another quality that had made a big impact on me is his focus. I have seen him lost in his research, even after retirement, where he would forget about food and others around him.

(4) He has been awarded mant honors and awards in his lifetime, though the

highlight of his achievement is the well-deserved President's Award for Jainism.

(5) He is a loving father, husband, son, brother and grandfather. When I follow his journey, it helps me to pursue my passion while being a loving parent and caring physician.

(6) My father-in-law is an exapmle of true hard work, exemplary focus and a true go-getter. I hope that someday, I will be able to live my life to the fullest, just like him.

Dr. Arti Jain

Arti Paediatric Hospital, cuperina(U.S.A.)

मेरे सास-ससुर मेरे माता-पिता

श्री अभिषेक जैन मेरे पति और मित्र दोनों है। जीवन के हर उतार-चढ़ाव में उन्होंने मेरा साथ दिया है। जब मेरा विवाह हुआ तो मेरे मन में यह डर था कि मुझे ससुराल में मान-सम्मान और स्नेह मिलेगा या नहीं। मेरा ये सौभाग्य है कि मुझे अभिषेक जी जैसे पति के साथ-साथ माता पिता स्वरूप सास और ससुर जी मिले। मेरी ससुराल में पिताजी ने मुझे स्नेह भी दिया और मेरा मार्गदर्शन भी किया। पिता जी काफी सुलझे हुए पुरुष हैं और उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों से हमेशा मार्गदर्शन किया है। पिता जी से मैंने जीवन में कर्मठता और ज्ञान का महत्त्व सीखा है। पिताजी में कुछ नया सीखने की उत्सकुता हमेशा रहती है। मुझे अभी भी वो समय याद हैं जब मेंने उन्हें 'आई पैड' चलाना सिखाया था तब आपने कहा था कि तुम मेरी गुरु बन गई। कितनी सरलता है उनमें। यद्यपि मैं स्वयं फाइनेंस के क्षेत्र से हूँ परन्तु हमारे भविष्य निधि के लिए पिताजी से ही राय लेती हूँ।

आज हमारी एक प्यारी सी बच्ची जिसका नाम पिताजी ने रखा है 'अनिष्का जैन' यह नाम पूरे परिवार का जोड़ है। मै चाहती हूँ ऐसे माता-पिता सबको मिलें तथा पिताजी को खूब सम्मान मिले।

श्रीमती नीलू जैन

एरिया मेनेजर म्यूचुअल फंड, महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा, मुम्बई

पंडितप्रवर सुदर्शन लाल जी जयवंत रहें

आदरणीय पंडित जी के विषय में लिखने के पहले, मैं स्वयं के विषय में दो शब्द लिखना चाहूँगा। मैं भी पंडित जी की तरह बचपन में ही अपने पिता को खो चुका था। मेरी माँ ने ही अपने अथक परिश्रम से हम दो भाई और एक बहिन की परवरिश की। अपनी प्रतिभा और लगन से अध्ययन कर मैंने भोपाल के मौलाना आजाद कालेज ऑफ टेक्नोलॉजी से बी.ई. की डिग्री प्राप्त की तथा भारत एल्यूमिनियम कंपनी कोरबा (छत्तीसगढ़) में ए.जी.एम. के पद तक पहुँच कर रिटायर हुआ।

मेरी भी उच्च शिक्षित चार सन्तानें हैं संजय जैन (अंग्रेजी से एम.ए. तथा व्याख्याता), प्रोफेसर डॉ. अजय जैन, पुत्री अंजू जैन (एम.एस.सी. केमिस्ट्री, बेलापुर)और अमित जैन (एम.ई. कम्प्यूटर, अमेरिका पोस्टेड)। मेरी पत्नी चंदा जैन धार्मिक गृहणी हैं तथा उनके मार्गदर्शन से बच्चों में सुसंस्कार का प्रादुर्भाव हुआ। उनके सहयोग के बिना बच्चों को योग्य बनाना मुश्किल था। मेरे दामाद इंजिनियर हैं बेलापुर, मुम्बई में कार्यरत हैं।

पंडित जी की सुपुत्री डॉ. मनीषा जैन मेरी द्वितीय पुत्र की पुत्र वधू हैं। वह कुशल गृहिणी भी है। इस प्रकार हम समान बुद्धि के धारी (समधी) हैं। डॉ. मनीषा विदिशा मेडिकल कालेज में रीडर पद पर हैं।

विलक्षण प्रतिभा के धारी, पंडित जी साहब प्राकृत और संस्कृत के अतुलनीय विद्वान् हैं, उनकी मेघा अकल्पनीय है। अपनी योग्यता से वह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डीन के पद पर पहुँचकर रिटायर हुए। भारत

सरकार ने भी उनकी योग्यता को पहचाना तथा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया। जैन समाज उनके 75 वें जन्मदिन पर एक प्रशस्ति ग्रन्थ प्रकाशित कर रही है, यह प्रसन्नता का विषय है।

मेरी कामना है कि वह शतायु हों और समाज को धर्म का प्रकाश देते रहें। मेरी यह भी इच्छा है कि वह अपने जैसे और भी विद्वान् बनायें जिससे प्राकृत भाषा का ज्ञान अक्षुण्ण रहे। पुनः शुभकामनाओं के साथ।

श्री जिनेश्वर कुमार जैन

एच.आई.जी. 7, नेहरु नगर, कोरबा (छ.ग.)

आदरणीय सावजी साहब को बधाई

हम सभी के लिए यह अत्यन्त गौरव व सम्मान का क्षण है कि आपके 75वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में अभिनदन्न ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। कृपया मेरी व परिवार की बधाई स्वीकार करें।

हम सभी आपके विगत वर्षो की उपलब्धियों से अत्यन्त प्रभावित हैं। आपने जैन दर्शन के दार्शनिक विषयों के साथ इतिहास के उन तथ्यों को उजागर किया है जिनके विषय में जैन समाज को कम जानकारी है। इसके लिये आपने प्राकृत व संस्कृत भाषा का गहन अध्ययन किया है। इसके लिये आपको राष्ट्रपति पदक से सम्मानित किया गया है। आप जैन समाज के चन्द बुद्धिजीवियों में हैं जिनको समय समय पर संत मुनियों से आमंत्रण प्राप्त है। पुनः आपको शुभकामनाएँ व बधाई।

श्री संतोषकुमार जैन

शहडोल

हिमगिरि सम उन्नत ललाट

धन्य सुधा सम दिन यह पावन, पुलकित ह्रदय हमारे,
शिक्षा विभाग धार्मिक आस्था, पुरुषार्थ के अतिथि पधारे।।
गंगा यमुना त्रिवेणी सा पावन संगम लगता है
संस्कृत-प्राकृत-भाषाओं की सुन्दर महिमा सी लगती है।।
सौम्य-प्रकृति शालीन वेश, मधुवाणी का संगम पाया।
कई दिनों से आश लगी पर आज मिलन अवसर आया।।
हर्षित तन मन से आज सभी, दर्शन पा आज तुम्हारे।
सङ्काय प्रमुख बी.एच.यू. में पद पाकर, गरिमा को साकार किये।।
स्वयं बढ़े कर्त्तव्य मार्ग पर, सबको ऐसी दी ज्योति।
मानों कोई हँस उदधि से चुनकर लाया हो मोती।।
कांतिमान-ओजस्वी व्यक्तित्व, सदा परिचय देता है।
दीन-दुखी की पीड़ाओं पर इनका करुण ह्रदय रोता है।।
बाधाओं से लड़ने का इनमें अद्भुत साहस पाया।
परहित में ही सदा कार्यरत सुख पाती इनकी काया।।
मानव सेवा प्रभु सेवा है, ईश्वर है साथ हमारे।
राष्ट्रपति से हुए पुरस्कृत, नित नव यह सम्मान मिले।।
स्वर्णपदक से रहे अलंकृत, कर्मठता का वरदान मिले।
शासन से गौरव मिले, तुम्हें निज मातृभूमि का मान।।
हिमगिरी से उन्नत ललाट पर महिमा मंडित शान रहे।
मधुर भाव से स्वीकारो मामाजी ये श्रद्धा-सुमन हमारे।।

श्री कवि नन्दन लाल जैन शास्त्री

सेवानिवृत्त अध्यापक, पी 384, शिवनगर, जबलपुर

हर्ष और गर्व की अनुभूति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में चार दशकों तक संस्कृत विभाग में उत्कृष्ट अध्यापन करते हुए विभागाध्यक्ष एवं सङ्काय प्रमुख जैसे महत्त्वपूर्ण पदों को सुशोभित करने वाले जैन धर्म-दर्शन के अधिकारी विद्वान् प्रो. डॉ. सुदर्शन लाल जैन न सिर्फ जैन समाज वरन् सम्पूर्ण देश के गौरवपुत्र हैं। 44 शोधछात्रों ने आपके मार्गदर्शन में मानक शोधकार्य पूर्ण करके पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। आपने धर्म दर्शन, अध्यात्म पर कई मौलिक कृतियों, लेखों के सृजन के साथ ही अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया है। जैन दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत भाषा के संरक्षण-संवर्धन के लिये आपने अमेरिका एवं सिंगापुर में प्रभावशाली व्याख्यान दिये। उत्कृष्ट कार्यों हेतु भारत के राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी द्वारा आपको सम्मानित किया गया। आपने अखिल भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के महामन्त्री पद पर रहते हुए संस्था और समाज-विकास हेतु अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। उपरोक्त समस्त उपलब्धियाँ आपने किसी की बैसाखी के सहारे नहीं वरन् अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति और साधना से प्राप्त की हैं। मुझे गर्व है। हमारे विद्वान् मामाजी की शिक्षा, प्रेम व कृपा हम सभी भांजों पर हमेशा बरसती रही है। आपके 75वें जन्मोत्सव एवं इस अवसर पर प्रकाशित हो रहे अभिनन्दन ग्रन्थ सिद्ध-सारस्वत हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करते हुए मैं अत्यन्त हर्षित एवं गर्वित हूँ। आप हम सभी के आदर्श हैं। आपका कृपापात्र भांजा -

श्री प्रमोद जैन
पलक गैस एजेन्सी, पाटन (जबलपुर)

My most memorable visit to my Dadaji's (Dean's) Office

I had one of my most memorable visits to India when I was 7 years old. One day around late morning, Daadi had decided that I would join her to see Dadaji at his Dean's office. I was ready for the responsibility of a big girl, so I strapped on my shoes and was ready to head out.

When we arrived at the Dean's office inside the BHU campus, I immediately became anxious. I had never been to a place like this before. There were tall buildings surrounding me on all four sides, I was excited to explore, yet felt disoriented and slightly apprehensive. How would we find Dadaji amongst all these rooms?

I immediately started to take off towards the wrong corner of the building only to have Daadi direct me in the opposite direction as I was letting my excitement get ahead of myself.

When we came in the hallway that led to Dadaji's office, I saw a long line of students with notebooks in their hands anxiously whispering to each other.
I was confused. Were they waiting to see Dadaji? Why did they look so worried? Were they in trouble?

When we entered, I immediately ran towards Dadaji's desk. The desk was buried in papers and the same notebooks that the students were holding outside. It was a daunting sight, but behind all the papers, I saw Dadaji smile at me, and I was relieved that everything was alright.

But the question of the students still bothered me. I asked him, "Why do all

your students look so scared of you?"

It was then that Dadaji told me “The students sitting outside are not afraid of me, they are afraid of what they don't know. They face a fear of the unknown. They lose their resolve, because they don't know what to expect when they come in here to turn in their notebooks."

"Well that's silly, I'll tell them that my Dadaji is the nicest person in the world and that they don't have to worry at all," I responded cheerily.

"Thank you beta, but it is often the fact that anxiety grows into fear without us realizing it. It is important to always take a step back and evaluate what is it that you are really afraid of before entering a situation. It helps you maintain a clear head."

Of course, at the age of 7, this was practically useless information. However, this conversation stuck with me for a long time, and as I grew older I began to understand what exactly Dadaji was trying to convey that day. Looking back now, this was probably the most important piece of advice I have ever received. Within two minutes Dadaji had changed my entire perception of the world. Although I was too young to recognize it at the time, it has certainly shaped a lot of my decision-making and character as an adult. I am thankful that Dadaji has helped me grow into a more introspective adult. It is something that I will forever admire Dadaji for.

Ku. Archita Jain
U.S.A.

Dadaji is still in touch with his inner child

Most of my memories with Dadaji are tied to the sticky heat of India in the summer, filled with storybooks and sweet mangoes and the best poha I've ever had, courtesy of my Dadi. As a result, this particular memory is especially unique, because it was one of the few times they visited us here in America. Dadaji and Dadi don't visit often, so whenever they do, we love to show them everything America has to offer.

That year, we took them to the Grand Canyon, one of the most beautiful natural wonders I have had the honor to visit. Unfortunately, they had visited when the blossoming beauty of the Grand Canyon was muted by the grey dullness of winter. After a disappointing visit hiking up to the vista spot only to be greeted with a relatively unremarkable slab of rock, I was crushed that I was not able to show my Dadaji the beautiful view, and thought he felt the same. After all, he had hiked through mushy grey snow for nothing!

As we hiked down, with faces fallen and embittered hearts, it began to snow anew. At that, I could not have imagine that day getting worse. And yet, I watched a smile grow on Dadaji's face as he watched the snowfall and wondered at the

beauty of this simple joy. His happiness was infectious, and I started enjoying the fresh snow. Soon enough, everyone was caught up playing in the fluff, and I even got to make snow angels with Dadaji.

Dadaji is many things, and until then I had always seen him as a serious grown up, who had no time for childish silliness. But at that moment, he showed the depth and complexity of his character. He was mature enough to find the positive side of that disappointing day, but still in touch with his inner child, which I realized when he joined me in making a matching snow angel.

He and I have shared many more special memories since. He is always moving forward, which is something I admire deeply about him since for me, it is so easy to get caught up in past events and let them hold me back from the things I want to pursue. This past summer, I helped him set up his new iPad and learn new functions on his Facebook. His room was sweltering and thick with humidity, but I forgot all of the discomfort of the heat as I laughed in response to his cool, dry humor and got caught up in his excitement to learn new things.

Dadaji has always been a significant presence in my life, and there is a lot to be learned from him. It can be hard to recognize everything he has done and all the lessons sometimes because he rarely explains them verbally. Instead, it is his actions that ultimately guide me forward.

Ku. Sanjita Jain
Copertino, U.S.A.

Discipline Nature

You have a unique personality .You are a very disciplined person by nature . Such people should be there all over the country as they help in building the future of India.We are proud to have you with us who is so honourable and a great intellect.

Shri Rishabh jain.
Pune

संस्कृत-प्राकृत के पुरोधा मेरे अपने मामाजी

मनुष्य का परिचय उसकी कर्तव्य-निष्ठा, विवेक-शीलता तथा सद्गुणों से होती है, बिल्कुल उसी तरह जैसे दीपक का परिचय माटी से नहीं, ज्योति से है। सुई का परिचय लघुता से नहीं, कर्मठता तथा परस्पर मिलाने से है। फूलों का परिचय उसकी सुन्दरता एवं विविधता से नहीं वरन् सुगन्ध से है। मेरे आत्मीय सम्मानीय मामाजी डॉ. सुदर्शन लाल जैन का व्यक्तित्व इन सभी गुणों से परिपूर्ण है।

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः, को वा न जायते।।

अर्थात् इस परिवर्तनशील संसार में असंख्य प्राणियों का निरंतर जन्म-मरण होता है लेकिन मनुष्य पर्याय को प्राप्त करना उसी का सार्थक है जिसने अपनी जाति, वंश एवं समाज की उन्नति की हो। ऐसे ही नवरत्नों में परम आदरणीय डॉ. सुदर्शन लाल जैन जी हैं, जिनका आदर्श जीवन एवं उनका रचनात्मक कार्य समाज के समक्ष अनुकरणीय है।

'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते' - श्रद्धेय मामाजी डॉ. सुदर्शनलाल जैन बचपन से ही मेधावी तथा विनम्र छात्र रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ उपाधि पी-एच.डी. संस्कृत विषय में प्राप्त करके राष्ट्र की जननी भाषा के प्रति उन्होंने अपनी अगाध निष्ठा का परिचय दिया है।

भारत भूमि में स्थित शिक्षा की तपोभूमि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को अपनी कर्म-भूमि बनाकर लम्बे अरसे तक ज्ञान-पिपासु बटुकों को ज्ञान-रश्मि से अलोकित किया है। उनके इसी समर्पण भाव को देखते हुए उन्हें देश-विदेश में अनेकों सम्मान प्राप्त हुये। देश का सर्वश्रेष्ठ सम्मान राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त कर आपकी ख्याति सर्वत्र विकीर्ण हुई। आपका समग्र जीवन साहित्य-साधना का प्रतीक है। आप हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत एवं अंग्रेजी आदि के उच्चकोटि के विद्वान् हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का लेखन, अनुवाद, प्रकाशन, संस्कृत एवं हिन्दी में करके समाज का जो उपकार किया है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता है। अपनी तीनों बहिनों के प्रति आपा अगाध प्रेम रहा है।

हम सभी उनके उत्तरोत्तर प्रगति की कामना करते हैं। आपका शिक्षानुराग समाज में सतत बढ़ता रहे।

श्री सुशील कुमार जैन (अव्बी) सपरिवार
उपपंजीयक, कार्यालय, जबलपुर

मैं कौन हूँ? (स्व जीवन वृत्त)

जब मैं निश्चयदृष्टि या परमार्थदृष्टि से विचार करता हूँ तो मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा रागद्वेष रूप भावकर्मों से सर्वथा भिन्न है। सूक्ष्म शरीर, (तेजस् और कार्मण शरीर) तथा स्थूल शरीर (औदारिकादि) से भी सर्वथा भिन्न है। अव्याबाध-अतीन्द्रिय ज्ञान, आत्मोत्थ अनन्त दर्शन, वीर्य और सुख से अभिन्न है। अनादि अनन्त तथा अजर-अमर (जरा-जन्म-मरण) आदि से रहित है। परन्तु व्यवहार दृष्टि से संसारी जीव कर्म-नोकर्म से सहित है, सूक्ष्म और स्थूल शरीर से युक्त है। इन्द्रियजन्य आंशिक ज्ञानादिरूप चैतन्य वाला है। जरा-जन्म-मरण सापेक्ष (शरीर-सापेक्ष) है। इस तरह व्यवहार से अनेक प्रकार का है।

संसारी जीवों में मैं मनुष्य गति वाला संज्ञी (मन सहित) पंचेन्द्रिय जीव हूँ। मेरे सभी दश प्राण तथा छहों पर्याप्तियाँ हैं। सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल औदारिक शरीर है। उच्च जैन बड़कुल गोत्र है। नाम निक्षेप से मुझे सुदर्शन लाल जैन नाम से जानते हैं। नाम निक्षेप से मेरे माता-पिता हैं- स्व. श्रीमती सरस्वती देवी जैन तथा स्व. मास्टर श्री सिद्धेलाल जैन।

पूर्वज

जहाँ तक मुझे ज्ञात हुआ है कि मेरे पूर्वज ''शाहगढ़'' मध्यप्रदेश के रहने वाले थे। यह शाहगढ़ पहाड़ी पर एक छोटा सा गाँव है, इसे घटिया खाले वाला शाहगढ़ भी कहते हैं। यहाँ श्यामली नदी बहती है। यह बिजावर से 8 किलोमीटर दूर है। पास में ही हिन्दुओं का तीर्थस्थान जटाशंकर है जो छतरपुर जिले के अन्तर्गत आता है। यहाँ से एक रास्ता विजावर होते हुए छतरपुर जाता है। दूसरा रास्ता हटा होते हुए कुण्डलपुर (जैन तीर्थ क्षेत्र) बांदकपुर (हिन्दुओं का तीर्थक्षेत्र) तथा दमोह की ओर जाता है। इस तरह यह क्षेत्र तीर्थक्षेत्रों से घिरा हुआ है। शाहगढ़ स्वयं भी एक जैन अतिशय क्षेत्र है। (गाँव वालों से) सुनने में आया है कि आज से 100-120 वर्ष पूर्व दशलक्षण पर्व (दिगम्बर जैन महापर्व/पर्यूषण पर्व)) के समय प्रतिमा-मज्ञन करने वाले पुजारी ने अपने पाप को छुपाया था जिससे भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति से इतना जलस्राव हुआ कि उस जल को सुखाने में एक थान कपड़ा लग गया। जब उसने अपने पाप के लिए क्षमा मांगी तभी वह जलस्राव बन्द हुआ।

यहाँ का मुख्य धन्धा या आजीविका वनोपज थी। वनोपज में चिरौंजी और महुआ प्रमुख थे। गाय-भैंस आदि दुधारू पशुओं का पालन पोषण करते थे जिससे घी आदि भी उनकी आय का मुख्य स्रोत था। यहाँ की आबादी जैन-अजैन को मिलाकर करीब 300 घर ही थे। जैनों के 60-70 घर थे जो आज 4-5 घर ही बचे हैं, जो यहाँ के जैन मन्दिरों की देखभाल करते हैं। पहले यहाँ के लोग सम्पन्न थे और यहाँ तीन मन्दिर थे। एक मन्दिर 300 वर्ष पुराना था जो सड़क के पास में था। उसके जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर वि.सं. 1914 में मन्दिर की नई नींव रखी गई। आज तीनों मन्दिरों की मूर्तियाँ वहाँ से हटाकर गाँव के मध्य एक ही मन्दिर में तीन वेदियाँ बना कर रख दी गई हैं। जिनमें एक वेदी बड़कुलों की है, एक वेदी सिंघई की तथा एक पंचायती है। मूर्तियाँ बहुत हैं जिन्हें इन तीनों में समाहित कर दिया गया है। मन्दिर के नाम से बहुत जमीन है जिसका उपयोग नहीं हो रहा है। इसे तीर्थक्षेत्र के रूप में विकसित करके भव्य विशाल मन्दिर व धर्मशाला आदि बनाई जा सकती है। बड़कुल खानदान के श्री आनन्द कुमार जैन एवं विनोद कुमार जैन यहाँ रहकर मन्दिर की देखभाल करते हैं।

बड़कुल उपाधि- हमारे पूर्वजों ने यहाँ पर दो मन्दिर बनवाए थे और उन्हें 'बड़कुल' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। श्री आनन्द कुमार जी बड़कुल हमारे खानदान से ही सम्बन्ध रखते हैं। डॉ. श्री नन्दलाल जैन (रीवाँ निवासी) भी हमारे ही खानदान के हैं। मैं डॉ. धर्मचन्द के साथ दो बार यहाँ आया हूँ परन्तु इस इतिहास में रुचि न लेने से आज सब विस्मृत हो गया है। जब पहली बार यहाँ आया था तब लोग सब इतिहास जानते थे। मैंने यहाँ जब अपने पिताजी का नाम लेकर परिचय दिया तो उन्होंने मुझे पहचान कर भोजन कराया और घटनायें सुनाईं। दूसरी बार मैं अपनी पत्नी डॉ. मनोरमा को भी साथ ले गया। मैंने वहाँ रू. 5000 दान दिया जिससे पूजा में विघ्न न आवे तथा कोई मुनि इसका विकास करें तो मेरा पूरा सहयोग रहेगा, ऐसा वचन देकर आ गया। आज भी मैं हृदय से इस स्थान के विकास की कामना करता हूँ।

शाहगढ़ से बांदकपुर, बनगाँव होते हुए दमोह आगमन

एक बार शाहगढ़ में फसल खराब हो जाने के कारण आर्थिक तंगी आ गई जिससे वहाँ के कुछ जैन बांदकपुर

आ गए। मेरे पूज्य पिताजी भी सपरिवार बांदकपुर आ गए। यहाँ एक मकान सड़क किनारे ले लिया। तब से मेरे पिताजी बांदकपुर वाले कहलाने लगे। आज भी मुझे बांदकपुर की धुंधली सी याद है। इसके पूर्व की कोई याद नहीं है। यहाँ मैं कागज की नाव बनाकर घर के बाहर बरसाती पानी में खेला करता था। उस समय उम्र करीब 3 वर्ष रही होगी।

इसके बाद बैलगाड़ी द्वारा कुलुआ कुम्हारी में आ गए क्योंकि पिताजी का वहाँ ट्रांसफर हो गया था। वहाँ पिताजी के साथ उनके स्कूल जाते और खेलते रहते थे, कुछ सीखते थे। गाँव के बाजार में संतरे की मीठी टाफियाँ खरीदकर खाया करते थे। कुलुआ कुम्हारी का घर, स्कूल और बाजार आज भी आंखों में तैरते हैं। यहीं से आगे की स्मृति स्पष्ट होती गई।

यहाँ से पिताजी का ट्रांसफर बनगाँव (हटा-दमोह के रास्ते में) हो गया। यहाँ के घर का तथा स्कूल का नक्शा आज भी आंखों में स्पष्ट सा झूलता है। यहीं पर मैंने स्कूल जाना प्रारम्भ किया परन्तु रेगुलर नहीं। पिताजी के साथ स्कूल जाते थे और पहली कक्षा में बैठते थे। कुछ समय बाद पिताजी का ट्रांसफर एक ऐसे-गाँव में कर दिया गया। जहाँ जैन मन्दिर नहीं होने से पिताजी ने वहाँ जाने से मना कर दिया। वे प्रायमरी के हेडमास्टर थे। पिताजी की चर्चा प्राय: समाज के तीन हेडमास्टरों के साथ होती थी- पं. हजारी लाल जैन (बंड़ा बेलई), मास्टर थम्बनलाल जैन तथा मास्टर सिद्धेलाल जैन। उस समय दमोह में जैन समाज के प्रतिष्ठित सेठ थे श्री गुलाबचंद जैन उनका प्रशासन पर भी प्रभुत्व था। उनके प्रयास से पिताजी का ट्रांसफर बनगाँव से दमोह के धर्मपुरा स्कूल में हो गया। इस तरह पिताजी दमोह नगर पालिका के अन्दर आ गए परन्तु इसके लिए उन्हें हेडमास्टर का पद त्यागना पड़ा। हम लोग सपरिवार दमोह आ गए और एक किराए के मकान में (पुराने थाने के पीछे मल्लपुरा) रहने लगे। पास में ही दो-तीन जैन मन्दिर थे तथा सेठजी का घर भी पास में था, सटी हुई एक छोटी पहाड़ी थी, जहाँ हिन्दुओं का मन्दिर था। आज वैसा ही है।

घर से स्कूल करीब 2-3 कि.मी. दूर था। पिता जी साईकिल से स्कूल जाते थे। साथ में मुझे भी आगे बैठाकर स्कूल ले जाते थे, वहाँ मेरा विधिवत् कक्षा एक में नाम लिखवा दिया। कक्षा दो के बाद मैं पैदल स्कूल जाने लगा। घर पर कोई न होने से मैं प्राय: सेठ जी के सुपुत्र श्री सुमत सेठ के साथ खेलने चला जाता था। सभी समकक्ष थे। इस तरह मेरा सेठ जी के परिवार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी हो गया। प्राय: वहीं भोजन भी कर लिया करता था क्योंकि पिताजी के साथ केवल मैं रहता था परिवार का कोई अन्य सदस्य नहीं रहता था। पिता जी के ट्रांसफर अब दमोह के ही स्कूलों में होने लगे जिससे स्थायी रूप से दमोह निवासी बन गए। पिताजी की कर्मठता, विद्वत्ता, अनुशासनप्रियता, नियमितता और प्रशासन कुशलता देखकर उन्हें पुन: प्रधानाध्यापक बना दिया। इसके बाद वे ई. 1962 में सेवानिवृत्त हो गए।

दमोह के पूर्व पिताजी सागर जिले एवं दमोह (पूर्व में दमोह सागर जिले में ही था) जिले के गाँवों में पढ़ाया करते थे, उनमें से कुछ स्थनों के नाम मुझे याद हैं- नोहटा, हटा, लखनादौन, बांदकपुर, कुलुआ कुम्हारी, लखरौनी वनगाँव आदि।

पिताजी ने सेवानिवृत्ति के दो वर्ष पूर्व (ई. 1960) में एक पुराना मकान सिविलवार्ड (तीनगुल्ली) में सागर रोड़ पर खरीद लिया। उस समय मैं बी.एच.यू. में बी.ए. की पढ़ाई कर रहा था।

पिताजी अध्यापन काल में छात्रों को ट्यूशन के माध्यम से भी पढ़ाया करते थे। जो बच्चे पढ़ते नहीं थे उन्हें रास्ते पर लाने में वे माहिर थे। अत: बहुत लोग उनके पास अपने बच्चे ट्यूशन हेतु भेजते थे। समाज में सम्मान था यह कार्य उनका सेवानिवृत्ति के बाद भी चालू रहा। पिताजी ने इसके साथ दो कार्य और शुरू किए जिससे आर्थिक परेशानी न हो-

(1) घर पर बैठे-बैठे रविवार को बाजार के दिन किसानों द्वारा लाई गई पोटलियों का गल्ला (गेहूं, चना, आदि) खरीद लेते और उसे अल्प मार्जिन पर बेच देते थे। कभी-कभी घाटा भी हो जाता था।

(2) गरीबों तथा जरूरतमन्द लोगों की मदद हेतु छोटी-मोटी साहूकारी भी करने लगे। कोई बर्तन रख जाता, कोई गहना रख जाता। मैंने इस कार्य हेतु मना किया तो कहते थे, बेटे! इतने कम ब्याज पर इन्हें कोई पैसा नहीं देगा, कभी-कभी ब्याज नहीं भी लेता हूँ। कभी-कभी नकली जेवर भी रख जाते थे। उन्हें अपनी गरीबी याद थी इसीलिए परोपकार की भावना से सहयोग करते थे और अपनी आजीविका चलाते थे।

मेरी अध्ययन-अध्यापन यात्रा

अध्ययन - धर्मपुरा स्कूल से कक्षा चार (पहले प्रायमरी कक्षा चार तक होती थी) प्रथम श्रेणी में पास करने के बाद पिता जी मुझे अपनी तरह मास्टर बनाने के उद्देश्य से समीपस्थ स्कूल में प्रवेश दिलाने ले गये। परन्तु वहाँ प्रात:कालीन शिफ्ट में प्रवेश पिताजी को मञ्जूर नहीं था क्योंकि उनका स्कूल दोपहर की शिफ्ट में था। इसके अतिरिक्त नार्मल ट्रेनिंग स्कूल

में प्रवेश के लिए मेरी उम्र कम थी। पहले सातवीं के बाद नार्मल ट्रेनिंग होती थी। व्यवस्था बनती न देख पिताजी ने कटनी के श्री शान्तिनिकेतन जैन संस्कृत विद्यालय में भेजने का विचार किया। संयोग से पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री (प्राचार्य कटनी विद्यालय) दमोह आए और पिताजी के अनुरोध पर ई. 1953 में कटनी के जैन विद्यालय में ले जाकर बोर्डिंग में भर्ती कर दिया। यहाँ रहकर मैंने ई. 1956 में प्रथमा तथा 1958 में पूर्व मध्यमा (कक्षा 10) पास की। इसके बाद जुलाई 1958 में मोराजी सागर पढ़ने आ गया। यहाँ पर मैं मात्र एक वर्ष रहा, उत्तर मध्यमा प्रथम खण्ड के साथ धार्मिक परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। यहीं से प्राईवेट जैनन्याय मध्यमा और न्यायतीर्थ परीक्षा भी उत्तीर्ण की। उस समय यहीं पर पं. दयाचन्द जी (बड़े पं. जी प्रचार्य), पं. पन्नालाल जी, पं. माणिक चन्द जी तथा छोटे पं. दयाचन्द जी अध्यापन करते थे। पं. माणिकचन्द्र का मुझ पर कुछ अधिक स्नेह था परन्तु वे कड़े अनुशासन प्रिय थे। यहाँ से मैं अकेला ही जुलाई 1959 में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी आ गया। यहाँ पं. कैलाशचन्द जी प्रचार्य तथा धर्माध्यापक थे। यहाँ रहकर साहित्य विषय से उत्तर मध्यमा तथा इंटर परीक्षा उत्तीर्ण कीं, इसके उपरान्त मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.ए. द्वितीय वर्ष (आनर्स) में प्रवेश मिल गया। उसी वर्ष से बी.ए. में तीन वर्षीय पाठयक्रम प्रारम्भ हुआ था और जो इंटर (बारहवीं) पास करके आते थे उन्हें सीधे बी.ए. द्वितीय वर्ष में प्रवेश मिल जाता था तथा हायर सेकेण्डरी (ग्यारहवीं) वाले को बी.ए. प्रथम वर्ष में। बाद में इण्टर वालों को भी बी.ए. प्रथम वर्ष में प्रवेश मिलने लगा।

बी.ए. का नया कोर्स अधिक था– तीन अनिवार्य विषय अंग्रेजी, हिन्दी एवं जनरल एजूकेशन थे तथा तीन ऐच्छिक। वैकल्पिक विषयों में उच्च श्रेणी के अंक लाने पर बी.ए. आनर्स की डिग्री मिलती थी। मैंने दर्शन, पालि और संस्कृत को वैकल्पिक विषय के रूप में चुना था। बी.ए. द्वितीय वर्ष में मैं मेरिट लिस्ट में चतुर्थ स्थान पर था तथा तृतीय वर्ष में (फाइनल में) द्वितीय स्थान पर था। इससे मैं कॉलेज में प्रसिद्ध हो गया और सब अध्यापकों का चहेता बन गया। इस तरह ई. 1962 में मैंने बी.ए. आनर्स परीक्षा उत्तीर्ण की। जब बी.ए. का रिजल्ट न्यूज पेपर में आया तब मैं पिताजी के घर पर बर्तन साफ कर रहा था। बड़ी प्रसन्नता हुई, सभी ने बधाई दी। परन्तु कोई जश्न नहीं, पार्टी नहीं हुई।

आगे अध्ययन करने की बलवती इच्छा हो जाने से मैं पुन: वाराणसी आ गया परन्तु एम.ए. में प्रवेश लेने की तिथि एक्सपायर हो गई थी। जिससे मैं बड़ा उदास हो गया। मैंने दर्शन शास्त्र और संस्कृत विषय में प्रवेश पाने हेतु दो प्रार्थना पत्र लिखे जिन्हें क्रमश: दर्शनशास्त्र और संस्कृत के विभागाध्यक्षों से संस्तुत कराया गया था। गुणग्राही कुलपति ने दोनों विषयों में इच्छानुसार प्रवेश की अनुमति दे दी। अब दूसरी समस्या यह थी कि मेरी उम्र प्रवेशार्हता से एक वर्ष कम थी परन्तु वहीं एक अन्य नियमानुसार वहीं से उत्तीर्ण छात्रों पर वह नियम लागू नहीं होता था जिससे मुझे प्रवेश की अनुमति मिल गई। मैंने संस्कृत से एम.ए. करने की इच्छा से वहाँ सन 1962 में प्रवेश ले लिया। मेरे मित्र श्री पृथ्वी कुमार अग्रवाल, जो प्रसिद्ध प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल के सुपुत्र थे तथा जिन्होंने बी.ए. में प्रथम स्थान प्राप्त किया था, उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग में प्रवेश लिया।

एम.ए. प्रथम वर्ष संस्कृत में मुझे प्रथम स्थान मिला परन्तु अंतिम वर्ष में पुन: द्वितीय स्थान प्राप्त किया। मैंने द्वितीय वर्ष में दर्शन ग्रूप लिया और ई. 1964 में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करके शोध हेतु पी-एच.डी. में रजिस्ट्रेशन कराया। ई. 1967 में पी-एच.डी. की उपाधि मिल गई।

अध्यापन – पी-एच.डी. की उपाधि मिलने के पूर्व ही मेरी वर्धमान कालेज बिजनौर में लेक्चरर पद पर नियुक्ति हो गई, यू.जी.सी. से छात्रवृत्ति भी अग्रिम शोध हेतु स्वीकृत हो गई। अपने शोध निदेशक तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रोफेसर सिद्धेश्वर महाचार्य की अनुमति से मैंने वर्धमान कालेज, बिजनौर में दिनांक 5.9.1967 को संस्कृत विभाग में ज्वाइन कर लिया। इसके बाद मेरठ कालेज से तथा मध्यप्रदेश प्रशासन से मुझे वहाँ के शासकीय कॉलेज में ज्वाइन करने हेतु नियुक्ति पत्र मिले। अन्य स्थानों से भी नियुक्ति हेतु ऑफर आए परन्तु मेरे सौभाग्य से उसी समय बी.एच.यू. वाराणसी से भी नियुक्ति पत्र आ गया और मैंने वहाँ विश्वप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कला सङ्काय के संस्कृत-पालि विभाग में दिनांक 12 अगस्त 1968 को ज्वाइन कर लिया। मेरे मित्र पृथ्वी कुमार अग्रवाल ने भी मेरे साथ अपने-अपने विषय में एक साथ पी-एच.डी. की उपाधि और लेक्चररशिप ज्वाइन की।

मेरे परमादरणीय गुरु प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य की मेरे ऊपर बड़ी अनुकम्पा रही जिसके फलस्वरूप बिजनौर से 11 माह बाद पुन: बी.एच.यू. में आ गया। धीरे-धीरे मैं दो बार (1992-95 एवं 2003 से 2006) संस्कृत विभागाध्यक्ष बना। रीडर (7.2.1984) और प्रोफेसर के (7.2.1992) के पदों पर क्रमश: आसीन होते हुए ई. 1.2.2004 में कला सङ्काय का डीन (सङ्काय प्रमुख) बना। डीन पद तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष दोनों पदों से एक साथ सेवानिवृत्त (31 मार्च

2006) हुआ। विश्वविद्यालय के नियमानुसार 30 जून 2006 तक एक्सटेंशन दिया गया।

कुलपति पद हेतु नामांकन – इसके उपरान्त मध्यप्रदेश तथा राजस्थान से कुलपति पद हेतु फाईनल सर्च पैनल में नामांकन हुआ परन्तु अस्वस्थता (बाइपास सर्जरी और चिकनगुनिया) के कारण मैंने तदर्थ विचार त्याग दिया और राज्यपाल के आमंत्रण पर वहाँ उनसे मिलने नहीं जा सका।

सेवानिवृत्ति के बाद – पार्श्वनाथ विद्यापीठ में डायरेक्टर, भोपाल आगमन और इस अभिनन्दन ग्रन्थ का सूत्रपात–

सेवानिवृत्ति के बाद स्वस्थ होने पर मार्च 2010 से अप्रैल 2012 तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शोध निदेशक (डायरेक्टर) के रूप में कार्य किया तथा वहाँ से निकलने वाली 'श्रमण' पत्रिका का सम्पादन किया। इसके बाद अन्य आमंत्रण मिले परन्तु उन्हें स्वीकार नहीं किया। स्वास्थ्यगत समस्याओं के कारण मेरी डॉक्टर बेटी मनीषा जैन ने भोपाल (जून 2014) में बुला लिया, जिससे मेरी वृद्धावस्था के समय देखरेख हो सके। यहाँ लालघाटी के पास एक फ्लैट में हम रहने लगे। नदीश्वर जिनालय पास में होने से देवाराधना में मन रमा लिया परन्तु शैक्षणिक गतिविधियाँ मन्द हो गईं। धीरे-धीरे समाज से परिचय बढ़ा। संयोग से इसी जिनालय में आचार्य विशुद्धसागर जी का चैमासा स्थापित हुआ। वे मुझसे और मेरी विद्वता से परिचित थे क्योंकि मैंने इनके गुरु आचार्य श्री विरागसागर जी के सम्यग्दर्शन ग्रन्थ का सुसम्पादन किया था। उन्होंने मेरी विद्वता आदि की यहाँ प्रशंसा की जिससे यहाँ लोगों ने भी मुझे सम्मान देना शुरू कर दिया। दशलक्षण पर्व पर प्रवचन तथा तत्त्वार्थसूत्र का वाचन किया। यहीं मेरा परिचय नन्दीश्वर जैन मन्दिर के अध्यक्ष श्री प्रमोद चैधरी जी से हुआ। वे भी मुझे सम्मान देने लगे, आज भी बहुत आदर देते हैं।

इसी बीच परमादरणीय प्रतिष्ठाचार्य पं. श्री विमल कुमार सोंरया जी भोपाल पधारे क्योंकि उनका एक पुत्र डॉ. सर्वज्ञ जैन यहीं पर रहता है। उनसे मेरा सामान्य परिचय था। धीरे-धीरे वे मेरे और मेरी पत्नी डॉ. मनोरमा जैन के वैदुष्य से परिचित हुए। उन्होंने समाज में हम दोनों की विद्वत्ता तथा सादगी की प्रशंसा की। उन्होंने जुलाई-अगस्त 2017 में वीतराग वाणी के अंक में मेरा परिचय छाप दिया और मेरे अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की उसमें घोषणा भी कर दी। मार्च-अप्रैल 2018 के अंक से मुझे वीतराग वाणी का विशिष्ट सम्पादक भी बना दिया। उनका मेरे प्रति असीम प्रेम, आग्रह तथा अनुकम्पा है जिसके फलस्वरूप यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा।

पिता श्री स्व. सिद्धेलाल जैन की वंशावली

पिताश्री सिद्धेलाल जैन बड़कुल के माता-पिता का नाम था श्रीमती प्यारीबाई जैन तथा श्री जगन्नाथप्रसाद जैन। श्री जगन्नाथ प्रसाद जी चार भाई थे जिनमें ये सबसे छोटे थे- श्री गुलजारी लाल, नत्थूलाल, नन्नूलाल और जगन्नाथ प्रसाद जी। गुलजारीलाल के तीन पुत्र थे- अच्छेलाल, मुलामचन्द और नेमचन्द्र। नत्थूलाल के दो पुत्र थे- नेमचन्द्र और उदयचन्द (उद्दी)। नन्नूलाल ने विवाह नहीं किया था। जगन्नाथप्रसाद के दो पुत्र और एक पुत्री थी- माधव प्रसाद (प्रभाचन्द्र), सिद्धेलाल और सुन्दरीबाई। नन्नूलाल के अविवाहित होने से उनकी वंश परम्परा आगे नहीं चली। गुलजारी लाल की आगे की परम्परा ज्ञात नहीं है। नत्थूलाल बांदकपुर आ गए और उनकी वंश परम्परा ज्ञात है। नत्थूलाल की 7 संतानें (2 पुत्र 5 पुत्रियाँ) हैं- नेमचन्द्र (पत्नी, कुसुम), उदयचन्द्र (पत्नी, प्रभा), शान्ति (पति लीलाधर, दमोह), कपूरी (पति गिरीश सगरा), गोदा (पति मुलाम, बांदकपुर), सुलोचना (पति इन्द्रकुमार नेताजी), और सोना (पति अशोक, जबलपुर) नेमचन्द्र की तीन कन्यायें हैं-सविता (पति चन्द्र कुमार, चिरमिरी), अनीता (पति दिनेश, नरसिंगपुरा) और बबली (पति लक्ष्मीचंद दमोह)। उदयचन्द के तीन पुत्र हैं- रजनीश (पत्नी सीमा), मनीष (पत्नी दीपा) और संदीप (पत्नी सपना)।

जगन्नाथ प्रसाद की वंश-परम्परा में माधवप्रसाद उर्फ प्रभाचन्द पनागर चले गए। वे संस्कृत और जैनागम के अच्छे विद्वान् थे। आपने गया में रहकर अध्ययन किया था। उनके 3-4 ग्रन्थ आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। इनका बहुत जल्दी (28-29 वर्ष में) स्वार्गवास हो गया। इनकी पत्नी का नाम था सुभद्रा और एकमात्र पुत्र का नाम था सुरेशचंद्र। इनका भी ई. 1981 में जल्दी स्वर्गवास हो गया। इनकी एक आंख में फुली हो गई थी। इनकी पत्नी का नाम है चमेली, जो आज 10 प्रतिमाधारी हैं। इनकी 8 (5 पुत्र और 3 पुत्रियाँ) संतानें हैं – रवि (पत्नी रश्मि), राकेश (पत्नी राजश्री), राजेन्द्र (पत्नी शोभा), रजनीश (मुनिदीक्षा आचार्य विद्यासागर के सङ्घस्थ सम्भवसागर), रूपेश (पत्नी मोना), सुषमा (पति प्रकाशचंद्र, बांदा), वन्दना (पति संदीप, जबलपुर) और नीलिमा (पति अभय, सागर)।

श्री जगन्नाथ प्रसाद की पुत्री का नाम था सुन्दरीबाई (पति ब्रजलाल जैन बड़कुल, नोहटा)। सुन्दरीबाई का एक पुत्र, तीन पुत्रियाँ 4 सन्तानें हैं। गनेशी, केशर, प्रेमबाई और कलाबाई (कल्लो)।

सिद्ध-सारस्वत

श्री जगन्नाथ प्रसाद के द्वितीय पुत्र का नाम था श्री सिद्धेलाल जैन (पत्नी सरस्वती)। इनकी 7 सन्तानें हुईं। एक गर्भ में ही माँ सरस्वती के साथ वि. सं. 2000 में स्वर्गस्थ हो गई। दो कन्यायें जन्म के बाद शीघ्र ही स्वर्ग सिधार गई। तीन पुत्रियाँ और एक पुत्र 4 सन्तानें जीवित रहीं- त्रिशला (पति सिं. रूपचन्द्र खमरिया), शान्ति (पति सिं. दीपचन्द रहली), ललिता (पति सिं. देवचन्द नेता जी, पाटन) और सुदर्शनलाल (पत्नी मनोरमा)। इनमें से आज दो बहिनों का स्वर्गवास हो गया है-श्रीमती त्रिशला (3.6.2012 में) तथा श्रीमती ललिता (फरवरी 1995 में) तीनों दामाद भी आज जीवित नहीं हैं।

स्व.श्रीमती त्रिशला जैन की 6 (4+2) संताने हैं- सन्तोष (पत्नी सुशीला), नन्दनलाल (पत्नी स्व. शशी), उत्तम (पत्नी मुन्नी), पवन (पत्नी मीना), गुल्ली (पति महेन्द्र दमोह) तथा बेबी उर्फ ममता (पति सुभाष ,जबलपुर)। सन्तोष की कोई संतान नहीं है। नन्दन मास्टर की 3 (1+2) तीन संतानें हैं- सिद्धार्थ उर्फ गोल्डी (पत्नी शेफाली), शिखा (पति संदीप) और निशा (पति सुदेश)। उत्तम की 3 (2+1) संतानें है -सोनू उर्फ अभिषेक (पत्नी शिल्पी), सौरभ (पत्नी प्रियंका) और समीक्षा (पति अंकुर)। पवन 3 (2+1) संताने हैं-पंकज, प्रिंस और मोना।

श्रीमती शान्ति जैन की 6 (2+4) संतानें हैं- विनोद (पत्नी पुष्पा), अव्वी उर्फ सुशील (पत्नी सुनीता), गुड्डो उर्फ सुलोचना (पति हुकमचंद्र, पथरिया), मुन्नी उर्फ सरोज (पति कमल सराफ, पथरिया) मणि (पति-महेन्द्र, देवरी) और मीना उर्फ ज्योति (विवाह नहीं कराया आर्यिका सम्भवमति बनी, सङ्घस्थ आर्यिका विज्ञानमति। दीक्षा ली सन् 2000 दीपावली के दिन, शिखरजी में)। शान्ति के पति की पूर्व पत्नी से 2 कन्यायें थीं -बड़ी बिन्ना (सागर) और क्रान्ति।

स्व. श्रीमती ललिता जैन की चार सन्तानें हैं-सरोज (पति मुलायम, शहपुरा भिटौनी), स्व. ओंकार (पत्नी समता), स्व. मानक (पत्नी उषा), प्रमोद (पत्नी वर्षा), सुबोध (पत्नी-राजुल)।

प्रमोद की 2 संतानें हैं- पारस उर्फ प्रसून तथा पलक उर्फ सौम्या। इनकी पाटन में पलक गैस एजेन्सी है और जबलपुर निवासी बन गए हैं। ललिता के ससुर स्व. सिं. श्री अमीरचन्द जैन 10 प्रतिमाधारी तथा बहुत शान्त परिणामी थे।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन की 4 (तीन पुत्र और एक पुत्री) सन्तानें हैं- डॉ. संदीप (पत्नी-अर्चना), संजय (पत्नी डॉ. आरती), अभिषेक (पत्नी-नीलू) तथा डॉ. मनीषा (पति डॉ. अजय जैन)। संदीप की दो कन्यायें हैं- अर्चिता और स्वस्ति। संजय की भी दो कन्यायें हैं- संजिता और संस्कृति। अभिषेक की एक कन्या है- अनिष्का। मनीषा की दो कन्यायें हैं- अंजलि और सृष्टि। सभी पढ़ रही हैं।

सुदर्शन का परिवार निम्न प्रकार है-

बहुयें - अर्चना, डॉ. आरती, नीलू,

फूफा - ब्रजलाल बड़कुल,

बुआ - सुन्दरी बाई,

मामा - भागचन्द,

मामी - सुमतरानी,

मौसी - कस्तूरी,

नानी- नाम ज्ञात नहीं

नाना - मूलचन्द,

बहनोई - सिं. स्व. रूपचंद, स्व. सिं. दीपचंद और स्व. श्री देवचन्द।

बहिनें - स्व. श्रीमती त्रिशला, श्रीमती शान्ति, स्व. श्रीमती ललिता।

चाचा - माधवप्रसाद, उर्फ प्रभाचन्द्र

नातिनें - अंजलि, सृष्टि

पोतियाँ - अर्चिता, संजिता, स्वस्ति, संस्कृति, अनिष्का

पापा - स्व. श्री सिद्धेलाल मास्टर

माँ - स्व. श्रीमती सरस्वती देवी

दादा - जगन्नाथ प्रसाद

दादी - स्व. श्रीमती प्यारी बाई

भानेज - सन्तोष, नन्दन, उत्तम, पवन, विनोद, सुशील, स्व. ओंकार, स्व. मानक, प्रमोद, सुबोध

भनेजन – गुल्ली, बेबी, मणि, सुलोचना, मुन्नी, मीना, सरोज
दामाद – डॉ. अजय,
पुत्री – डॉ. मनीषा,
पुत्र – डॉ. संदीप, संजय, अभिषेक।
चचेरे भाई – स्व. श्री सुरेशचन्द, नेमचन्द, उदयचन्द।
चचेरे भतीजे– रवि, राकेश, राजेन्द्र, रजनीश, रूपेश, मनीष, संदीप, रजनीश द्वितीय।
चचेरी भतीजिने – सुषमा, वन्दना, नीलिमा, सविता, अनीता, बबली।

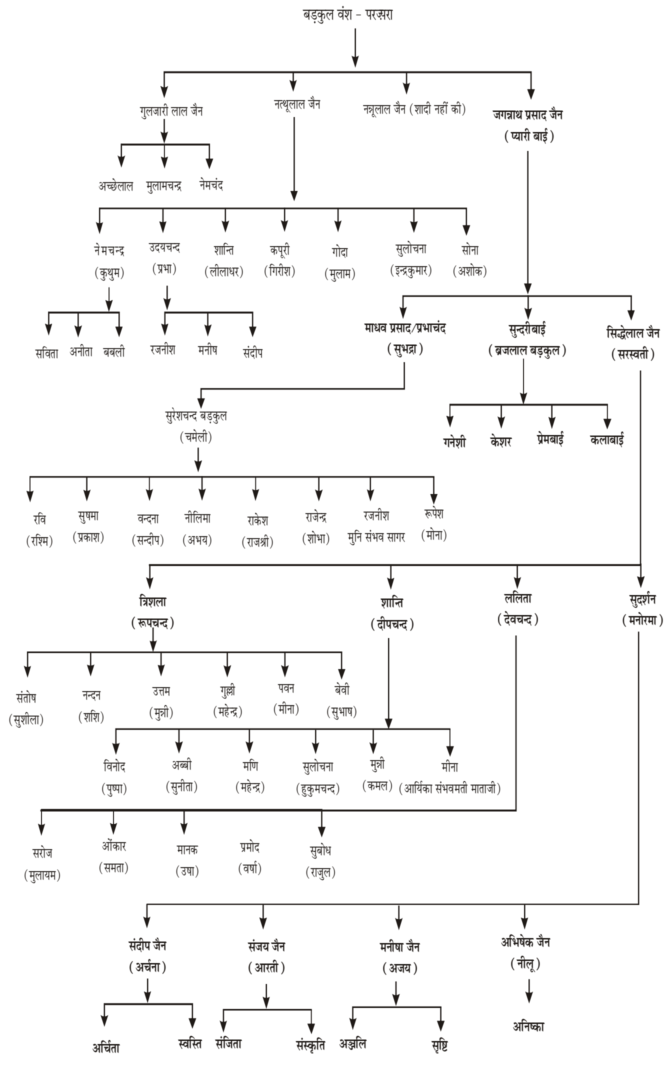

विशेष - (1) **वंश** बड़कुल, **मूर** वारमूरी, गोत्र, गोइल्ल, **जाति** परवरा जैन दिगम्बर। (2) **कोष्ठक** में पत्नी या पति का नाम है।
मूल निवास - शाहगढ़ (जटाशंकर) जिला छतरपुर (म.प्र.), **वर्तमान निवास** - भोपाल (म.प्र.)

सुदर्शन के परिवार - (पुत्र,पुत्री, वहू, दामाद एवं सन्तानों) का परिचय-

(1) डॉ. संदीप जैन - संदीप का जन्म ई. 28.09.1967 को दमोह में अपने दादा जी के घर हुआ था। बी.एच.यू. वाराणसी से बी.टेक (कम्पूटर साइन्स, गोल्ड मेडल) करने के बाद ई. 1988–1991 तक सी.डेक पूना में सुपर कम्प्यूटर पर काम किया। पोलियो के कारण वैशाखी का सहारा लेकर वह अमेरिका पी-एच.डी. करने चला गया। ई. 1996 में

पी-एच.डी. कपरने के बाद एच.पी. कम्पनी में सर्विस की पश्चात् अन्यत्र कार्य करते हुए सिस्को कम्पनी में कार्यरत है जहाँ वह सीनियर मैनेजर की पोजीशन में है। कई पेपर उसके पेटेन्ट हुए। इस समय अमेरिका में साराटोगा, केलिफोर्निया में रह रहा है अपने परिवार के साथ। बहुत हिम्मती और खुद्दार है। धर्म प्रेमी, संस्कारवान्, मातृ-पितृ भक्त है। उसकी शादी वारासिवनी, बालाघाट (म.प्र.) निवासी अर्चना (जन्म 15.04.1969) के साथ हुई। शादी के बाद वह भी अमेरिका अपने पति के पास चली गई। वहाँ अपने पति की सेवा के साथ हिन्दी और धर्म पढ़ाने का कार्य किया। पेंटिंग उसकी हावी है और कुछ पेंटिंग पेन्टेन्ट भी है। धार्मिक और सामाजिक एवं व्यवहार कुशल है। उसकी दो सन्तानें हैं कु. अर्चिता और कु. स्वस्ति। अर्चिता (जन्म 05.05.1997) इस समय वास्टन कम्प्यूटर से पोस्ट ग्रेजुएसन कर चुकी है। अंग्रेजी हिन्दी स्पेनिश भाषाओं का ज्ञान है। कई पुरस्कार मिल चुके हैं। फुटवाल और शोध में रुचि है। औरतों के स्वास्थ्य संबंधी प्रोजेक्ट पेटेन्ट है। स्वस्ति (जन्म 02.03.2004, सेन जोसे) इस समय कक्षा नवमी की छात्रा है। भरतनाट्यम में पुरस्कार मिला है। दो प्रोजेक्ट पेटेंट हैं। हिन्दी अंग्रेजी के साथ फ्रैंच भी जानती है। गाना एवं डांस में रुचि है।

(2) श्री संजय कुमार जैन - (जन्म 30.08.1970, वाराणसी) बी.एच.यू., वाराणसी से एम.सी.ए. परीक्षापास की है। इस समय अमेरिका में सिस्को कम्पनी में सीनियर प्रिंसपल साफ्टवेयर इंजिनीयर है। इसके पूर्व टी.सी.एस पूना में तथा टी.आई.एफ.आर. मुम्बई में नोवेल तथा मोटोरोला में कार्य किया। स्पोर्ट्स और कुकिंग में हावी है। दो पेटेन्ट हैं। आरती पीडियाट्रिक अस्पताल में को-ओनर है। इसका विवाह दिनांक 27.11.1996 में डॉ. आरती (जन्म 14.10.1970) के साथ हुआ। आरती ने इलिनाय विश्वविद्यालय सिकागो से एम.एड. करके ओस्की पीडिएटिक्स में पार्टटाइम काम किया पश्चात् 2014 में स्वयं का अस्पताल खोल दिया। हिन्दी, अंग्रेजी के साथ तेलगू भाषा का ज्ञान है। भरतनाट्यम् में विशेषज्ञता है। उसकी दो सन्ताने हैं कु. संजिता और कु. संस्कृति। संजिता (जन्म 30.04.1999) सान्ताक्लेरा, यू.एस.) बायोकेमिस्ट्री और मोलेक्युलर बायोलाजी विषय लेकर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से बेचलर्स की पढाई कर रही है। किताबें पढ़ना, बेकिंग, कुकिंग और कुचीपुडी नृत्य में विशेष रुचि है। दूसरी पुत्री संस्कृति (जन्म 09.08.2006, डेनवर यू.एस.) इस सम.य लासन स्कूल में सातवीं कक्षा में पढ़ रही है। जिम्नास्टिक, नृत्य और बास्केटबाल में विशेष रुचि है। नृत्य में पुरस्कार भी मिले हैं।

(3) श्री अभिषेक कुमार जैन - (जन्म 03.03.1978, वाराणसी) इस समय मुंबई में महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा कम्पनी में बिजनिस हेड (फाइनेन्स) है। बी.एच.यू. से एम.बी.ए. करने के बाद सर्वप्रथम माता इन्स्योरेन्स कम्पनी में पश्चात् एमबिट कम्पनी में काम किया। दिनांक 02.12.2009 में इसकी शादी नीलू (जन्म 05.09.1981, रांची) जैन के साथ हुई जो उस समय एम.बी.ए. करके सुन्दरम् कम्पनी में कार्य कर रही थी। इस समय बहू नील जैन भी महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा कम्पनी के म्युचुअल फंड में एरिया मैनेजर है। इसी एक अनिष्का (जन्म 21.03.2013, मुम्बई) नाम की कन्या है जो कक्षा एक में मुम्बई में पढ़ रही है।

(4) डॉ. मनीषा जैन - (जन्म 15.07.1974, देवरी) ने ग्रान्ट मेडिकल कालेज से एम.बी.बी.एस. करने के बाद डी.जी.ओ. तथा डी.एन.बी. किया। कुछ वर्षों तक पीपुल्स मेडिकल कालेज में काम करने के बाद आज विदिशा (म.प्र.) के सरकारी मेडिकल कालेज में असिस्टेंट प्रोफेसर है। सिका विवाह 02.12.2001 में बच्चों के सर्जन डॉ. अजय जैन (जन्म 27.03.1971, भोपाल) के साथ किया गया। इसकी दों सन्ताने हैं - अञ्जलि और सृष्टि। अञ्जलि (जन्म 10.04.2004, वाराणसी) इस समय कक्षा दसवीं में है। तथा सृष्टि (जन्म 06.01.2006, भोपाल) कक्षा सातवीं में। दोनों पढ़ने में बहुत तेज हैं। हमेशा कक्षा में प्रथम-द्वितीय रहती हैं। डांस में रुचि है। कई पुरस्कार मिल चुके हैं।

मेरे माता-पिता की जीवन यात्रा-

मेरे पिता श्री मास्टर सिद्धेलाल जैन, बड़कुल का जन्म वि. सं. 1961 में फाल्गुन सुदी अष्टमी के दिन (4 अक्टूबर 1905) को हुआ था। यह जैनियों के महापर्व अष्टाह्निक का प्रथम दिन था। आपके पिताजी श्री जगन्नाथ प्रसाद को मीठा बहुत पसन्द था तथा वे परोपकार स्वभावी थे। एक बार गाँव में प्लेग की बीमारी फैल गई तब आप एक बीमार व्यक्ति को इलाज हेतु घोड़े पर बैठाकर शहर ले जा रहे थे कि आपको भी प्लेग ने जकड़ लिया। फलस्वरूप उस व्यक्ति के साथ मेरे दादाजी का भी सन् 1911 में स्वर्गवास हो गया। उस समय (दादा जी की मृत्यु के समय) हमारे पिता जी की आयु मात्र 5-6 वर्ष थी।

हमारी दादी प्यारीबाई बहुत ज्यादा सोला करती थीं। धार्मिक क्रियाओं का बहुत दृढ़ता से पालन करती थीं।

भोजन बनाते समय या भोजन करते समय यदि कोई उन्हें छू लेता था तो फिर वे धुले शुद्ध कपड़े बदलकर पुनः नया भोजन बनाती थीं। यदि कोई कुंए के पाट पर आ जाता था तो वे पुनः पूरा पाट धोकर ही जल भरकर लाती थीं। जल से धुली लकड़ी से भोजन पकाती थीं। अर्थात् शुद्धता के साथ छुआछूत बहुत मानती थीं।

दादा जी (स्व. जगन्नाथ प्रसाद) के स्वर्गवास के बाद मेरे पिताजी 10 वर्ष की अवस्था में अकेले ही पढ़ने के लिए जबलपुर चले गए। आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। किसी तरह अंग्रेजी माध्यम के स्कूल से कक्षा चार पास की, तदुपरान्त हिन्दी माध्यम के स्कूल से सातवीं कक्षा (मिडिल) उत्तीर्ण की। इसके बाद वहीं नार्मल ट्रेनिंग दो वर्ष तक की। पहले सातवीं के बाद नार्मल ट्रेनिंग कर सकते थे। नार्मल ट्रेनिंग में 12 रुपया प्रतिमाह छात्रवृत्ति मिलती थी क्योंकि पिताजी के अच्छे अंक आए थे। रु. 12/- में से 3/- प्रतिमाह खर्च करते और रु. 9/- प्रतिमाह बचत करते थे। स्ट्रीट लाईट में खंबे के नीचे बैठकर पढ़ा करते थे। एक बार उन्हें मोतीझिरा का तेज बुखार हो गया तो सरकारी नल के नीचे बैठकर ज्वर की गर्मी शान्त करने लगे। उस समय सस्ते का जमाना था, ज्यादा पैसा नहीं था सो एक पैसे की पकौड़ी लेकर इमली की चटनी के साथ खाकर प्रायः दिन गुजार देते थे।

खाना-पीना ठीक न होने के कारण एक समय परीक्षा के दौरान गस्त (चक्कर, बेहोशी) आया और जमीन पर गिर पड़े। परीक्षा सुपरिन्टेंडेन्ट ने उन्हें श्री मुन्नीलाल के घर भिजवा दिया। वे ही उनके संरक्षक थे और पिताजी उन्हें पितृतुल्य मानते थे। देशी साधारण उपचार से पिताजी ठीक हो गए। मुन्नीलाल जैन के पिता थे श्री रामलाल जैन तथा रामलाल जी मेरे पिताजी के रिश्ते में मामा लगते थे। पिताजी के दूसरे मामा थे गोरेलाल सीताराम खजरी वाले। इनके बारे में जानकारी नहीं है। रामलाल जी के दो पुत्र थे- नत्थूलाल (अविवाहित रहे) और मुन्नीलाल। मुन्नीलाल की एक कन्या थी नाम था भागवती। श्रीमती भागवती जैन का विवाह श्रीनारायण प्रसाद के साथ हुआ था परन्तु दुर्भाग्यवश विधवा हो गई और वह अपने पिता श्री मुन्नीलाल के पास रहने लगी।

श्रीमती भागवती के पिता की मृत्यु के बाद कालान्तर में मेरे पिताजी ने उसे अपने घर शरण दे दी और वह उनके यहाँ रहकर पिताजी के कार्यों में सहायता करने लगी। मेरे पिताजी के स्वर्गवास (10.11.1986) के बाद अकेली पिताजी के मकान में रहकर भगवद्भक्ति में लीन हो गई। उसकी जीविका निर्वाहार्थ मैंने (सुदर्शनलाल) कुछ फिक्स डिपाजिट बैंक में करा दिया जिसके ब्याज से वह अपनी आजीविका चलाने लगी। आवास था ही तथा बीच-बीच में बनारस से आकर सहयोग करता रहा। कॉलोनी के लोग भी उसे सहयोग करते थे क्योंकि वे उसे बहुत स्नेह करते थे। मृत्यु के समय जब वह बहुत बीमार हो गई तो उसने लोगों से कहा- भैया सुदर्शन को बुला दो। मैं सूचना मिलते ही सपत्नीक दमोह आया और उनसे बात की जिससे वह प्रसन्न हो गई। परन्तु अगले दिन 26.7.2012 को उनका स्वर्गवास हो गया। मैंने मृत्यु संस्कार सम्बन्धी समस्त कार्य विधिवत् सम्पन्न किए। शान्ति विधान, दान आदि कार्य भी किए।

पिताजी द्वारा बहिन, भाई, और स्वयं का विवाह

एक समय पिताजी की गरीबी का आलम यह था कि जूता खरीदने के लिए पैसा नहीं थे। वे पैरों के तलुवों में पत्ते बांधकर गर्मी में चला करते थे। नार्मल ट्रेनिंग के बाद प्रायमरी स्कूल में नौकरी मिल गई। दो वर्ष पश्चात् अपनी बहिन सुन्दरीबाई की शादी नोहटा निवासी (दमोह जिला) श्री ब्रजलाल बड़कुल के यहाँ कर दी। इस शादी में रु. 1000 का कर्ज हो गया। इसके बाद सन् 1930 में (25 वर्ष की उम्र में) पिताजी ने स्वयं की शादी मझला गाँव (गनेशगंज स्टेशन, सागर जिला, स्टेशन से 14 कि.मी. दूर) में श्री मूलचंद की कन्या सरस्वती से की। फलस्वरूप (रु. 1200) का कर्ज और बढ़ गया। इसके बाद भाई माधव प्रसाद की शादी कटनी में टोड़रमल जी के यहाँ उनकी पुत्री सुभद्रा से की। कर्ज बढ़ता गया जिसे दोनों भाईयों ने मिलकर चुका दिया। जब पिताजी लखरौनी (पथरिया से 3 कि.मी. दूर) में पढ़ा रहे थे तो अपनी गरीबी देख मेरी माता श्रीमती सरस्वती देवी को मझला भेज दिया। वही मेरा जन्म हुआ।

पिताजी की संतानें : उनका जन्म और माता जी का स्वर्गवास -

पिताजी की शादी के एक वर्ष बाद उनकी अर्धांगिनी श्रीमती सरस्वती देवी ने वि.सं. 1988 (दिसम्बर 1931) में मार्गशीर्ष वदी 4 को रविवार के दिन (शनिवार की रात्रि 12.30 के आस पास) एक कन्या रत्न को जन्म दिया। उस समय महादशा शनि की थी पुष्य नक्षत्र था, सिंह लग्न थी और राशि थी कर्क। भगवान् महावीर की माता जी के नाम पर उसका नाम त्रिशला (राशि नाम हेमलता) प्रसिद्ध हुआ। इसके दो वर्ष बाद वि.सं. 1990 जनवरी 1933 में माघवदी तेरस को शनिवार के दिन रात्रि में 5 बजे द्वितीय कन्या का जन्म हुआ। उस समय मूल नक्षत्र था, राशि थी धनु और महादशा केतु की थी। वह शान्तिदेवी के नाम (राशि नाम योजिता) से विख्यात हुई। दो वर्ष के उपरान्त वि.सं. 1992 में भादों वदी

2 को दिन में 11.30 बजे (सितम्बर 1935) पुन: तृतीय कन्या पैदा हुई। नक्षत्र था शतभिषा, दिन था शुक्रवार और राशि थी कुम्भ। उसे ललिता (राशि नाम सुशीला) नाम से प्रसिद्धि मिली।

इसके बाद पुत्र की आशा में दो और कन्यायें पैदा हुईं परन्तु वे जीवित नहीं रहीं। निराश माता सरस्वती ने पाँच कन्याओं के जन्म के बाद वि.सं. 1999 में चैत्र कृष्ण तेरस के दिन प्रात: 11.30 बजे मेरे ननिहाल (मझला) में पुत्र को जन्म दिया। उस समय शतभिषा नक्षत्र था, दिन था शुक्रवार, वृष लग्न थी और राशि कुम्भ थी। राशि का नाम था शीलचन्द परन्तु सुन्दर अधिक होने से नाम प्रचलित हुआ 'सुदर्शन'। सर्वत्र खुशी की लहर फैल गई मङ्गल गीत गाए जाने लगे। जैन परम्परानुसार पूजा-विधान आदि मांगलिक क्रियायें की गईं। मैं बालक्रीडायें करते हुए बड़ा होने लगा। परन्तु करीब 10 मास बाद गर्भवती माता सरस्वती देवी को समय पूर्व प्रसव वेदना हुई और गर्भस्थ शिशु के साथ (वि.सं. 2000 माधमास में, ई. 1944) उनका भी स्वर्गवास हो गया। सर्वत्र शोक छा गया। माताजी उस समय नोहटा में परिवार के साथ रहती थी। वहीं पिताजी की बहिन श्रीमती सुन्दरीबाई की ससुराल भी थी। माता जी उस समय शाहपुर में होने वाले भगवान् के गजरथ (पंचकल्याणक) महोत्सव में जाने के लिए प्रात: जैसे ही बस में बैठी कि तबियत बिगड़ गई। अत: उनको वहीं उतार लिया गया और उपचार करते करते, णमोकार मन्त्र सुनाते-सुनाते दोपहर को प्राणान्त हो गया।

माता जी स्वभावत: बड़ी धार्मिक स्वभाव की थीं तथा उस समय धर्माराधना की भावना से पुण्यवर्धक भगवान् के पवित्र गजरथ महोत्सव में जाने की प्रबल भावना से आप्लावित थीं तथा अंतिम समय में णमोकार महामंत्र जपते हुए प्राण विसर्जन हुआ था जिससे निश्चय ही उन्हें सद्गति मिली होगी। यह उनका सौभाग्य ही था या चमत्कार था कि बीच रास्ते में यह घटना नहीं हुई अन्यथा गति बिगड़ सकती थी परन्तु परिवार को (विशेषकर मुझे) बड़ा दु:ख झेलना पड़ा। मैं तो माँ के प्यार से बचपन में ही वंचित हो गया। परिणाम यह निकला कि मैं प्राय: नोहटा (बुआ के घर) या खमरिया (बड़ी बहिन के घर) या पाटन (छोटी बहिन के घर) में समय बिताने लगा। तीनों बहिनों पर मेरे पालन का भार था क्योंकि पिता जी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ट्रांसफर होने से तथा अध्यापन का उत्तरदायित्व होने से मेरी देखरेख पूर्णरूप से नहीं कर पाते थे।

बेटियों का तथा मेरा विवाह-

उस समय बाल-विवाह प्रचलित थे। उसी परम्परा को मानते हुए मेरे पिता जी ने मेरी बड़ी बहिन (श्रीमती त्रिशला) का विवाह 9 वर्ष की अवस्था में समीपस्थ ग्राम खमरिया के सिंघई रूपचन्द जैन के साथ कर दिया, उस समय पिताजी नोहटा में रहते थे।

इसके बाद 11 वर्ष की उम्र में मेरी दूसरी बहिन (श्रीमती शान्तिबाई) की शादी रहली निवासी सिंघई दीपचन्द जैन अर्जीनवीस के साथ कर दी। यह शादी मेरे ननिहाल मझला से की। शान्ति ने कक्षा दो तक पढ़ाई की थी। दीपचन्द जी की यह दूसरी शादी थी। पहली पत्नी से दो कन्यायें हुई थीं। मेरी बहिन ने उन्हें भी पाला-पोसा। पिता जी को कन्या बहुत पसन्द थी।

इसके बाद मेरी छोटी बहिन (श्रीमती ललिता) की शादी भी द्विजवरिया सिङ्घई देवचन्द जैन स्वतंत्रता सेनानी से पाटन (जिला जबलपुर) में कर दी। उन्हें पहली पत्नी से कोई सन्तान नहीं थी। परन्तु बहुत गरीबी थी। ललिता के भाग्य से शादी के बाद उनकी घर की माली हालत बहुत सुदृढ़ हो गई। शादी के समय मेरी छोटी बहिन की उम्र मात्र 14 वर्ष थी।

तीनों बहिनों की शादी के बाद मेरी शादी 22 वर्ष की उम्र में दिनांक 13.5.1965 में दमोह निवासी सिङ्घई राजाराम की पुत्रवधु (स्व. छोटेलाल की पत्नी श्रीमती सोना जैन) की पुत्री मनोरमा जैन के साथ करा दी। उस समय वर-वधू दोनों पक्ष वाले दमोह में ही रहते थे। शादी के समय मैं रिसर्च (पी-एच.डी.) कर रहा था।

मेरी शादी डॉ. मनोरमा जैन के साथ होने का बड़ा प्रबल योग था। उस समय मनोरमा जी ने 11 वीं की परीक्षा दी थी तो मैंने पिताजी के विशेष आग्रह पर कहा 'यदि लड़की प्रथम श्रेणी से पास हो जायेगी तो हम शादी कर लेंगे। परन्तु दो अंकों से मनोरमा की प्रथम श्रेणी नहीं आई। मनोरमा तथा मेरी शादी कराने का प्रबल योग था कि अन्यत्र होते-होते यहीं हो गई। मनोरमा की प्रिय सहेली थी कु. कमला जैन तथा कमला जैन का भाई सुमत जैन मेरा मित्र था। यह परिवार सेठ गुलाबचंद जी का था जिन्होंने मेरे पिताजी का सहयोग किया था। अत: उस घर से दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। अत: मैं भी राजी हो गया। दहेज वगैरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। शादी के बाद मैंने मनोरमा जी को बी.ए. आचार्य (एम.ए.) तथा पी-एच.डी. कराई।

अपने सरल और सुमधुर व्यवहार से मनोरमा परिवार (ससुराल के सदस्यों) तथा समाज में अच्छी पैठ बना ली। शादी के बाद जब मैं पहली बार अपनी ससुराल गया तो छोटी-छोटी सालियों ने प्रथम स्वागत करते हुए मुझे चाय-पीने दी, जो वस्तुतः कालीमिर्च की काढ़ा जैसी थी। मैंने उसे पूरी पी ली जिससे उनका आश्चर्य हुआ और उनका मंसूबा फेल हो गया। शादी के बाद जब मनोरमा वाराणसी आईं तो पं. दरबारी लाल कोठिया को अपने व्यवहार से प्रभावित कर लिया। उन्होंने बहू का सम्मान दिया।

डीन के रूप में कार्य –

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना सन् 1916 में महामना मदनमोहन मालवीय ने की थी। विश्व प्रसिद्ध इस आवासीय विश्वविद्यालय में कई सङ्काय हैं जिनमें कला सङ्काय एक बड़ा सङ्काय है। इसका डीन 23 विभागों का प्रमुख होता है। ऐसे सङ्काय का मैं 1 फरवरी 2004 में डीन बनाया गया। इस सङ्काय का डीन बनना कई चुनौतियों से भरा होता है। शिक्षा के साथ छात्रों की समस्याओं से रुबरू होना पड़ता है। मैंने छात्र और अध्यापकों के साथ कुशलता पूर्वक सामञ्जस्य बैठाया। मेरे आफिस के दरवाजें हमेशा खुले रहते थे। मुझे पूर्ण विश्वास था कि भगवान् महावीर, महात्मा गांधी और मालवीय जी की सत्य एवं अहिंसात्मक नीति पर चलने वाला कभी असफल नहीं हो सकता। इसी का परिणाम था कि अध्यापकों, कर्मचारियों और छात्रों ने मेरा सम्मान किया। प्रशासन से भी यथेष्ट सहयोग मिला। मेरा उद्देश्य था छात्रों को अच्छे संस्कार देना और उनके हितों का संरक्षण करना। अध्यापकों एवं कर्मचारियों को समय पर प्रमोशन दिलाना और शिक्षा का वातावरण समुन्नत करना। मैंने एतदर्थ जो कार्य किए उनमें कुछ निम्न हैं-

(1) कला सङ्काय के छात्रों को दो वर्ष की उपाधियाँ वितरित नहीं की गईं थीं क्योंकि अपरिहार्य कारणों से समावर्तन समारोह (कोन्वोकेशन) नहीं हो पा रहा था। मैंने नए कुलपति नियुक्ति न होने से तत्कालीन रेक्टर प्रो. लेले से चर्चा करके दिनाँक 2 मार्च 2005 में प्रथम कान्वोकेशन कला सङ्काय का करवाया। जिसमें प्रसिद्ध यूनेस्को की सदस्या डॉ. कपिला वात्स्यायन ने दीक्षान्त भाषण किया। छात्रों ने बहुत प्रसन्नता अभिव्यक्त की। यह कान्वोकेशन विश्वविद्यालय का 46 वाँ था तथा कला सङ्काय पाँचवां दूसरा कान्वोकेशन विश्विद्यालय स्तर का हुआ जिसमें महामहिम भारत के राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने दीक्षान्त भाषण दिया था। प्रत्येक सङ्काय ने पृथक्-पृथक् भी पूर्ण साज-सज्जा और विधिपूर्वक सम्पन्न किया था। उस समय कुलपति थे प्रो. पंजाब सिंह। कला सङ्काय का यह छठवाँ कान्वोकेशन था। मैंने दोनों कान्वोकेशनों में डीन के रूप में समस्त औपचारिकतायें संपन्न कीं और छात्रों का उपाधियाँ वितरित कीं।

(2) स्नातक कक्षा (बी.ए.) के छात्र छः वर्ष पूर्व एक विषय स्वेच्छा से साइन्स का या सामाजिक विज्ञान का ले सकते थे, वैकल्पिक विषय के रूप में। कुछ कारणों से समाज विज्ञान सङ्काय ने यह सुविधा बन्द कर दी थी। उसे मैंने सामाजिक विज्ञान के सङ्काय के तत्कालीन डीन प्रो. भार्गव से मिलकर वह सुविधा पुनः बहाल कराई। सबको आश्चर्य हुआ कि जैन ने कैसे सामाजिक विज्ञान के डीन को राजी कर लिया।

(3) स्नातक के छात्रों को वैकल्पिक विषय चयन हेतु एक और सुविधा प्रदान की। अब उनके सामाने विषय चयन हेतु अनेकों विकल्प हो गए। ऐसा करने पर अध्यापन सम्बन्धी समय-सारणी (टाइम टेबल) तथा परीक्षा सम्बन्धी समय सारणी सम्बन्धी परेशानी की शंका उठाई गई। जिसका मैंने समाधान का रास्ता बतला दिया। इससे छात्रों को स्वरुचि के विषयों के चयन का रास्ता खुल गया।

(4) कला सङ्काय में कुछ नए डिप्लोमा कोर्स प्रारम्भ कराए। विशेषकर संस्कृत और प्राकृत भाषा में। राजीवगांधी नामक साउथ कैम्पस में भी डिप्लोमा चलवाए।

(5) स्नातक और परास्नातक (एम.ए.) के पाठ्यक्रमों का संशोधन कराके उन्हें समयानुकूल बनवाया।

(6) कुलपति की इच्छानुसार सेमिस्टर कोर्स परास्नातक में प्रारम्भ कराया। कला सङ्काय के आधे अध्यापक विरोध में थे परन्तु सबको समझाकर तदनुरूप सबकी स्वीकृति करा ली। अन्य सङ्काय कला सङ्काय से पूर्व स्वीकृति कर चुके थे। यहाँ भी युक्तिपूर्वक विरोधियों का समर्थक बनाया जिसको देखकर सभी अचम्भित हुए।

(7) अध्यापकों के हितार्थ सभी विभागों के कई वर्षों से रुके हुए साक्षात्कार को कराया, जिससे कई नवीन नियुक्तियाँ तथा प्रमोशन हुए। जिन विभागों (उर्दू, मराठी, म्यूज्योलॉजी, भारत कला भवन, जर्मन आदि) में कोई अध्यक्ष (Head) नहीं था। वहाँ नियुक्तियाँ होने से अध्यक्ष बन गए और मुझे उनके अध्यक्षीय उत्तरायित्व से मुक्ति मिली। संस्कृत से इतर विषयों के साक्षात्कार (चयन) हेतु भी मुझे बैठना होता था और मेरी मार्किंग तद्विषयक विशेषज्ञों के समकक्ष होती थी जिससे कुलपति जी भी प्रशंसा करते थे और निष्पक्ष चयन होता।

(8) कम्प्यूटर लैब को चालू कराया।

(9) राधाकृष्णन हॉल और आडिटोरियम जो कला सङ्काय के अन्तर्गत थे और अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था के लिए रो रहे थे उनको नवीन रूप में व्यवस्थित कराया, जिससे यहाँ शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ चालू हो गईं।

(10) परीक्षा में शुचिता लाने का अदभ्य साहस दिखाया। परीक्षा में शुचिता बनाए रखने के लिए अध्यापकों समुदाय प्रवेश द्वार पर मेरे साथ खड़े रहते थे और नकल संबन्धी पुस्तकें आदि बाहर रखवा लेते थे। बीच-बीच में सर्च भी करते थे। बाथरूम वगैरह भी चेक करते थे। परीक्षा-पेपर देने के पूर्व पुन: वार्निंग देते थे जिससे परीक्षा में शुचिता आ गई।

संस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य -

मैं बी.एच.यू. के संस्कृत विभाग का दो बार (06.8.1992 से 5.8.1995 तक तथा 6.8.2003 से 31.3.2006 तक) अध्यक्ष बना। पूर्व में संस्कृत विभाग का नाम था 'संस्कृत-पालि विभाग'। मेरी तो इच्छा थी कि इसमें प्राकृत भी जोड़ दिया जाए परन्तु सन् 1982 में ही विभाग दो भागों में विभक्त हो गया 'संस्कृत विभाग' और 'पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग'। मेरे गुरु प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने विभाग के विकास के लिए बहुत श्रम किया। उन्होंने 'जैन और बौद्ध दर्शन' का एक उपविभाग (ग्रूप) सृजित किया जिस पर मेरी नियुक्ती की परन्तु विभागीय विरोध के कारण यह ग्रूप ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका। मेरी दृढ़ता के कारण सिलेबस से इस ग्रूप को नहीं हटाया जा सका। मैंने अपने कार्यकाल में व्याकरण आदि कई अन्य ग्रूपों को सिलेबस में जोड़ा परन्तु वे भी नहीं चल सके। परन्तु मैंने संस्कृत और प्राकृत के दो डिप्लोमा कोर्स अवश्य प्रारम्भ करा दिए। संस्कृत डिप्लोमा तो आज चल रहा है परन्तु प्राकृत डिप्लोमा मेरे सेवा निवृत्ति के बाद बन्द हो गया 'संस्कृत सौदामिनी' नाम से विभागीय शोधपत्रिका का प्रकाशन शुरु किया। कई वर्षों से बन्द विभागीय पुस्तकालय खुलवाया परन्तु किसी की नियुक्ति न होने से पुन: बन्द कर दिया गया। संगोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ, व्याख्यान, प्रतियोगितायें, खेल आदि की गतिविधियों को आगे बढ़या रुका हुआ ग्रन्थ-प्रकाशन प्रारम्भ कराया। सेमिस्टर पद्धति से नवीन पाठ्यक्रम बनवाकर उसे लागू कराया। विभाग में संघर्ष तो बहुत झेलने पड़े परन्तु मैं विचलित नहीं हुआ। विभागीय कुछ अध्यापकों ने मेरा साथ दिया उनका तथा विरोधियों का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे संघर्षों में रोशनी दिखाई।

डायरेक्टर के रूप में -

मैं दो वर्ष दो माह (11.3.2010 से 30.4.2012) तक बी.एच.यू. से सेवानिवृत्ति के बाद पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शोध डायरेक्टर के रूप में कार्य किया। मैंने अपने कार्यकाल में त्रैमासिक शोध पत्रिका श्रमण का जो विगत कई मासों से छप नहीं पा रही थी को रेगुलर तथा नए रूप में प्रकाशित किया। उसमें जिज्ञासा और समाधान का स्थायी स्तम्भ बनाया जिसका बड़ा समादर हुआ। श्रमण के पिछले वर्षों के अङ्कों के लेखों की संकलित सूची बनाकर द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित की। इसके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों के पेंडिंग छपाई के कार्य को प्रकाशित कि.।।

कई संगोष्ठियाँ तथा कार्यशालायें आयोजित कीं। मासिक व्याख्यान माला प्रारम्भ की जिसमें विभिन्न विषयों पर विशेषज्ञों के व्याख्यान कराए। जैन छात्रों को पर्यूषण में दिन में भोजन की व्यवस्था कराई। जैन पर्व और पूजा आदि के आयोजन कराए। विदेशी छात्रों को जैन शिक्षण की डॉ. सुगम चन्द जैन के सहयोग से व्यवस्था दी। महिला छात्रावास का निर्माण कार्य तथा छात्राओं का पंजीयन किया नियुक्तियाँ की। परिसर का सौन्दर्यीकरण तथा म्यूजियम शाला को व्यवस्थित कराया। प्रतियोगितायें भी कराईं। समाज को तथा विद्वद्वर्ग को विद्यापीठ से जोड़ने का प्रयास किया।

इस तरह जो विद्यापीठ डॉ. मोहनलाल मेहता तथा डॉ. सागरमल जैन के कार्यकाल में स्वर्णिम युग में था उसे पुन: उसी रूप में लाने का प्रयास किया। डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय और डॉ. ओमप्रकाश सिंह के सहयोग से यह कार्य हो सका। आज भी दोनों विद्वान् वहाँ कार्यरत् हैं।

अ.भा.दि.जैन विद्वत् परिषद् के मंत्री के रूप में कार्य -

दिनांक 2 नवम्बर 1944 में स्थापित अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद् के सत्रहवें खुरई अधिवेशन (27.6.1993) में मुझे मंत्री तथा डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच वालों को अध्यक्ष चुना गया। इसी अधिवेशन में मुझे देव शास्त्र और गुरु पर प्रामाणिक पुस्तक लिखने का भी उत्तरदायित्व सौंपा गया जिससे तद्विषयक भ्रान्तियों का निराकरण हो सके। मैंने तत्परता से ग्रन्थ तैयार किया जिसकी सभी ने प्रशंसा की। कई संस्करण निकालने पड़े। अर्थ व्यवस्था भी मैंने विक्री की योजना बनाकर छापने के पूर्व ही कर ली। छपने के पूर्व पं. जगन्मोहन लाल जी, पं. दरबारी लाल कोठिया, पं. हुकमचन्द भारिल्ल, डॉ. देवेन्द्र कुमार नीमच आदि विद्वानों से उसकी पुष्टि कराई तथा प. पू. आचार्य श्री विद्यासागर

महाराज जी के समक्ष जाक वाचन भी किया।

अध्यक्ष की विचारधारा निश्चयावलम्बी होने से सहयोग नहीं मिला फिर भी मैंने अपने स्तर पर कटनी, इलाहाबाद, वाराणसी आदि स्थानों पर संगोष्ठियाँ आयोजित कीं। प्रतियोगितायें कराईं तथा डॉ. प्रेमचन्द जी इलाहाबाद के सहयोग से 'भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जैनधर्म का योगदान' स्मारिका भी प्रकाशित की।

विद्वत् परिषद् के दुर्भाग्य से आपसी खींचतान के कारण 2006 में चुनाव के समय दो भागों में बट गई। मैंने बहुत चाहा कि एक हो जाए परन्तु पद लोभ के दुराग्रह के कारण संभव न हो सकता। मैंने दोनोमं में जाना बन्द कर दिया परन्तु भारिल्ल जी की परिषद् में मुझे उपाध्यक्ष वा कार्यकारी अध्यक्ष बनाए रखा। अन्त में मैं एकता होते न देख पुरानी मुनिभक्त परिषद् से जुड़ गया क्योंकि वहा मेरी विचारधारा मेल खाती थी।

जीवन की कुछ प्रमुख घटनायें-

(1) कैसे जीवन की दिशा बदली (एक अबोध बालक का प्रभाव)

मैं जब कटनी के जैन शान्ति निकेतन विद्यालय के छात्रावास में रहकर पढ़ाई कर रहा था। मैं 12-13 वर्ष का था (सन् 56-57) छात्रावास में बड़े छात्र जुआ खेलते थे तो मैं भी वहाँ खड़ा होकर देखा करता था। एक दिन लोभ कषयवश मैं भी पैसे लगाकर खेलने लगा। परिणाम स्वरूप 5-10 रुपया जीत गया जिससे लालच बढ़ गया और दूसरे दिन जीती राशि हार गया तो मैंने सोचा अब नहीं खेलूँगा। संयोग से उसी रात्रि प्राचार्य पं. जगन्मोहन लाल शस्त्री ने चार छात्रों को जुआ खेलते हुए रंगे हाथों पकड़ लिया और चारों को छात्रावास से बाहर का रास्ता दिखा दिया। इसका मेरे ऊपर तीव्र असर पड़ा। मैंने भगवत्-कृपा मानी, अन्यथा वहाँ देखने पर भी सजा मिल सकती थी।

उसी समय उन छात्रों की संगति में बहुत मना करने पर भी उन्होंने सिगरेट पिला दी। मेरा सिगरेट के प्रति जो भय था वह चला गया क्योंकि सिगरेट पीने से मिचली वगैरह नहीं आई। दूसरे या तीसरे दिन मैंने बाजार से एक सिगरेट खरीदी और एकान्त में पीने लगा। वहाँ एक छोटे बालक द्वारा टोके जाने पर मुझे बहुत गुस्सा आया तथा ग्लानि भी हुई और मन्दिर में जाकर नियम लिया कि पाँच वर्ष तक न तो जुआ खेलूंगा, न शराब पिऊंगा, न सिगरेट आदि का नशा करूंगा। यहीं से जीवन की दिशा बदल गई। उस बालक ने देवदूत का कार्य किया। यद्यपि उस समय यह नियम पांच वर्ष का ही लिया था, यह सोचकर कि आगे क्या परिस्थितियाँ होगीं। परन्तु वह नियम आगे चलकर आजीवन का बन गया और मेरा जीवन दुर्गति के गर्त में जाने से बच गया।

यद्यपि एक ऐसा मौका आया जब मैं वाराणसी में था और दीपावली का दिन था। पड़ोसी मित्र घर के सदस्यों के साथ जुआ खेल रहे थे। उन्होंने मुझे भी खेलने के लिए प्रेरित किया, मैंने बहुत मना किया परन्तु उनके बहुत आग्रह पर एक शर्त पर मैं तैयार हो गया। शर्त यह थी कि जीतूंगा तो पैसा ले नहीं जाऊँगा, हारूँगा तो दूंगा नहीं, अपना पैसा लगाऊंगा नहीं, आपके पैसों से ही खेलूंगा, केवल मनोरञ्जनार्थ।'' मैं जीत गया परन्तु उनका पैसा उन्हें ही लौटा दिया, बहुत आग्रह पर भी नहीं लिया। यह मेरी परीक्षा थी जिसमें मैं उत्तीर्ण हो गया। इसके बाद झूठमूठ का भी जुआ नहीं खेला, अन्य व्यसनों का प्रश्न ही नहीं आया। यह भी समझ में आ गया कि निमित्त कारण कितना बलवान होता है, परन्तु वह उपादान की शक्ति के आगे अकिञ्चितकर होता है। उपादान कमजोर होने पर वह तेजी से प्रभावकारी होता है। निमित्त कारण भी कार्यकारी है।

(2) भक्तामर का चमत्कार

एक बार मैं बी.एच.यू. वाराणसी से एल.टी.सी. में तीर्थयात्रा पर जा रहा था। मेरे पास ट्रेन की चार टिकिटें प्रथम श्रेणी की थीं और दो सहयोगी की द्वितीय श्रेणी की, सर्कुलर टिकिटें थीं। वाराणसी से सब जगह रेलवे वालों ने तीन बार टेलीग्राम कर दिए थे और उसकी प्रतिलिपि हमें दे दी थी। चेन्नई पहुंचने पर पता चला कि यहाँ से रामेश्वरम का रिजर्वेशन कन्फर्म नहीं है और न कोई टेलीग्राम आया है। मैंने दुबारा फार्म भरकर रिजर्वेशन हेतु आवेदन दे दिया। दो दिन बाद जब रिजर्वेशन नहीं हुआ तब हम टी.टी. से मिले उसे अपने टिकिट बतलाए परन्तु उसने केवल मेरे बेटे का, जो दिव्यांग था, अनुमति दी। शेष सभी जनरल बोगी में बैठ गए। प्रात: एक स्टेशन आया तो टी.टी. ने कहा टिकिट लाओ यहाँ से प्रथम श्रेणी में बैठ सकते हो। हम लोग प्रथम श्रेणी में बैठ गए परन्तु टिकिट सहयोगी के पास थीं और वह किसी बोगी में सो रहा था। टी.टी. ने कहा यहाँ से आधी दूसरी दिशा में जायेगी। आप लोग टिकिट दिखलाओ। मैंने कहा आपको पहले दिखला दी थी। परन्तु उसने उतार दिया और बिना टिकिट कहकर 2-3 टी. टी. वालों को बुलाकर घेर लिया। मैं भक्तामर पढ़ने लगा और उसे बोगियों में खोजने लगा। जब ट्रेन चलने को हुई तो वह आ गया और आगे की यात्रा

सकुशल हुई। मैंने उसी दिन प्रण कर लिया कि भविष्य में भक्तामर का पाठ किए बिना अब अन्न नहीं खाऊँगा। वह नियम आज भी चालू है।

(3) विपरीत दिशा की ट्रेन में बैठा- एक बार 12.10.1984 को मैं संस्कृत सङ्गोष्ठी स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत महाकाव्य में अहमदाबाद गया था। वहाँ एक सत्र की अध्यक्षता भी की थी। मेरा विषय था वाराणसी से प्रकाशित स्वतन्त्र्योत्तर संस्कृत महाकाव्य''। जब सङ्गोष्ठी के बाद रेलवे प्लेटफार्म पर आया तो आमने सामने दो ट्रेनें खड़ी थीं, जिनमें से मैं एक ट्रेन में बैठ गया। आगे जाकर पता लगा कि यह तो विपरीत दिशा में जा रही है। हम घबरा गए और एक स्टेशन पर उतरकर अहमदाबाद वाली ट्रेन पकड़ ली, वह छूटने ही वाली थी, डर था कि कहीं टी.टी. आ गया तो फाइन कर देगा परन्तु कोई नहीं आया। मैं तो भक्तामर पाठ पढ़ रहा था। अहमदाबाद आने पर शान्ति मिली, फिर वहाँ से दूसरी ट्रेन पकड़कर वाराणसी आया परन्तु एक दिन लेट पहुंचा। उस दिन से प्रतिज्ञा कर ली कि ट्रेन आदि में बैठते समय एक बार उसमें बैठे यात्रियों से पूछ लेना चाहिए। रिजर्वेशन नहीं था जिससे वही टिकिट काम आ गई।

(4) देवदूत आया - दिनाँक 28.08.2018 को मैंने कामायनी में वाराणसी से भोपाल का रिजर्वेशन कराया था परन्तु वह रद्द हो गई जिस कारण मैंने उसी तारीख का रिजर्वेशन मडुआडी-जबलपुर ट्रेन में कराया। मैं समय पर स्टेशन पहुंचा तो पता चला पांच घंटे लेट है। स्टेशन पर बैठे रहे क्योंकि सामान भी अधिक था। सपत्नीक था। ट्रेन गोरखपुर से आई जो छः घंटे लेट वहाँ से छूटी। बड़ी चिन्ता थी अगर ज्यादा लेट हुई तो कटनी से आगे का रिजर्वेशन व्यर्थ हो जायेगा और परेशानी होगी। इलाहाबाद में एक युवक मिलेट्री वाला हमारे पास बैठ गया उसे भी भोपाल जाना था, पर जल्दी में टिकिट नहीं ले पाया था। ट्रेन सतना पहुंचते-पहुंचते बहुत लेट हो गई, पानी भी गिरने लगा। उसने कहा यहीं गाड़ी चेंज कर लेते हैं क्योंकि आपकी दूसरी ट्रेन सतना आ चुकी है, हो सकता हैं आपको यह ट्रेन कटनी में न मिले। उसने मेरा सामान उठाया और मेरी रिजर्वसीट पर पहुंचा दिया। भीग गए थे, सब लोग। कुली था नहीं। उसकी वजह से वह ट्रेन पकड़ ली अन्यथा पता नहीं क्या होता। सतना तक तो मैं भक्तामर पढ़ता रहा। एक-एक मिनट भारी पड़ रहा था। भोपाल में भी उसने सामान बाहर लाकर टेक्सी में रखवाया। वह तो देवदूत निकला। उसे हम अपने साथ लालघाटी तक ले आये।

(5) ट्रेन यात्री के पैसे टी.टी. से वापस दिलवाए -

एक बार मैं वाराणसी से जबलपुर जा रहा था। मेरे पास होम-टाउन (दमोह) तक का छात्र कंशेसन टिकिट था। कटनी से रास्ता बदलने के कारण मैं कटनी में गार्ड से मिला और जबलपुर का टिकिट बनाने को कहा। गार्ड ने कहा बैठ जाओ, बन जायेगा। रास्ते में टी.टी. आया और वह मुझे गार्ड के पास ले गया। गार्ड के कहने पर उसनं मेरी कटनी से जबलपुर की टिकिट बना दी। मैं पुनः अपनी बोगी में सामान लेने गया। वहाँ उसी टी.टी. ने एक गरीब व्यक्ति के बच्चे से पांच वर्ष से अधिक बताकर पैसे तो ले लिए थे परन्तु टिकिट नहीं बनाई थी। मैंने उससे कहा आगे क्या करोगे। टी.टी. से टिकिट मांगो। मैं गया और टी.टी. को जो स्टेशन से बाहर निकल रहा था पकड़कर ले आया। उससे कहा इसे टिकिट क्यों नहीं दी। इसे या तो पैसे वापस करो या टिकिट दो। इस पर वह पैसा देकर चला गया। चूंकि मेरी टिकिट बन चुकी थी। जिससे मैं निश्चिंत था अन्यथा वह मुझे भी परेशान करता। मैंने उस यात्री से कहा भाई मैं तो यहाँ उतर रहा हूँ आगे व्यवस्था कर लेना। उसने मुझे बहुत धन्यवाद दिया।

(6) टी.टी. से पत्नी को पैसे वापस दिलवाए -

एक बार हम सपरिवार कामायनी एक्सप्रेस से वाराणसी से दमोह जा रहे थे। कामायनी उस समय चलना प्रारम्भ ही हुई थी और खाली रहती थी। सतना के पास पत्नी से टी.टी. ने रिजर्वेशन का पैसा ले लिया परन्तु रसीद नहीं दी। जब मैंने पत्नी से कहा रसीद क्यों नहीं ली। मैं टी.टी. के पास गया और उससे रसीद मांगी तो उसने पैसे वापस कर दिए, रसीद नहीं दी क्योंकि वह रिजर्वेशन की बोगी नहीं थी।

इस तरह रेलयात्रा सम्बन्धी कई घटनाएं हैं। कभी रात्रि में स्टेशन का पता न चलने पर आगे चले गए, कभी एक्सीडेन्ट से बच गए, कभी कुछ व्यक्तियों से बहुत आत्मीय सम्बन्ध बन गए।

(7) परीक्षा के दौरान गुंडे की धमकी -

मैं बी.एच.यू. की वार्षिक परीक्षा में कक्ष-निरीक्षक के रूप में कार्य कर रहा था। उस समय एक छात्र टेबिल पर पुस्तक रखकर नकल कर रहा था। मैंने उससे सीट बदलने को कहा तो उसने मना कर दिया। मैंने सुपरिन्टेंडेन्ट से कहा कि या तो उसकी सीट बदल दो या मेरी ड्यूटी दूसरे कक्ष में लगा दो। उस तथाकथित परीक्षार्थी ने उनकी भी बात नहीं मानी और धमकी देते हुए उत्तरपुस्तिका जमा करके चला गया। मैं बड़ा भयभीत था कि कहीं परीक्षा के बाद परेशान न

करे। हुआ भी वैसा जैसा मैंने सोचा था। मैं सीढ़ियों से नीचे उतर ही रहा था कि 7-8 छात्रों ने मुझे घेर लिया और कहा आपने मेरे चेले को क्यों परेशान किया। मैंने भी दृढ़ता पूर्वक कहा 'मैंने उसे परेशान नहीं किया उसने मुझे परेशान किया, मैं तो उसे सुरक्षित सीट देना चाहता था जिससे उसकी और मेरी भी इज्जत बची रहती।' तब उन छात्रों ने कहा ऐसी बात है और चरण छूकर चले गए। अगर मैं बहस करता तो वे मारपीट भी कर सकते थे। मैंने राहत की सांस ली और घर चला गया। ऐसे मौकों पर घबराना नहीं चाहिए अपितु विवेक एवं सूझबूझ से सामना करना चाहिए।

(8) परीक्षा-संबन्धी अन्य घटना-

एक बार एक छात्र नेता आया और मुझसे परीक्षा में आने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की जिज्ञासा प्रकट की। उसे मैं पहचानता तो नहीं था परन्तु उसके हावभाव से समझ गया था कि यह छात्र नेता है और इसे पता है कि मैंने पेपर बनाया है। मैंने सोचा और कहा अभी मैं व्यस्त हूँ, सात दिन बाद आना। वह चला गया परन्तु मुझे उद्वेलित कर गया। यदि सही जानकारी देता हूँ तो अपराध होगा और यदि गलत बतलाता हूँ तो हमारे साथ अभद्रता कर सकता है। मैंने विभागाध्यक्ष से कहा कि जब अमुक शिक्षक कक्ष में हों तब यह कह देना कि जैन का पेपर मॉडरेशन में बहुत अधिक बदलना पड़ा। उन्होंने वैसा ही किया। वह बात उसे शिक्षक के माध्यम से उसके पास पहुंच गई और वह पुनः मेरे पास नहीं आया। इस तरह मेरा उस समय संकट टल गया। परीक्षा के बाद उसने सात-आठ छात्रों के साथ मुझे घेर लिया और धमकी दी कि गुरूजी 80 प्रतिशत से कम अंक नहीं मिलना चाहिए। मैंने उस घड़ी की नजाकत को समझकर उसका रोल नं. पूछ लिया और उसने तुरन्त अपना रोल नं. दे दिया।। मैंने पुनः विभागाध्यक्ष से निवेदन किया कि इस रोल नं. वाली उत्तर-पुस्तिका मेरे पास न आवे। उन्होंने परीक्षा विभाग को ऐसा संकेत कर दिया। परिणाम स्वरूप वह उत्तरपुस्तिका मेरे पास नहीं आई। और मैं बच गया। वैसे वह मेरे पास आया और बोला यदि नं. अच्छे नहीं मिले तो लोहे की कसम मैं आपको नहीं छोड़ूँगा। मैंने भी निडरता पूर्वक कहा 'तुम सामने से वार नहीं कर सकते और यदि भगवान की कृपा होगी तब भी तुम पीछे से वार नहीं कर सकोगे।'

इधर मैंने उसके प्रिय अध्यापक से कहा कि भाई आपका चेला मुझे धमका रहा है। उन्होंने समझ लिया कि यदि वह कुछ करेगा तो मैं भी फसूंगा। फलतः अपने गुरु के कहने पर वह माफी मांगने आया और पैरों पर गिर पड़ा।

(9) विश्वविद्यालय को अनिश्चितकालीन बन्दी से बचाया

जब मैं डीन था तब कला सङ्काय और मेडिकल सङ्काय के छात्रों में मारपीट हो गई। झगड़ा बढ़ जाने पर कुलपति राव ने पुलिस बुला ली तथा फोन करके मुझे कुलपति आवास में बुला लिया। रात्रि के 10 बजे थे। प्राक्टर, छात्र-अधिष्ठाता तथा शारीरिक विज्ञान के एक अध्यापक को भी बुला लिया। पूरी रात वहीं रुके और भोर में चार बजे तक घर आ सके। कुलपति ने निर्णय लिया कि विचाराधीन अपराधी पांच में से चार छात्रों की एफ.आई.आर. लिखा दी जाए। मेरे से भी हस्ताक्षर करा लिए जबकि मैं उस घटना से अनभिज्ञ था। मैंने यह जरूर कहा कि आपके कहने से मैंने हस्ताक्षर जरूर कर दिए हैं परन्तु मुझे सोचने का मौका दें। प्रातः आपसे पुनः मिलूंगा। मैंने सोचा एक को क्यों छोड़ा गया। मैं अपने सङ्काय के छात्रों के अहित से बेचैन था। मैंने छात्र-अधिष्ठाता को फोन किया और वस्तुस्थिति बतलाई। संयोग से वो भी मेरे से सहमत हो गए। हम दोनों प्रातः कुलपति जी के पास गए और अपनी अहसमति बतलाई। उन्होंने कहा ठीक है, आपका नाम हटा देंगे। पर हटाया नहीं, फाइल में रखा रहने दिया।

घटना के मद्देनजर जब मैंने कुलपति से कालेज खुला रखने बावत पूंछा तो कुलपति जी ने कॉलेज खुला रखने का आदेश दिया परन्तु मैंने अपने सभी विभागाध्यक्षों की मीटिंग करके कालेज बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि छात्रों का गुट आया जरूर परन्तु बन्दी देखकर बिना नुकसान किए चला गया। इस तरह अपने सङ्काय को बचा लिया परन्तु झगड़ा शान्त नहीं हुआ था। कुलपति ने पुलिस फोर्स बुलाकर हमारे सङ्काय के विडला छात्रावास को चारों ओर से घेर लिया। छात्र भी आक्रोशित होकर पत्थरबाजी करने लगे। मुझे बुलाया गया कि आप छात्रों को शान्त करो अन्यथा हम छात्रावास में प्रवेश करेंगे। मैंने अपने चारों वार्डनों के साथ छात्रावास में प्रवेश किया। बच्चों का समझाया उन्होंने पुलिस हटाने की मांग रखी। मैंने उसे सही समझा और प्राक्टर तथा पुलिस प्रशासन से 200 मीटर दूर चले जाने को कहा। वो तैयार नहीं हुए तो मैंने कहा फिर मुझे क्यों बुलाया। शान्ति चाहते हैं तो जैसा मैं कह रहा हूँ वैसा करें, अन्यथा आप जाने। इतना स्पष्ट उत्तर पाकर उन्होंने पीछे हटने की बात मान ली। छात्र भी आश्वस्त होकर पत्थरबाजी से विरत हो गए। इस तरह विश्वविद्यालय को साइनडाई (अनिश्चित कालीन बन्दी) होने से बचा लिया। अन्यथा पुलिस फोर्स छात्रावास में जाकर मारपीट, लूट आदि करती और छात्र आगजनी करते।

कुलपति द्वारा गठित इस घटना सम्बन्धी इन्क्वारी कमेटी ने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

(10) शोध पंजीयन में गलत छात्र का चनय - विभागीय कुछ अध्यापकों की शरारत ने एक ऐसे छात्र को मेरे निर्देशन में शोध हेतु पंजीयन करा दिया जो उग्र प्रकृति का था तथा शरारती भी था। बाद में पता चला कि वह किसी मर्डर केश में आरोपी भी है। सब जानते थे कि यह छात्र शोधप्रबन्ध तो लिखेगा नहीं प्रो. जैन को ही लिखना पड़ेगा परन्तु मेरी गम्भीरता सरलता तथा चतुराई से वे इस मकसद में सफल नहीं हो सके। छात्र सम्भवत: किसी अन्य से लिखवाकर ले आया जिसे मैंने परीक्षार्थ अग्रसारित कर दिया। संयोग से वह पास भी हो गया। लोगों ने मुझे बहुत भयभीत कराया परन्तु मैं अपने सिद्धान्त पर अडिग रहा। उसने भी मेरा पूरा सम्मान किया। इस तरह मैं साजिस का शिकार होने से बच गया।

(11) चीफ प्राक्टर को छात्रावास में फोर्स के साथ आने पर रोका -

इसी प्रकार एक बार प्राक्टर ने कहा कि आपके विडला छात्रावास के अमुक कमरों में पिस्तौल, घातक औजार आदि हैं। मैं आकर निकालना चाहता हूँ। मैंने वार्डनों को बुलाया और प्राक्टर से कहा आप अकेले या किसी अन्य साथी को लेकर आयें और तलाशी ले लेवें परन्तु फोर्स के साथ न आवें। वे बोले मैं बिना फोर्स के नहीं आ सकता, आप ही चेकिंग कर लेवें। मैंने वार्डनों को कमरा नम्बर न बताकर पूरे छात्रावास के कमरों को चेक किया और निर्देशित कमरे का विशेष निरीक्षण किया। आपत्तिजनक कोई सामग्री नहीं मिली। मेरी दृढ़ता से मामला शान्त हो गया, अन्यथा अशान्ति हो सकती थी।

(12) अध्यापक को छात्र हित में समझाया -

एक बार एक अध्यापक ने परीक्षा के एक माह पूर्व एक निरपराध छात्र को कक्षा में बैठने से मना कर दिया। छात्र मेरे डीन आफिस में आए। उनसे वस्तु स्थिति को जानकर तथा छात्र के भविष्य को विचार कर मैंने अध्यापक को आदेश दिया कि छात्र को कक्षा में आने दें। अध्यापक को समझाया और वह मान गए। छात्रों के हित में सदा सोचा करता था।

(14) छात्रों द्वारा सम्मान-

छात्रों की अनेक समस्याओं को उनका गार्जियन बनकर मैं सुलझाता था। कभी-कभी छात्रावासों का निरीक्षण करता था। मैस में भी छात्रों के साथ कभी-कभी भोजन करता था। इसका छात्रों पर अच्छा प्रभाव पड़ा और सभी छात्रावासों में पहली बार मेरा सम्मान किया गया।

(13) मीटिंग में पुन: जाकर छात्र को डिग्री दिलवाई -

एक समय यू.जी.सी. के नियमानुसार पी-एच.डी. डिग्री वालों को एक समय सीमा तक अध्यापक की अर्हता हेतु नेट परीक्षा से मुक्ति मिलेगी, उसकी अवधि समाप्त हो रही थी। मैं अपने विभाग के अभ्यर्थियों की मीटिंग में अनुशंसा करके आ गया, परन्तु उसी समय एक बाह्य परीक्षक विलम्ब से आए। मैंने शीघ्र उस छात्र की मौखिकी सम्पन्न कराई और पुन: मीटिंग में चला गया। अन्य सङ्कायों की मीटिंग चल रही थी। उस छात्र की रिपोर्ट दी और डिग्री की अनुशंसा कराई। कुलपति ने सराहा कि छात्रों का आप बहुत हित चाहते हो। छात्र हित हेतु आ गए।

(16) प्रवेश-प्रक्रिया में एक अध्यापिका का अड़ंगा-

कला सङ्काय में स्नातक कक्षा की प्रवेश प्रक्रिया चल रही थी। अन्त में जब एस.सी./एस.टी. का प्रवेश प्रारम्भ हुआ तो एक महिला सदस्या जो उनकी तरफ से प्रतिनिधि थी ने समाज विज्ञान में कम सीट होने से विरोध करके प्रवेश कमेटी से बहिर्गमन कर दिया। पूरी प्रक्रिया में वे आदि से अन्त तक बराबर थीं। उस समय कोई प्रश्न नहीं उठाया। उन्होंने महिला आयोग और एस.सी./एस.टी. आयोग में शिकायत भेज दी कि एस.सी./एस.टी. के छात्रों के साथ डीन अन्याय कर रहे हैं। यह नई सुविधा मैंने ही बहुत प्रयत्न करके प्रारम्भ कराई थी। नियमानुसार कोटा सबको मिला था। कुलपति के बाहर होने पर रेक्टर प्रो. लेले, विज्ञान सङ्काय के डीन तथा सामाजिक विज्ञान के डीन के साथ मिलकर संयुक्त मीटिंग आहूत की तथा कुलपति जी के आने पर उन्हें स्थिति से अवगत कराया। उन्होंने कोई गड़बड़ी न देख एस.सी./एस.टी. के दूसरे प्रतिनिधि को नियुक्त कर दिया। तब प्रवेश-प्रक्रिया पुन: प्रारम्भ हो गई। विरोध करने वाली अध्यापिका ने बाद में मेरे डीन आफिस में आकर क्षमा याचना की।

(15) विभागीय कुछ अध्यापकों के विरोध से विभिन्न विषयों का ज्ञाता बना-

संस्कृत विभाग में कुछ अध्यापक ऐसे थे जिन्हें जैन दर्शन से नफरत थी। वे हमेशा यह चाहते थे कि जैन-

बौद्धदर्शन ग्रूप बन्द कर दिया जाए। छात्र इसमें प्रवेश न लेवें। 4-5 साल तक तो ग्रूप निरन्तर चलता रहा परन्तु उसके बाद छात्रों द्वारा वह ग्रूप न लेने पर यह ग्रुप केवल सिलेबस में रह गया। वे इस ग्रूप को सिलेबस से भी हटाना चाहते थे। उनके मन में यह था कि ये ग्रूप नहीं रहेगा तो जैन को प्रमोशन नहीं मिलेगा। विभागाध्यक्ष मेरे गुरु प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने इस ग्रूप के चलते रहने में बड़ी मदद की। उन्होंने ही इस ग्रूप को प्रारम्भ कराया। मेरे गरु के भी वे लोग विरोधी थे जबकि उन्होंने ही उनकी नियुक्तियाँ की थीं। चूंकि मेरा पद मूलत: संस्कृत लेक्चरर का था। अत: वे लोग जैन-बौद्ध दर्शन ग्रूप बन्द कराने में सफल हो गए।

परिणाम स्वरूप मुझे संस्कृत के अन्य विषयों को जो मेरे विषय नहीं थे, उन्हें पढ़ाना पड़ा। यद्यपि अन्य विषयों के विशेषज्ञ अध्यापक थे परन्तु अध्यक्ष उन्हें नहीं देना चाहते थे। पूर्व में जो इस विषय के अध्यापक थे वे सेवानिवृत्त हो गए थे। मुझे तीन-चार माह पूर्व इस ग्रन्थ (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) को पढ़ाने का संकेत मेरे विभागाध्यक्ष गुरु ने कर दिया था। मैंने भी चैलेञ्ज स्वीकार किया। उस ग्रन्थ के चार खण्ड थे। मैंने चार अध्यापकों से पृथक्-पृथक् खण्ड पढ़ें और नव्य न्याय की शब्दावली (प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदक आदि) को समझा क्योंकि उस ग्रन्थ में इस भाषा का सम्मिश्रण था। जनवरी से मार्च के तीन माह में मैंने एम.ए. अंतिम वर्ष के दर्शन ग्रूप के छात्रों को वह ग्रन्थ अतिरिक्त पीरियड लेकर पूरा पढ़ाया। छात्र बहुत संतुष्ट हुए। मेंने पहले उन्हें नव्य न्याय की भाषा-शैली बतलाई फिर विषय का तात्पर्यार्थ बतलाया इसके बाद ग्रन्थ की पंक्तियाँ पढ़ाई। सेवानिवृत्त अध्यापक के पढ़ाने की शैली से छात्र समझ नहीं पाते थे जबकि वे बड़े विद्वान् थे। इसलिए मुझे प्रारम्भ से पढ़ाना पड़ा। मैं भी इस विषय से डरता था जो समझ में आ गया।

इसी प्रकार प्रमोशन के बाद मीमांसा दर्शन का क्लिष्ट ग्रन्थ (मीमांसान्यायप्रकाश) पढ़ाना पड़ा। यह ग्रन्थ भी मेरे लिए नया था परन्तु इसका प्रारम्भिक ज्ञान था। इस विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् वाराणसी में श्री पट्टाभिराम शास्त्री थे। उन्होंने भी मेरी प्रशंसा की तथा मेरा एक लेख जो मीमांसा दर्शन पर (निषेध-मीमांसा) था अपने अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित किया। इसमें भी प्रकाशित किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त मुझे व्याकरण, भाषाविज्ञान, साहित्य शास्त्र, शिलालेख, वेद, उपनिषद्, पालि, प्राकृत आदि पढ़ाने पड़े जिससे मैं कई विषयों का ज्ञाता हो गया और चिन्तन का रास्ता खुल गया। परिणाम स्वरूप मैंने न्यायदर्शन के ग्रन्थ तर्क संग्रह पर टीका लिखी। संस्कृत व्याकरण पर संस्कृत-प्रवेशिका तथा प्राकृत व्याकरण पर प्राकृत-दीपिका ग्रन्थ लिखे। तीनों ही छात्रों और विद्वानों में बहुत विश्रुत हुए।

(17) सेवानिवृत्ति पर विभागीय 'नो ड्यूज' कुलपति द्वारा-

सेवानिवृत्ति के समय विरोधी गुट का पूर्ण अधिकार विभाग पर हो गया और उन्होंने 'नो ड्यूज' देने से मना कर दिया। विभागीय पुस्तकालय का रजिस्टर गायब कर दिया गया और मुझ पर दोषारोपण कर दिया। पुस्तकालय की पुस्तकें जमा नहीं की। पुस्तकालय का चार्ज लेने से मना कर दिया। अन्तत: कुलपति के आदेश पर उन्हें पुस्तकालय का चार्ज लेना पड़ा, वह भी पूरे विवरण के साथ। इसके बाद कुलपति ने स्वयं मेरा 'नो ड्यूज' करके मेरी ग्रेच्युटी देने का आदेश पारित किया तथा नवीन संस्कृत-विभागाध्यक्ष को फटकारा। बी.एच.यू. के इतिहास में यह पहला केस बना। आदरणीय कुलपति प्रो. पंजाबसिंह जी मेरे लिए देवदूत बने।

(18) रात्रि भोजन त्याग का फल-

विश्वविद्यालय की चयन समितियों में जब साक्षात्कार की प्रक्रिया चलती थी तब कभी-कभी रात्रि भी हो जाती थी जिससे मेरे रात्रि में भोजन न करने के नियम से कुलपति साक्षात्कार के माध्य में ही मेरी भोजन व्यवस्था अलग से करा देते थे।

इसी तरह कई बार विश्वविद्यालयीय रात्रि डिनर में जाना पड़ता था तब मैं वहाँ घर पर भोजन करके ही जाता था। शादियों में जाता था तो वहाँ भी भोजन करके जाता था। अजैन लोग कहते थे कि जैन को बुलाने में कोई खर्च नहीं है। कुछ लोग आग्रह करके दिन में व्यवस्था कर देते थे। सङ्कल्प है तो रास्ता निकल ही आता है।

(19) स्टंट तथा अन्य दुर्घटनाएँ -

(क) गंगा नदी में कूंदा - जब में स्याद्वाद महाविद्यालय में पढ़ता था तब अगस्त-सितम्बर में जब गंगा बाढ़ पर थी तब भदैनी घाट पर गंगा में कूदा और जल के प्रवाह के विपरीत तैर कर किनारे आया। कई मल्लाहों के लड़कों को ऐसा करते देखकर अति उत्साह में मैंने उनका अनुकरण किया जबकि मैं तैरने में ज्यादा एक्सपर्ट नहीं था। संयोग से कुछ अनहोनी नहीं हुई। तैरना मुझे मेरे पिताजी ने बचपन में नोहटा की सुनार नदी में सिखाया था। वहाँ तो वह रक्षक थे तथा स्वयं

एक्सपर्ट भी थे।

(ख) साईकिल दुर्घटना - एक बार दमोह में बचपन में साईकिल चला रहा था। तालाब के पास ढलान में अचानक आगे का पहिया अलग हो गया। बड़ी दुर्घटना हो सकती थी परन्तु खरौंच भी नहीं आई। लोग देखकर आश्चर्य चकित हो गए। मैंने भी ईश्वर को धन्यवाद कहा।

(ग) बस दुर्घटना - बड़े बच्चे संदीप की शादी के बाद हम बहू अर्चना को प्रथम विदाई हेतु वारासिवनी जा रहे थे कि मिनी बस वालाघाट के पास पलट गई। मेरे साथ मेरा भानजा प्रमोद भी था। बस का हैण्डिल पकड़ लेने से मैं बच तो गया परन्तु पैर में चोट आ जाने से चलना कठिन हो गया। किसी तरह बहू के मायके पहुंचे। उन्होंने सेवा की, दवा दीं, दो दिन रुककर बहू के साथ वापस वाराणसी आ गए। बच्चे की ससुराल मैं प्रथम बार ही गया था। क्योंकि शादी आदि के समस्त कार्य जबलपुर और वराणसी से हुए थे।

एक बार जब हम सपत्नीक बजरंगगढ़ से रोडवेज की बस से भोपाल आ रहे थे तब रास्ते में बस गोबर के ढेर से टकराकर पलट गई और वह सीधी नहीं हो सकी, फिर हम लोग किसी तरह भोपाल आए, बहुत पानी भी बरस रहा था। परन्तु सुरक्षित बच गए। भक्तामर पढ़ते रहे।

झूठे मारपीट के केस में फंसाया - दिनाँक 5.10.1980 को श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रबंधक श्री सुमेरचन्द जैन ने मेरे ऊपर तथा डॉ. शीतल चन्द्र जैन के ऊपर मारपीट का झूठा आरोप लगाकर एफ.आई.आर. लिखवा दी। जिससे डॉ. शीतलचंद जैन को एक रात्रि थाने में बन्द रहना पड़ा। पं. दरबारीलाल जी कोठिया जी उन्हें प्रातः छुड़ा लाए। परन्तु मैं बी.एच.यू. में रहता था जिससे वहाँ पुलिस नहीं जा सकती थी बिना प्राक्टर की अनुमति। प्राक्टर के निर्देशानुसार मेंने अपनी बेल (जमानत) कचहरी से करा ली। केस पांच वर्ष तक चला, केस की सुनवाई में प्रायः अगली तरीख पड़ती रहती थीं, मुझे उपस्थित होने की छूट मिल गई थी। दिनाँक 25.7.85 को दोषमुक्त मानकर केस बन्द कर दिया गया। मैं मारपीट के समय बी.एच.यू. अस्पताल में भर्ती था। सीजनल बीमारी के कारण यह बात श्री सुमेरचंद को पता नहीं थी। चूंकि मैं वहाँ का उपाधिष्ठाता रह चुका था और मैं छात्रों के हितों के लिए अध्यापन तथा भोजन की सुव्यवस्था हेतु अधिकारियों से कहता था, उन्होंने इसी कारण केस कर दिया। मेरे कारण सब छूट गए, आरोपकर्त्ता बहुत पैसे वाले थे जिसके बल पर इतना सब कुछ हुआ। बाद में क्षमावाणी पर मेरे पैर स्पर्श कर क्षमा भी मांगी।

(ङ) पुत्र ने डकैतों का सामना किया - एक बार मेरा छोटा पुत्र अभिषेक मुंबई से वाराणसी जा रहा था कि रास्ते में (सतना-इलाहाबाद के मध्य) ट्रेन में डकैत घुस आये और सबका पैसा जेवर आदि छीन लिया। अटेचियाँ काट दीं। कुछ पर औजार से प्रहार भी किया। मेरे पुत्र के पास भी आए (उसने अपनी घड़ी आदि सीट के बीच में फंसा दी थी) तो उसने कह दिया कि मेरे पास अब कुछ नहीं है, आपके भैया लोग सब ले गए उन्होंने छोड़ दिया और वह बच गया। उसकी बुद्धि से ही सहयात्री महिला के जेवर भी बच गए क्योंकि बच्चे के कहने पर उसने पानी की बॉटल में उन्हें डाल दिए थे। जब बेटा घर आया तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। पूछने पर उसने घटना बतलाई। मुझे पूर्व में फोन द्वारा नहीं बतलाया था, यह सोचकर कि पापा-मम्मी परेशान हो जायेंगे।

(च) पुत्री की ट्रेन रद्द हुई बीच में - एक बार मेरी बेटी मनीषा गर्मी की छुट्टियों के बाद मुंबई जा रही थी कि बहुत बारिश होने से इटारसी में अधिकांश गाड़ियाँ रद्द कर दीं। उसे टिकट के पूरे पैसे वापस मिल गए। कुछ यात्री बसों से मुम्बई जा रहे थे कि अचानक एक ट्रेन को जाने दिया गया। वह अकेली थी। कुली के सहयोग से किसी तरह ट्रेन में बैठ गई और मुंबई पहुँच गई। इधर बनारस में हम सब परेशान थे। लड़की अकेली है कैसे उसके पास जायें जब वह ट्रेन में बैठ गई तो उसने मोबाइल से सूचित किया। तब हम लोगों को कथंचित् सन्तोष मिला।

अमेरिका और सिंगापुर यात्रायें

मैं सपत्नीक दो बार अमेरिका और सिंगापुर गया। प्रथम बार अमेरिका के मीलपिटास स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर के आमंत्रण पर दशलक्षण पर्व पर सिंगापुर एयरलाइन्स से दिनाँक 14.9.2004 में गया। वहाँ का दो मंजिला विशाल एवं भव्य जैन मन्दिर देखकर मंत्रमुग्ध हो गया। पूरा मन्दिर वातानुकूलित था तथा दिगम्बर-श्वेताम्बर का मणिकांचन संयोग था। वहाँ कोई पुजारी नहीं था। श्रावक स्वयं बर्तन, पूजा सामग्री के प्रक्षालन से लेकर चटाई बगैरह स्वयं बिछाते थे और पूजा करने के बाद यथास्थान पूर्ववत् व्यवस्थित रखा करते थे। बहुत अच्छा लगा। भारत में भी ऐसा हो तो कितना अच्छा हो। यहाँ तो हम पुजारी पर निर्भर रहते हैं।

दस दिनों तक मैंने वहाँ तत्त्वार्थसूत्र का सार्थ वाचन और उत्तम क्षमादि दस धर्मों पर व्याख्यान दिया। जिज्ञासाओं

का समाधान किया। दिनाँक 23.10.2004 को वहाँ इन्टरनेशनल सर्वधर्म सम्मेलन में दिगम्बर जैन प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया और उपस्थित शंकाओं का समाधान किया। श्री प्रेमचन्द जैन (बोर्ड ऑफ ट्रस्टी) ने सर्वाधिक धनराशि देकर वह जैन मन्दिर बनवाया था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय के लोग वहाँ की कार्यकारिणी में थे। श्री अशोक सेठी, श्रीमती रेखा सेठी, श्रीमती मीनाक्षी, श्री अम्बरीश, श्री प्रकाशचन्द्र जैन, श्रीमती सुलोचना जैन, श्री नवनीत जैन आदि दिगम्बर जैन वहाँ की व्यवस्था देखते थे। मेरी पुत्रवधु श्रीमती अर्चना जैन प्रति रविवार हिन्दी पढ़ाया करती थी।

वहाँ सनीवेल में भी एक सर्वधर्म मन्दिर है जिसमें दिगम्बर प्रतिमा भी विराजमान है। वहाँ मैं अपने पुत्रों के घर कोपर्टिनो में रुका था, जहाँ से मीलपिटास का जैन मन्दिर करीब 20 कि.मी. दूर है। मैं सपत्नीक रोज अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के साथ मन्दिर जाकर पूजा आदि करता था।

व्रतों के बाद स्थानीय उपरोक्त समाज वालों के घर एक-एक दिन भोजन पर गए। सभी लोग जाते थे और अपने-अपने घर से कुछ न कुछ स्पेशल डिश बनाकर लाते थे और होस्ट के घर मिलकर भोजन बनवाते तथा भोजनोपरान्त बर्तन वगैरह भी साफ करते थे। यह देखकर बहुत प्रभावित हुआ। यह एक अनुकरणीय गेट-टू-गेदर था।

इसके बाद दिनाँक 4.210.18 को मैं अपने पूरे परिवार के साथ कार से दर्शनीय स्थानों को देखने निकला। सेनफ्रांसिस्को के समुद्र पर स्थिति विश्वप्रसिद्ध गोल्डन ब्रिज देखा। यहाँ बहुत अधिक ठंड थी और तेज हवाएँ भी चल रही थीं। बहुत सुन्दर दृश्य था, वहीं से मेरा पुत्र संजय हम दोनों को कार से पहाड़ पर स्थित लोम्बर्ड स्ट्रीट घुमाने ले गया। वहाँ जाने का रास्ता बहुत संकरा घुमावदार और चढ़ाई वाला (45 डिग्री वाला) था जिस पर सब कार नहीं चला सकते थे। लोम्बार्ड से समुद्र और शहर बहुत सुन्दर दिखता था, सूर्यास्त भी बहुत सुन्दर दिखता है। वहीं से स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय तथा वर्कली विश्विद्यालय गए और वहाँ का विशाल एवं भव्य पुस्तकालय देखा।

दूसरे दिन अपने पुत्र संदीप की सिस्को कम्पनी के आफिस गए। वहाँ की विशाल इलेक्ट्रानिक मशीनों को देखा और उनकी कार्यशैली को थोड़ा समझा।

वहाँ से सान्ताक्रुज की पहाड़ी पर स्थित मिस्ट्री प्वाइंट गए जहाँ गुरुत्वाकर्षण से लोग टेढ़े लगते थे तथा वस्तु का वजन बढ़ जाता था। यहाँ बहुत पहाड़ियाँ और घोर जंगल है। वहाँ से लौटकर पश्चिमी अमेरिका की विश्वप्रसिद्ध प्रशान्त महासागर की 'रूट वन ड्राइव' पर कार से गए जो पहाड़ और समुद्र के मध्य स्थित है। बहुत अच्छा लगा। लौटते समय हल्का भूकम्प भी आया, जो वहाँ प्राय: आता रहता है। यहाँ पर संतरे, नीबू, अनार, हरे सेव, खुबानी, आलू बुखारा आदि होते हैं। घर-घर में इनके पेड़ लगे हैं। सब्जी में आलू, लौकी, कुम्हड़ा आदि सब सब्जियाँ बहुत बड़ी-बड़ी होती हैं। कुम्हड़ा की विशालता तो वहाँ का आकर्षण है, जिसकी प्रतियोगिता भी होती है।

वहाँ के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति की (गोदी के बालक की भी) अलग-अलग सीट कार में होती है और प्रत्येक को सेफ्टी बेल्ट लगाना अनिवार्य है। यहाँ की तरह एक भी सवारी अतिरिक्त नहीं बैठ सकती, सद्य: उत्पन्न शिशु भी नहीं। यहाँ कार संचालन दाहिने तरफ होता है तथा रेखाओं के द्वारा स्पीड ब्रेकर या रुकने (विशेषकर स्कूल के पास) का संकेत होता है भारत की तरह नहीं। जगह-जगह सड़कों पर कैमरे लगे हैं। जिससे गलत ड्राइविंग पर घर पर चालान पहुँच जाता है। रास्तों पर स्पीड लिमिट है। (किस रो में कितनी स्पीड हो) के संकेत हैं। आप निश्चित स्थान पर (ट्वायलेट) ही लघुशंका, थूकना, कूड़ा डालना आदि कर सकते हैं। पेट्रोलपंप तथा दुकानों पर भी यह व्यवस्था रहती है। भले ही आप जंगल में क्या न हों। इसके बाद हम लोग दो कारें लेकर दूरवर्ती स्थानों पर घूमने गए।

सर्वप्रथम हम सेंडियागो गए वहाँ सी वर्ल्ड देखा, पश्चात् डिजनीलैण्ड मिकी माऊस, लासएंजिलिस, युनिवर्सल स्टूडियो हॉलीवुड आदि स्थानों पर गए। वहाँ कई राइड (यंत्र चालित झांकियाँ) देखीं। सिनेमा (पिक्चरों) की शूटिंग कैसे होती है। कैसे एक ही स्थान पर कई देशों की झलक मिलती है। कैसे पुल टूटता है? ट्रेन में आग कैसे लगती है आदि वहाँ देखीं थ्रीडी पिक्चर भी देखी जिससे पिक्चर की घटनाएं हमें अपने पास महसूस होती थीं। एक सीन में चूहा पैरों के नीचे से गुजरता महसूस हुआ। थ्री डी पिक्चर के लिए स्पेशल चश्मा लगाना पड़ा था। इसके बाद डिजनीलैण्ड गए। वहाँ बहुत मनोरंजन किया। वहाँ कुछ ऐसी राईड्स देखीं जैसे हम स्वर्ग और नरक में हों। इन्हें देखकर मुझे गुणस्थान मन्दिर की कल्पना बनी और इस बात को मैंने प. पू. मुनि श्री प्रमाणसागर से बतलाई। उन्हें मेरे विचार पसन्द आए और उन्होंने शिखरजी में उस कल्पना को मूर्तरूप देना प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ हमारा चावल (भात) का डिबबा ऐसा बन्द हो गया कि बहुत प्रयत्न करने पर भी खुला ही नहीं। होटल आने पर नल के नीचे रखने पर खुला। सभी को भूख लगी थी। असल में बहू ने गरम भात को रखकर उसे बन्द कर

दिया था। यहाँ के बाद सेन्डियागो गए जहाँ डाल्फिन के कर्तव्य देखे। समुद्र में कई तरह के सीन देखे।

अमेरिका से भारत वापस आते समय सिंगापुर एयरपोर्ट पर 6 घंटे रुकना पड़ा। वहाँ के प्रशासन की ओर से फ्री सिंगापुर भ्रमण किया और मुंबई होते हुए वाराणसी आ गए।

दूसरी ट्रिप में अपने पुत्र अभिषेक की शादी के बाद (8.12.2009) अपने दूसरे पुत्र संजय के साथ अमेरिका गए। रास्ते में सिंगापुर रुके जहाँ संजय की पत्नी के चाचा श्री शिखरचन्द जी रहते हैं उन्होंने वहाँ पर कई दर्शनीय स्थानों पर घुमाया। इनके घर के एक कमरे में चैत्यालय था, वहीं पूजन की। शहर में भी बड़ा जैन मन्दिर बन रहा था। दो दिन बाद हम अमेरिका पहुँच गए। बहुत सर्दी थी वहाँ।

इस बार पुत्र संदीप के नए घर का विधि-विधान पूर्वक गृहप्रवेश कराया और क्रिसमस के बाद एक सप्ताह घूमने गए। प्रथमत: ग्रेण्ड केनियन के नेशनल पार्क गए जहाँ चारों ओर बर्फ ही बर्फ थी। पेड़, मकान, सड़कें, कारें सभी बर्फ की चादर से आच्छदित थे। वहाँ बहुत गहरी खाई में नदी बह रही थी। वह खाई पहाड़ों के कटाव से बनी थी। बहुत सुन्दर स्थान था। वहाँ आदिवासियों के जीवन पर बनाई गई पिक्चर देखी। बहुत सुन्दर पिक्चर थी।

वहाँ से लासवेगास गए। पत्नी का रोहिणी व्रत था। वहाँ दूरस्थ सर्वधर्म मन्दिर था जहाँ दिगम्बर-श्वेताम्बर मूर्तियाँ भी थीं। दर्शन करके भोजन किया और हूवर डेम (1935 में बना) गए। यहाँ विद्युत उत्पादन के बड़े-बड़े यन्त्र देखे। वहाँ प्रसिद्ध विशाल कोलोराडो नदी बहती है। ग्रेन्ड केनियन नेशनल पार्क देखा। फिर वहाँ (एरीजोना राज्य) से निवाडा राज्य की ओर गए। नदी पर पुल बना था, पुल के उस पार नेवाडा राज्य की सीमा थी, जहाँ घड़ी में एक घंटा का अन्तर आ गया।

यहाँ से लासवेगास गए जहाँ का कसिनो (जुआ घर) बहुत प्रसिद्ध है यहाँ कई शो देखे, जैसे पानी का विभिन्न मुद्राओं में नृत्य, ज्वालामुखी आदि। रेगिस्तानी प्रदेश था केकटस के वृक्ष थे, पहाड़ की मिट्टी कहीं लाल तो कहीं काली थी। जंगली जानवरों का इलाका था, दिखे भी थे, परन्तु कुछ नहीं हुआ। बहुत सुन्दर सूर्यास्त रास्ते में देखा।

भ्रमण से लौटने के बाद जैन मन्दिर मील पिटास में लेक्चर भी दिए। एक दिन हम लोग किसी मित्र के घर सायं-भोजन पर गए। वहाँ पहुंचते ही मुझे बड़े जोर का चक्कर आया और मैं घर के अन्दर जाने के पूर्व ही गिर पड़ा। 10-15 मिनिट बाद मुझे उठाकर उनके घर के अन्दर किया, जहाँ हम लेट गए। थोड़ा नास्ता किया। पुत्रवधू डॉ. आरती को फोन करके बुलाया तो पता चला कि ब्लड प्रेशर कम हो गया है। बच्चों ने मेरी एअर टिकट की तारीख आगे बढ़वा दी। वहाँ के समाज के आग्रह पर (दिनाँक 21.2.2010) जैन मूर्ति लेकर दिल्ली होते हुए वाराणसी आए और उसे नरिया के जैन मन्दिर में स्थापित किया। बाद में पुन: पंचकल्याणक कराया गया काकन्दी तीर्थ क्षेत्र में और वहीं के मन्दिर में उसे स्थापित करा दिया। क्योंकि उनका उद्देश्य था कि किसी भी दिगम्बर मन्दिर में भारत में कहीं भी स्थापित कर देना। अमेरिका में उसे वेदी पर नहीं रखा जा रहा था जबकि वह प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, ऐसा वहाँ के दिगम्बर जैनियों ने बतलाया था। प्रतिष्ठित प्रतिमा वेदी पर न रहे, उसका प्रक्षाल आदि न हो, इसीलिए मैं ले आया।

बीमारियाँ

(क) बचपन में मुझे मोतीझिरा निकला, उस समय मैं पाटन में छोटी बहिन के घर पर था। इसके बाद वात रोग कमर में हुआ जिसके इलाज हेतु डाक्टर ने एक तेल (सम्भवत: ताड़पीन) दिया जिसमें उससे दूना तिल-तेल मिलाकर लगाना था। परन्तु जल्दी फायदा के चक्कर में तिल का तेल कम मिलाया जिससे वहाँ फफोले आ गए और परेशानियाँ बढ़ गई। घर पर (दमोह में) सिर्फ पिताजी थे, सेवा करने वाला कोई नहीं था। पिताजी स्वयं भोजन बनाते और स्कूल पढ़ाने चले जाते थे। कुछ समय बाद दमोह में ही छोटी-बड़ी माता निकल आईं। बड़ी वेदना होती थी। घरेलू उपचार किए गए। यद्यपि बचपन में माता का टीका लगा था फिर भी प्रकोप हुआ। सुखद यह रहा कि धीरे-धीरे सभी निशान मिट गए।

(ख) जब मैं बिजनौर में पढ़ाता था तो वहाँ के सरकारी अस्पताल में हाईड्रोसिल का आपरेशन करा लिया। बनारस में यह सामान्य ऑपरेशन माना जाता था। मैं बिजनौर में अकेला रहता था। डॉक्टर की गड़बड़ी से ऑपरेशन का स्थान पक गया अैर निरन्तर मवाद बहने लगी। बहुत दवा और इंजेक्शन दिए गए परन्तु लाभ नहीं मिला। अन्त में पिताजी के पास संदेश भेजा। पिताजी मेरी पत्नी डॉ. मनोरमा जैन तथा सद्य: प्रसूत पुत्र सन्दीप को लेकर बिजनौर आ गए और बहू को छोड़कर चले गए। इसके बाद मैं सपत्नीक दिल्ली गया। रास्ते में मेरठ अपने मित्र के घर रुक गया। वहाँ मैं होम्योपैथिक डॉक्टर के पास उनके साथ गया। उनसे अपनी समस्या बतलाई तो उन्होंने एक दवा दी (सम्भवत: साईलेसिया)। मैंने उसे खाया और दिल्ली में परिचित डॉ. जैन से चांदनी चैक पर मिला। उन्होंने देखा और परसों (15 अगस्त 1968 के बाद) अस्पताल

आने को कहा। हम आपको भर्ती कर लेंगे और पुन: ऑपरेशन करना पड़ेगा। मैं अगले दिन ड्रेसिंग कराने अस्पताल की इमरजेंसी में गया तो ड्रेसिंग करने वाले को धागा दिखाई दिया जो सम्भवत: होम्योपैथी का प्रभाव था। मैंने उसे निकालकर ड्रेसिंग करने हेतु कहा। इसके बाद मैं बिजनौर आ गया। घाव ठीक हो गया। यहाँ से होम्योपैथी पर विश्वास होने लगा।

(ग) इसके बाद वाराणसी में स्कूटर एक्सीडेन्ट में घुटने के लीगामेंट टूट गए। एक बार हाथ की कुहनी में टेनिस एल्बो हो गया। सेवानिवृत्ति के बाद जब मैं इन्दौर वि.वि. (अहिल्याबाई) के कुलपति के चयन पैनल में था, अचानक चिकनगुनिया हम दोनों को हो गया। जिससे महामहिम राज्यपाल से भेंट करने नहीं जा सके और कुलपति का सपना टूट गया। सेवानिवृत्ति के एक साल बाद हस्तिनापुर से लौटने पर पता लगा कि मेरे हृदय की तीन आर्टरी चोक हैं। जिनका तत्काल ऑपरेशन जरूरी है। पुत्र अभिषेक मुझे लेकर भोपाल आया। यहाँ मेरी बेटी और दामाद दोनों डॉक्टर थे। उन्होंने हार्ट स्पेशलिस्ट से बात की और भोपाल में ही 21.4.2007 (भोपाल मेमोरियल में) बायपास ऑपरेशन कराया। ऑपरेशन सफल रहा परन्तु बच्चों ने फिर कोई भी कार्य करने से मना कर दिया। सभी बच्चे अमेरिका से भी आपरेशन पूर्व ही आ गए थे।

(घ) इसके बाद दोनों आँखों का मोतियाबिंद का आपरेशन कराया। एक बड़ा झटका तब लगा जब मैं डॉ. जयकुमार जैन वि. प. अध्यक्ष के अभिनन्दन समारोह में दिल्ली जा रहा था। दिल्ली स्टेशन पर उतरते ही मेरे दाहिने पैर के घुटने और कमर में अचानक दर्द हो गया (साईटिका जैसा)। किसी तरह डॉ. पंकज जैन के साथ भोपाल आ सका। उसने बड़ी सेवा की। भोपाल आकर एम.आर.आई. और एक्सरे आदि हुए। एक माह बाद प्रभु कृपा से चलने में समर्थ हो सका। कमर झुक गई थी और मैं पूरी तरह टूट चुका था।

पुत्र, पिता जी और सासुजी के आपरेशन कराए

मैंने अपने सुपुत्र डॉ. संदीप जैन के पोलियो का इलाज कई स्थानों पर (वाराणसी, लखनऊ, दिल्ली, मुंबई आदि) कराया। मुंबई में एक ऑपरेशन भी कराया। मैंने अपने पिता की दोनों आंखों के (ग्लोकोमा के) ऑपरेशन कराए। अपनी सासुजी के 3-4 आपरेशन (आंखों का हड्डी आदि) करवाए। अपना खून भी दिया।

पूजा आदि धार्मिक-क्रियायें-

(1) मैं बचपन से ही धार्मिक क्रियायें करता था। जब मैं आचार्य (एम.ए.) में पढ़ रहा था तक मैं स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्रावास में रहता था। मेरी धार्मिक क्रियाओं में रुचि होने के कारण मुझे धर्म-मंत्री बनाया गया था। दशलक्षण पर्व पर मैं विद्यालय के हॉल में श्रीजी को विराजमान करवाता था। एक बार मुझे तीन दिन का 'सिद्धचक्र विधान' कराने का मन हुआ। मैंने छात्रों के मध्य अपना प्रस्ताव रखा। सभी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और विधिपूर्वक विधान किया गया। रात्रि में हम लोग हॉल में जमीन पर ही सोते थे। बहुत आनन्द आया। स्थानीय समाज का भी सहयोग मिला।

(2) कालान्तर में समाज के आग्रह पर भेलूपुर के मन्दिर में सिद्धचक्र विधान कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने अपने साथ डॉ. कमलेशजी को सहयोगी बनाया। उस समय हम दोनों विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। अत: समय बांटकर नौ दिन तक विधिवत् अनुष्ठान कराया। ध्वजारोहण, घटयात्रा, जाप, हवन आदि सभी क्रियायें की गईं। समाज ने बड़े उत्साह से भाग लिया। अन्त में उन्होंने बहुत मना करने पर भी धनराशि भेंट की जिसे हम दोनों ने नरिया स्थित जैन मन्दिर को समस्त धनराशि दान दे दी तथा और पैसे एकत्रित कर नरिया मन्दिर का कार्य कराया। लोहे की ग्रिल लगवाई, पूजाकक्ष बनवाया और वेदी का नयारूप कराके वेदी-प्रतिष्ठा आदि भी विधिपूर्वक कराई। उस समय मैं उस मन्दिर का मंत्री भी था।

अगले वर्षों में भेलूपुर के दूसरे दिगम्बर जैन मन्दिर में समाज के आग्रह पर 'सिद्धचक्र विधान' तथा वेदी शुद्धि का कार्य कराना पड़ा। इसके अतिरिक्त भेलूपुर के मन्दिर का कलशारोहण भी कराया। इसके अतिरिक्त मैंने गृहप्रवेश, ग्रहनिर्माणारम्भ, शादी आदि के कई धार्मिक कार्यक्रम कराए। अमेरिका में भी गृहप्रवेश विधान आदि कराए। दशलक्षण पर प्रवचनादि तो कई स्थानों पर किए।

परिवार के सदस्यों का मोक्षमार्ग की ओर कदम

(1) मेरी वंश-परम्परा में मेरी रहली निवासी भानजी ज्योति (मीना) जैन ई. सन् 2000 में दीपावली के दिन दीक्षा लेकर आर्यिका श्री 105 सम्भवमति माताजी बन गई और श्री 105 अर्यिका विज्ञानमति माता जी के सङ्घ में रहते हुए कालान्तर में आर्यिक विज्ञानमति के आदेश से कुछ आर्यिकाओं आदि का सङ्घ बनाकर पृथक् विहार किया। इस समय

उनका चातुर्मास (ई. 2018) जरूआखेड़ा (सागरजिला) में चल रहा है।

(2) मेरे एक भतीजे रजनीश ने प. पू. श्री 108 विद्यासागर आचार्य से मुनि दीक्षा ली और आज उनके सङ्घ में रहकर मोक्षपक्ष पर समरूढ़ हैं। आचार्य श्री का चातुर्मास इस समय (ई. 2018) खजुराहो में हो रहा है। आचार्य श्री ने उनको दीक्षा देकर सम्भवसागर नाम दिया।

(3) हमारी भाभी श्रीमती चमेली बाई भी दश प्रतिमाधारी हैं।

(4) मेरी सास डॉ. मनोरमा की माता स्व. श्रीमती सोना जैन ने यद्यपि प्रतिमाएं नहीं ली थीं परन्तु प्रतिमाधारियों जैसी ही चर्या करती थीं। त्याग तथा धर्माराधना में लीन रहना उनका स्वभाव बन गया था। जैनधर्म पर अटूट श्रद्धा थी। धर्माचरण पूर्वक उनका मरण हुआ।

(5) मेरी छोटी बहिन (श्रीमती ललिता बाई) के ससुर भी स्व. सिङ्घई अमीर चन्द जैन बहुत शान्त-परिणामी और 9-10 प्रतिमाधारी थे।

(6) मेरे पिता श्री, पत्नी, बच्चे बगैरह सभी सुसंस्कारित और धार्मिक प्रवृत्ति के हैं।

स्वतंत्रता संग्राम में योगदान

(1) हमारी छोटी बहिन के पति स्व. श्री देवचन्द जी जैन कांग्रेसी थे तथा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी थे। उन्हें जेल भी जाना पड़ा था।

(2) मेरे पिताश्री सिद्धेलाल जी चूंकि सरकारी स्कूल में शिक्षक थे जिससे खुलकर तो नहीं आए परन्तु स्वतंत्रता संग्रामियों की मदद करना उनका स्वभाव बन गया था।

(3) मेरी पत्नी के बड़े ताऊ स्व. सिं. श्री गुलाबचंद जी भी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे तथा जले भी गए थे।

(4) मास्टर स्व. श्री रतनचंद जैन लाखाभवन जबलपुर वाले भी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी रहे। ये हमारे भानेज श्री नन्दनलाल जैन के ससुर थे।

मेरी पत्नी मनोरमा जैन और उनकी माता जी

मेरी धर्मपत्नी डॉ. मनोरमा जैन का जन्म ई 6.5.1947, ज्येष्ठ कृ. प्रतिपदा, मङ्गलवार, प्रातः बंडा में नीमा बुआ के घर हुआ था। जन्म के समय अनुराधा नक्षत्र था तथा राशि नाम था नन्नीबाई। स्कूल के अनुसार उनकी जन्म ता. है 10-10-1947 उस समय मनोरमा की माताजी की उम्र 16 वर्ष थी तथा वह दो मास पूर्व (चेत सुदी 13 सन् 1947) विधवा हो चुकी थीं। उस समय दमोह में प्लेग की बीमारी फैली थी और मनोरमा के पिता (स्व. श्रीमती सोना जैन के पति श्री छोटेलाल) दूसरों का इलाज करते-करते स्वयं प्लेग की चपेट में आकर दिवंगत हो गए। सोना जैन के ऊपर इतनी छोटी उम्र में ही कष्टों का पहाड़ ही टूट पड़ने के कारण बेटी के जन्म की खुशी नहीं मना सकी।

स्व. सोना जैन महाराजपुर के एक अच्छे सोधिया घराने की पुत्री थीं। जिनका बाल्यकाल सुखों में बीता था। महाराजपुर में कक्षा चार तक ही उन्होंने पढ़ा था और किशोरावस्था में ही दमोह के प्रसिद्ध सिङ्घई राजाराम जैन के सुपुत्र स्व. छोटेलाल के साथ शादी हो जाने से दमोह आ गईं। विधवा होने से सोना जैन के देवर स्व. सिं. कपूरचन्द जैन ने उन्हें आरा (बिहार) स्थित विधवा जैन महिलाश्रम में पढ़ने भेज दिया, जिससे वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकें और आगे का जीवन निर्वाह कर सकें। महिलाश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए उन्होंने वहाँ कक्षा पांच से 10 वीं (मध्यमा / हाईस्कूल तक की परीक्षायें) उत्तीर्ण कीं। यहाँ रहकर उन्होंने जैन धर्मानुसार त्यागी-व्रतों का जीवन जीना सीख लिया। पुत्री मनोरमा को 9 मास की दमोह में छोड़कर आगे पढ़ने चली गई थीं। पुत्री की याद तो आती ही थी। यहाँ पुत्री मनोरमा ने अपने चाचा (सिं. कपूरचंद) के घर रहते हुए कक्षा तीन तक की पढ़ाई कर ली थी। इतने लम्बे समय तक माँ से दूर रहने के कारण मनोरमा अपनी माँ को माँ नहीं काकी जानती थी। इसके बाद सोना जैन नार्मल-ट्रेनिंग करने जबलपुर गई और अपनी बेटी को साथ में ले गईं और वहाँ मनोरमा को फूटाताल के सरकारी स्कूल में चैथी में प्रवेश दिला दिया। नार्मल ट्रेनिंग के बाद पुन: दमोह आ गईं। जहाँ मनोरमा ने कक्षा सात तक अध्ययन किया। दमोह में चाचा कपूरचंद तथा दद्दा सिं. राजाराम जी मनोरमा का बहुत ध्यान रखते थे। मनोरमा सबकी बहुत सेवा करती थी। दमोह में मनोरमा को पीलिया, सुखण्डी आदि बीमारियों से जूझना पड़ा। इसके बाद सोना जैन देवरी में सरकारी प्रायमरी स्कूल में अध्यापिका नियुक्त हो गई। तब वे मनोरमा को भी देवरी ले आई जहाँ मनोरमा ने 8वीं से 11वीं हायर सैकेण्डरी पढ़ाई की। इसके बाद पुन: दमोह आकर बी.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा दी। इसी मध्य मनोरमा की शादी मेरे साथ 13.5.1965 में हो गई, जिसका कथन में पूर्व में कर चुका हूँ।

शादी के कुछ समय बाद मेरे पिताजी ने मनोरमा बहू को मेरे पास वाराणसी भेज दिया। मेरे पास रहकर मनोरमा ने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करके भी सर्विस नहीं की और बच्चों का भविष्य बनाने का रास्ता चुना। समय मिलने पर धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में सक्रिय योगदान दिया। आज भी इस दिशा में मनोरमा जी सक्रिय हैं।

इधर मनोरमा की माता जी देवरी, वारासिवनी बांदकपुर, दमोह में अध्यापन कार्य करते हुए सेवानिवृत्त हो गईं। दमोह में चारों ओर से जैन मन्दिरों से घिरा हुआ उनका आवास था। निश्चयमार्ग में आस्था होने के बाद भी व्यवहार नय से पूजा, व्रतविधान, तीर्थयात्रा आदि में सतत लगी रहती थीं। श्रावक की प्रतिमायें तो नहीं ली थीं परन्तु ब्रह्मचर्य प्रतिमा तक के व्रत पालती थीं, धर्माचारण करती थीं, सोला करती थीं तथा कुआ का ही प्रासुक (उबला हुआ) जल लेती थीं। मर्यादा के आटा, मसाला आदि लेती थीं। स्वयं सब कार्य करती थीं। अंतिम सांस लेते समय भी देवदर्शन और उपवास पूर्व 14 मार्च 2014 को शरीर छोड़ा किसी से सेवा नहीं कराई। हम दोनों वाराणसी में थे और वह दमोह में थीं। हम लोग सुनते ही टैक्सी लेकर आए और उनका अंतिम संस्कार विधिविधान पूर्वक किया।

हमारी योजनाएँ-

(1) हमारी सबसे प्रबल इच्छा है कि एक ऐसा जैन विद्यापीठ बने जहाँ जैन दर्शन के विविध विषयों का आधुनिक विज्ञान तथा जैनेत्तर धर्म-दर्शन की मान्यताओं के साथ तुलनात्मक चिन्तन करके जैन दर्शन के नवनीत को परिपुष्ट किया जाए। इसके लिए सभी आधुनिक वैज्ञानिक संसाधनों का उपयोग किया जाए।

जैन दर्शन के प्रत्येक विषय के विशेषज्ञों की एक सूची बनाई जाए और उसमें बिना भेदभाव के उनको तत्तत् कमेटियों में रखा जाए। वे अपने विषय की गवेषणा करके एक आलेख तैयार करें इसके बाद जैनेतर विषयों के विशेषज्ञों को बुलाकर उसका तुलनात्मक (साम्य-वैषम्य आदि) विवरण लिपिबद्ध किया जाए। इसके बाद आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं (वनस्पति विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, मेडिकल विज्ञान, शरीर विज्ञान आदि के विषय विशेषज्ञों) को बुलाकर उनके साथ अनुचिन्तन किया जाए। इसके लिए उन्हें यथासम्भव उचित पारिश्रमिक दिया जाए। इसके बाद जैन धर्म-दर्शन के विषयों की प्रामाणिक विवेचना प्रकाशित की जाए। इतर विद्वानों के मन्तव्यों को भी आमन्त्रित किया जाए। इस तरह जैन दर्शन की प्रामाणिकता को सिद्ध करेंगे तो इसका प्रभाव (प्रभावना अङ्ग सयग्दर्शन का) जन-जन के मन-मस्तिष्क पर पड़ेगा। आलेखों के प्रकाशन के साथ उनका आधुनिक संयंत्रों की सहायता से जीवंत प्रदर्शन भी किया जाए ताकि जन-जन पर गहरा असर हो।

(2) मैंने कुछ ऐसी ही एक योजना गुणस्थान मन्दिर की बनाई थी। कई समर्थ मुनियों आदि को बतलाई भी थी। मुनि श्री प्रमाणसागर ने उसे पूरा करने का वचन दिया और उसे गुणयतन के रूप में विकसित करा रहे हैं। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना है जिसे प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहेगा। मैं प. पू. मुनि श्री प्रमाणसागर जी को अन्तःकरण से नमोऽस्तु करता हूँ।

(3) जैन पूजा विधानों की पुस्तकों में बहुत अशुद्धियाँ छपी हैं जिससे पाठक वैसा ही पढ़ते हैं, अर्थ पर विचार नहीं करते। पद्यों में तो शब्दों की शुद्धता तुकबन्दी में विखण्डित है। अत: शुद्ध सार्थ जिनवाणी का प्रकाशन करना चाहता हूँ। हमारे समाज में जो अज्ञानता के कारण कुछ कुरीतियों ने घर कर लिया है, हमें स्याद्वाद-अनेकान्तवाद के माध्यम से आगमानुकूल उन्हें दूर करना चहिए और पूर्वाग्रहों को त्याग देना चाहिए। इस तरह समाज को एकता के सूत्र में पिरोया जा सकता है। धार्मिक और लौकिक क्रियाओं की जहाँ तक संभव हो आलोचना न की जाए। अहिंसा, अपरिग्रह और वीतरागता की जिससे वृद्धि हो या अधिक से अधिक अनुपालन हो उसे स्वीकार करना चाहिए।

जीवन की दिशा बदलने वाले 10 निमित्त -

(1) धनाढ्य लोगों की संगति से जहाँ गलत राह पकड़ना आसान हो रही थी मेरे पिताश्री तथा प.पू.गुरुवर्य पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री के प्रयत्न से कटनी विद्यालय में प्रवेश हुआ।

(2) वह छोटा बालक जो मुझे कटनी में गलत राह पर जाने से रोकने में निमित्त बना।

(3) मोराजी सागर में पं. दयाचन्द जी द्वारा तृतीया विभक्ति के एकवचन में हलन्त करने पर वेंत की सजा देना तथा जैनन्याय तीर्थ करना।

(4) बी. ए. द्वितीय वर्ष में मेरिट में चतुर्थ स्थान पाना जो मुझे मेरिट में और आगे बढ़ने की प्रेरणा में निमित्त बना। फलस्वरूप फाईनल में द्वितीय स्थान मिला। आगे पढ़ने की चाह बढ़ गई।

(5) रिसर्च करते समय मेरे निर्देशक गुरु श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य द्वारा जैनदर्शन तथा मीमांसा दर्शन के पारिभाषिक शब्दों

का सरलीकरण करना सिखाकर चिन्तन की दिशा बदल दी गई। मैं तर्कणा बुद्धि से विषय को सरल, स्पष्ट और सुबोध बनाने की कला सीख गया।
(6) नव्य न्याय की शैली समझने के योग्य बनाया पं. मूलशङ्कर शास्त्री जी ने। उन्होंने पुत्रवत् स्नेह देकर खान-पान की शुचिता भी समझाई।
(7) मेरी धर्मपत्नी जिसने मुझे नाते-रिस्तों, त्योहारों तथा धार्मिक क्रियाओं की अहमियत का बोध कराया।
(8) मैंने पूर्व मध्यमा (हाई स्कूल समकक्ष) के बाद इण्टर कामर्स में एडमीशन लिया जबकि मैं हाईस्कूल के विषयों से पूर्णत: अनभिज्ञ था। अत: जो हाईस्कूल पढ़कर आये थे वे मेरे से बहुत आगे थे परन्तु छ:माही परीक्षा तक मैं सबसे आगे आ गया और कालेज में मैं अध्यापकों का चहेता बन गया। परन्तु छ:माही परीक्षा के बाद मैंने प्राइवेट इण्टर परीक्षा का फार्म कामर्स छोड़कर कला विषयक विषयों के साथ भर दिया और मैं उत्तीर्ण (द्वितीय श्रेणी से) हो गया। सब मेरे साथी अचम्भित थे क्योंकि किसी को पता नहीं था इस परीक्षा बावत्। इसके बाद बी.एच.यू. में प्रवेश लेते ही मेरी अध्ययन विषयक रुचि बढ़ गई।
(9) बी.ए. तक मैं न तो फुलपैन्ट पहिनता था और न साईकिल चलाता था। एक बार फुलपैन्ट पहिनकर कालेज गया तो वहीं कालेज में बदल दिया। एम. ए. में आने पर साईकिल खरीद ली और फुलपेन्ट भी। अध्यापन काल में बहुत समय बाद स्कूटर और कार चलाना सीखा।
(10) सेवानिवृत्ति के बाद दो नई विधायें सीखीं - संस्कृत विद्वान् होने से ज्योतिष तथा आधुनिक दिनचर्या हेतु संगणक।

स्पोर्ट्स में अभिरुचि-

पढ़ाई के साथ स्पोटर्स में भी गहरी रुचि थी। कई तरह की दौड़, कुस्ती, मलखम्ब, कबड्डी, वालीवाल, हाकी, वेडमेंटन आदि खेलों में सक्रियता थी। कुस्ती, कबड्डी, दौड़, मलखम्ब आदि में कई बार पुरस्कृत हुए। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में हमारी कबड्डी टीम बहुत पापुलर थी जिसे वहाँ के कुलपति भी देखने आया करते थे। बाधा-दौड़, अमहरुद दौड़, बोरा दौड़ा, लंगडी दौड आदि सभी में मेरा प्रतिनिधित्व रहा है।

परिवार में परस्पर प्रेमभाव -

हमारा परिवार एक आदर्श परिवार माना जाता है। भाई-भाई में, भाई-बहिन में, पति-पत्नी में, माता-पिता के साथ सन्तानों का प्रेम जैसा पूर्व में था वैसा ही आज भी है। सब परस्पर एक-दूसरे का पूरा ध्यान रखते हैं। हमारे परिवार में आज भी पैसों के खर्च को लेकर कोई हिसाब किताब नहीं होता, कोई भी खर्च करे। हमारा बहिनों से तथा उनके बच्चों आदि से भी परम स्नेह है। इसका कारण मैं समझता हूँ कि मैंने अपने पिता को (माता तो थी नहीं) अंतिम समय तक उनका आदर तथा वैयावृत्ति की थी। सर्विस के कारण मैं उनके पास तो नहीं रह सका और वे मेरे पास स्थायीरूप से नहीं रहे। संभवत: इसी कारण मेरी सन्तानें मेरे से दूर रह रही हैं, सर्विस के कारण। यही एक कष्ट है परन्तु वे वहाँ रहकर भी सहयोग करते रहते हैं। वे सब अपने पास बुलाते हैं। परन्तु हम दोनों अभी नहीं जाना चाहते। वाराणसी से बेटी के शहर भोपाल में आकर अब जाकर व्यवस्थित हो पाए हैं परन्तु वाराणसी की याद बहुत आती है। यहाँ आने से मेरी शैक्षणिक गतिविधियों में रुकावट आ गई है। अब समझ में आ रहा है कि वृद्धावस्था में कोई व्यक्ति अपना मूल स्थान (कर्मस्थली) क्यों नहीं छोड़ना चाहता है। परिवार में परस्पर प्रेम बना है और जब आवश्यकता होती है तो वे आ जाते हैं। जब अशक्त होंगे तब देखा जायेगा। बेटी और एवं बहुयें भी बहुत स्नेह रखती हैं। पोतियाँ और नातिनें भी बहुत चाहती हैं। ऐसा ही प्रेमभाव परस्पर बना रहे यही भावना है।

चोरी का धन वापस पाया - एक बार जब मैं वाराणसी में अपना किराए का मकान बदल रहा था। (रवीन्द्रपुरी से गुरुधाम) तो एक टालीमेन ने मौका पाकर मेरी पत्नी के जेबर और कुछ रुपयों पर हाथ साफ कर दिया। सामान न मिलने पर दो दिन बाद पता चला कि पत्नी का पर्स चोरी हो गया है। विचार-विमर्श के बाद उस टाली सञ्चालकों पर सन्देह हुआ। योजनानुसार मैंने उसी स्थान पर गया जहाँ से उन्हें भाड़े पर लाए थे, संयोग से दोनों व्यक्ति वहाँ मिल गए। मैंने उनसे कहा कि आप दोनों ने हमारा सामान ट्रांसफर किया था परन्तु वह मकान ठीक नहीं है, मकान मालिक गुण्डा टाईप का है जिससे पास के दूसरे मकान में सामान ट्रांसफर करना है। अभी सामान खोला नहीं गया है। आप दोनों चलो। दोनों संयोग से तैयार हो गये। मैं उन्हें साथ में लेते गया। आने पर बाहर का दरबाजा बंद करके धमकी देकर पूँछताँछ की तो एक ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया क्योंकि उसे पता था कि मकान-मालिक थाने में बंद करा देगा, जहाँ बड़ी मार पड़ेगी। उसके स्वीकार करने पर दूसरे व्यक्ति को छोड़ दिया गया। अपराधी से कहा तुम्हें इनाम देंगे यदि वह पर्स वापस

कर दोगे। उसने कहा घर पर रखा है। तब मैं अकेले उसके साथ उसके घर गया। उसने सोने के स्वर्णाभूषण देकर कहा कि पर्स हमने फैंक दिया है और रुपया खर्च हो गये हैं। मैं अकेले वहाँ गया साईकिल से, अपरिचित स्थान था सो तुरन्त स्वर्णाभूषण लेकर चुपचाप वापस आ गए। पैसों बावत् कहा वह तुम्हारा इनाम समझ लेना। हम रिपोर्ट नहीं करेंगे। डर था कहीं कोई और छीन सकता है, उसका इलाका है परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, वह भी डरा हुआ था। दूसरे दिन वह पैसा लेकर आया रिपोर्ट के भय से तो उससे कहा रख लो। इस तरह मैंने अपनी पत्नी के स्वर्णाभूषण प्राप्त कर लिए।

अपनी माँ मानकर सास की सेवा की और रक्तदान भी किया -

मेरी सास विधवा थीं। उनकी एकमात्र पुत्री थी जिससे उनकी सेवा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था। अपनी स्वयं की मताा की तरह उनकी सेवा करते थे। वे प्रायमरी स्कूल में शिक्षिका थीं।

(1) एक बार शिखर जी कुछ लोगों के साथ गई थीं वहाँ शिखर जी के पहाड़ पर गिर पड़ीं जिससे उनके हाथ की कलाई चूर-चूर हो गई। उन्होंने फिर भी दर्शन यात्रा पूरी की और बनारस आ गईं। वहाँ घर पर मैं नहीं था मेरी पत्नी ने डॉक्टर को दिखाकर प्लास्टर चढ़वाया और मुझे को सूचना भिजवाई। मैं तुरन्त अपनी यात्रा बीच में छोड़कर वाराणसी आ गया और उनका ठीक से इलाज कराया। उनका हाथ पूरा ठीक होने पर दमोह भेजा। डॉ. ने कहा था अब ये इस हाथ से रोटी नहीं बेल सकेंगी, मगर व्यवस्थित फिजियोथिरेपी कराने से सब काम करने लगीं।

(2) एक बार पेट का आपरेशन काराया जिसमें मैंने अपना खून दिया और वाराणसी में बी.एच.यू. में इलाज कराया। परन्तु वे स्कूल की वजह से जिद्द करके देवरी (बडी) आ गईं। वहाँ ठीक से देखरेख न होने से घाव पक गया बहुत परेशानी के बाद घाव ठीक हो सका।

(3) वाराणसी में ही उनकी दोनों आँखों का मोतियाबिन्द का आपरेशन कराया ठीक से सेवा होने से विना चस्मे के पढ़ने लगीं। वे बहुत स्वाध्याय प्रेमी थीं। अबकी बार घर नहीं जाने दिया गया।

(4) एक बार वह घर पर ही दमोह में सीढ़ी से गिर गईं और हाथ की हड्डी टूट गई उसका भी इलाज कराया।

जब भी उनके पास जाते थे तो दामाद के रूप में उनसे मैं पैसा आदि नहीं लेता था, जिद्द करने पर ग्यारह रुपया लेते थे बस। उनका सामान खरीदकर रख आते थे। हिसाब नहीं करते थे। वे मेरा इंतजार करती थीं कि दामाद आकर हमारी समस्यायें सुलझा देवें।

मेरे आत्मीय जिनकी विशेष याद आती है-

वाराणसी में मेरे मित्र जिनका मेरे साथ पारिवारिक सम्बन्ध रहा तथा जिन्होंने मेरे सुख-दुःख की घड़ियों में सहयोग किया उनको मैं याद करना चाहता हूँ -

(1) मित्र प्रो. डॉ. नरेन्द्र कुमार सामरिया एवं प्रो. डॉ. जयकुमार सामरिया - ये दोनों मेरे सगे भाई से कम नहीं हैं। मुझे या मेरे परिवार को जब किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती थी तो आप पूर्ण तत्परतः से सहयोग करते थे। आज भी तैयार रहते हैं। सभी बच्चों की शादी की पूरी व्यवस्था डॉ. जयकुमार सामरिया ने सम्हाली। फ्लेट जब खरीदा तो समस्त औपचारिकतायें (रजिस्ट्री आदि) आपने ही कराकर हमें निश्चिन्त रखा। बीमारी में तो वे मेरे घरेलू डाक्टर थे। तीज-त्योहार बगैरह हम तीनों परिवार एक साथ मिलकर मनाते रहे। भोपाल आ जाने के बाद उनकी याद बहुत आती है, फोन पर ही सुख-दुःख बाँट लेते हैं।

(2) वाराणसी में ही हमारे कुछ अन्य आत्मीय मित्र थे जिनके साथ हमारे पारिवारिक सम्बन्ध थे। सुख-दुःख में साथ निभाते थे। उनमें से कुछ नाम हैं- डॉ. सागरमल जैन, प्रो. कमलेश कुमार जैन, प्रो. फूलचन्द प्रेमी, प्रो. अशोक जैन, प्रो. डी.एन.तिवारी, प्रो देवनाथ पाण्डेय, श्री जमना लाल जी, श्री ध्रुवकुमार जैन, श्री अभय कुमार जैन, श्री जयप्रकाश जैन, पं. शीलचन्द, डॉ. प्रेमचन्द नगला, प्रो. गोपबन्धु मिश्र, प्रो. उमा जोशी, विवेकानन्द आदि।

(3) पं. विमल कुमार सोंरया सपरिवार-संभवतः ये हमारे पूर्वभव के भाई हैं। इनकी कृपा से ही यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

(4) हितैषी गुरुजन - प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, प्रो. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री, पं. डॉ. पन्नालाल शास्त्री, पं. कैलास चन्द्र शास्त्री, पं. दरबारी लाल कोठिया, पं. अमृतलाल शास्त्री, पं. मूलशङ्कर शास्त्री, प्रो. खुशाल चन्द गोरावाल, प्रो. उदयचन्द जैन, पं. सूर्यनारायण उपाध्याय, प्रो. वागीश शास्त्री, प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, प्रो. पंजाब सिंह, प्रो. सत्यव्रत द्विवेदी, प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, पं. फूलचंद शास्त्री, डॉ. एन. के तैलङ्ग, पं. हीरावल्लभ शास्त्री, डॉ. आर.आर. द्रविड, डॉ. डी.सी.गुहा, पं. भोलानाथ, पं. रणवीर सिंह आदि।

(5) छात्र मित्र – मैं अपने सभी छात्रों को याद करता हूँ परन्तु कुछ ऐसे छात्र रहे हैं जिन्होंने मेरी बड़ी सेवा की है, कुछ नाम इस प्रकार हैं – डॉ. परमेश्वरदत्त शुक्ल, प्रो.मनुलता शर्मा, स्व.डॉ. रेणु कुमारी, प्रो. सदाशिव द्विवेदी, डॉ. विवेक पाण्डेय, डॉ. सन्तोष पाण्डेय, डॉ. पंकज कुमार 'ललित' आादि।

(6) भोपाल के हितैषी – भोपाल में भी मेरे सहयोगी मित्र हैं – डॉ. सर्वज्ञ, श्री प्रमोद चौधरी, पद्मचन्द्र जैन, मुल्तानचंद जैन, महेन्द्र जैन, श्री अजय जोशी, श्री सुकुमाल जैन, श्री अरुण जैन, श्री सन्तोष जैन, श्री अनूप जैन, श्रीमती शशि जैन, श्री राजीव जैन, श्री चन्द्रसेन जैन आदि।

मेरी अंतिम इच्छा होगी कि मैं समाधिमरण को प्राप्त करूँ।

संक्षिप्त कृतित्व एवं व्यक्तित्व

परिवार –

नाम प्रोफेसर (डॉ0) सुदर्शन लाल जैन

जन्मतिथि 01-04 -1944

जन्म स्थान ननिहाल, मञ्झला ग्राम (जिला सागर)

माता का नाम स्व0 श्रीमती सरस्वती देवी जैन

पिता का नाम स्व0 श्री मास्टर सिद्धेलाल जैन 'बडकुल'

पत्नी का नाम श्रीमती डॉ0 मनोरमा जैन, जैनदर्शनाचार्य (लब्ध स्वर्णपदक), पी-एच0डी0

पुत्र एवं बहुएँ –

1. संदीप कुमार जैन एम0टेक (कम्प्यूटर साइंस), पीएच0डी0 (U.S.A), ग्रूप डायरेक्टर, सिस्को, अमेरिका
2. संजय कुमार जैन एम0एस0सी0 (कम्प्यूटर साइंस, बी0एच0यू0) ग्रूप लीडर, सिस्को, अमेरिका
3. अभिषेक कुमार जैन एम0बी0ए0 (बी0 एच0यू0), ग्रूप मेनेजर, इन्स्योरेन्स, महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा ,मुम्बई
4. श्रीमती अर्चना (सोशल तथा धार्मिक), डा0 आरती (बालचिकित्सक) और नीलू (एमबीए)

पुत्री एवं दामाद –

1. डा0 श्रीमती मनीषा जैन एम0बी0बी0एस0 (गायनिक मुम्बई), डी0जी0ओ0, डीएनबी (गायनिक), असिस्टेंड प्रोफेसर, विदिशा।
2. प्रो0 डा0 अजय जैन एमसीएच पीड्रियटिक सर्जन पीपुल्स डीम्ड विश्वविद्यालय भोपाल

बहिनें –

1. स्व0 श्रीमती त्रिशला देवी जैन (खमरिया), 2. श्रीमती शान्ति देवी जैन (रहली), 3. स्व0 श्रीमती ललिता देवी जैन (पाटन)

पौत्रियाँ पांच – अर्चिता (पोस्ट ग्रेजुएसन, बेस्टन), संजिता (ग्रेजुएसन, केलिफोनिया), स्वस्ति (नवमी में), संस्कृति (सातवीं में) और अनिष्का (पहली में)।

नातिनें दो – अञ्जलि (नवमी में) और सृष्टि (सातवीं में)

शैक्षणिक योग्यता –एम0ए0(संस्कृत),पीएच0डी0, आचार्य (जैनदर्शन, प्राकृत और साहित्य), हिन्दी साहित्यरत्न ,जैन न्यायतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री ,जैनबौद्धदर्शन शास्त्री

शिक्षा संस्थान – दमोह, शान्तिनिकेतन कटनी, मोराजी सागर, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अध्यापन – वर्धमान कालेज बिजनौर(लेक्चरर 05-09-1967 से 09-08-1968), संस्कृत-पालि विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (लेक्चरर 12-08-1968 से 05-02-1984, रीडर 06-02-1984 से 06-02-1992 तथा प्रोफेसर 07-02-1992 से 30-06-2006) तथा वहीं पर 01-02-2004 से 31-03-2006 तक डीन (कला सङ्काय प्रमुख रहे) (5.8.1992 से 5.8.1995 तक तथा 6.8.2003 से 31.3.2006 तक दो बार संस्कृत-विभागाध्यक्ष बना)। सेवानिवृत्ति के बाद 11-03-2010 से 30-04-2012 तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में डायरेक्टर (शोध) रहे। कुलपति पद हेतु दो विश्वविद्यालयों

के पेनल में नाम रहा परन्तु बीमारी की बजह से राज्यपाल के आमंत्रण पर नहीं जा सके। इसी बीच मुझे बाईपास सर्जरी कराना पड गई।

शोध- निर्देशन - 44 शोधच्छात्रों ने मेरे निर्देशन में पीएच0डी0 उपाधि प्राप्त की जिनमें अधिकांश महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में कार्यरत हैं। कुछ के शोधप्रबन्ध भी छप चुके हैं।

सम्मान -पुरस्कार-

(क) विशिष्ट-

1. **महामहिम राष्ट्रपति पुरस्कार**, मानव संसाधन भारत सरकार द्वारा- प्राकृतभाषा में विशिष्ट योगदान हेतु 15 अगस्त 2012 को घोषित किया गया। इसके लिये प्रतिवर्ष 50000 रुपया आजीवन दिया जा रहा है। विशेष राजकीय समारोह पूर्वक राष्ट्रपति सभागार नई दिल्ली में महामहिम राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी के कर कमलों द्वारा दिनांक 17 जनवरी 2014 को सम्मान-पत्रादि दिया गया।
2. **उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ** द्वारा स्वलिखित ग्रन्थों पर चार पुरस्कार- सन् 1970-1971 में उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन पर; सन् 1993-1994 में देव शास्त्र और गुरु पर; सन् 1996—1997 में मुनिसुव्रत काव्य के हिन्दी अनुवाद व सम्पादन पर; सन् 2000-2001 में द्रव्यसंग्रह के हिन्दी अनुवाद और सम्पादन पर।
3. **आचार्य श्रीसुमतिसागर स्मृति श्रुतसंवर्धन पुरस्कार**- जैनविद्या के क्षेत्र में विशेष योगदान हेतु मुनिश्री उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के मङ्गल सान्निध्य में इन्दौर जैन समाज द्वारा रुपया 31000 तथा शाल, स्मृति चिह्न आदि देकर दिनांक 21 सितम्बर 2008 में सम्मानित किया।
4. **मुनिपुंगव सुधासागर पुरस्कार** - मुनिपुंगव श्री सुधासागर महाराज के मङ्गल सान्निध्य में अ0 भा0 दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की ओर से कोटा में विशेष सम्मान समारोह पूर्वक विशेष वेशभूषा आदि से अलंकृत कर तथा वग्गी पर भ्रमण कराकर रुपया 51000 दिया गया। इसमें से मैने 20000 रुपया सांगानेर श्रमण संस्कृति संस्थान को दान दे दिया।
5. **अ0भा0जैन विद्वत् शास्त्रि परिषद्** द्वारा परम पूज्य भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी महाराज के सान्निध्य में दिनांक 16 अक्टूबर 2015 में श्रवणबेलगोला में रुपया 11000 तथा शाल आदि से सम्मानित किया गया।
6. **श्री दि0 जैन पंचकल्याणक महोत्सव समिति बीना** द्वारा परम पूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी के सान्निध्य में सम्यग्दर्शन के सम्पादन हेतु रुपया 5000 तथा शाल आदि देकर सम्मान किया।
7. **श्री दिगम्बर जैन वर्षायोग समिति फिरोजाबाद** द्वारा परम पूज्य उपाध्याय श्री निर्भयसागर जी के सान्निध्य में 'पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन' के सम्पादन हेतु रुपया 5000 तथा स्वर्णनिर्मित ओम् का प्रतीक चिह्न आदि दिया।
8. **तिब्बती संस्थान** (डीम्ड विश्वविद्यालय) सारनाथ के संस्कृत विभाग ने दिनांक 16 मार्च 2013 को सम्मान समारोहपूर्वक सम्मानित किया।
9. **वाराणसी संस्कृत विद्वत्परिषद् वाग्विमर्श** द्वारा दिनांक 27 सितम्बर 2013 को विशेष सम्मान समारोह में कई संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया।
10. **वाराणसी विद्याश्री धर्मार्थन्यास काशी**, स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती शंकराचार्य न्यास के स्वामी श्री अविमुक्तेश्वरानन्द के सान्निध्य में दिनांक 18 सितम्बर 2012 को विशेष सम्मान समारोह में पुरस्कृत किया।
11. **दि0 जैन समाज सूरत** में मुनि श्री समतासागर जी के सान्निध्य में दिनांक 11 अक्टूबर 2015 में अ0भा0 जैन विद्वत् शास्त्री परिषद् की सङ्गोष्ठी में रुपया 21000 से पुरस्कृत किया।
12. **तीर्थक्षेत्र श्री कुंथुगिरि** जी में मुनिश्री कुंथुसागर के सान्निध्य में पुरस्कृत किया तो मैने भी वहां के विद्यालय के छात्रों के लिये पुरस्कार राशि रुपया 11000 दान में दे दी। ब्रह्मचारी भैया पीयूष शास्त्री के टूर में मैं सपत्नीक वहां गया था।
13. शिक्षक दिवस पर ई. 2007 में बी.एच.यू. कला संकाय सम्मान।

(ख) अन्य पुरस्कार व सम्मान-

1. **केलिफोर्निया जैन सेंटर मीलपिटास** (अमेरिका) में 18 से 27 सितम्बर 2004 पर्यूषण पर्व पर प्रवचन करने

गया था तो वहां पर सम्मान किया गया था। इसके अलावा मैं जहां जहां पर्यूषण, महावीरजयन्ती, सङ्गोष्ठी आदि में गया वहां सम्मान प्राप्त किया, जिसकी लिस्ट अलग से संलग्न है।

2. **कलकत्ता जैन महासङ्घ** (जुलाई 1989), रांची दि0 जैन पंचायत (10 जून 1992), **सुरभिग्राम डगमगपुर** (25 दिसंबर 2005), भगवान् **पार्श्वनाथ जन्म कल्याणक तृतीय सहस्त्राब्दि महोत्सव** समिति गणिनी प्रमुख ज्ञानमति जी के सान्निध्य में (7 जनवरी2005), **सारनाथ** सान्निध्य गणिनी प्रमुख ज्ञानमति जी (नवम्बर 2002), **अहमदनगर पाथर्डि जैन धार्मिक शिक्षाबोर्ड** (15 जनवरी 2017), **भोपाल** सान्निध्य आचार्यश्री 108 विद्यासागर जी (16 अक्टूबर 2016), **वाराणसी** श्वेताम्बर मुनि श्री विजयसूरि जी, **जयपुर** मुनि श्री उर्जयन्त सागर जी सान्निध्य, **जयपुर** चौमासा मुनि श्री विरागसागर जी ,उदयपुर जैनधर्म प्रभावना समिति, **सांगानेर** उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी सांनिध्य, **वाराणसी** बीएचयू विडला छात्रावास, संस्कृत विभाग बी0ए0; एम0ए0 छात्रों द्वारा।

(ग) अध्ययनकाल में छात्रवृत्ति -

1.पार्वतीबाई छात्रवृत्ति बी ए में (1960—1962); 2. शंकरगणेश कर्नाटक छात्रवृत्ति एम ए में (1962-1964), 3. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध छात्रवृत्ति (1964-1965)4. साहू जैन ट्रष्ट (1963) जो मैने नेशनल डिफेन्स (प्रधानमंत्री फंड) को दे दी।

प्रकाशित ग्रन्थ

1. **उत्तराध्ययन सूत्र - एक परिशीलन** -यह ग्रन्थ उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी से 1970-1971 वर्ष में पुरस्कृत किया गया। यही मेरा पी-एच0डी0 का विषय था। इसका प्रकाशन 1970 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण 2012 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ तथा प्राकृत भारती एकेडमी जयपुर के संयुक्त रूप से हुआ है। इसका गुजराती अनुवाद प्रोफेसर अरुण एस जोशी संस्कृत विभागाध्यक्ष गुजरात विश्वविद्यालय भावनगर ने किया जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से 2001 में प्रकाशित हुआ।
2. **संस्कृत प्रवेशिका** - इसके पांच संस्करण निकल चुके हैं (1974; 1981; 1983; 1989; 2003) इसके प्रथम चार संस्करण सिद्ध सरस्वती प्रकाशन से तथा पंचम संस्करण तारा बुक एजेंसी वाराणसी से छपे हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता है कि प्रत्येक पेज को प्राय: तीन भागों में विभाजित किया गया है— ऊपर का भाग सामान्य नियम बतलाता है, मध्य का भाग विशेष नियम तथा नीचे का भाग मूल प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण से संबन्धित है। पूरे ग्रन्थ को पांच खंडों में विभक्त किया गया है—व्याकरण, अनुवाद, निबन्ध, अपठित तथा परिशिष्ट। संस्कृत व्याकरण से संबन्धित समस्त सामग्री एक साथ व्यवस्थित उपलब्ध होने से कक्षा 10 से एम0ए0 तक के छात्रों और अध्यापकों को लोकप्रिय हो गयी है। इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व अब तारा बुक एजेन्सी वाराणसी ने ले लिया है।
3. **प्राकृत-दीपिका** - इसका प्रथम संस्करण 1983 में तथा द्वितीय संस्करण 2005 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित हुए हैं। इसमें प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों के सूत्रों के साथ आधुनिक भाषाविज्ञान का समावेश है। इसके चार खंड हैं - व्याकरण, अनुवाद, अपठित (संस्कृत छाया व हिन्दी अनुवाद के साथ विभिन्न प्राकृत भाषाओं के उद्धरण) तथा परिशिष्ट (शब्दकोश आदि)।
4. **देव, शास्त्र और गुरु** - उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान से इसे ई0 1994 में पुरस्कृत किया गया है। इसके चार संस्करण निकल चुके हैं (जुलाई 1994; सितम्बर 1994; फरवरी 1995)। इसमें दिगम्बर जैन परम्परानुसार देव (ईश्वर या तीर्थंकर), शास्त्र (आगम या जिनवाणी) और गुरु (मुनि या वीतरागी साधु) का प्रामाणिक विवेचन है तथा मूलग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। दिगम्बर जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की विस्तृत सूची दी गई है। इसका प्रकाशन अ0भा0 दि0जैन विद्वत् परिषद् ने किया है। जैन समाज में बहुत लोकप्रिय है।
5. **मुनिसुव्रत काव्य**—यह महाकाव्य स्वोपज्ञ संस्कृत टीका के साथ महाकवि अर्हद्दास द्वार रचित है जिसका मैंने हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावना के 62 पृष्ठों में जैन काव्य साहित्य का ऐतिहासिक परिचय दिया है। इसका प्रकाशन सिङ्घई टोडरमल जैन कटनी वालों ने ई0 1997 में किया है। उत्तरप्रदेश संस्कृत एकेडमी ने ई0 1997 में पुरस्कृत किया है।
6. **तर्कसंग्रह** - यह न्याय दर्शन का तर्क ग्रन्थ पं0 श्री अन्नंभट्ट द्वारा लिखा गया है। इस पर मैंने हिन्दी अनुवाद तथा स्वोपज्ञ हिन्दी मनीषा व्याख्या लिखी है। छात्रों में बहुत लोकप्रिय हुई है। सिद्ध सरस्वती प्रकाशन से इसके दो संस्करण (1982; 2004) निकले हैं। इसके बाद दूसरे प्रकाशक ने इसके प्रकाशन का अधिकार ले लिया।

7. **कर्पूरमञ्जरी** – प्राकृत भाषा में रचित यह सट्टक नामक नाट्यविधा का काव्य महाकवि श्री राजशेखर द्वारा लिखा गया है। इसमें महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों का समावेश है। कई विश्वविद्यालयों में इसे पाठ्यग्रन्थ के रूप में पढाया जाता है। इसके हिन्दी अनुवाद के साथ मैंने संस्कृत छाया और मनोरमा संस्कृत व्याख्या भी की है। प्रस्तावना में प्राकृत भाषा सम्बन्धी विस्तृत विवेचना की गई है। इसका प्रकाशन ई0 1983 में भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी ने किया।
8. **द्रव्यसंग्रह**—सिद्धान्तिदेव श्री नेमिचन्द्राचार्य द्वारा लिखित जैनदर्शन का यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक और प्रचलित है। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसके हिन्दी अनुवादक हैं मुनि श्री सुन्दरसागर जी। गागर में सागर की तरह इस ग्रन्थ का मैंने सम्पादन किया है तथा विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इसका प्रकाशन ई02000 में सिद्ध सरस्वती प्रकाशन वाराणसी से हुआ। उत्तरप्रदेश संस्कृत एकेडमी ने ई02000–2001 में पुरस्कृत करके इसका सम्मान बढाया।
9. **सम्यग्दर्शन**—आचार्य विरागसागर की इस कृति का मैंने सम्पादन किया तथा विस्तृत भूमिका लिखी। इसका प्रकाशन ई0 2002 में श्री सम्यग् दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ भिंड से हुआ। इसके बाद इसके कई संस्करण निकले।
10. **जैन कुमारसम्भव** – महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव को माध्यम बनाकर यह महाकाव्य श्री जयशेखर सूरि ने लिखा है। इस पर श्रीमती डा0 नीलमरानी श्रीवास्तव ने पीएच0डी0 की उपाधि प्राप्त की है। इसका सम्यक् सम्पादन करके विस्तृत प्रस्तावना मैंने लिखी है। इसका प्रकाशन ई0 2011में पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी तथा प्राकृत भारती एकेडमी जयपुर ने संयुक्त रूप से किया है।
11. **पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन**—उपाध्याय मुनिश्री निर्भयसागर (आज आचार्य हैं) जी द्वारा लिखित इस ग्रन्थ का मैंने संदर्भ ग्रन्थों से उद्धरण देकर सम्पादन किया है तथा विस्तृत प्रस्तावना लिखी है। इसमें जैन पूजा क्या है, उसका साध्य क्या है ,उसका साधन क्या है, पूज्य कौन है, पूजक कौन है, पूजा कितने प्रकार की है, पूजा का फल क्या है, आदि का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन है। देवदर्शन, मंत्र, तंत्र, वास्तु आदि का भी विवेचन है। इसका प्रकाशन ई0 2009 में निर्भय निर्ग्रन्थ वाणी प्रकाशन नागलोई दिल्ली से किया गया है।
12. **धरती के देवता** – यह ग्रन्थ मुनि सुनीलसागर द्वारा लिखित है। इसका मैंने सम्पादन किया है। पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पुस्तकालय भेलूपुर वाराणसी से ई0 1999 में प्रकाशन हुआ है।
13. **कषायपाहुड (भाग 16)**—यह दिगम्बर जैन आगम का प्रथम सैद्धान्तिक सूत्र ग्रन्थ है जो आचार्य गुणधर द्वारा ईसा से प्रथम शताब्दी पूर्व लिखा गया था। इस पर आचार्य वीरसेनस्वामी द्वारा रचित जयधवला टीका (संस्कृत–प्राकृत मिश्रित) तथा हिन्दी अनुवाद के साथ ई0 1990 में भारतीय दिगम्बर जैन सङ्घ मथुरा द्वारा प्रकाशित है। इसके सम्पादन में मैं सहयोगी रहा हूं।
14. **तैत्तरीय प्रातिशाख्य (15)** – यह प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा द्वारा लिखित हिन्दी अनुवाद के साथ ई0 1993 में संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च, संस्कृत विभाग बीएचयू वाराणसी से प्रकाशित है। ग्रन्थमाला सम्पादक के रूप में मैंने सम्पादन किया है।
15. **आचारांगसूत्र एक अध्ययन** – यह परमेष्ठी दास जैन का पीएच0डी0 का शोधप्रबन्ध है। इसका प्रकाशन ई0 1987 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से हुआ है। इसके सम्पादन में डा0 सागरमल जैन के साथ मेरा भी सहयोग रहा है।
16. **भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जैनधर्म का योगदान** – इलाहाबाद में आयोजित विद्वत् सङ्गोष्ठी में पठित आलेखों का मैंने सम्पादन किया है। डा0 प्रेमचंद जी इलाहाबाद के सौजन्य से इसका प्रकाशन अ0भा0 दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने ई0 1996 में किया था।
17. **महावीरकालीन समाज, संस्कृति और दर्शन की वर्तमान में प्रासङ्गिकता** – यह डा0 नागेन्द्र पाण्डेय का पी–एच0डी0 का शोध प्रबन्ध है। इसका मैं ग्रन्थमाला सम्पादक रहा हूं। इसका प्रकाशन ई0 2011 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से हुआ है।
18. **कर्मग्रन्थ –शतक (कर्मविपाक भाग 5)** – यह ग्रन्थ श्री देवेन्द्र सूरी द्वारा विरचित है। इसका हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या पं0 कैलाशचंद्र शास्त्री ने की है। ई0 2011 में इसका प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ से हुआ। मैंने ग्रन्थमाला सम्पादक के रूप में काम किया है।
19. **प्राकृत हिन्दी कोश (पाइअसद्दमहण्णवो)**—पं0 हरगोविन्ददास त्रिक्रमचंद सेठ विरचित पाइअसद्दमहण्णवो का

किञ्चित् परिवर्तितरूप। मूल सम्पादक डा0 के. आर. चन्द्र अहमदाबाद। मैंने इसमें ग्रन्थमाला सम्पादक के रूप में कार्य किया है तथा प्रारम्भ में सात पृष्ठीय वाग्व्यवहार कोश (हिन्दी से प्राकृत) जोडा है। इसका यह द्वितीय संस्करण ई0 2011 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी और प्राकृत भारती एकेडमी जयपुर दोनों ने मिलकर किया है।

20. **द्रौपदी कथानक** – यह डा0 शीला सिंह का शोध प्रबन्ध है। इसका प्रकाशन ई0 2011 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ से हुआ है। मैं ग्रन्थमाला सम्पादक रहा हूँ।
21. **जैनदर्शन और शैवसिद्धान्त में साधना पक्ष : एक तुलना** –डा0 श्रीमती शारदा सिंह का यह पीएच0डी0 का शोधप्रबन्ध है। ई0 2011 में इसका प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से हुआ है। मैं ग्रन्थमाला सम्पादक रहा हूं।
22. **इन्द्रप्रस्थ से मुक्तिधाम** – इसमें मेरी प्रस्तावना है। लेखक मुनि सुन्दरसागर हैं। ई01999 में इसका प्रकाशन पार्श्वनाथ दि0जैन सोसायटी आर्यनगर, गोरखपुर ने किया है।
23. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 4)** – मूल लेखक डा0 नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य। मैनें इस ग्रन्थ के चारों भागों में समागत ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की अकारादिक्रम से दो अनुक्रमणिकायें तैयार की हैं। इसका प्रकाशन ई01974 में अ0भा0 दि0 जैन विद्वत्परिषद् ने किया है।

(ख) अभिनन्दन ग्रन्थ-सम्पादन

1. सरस्वती वरदपुत्र पं0वंशीधर व्याकरणाचार्य बीना, ई0 1989; वाराणसी प्रकाशन
2. पं0 जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ, कटनी, ई0 1989, प्रकाशन कुंडलपुर
3. प्रो0 डा0 सागरमल जैन शाजापुर (जैन विद्या के विविध आयाम, खंड 6) ई0 1998; पी0वि0 वाराणसी

(ग) अप्रकाशित ग्रन्थ –

1. कुमारपालचरितम् – हेमचन्द्राचार्य विरचित, हिन्दी अनुवाद।
2. स्वरूपसम्बोधन- भट्टाकलंक विरचित, संस्कृतव्याख्या। इसी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित।
3. अनेकान्त जयपताका भाग एक – आचार्य हरिभद्रसूरि, हिन्दी अनुवाद।

(घ) पत्रिका सम्पादक

1. स्याद्वाद पत्रिका, ई0 1963 स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी।
2. संस्कृत सौदामिनी ई0 2004—2005, संस्कृत विभाग ,बीएचयू वाराणसी
3. रिसर्च जर्नल, कलासङ्काय ई0 2003-2004; 2004-2005 वाल्यूम 09 तथा 10 बीएचयू वाराणसी
4. श्रमण ई0 2010 से 2012 तक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
5. वीतराग वाणी मासिक, सैलसागर चौराहा, टीकमगढ़ (म.प्र.) 472001, मार्च 2018 से

प्रशासनिक एवं शैक्षणिक पद

1. अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बीएचयू (प्रथम वार) 06 अगस्त 1992 से 05अगस्त 1995 तक
   (द्वितीय वार) 06 अगस्त 2003 से 31 मार्च 2006 तक
2. डीन, कला सङ्काय बीएचयू 01 फरवरी 2004 से 31 मार्च 2006 तक
3. डायरेक्टर (शोध), पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी 11मार्च 2010 से 30 अपैल 2012 तक
4. अध्यक्ष, कला सङ्कायस्थ उर्दू,मराठी,म्यूजोलोजी, जर्मन, भारत कलाभवन, एथेलेटिक एसोसियेशन, चार छात्र हास्टल्स, (डीन कार्यकाल में)
5. कुलपति पद हेतु पैनल में नामिनेशन दो विश्वविद्यालयों में 2006-07
7. डायरेक्टर पद हेतु आमंत्रण, प्राकृत भारती अकादमी जयपुर से ई02012
8. एकेडेमिक कौंसिल मेम्बर बीएचयू (विभागाध्यक्ष तथा डीन काल में)
9. सदस्य शैक्षणिक कमेटी, ज्ञानप्रवाह वाराणसी ई0 01 अप्रैल 2004 से 31 मार्च 2006 तक
10. वार्डन विरला छात्रावास बीएचयू, ई0 जून 1991 जुलाई 1992
11. सदस्य आल इंडिया ओरियंटल कान्फरेन्स ई0 1978
12. कार्यकारिणी सदस्य तथा कोषाध्यक्ष, प्राकृत जैनविद्या परिषद्, आ0इं0ओरियन्टल कान्फरेन्स ई01989

13; सदस्य बीएचयू University Disciplinary committee ,Nonteaching staff Grievances committee,NAAC Steering committee, Enquiry committee, Revision Fee structure committee,Moderation committee

,Joint Advisory Committee for AIHC & Arts, 46th Core convocation Committee (Arts Faculty Fifth), South Campus Barkchcha Committee, B.H.U.development & teachers Deputation Committee, examination,time table & Admission committee etc.

14. मंत्री अ0भा0दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ई0 1992 से 1996
15. मंत्री दिगम्बर जैन समाज काशी, नरिया मन्दिर, वाराणसी ई0 1996-2003; 2009-2011
16. उपाध्यक्ष / उपमंत्री सन्मति जैन निकेतन नरिया, वाराणसी ई0 14.8.1980
17. उपाधिष्ठाता श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी ई0 9.7.1978
18. शिक्षानिधि सदस्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी ई0 1996
19. अध्यक्ष प्रबंधतंत्र श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी ई0 2009
20. मंत्री / निदेशक, सम्पादक, सर्वज्ञ भारती, श्री गणेश वर्णी संस्थान नरिया, वाराणसी ई0 1992-1993
21. उपाध्यक्ष अ0भा0 दिगम्बर जैन विद्वत्मरिषद् (द्वितीय) ई0 2000-2003
22. कार्यकारी अध्यक्ष अ0 भा0दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् (द्वितीय) ई0 2003-2011
23. अध्यक्ष माडरेशन बोर्ड उत्कल विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, उडीसा ई0 2004
24. कार्यकारिणी सदस्य भा0 दिगम्बर जैन सङ्घ, मथुरा
25. सदस्य अध्ययन बोर्ड और माडरेशन, जैनदर्शन और प्राकृत-जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1986-1988; 1996-1998
26. सदस्य प्राकृत अनुसंधान उपाधि समिति, संम्पूर्णानन्द सं0 वि0 वि0; 1993-1997
27. सदस्य केन्द्रीय मंडल आयुक्त, उच्चशिक्षा मध्यप्रदेश शासन, सतपुडा भवन भोपाल, 2003
28. सदस्य विद्वत्परिषद् काशी दि0जैन समाज भगवान महावीर त्रिसहस्राब्दि जन्मोत्सव 2004
29. संयोजक संबद्धता निरीक्षकमंडल संम्पूर्णानन्द सं0वि0वि0 1995-1996
30. सदस्य संस्कृत परीक्षा बोर्ड मगध विश्वविद्यालय, बोधगया 1994-95
31. सदस्य बीएचयू पुस्तकालय कमेटी 2005
32. संयोजक बलसाहित्य पुरस्कार समिति अ0भा0दिग0जैन विद्वत्परिषद्
33. सदस्य विद्वत्सलाहकार समिति पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी 1984; 2007- 2012
34. सदस्य एकेडिमिक समिति, वही, 2004
35. सदस्य प्रकाशन समिति, वही, 1988- 2000
36. सदस्य वर्किंग ग्रुप समिति, सेन्टर फार डेव्हलपमेंट आफ एडवांस्ड कंप्यूटिंग,उद्योग भवन, विश्वविद्यालय कैम्पस, पूना 1988
37. सदस्य, वर्ल्ड जैन कौंसिल 2600 वर्थ जन्मोत्सव लार्ड महावीर इंटरनेशनल कोआर्डिनेशन कमेटी 2000
38. सदस्य उडाका दल स्थानीय परीक्षा तथा पीएमटी परीक्षा बीएचयू 2000-01
39. सदस्य लोकसेवा आयोग परीक्षा तथा अन्य विश्वविद्यालयीय परीक्षा
40. संस्कृत अनुवाद विशेषज्ञ महात्मा गांधी अन्ताराष्ट्रीय हिन्दी वि0वि0 भाषाकेन्द्र, लखनऊ 2004
41. सदस्य शोध सलाहकार समिति, सं. सं. वि.वि. 20.3.97 - 14.11.2003
42. संस्कृत विभाग, अध्यापक संघ प्रतिनिधि, दिनांक 26.11.1977

विषय- विशेषज्ञ के रूप में नियुक्ति हेतु तथा शोधोपाधि मौखिकी हेतु आमंत्रण

1; उत्तरप्रदेश उच्चतर माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग, माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग, इलाहाबाद 1989; 1993; 1994; 1996; 2001; 2004; 2005; 2014
2. आर्य महिला कालेज कमच्छा, वाराणसी 1993; 2002
3. डी0ए0व्ही0 कालेज वाराणसी 1993; 1994; 2001
4. वसन्त कन्या महाविद्यालय राजघाट , वाराणसी 1993; 2002
5. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली 1993; 1995; 1996; 1999; 2004

6. पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय जौनपुर (अनेकबार),1990; 1991; 1999; 2012
7. रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर,1994
8. रिसर्च एसोसियेट प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व बीएचयू 1993
9. संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1996; 2004
10. मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय उदयपुर 2000
11. पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, बीएचयू, पटना विश्वविद्यालय, जम्मू विश्वविद्यालय, रांची विश्वविद्यालय, कानपुर, बरेली, आगरा, लखनऊ, फैजाबाद, भागलपुर, कलकत्ता, विहार स्टेट विश्वविद्यालय, लाडनूं जोधपुर; पटियाला, भुवनेश्वर, दिल्ली चंडीगढ, यू0पी0एस0सी0 आदि।

पर्यूषण पर्व और महावीर जयन्ती पर विशिष्ट व्याख्यान एवं सम्पादन

1. बिजनौर जैन मन्दिर, सितम्बर 1967
2. कानपुर दि0 जैन मन्दिर, शीशामऊ तथा पंचायती मन्दिर, 1982; 1985
3. पनागर जैन मन्दिर, मार्च 1983
4. अलीगढ पल्लीवाल जैन मन्दिर, अगस्त- सितम्बर 1986; 1987
5. कानपुर जैन मन्दिर, सितम्बर 1985
6. ललितपुर दि0जैन पंचायती मन्दिर, अप्रैल 1985,1987
7. आरा आदिनाथ ट्रष्ट, अप्रैल 1985 ;1988
8 मेरठ जैन मन्दिर, अगस्त-सितम्बर 1989
9. दिल्ली समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय जैन मन्दिर, सितम्बर 1988
10. आगरा जैन मन्दिर, अप्रैल 1989
11. जबलपुर जैन मन्दिर, फुहारा अगस्त-सितम्बर 1994
12. जबलपुर जैनमन्दिर, लाडगंज अप्रैल 1994
13. वाराणसी, अगस्त -सितम्बर 1992; 1995; 1996
14. इलाहाबाद जैन मन्दिर, अप्रैल 1995
15. जयपुर जैन मन्दिर, दीवानजी, सितम्बर 1997
16. कुंडलपुर तीर्थक्षेत्र, अप्रैल ,1996
17. सतना जैन मन्दिर, सितम्बर 1999
18. भोपाल नन्दीश्वर जैन मन्दिर, सितम्बर 2015; 2017
19. वाराणसी संपूर्णानन्द, अप्रैल ,2003
20. अमेरिका केलिफोर्निया मीलपिटास, सितम्बर 2004

सङ्गोष्ठी एवं कार्यशाला (अध्यक्षता, मुख्यवक्ता, उद्घाटनकर्ता, पत्रवाचक तथा संयोजक)

1. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान
   (यूजीसी सेमिनार, उदयपुर विश्वविद्यालय) अक्टूबर 1973; पत्रवाचन
2. आत्मा : अस्तित्व और स्वरूप
   (आल इंडिया ओरियण्टल कानफरेन्स, कुरुक्षेत्र वि0वि0) सितम्बर 1974; पत्रवाचन
3. परिवर्तन और विकास , (श्री निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान वाराणसी) अक्टूबर 1975; पत्रवाचन
4. जैनदर्शन में योग (ध्यान)
   (स्वामी रामयोगी अन्ताराष्ट्रीय योग सेमिनार ,कानपुर) 1980, पत्रवाचन
5. कालिदास की नाट्यकृतियों की प्राकृतभाषायें
   (यूजीसी सेमिनार, कोयलसा ,आजमगढ) 9-11 नवम्बर 1983; पत्रवाचन
6. भारतीय दर्शनों में मोक्ष की अवधारणा
   (काशी तत्त्वसभा थियोसाफिकल सोसायटी, वाराणसी) 29 जनवरी 1984; पत्रवाचन ,अध्यक्षता

7. वाराणसी से प्रकाशित स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत महाकाव्यों का समिक्षात्मक विवेचन
(यूजीसी सेमिनार नागपुर विश्वविद्यालय) 10-12 अक्टूबर 1984; पत्रवाचन ,अध्यक्षता
8. आगम ग्रन्थों में उल्लिखित अङ्गग्रन्थों की विषयवस्तु का तुलनात्मक विवेचन
(आल इंडिया सेमिनार अहमदाबाद विश्वविद्यालय) 18 अक्टूबर 1986; पत्रवाचन
9. महाराष्ट्रीय प्रकृत में मूल 'य' वर्ण का अभाव
(प्राकृत जैन विद्या सेमिनार पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) 28-31 दिसम्बर 1987, पत्रवाचन
10. पाठ्यक्रमों में महाराष्ट्री और जैन महाराष्ट्री प्राकृतों का आनुपातिक समावेश, 1987
(प्राकृत जैनागम विभाग संम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी)
11. आचार्य कुन्दकुन्द का परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव, जनवरी 1988
(कुन्दकुन्द भारती ,नई दिल्ली)
12. आहार-विहार में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का समन्वय,आ0कुन्दकुन्द की दृष्टि में, नवम्बर 1988
(अ0भा0 दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् सेमिनार,जबलपुर)
13. जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य : एक अध्ययन, दिसम्बर 1988
(पार्श्वनाथ विद्यापीठ सेमिनार, कलकत्ता)
14. वेदान्त और जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन
(संस्कृत विभाग बीएचयू,वाराणसी,1989)
15. प्राकृत और संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन
(प्राकृत सेमिनार ,बंगलोर, दिसम्बर 1990)
16. जैन दर्शन में शब्दार्थ- संबन्ध
(सेमिनार विद्वत्परिषद् ,सतना, मई 1990)
17. ज्ञाने प्रमाणत्वं, प्रमाण -फलयोः भेदाभेदौ च
(संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय बीएचयू, वाराणसी , मार्च 1993)
18. महाकवि राजशेखर कृत कर्पूरमञ्जरी में उल्लिखित ऐतिहासिक पुरुष
(रानी दुर्गावती विवि, तथा मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, जबलपुर, मार्च 1994)
19. क्या मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है
(अ0भा0दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सेमिनार, कटनी, अक्टूबर 1994)
20. जैन श्रमण संस्कृति की प्राचीनता और वैदिक संस्कृति
(अ0 भा0 दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् सेमिनार, इलाहाबाद,अप्रैल 1995)
21. महाकवि ज्ञानसागर
(सांगानेर सेमिनार, जयपुर, जून 1994)
22. पं0महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य का जैन न्याय का अवदान
(अम्बिकापुर सेमिनार, अप्रैल 1994)
23. वीरोदय में ऋतुवर्णन
(अ0भा0 दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, अजमेर, अक्टूबर 1994)
24. साधु और गृहस्थ की आचार- संहिता
(बाहुबली गोम्मटेश्वर, कर्नाटक, दिसम्बर 1993)
25. जयोदय काव्य में पदलालित्य
(अ0भा0दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, मदनगंज, राजस्थान, अक्टूबर 1995)
26. जैन पुराण वाङ्मय में मानवकल्याण
(राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, दिसम्बर 1994)
27. स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत वेदव्याख्या
(संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ,1995)

28. वेदों में जैनधर्म के संकेत
    (संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, फरवरी 1996)
29. जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण
    (लखनऊ, 3 जून 1995)
30. सागारधर्मामृत : एक चिन्तन
    (शास्त्री परिषद् , नागौर, राजस्थान, 2000)
31. जैन वाङ्मय में मानवीय मूल्य
    (दिल्ली विश्वविद्यालय, सितम्बर, 2000)
32. जैन पुराणों में हनुमान का चरित्र
    (राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, वीरेश्वर भवन,मई 1996)
33. पातञ्जल योग और जैन योग सान्निध्य पं. यासप्रवर डॉ. अरुण विजय जी
    (श्वेताम्बर जैनभवन, मुम्बई, 5-6 अक्टूबर 2002)
34. जैन- बौद्धपरम्परायां ज्ञाने प्रमाणत्वम्
    (संस्कृत विभाग, पटना विश्वविदयालय, अप्रैल 2000)
35. Promoting peaceful Co-existence through Jainism
    (Jain Centre of Northern California, Inc, Milpitas,CA ,USA, October 9,2004)
36. सभी दर्शनों में अनेकान्तवाद की अनिवार्यता
    (पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, सितम्बर 2005)
37. दलित साहित्य एक विमर्श
    (यूजीसी सेमिनार ,वसन्त कन्या महाविद्यालय वाराणसी, नवम्बर 2005)
38. भगवान् महावीर और उनका अनेकान्तवाद
    (संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, अगस्त 2001)
39. भारतीय दर्शनों में आत्मवाद
    राजस्थान वि.वि. जयपुर, 24 जून 2008
40. भारतीय दर्शनों में ईश्वरवाद (राजस्थान वि.वि. जयपुर, 25 जनवरी 2008)
41. जैन आगमों में नारी (राजस्थान वि.वि.जयपुर 25 जनवरी 2008)
42. जैन आगमों में वर्णव्यवस्था और शूद्रों की स्थिति (राजस्थान वि.वि. जयपुर 2008)
43. बौद्ध दर्शन पर विशेष व्याख्यान, मु0अतिथि, सम्पूर्णानन्द वि0विद्यालय वाराणसी, 30-11-1995
44. संयोजक, सङ्गोष्ठी जिनेन्द्र वर्णी ,जैन समाज काशी, जून 1997
45. वक्ता, भगवान ऋषभदेव, कुलपति सम्मेलन, हस्तिनापुर, 4-6 अक्टूबर 1998
46. संयोजक, मन्दिर वेदी प्रतिष्ठा, नरिया मन्दिर, सान्निध्य स्वास्थ्य मंत्री अरविंद जैन, 26-8-2000
47. संयोजक, सङ्गोष्ठी, संस्कृत विभाग, संस्कृतविषयाणामुपयोगिता सांप्रतिके समये 21-23 सितंबर 2000
48. व्याख्यान, संस्कृत विभाग, मीमांसा दर्शन का स्वरूप, 5-2-1995
49. व्याख्यान, जैनदर्शन का स्वरूप, संस्कृत विभाग, 1-1-1995
50. व्याख्यान, बौद्धदर्शन का स्वरूप, संस्कृत विभाग, 22-1-1995
51. व्याख्यान, संस्कृत विभाग, वैदिक संस्कृत और प्राकृत भाषा : तुलना, 26-3-1995
52. संयोजक, संस्कृत दिवस, संस्कृत विभाग, 9-9-1992 और 25-11-2002
53. संयोजक, गणिनी प्रमुख ज्ञानमति माताजी का व्याख्यान, मालवीयभवन, बीएचयू, 21-11-2002
54. मु0वक्ता, जैनदर्शने प्रमाणमीमांसा, संपूर्णानन्द विवि, 8-2-1997
55. अध्यक्षता, यूजीसी सेमिनार, धर्म - दर्शन विभाग, बीएचयू, 28-2-2005
56. वक्ता, शास्त्री परिषद् , सागारधर्मामृत, सान्निध्य गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमति , 2000

57. मु0अतिथि, राष्ट्रीय सेवा योजना, संपूर्णानन्द, युवा महोत्सव, सङ्गोष्ठी 'एड्स' 1-4-2001
58. मु0वक्ता, जैन आचार-विचार, काशी तत्त्वसभा थियोसिफकल सोसायटी, कमच्छा, वाराणसी 29-1-1984
59. वक्ता, महावीर जयन्ती, संपूर्णानन्द, अप्रैल, 1985; 1986
60. संयोजक, सांस्कृतिक कार्यक्रम, कलासङ्काय, अनेकान्त भारती, 26-7-1983
61. मु0वक्ता, 'जैनदर्शन में ईश्वर ' पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ, अप्रैल 1993
62. मु0वक्ता, पुनश्चर्या पाठ्यक्रम, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली 13-14 मार्च 1995
63. मु0वक्ता, भारतीय दर्शन, पटना विश्वविद्यालय, 2000
64. वक्ता, वैदिक संस्कृति, संस्कृत विभाग, मानव सम्पाधन विकास मंत्रालय, 1-1-1995
65. वक्ता ,जैन तत्त्व, तेरापंथ पंचायत भवन, नागौर, राजस्थान, 21-1-2000
66. वक्ता ,संस्कृत जैन वाङ्मय में मानवीय मूल्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विवि, 16-9-2000
67. अध्यक्ष एवं वक्ता, डा0 ए0एन0उपाध्ये व्यक्तित्व और कृतित्व, गाजियाबाद सङ्गोष्ठी, 2000
68. वक्ता,श्वेताश्वतर उपनिषद् में जैन तत्त्व ,ऋषभदेव फाउंडेशन दिल्ली,1-2अप्रैल 1997
69. वक्ता, पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर और श्वेताम्बर दृष्टि, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,1-2अप्रैल 1997
70. वक्ता, समयसार में दृष्टान्त सङ्गोष्ठी, कुन्दकुन्दभारती, नई दिल्ली 5-6 जून 2003
71. संयोजक, सार्वभौम संस्कृत शिक्षणशिविर, संस्कृत विभाग, 2005
72. संयोजक, व्याख्यानमाला (दो) गणेश वर्णी संस्थान नरिया वाराणसी, 29-31अगस्त 1993
    (पं0 पद्मभूषण बलदेव उपाध्याय एवं पं0 जवाहरलाल शास्त्री भिंडर)
73. अध्यक्ष, सङ्गोष्ठी, दलित साहित्य : एक विमर्श, वसंत कन्या महाविद्यालय, वाराणसी ,26-11-2005
74. वक्ता, धर्म की परिभाषा, संस्कृतविभाग, 25-11-2002
75. वक्ता, जैन तथा पातञ्जल योग, सङ्गोष्ठी पंन्यासप्रवर डा0 अरुणविजय जी, मुंबई, 5-6अक्टूबर 2002
76. पत्रवाचन, काशी के जैन पर्व और उत्सव,सङ्गोष्ठी, ज्ञानप्रवाह, वाराणसी, 3-8-2003
77. अध्यक्ष, बुद्ध के सामाजिक विचार, पालिबौद्ध अध्ययन विभाग, 2548बुद्ध जयन्ती, 4-5-2004
78. स्वागत भाषण,पं0 वासुदेवशरण अग्रवाल का योगदान,सान्निध्य कपिला वात्स्यायन, यूनेस्को सदस्या 28-11-04
79. अध्यक्ष, महाकवि बाणभट्ट व्याख्यानमाला, वसंत कन्या महाविद्यालय, वाराणसी, 8-12-2004
80. अध्यक्ष, अन्त:राष्ट्रीय खेल सङ्गोष्ठी, कला सङ्काय, 15-7-2004
81. अध्यक्ष, नौवीं पुनश्चर्या, हिन्दी विभाग, बीएचयू , 7-9-2004
82. अध्यक्ष, महिला महाविद्यालय, बीएचयू प्लेटिनम जुबली, 31-8-2004
83. अध्यक्ष, सङ्गोष्ठी बंगला विभाग, बंगाली भाषा और साहित्य, 28-12-2004
84. अध्यक्ष, सेमिनार मत्स्यपुराण, ज्ञानप्रवाह वाराणसी, 22-2-2004
85. अतिथि, उस्मानिया वि0वि0 हैदराबाद, बीएचयू,10-3-2004
86. अध्यक्ष, जर्नलिजम एण्ड मास कम्युनिकेशन, सङ्गोष्ठी, बीएचयू ,23-11-2004
87. अध्यक्ष, मुशायरा, उर्दू विभाग, बीएचयू, 16-8-2004
88. अतिथि, सङ्गोष्ठी, खरोष्ठी लिपि, यूजीसी एकेडेमिक स्टाफ कालेज, बीएचयू ,9-5-2004
89. अध्यक्ष,नेशनल सेमिनार, दी रोल आफ वूमेन इन इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल,21-2-2004
90. अतिथि, तेलगू विभाग, सङ्गोष्ठी, 21-1-2004
91. अध्यक्ष, फैंच स्टडीज, बीएचयू, सङ्गोष्ठी, 1-11-2004
92. अध्यक्ष, सङ्गोष्ठी, उर्दू विभाग, 16-11-2005
93. मु0 अतिथि, महावीर जयन्ती आरा, 22-4-2005
94. अध्यक्ष, फैंच स्टडीज, वर्कशाप, 16-3-2005
95. पेट्रन, पर्सियन विभाग,सङ्गोष्ठी ,9-3-2005
96. उद्घाटन, धर्म : दर्शन विभाग , प्रथम रिफ्रेशर कोर्स, 9-2-2005 एवं 28-2-2005
97. अध्यक्ष, उद्घाटन सत्र, नेशनल सङ्गोष्ठी ,शारीरिक शिक्षा विभाग ,25-1-2005

98. अध्यक्ष, लायब्रेरी एण्ड इन्फारमेशन साइन्स विभाग ,वर्कशाप,2-3-2005 एवं 19-4-2005
99. अध्यक्ष, अङ्ग्रेजी विभाग, इंटरनेशनल सेमिनार, 18-1-2005
100. अध्यक्ष, अङ्ग्रेजी विभाग, रिफ्रेशर कोर्स,1-9-2005 तथा 21-9-2005
101. अध्यक्ष, बंगाली विभाग ,स्वामी विवेकानन्द जयन्ती ,12-1-2005
102. मु0अतिथि ,हिस्ट्री आफ आर्ट्स एण्ड टूरिज्म मेनेजमेंट,25-1-2005
103. उद्घाटन भाषण, संस्कृत प्रथम रिफ्रेशर कोर्स कार्यशाला ,26-2-2005
104. अध्यक्षता, डिजिटल लायब्रेरी एण्ड इन्फारमेशन सेंटर, सङ्गोष्ठी ,3-3-2005
105. उद्घाटन और पुस्तक लोकार्पण ,भारत सरकार कार्यशाला ,सुरभिग्राम,डगमगपुर 25-27दिस02005
106. मुख्य अतिथि ,बंगली विभाग, नेशनल सेमिनार,टूरिज्म,25-1-2005
107. स्वागतभाषण, बाबा साहिब भीमराव अंबेडकर, जन्म जयन्ती ,कला सङ्काय, 14-4-2005
108. अध्यक्ष, हिन्दी पुनश्चर्या पाठ्यक्रम, बीएचयू ,3-8-2005
109. अध्यक्ष, संस्कृत रिफ्रेशर कोर्स, द्वितीय,उद्घाटन सत्र,18-3-2005
110. अध्यक्ष,हिन्दी विभाग,गुरु ग्रन्थ साहिब की शिक्षा ,कबीर के विशेष संदर्भ में ,26-9-2005
111. जज,महिला महाविद्यालय,संस्कृत श्लोकपाठ प्रतियोगिता ,2005
112. अध्यक्ष, पुराणों में जीवन मूल्य,जयपुर,21-3-2006
113. अध्यक्ष, व्याख्याकारों की दृष्टि में कालिदास वाङ्मय ऱ्समीक्षा ,वसन्त कन्या0 7-3-2006
114. अध्यक्ष अङ्ग्रेजी विभाग, लेक्चर सीरीज ,उद्घाटन,7-2-2006
115. अध्यक्ष,तेलगू नेशनल सेमिनार,8-3-2006
116. व्याख्यान, डी0ए0व्ही0 कालेज , काव्यलक्षण ,15-2-2006
117. अध्यक्ष ,फारिन् लैंग्वेज,सेमिनार ,उद्घाटन,27-2-2006
118. अध्यक्ष, उद्घाटन सत्र, गंगा सभ्यता AIHC&ARTS Department,10-2-2006
119. उद्घाटन भाषण, फ्रैंच विभाग वर्कशाप6-1-2006
120. पत्रवाचन, भगवती आराधना सङ्गोष्ठी , सल्लेखना तथा मृत्यु ,विद्वत् सङ्गोष्ठी,उदयपुर,1-3अक्टू0 2006
121. पत्रवाचन, मूलाचार , लिंगपाहुड तथा शीलपाहुड का तुलनात्मक विवेचन,बांसवाडा,25-27अक्टू0 2007
123. व्याख्यान,भारतीय दर्शनों में आत्मा , जैन अनुशीलन केन्द्र जयपुर,24-1-2008
124. व्याख्यान, भारतीय दर्शनों में ईश्वर,जैन अनुशीलन केन्द्र ,जयपुर ,25-1-2008
125. मु0वक्ता , प्राकृत जैन साहित्य,वैशाली , वासोकुंड,मुजफ्फरपुर ,20-11 -2010(2-12-2011)
126. अध्यक्ष, पाण्डुलिपि सम्पादन और समीक्षा ,इंदिरागांधी सेंटर वाराणसी ,कार्यशाला,-9-31 नवम्बर2010
127. संयोजक, सौम्यगुणाश्री व्याख्यान, आलोचना और प्रायश्चित्त,पार्श्वनाथ विद्यापीठ,20-5-2010
128. संयोजक, डा0रमेश जैन, व्याख्यान, चन्द्रगुप्त और कुमारपाल ,19-6-2010
129. संयोजक, प्रो0 डी0एन0 तिवारी ,व्याख्यान, वनस्पति विज्ञान और जैनधर्म में पर्यावरण संरक्षण,4-8-2010
130. संयोजक, प्रो0विजयकुमार बाबू डायरेक्टर आन्ध्र विवि,हैदराबाद,आन्ध्र का बड्डमाणु जैन स्तूप,21-11-2010
131. संयोजक, श्री शरदसाधक ,सङ्गोष्ठी ,तीर्थंकर पार्श्वनाथ ,पार्श्वनाथ विद्यापीठ ,28-12-2010
132. संयोजक, ढ्ढस्स्छ्ढस्र कार्यक्रम ,8जून से 3जुलाई 2010
133. संयोजक ,दीपावली पूजन जैनविधि , पार्श्वनाथ विद्यापीठ ,4-11-2010
134. संयोजक ,ध्यान शिविर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ,24-11-2010
135. स्वागत भाषण, आर्ट आफ लिविंग , पार्श्नाथ विद्यापीठ,22जुलाई से 8अगस्त 2010
136. अतिथि, अध्यात्म और ध्यान, प्रो0ए0के0अग्रवाल , मैनेजमेंट सङ्काय ,15-7-2010
137. संयोजक, प्राकृत और अपभ्रंश प्रशिक्षण शिविर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,2011-2012
138. संयोजक, भगवान महावीर का वर्तमान समाज को अवदान,पार्श्वनाथ विद्यापीठ, 20-9-2011
139. संयोजक, जैनविद्या के स्रोत एवं उसके मौलिक सिद्धान्त, कार्यशाला ,12-27 मार्च 2011

140. संयोजक, बौद्धधर्म में शून्यता का सिद्धान्त ,व्याख्यान प्रो0ए0के0 चटर्जी ,पार्श्वनाथ विद्यापीठ,21-2-2011
141. संयोजक, नवकारमंत्र की ऐतिहासिक विकास यात्रा ,प्रो0 सागरमल जैन ,18-1-2011
142. अतिथि वक्ता ,पर्यावरण संरक्षण ,मैत्री भवन, पुण्यतिथि शरद साधकजी ,10-1-2011
143. स्वागताध्यक्ष, पं0 मदनमोहन मालवीयजी 151वीं जन्म जयन्ती ,मालवीय मिशन,18-12-2011
144. मु0अतिथि, सामाजिक उत्प्रेरणा एवं सहजीकरण की नीतियां ,व्रज जागरण समिति ,1-3दिस0 2011
145. वक्ता, सङ्गोष्ठी, वर्षायोग समिति फिरोजाबाद , मुनि निर्भयसागर जी ,24-25सितम्बर2011
146. अध्यक्ष, अस्पृश्यता ,सङ्गोष्ठी, राष्टीय मानव शोधसंस्थान , वाराणसी 18-20नवम्बर2011
147. अध्यक्ष, युगों युगों में अस्पृश्यता, मानव शोधसंस्थान ,18-20नवम्बर 2011
148. संयोजक, ISSJS के विदेशी अध्येताओं को जैनविद्या का प्रशिक्षण,4जून से 8जुलाई2011
149. अध्यक्ष, सामाजिक पिछडे वर्गों के उत्थान हेतु जागरण,वज्र एवं वरुण जागरण समिति ,1-3दिस0 2011
150. व्याख्यान,पांडुलिपि और पुरालिपि , प्राकृतभाषा और जैनागम के आलोक में ,इंदिरागांधी कलाकेन्द्र,मार्च 2012
151. अध्यक्षता , पद्मनंदि पंचविंशतिका में दान, सान्निध्य मुनि सौरभसागर,भागलपुर सङ्गोष्ठी, 5-6अक्टू02013
152. वक्ता, सर्व कर्म कर्तृत्वके विनष्टि कारणों पर विचार ,आ0 विशुद्धसागर सान्निध्य,10-12अक्टू02014
153. मु0 अतिथि, महावीर के सिद्धान्त, जैनबौद्ध दर्शन विभाग ,बीएचयू ,16-4-2014
154. मु0वक्ता, जैनबैद्ध धर्म में समता , महाबोधि सेसायटी आफ इंडिया , सारनाथ 14-5-2014
155. मु0अतिथि, जिनेन्द्र वर्णी जन्मजयन्ती , छेदीलाल जैन मन्दिर ,जैन समाज काशी,14-5-2014
156. अध्यक्षता, श्रमण संस्कृति की प्रासङ्गिकता 21वीं शताब्दी में ,सङ्गोष्ठी,24-25फरवरी 2012
157. अध्यक्षता , अयुकर्म पत्रवाचन भी ,विद्वत् शास्त्री परिषद् ,श्रवणबेलगोला ,14-16अक्टू02015
158. अध्यक्षता तथा लेखवाचन, आ0 विद्यासागर, मुनि सान्निध्य समतासागर,वि0शा0परिषद् ,सूरत,10-10-2015
159. अध्यक्षता, कर्मसिद्धान्त,श्रवणबेलगोला ,वि0शा0परिषद्, सान्निध्य भट्टारक चारुकीर्तिजी ,11-6-2016
160. सारस्वत अतिथि ,आत्म तत्त्वविचार राष्टीय संस्कृत संस्थान ,भोपाल,29-1-2017
161. अध्यक्ष, सान्ध्य उपाध्याय निर्भयसागर ,सङ्गोष्ठी,पंचायती मन्दिर पुरानी सब्जीमंडी ,उज्जैन,27-28 अगस्त 16
162. वक्ता, आ0विद्यासागरकृत मूकमाटी , सङ्गोष्ठी ,वाजपेयी हिन्दी विवि ,भोपाल 15-16अक्टू02016
163. वक्ता , प्राकृत और जैनविद्या पाठ्यक्रम और परीक्षा ,पाथर्डी ,अहमदनगर,13-15जून 2017
163. वक्ता, जैन शरीर विज्ञान (शरीर नामकर्म) संगोष्ठी, श्रमणवेलगोला 15-18 जून 2018
164. पत्रवाचन, समयसार कलश का आस्त्रवाधिकार तथा अमृतचन्द्र के अन्य ग्रन्थों में आस्रव चर्चा, अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्, आंवा (राज.) 20.10.2018
165. वक्ता, जैन विद्या की शिक्षा कैसी हो, सान्निध्य मुनि प्रमुखसागर, पत्रकार संघ, गोवा, 24-26 अक्टूबर 2018
166. वक्ता, जैन पत्रकार संघ, भट्टारकों की भूमिका, हुम्मच पद्मावती, ज्वालामालिनी एवं मूडविद्री, 29.10.2018

विदेशी शिक्षाविदों से शिक्षा विषयक वार्तायें

1. डेनमार्क, प्रो. क्रीथ जी यास्क, अध्यक्ष इंडोलिजी विभाग (एसियन स्टडीज)।
2. चीन, एम. एस. वाङ्गटिंग।
3. पोलेण्ड, त्रिनिदाद, नेपाल, इटली, थाईलैण्ड आदि।

प्रकाशित लेख

1. अनेकान्त और स्याद्वाद, जैन सन्देश, 29 अगस्त, 1963.
2. किं जैनदर्शनं नास्तिकम्, स्याद्वाद् पत्रिका, नवम्बर, 1963, पृ. 21-23.
3. जैन दर्शन का महत्त्व, श्रीकाञ्जीस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, 13 मई, 1964, वी.नि.सं. 2490, पृ. 133-134.
4. पर्युषण को पर्वराज क्यों कहते हैं ?, जैन सन्देश, 17 सितम्बर, 1964.
5. परीक्षामुख : एक अनुशीलन, भारतीय जैन साहित्य संसद्, परिवेशन 1 अक्टूबर, 1965, पृ. 129-133.
6. सुखी कौन ?, जैन सन्देश, 21 अक्टूबर, 1965.
7. पं. आशाधर की सर्वतोमुखी प्रतिभा और उनका सागारधर्मामृत, वीरवाणी, राजस्थानी जैन साहित्य सेवी विशेषाङ्क, 3

अप्रैल 1966, पृष्ठ 20-26.

8. यज्ञ : एक अनुचिन्तन, श्रमण, सितम्बर-अक्टूबर, 1966, पृष्ठ 31-38, 15-27.
9. आ. हरिभद्रसूरि और धर्मसंग्रहणी, श्रमण, अगस्त-सितम्बर, 1969, वर्ष 20, अङ्क 10-11, पृष्ठ 21-29, 17-22,26.
10. उत्तराध्ययन सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन, जिनवाणी, अगस्त 1970, पृष्ठ 9-19.
11. प्रमाणस्वरूप विमर्श, श्रमण, दिसम्बर 1972, जनवरी 1973, वर्ष 24, अंक 2-3, पृष्ठ 3-15, 3-11.
12. अनुक्रमणिकायें : (ग्रन्थकारानुक्रमणिका एवं ग्रन्थानुक्रमणिका) तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, ई. 1974, पृष्ठ 449-496.
13. भगवान् महावीर का जीवन-सन्देश और वर्तमान युग, स्मारिका, कुण्डलपुर, फरवरी 1975, पृष्ठ 36-40
14. महावीर की दृष्टि में जाति, लिङ्ग, वेष, वय और संघ का कितना महत्त्व ?, अमरभारती, अप्रैल 1975, पृष्ठ 29-33.
15. किं जैनदर्शनं नास्तिकम् ? (परिवर्धित), श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-स्मृति-ग्रन्थ, श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतपीठम्, दिल्ली, 1975, भाग 111, पृष्ठ 29-32.
16. श्रवणबेलगोलायां गोम्मटेश्वरस्य मूर्तेः निर्माणेतिहासः, गाण्डीवम् (गोम्मटेश-महामस्तकाभिषेक-विशेषाङ्क) वाराणसी, 3-9 फरवरी 1981, पृ. 12.
17. जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप : भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में, श्रमण, नवम्बर 1983, वर्ष 35, अंक 1, पृष्ठ 18-24, तथा वन्दे वीरम्, अप्रैल 1991, पृष्ठ 26-33.
18. आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय, अनेकान्त, नई दिल्ली, जुलाई-सितम्बर 1988, वर्ष 41, कि. 3, पृष्ठ 3-8.
19. मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं, अनेकान्त, जुलाई-सितम्बर 1988, वर्ष 41, कि. 33, पृष्ठ 21, 32.
20. उत्तराध्ययन में मोक्ष की अवधारणा डॉ. सुदर्शनलाल जैन की दृष्टि में, प्रस्तुतकर्ता डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह, श्रमण, वर्ष 40. अंक 7, मई 1989, पृष्ठ 35-38.
21. वेदान्तदर्शन और जैनदर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन, श्रमण, जून 1989, वर्ष 40, अङ्क 8, पृष्ठ 10-16.
22. सांख्यदर्शन और जैनदर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन, श्रमण, जुलाई 1989, वर्ष 40, अङ्क 9, पृष्ठ 2-15.
23. पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी होती हैं : एक समीक्षा, पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ, 1989, पृष्ठ 90-92, खण्ड 11.
24. भारतीयदर्शनेषु भ्रमज्ञानविचारः (ख्यातिवादः), सागरिका, जुलाई 1989 वर्ष 17, अङ्क 11, पृष्ठ 1-8.
25. आहार-विहार में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का समन्वय (आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में), श्रमण, जुलाई 1989, वर्ष 40, अङ्क 1, पृष्ठ 11-15.
26. स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत महाकाव्यों का समीक्षात्मक विवेचन (वाराणसी से प्रकाशित), सन्मार्ग, 1989, 31 जुलाई से 3 अगस्त
27. मीमांसादर्शन में निषेध-मीमांसा, म.म.चिन्नस्वामी-शास्त्री जन्म-शताब्दि-स्मारकग्रन्थः, 1990, पृष्ठ 105-110.
28. विरोधाभाषी गुरु को शत शत वन्दन, पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ 1990, पृष्ठ 21-22.
29. तीर्थङ्कर-चिह्न एक अनुचिन्तन, जैन सन्देश, मई 1991, पृ. 4, (तीन अङ्कों में)
30. अङ्ग आगमों के विषयवस्तु सम्बन्धी उल्लेखों का तुलनात्मक विवेचन, आस्पेक्ट्स ऑफ जैनोलाजी, वाल्यूम 3, पी.वी. रिसर्च इन्स्टिट्यूट, वाराणसी, 1991, पृष्ठ 50-85.
31. जैनदर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध, श्रमण, अप्रैल-जून 1992, वर्ष 43, अङ्क 4-6, पृष्ठ 27-39.
32. सांख्य और जैनदर्शन में ईश्वर, अनेकान्त, दिल्ली, जुलाई-सितम्बर 1992, वर्ष 45, कि. 3, पृष्ठ 13-16; तथा दर्शन-भारती, जयपुर, 1994, पृष्ठ 65-71.
33. सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् की दृष्टि में जैनदर्शन, राधाकृष्णन् एण्ड रिलिजियस कान्सिअसनेस, राधाकृष्णन् मेमोरियल सीरीज नं. 1, बी.एच.यू., 1992, पृष्ठ 62-66.
34. श्रीमती शुभचन्द्रेण प्रणीतो ज्ञानार्णवः, सूर्योदयः, अक्टूबर 1992, वर्ष 69, अङ्क 10, पृ. 11-14.
35. भारतीयदर्शनेष्वीश्वरविचारः, सूर्योदयः, जुलाई-अगस्त, 1993, वर्ष 70, अङ्क 7-8, पृष्ठ 41-42.

36. प्राकृत और संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सेन्चुरी कामेमोरेशन वाल्यूम, 1993, पृष्ठ 118-125.
37. आ. कुन्दकुन्द के दर्शन में निश्चय और व्यवहार नय, वात्सल्य रत्नाकर, 1993, खण्ड ।।, पृष्ठ 671-682.
38. आचार्य प्रभाचन्द्र, वात्सल्य रत्नाकर, 1993, खण्ड ।।, पृष्ठ 694-708.
39. महाराष्ट्री प्राकृत में मूल ''य'' वर्ण का अभाव, आस्पेक्ट्स ऑफ जैनोलॉजी, वाल्यूम 4, पी.वी. रिसर्च इन्स्टिट्यूट, वाराणसी, 1994, पृष्ठ 19-24.
40. जैनागम और आगमिक व्याख्या-साहित्य : एक अध्ययन, आस्पेक्ट्स ऑफ जैनोलॉजी, वाल्यूम 5, पार्श्वनाथ शोध विद्यापीठ वाराणसी, 1994, पृष्ठ 38-47.
41. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्, सूर्योदयः, सितम्बर-अक्टूबर 1994, वर्ष 71, अङ्क 9-10, पृष्ठ 5-8.
42. वीरोदय में ऋतु वर्णन, कीर्ति स्तम्भ, श्री दि. जैन समिति अजमेर, 1994, पृष्ठ 90-95.
43. जैन दर्शनानुसारं नारीणां स्थितिः, सूर्योदयः, वर्ष 72, अङ्क 9-12, सित.-दिस., 1995, पृष्ठ 7-9.
44. जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण, शोधादर्श लखनऊ, अङ्क 26, जुलाई 1995, पृ. 162-166.
45. न्यायकुमुदचन्द्र और उसके सम्पादन की विशेषताएँ, डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ, 1996, पृष्ठ 25-27.
46. जैन श्रमण संस्कृति की प्राचीनता एवं वैदिक संस्कृति, भारतीय संकृति एवं साहित्य में जैनधर्म का योगदान, (स्मारिका), अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्, वाराणसी, 1996, पृ. 1-4.
47. जैन साहित्य में हनुमान् , राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, ई. 1996, पृ. 141-147.
48. आओ खोजें, संसार की वस्तुएँ किस तत्त्व से बनी हैं ? जैन बालादर्श, इलाहाबाद, अक्टू.1995, पृ. 14-15.
49. क्या ईश्वर सृष्टिकर्ता है ?, जैन बालादर्श, इलाहाबाद, नवम्बर 1995, पृ. 3-4.
50. सुख-दुःख जन्म-मरण आदि का कारण कौन ? जैन बालादर्श, इलाहाबाद, जनवरी 1996, पृ. 11-12.
51. कर्म-सिद्धान्त का विशेष विचार, जैन बालादर्श, इलाहाबाद, फरवरी 1996, पृ. 9-10.
52. कर्मबन्ध अन्धा कानून नहीं, जैन बालादर्श, इलाहाबाद, मार्च 1996, पृ. 27-29.
53. किन कार्यों से किस कर्म का बन्ध होता है ?, जैन बालादर्श, इलाहाबाद, अप्रैल 1996, पृ. 33-35.
54. त्रिरत्न में सम्यग्दर्शन का स्थान, जिनवाणी, सम्यग्दर्शन विशेषाङ्क अगस्त 1996, प. 103 -105.
55. जयोदय महाकाव्य में पदलालित्य, जयोदय महाकाव्य परिशीलन, मदनगंज, 1996, पृ. 422-426
56. सामाजिक सन्दर्भे स्याद्वादस्य भूमिका, सूर्योदय, दिसम्बर 1996
57. वर्धमान महावीर और जैनधर्म, गांडीव, 20 अप्रैल 1997, महावीर जयन्ती विशेषाङ्क
58. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी एक सिमटा सा विराट व्यक्तित्व, दिसम्बर 1996, पृ. 88-89 पार्श्वनाथ पञ्चकल्याणक, वाराणसी.
59. इन्द्रप्रस्थ से मुक्तिधाम प्रस्तावना, पृ. ठ-थ, ई. 1999, पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन सोसायटी आर्यनगर, गोरखपुर.
60. प्राकृत के मुक्तक एवं खण्डकाव्य,जैन विद्या उ.प्र. शोध संस्थान, लखनऊ, ई.1998, पृ.52-59.
61. पहले सुधार किसमें (मुनि या श्रावक), दिशाबोध, कलकत्ता, सितम्बर 1999, पृ. 22-23.
62. श्वेताश्वतरोपनिषद् में जैन तत्त्व, ऋषभसौरभ, ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली, ई. 1997.
63. जैनपरम्परायां प्रमाणत्वं ज्ञाने, जैन-बौद्ध ट्रेडिशनस् इन संस्कृत,संस्कृत विभाग,पटना, 2001, पृ. 8-12
64. पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर श्वेताम्बर दृष्टि, श्रमण, जनवरी-जून 2012, पृ.25-32.
65. पातञ्जल योग और जैन योग का तुलनात्मक अध्ययन, प्रज्ञा, बी.एच.यू. 2003
66. शब्दब्रह्ममीमांसा, संस्कृतसौदामिनी, संस्कृतविभाग, बी.एच.यू.2004-05, पृ. 1-7.
67. जैनधर्म में सल्लेखना : जिज्ञासा और समाधान, प्राकृतविद्या, नई दिल्ली, जन.-दिस. 2004, समाधिविशेषाङ्क, पृ.39-45.
68. प्रायश्चित्त तप क्यों ? श्रमण, जुलाई-सितम्बर 2010
69. श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं में अन्तर, श्रमण, अप्रैल-जून, 2010
70. Is Peaceful co-eistence possible through Jainism अप्रैल-जून, 2010
71. Individuals can practice in everyday life to become more tolerance through Anekantavada, Non-violence and Syadvada theories of Jainism, Sramana, April-

June, 2010 How does me depender med en non-violence अप्रैल-जून, 2010.

72. आत्मा की वैभाविकी शक्ति श्रमण, जुलाई-सित., 2010
73. पर्युषण पर्व और संवत्सरी श्रमण जुलाई-सित., 2010
74. दीपावली पर्व, श्रमण, अक्टू- दिस., 2010
75. नमोकारमन्त्र, श्रमण, अक्टू- दिस., 2010
76. कालजयी श्रीभंवर लाल जी नाहटा 'विशिष्ट व्यक्तित्व' श्रमण, जुलाई सितम्बर 2010
77. जैनधर्म की समाजोपयोगिता, श्रमण, जन-मार्च, 2011
78. आचार्यमहाप्रज्ञ विशिष्ट व्यक्तित्व, श्रमण, अप्रैल-जून 2010
79. सभी विरोधों का समाधान : अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, 'श्रमण', अप्रैल-जून, 2011
80. दक्षिण भारत में जैन धर्म, श्रमण, अप्रैल-जून, 2011
81. भारतीय चिन्तन में आत्मतत्त्व : एक समीक्षा, श्रमण, जुलाई-सित, 2011
82. जैनागमों और उसके व्याख्या साहित्य में नारी, 'वाचना', राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर, जुलाई-दिस. 2011
83. दिगम्बर और श्वेताम्बर पूजा क्यों और कैसे ? 'श्रमण', जुलाई-सित, 2011
84. भगवान् पार्श्वनाथ और उनके दस भव, 'श्रमण', अक्टू-दिस, 2011
85. भारतीय चिन्तन में मोक्षतत्त्व : एक समीक्षा, 'श्रमण', अक्टू-दिस, 2011
86. आठ योगदृष्टियाँ : आचार्य हरिभद्रकृत योगदृष्टिसमुच्चय के आलोक में, 'श्रमण', जन-मार्च, 2012
87. संस्कृत जैनकाव्य परम्परा और जैन कुमार संभव, संपादकीय जैनकुमार संभव, पृ.11-43,पार्श्वनाथ विद्यापीठ-2011
88. श्रावक और श्रमण प्रतिमाएँ, 'श्रमण', जन-मार्च, 2012
89. उपवास, श्रमण, जन-मार्च 2013
90. जैनधर्म में भक्ति क्यों और कैसे? भक्ति के विविध आयाम, नमन प्रकाशन, दिल्ली 2016
91. क्या बौद्ध दर्शन में आत्मा और पुनर्जन्म है ? भगवान् बुद्ध का जीवन दर्शन, 2017
92. जैन और बौद्ध धर्म दर्शनों में साम्य-वैषम्य - नमन, भगवान् बुद्ध का जीवन दर्शन, नई दिल्ली 2017
93. भारतीय दर्शनों में आत्मा, नमन, भगवान् बुद्ध का जीवन दर्शन, 2017

आकाशवाणी कार्यक्रम

(आकाशवाणी, वाराणसी से संस्कृतवार्ता-प्रसारण, रात्रि 8.00 से 8.15)

1. अस्माकं गौरवग्रन्थः ज्ञानार्णवः (शुभचन्द्राचार्यप्रणीतः) दिनांक 1.3.1988
2. आचाराङ्गसूत्रे कर्मणः स्वरूपम् (दिनांक 13.10.1992)
3. जैननये कर्मसिद्धान्तः (दिनांक 31.8.1993)
4. संस्कृतसाहित्ये शिशिरर्तुवर्णनम् (दिनांक 11.1.1994)
5. श्रमण-परम्परा (दिनांक 17.5.1994)
6. अस्माकं पुराणानि-ब्रह्मवैवर्तपुराणम् (दिनांक 9.8.1994)
7. संस्कृतवाङ्मये त्रिवेणीसंगमः (दिनांक 30.3.1995)
8. जैनदर्शनानुसारं नारीणां स्थितिः (दिनांक 11.1.1995)
9. सामाजिकसंदर्भे स्याद्वादस्य भूमिका (दिनांक 29.1.1996)

पी-एच.डी. उपाधिप्राप्त ज्ञात शोधच्छात्रों का विवरण

क्रम	शोधछात्र का नाम	विषय	पञ्जीकरण का मास/वर्ष	उपाधि प्राप्ति का वर्ष
1.	डॉ0 रवीन्द्र कुमार आर्य	काव्यप्रकाश निदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन	–	1974
2.	डॉ0 परमेश्वरदत्त शुक्ल	जयदेव और उनका प्रसन्नराघव : एक समीक्षात्मक अध्ययन	–	1979
3.	डॉ0 गीता श्रीवास्तव	रूपगोस्वामी विरचित ललितमाधव एवं विदग्धमाधव का आलोचनात्मक अध्ययन	जनवरी 1977	1980
4.	डॉ0 मनुलता शर्मा	पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थों का साहित्यिक अनुशीलन	–	1982
5.	डॉ0 इन्द्रा चक्रवाल	उपरूपकों का उद्भव और विकास	मार्च 1979	1982
6.	डॉ0 रविशङ्कर मिश्र	महाकवि कालिदासकृत मेघदूत और कवि मेरुतुङ्गाचार्यकृत जैन मेघदूत का समीक्षात्मक अध्ययन	–	1983
7.	डॉ0 निशा नागर	कवि कृष्णभट्टकृत ईश्वरविलास महाकाव्य समीक्षात्मक अध्ययन	मार्च 1979	1983
8.	डॉ0 उषा देवी	उदयनकथाश्रित संस्कृत रूपकों का समीक्षात्मक अध्ययन	मार्च 1979	1983
9.	डॉ0 कुमुद श्रीवास्तव	आरण्यकों और उपनिषदों में वनस्पति और औषधिविज्ञान	मार्च 1980	1984
10.	डॉ0 धर्मचन्द्र जैन	जैन संस्कृत साहित्य में भक्ति की अवधारणा	सितम्बर 1981	1985
11.	डॉ0(श्रीमती) तारा देवी	तैत्तरीय उपनिषद् का आलोचनात्मक अध्ययन	सितम्बर 1981	1986
12.	डॉ0 नामवर सिंह	ऋग्वेदीय और अथर्ववेदीय समाज का तुलनात्मक अध्ययन	मार्च 1983	1987
13.	डॉ0 उदयनारायण पाण्डेय	कविवर आनन्दशुक्ल विरचित जवाहरलालनेहरूचरितम् का समीक्षात्मक अध्ययन	मार्च 1983	1987
14.	डॉ0 शशि श्रीवास्तव	शुक्लयजुर्वेदसंहिता में आयुर्वेदिक तत्त्व	मार्च 1983	1988
15.	डॉ0 शारदा देवी	भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व में निहित आयुर्वेदिक सामग्री	सितम्बर 1981	1989
16.	डॉ0 आशारानी वर्मा	संस्कृत साहित्य में काव्यलक्षण और काव्यप्रयोजन	सितम्बर 1984	1989
17.	डॉ0 पीयूषरानी अग्रवाल	जैन और वेदान्तदर्शनों में तत्वमीमांसा	सितम्बर 1984	1990
18.	डॉ0 गीता	वैदिक साहित्य में श्रमण परम्परा के तत्त्व	मार्च 1987	1991
19.	डॉ0 लक्ष्मी देवी गुप्ता	मालविकाग्निमित्र और उसकी टीकाओं का अध्ययन (काट्यवेम, नीलकण्ठ, तारानाथतर्कवाचस्पति तथा रामचन्द्र मिश्र)	सितम्बर 1987	1992
20.	डॉ0 राकेशदत्त मिश्र	भारतीय दर्शन में भक्ति की अवधारणा	मार्च 1987	1992
21.	डॉ0 प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	पूर्वमीमांसा और न्यायदर्शन में प्रमाण	सितम्बर 1984	1993
22.	डा0 विमला कुमारी	सांख्यदर्शन का ऐतिहासिक विकास और उसका नास्तिक दर्शनों पर प्रभाव	मार्च 1986	1993
23.	डॉ0 सुरेन्द्रकुमार पाण्डेय	भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त	सितम्बर 1989	1994
24.	डॉ0 परमानन्द पाण्डेय	भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा	सितम्बर 1989	1994
25.	डॉ0 विवेक पाण्डेय	वस्तुपाल की कृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन	सितम्बर 1991	1996
26.	डॉ0 सविता आस्थाना	सर्वार्थसिद्धि एक अध्ययन	मार्च 1993	1997
27.	डॉ0 विधरंजन सिंह	वसुबन्धु की वासवदत्ता	सितम्बर 1993	1998
28.	डॉ0 मणिनाथ मिश्र	जैन चम्पू काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन	सितम्बर 1990	1998
29.	डॉ0 ममता राय	वेदान्त में समाजवाद के स्रोत	सितम्बर 1991	1998
30.	डॉ0 सुषमा देवी	नास्तिक दर्शनों में कार्यकारण सिद्धान्त	सितम्बर 1991	1999
31.	डॉ0 सुमन रटाटे	वेदान्तकेशरी शतश्लोकी : एक परिशीलन	सितम्बर 1994	1999
32	डॉ0 अजयकुमार पाठक	वाल्मीकिरामायण अरण्यकाण्ड : एक समीक्षात्मक अध्ययन	सितम्बर1995	1999
33.	डॉ0 कल्पना पाण्डेय	भारतीय दर्शनों में समाधिमरण : एक समीक्षात्मक अध्ययन	मार्च 1995	2000
34.	डॉ0 रागिनी श्रीवास्तव	संस्कृत काव्यसाहित्य में भक्ति	मार्च 1993	2000
35.	डॉ0 अर्चना सिंह	सुदर्शनोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन	मार्च 1995	2000
36.	डॉ0 अर्चना अग्रवाल	संस्कृत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा में अभिनय की अवधारणाएँ और पारम्परिक नाट्यनृत्यों में उनका अनुप्रयोग	सितम्बर 1994	2001
37.	डॉ0 रेनु रानी	धनञ्जय की दृष्टि में रस : एक समीक्षात्मक अध्ययन	जनवरी 1998	2003
38.	डॉ0 कमलेश कुमार	संस्कृत साहित्य में यथार्थ	जनवरी 1998	2004
39.	डॉ0 टी0एस0विशुद्धि	श्रीलङ्का के सांस्कृतिक अनुष्ठानों पर वेद वेदाङ्गों का प्रभाव	जुलाई 1998	2005

40.	श्री सुधांशुमार षडङ्गी	भारतीयदर्शनषु गुणविचार:	जनवरी 2000	2005
41.	कु0 ऋचा शर्मा	भारतीय दर्शन में सापेक्षवाद	जनवरी 1998	2005
42.	डॉ0 अशोक कुमार	विज्ञानभिक्षुप्रणीत योगसारसंग्रह का समीक्षात्मक अध्ययन	सितम्बर 2002	2006
43.	डॉ0 राघव कुमार झा	जानकीहरणमहाकाव्ये वाल्मीके: प्रभाव: एकं समीक्षात्मकम् अध्ययनम्	सितम्बर 2002	2005
44.	डॉ0 सन्तोषकुमार	महर्षिनारद : एक चिन्तन	सितम्बर 2003	2006

जैनदर्शन में भक्ति क्यों और कैसे?

संसार के दु:खों से छुटकारा पाने के लिए ध्यान, तप, व्रत आदि करना जन-सामान्य के लिए बहुत कठिन मार्ग लगता है। अत: परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए 'भक्ति' प्रथम सोपान के रूप में सर्वत्र स्वीकृत है। भक्त जब भक्ति में ऐसा लीन हो जाता है कि उसे ध्याता (भक्त) और ध्येय (परमात्मा) का भेद ही ज्ञात नहीं रहता (अभेद की अनुभूति में डूब जाता है) तब वह भक्ति 'परम समाधि' बन जाती है। वह ब्रह्मलीन हो जाता है, अपने दु:खों को भूल जाता है, खाना-पीना भी भूल जाता है। उसे संसार के विषय-भोगों से विरक्ति हो जाती है। जैनेतर धर्म के भक्त भगवान् को प्रसन्न करके उनका सामीप्य चाहता है परन्तु जैन भक्त प्रारम्भ में भगवान् का आलम्बन तो लेता है परन्तु बाद में अपनी आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन करने लगता है। राग-द्वेष-जन्य कर्म से परिवेष्टित आत्मा जब कर्मबन्धन से रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है तो वही परमात्मा (ईश्वर या भगवान्) बन जाता है। तब उसमें अविनश्वर अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्य आदि प्रकट हो जाते हैं। यही मोक्ष की अवस्था है।

जैन का आराध्य ईश्वर कौन?

जैनदर्शन को अनीश्वरवादी तथा नास्तिक (वेदों को प्रमाण न मानने के कारण) कहा जाता हैं जबकि वह पूर्ण आस्तिक तथा ईश्वरवादी दर्शन है। वह पुनर्जन्म, कर्मवाद, पाप-पुण्य आदि सभी बातें स्वीकार करता है। परन्तु वह अनादि ईश्वर या जगन्नियन्ता नहीं मानता जो इस संसार के प्राणियों की सृष्टि, संरक्षण और संहार करता हो, भक्त की भक्ति से प्रसन्न होकर उस पर दया करता हो, भक्ति न करने या पापाचरण करने वाले से नाराज होकर दण्ड देता हो, पृथ्वी पर पापियों का संहार करने के लिए अवतार लेता हो, जो कभी भी संसार के बन्धन में न रहा हो। जैनदर्शन में मान्य ईश्वर हमारी और आपकी तरह पहले सांसारिक कर्मबन्धनों से युक्त थे, बाद में तप-साधना करके परमात्मा बने। पूर्ण वीतरागी आप्तकाम (पूर्ण तृप्त) होने से वे न तो भक्ति से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा से अप्रसन्न। भक्तों की सहायता करने और दुष्टों का संहार करने के लिए वे पृथ्वी पर अवतार भी नहीं लेते हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आप्तकाम, अतीन्द्रिय, अशरीरी, अरूपी, असीम सुख-वीर्य सम्पन्न होकर अपने शुद्ध चैतन्य आत्मस्वरूप से लोकान्त (सिद्धालय) में विराजमान हैं। हम भी साधना द्वारा ईश्वर बन सकते हैं क्योंकि जो कर्मबन्धन से रहित हैं वे ईश्वर हैं। वे सभी आराध्य हैं।

भक्ति क्यों

प्रश्न-यहाँ एक गम्भीर प्रश्न है कि जब आपका ईश्वर भक्तों की कोई मदद नहीं करता है तो जैनभक्त उनकी भक्ति क्यों करते हैं? जैन शास्त्रों में उनकी भक्ति, पूजा, उपासना करने को आवश्यक क्यों कहा है?

उत्तर-जैनदर्शन में भक्ति विविध रूपों में दिखलाई पड़ती है। भक्ति, स्तव, स्तुति, पूजा, अर्हा, उपासना, आराधना, भजन, मख, मह, विधान, याग, ऋतु:, सपर्या, स्तोत्र, जप, इज्या, अध्वर, चालीसा, यज्ञ, हवन आदि भक्ति के ही रूप हैं। ग्रन्थारम्भ में किया जाने वाला मङ्गलाचरण, देवदर्शन, नाम स्मरण, गुण-सङ्कीर्तन, स्व स्वरूप चिन्तन, मन्दिर-निर्माण, महामन्त्र जपोकार, सम्यग्दर्शन (धर्म में श्रद्धा) आदि भी भक्ति के विविध रूप हैं।

भक्ति के दो रूप-जैनदर्शन में भक्ति को दो रूपों में विभक्त करके चिन्तन किया गया है-निश्चयनय से और व्यवहारनय से।

1. निश्चयनय की दृष्टि से भक्ति-वीतराग भाव से शुद्ध आत्म तत्त्व की भावना करना निश्चय भक्ति है जो सम्यग्दृष्टियों को ही होती है। निज परमात्मतत्त्व के सम्यक श्रद्धान-अवबोध-आचरण रूप शुद्ध रत्नत्रय-परिणामों का जो भजन है, आराधना है वही भक्ति है। निश्चय भक्ति ही वास्तविक भक्ति है। इसमें जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है। अत: मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ, अन्य कोई नहीं। इस तरह आराध्य-आराधक भाव की एकता रूप भक्ति है। आराध्य पाँचों परमेष्ठी वास्तव में अपनी आत्मा में हैं, अत: वे ही शरण हैं। अर्थात् परमेश्वर (शुद्ध आत्मरूप) के साथ समरसता होना निश्चय भक्ति है। जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता उसी

प्रकार शरीर के गुणों का वर्णन करने पर परमात्मा की भक्ति नहीं होती।

2. व्यवहारनय से भक्ति-अर्हदादि (अर्हन्त, सिद्ध आदि पञ्च परमेष्ठियों) या उनके गुणों पर भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना या प्रेम करना व्यवहार भक्ति है। भक्ति सराग सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावकों को होती है। इसमें भक्त और भगवान् का भेद बना रहता है जिस कारण भक्त आराध्य भगवान् से आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति की कामना करता है। जैसे-भावपाहुड में कहा है-

ते मे तिहुअणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वर-भावसुद्धिं दंसण-णाणे/चरित्ते य।।163।।

जो नित्य है, निरञ्जन है, शुद्ध है तथा तीनों लोकों के जीवों द्वारा पूजनीय है ऐसे सिद्ध भगवन्त! ज्ञान, दर्शन, और चरित्र में श्रेष्ठ भावशुद्धि देवें।

पञ्चविंशतिका में भी कहा है-

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व ।
मयि किंकरेत्र करुणां तथा यथा जायते मुक्तिः ।।20.1।।
अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्यो ।
तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रलापित्वम् ।।20.6।।

तीनों लोगों के गुरु परमानन्द के एकमात्र कारण है जिनेश्वर! इस मुझ दास के ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो। आप मेरे जन्म-मरण रूप संसार को नष्ट कर दीजिए। यही एक बात मुझे आपसे कहनी है। मैं संसार के दु:खों से अत्यन्त पीड़ित हूँ। अत: मैं यह प्रलाप कर रहा हूँ।

प्रारम्भ में भक्ति का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था, परन्तु वर्तमान में लोग सांसारिक सुखलाभ से जोड़ने लगे हैं जबकि इसे निदान कहा गया है जो त्याज्य है। अन्त में तो निश्चय भक्ति में मोक्ष की कामना भी छूट जाती है और वह पूर्ण वीतरागी होकर आप्तकाम हो जाता है।

''मैंने भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। चारों निकाय के देव सपरिवार दिव्य गन्ध, पुष्प, धूप, चूर्ण, सुगन्धित पदार्थ आदि से नित्य अभिषेक करते हैं, पूजा करते हैं, अर्चना करते हैं, वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ उनकी नित्यकाल अर्चना, पूजा, वन्दना, नमस्कार करता हूँ। फलस्वरूप मेरे दु:खों का विनाश हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र के गुणों की प्राप्ति हो।'' (देखें-कुन्दकुन्दाचार्य, भक्ति संग्रह की अञ्चलिका ।)

भक्ति की अनिवार्यता और उसका फल-गृहस्थ श्रावक के 6 आवश्यक कर्तव्य बतलाये गये हैं उनमें भक्तिरूप 'देवपूजा' को प्रथम स्थान प्राप्त है -

देवपूजा-गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने।। पं.वि. 6.7।।
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ।। पं.वि.6.15।
प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवता-गुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः।। पि.वि. 6.16।।

गृहस्थ के प्रतिदिन करणीय 6 आवश्यक कर्तव्य हैं-देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। जो गृहस्थ भक्तिपूर्वक न तो जिनेन्द्र का दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न उनकी स्तुति करते हैं उनका जीवित रहना निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। वस्तुत: श्रावकों (गृहस्थों) को प्रात:काल उठकर जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन करना चाहिए। भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करके उनसे धर्म-श्रवण करना चाहिए, तदनन्तर ही अन्य कार्य करना चाहिए।

आचार्य सोमदेव स्वामी ने भी कहा है-

अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च।

यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः ।। (अमितगति श्रावकाचार 1.55)

जो गृहस्थ अर्हन्त-सिद्धादि देवों की पूजा तथा मुनियों की उपचर्या (सेवादि) किये बिना अन्न का भक्षण करता है वह घोर अन्धकार वाले सातवें नरक की कुम्भीपाक विल में उत्पन्न होकर महान् कष्टों को भोगता है।

पूजा-भक्ति के फल का कथन करते हुए भगवती-आराधना (745, 749) में स्पष्ट कहा है-

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेइ।।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि-परं परसुहाणं ।।
वीयेण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा।
आराधणमिच्छंतो आराधण-भत्तिमकरंतो।।

अकेली जिणभक्ति से दुर्गत का निवारण होता है। पुण्य की अत्यधिक वृद्धि होती है। मोक्ष प्राप्ति के पूर्व चक्रवर्ती, अहमिन्द्र आदि पदों की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति आराधना रूप भक्ति के बिना मुक्ति चाहता है, वह बीज के बिना धान्यप्राप्ति और मेघ के बिना जलवृष्टि चाहता है। (पञ्चविंधतिका 6.15-16 तथा देखें वसुनन्दि श्राव का चार 478) सर्व कष्ट निवारक जैनदर्शन का महामन्त्र णमोकार (णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धार्थं, णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सब्ब साहूणं) भी भक्ति का रूप है जिसे जैनी प्रतिदिन तीनों काल भजता है-

अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सब्बदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।

इस तरह जैनदर्शन में व्यवहार भक्ति की बहुत विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

वस्तुतः सामान्यजन के लिए भक्ति ही उस परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सरलतम प्रथम उपाय (सोपान) है। यही व्यवहार भक्ति जब निश्चयभक्ति रूप ध्यान में परिणत हो जाती है तो उसे अभीष्ट मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसीलिए रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को सम्मिलित रूप से मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन जो श्रद्धा-भक्ति का प्रतिरूप है, उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

प्रसन्न होने का अर्थ -

प्रश्न- जब आपके भगवान् वीतरागी हैं तो उनकी भक्ति करते हुए उन्हें 'प्रसन्न हों', 'हमें बोधिलाभ देवें' आदि क्यों कहा गया है?

उत्तर - 'प्रसन्न हों' यह कथन व्यवहार में कहा जाता है। आप्तपरीक्षा की टीका में स्पष्ट कहा गया है-वीतराग परमेष्ठियों में जो प्रसाद गुण कहा गया है वह उनके शिष्यों (भक्तों) का प्रसन्न मन होना ही है क्योंकि वीतरागियों में तुष्टयात्मक प्रसन्नता सम्भव नहीं है, क्रोध भी सम्भव नहीं किन्तु जब भक्त आराधक प्रसन्न मन से उनकी उपासना करता है तो उसे भगवान् की प्रसन्नता कह दिया जाता है, जैसे प्रसन्न मन से औषधि का सेवन करने से आरोग्यलाभ होने पर उसे उस औषधि का फल कहा जाता है। उसी प्रकार भगवान् की भक्ति करने पर भक्त के भावों (परिणामों) में निर्मलता आती है और उसके प्रभाव से पापकर्मों का आवरण हटता है। और उसे अभीष्ट फल मिलता है। उन्हें उपचार से व्यवहार में 'प्रसन्न होना' आदि कहा जाता है। ऐसा ही मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है- अर्हन्त को उपचार से 'अधम उद्धारक' आदि कहा गया है, फल अपने ही परिणामों का ही है। इसी तरह धवला में भी कहा है-'जिन-वन्दना रूप भक्ति पापों की विनाशक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उनकी वीतरागता के अभाव का प्रसङ्ग होता है।' अतः परिशेषन्याय से जिन गुण-परिणत भावों को पाप-विनाशक मानना चाहिए।

बारह भक्तियाँ-आचार्य कुन्दकुन्द के भक्तिसंग्रह में 12 प्रकार की भक्तियाँ संग्रहीत हैं-

1. तीर्थंकर भक्ति (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव)—इसमें 24 अर्हन्त तीर्थङ्करों के गुणों की स्तुति करके उनके गुणों को अपने में प्रकट होने की कामना की गई है। वस्तुतः ये ही हमारे साक्षात् मार्गदर्शक हैं।
2. सिद्ध भक्ति-निर्वाण को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों की स्तुति है।
3. श्रुत भक्ति (शास्त्र भक्ति)-इसमें जिनोपदिष्ट आगम ग्रन्थों (श्रुत) की स्तुति है। क्योंकि उनसे ही हमें मार्गदर्शन प्राप्त होता है।
4. चारित्र भक्ति-सामायिकादि 5 प्रकार के चारित्र तथा पाँच महाव्रतों की भक्ति क्योंकि ये ही मोक्षप्राप्ति के साधन हैं।

5. योगि भक्ति-महाव्रतादि गुणों के धारक-वीतरागी ध्यानस्थ मुनियों की भक्ति।
6. आचार्य भक्ति-आचार्य परमेष्ठियों की भक्ति।
7. निर्वाण भक्ति-जहाँ से तीर्थङ्करादियों ने निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया है उन निर्वाण-भूमियों की भक्ति के माध्यम से मुक्तात्माओं की भक्ति।
8. नन्दीश्वर भक्ति-नन्दीश्वर द्वीप में स्थित अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं की भक्ति । नन्दीश्वर द्वीप तक मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ देवगण सपरिवार पूजनादि करते हैं। हम यहाँ रहकर उनकी भक्ति करते हैं।
9. शान्ति भक्ति 'पाँच कल्याणकों से युक्त, चौंतीस अतिशयादि से युक्त ऋषभादि तीर्थङ्करों की भक्ति।
10. समाधि भक्ति-रत्नत्रय-प्ररूपक ध्यानावस्था में विद्यमान तथा परमात्मा के ध्यान रूप समाधि की भक्ति। यह सिद्ध होने के पूर्व समाधि रूप साधन की भक्ति है।
11. पञ्चगुरु भक्ति (पञ्च परमेष्ठी भक्ति)-पाँचो परमेष्ठियों (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) के गुणों के सङ्कीर्तन रूप भक्ति। आचार्य आदि मोक्षमार्गारूढ़ होने से उन्हें भी भक्ति योग्य कहा गया है। इन पाँचों को हितोपदेष्टा गुरु कहा जाता है।
12. चैत्य भक्ति-मन्दिरों (चैत्यालयों) में विराजमान अर्हन्त आदि के प्रतिबिम्बों (प्रतिमाओं या मूर्तियों) की भक्ति।

इनमें से नन्दीश्वर भक्ति, शान्ति भक्ति, चैत्य भक्ति और समाधि भक्ति ये चारों भक्तियाँ गद्य (अञ्चलिका रूप) में हैं शेष 8 भक्तियाँ पद्य (प्राकृत पद्य) में तथा 'इच्छामि भंते' रूप संक्षिप्त गद्य में हैं। चैत्य भक्ति और समाधि भक्ति को छोड़कर शेष 10 भक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। ये मुनियों के द्वारा नित्य पठनीय हैं। सिद्ध भक्ति की संस्कृत टीका में प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि समस्त संस्कृत भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी कृत हैं तथा प्राकृत भक्तियाँ आचार्य कुन्दकुन्द कृत हैं। पद्मनन्दिकृत प्राकृत भक्तियाँ तथा श्रुतसागर कृत संस्कृत भक्तियाँ भी मिलती हैं।

नवधा भक्ति : जैन श्रावक के घर जब दिगम्बर जैन साधु आहारार्थ द्वार पर आता है तब श्रावक उसे नवधा भक्तिपूर्वक गृह-प्रवेश कराता है पश्चात् दिगम्बर साधु विधिपूर्वक आहार ग्रहण करता है। नवधा भक्ति इस प्रकार है -

1. पडिगहणं कायव्वं 'णमोत्थु' (नमोऽस्तु), 'अत्र अत्र', 'तिष्ठ तिष्ठ' कहकर साधु को रोकना।
2. निर्दोष तथा उच्च आसन पर बैठाना।
3. चरण-प्रक्षालन करना।
4. पवित्र चरणोदक को मस्तक पर लगाना।
5. अष्ट द्रव्य से पूजा करना।
6. चरणों में पुष्पाञ्जलि समर्पित कर वन्दना करना।
7. से 9. शुद्ध भाव से मन, वचन, काय की शुद्धि बोलकर तथा आहार-शुद्धिबोलकर आहार ग्रहण की प्रार्थना करना।

जिनपूजा विचार-प्रतिदिन 'जिन-पूजा' को दिगम्बर- श्वेताम्बर (मूर्ति पूजक) दोनों परम्पराओं में आवश्यक कर्तव्य बतलाया गया है। तदाकार अथवा निराकार वस्तु में पूजा कर सकते हैं। वस्तुत: शरीर में स्थित आत्मा ही देव है। देव तो भावों में हैं, मूर्ति में नहीं। ऐसा होने पर भी तदाकार मूर्ति की पूजा का विधान है क्योंकि अर्हत् प्रतिबिम्ब को देखकर उनके गुणों का साक्षात् स्मरण हो जाता है और तद्वत् भाव होते हैं, जैसे पुत्र, शत्रु, मित्र आदि के चित्रों को देखकर तदाकार भाव होते हैं। द्रव्य चढ़ाने से मन की स्थिरता बनी रहती है, बिना द्रव्य चढ़ाये भी पूजा की जा सकती है जो विशेषकर मुनि (अपरिग्रही साधु) करते हैं। इसीलिए पूजा दो प्रकार की है- द्रव्य पूजा और भाव पूजा (वचनों से गुणों का स्तवन)। पूजा के पूर्व अभिषेक का भी विधान है। कुछ केवल शुद्ध जल से अभिषेक करते हैं और कुछ पञ्चामृत से। कुछ अचित्त द्रव्य से पूजा करते हैं तथा कुछ सचित्त-अचित्त दोनों से। भावना है स्व-स्वरूपोपलब्धि या परमात्म पदप्राप्ति। पूजा सम्बन्धी विधि विधान भी हैं। आचार्य पूज्यपाद (ई.5212), अभयनन्दि (ई.10-11 श.) इन्द्रनन्दि नयनन्दि, श्रुतसागर, मल्लिषेण आदि द्वारा लिखित विपुल पुरातन पूजा-भक्ति साहित्य भी है।

जैन जो सामग्री (द्रव्य, सोना, रुपया आदि) भगवान् जिनेन्द्र के चरणों में समर्पित करते हैं वह उन्हें निर्माल्य (अग्राह्य) होती है। क्योंकि वह उन्होंने भगवान् को समर्पित कर दी है, अब उसका उपयोग उनका सेवक माली आदि कर सकता है, वो नहीं। या धर्म कार्य (मन्दिर निर्माण आदि) में उसका उपयोग हो सकता है। हिन्दुओं की तरह 'प्रसाद'

लेने की परम्परा नहीं है।

पूजा-भक्ति के प्रकार

1. नाम-स्तव-भगवान् के गुणों का मन से स्मरण करना, वचनों से स्तुति करना, तथा काया से ललाट पर हाथ जोड़कर नमस्कार करना। तीर्थङ्करों के गुणानुसारी 1008 नामों का स्मरणादि करना।
2. स्थापना-स्तव-तीर्थङ्करों के समस्त गुणों को धारण करने वाली जिन प्रतिमाओं का कीर्तन करना। जिन-प्रतिमायें स्थापना निक्षेप से पूज्य हैं यदि उनकी विधिपूर्वक मन्त्रों द्वारा पञ्चकल्याणक के माध्यम से प्रतिष्ठा (जिनेन्द्र के गुणों की स्थापना जिसे जैनेतर प्राणप्रतिष्ठा कहते हैं) की गई हो, अन्यथा वे तथा चित्रादि पूजनीय नहीं हैं।
3. स्तव-तीर्थङ्करों के दिव्य शरीरों के स्वरूप को स्मरण करते हुए उनका कीर्तन करना।
4. क्षेत्र स्तव-तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म आदि पाँच कल्याणकों से पवित्र स्थानों (नगर, वन, पर्वत आदि) का वर्णन करना। जैसे अयोध्या, सिद्धार्थवन, कैलाश पर्वत आदि के महत्त्व का वर्णन।
5. काल स्तव-तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म आदि पाँच कल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं से जो काल महत्त्व को प्राप्त हुआ है ऐसे काल के महत्त्व को जानते हुए उस काल में अनुष्ठान आदि करना। जैसे भगवान महावीर के निर्वाण दिवस पर (दीपावली पर), जन्म दिवस (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) पर।
6. भाव स्तव-भगवन्तों के अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, क्षायिक-सम्यक्त्व अव्याबाधत्व, वीतरागता आदि गुणों की स्तुति।

पूजा के अन्य प्रकार -

1. सदार्चन या नित्यमह (नित्य पूजा)-जन सामान्य सभी के द्वारा नित्य की जाने वाली पूजा। .
2. चतुर्मुख (सर्वतोभद्र या महामह)-मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा की जाने वाली पूजा।
3. कल्पद्रुम पूजा-चक्रवर्ती राजाओं द्वारा किमिच्छिक दान (याचक की इच्छानुसार दान) देकर की जाने वाली पूजा।
4. आष्टाह्निक पूजा-आष्टाह्निक पर्व में की जाने वाली पूजा।
5. ऐन्द्रध्वज पूजा-देवेन्द्रों द्वारा की जाने वाली पूजा।

इसी तरह अन्य विविध नैमित्तिक पूजाएँ हैं। जैसे दशलक्षण पूजा, सोलहकारण, पञ्चमेरु आदि।

जैनदर्शन में जिनेन्द्र के गुणों की पूजा (भक्ति) का विधान है। उनके मार्ग पर आरूढ़ पञ्चपरमेष्ठियों (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु), जिनोपदिष्ट शास्त्रों, जिन मंदिर (चैत्यालय), जिन धर्म और चैत्य (प्रतिष्ठित प्रतिमायें) इन नव देवों को पूज्य कहा है। सभी जिनेन्द्रों में गुणों की अपेक्षा एकत्व (अभेद) मानकर एक की वन्दना से सबकी वन्दना सम्भव है यदि अन्य का निषेध न किया जाए।

इस तरह जैनदर्शन में बहुत रूपों में और बहुत व्यापक भक्ति मिलती है। ईश्वर वीतरागी है फिर भी उसके गुणों के सङ्कीर्तन से कर्मक्षय, पुण्यलाभ, सांसारिक सुख और परम्परया मोक्ष (आत्यन्तिक सुख) मिलता है।

भारतीय चिन्तन में आत्म-तत्त्व : एक समीक्षा

(इस आलेख में सभी भारतीय दर्शनों तथा तन्त्र सिद्धान्तों में स्वीकृत आत्मा के स्वरूप के विषय में गम्भीर एवं समीक्षात्मक चिन्तन किया गया है। इस चिन्तन के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा की नित्यता, अनित्यता, अणुरूपता, व्यापकता, शरीर-परिमाणता, सूक्ष्मता आदि का समन्वय कैसे किया जा सकता है। आत्मा चेतन है, ज्ञानरूप है तथा शरीर-इन्द्रियादि से भिन्न है। जैनदृष्टि ही इस सन्दर्भ में खरी उतरती है।)

भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व (चेतन तत्त्व) के सम्बन्ध में बहुत गम्भीरता से चिन्तन हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न, एक है या अनेक, अणुरूप है या व्यापक या शरीर-परिमाण, नित्य है या अनित्य, ज्ञान उसका अपना स्वभाव है या आगन्तुक धर्म? इत्यादि प्रश्नों का समाधान विभिन्न धर्मों में विभिन्न प्रकार से मिलता है-

1. अनात्मवादी चार्वाक दर्शन

शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से चेतन तत्त्व को पृथक् स्वीकार नहीं करने वाले चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि 'पृथ्वी, जल,

तेज, वायु' इन भूतचतुष्टयों से निर्मित शरीर, मन, इन्द्रियादि से भिन्न कोई पृथक् चेतन तत्त्व नहीं है। शरीर के उत्पन्न होने पर चेतनता उत्पन्न होती है और उसके नष्ट होने पर समाप्त हो जाती है। मैं स्थूल हूँ, 'मैं कृष हूँ इत्यादि अनुभूतियाँ इसमें प्रमाण हैं तथा 'मेरा शरीर' 'मेरी इन्द्रियाँ इत्यादि अनुभूतियाँ काल्पनिक हैं। इसीलिए यह दर्शन देहात्मवादी, भौतिकवादी कहलाता है।[1] इस दर्शन के प्रणेता बृहस्पति हैं, इसीलिए इसे 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहा जाता है। इसका प्राचीन नाम 'लोकायत' (लोक में आयत या व्याप्त) है तथा मीठी बातें करने वाला, स्वर्ग-नरक आदि का चर्वण करने वाला होने से चार्वाक (चारु+वाक्) प्रसिद्ध है। आत्मा को न मानने से यह पुनर्जन्म, मोक्ष, ईश्वर आदि में विश्वास नहीं करता है। इसका एक मात्र सिद्धान्त है -

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'।।

अनुमान (अन्वय-व्यतिरेकी) के द्वारा भी वे अपनी बात को सिद्ध करते हैं 'शरीर के रहने पर ही चैतन्य का आविर्भाव होता है और शरीर के न रहने पर चैतन्य का भी अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्न-पान के सेवन से शरीर में प्रकृष्ट चैतन्य का अभ्युदय होता है और अन्न-पान के ग्रहण न करने पर चेतनता का ह्रास होता है। जैसे- जौ, चावल आदि में मादकता नहीं है फिर भी जब उससे मदिरा बनायी जाती है तो उसमें मादकता पैदा हो जाती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के सम्मिश्रण से चेतनता का आविर्भाव हो जाता है।[2]

2. अनात्मवादी बौद्ध दर्शन

इसके उपदेष्टा गौतम बुद्ध हैं। उन्होंने मनुष्यों में 'पशु-यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति' आदि दुष्प्रवृत्तियों का कारण नित्य आत्मा को जानकर नैरात्म्यवाद (सङ्घातवाद, सन्तानवाद) की प्रतिष्ठापना की। उन्होंने कहा आत्मा पञ्च-स्कन्धों (नाम, रूप, वेदना, विज्ञान और संस्कार) का सङ्घातमात्र है।[3] इनकी मान्यता है कि पुण्य-पाप कर्मों का फल जरूर मिलता है परन्तु वह फल उसी सन्तान परम्परा के नये व्यक्ति को मिलता है, उसे नहीं। ये निर्वाण भी स्वीकार करते हैं परन्तु निर्वाण होने पर न सुख होता है, न दुःख, केवल दीपक की लौ बुझने के समान पञ्चस्कन्धात्मक आत्म-सन्तान परम्परा का अन्त हो जाता है। ये विभिन्न मानसिक अनुभवों और प्रवृत्तियों को स्वीकार करके भी आत्मा को नहीं मानते क्योंकि आत्मा मानस प्रवृत्तियों का अथवा विज्ञान का पिण्ड-मात्र है। यह दर्शन चार सम्प्रदायों में विभक्त है- वैभाषिक (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी), सौत्रान्तिक (बाह्यार्थ अनुमेयवादी), योगाचार (विज्ञानवादी) और माध्यमिक (शून्यवादी)। चारों ही ये दार्शनिक सम्प्रदाय क्षणिकवादी और अनात्मवादी हैं। माध्यमिक तो बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् दोनों को शून्य अथवा मायारूप मानते हैं। इनकी केवल व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नहीं। केवल वर्तमान काल में इनका विश्वास है। इस तरह यह दर्शन अनात्मवादी होकर भी पाप-पुण्य, कर्म, परलोक, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि में विश्वास तो करता है परन्तु क्षणिकवादी होने से ये आत्मा को पञ्चस्कन्थ का सङ्घात कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि इनके पञ्चस्कन्ध में वेदना, विज्ञान और संस्कार जैसे तत्त्वों को भी स्वीकार किया गया है। इन्होंने नित्य आत्मा न मानकर सन्तान-परम्परा को स्वीकार करके दुःख-निवृत्ति और मोक्ष की व्याख्या की है। यहाँ ध्यातव्य है कि कोई नित्य आत्मा न मानने पर स्मृतिलोप, कृतकर्म-हानि, अकृत-कर्म-भोग, संसार से मुक्ति का भङ्ग आदि दोष उपस्थित होते हैं।[4]

3. न्याय-वैशेषिक

न्याय दर्शन के प्रवर्तक हैं न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम और वैशेषिक दर्शन के प्रणेता हैं महर्षि कणाद। ये दोनों शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन्होंने आत्मा को सुखाद्याश्रय तथा इन्द्रिय अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया है। इनके अनुसार ज्ञानादि नौ विशेष गुण (ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार) आत्मा के आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ज्ञानादि आत्मा का स्वभाव नहीं, इसीलिए जब आत्मा को मोक्ष होता है तब उसमें ज्ञानादि गुणों का अभाव हो जाता है।[5] ज्ञान के अभाव में आत्मा जड़ हो जाता है। इसीलिए लोग इस तरह की मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन के जंगल में सियार बनना ज्यादा पसन्द करते हैं।[6] सांसारिक अवस्था में आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता भी है। यह नित्य है, व्यापक है,अमूर्त है और निष्क्रिय भी है। व्यापक होने पर भी ज्ञान-सुखादि का अनुभव स्वयं नहीं करता अपितु अणुरूप मन की सहायता से करता है। मन प्रत्येक शरीर में भिन्न है, क्रियावान् होने से मूर्त तथा अणु है।[7] अतः आत्मा व्यापक होकर भी शरीर में ही ज्ञान-सुखादि का अनुभव करता है, बाहर नहीं। आत्मा प्रतिशरीर में होने से अनेक हैं। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। केवल ईश्वर का

ज्ञान नित्य है, वह सर्वज्ञ है, व्यापक है, सृष्टिकर्ता है और सर्वशक्तिमान् भी है। कुछ ईश्वर को सशरीरी और कुछ अशरीरी मानते हैं। 'आत्मत्व' जाति ईश्वर और जीवात्मा दोनों में है। जीवात्मा बद्ध है और ईश्वर सदा मुक्त। मुक्तावस्था में ज्ञान-सुखादि का अभाव हो जाने से वह पाषाणवत् हो जाता है। शरीर को आत्मा समझना मिथ्या ज्ञान है और मिथ्याज्ञान से राग-द्वेष, पाप-पुण्य, जन्म-मरण तथा दु:ख रूप संसार-परिभ्रमण होता है। मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर राग-द्वेष नष्ट हो जाता हैं। तदनन्तर पाप-पुण्य की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। प्रवृत्ति के अभाव में जन्म का अभाव हो जाता है और जन्म का अभाव होने पर दु:खों का अभाव हो जाता है। ज्ञान की सत्ता देश और काल में भी मानी गई है परन्तु वहाँ ज्ञान की सत्ता क्रमशः दैशिक और कालिक सम्बन्ध से है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। इसी से देश और काल के साथ आत्मा का पार्थक्य प्रकट होता है। प्रारब्ध कर्मों के उपभोग के बिना पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है। ये जीवन-मुक्ति (अपर-निःश्रेयस्) और विदेह मुक्ति (पर-निःश्रेयस्) दोनों मानते हैं। इस तरह इनकी आत्मा ज्ञानाश्रय होकर भी ज्ञान स्वरूप नहीं है। चार्वाक और बौद्धों के चिन्तन की अपेक्षा इनका आत्म तत्त्व, जड़ तत्त्व से कुछ पृथक् है।

4. सांख्य-योग

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि हैं तथा योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि। सांख्य को निरीश्वरवादी और योग को ईश्वरवादी कहा जाता है। दोनों ही प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। योग दर्शन में ईश्वर को क्लेश, कर्म आदि से रहित पुरुष-विशेष कहा गया है। आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है जो कूटस्थ नित्य, त्रिगुणातीत (सत्व, रजस् और तमस् से रहित), अविकारी, निर्लिप्त, निर्गुण, अकर्ता, अप्रसवधर्मी और साक्षी है। पुरुषों की संख्या अनेक है।[8] ज्ञान (बुद्धि) जड़ प्रकृति का परिणाम है जिसे महत् तत्त्व कहा गया है। इसका सम्बन्ध जब आत्मा से होता है तो वह पुरुष ज्ञानरूप हो जाता है किन्तु मुक्तावस्था में प्रकृति से सम्बन्धविच्छेद हो जाने के कारण वह ज्ञान, सुखादि से रहित हो जाता है। संसारावस्था में आत्मा के साथ जब बुद्धि का सम्पर्क होता है तब वह सुखादि का अनुभव करता है। प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। पुरुष और प्रकृति का भेदकज्ञान (विवेक ज्ञान) होने पर जीवात्मा की मुक्ति होती है। वस्तुतः बन्धन और मोक्ष प्रकृति का होता है ऐसा सांख्यकारिका में कहा गया है।[9] क्रियाशीलता प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं। वह तो अविकारी है, निष्क्रिय है, अकर्ता है, सर्वव्यापक है, सर्वधर्मी है, चैतन्यरूप है परन्तु ज्ञान उसका स्वभाव नहीं है, इसीलिए मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है।

सात्त्विक बुद्धि के चार गुण हैं- धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तामस् बुद्धि के भी चार गुण हैं- अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। सात्त्विक बुद्धि से (महत्) अहङ्कार, मन, और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तामस् से तन्मात्राएँ और महाभूत पैदा होते हैं प्रकृति का विकार होने से स्वभावतः बुद्धि अचेतन है। बुद्धि में जब चैतन्यात्मक पुरुष प्रतिबिम्बित होता है और प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के साथ सम्पर्क होता है तो उसे ही ज्ञान कहते हैं। बुद्धि में चैतन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब होने पर परस्पर उपकार होता है और प्रतिबिम्बित पुरुष ज्ञाता और भोक्ता कहलाता है। पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है और प्रकृति के कार्य पुरुष के लिए होते हैं। पुरुष अनेक हैं। इस तरह इन दोनों दर्शनों में मुक्तावस्था में ज्ञान, सुख आदि का अभाव है क्योंकि ये प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने पर होते हैं। प्रकृतिलीन पुरुष भी मुक्त कहलाते हैं परन्तु वे भविष्य में पुनः बन्धन में आ सकते हैं। सदा मुक्त ईश्वर अन्य मुक्तों से भिन्न है। संसारी पुरुष ॐ का ध्यान करने से ईश्वर की कृपा का पात्र होता है तथा उसे स्व-स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है। ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है। योगदर्शन में चिकित्साशास्त्र की तरह (रोग, रोग हेतु, आरोग्य और औषध) चार व्यूह हैं- दु:खमय संसार, संसार का हेतु प्रकृति-संयोग, मोक्ष (प्रकृति-संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति) और निवृत्ति का उपाय (सम्यग्दर्शन, अष्टाङ्ग योग आदि)।

बौद्ध दर्शन में भी इस प्रकार के चार आर्य सत्य बतलाए हैं- दु:ख, दु:ख के कारण, दु:ख से निवृत्ति और दु:ख-निरोधोपाय। चित्त (अन्तःकरण = बुद्धि, मन और अहङ्कार) की पाँच भूमियाँ बतलायी हैं- 1. क्षिप्त (रजोगुणोद्रेक), 2. मूढ (तमोगुणोद्रेक), 3. विक्षिप्त (सत्त्व-मिश्रितोद्रेक), 4. एकाग्र (सत्त्वोद्रेक) और 5. निरुद्ध (चित्त निरोध)। इस तरह सांख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेषिक के आत्म-तत्त्व से एक कदम आगे तो बढ़ता है परन्तु ज्ञान-सुखादि को उसका स्वभाव नहीं मानता है। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से निवृत्ति भी एक अनसुलझी पहेली बनी रहती है।

5. मीमांसा (पूर्व-मीमांसा)

इसे पूर्व-मीमांसा तथा कर्म-मीमांसा भी कहते हैं। इसके प्रतिपादक महर्षि जैमिनि हैं। इस दर्शन के तीन प्रमुख

व्याख्याता हैं- कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र तथा पार्थसारथी मिश्र। इन तीनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में थोड़ा अन्तर है। तीनों ही अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानते हैं। इस दर्शन में आत्मा को कर्ता-भोक्ता तथा प्रतिशरीर में भिन्न होने से अनेक माना गया है। न्याय-वैशेषिक की तरह यहाँ भी ज्ञान आदि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से हैं। प्रतिशरीर में आत्मा के भिन्न होने पर भी आत्मा को व्यापक तथा नित्य माना गया है। इनके यहाँ कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। व्यक्ति कर्मानुसार शरीर धारण करता है, मुक्तावस्था में दु:खों का अत्यन्ताभाव होता है। भाट्ट मत के अनुसार आत्मा में परिणमन क्रिया पायी जाती है। क्रिया दो प्रकार की है[10] - स्पन्दरूप (जिसमें स्थान-परिवर्तन हो) और परिणमनरूप (जिसमें रूप परिवर्तन हो, स्थानपरिवर्तन नहीं)। इस तरह भाट्ट परिणामी वस्तु को भी नित्य मानते हैं। आत्मा के दो अंश हैं- चित् और अचित्। चिदंश से ज्ञान का अनुभव होता है अचिदंश से परिणमन क्रिया होती है। सुख-दु:खादि आत्मा के विशेष धर्म हैं जो अचिदंश के ही परिणमन हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप न होकर चैतन्यविशिष्ट है। अनुकूल परिस्थितियों में शरीर एवं विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय होता है। स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क न होने से आत्मा में चैतन्य नहीं रहता है। इस तरह आत्मा चित् एवं अचित् उभयरूप है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष है- 'अहं आत्मानं जानामि' इस अनुभव के आधार पर आत्मा को ज्ञान और विषय दोनों का कर्ता मानते हैं[11]। निष्काम कर्म से और आत्मिक ज्ञान से सब कर्मों का विनाश और मुक्ति होती है।

प्रभाकर मिश्र (गुरु) आत्मा में क्रिया नहीं मानते हैं। आत्मा 'अहं' प्रत्यय-गम्य है। ज्ञान का कर्ता आत्मा है। प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलय ही मोक्ष है। चोदना (विधि) ही धर्म है। पार्थसारथी मिश्र मोक्ष में सुख और दु:ख दोनों का अत्यन्ताभाव मानते हैं। भाट्टों की एक परम्परा मोक्ष में शुद्धानन्द का अस्तित्त्व मानती है।[12]

इस तरह कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा चित्-अचित् उभयरूप है। 'आत्मा क्रियाशील है अथवा नहीं' इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र में मतभेद है। आत्मा के व्यापक होने से भाट्ट स्पन्दरूप क्रिया नहीं मानते हैं। केवल रूप परिवर्तन को क्रिया मानते हैं। वस्तुत: मीमांसा दर्शन का उद्देश्य वेदविहित-विधि वाक्यों का व्याख्यान करना है[13]। मीमांसा में मोक्ष-विषयक दर्शन का विचार बाद में लौगाक्षिभास्कर द्वारा हुआ है। ये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। न्याय-वैशेषिक आत्मा में क्रिया स्वीकार नहीं करते हैं। इस दर्शन की खास विशेषता है आत्मा को नित्य-परिणामी स्वीकार करना जैसा कि जैनदर्शन में माना जाता है। आत्मा में चित् और अचित् दोनों मानना असङ्गत है।

6. वेदान्त (उत्तर-मीमांसा या ज्ञान-मीमांसा)

उपनिषद् विद्या ही वेदान्त विद्या (वेद+अन्त) है। महर्षि वादरायणव्यास कृत ब्रह्मसूत्र (उपनिषदों पर आश्रित) की व्याख्या कई आचार्यों ने की है जिससे वेदान्त के कई उपभेद हो गए हैं। इसमें शङ्कराचार्य का अद्वैत-वेदान्त प्रमुख है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा ब्रह्म (परमात्मा) ही है। ब्रह्म निर्विकल्पक, निरुपाधिक, निर्गुण, निर्विकार और चैतन्यरूप है। निर्गुण ब्रह्म जब अनिर्वचनीय माया से उपहित हो जाता है तो वह ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण यही ईश्वर है। यह ईश्वर न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह सृष्टि का केवल निमित्त कारण नहीं है अपितु निमित्त और उपादान दोनों कारण है। वह चैतन्य ब्रह्म जब अन्त:करणावच्छिन्न होता है तो उस चैतन्य को जीव कहते हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियों का अध्यक्ष और कर्म-फल-भोक्ता आत्मा ही जीव है। उसका चैतन्य न्याय-वैशेषिक की तरह कादाचित्क (कभी होना और कभी नहीं होना) रूप नहीं है अपितु सदा (स्वप्न, सुषुप्ति और जागृत) तीनों अवस्थाओं में रहने वाला है। ब्रह्म का ही रूप होने से आत्मा भी व्यापक है। उसमें जो अणुरूपता की कल्पना की जाती है वह उसके सूक्ष्म रूप होने के कारण है। आत्म-चैतन्य को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों में देखा जा सकता है परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य-रूप इन पञ्च कोशों से नितान्त भिन्न है। यह आत्मा नित्य है, व्यापक है, चैतन्यस्वरूप है, एक है, स्वयंसिद्ध है। बुद्धि के कारण इसमें चञ्चलता प्रतीत होती है अन्यथा वह शान्त स्वभाव है। यह ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। वस्तुत: ज्ञाता और ज्ञान पृथक् नहीं हैं, आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञाता भी है। आत्मा के समक्ष जब विषय उपस्थित रहता है तो वह ज्ञाता हो जाता है अन्यथा वह केवल ज्ञानरूप रहता है अर्थात् ज्ञान ही ज्ञाता हो जाता है। ज्ञेय विषय के न रहने पर ज्ञाता की कल्पना नहीं रहती है। अनित्य ज्ञान जो विषय-सान्निध्य से उत्पन्न होता है वह अन्तस्करणावच्छिन्न-वृत्ति मात्र है। विषय और विषयी का पार्थक्य व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं क्योंकि परब्रह्म ही कभी विषयी रूप से, कभी विषय रूप से ज्ञात होता है। वह

एक अखण्डरूप है और नानात्मक जगत् काल्पनिक या मायिक है। सगुण ब्रह्म उसका तटस्थ लक्षण (आगन्तुक) है और चिदानन्दरूप निर्गुण ब्रह्म उसका स्वरूप लक्षण (तात्त्विक) है। आचार्य शङ्कर माया को त्रिगुणात्मिका, ज्ञान-विरोधी, भावरूप तथा अनिर्वचनीय ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति मानते हैं। इस तरह शाङ्कर वेदान्त में आत्म-तत्त्व परम शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का ही रूप है। अत: मुक्तावस्था में जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' इन महावाक्यों से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है[14]। मुक्तावस्था में ज्ञान, सुखादि भी रहते हैं। इस मत में समस्या यह है कि जब सब ब्रह्म रूप है तो वह बन्धन में कैसे पड़ा? और एक के मुक्त होने पर सभी को मुक्त क्यों नहीं माना गया? यदि उसमें अंश की कल्पना करते हैं तो उसका विभु (व्यापक) रूप नष्ट होता है।

7. वैष्णव दर्शन

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच समुदाय प्रमुख हैं-

(क) रामानुज दर्शन

यह दर्शन विशिष्टाद्वैतवादी है। इनके मत में ब्रह्म में सजातीय और विजातीय भेद न होकर स्वगत भेद है, जबकि शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म तीनों प्रकारों के भेदों से रहित है। यहाँ ब्रह्म के दो अंश हैं- चित् और अचित्। अत: तीन पदार्थ हैं चित्, अचित् और ईश्वर। चित् से तात्पर्य है भोक्ता जीव, अचित् से तात्पर्य है भोग्य जगत् तथा चित्-अचित् विशिष्ट से तात्पर्य है ईश्वर। यह ईश्वर जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। यह कारण-व्यापार न तो अविद्या कर्म-निबन्धन है और न कर्मयोगमूलक है अपितु स्वेच्छाजन्य है। जीव तत्त्व अत्यन्त अणु, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, आनन्दरूप, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, अजड तथा देह, इन्द्रिय-मन प्राण बुद्धि से विलक्षण है।[15]

(ख) माध्व दर्शन[16]

आनन्दतीर्थ का प्रसिद्ध नाम था 'मध्व'। यह ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाता है। इनके मत में 'विष्णु' अनन्त गुण सम्पन्न परमात्मा हैं। 'लक्ष्मी' परमात्मा की शक्ति है। संसारी जीव अज्ञान, मोह, दु:ख, भयादि दोषों से युक्त है। ये तीन प्रकार के हैं- मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। ये तीनों क्रमश: उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के होते हैं। मुक्त जीवों के ज्ञान, आनन्दादि गुणों में तारतम्य पाया जाता है। जैनदर्शन में इन तीनों प्रकार के जीवों को क्रमश: भव्य, भव्याभव्य और अभव्य कहा है। चैतन्यांश को लेकर ही भगवान् के साथ जीव की एकता प्रतिपादित की गई है।

(ग) निम्बार्क दर्शन

इसे सनत्कुमार सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत में जीव अणुरूप तथा संख्या में अनेक हैं। वह हरि का अंशरूप है[17]। अंश का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है अपितु शक्तिरूप है। जीव कर्ता भी है और ज्ञान स्वरूप भी है।

(घ) वल्लभ दर्शन

इस दर्शन को रुद्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप, अग्नि के स्फुलिङ्ग के समान अणुरूप तथा नित्य है। जीव तीन प्रकार के होते हैं- शुद्ध, मुक्त एवं संसारी। यह भक्तिमार्गीय (पुष्टिमार्गीय) दर्शन है। यहाँ ईश्वर-भक्ति ही सब कुछ है। ब्रह्म क्रीड़ार्थ जगत् का रूप धारण करता है। इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है। इनके सिद्धान्त में ब्रह्म माया से अलिप्त होने से नितान्त शुद्ध है।[18]

(ङ) चैतन्य दर्शन

इस मत के प्रमुख थे महाप्रभु चैतन्यदेव तथा उनके शिष्य रूपगोस्वामी। इसे हम अपने कीर्तनों से बङ्ग देश को रसमय तथा भावविभोर करने वाला मत कह सकते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ब्रह्म में सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं हैं। ब्रह्म परमात्मा अखण्ड, सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प आदि अनन्त गुणों से युक्त है। भगवान् का विग्रह (शरीर) तथा गुण उससे भिन्न नहीं है। भाषा की दृष्टि से उनका पार्थक्य किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अचिन्त्य-भेदाभेद है[19]। परमात्मा मूर्त होकर भी विभु है। जीव परिच्छिन्न स्वभाव तथा अणुत्व शक्ति-युक्त है।

8. शैव दर्शन (शैव तन्त्र दर्शन)

यहाँ जीव को 'पशु' कहा गया है, परमेश्वर शिव को 'पति', माया रूपी जगत् को 'पाश' कहा गया है। जीव शिव का ही अंश माना गया है परन्तु वह अणुरूप और सीमित शक्ति सम्पन्न है, संख्या में अनेक है। शिवत्व-प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञान तथा क्रिया शक्ति का उदय होता है। पासों के तारतम्य के कारण पशु (जीव) तीन प्रकार का होता

है– विज्ञानाकल्प, प्रलयाकल्प और सकल। जीवों के तीन भाव हैं– 1. पशुभाव– जिनमें अविद्या का आवरण न हटने से अद्वैत ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं है। इनकी मानसिक अवस्था पशुभाव है। ये संसार मोह में बँधे होने के कारण अधम पशु हैं। सत्कर्मपरायण–भगवद् भक्त उत्तम पशु हैं। 2. वीरभाव– जो अद्वैतामृत की कणिका का आस्वादन करके अज्ञान–रज्जु को कुछ मात्रा में काटकर कृतकार्य होते हैं, वे वीरभाव में हैं। 3. दिव्यभाव– जो द्वैतभाव हटाकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं। ये उपास्य देवता की सत्ता में अपने को लीन कर देते हैं।

9. पाञ्चरात्र दर्शन (वैष्णव तन्त्र दर्शन)

इस मत में जीव स्वभावत: सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ है परन्तु ईश्वर की तिरोधानाशक्ति के कारण जीव अणु, अकिञ्चित्कर और किञ्चिज्ञ हो जाता है। ईश्वर जीवों की दीन–हीन दशा को देखकर करुणावश उनपर करुणा की वर्षा करते हैं।

10. शाक्त–तत्र दर्शन

शाक्तधर्म का उद्देश्य जीवात्मा (उपासक) की परमात्मा (उपास्य) के साथ अभेदसिद्धि है। यह अद्वैतवाद का साधनमात्र है। सच्चा शाक्त वही है जो ‘मैं ही ब्रह्म हूँ, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ तथा नित्यमुक्त स्वभाव वाला हूँ ऐसा विचार करता है।[20] कुछ शाक्त वेदानुयायी हैं और कुछ वेद बाह्य हैं। कुछ शाक्तों के वामाचारी (घृणिताचारी) होने से शाक्त बदनाम हैं अन्यथा शाक्तों में परब्रह्म सर्वज्ञ, शिव, स्वयंज्योति, निष्फल, अनादि–अनन्त, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द रूप है।[21] जीव अग्नि–स्फुलिङ्गवत् उससे जन्य है।

11. जैन दर्शन[22]

इस दर्शन में शरीर, मन, प्राण आदि से सर्वथा भिन्न चैतन्य को आत्मा कहा गया है। शुद्ध आत्मा को अनन्त चतुष्टय (अनन्त सुख, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन) से सम्पन्न माना गया है। संसारावस्था में आठ प्रकार के कर्मों से आवृत्त होने के कारण उसके चारों विशेष गुण आंशिक रूप से प्रकट होते हैं। जब आत्मा कर्मों के आवरण को तप–साधना के द्वारा पूर्णरूपेण हटा देता है तो उसके ये चारों विशेष गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। संसारावस्था में आत्मा के ये गुण उसी प्रकार तिरोहित रहते हैं जिस प्रकार बादलों के द्वारा सूर्य का प्रकाश तिरोहित हो जाता है और बादलों के हटने पर सूर्य का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है। एकेन्द्रियादि जीवों की सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में ज्ञानादि गुणों का उसके साथ कभी भी अभाव नहीं होता है। अत: कहा है उपयोग जीव का लक्षण है और वह दो प्रकार का है– ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जीवों की राशि अनन्त है और उसमें परिणामी–नित्यता (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य) पायी जाती है। इसमें ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है। अत: जीव मुक्त होने पर लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करके स्थिर हो जाता है। अरूपी होने से वह हमारी इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता। निश्चय की दृष्टि से आत्मा सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अकर्ता और अभोक्ता है परन्तु संसारावस्था में व्यवहार दृष्टि से वह कर्ता, भोक्ता आदि है। उसे जो शरीर प्राप्त होता है तदनुरूप हो जाता है। इसीलिए उसे शरीर–परिमाण कहा गया है, न व्यापक और न अणु। मुक्तावस्था में शरीर का अभाव हो जाता है परन्तु वह अपने पूर्व शरीर के आकार को नहीं छोड़ता है। सामान्य से सभी जीवों का आकार लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है। सङ्कोच–विकास शक्ति के कारण वह छोटे–बड़े शरीर में रह सकता है। वह सूक्ष्म और अरूपी भी है। मृत्यु के बाद भी संसारावस्था में उसके साथ कार्मण और तैजस् ये दो सूक्ष्म शरीर अवश्य रहते हैं। ज्ञानादि गुण आत्मा से कभी पृथक् नहीं होते हैं अत: उन दोनों में कोई भेद नहीं है फिर भी व्यवहार से (द्रव्य–गुण के भेद से) उनमें भेद किया जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की तरह ज्ञान और आत्मा में सर्वथा भेद नहीं है। अनेकान्तवादी दर्शन में अपेक्षाभेद से भेदाभेदकत्व बन सकता है। इसी तरह आत्मा बौद्धों की तरह क्षणिक तथा वेदान्तियों की तरह सर्वथा नित्य नहीं है परन्तु अपेक्षाभेद से नित्यानित्यात्मक है। मुक्त होने पर अशरीरी हो जाता है परन्तु मुक्तिपूर्व के शरीर का आकार (कुछ न्यून) बना रहता है। कर्म सम्बन्ध न होने से उनका सङ्कोच–विकास नहीं होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति में भी जीवत्व की सत्ता मानी जाती है। पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर पृथ्वी होता है, जलकायिक जीवों का शरीर जल। ये जीव एकेन्द्रिय होते हैं और इसके आगे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय होते हैं। कोई नित्य ईश्वर नहीं है और जिन्हें ये ईश्वर मानते हैं वे वीतरागी होने से न तो क्रोधादि करते हैं और न कृपादि करते हैं। ये सांख्य दर्शन की तरह साक्षी मात्र होते हैं। सूक्ष्मता और अरूपता के कारण एक अणुरूप स्थान में भी अनन्त जीव रह सकते हैं। मन को इन्होंने जड़ (पुद्गल) स्वीकार किया है। यह मन अणुरूप है और चैतन्य आत्मा के सम्पर्क से चेतनवत् कार्य

करता है। यह मन पञ्चेन्द्रिय जीवों में ही सम्भव है। जैनदर्शन में मन की कल्पना विशेष प्रकार से की गई है। इस तरह जैन दर्शन में आत्मा के विविध रूपों का विस्तार से चिन्तन किया गया है और उसे वेदान्त की तरह ज्ञानरूप माना गया है। इसीलिए मुक्तावस्था में ज्ञान, सुख आदि गुण उसके साथ अभिन्न रूप से रहते हैं।

उपसंहार

इस तरह इन सभी दर्शनों में जो आत्मतत्त्व का चिन्तन किया गया है उनमें चार्वाक और बौद्धों को छोड़कर सभी शरीर आदि से भिन्न आत्मा को स्वीकार करते हैं। कहीं चैतन्य उसका स्वरूप है, कहीं आगन्तुक धर्म, कहीं कूटस्थ नित्य है तो कहीं परिणामी नित्यानित्य। कहीं अणुरूप है तो कहीं व्यापक या शरीर परिमाण। कहीं ईश्वर या ब्रह्म का अंश है तो कहीं ब्रह्म का विवर्त। कहीं मुक्तावस्था में अनन्त ज्ञान और सुख है तो कहीं ज्ञान और सुख दोनों का सर्वथा अभाव या केवल दु:खाभाव या शून्यता है। कहीं कर्ता और भोक्ता है तो कहीं अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के लिए स्वतन्त्र नहीं है। कहीं एक है तो कहीं अनेक। वह शरीर से भिन्न है, अरूपी है तथा चैतन्य के साथ उसका या तो गुण-गुणीभाव सम्बन्ध है या स्वयं चैतन्यरूप है। इस विषय में सभी आत्मवादी दर्शन एकमत हैं। आत्मा को चैतन्यरूप तथा ज्ञानरूप मानने में ही समस्याओं का समाधान है अन्यथा इसे मानने का कोई मतलब नहीं है। इसी तरह संख्या में अनेक, शरीर-परिमाण, सूक्ष्म, परिणामी नित्य और अरूपी मानना भी आवश्यक है। किसी न किसी रूप में सभी आत्मवादी दर्शन और तन्त्रवादी इससे सहमत हैं यदि कुछ अन्तर है तो अपेक्षाभेद का। मुक्तावस्था में स्व-स्वीकृत सिद्धान्तानुसार सभी ने आत्मा की शुद्ध स्व-स्वरूपोपलब्धि को माना है। विज्ञान इस विषय में निरन्तर खोज कर रहा है। परन्तु अभी तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा है।

सन्दर्भ सूची

1. सर्वदर्शनसंग्रह पृ0 4-8; द्रष्टव्य भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी 1957, पृ0 135॥
2. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
   जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
   ताम्बूल-पूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥ सर्वसिद्धान्त संग्रह, 2/7
3. कृत-प्रणाशाकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्ष-स्मृतिभङ्गदोषान्।
   उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन् अहो महासाहसिक: परोऽसौ।। अन्ययोगव्ययच्छेदद्वात्रिंशिका, आचार्य हेमचन्द्र, श्लोक 18
4. तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्ग:। न्यायसूत्र 1.1.22
5. स्वरूपैकप्रतिष्ठान: परित्यक्तोऽखिलैर्गुणै:।
   ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिण:।
   संसारबन्धनाधीनदु:खक्लेशाद्यदूषितम् ॥ न्यायमञ्जरी, पाण्डुरङ्ग, बम्बई 1933, पृ0 77,
6. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
   वैशेषिकोक्तमोक्षस्तु सुखलेशविवर्जितात्।। स0सि0सं0, पृ0 28
   मुक्तये य: शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।।
   गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव स:।। नैषधचरित, 17.75
7. साक्षात्कारे सुखादीनां कारणं मन उच्यते।
   अयोगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ।। भाषापरिच्छेद, कारिका 85
8. सांख्यकारिका, कारिका 18
9. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
   संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति: ।।62॥
10. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते ।
    न परिस्पन्द एवैक: क्रिया न: कणभोजिवत् ।। श्लोकवार्तिक, पृ0 707
11. चिदंशेन द्रष्ट्रत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन।
    ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम् । स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्य:। सदानन्द, अद्वैतब्रह्मसिद्धि:।

12. दु:खात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिन: । सुखस्य मनसाभुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलै: ।।
मानमेयोदय, पृ0 212 तथा देखें वेदान्तकल्पलतिका, पृ0 4
13. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म: । - जैमिनि, द्वादशलक्षणी, 1.1.2
14. अहं ब्रह्मास्मि। बृह0 उप0, 1.4.10, अयमात्मा ब्रह्म। -माण्डूक्य उप0 2, तत्त्वमसि। छा0 उप0, 6.8.7, द्रष्टव्य, उपनिषत्संग्रह, पण्डित जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
15. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।।
भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते। श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.9॥
16. देखें, भागवत-तात्पर्य-निर्णय, माध्वबृहद्भाष्य ।
17. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोग-वियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु: ।। दशश्लोकी, 1.
18. कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् । शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, 28
19. विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात् । सिद्धान्तरत्न, पृ0 23
20. अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ।। कुलार्णव, 1/6
21. वही, 1/6-10
22. देखें, द्रव्यसंग्रह, गाथा 2-14, 50-51

भारतीय चिन्तन में मोक्ष तत्त्व : एक समीक्षा

(शुद्ध आत्म-स्वरूपोपलब्धि ही मोक्ष है। इसमें सभी दर्शन एक मत हैं। मोक्ष में ज्ञान, सुख, इन्द्रियाँ, शरीर, निवासस्थान आदि की क्या स्थिति होती है? क्या बौद्धों की तरह निर्वाण सम्भव है? मोक्ष कैसे प्राप्त किया जा सकता है? क्या उन्हें ईश्वर कहा जा सकता है? क्या कोई अनादि मुक्त भी है? आदि प्रश्नों का समाधान इस आलेख में किया गया है।)

सभी भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य है 'मोक्ष' जिसका अर्थ है 'संसार-बन्धन से मुक्ति' अथवा अपने निज शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति। अत: जिस दर्शन में आत्मा का जैसा स्वरूप बतलाया गया है वहाँ उस आत्म-स्वरूप को प्राप्त होना मोक्ष है। जैसे विजातीय तत्त्वों से अशुद्ध सोने को हम अग्नि में तपाकर उसके विजातीय तत्त्वों को हटाकर शुद्ध करते हैं वैसे ही विजातीय कर्म अथवा अज्ञान के आवरण से जो आत्मा मलीमस हो रहा है उसे संयम, समाधि अथवा तपरूप अग्नि में तपाने पर उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

मोक्षमार्ग (श्रेयोमार्ग)

कठोपनिषद् में आया है कि संसारी प्राणी दो प्रकार के मार्गों में से किसी एक मार्ग पर चलता है, वे दो मार्ग हैं[1]- प्रेयोमार्ग (संसारमार्ग) और श्रेयोमार्ग (मुक्तिमार्ग)। प्रेयोमार्ग का वरण करने वाला प्राणी आपातत: रमणीय विषयभोगों में प्रवृत्त होकर संसार में भटकता रहता है। अधिकतर प्राणी अज्ञानवश इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति का मूल कारण है- राग और द्वेष। इन्द्रियों को सुख देने वाले पदार्थों से राग (प्रेम, लगाव, भोगेच्छा आदि, 'सुखानुशायी राग:') तथा इन्द्रियों को दु:ख देने वाले पदार्थों से द्वेष (घृणा, हेयदृष्टि, क्रोध आदि, 'दु:खानुशायी द्वेष:') करना ही प्रेयोमार्ग है। इन रागी-द्वेषी प्रवृत्तियों का प्रभाव हमारे चित्त और इन्द्रियों पर इतना अधिक पड़ता है कि वह अवश होकर श्रेयोमार्ग (परम कल्याणकारी मार्ग, धर्ममार्ग) की उपेक्षा कर देता है। श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करने वाला प्राणी विषयभोगोन्मुखी प्रवृत्ति को रोककर अन्तर्मुखी (आत्मोन्मुखी) होकर चित्त-शुद्धि को करता है।[2] हमारे सांसारिक जीवन के ऊपर अज्ञान, राग, द्वेष आदि का तमोपटल इतना गाढ़ा है कि उसे दूर करने के लिए निरन्तर सद्दृष्टि, सद्-ज्ञानाभ्यास तथा सदाचरण की नितान्त आवश्यकता है। इन्द्रिय-संयम, आत्मध्यान, यम-नियम, समाधि, समता, तप आदि के द्वारा इसी बात को कहा गया है। अत: जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को सम्मिलित रूप से मोक्षमार्ग (श्रेयोमार्ग) बतलाया गया है।[3] बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधनों को एतदर्थ आवश्यक

बतलाया गया है।[4] वेदान्त, सांख्य, योग और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी प्रकारान्तर (नाम-भेद) से यही बात कही गई है।[5] गीता का भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही नामान्तर से कहता है। इतना विशेष है कि जैनदर्शन में इन तीनों को पृथक्-पृथक् मुक्ति का मार्ग न मानकर तीनों की सम्मिलित अनिवार्यता मानी है।[6] जहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् मुक्ति का मार्ग बतलाया है। वहाँ उसके महत्त्व को प्रदर्शित करना है परन्तु पूर्णता हेतु अन्य दो साधन भी अनिवार्य हैं क्योंकि सद्दृष्टि और सद्-ज्ञान के बिना कर्मयोग (सम्यक्चारित्र) का फल नहीं है, सदाचार और सद्-ज्ञान के बिना भक्तिमार्ग (सम्यग्दर्शन) सम्भव नहीं है तथा सद्-दृष्टि और सदाचार के बिना ज्ञानमार्ग (सम्यग्ज्ञान) भी फलदायी नहीं है।

मुक्तावस्था

'मोक्ष' या 'मुक्ति' शब्द का सीधा अर्थ है- कर्मबन्धन-जन्य परतन्त्रता को हटाकर स्वतन्त्र हो जाना। जैन दर्शन में इसे सिद्ध अवस्था भी कहा गया है। सिद्ध का अर्थ है 'शुद्धता की प्राप्ति'। जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्मबन्ध के रागादि कारणों का उच्छेद होने पर मोक्ष होता है।[7] जो आत्मा अनादिकाल से कलुषताओं से घिरा हुआ था वह मुक्त होने पर निर्मल, चैतन्यमय तथा ज्ञानमय हो जाता है। आत्मा की कर्मनिमित्तक वैभाविकी शक्ति के कारण जो संसारावस्था में विभावरूप (मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा असदाचाररूप) परिणमन हो रहा था, मुक्तावस्था में वह विभाव-परिणमन (राग-द्वेषादि रूप निमित्त के हट जाने पर) शुद्ध स्वाभाविक परिणमन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) में बदल जाता है। अर्थात् मोक्षावस्था में आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थित हो जाता है।[8] इसीलिए उसे 'आत्म-वसति' कहा है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर आत्मा अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य इन चार गुणों) को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था-प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता है। आत्मा को व्यापक न मानने से उसके निवास स्थान को भी माना गया है। 'तीर्थङ्कर' होकर मुक्त होना एक विशेष अवस्था है परन्तु बाद में कोई भेद नहीं रहता है। जैनदर्शन में माना गया है कि पहले सभी जीव कर्मबन्थनयुक्त (संसारी) थे। बाद में ध्यान-साधना द्वारा मुक्त हुए हैं। इन्हीं की वे पूजा करते हैं और इन्हें ही ईश्वर मानते हैं परन्तु जगत्कर्ता आदि नहीं। चूँकि जैनदर्शन में आत्मा को शरीर-परिमाण कहा है। अतः संसारावस्था में कर्मजन्य छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है वह तद्रूप परिणत हो जाता है क्योंकि उसमें दीपक के प्रकाश की तरह सङ्कोच-विकास शक्ति है। मुक्त होने पर कर्मबन्धन न होने से कोई शरीर नहीं रहता है। अव्यवहित पूर्वभव का शरीर-परिमाण (कुछ न्यून) बना रहता है क्योंकि उसमें सङ्कोच विकास के कारणभूत कर्मों का अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आत्मा न तो सङ्कुचित होकर अणुरूप होता है और न व्यापक। आत्मा में स्वाभाविक रूप से एरण्डबीज, अग्निशिखा आदि की तरह ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है जिससे वह शरीर-त्याग के उपरान्त ऊपर लोकान्त तक गमन करता है।[9] लोकान्त (सिद्धालय) के बाद गति में सहायक धर्मद्रव्य (गतिद्रव्य) का अभाव होने से आगे (अलोकाकाश में) गमन नहीं होता है।[10] अनन्त शक्ति होने पर भी मुक्त जीव लोकान्त के बाहर नहीं जाते क्योंकि वे सब प्रकार की कामनाओं से रहित (पूर्ण-काम) हैं। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की जो वहाँ सत्ता मानी गई है वह अतीन्द्रिय अपरोक्ष ज्ञान (केवलज्ञान) तथा अतीन्द्रिय सुख (आत्मस्थ ज्ञान-सुख) है। इन्द्रिय, मन, शरीर आदि का अभाव होने से वहाँ तज्जन्य सुखादि का अभाव है। शरीर का अभाव होने से पूर्णतः अरूपी और सूक्ष्म अवस्था है। इसीलिए अनेक मुक्त (सिद्ध) जीव एक ही स्थान पर बिना व्यवधान के ठहर जाते हैं। वहाँ पर सभी मुक्त या तो पद्मासन में हैं या खड्गासन में, क्योंकि मुक्त जीव इन्हीं दो अवस्थाओं में ध्यान करते हुए मुक्त होते हैं। मुक्तावस्था में सभी एकसमान ज्ञान, सुखादि से युक्त होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता है। यदि वहाँ कोई भेद (क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग आदि के भेद से बारह प्रकार का) है तो वह उपचार से पूर्व जन्म (भूतकाल) की अपेक्षा से है।[11]

अन्य दर्शनों के साथ तुलना

जैनदर्शन में जीवन्मुक्त को भी स्वीकार किया गया है। यह सशरीरी अवस्था है और आयु की समाप्ति पर नियम से उसी भव में विदेहमुक्त होता है। इसके सभी घातिया कर्म (आत्मा के स्वाभाविक या अनुजीवी गुणों के प्रत्यक्ष घातक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म) नष्ट हो जाने से वह 'अर्हत्' (केवलज्ञानी) कहलाता है।

इस तरह जैनधर्म में बौद्धों की तरह अभावरूप निर्वाण (मोक्ष) को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि भावरूप पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता है। न्याय-वैशेषिकों की तरह आत्मा के ज्ञान और सुख विशेष गुणों (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार- ये नौ न्याय दर्शन में आत्मा के विशेष गुण माने गए हैं जिनका मुक्तावस्था

में अभाव हो जाता है। जैन ज्ञान और सुख को छोड़कर शेष का अभाव मानते हैं।) का अभाव भी स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा तो आत्मा जड़ हो जाएगा और कोई भी व्यक्ति जड़ (अचेतन) होना नहीं चाहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वहाँ दु:ख के साथ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, सुखादि का भी अभाव हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा और मन का संयोग होने पर ज्ञानादि आत्मा के विशेष गुण उत्पन्न होते हैं और मोक्ष में मन का संयोग न होने से ज्ञानादि गुण भी नहीं रहते हैं।[12] सांख्य-योग दर्शन की भी करीब-करीब यही स्थिति है क्योंकि चेतन पुरुष तत्त्व साक्षी मात्र है और बुद्धि (महत्) प्रकृति का विकार (जड़) है। अत: यहाँ भी मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं है क्योंकि वह प्रकृति के संयोग से होता है और मुक्तावस्था में आत्मा के साथ प्रकृति का संयोग नहीं माना गया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में सुख और ज्ञान की सत्ता तो है परन्तु वहाँ एक ही आत्मतत्त्व है।[13]

मुक्तात्माओं में अप्रकट आठ गुणों का आविर्भाव

जैनदर्शन में सिद्धालय में पुद्गल (जड़ तत्त्व) के परमाणुओं के साथ आत्मा का संयोग तो है परन्तु आत्मा में रागादि का अभाव होने से वे परमाणु कर्मरूप परिणत नहीं होते हैं। अत: पुनर्जन्म नहीं होता है। जैनदर्शन में कर्म मूलत: आठ प्रकार के माने गए हैं जो आत्मा के स्वाभाविक आठ गुणों को ढंक देते हैं। इन कर्मों के हटने पर सभी सिद्धों (विदेह मुक्तों) में निम्न आठ गुण प्रकट हो जाते हैं।[14]-

1. क्षायिक सम्यक्त्व (निर्मल श्रद्धान)- मोहनीय कर्म के क्षय से प्रकट गुण।
2. अनन्तज्ञान (तीनों लोकों का त्रैकालिक पूर्ण ज्ञान)- ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रकट गुण। अनन्तदर्शन (तीनों लोकों के द्रव्यों का अवलोकन)- दर्शनावरणीय कर्मक्षय से प्रकट गुण।
3. अनन्तवीर्य (अतुल सामर्थ्य या शक्ति)- अन्तराय कर्मक्षय से प्रकट गुण।
4. सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व या अशरीरत्व)- नामकर्म के क्षय से प्रकट गुण।
6. अवगाहनत्व (जन्म-मरण का अभाव)- आयुकर्म के क्षय से प्रकट गुण।

   इस गुण के होने पर एक स्थान पर अनन्त सिद्ध ठहर सकते हैं क्योंकि उनके अमूर्त होने से कोई बाधा नहीं होती।
7. अगुरुलघुत्व (छोटे-बड़े का भेदाभाव, समानता)- गोत्रकर्म तथा नामकर्म के क्षय से प्रकट गुण।
8. अव्याबाधत्व (अनन्त सुख या अतीन्द्रिय अपूर्व सुख। साता-असातारूप आकुलता का अभाव)- वेदनीय कर्म-क्षय से प्रकट गुण।

यहाँ इतना विशेष है कि एक-एक कर्मक्षय जन्य गुण का यह कथन प्रधानता की दृष्टि से सामान्य कथन है क्योंकि उनमें अन्य कर्मों का क्षय भी आवश्यक होता है। वस्तुत: आठों ही कर्मों का समुदाय एक सुख गुण का प्रतिबन्धक है।[15] जो केवलज्ञान है वही सुख है। दिगम्बर मान्यतानुसार निर्ग्रन्थ मुनि ही सिद्ध होते हैं परन्तु श्वेताम्बर मान्यतानुसार स्त्री तथा गृहस्थ भी सिद्ध हो सकते हैं।

अन्य विशेषताएँ

मुक्त होने पर भी वस्तु का जो स्वभाव है उत्पत्ति, विनाश और नित्यता वह मुक्तात्मा में भी है परन्तु वह समानाकार (षट्-गुण हानि-वृद्धि रूप) है। मुक्तों को निरञ्जन, निराकार, निकल, परमात्मा, सिद्ध आदि नामों से भी जाना जाता है। सिद्ध न तो निर्गुण हैं और न शून्य; न अणुरूप हैं और न सर्वव्यापक अपितु आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा चरम-शरीर (अर्हन्तावस्था का शरीर) के आकाररूप में रहते हैं। वे सांख्यवत् न तो चैतन्यमात्र हैं और न न्याय-वैशेषिकवत् जड़ अपितु चैतन्यता के साथ ज्ञानशरीरी (सर्वज्ञ) हैं क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूपी और चैतन्यरूप है।[16] अत: मुक्तात्मा ज्ञान गुण के अविनाभावी सुखादि अनन्त चतुष्टय से भी सम्पन्न है।

उपसंहार

इस तरह शुद्ध आत्म-स्वरूपोपलब्धि मोक्ष है जहाँ सभी प्रकार के दु:खों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) का अभाव हो जाता है। इस कथन से सभी आत्मवादीदर्शन सहमत हैं। वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की सत्ता को वेदान्त और जैन स्वीकार करते हैं परन्तु न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य में इनके अस्तित्त्व का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि न्यायदर्शन में इन गुणों का मोक्ष में अभाव है[17] तथा सांख्य में भी ज्ञान और सुख प्रकृति-संसर्ग के धर्म हैं जिनका वहाँ अभाव है। बौद्धों के यहाँ तो आत्मा जिसे वे पञ्चस्कन्धात्मक मानते हैं उसकी चित्त-सन्तति का ही अभाव वहाँ मान लेते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है। वेदान्त में आत्मा को सर्वथा नित्य और व्यापक माना गया है, अत: वहाँ बन्धन और

मोक्ष की व्याख्या सापेक्षवाद के बिना दुर्घट है। बौद्ध दर्शन में आत्मा को सर्वथा अनित्य कहा है सो वहाँ भी बन्ध-मोक्ष व्यवस्था सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ कर्मकर्ता, कर्म-बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने वाला साधक तथा कर्मफल-भोक्ता अलगअलग हैं। न्याय दर्शन में तो चैतन्याभाव है, अत: यह पक्ष भी मोक्षोपयोगी नहीं लगता। इसीलिए लोगों को वृन्दावन के जङ्गल में निवास करना न्याय वैशेषिक के मोक्ष जाने की अपेक्षा अधिक अच्छा लगता है।[18]

जैन अपने आत्मस्वरूपानुसार मोक्ष में दु:खाभाव, अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान, दर्शन, सुख और सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। उसके अरूपी स्वभाव के कारण उसमें अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व आदि को भी मानते हैं। अव्यवहित पूर्व-जन्म के शरीरपरिमाण के अरूपी आकार को मानते हैं क्योंकि आत्मा न तो व्यापक है और न अणुरूप। ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से लोकान्त में निवास मानते हैं। कर्म-सम्बन्ध न होने से पुनर्जन्म नहीं मानते।

जीवन्मुक्तों को 'अर्हन्त' या 'केवली' कहते हैं और विदेहमुक्त को 'सिद्ध'। द्रव्य का स्वरूप 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' रूप स्वीकार करने के कारण मुक्तात्मा में भी समानाकार परिणमन तो मानते हैं परन्तु स्थान-परिवर्तन (गमन क्रिया) नहीं मानते। वहाँ सभी मुक्त सदा पूर्णत: कर्ममुक्त रहते हैं तथा सभी समान गुण वाले होते हैं, वहाँ कोई भी भेद नहीं है। यदि कोई भेद माना है तो उपचार से मुक्तपूर्व जन्म की अपेक्षा। कर्माभाव होने से सभी नाम-कर्मजन्य शरीर तथा मन आदि से रहित हैं। शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा का वहाँ वास है। ज्ञान, सुखादि आत्मा से पृथक् नहीं हैं। मुक्तावस्था को प्राप्त सभी जीव ईश्वर हैं क्योंकि जैनदर्शन में कोई अनादि दृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है। सभी जीव संसार-बन्धन काटकर मुक्त हुए हैं। मुक्त पूर्णकाम होने से वीतरागी (इच्छारहित) हैं।

सन्दर्भ

1. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीर: ।।
   श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। -कठ0उप0 1.2.2
2. चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।।
   तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते।। तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, आचार्य कमलशील, पृ0 104
3. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग: । तत्त्वार्थसूत्र, 1.1 तथा 9.39-46
4. द्रष्टव्य, दीघनिकाय हिन्दी (अनुवाद), पृ0 28-29,
5. न्यायसूत्र 4.2.38-48, वेदान्तसार, पृ0 47-50
6 देखें, टि0 3
7. बन्धहेत्त्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष: । तत्त्वार्थसूत्र 10.1
8. अप्पणो वसहिं वए। उत्तराध्ययन, 14.48
   आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
   नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ।। सिद्धि-विनिश्चय, पृ0 384
9. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ तत्त्वार्थसूत्र, 10.5
   पूर्वप्रयोगादसङ्गत्त्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। तत्त्वार्थसूत्र, 10.6
   आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च। तत्त्वार्थसूत्र, 10.7
10. धर्मास्तिकायाभावात् । तत्त्वार्थसूत्र, 10.8
11. क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्प-बहुत्वत: साध्या: । तत्त्वार्थसूत्र, 10.9
12. साक्षात्कारे सुखादीनां कारणं मन उच्यते। भाषा-परिच्छेद, का0 85
13. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिता: ।
    तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठोपनिषद्, 2.3.14
14. सम्मत्तणाणदंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं।
    अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।। लघु सिद्ध-भक्ति, 8
    अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा
    अट्ठगुण कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।। गो0जी0, 68
15. स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। प्र0सा, त0प्र0, 61

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैक-गुणस्य च।
अस्ति किञ्चन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्। पं0अ0, उ0 1114
जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।। प्र0 सा0, 60॥

16. सकलविप्रमुक्तः सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो, नापि चैतन्यमात्ररूपः। स्वयम्भूस्तोत्र, टीका 5/13
17. पं0 बलदेव उपाध्याय, न्यायदर्शन, भारतीय दर्शन , पृ0 270
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः। न्यायमञ्जरी, पृ0 77
18. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।। नैषधचरित, 17.75
वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षस्तु सुखलेशविवर्जितात्।। स0 सि0 सं0, पृ0 28
नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदः मोक्षः।

त्रिरत्न में सम्यग्दर्शन का स्थान

[सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से जैनदर्शन में 'त्रिरत्न' शब्द से कहा जाता है। जैसे लौकिक जीवन में 'रत्नों का महत्त्व है वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में रत्नवत् बहुमूल्य होने से सम्यग्दर्शनादि को रत्न कहा गया है। ये केवल आध्यात्मिक जीवन के लिए ही उपयोगी नहीं हैं, अपितु लौकिक जीवन में भी इनकी गुणवत्ता असंदिग्ध है।]

जैन आगमों में कहीं सम्यग्दर्शन की, कहीं सम्यग्ज्ञान की और कहीं सम्यक्चारित्र की महत्ता बतलाई गई है। परन्तु इतना निश्चित है कि इनमें से किसी का भी महत्त्व कम नहीं है। इसीलिए आचार्य उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र के 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (1.1) सूत्र में 'मार्गः' एकवचन का प्रयोग करके तीनों को समान महत्त्व दिया है और स्पष्ट किया है कि जब तक ये तीनों युगपत् नहीं होंगे तब तक मोक्षमार्ग नहीं बनेगा। ये पृथक्-पृथक् कार्यकारी (मोक्षप्रदाता) नहीं हैं। जैनेतर ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी किसी एक से मुक्तिलाभ की चर्चा की गई है वहाँ उसके महत्त्व का प्रदर्शन मात्र है। वास्तव में जहाँ सच्ची श्रद्धा या आत्मबोध होता है वहाँ सच्चा ज्ञान और सदाचार भी होता है। इसी तरह जहाँ सच्चा ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी होता है। सम्यक्चारित्र तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एक साथ होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है। अतः सम्यग्दर्शन को उत्कृष्ट कहा है-

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होदि णियमेण।
तो रयणसयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं॥-रयणसार, 46

'सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होते। इसीलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट है' ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञानादि सम्यक् नहीं हो सकते जैसे नीव के बिना मकान स्थिर नहीं रह सकता।

सम्यग्दर्शन विहीन धर्म, चारित्र, ज्ञान, तप आदि सब निरर्थक तथा अकिञ्चित्कर हैं, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) सहित होने पर वे सभी यथार्थता को प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन रत्नत्रय का सार है, सुखनिधान है तथा मोक्षप्राप्ति का प्रथम सोपान है। जैसा कि कहा है-

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तयसोवाणं पढममोक्खस्स।।- दर्शनपाहुड 21

इसी तरह पूज्यपाद स्वामी ने सम्यग्दर्शन की पूज्यता बतलाते हुए ज्ञान और चारित्र के सम्यक्पने का उसे हेतु बतलाया है, 'अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति। कथमभ्यर्हितत्त्वम् ? ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्।' (सर्वार्थसिद्धि,

1.1) पञ्चाध्यायी में कवि राजमल्ल जी ने रत्नत्रय को धर्म बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो गृहस्थधर्म सम्भव है और न मुनिधर्म। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सम्यक्पने का एकमात्र कारण है सम्यग्दर्शन–

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ –पञ्चाध्यायी, 2.716
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा।
सदृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥–वही 2.717

सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपनी आत्मा में एकत्व का अनुभव करता है। वह उस आत्मा को सब कर्मों से भिन्न शुद्ध और चिन्मय मानता है। वह शरीर, सुख, दुःख, पुत्र, पौत्र आदि को अनित्य मानता है। वे कर्म के कार्य हैं ऐसा मानकर उन्हें आत्मा का स्वरूप नहीं मानता (पञ्चाध्यायी, 2.512–513)। अतः वह भयरहित होता हुआ आत्मलीन रहता है। ऐसे उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि जीव को सिद्धों के समान शुद्ध स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कवि राजमल्ल ने स्पष्ट स्वीकार किया है–

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ।। –पञ्चाध्यायी 2.489

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान, वैराग्य एवं चारित्र अवश्यम्भावी हैं। यह अवश्य है कि जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन भी दृढ़तम होता जाता है। जहाँ सच्चा सम्यक्त्व है और सच्चा ज्ञान भी है। वहाँ सदाचार तो बिना प्रयत्न के आ जाता है। इसीलिए केवलज्ञान के समय यथाख्यात चारित्र ही माना गया है।

जो व्यक्ति मुहूर्तकाल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उसे छोड़ देते हैं वे इस संसार में अनन्तानन्तकाल तक नहीं रहते–

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ।।–भगवती आराधना, 53

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते वे अधिक से अधिक सात या आठ भव धारण करते हैं– 'अप्रतिपतित-सम्यग्दर्शनानां परीतविषयः सप्ताष्टानि भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्रीणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते'। राजवार्तिक 4.25। यदि दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो गया है तो या तो उसी भव में या तीसरे-चौथे भव में नियम से मोक्ष प्राप्त होता है–'दसंणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे।' क्षपणसार, 165 ।।

इसी महत्त्व के कारण रत्नकरण्डश्रावकाचार (34, 28) में कहा है–'तीनों कालों और तीनों जगत् में जीवों का सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी अन्य कुछ भी नहीं है। गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी भस्म से ढकी हुई चिनगारी के समान 'देव' कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (325, 326) में कहा है सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है तथा सब सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। सम्यक्त्व से जीव इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से भी अधिक वन्दनीय होता है । व्रतरहित होता हुआ भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुखों को प्राप्त करता है। 'सागारधर्मामृत' में तो यहाँ तक कहा है कि मिथ्यात्वग्रस्त चित्तवाला मनुष्य पशु के समान है तथा सम्यक्त्वयुक्त पशु भी मनुष्य के समान है –

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतसः॥–सागारधर्मामृत 1.4 .

ज्ञानार्णव में विशुद्ध सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मुख्य अङ्ग बतलाया है–

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम्।
यतस्तदेव मुक्त्यमङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ।। –ज्ञानार्णव, 6.57

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवाञ्छित लौकिक सुखों को प्राप्त करता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों को सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है (रयणसार, 164)। भगवती आराधना (735) में भी इसे सर्व दुःखों का हरण करने वाला कहा है–'मा कासि तं प्रमादं सम्मत्ते सव्वदुःखणासयरे।' मोक्षपाहुड में इसे अष्टकर्म क्षयकर्ता कहा है –

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।

सम्मतपरिणदो उण खवेइ दुट्ठाट्ठकम्माइं ।। –मोक्षपाहुड 4

इस तरह सम्यग्दर्शन की जैन आगमों में बहुत प्रशंसा की गई है। यह प्रशंसा वास्तविक है, क्योंकि इसके बिना मोक्षद्वार ही नहीं खुलता। यदि जीव सम्यक्त्व से युक्त है तो वह ज्ञान चेतना को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कहा है सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य भूमिका में यदि कर्मचेतना या कर्मफलचेतना में है तो भी वास्तव में वह ज्ञानचेतना वाला है–

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना।

अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ।। –पञ्चाध्यायी, 2.275

सम्यग्दर्शन के कई प्रकार हैं, जैसे–सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन, औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय संम्यग्दर्शन आदि। इनके उत्तरवर्ती भेदों में सम्यग्दर्शन का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन से निश्चय सम्यग्दर्शन की ओर बढ़ा जाता है क्योंकि उनमें साध्य–साधक भाव है। जैसा कि द्रव्यसंग्रह की टीका (41) में कहा है–**'व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति।'**

सम्यग्दर्शन का महत्त्व न केवल जैनदर्शन में स्वीकृत है अपितु बौद्ध, वेदान्त आदि सभी दर्शनों में इसको मूल आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्यग्दर्शन वह रत्न है जिसके बिना सब रत्नाभास हैं और जहाँ सम्यग्दर्शनरूप पारसमणि है वहाँ लौहरूप ज्ञान और चारित्र भी स्वर्णवत् सम्यक् हो जाते हैं। यही सम्यग्दर्शन का महत्त्व है।

सांख्यदर्शन और जैनदर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन

(दोनों दर्शनों में परस्पर साम्य और वैषम्य की चर्चा इस आलेख में हैं। दोनों के वस्तुवादी होने पर भी जैन दर्शन में समुचित समाधान मिलता है।)

सांख्यदर्शन और जैनदर्शन के परिशीलन से ज्ञात होता है कि दोनों में बहुत अधिक साम्य है। ऊपर से देखने पर तो लगता है कि दोनों एक ही दर्शन की दो धारायें हैं क्योंकि जड़ और चेतन इन दो मूल तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करना; पृथिवी, जलादि को पृथक् तत्त्व न मानकर एक तत्त्व का परिणाम मानना, अज्ञान (मिथ्यात्व) को बन्ध का कारण मानना, परिणामी नित्यता को स्वीकार करना, गुण–गुणी में स्वरूप सम्बन्ध मानना, मन को जड़ तत्त्व का परिणाम मानना, जड़–चेतन के विवेक को मुक्ति का साधन मानना, लौकिक और वैदिक उपायों से मुक्ति का निषेध करना, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को स्वीकार करना, मुक्त होने के बाद पुनः संसारागमन का निषेध करना, परमार्थतः चेतन (पुरुष= आत्मा) में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध करके उसे सदा संसार के कार्यों से निर्लिप्त स्वीकार करना, सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता को न मानना, संसार के प्राणियों को दुःखों से अभिभूत मानना, अहिंसा में विश्वास करना इत्यादि। परन्तु अन्तःपरिशीलन से ज्ञात होता है कि दोनों में बहुत अधिक साम्य होने पर भी सांख्यदर्शन वैदिकधारा का प्रतिनिधित्व करता है और जनदर्शन श्रमणधारा का। ऊपर जिन समानताओं का उल्लेख किया गया है उनमें सूक्ष्म अन्तर भी है। इसे समझाने के पूर्व आवश्यक है कि हम सांख्यदर्शन का सिंहावलोकन कर लें–

सांख्यदर्शन का सार

परम्परा से महर्षि कपिल द्वारा प्रचारित सांख्यदर्शन भारत का प्राचीनतम दर्शन माना जाता है जिसके बीज हमें श्रुति, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु आज सर्व प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका। यही ग्रन्थ सांख्यदर्शन के वर्तमान ज्ञान का आधार स्तम्भ है। सांख्य शब्द के यद्यपि कई अर्थ किए जाते हैं परन्तु उनमें दो अर्थ अधिक प्रसिद्ध हैं संख्या और ज्ञान।[1] इसका दूसरा अर्थ ही अधिक सङ्गत प्रतीत होता है– प्रकृति (जड़ = अचेतन = शरीर) और पुरुष (चेतन = आत्मा =जीव) के पार्थक्य का ज्ञान। यही सांख्यदर्शन का उद्देश्य है।[2] इस जगत् के मूल में दो ही तत्त्व हैं–प्रकृति (जड़ =अचेतन) और पुरुष (आत्मा=चेतन)। प्रकृति क्रमशः निम्न रूपों में परिणमित होकर सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् की सृष्टि करती है[3] –

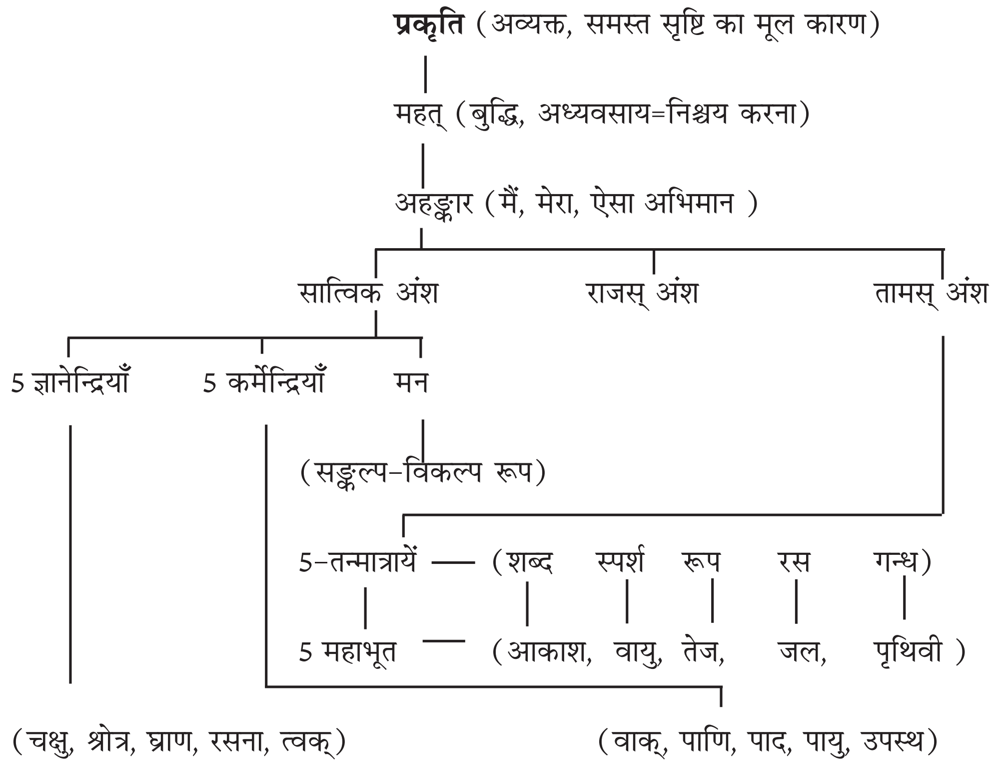

प्रकृति के इस विकास में मूल प्रकृति सबका कारण है और महदादि उसके कार्य। कारण से कार्य भिन्न नहीं होता है। अतः प्रकृति के सभी धर्म महदादि में पाये जाते हैं। उनमें यदि अन्तर है तो केवल प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के तरतमभाव =हीनाधिकभाव= प्रधानाप्रधानभाव का। प्रकृति के ये तीनों गुण जिनका प्रकृति के साथ स्वरूप सम्बन्ध (ने संयोग और न समवाय) है, जब ये तीनों साम्यावस्था में रहते हैं तो उसे मूल प्रकृति या अव्यक्त कहते हैं। प्रलयावस्था में ऐसी स्थिति होती है। जब इन गुणों में विक्षोभ पैदा होता हैं तो महदादि क्रम से सृष्टि होती है। जगत् के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति (आविर्भाव) होती है।[4] अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आना ही सृष्टि है। महदादि को 'व्यक्त' नाम से कहा गया है। इस सृष्टि का कर्ता कोई ईश्वर नहीं है अपितु जब पुरुष और प्रकृति का सप्रयोजन संयोग होता है तो प्रकृति में विक्षोभ होता है। प्रकृति का प्रयोजन है भोग और पुरुष का प्रयोजन है मोक्ष। अर्थात् प्रकृति भोग के लिए पुरुष की अपेक्षा रखती है और पुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रकृति की अपेक्षा रखता है। इस सन्दर्भ में लंगड़े और अन्धे का दृष्टान्त दिया जाता है।[5]

प्रकृति का स्वरूप[6] - यह जड़ है और त्रिगुणात्मिका है। इसके अतिरिक्त सक्रिय है, भोग्या है, सावयव है, परिणामी है, समस्त संसार की जनक है। पुरुषसंसर्ग से इसमें ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाता है। प्रकृति में प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। यह पणिमन (परिवर्तन) दो प्रकार का है—(1) स्वरूपपरिणमन (सदृश = समानाकार) और (2). विरूपपरिणमन (असमानाकार। प्रलयावस्था में जब प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था में रहती है, तब स्वरूप-परिणमन होता है। पुरुष में परिणमन नहीं होता अतः वह अपरिणामी है।

रजोगुण - प्रकृति में क्रियाशीलता उसके रजोगुण के कारण है।[7] यह रजोगुण उत्तेजक, चञ्चल, प्रेरक, दुःखजनक तथा रक्तवर्ण वाला है। इसी के कारण इन्द्रियों की विषयों के प्रति आसक्ति होती है। यह स्वयं चल है और दूसरों को भी चलायमान करता है, जैसे जल स्वयं बहता है और दूसरों को भी बहाता है।

तमोगुण[8] - यह अज्ञान का सूचक है। अन्धकार, आवरण या अवरोध करना इसका कार्य है। जड़ता, निष्क्रियता, मोह, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अकर्मण्यता, उदासीनता आदि का जनक है। भारी है तथा कृष्णवर्ण का है।

सत्त्वगुण[9] - यह प्रकाशक है, लघु है, श्वेत है, शान्त है और उज्ज्वल है। सुख देने वाला तथा ज्ञान प्रदान करने वाला भी है। इसी गुण के कारण ही विषय प्रकाशित होते हैं ।

यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरोधी हैं परन्तु स्त्री-पुरुष-संयोग के समान मिलकर ही सृष्टि करते हैं। तीनों गुणों

का प्रत्येक वस्तु में कमोबेश समावेश होने से प्रत्येक वस्तु सुख, दु:ख और मोह की जनक है।

पुरुष का स्वरूप - पुरुष चैतन्य स्वरूप है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह चेतना का पुरुष से पृथक् अस्तित्त्व नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह साक्षी (द्रष्टा), निस्त्रैगुण्य (निर्गुण), उदासीन, अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय, निरवयव, माध्यस्थ, उदासीन, केवल, अपरिणामी, नित्य और स्वयम्भू (किसी से उत्पन्न न होना) भी है। इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म बुद्धि (महत् = जड़तत्त्व) के कारण आरोपित हैं।[10] जन्म-मरण का भेद होने से, सबकी युगपत् प्रवृत्ति न होने से और तीनों गुणों की विषमता के कारण पुरुष संख्या में अनेक हैं।[11] परन्तु स्वरूप की दृष्टि से सब एक जैसे हैं।

ज्ञान प्रक्रिया और प्रमाण- सांख्यदर्शन के अनुसार सर्वप्रथम इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। पश्चात् (इन्द्रिय व्यापार के बाद) सङ्कल्प-विकल्प रूप मन का व्यापार होता है। तदनन्तर 'यह मेरे लिए है' ऐसा अहङ्कार का व्यापार होता है पश्चात् बुद्धि का व्यापार होता है जिसमें वह विषय के आकार को धारण करती है। बुद्धि के जड़ रूप होने से उसे स्वत: ज्ञान नहीं होता परन्तु जब उसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उसमें ज्ञानोदय होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और बुद्धिवृत्ति या चित्तवृत्ति उस ज्ञान का साधन होने से प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अतिरिक्त अनुमान और आप्तवचन (शब्द या आगम) इन प्रमाणों को मिलाकर कुल तीन प्रमाण सांख्यदर्शन में स्वीकृत हैं।[12] ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय 'स्वत:' होता है।

मुक्ति- सांसारिक जीवन सांख्यदर्शन के अनुसार तीन प्रकार के दु:खों से अभिभूत है-[13]

(1) आध्यात्मिक दु:ख - ये दो प्रकार के हैं-वात, पित्त, कफ आदि से जन्य शारीरिक दु:ख और काम, क्रोध आदि से जन्य मानसिक दु:ख।

(2) आधिभौतिक दु:ख- भौतिक पदार्थों से जन्य दु:ख। जैसे सर्प का काटना, धन का नष्ट होना आदि।

(3) आधिदैविक दु:ख - दैवी विपत्तियाँ। जैसे-भूकम्प आना, भूत-प्रेत बाधा होना, अतिवृष्टि-अनावृष्टि।

इन्हें दूर करने के यद्यपि लौकिक और वैदिक उपाय हैं परन्तु उन उपायों से आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति सम्भव नहीं है। इनसे निवृत्ति तभी सम्भव है जब पुरुष। (आत्मा) और प्रकृति (शरीरादि) का भेद ज्ञान हो। पुरुष अज्ञान के कारण प्रकृतिजन्य बुद्धि तथा शरीरादि के सुख-दु:खादि धर्मों को अपना समझता है। कर्तापना, भोक्तापना आदि ये सब प्रकृति (बुद्धि, शरीरादि) के धर्म हैं, आत्मा (पुरुष)के नहीं, इस प्रकार का भेद-ज्ञान (विवेकज्ञान) कैवल्यप्राप्ति है और यही जीवन्मुक्ति है क्योंकि भेदज्ञान हो जाने पर प्रकृति के धर्म का पुरुष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह सदा के लिए दु.खों से मुक्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्मवशात् कुछ समय के लिए विशुद्ध ज्ञान के बाद भी पुरुष का देह धारण किए रहना उसकी जीवन्मुक्तावस्था है पश्चात् प्रारब्धकर्मों के क्षीण होते ही वह देह को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाता है। मुक्ति हो जाने के बाद वह शुद्ध चैतन्यावस्था में रहता है, वहाँ न दु:ख है, न सुख और न ज्ञान।

तुलना -

(1) मूल तत्त्व (द्रव्य) सम्बन्धी- सांख्यदर्शन की तरह जैनदर्शन में भी जड़ और चेतनरूप दो प्रकार के मूल तत्त्व स्वीकार किए गए हैं परन्तु जैनदर्शन में जड़ तत्त्व के स्वतन्त्र पाँच भेद हैं जिनका किसी एक तत्त्व से उद्गम नहीं हुआ है। अत: दो प्रकार के तत्त्वों (द्रव्यों) को स्वीकार करके भी जैनदर्शन में कुल छ: तत्त्व हैं पुद्गल (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त अचेतन द्रव्य), धर्म (गति में सहायक द्रव्य), अधर्म (स्थिति में सहायक द्रव्य), अकाश (स्थान देने वाला द्रव्य), काल (परिवर्तन में हेतु भूत) और आत्मा (चेतन जीव)। इनमें आत्मा (पुरुष) को छोड़ कर सभी अचेतन हैं।

यहाँ पर हम देखते हैं कि सांख्यदर्शन में प्रकृति के रज और तमस् गुणों से क्रमश: गति और स्थिति का काम लिया गया है परन्तु जैनदर्शन में इसके लिए दो पृथक् तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य के रजस् और तमस् गुण प्रेरक कारण हैं जबकि जैनदर्शन में धर्म और अधर्म तटस्थ कारण हैं, प्रेरक नहीं। 'आकाश' जिसे सांख्य ने शब्दतन्मात्रा से जन्य बतलाया है उसे जैनदर्शन परिणामी नित्य पृथक् तत्त्व मानता है। इसके अतिरिक्त 'शब्द' को जैनदर्शन में पुद्गल की पर्याय (परिणाम) माना गया है। परिवर्तन में हेतुभूत 'काल' द्रव्य को जौनदर्शन में स्वतन्त्र तत्त्व माना गया है जबकि सांख्यदर्शन में 'काल' बाह्यार्थ के व्यवहार का सम्बन्ध मात्र है जो सम्बद्ध वस्तुओं से पृथक् नहीं है।

सृष्टिकर्ता ईश्वर को दोनों ही दर्शन स्वीकार नहीं करते। सांख्य में सृष्टि के पीछे प्रकृति और पुरुष का प्रयोजन है जबकि जैन-दर्शन में ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है अपितु वस्तु का स्वभाव वैसा माना गया है। सांख्य में प्रकृति से परिणामी नित्य है और उसमें स्वरूप और विरूप परिणमन होते हैं जैनदर्शन में वैसी ही परिणामीनित्यता तथा स्वरूप तथा विरूप

परिणामन सभी छहों द्रव्यों में स्वीकृत है। सांख्य की केवल प्रकृति सक्रिय है, पुरुष नहीं, परन्तु जैनदर्शन में पुद्गल और जीव दोनों को क्रियावान माना गया है, शेष को निष्क्रिय। सांख्य में पुरुष जैसे अनेक हैं वैसे ही जनदर्शन में जीव अनेक हैं। मुक्त होने पर सभी पुरुष एकजैसे होकर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता है, तथा उदासीन होते हैं। ये बातें तो दोनों में समान हैं परन्तु जैनदर्शन के मुक्त जीव सर्वज्ञ और सुखी (अतीन्द्रिय सुखी) भी होते हैं। सांख्य की प्रकृति सावयव है और पुरुष निरवयव है परन्तु जैनदर्शन में जीव भी सावयव है। परमाणु रूप पुद्गल तो निरवयव है परन्तु स्कन्ध रूप पुद्गल सावयव है। सांख्य की प्रकृति एक है जबकि पुद्गल अनेक हैं परन्तु आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्य संख्या में एक हैं। 'मन और 'इन्द्रियों' को दोनों ने जड़निर्मित (प्रकृतिजन्य, पुद्गलजन्य) माना है परन्तु जैनों ने मन और इन्द्रियों के दो-दो भेद किए हैं-द्रव्यमन और भावमन तथा द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इनमें से द्रव्यमन और द्रव्येन्द्रिय ही पुद्गल का परिणाम है, भावमन और भावेन्द्रिय चैतन्य की शक्तिरूप हैं। सांख्यों के अहङ्कार और बुद्धि को जैन मन से पृथक् नहीं मानते हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु को पृथक्-पृथक् तत्त्व न मानकर सांख्य जैसे एक ही प्रकृति का परिणाम मानते हैं वैसे ही जैन भी पुद्‌गल का परिणाम उन्हें मानते हैं। पुद्गल के परमाणु रूप, रसादि से युक्त होकर भी स्वरूप की दृष्टि से अनेक प्रकार के हैं।

(2) बन्धन और मोक्ष - संसारी प्राणी तीन प्रकार के दु:खों से पीड़ित हैं तथा उनसे पूर्ण मुक्ति न तो लौकिक उपायों से सम्भव है और न वैदिक उपायों से। वैदिक उपाय क्षय (पुण्यकर्म के क्षीण होने पर पुनः स्वर्ग से आना पड़ता है), अतिशय (तारतम्य) और अविशुद्ध (हिंसादि से युक्त होने से अशुद्ध) से युक्त होने के कारण आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति के साधन नहीं हैं। केवल प्रकृति-पुरुष विवेकज्ञान या शरीरात्म भेदज्ञान ही मुक्ति का साधन है। इतने अंश में दोनों दर्शनों में मतभेद नहीं है परन्तु जहाँ सांख्यदर्शन केवल ज्ञान पर जोर देता है वहाँ जौनदर्शन श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी को समान बल देता है। केवलज्ञान होने पर दोनों ने जीवन्मुक्तत्व को स्वीकार किया है पश्चात् प्रारब्ध कर्म नष्ट होने पर (शेष अघातिया कर्म नष्ट होने से) विदेहमुक्ति को माना है। सांख्य में बन्धन और मोक्ष प्रकृति का माना गया है।[14] जबकि जैनदर्शन में निश्चयनय से न तो बन्ध होता है और न मोक्ष; परन्तु व्यवहारनय से बन्धन और मोक्ष जीव का माना गया है। बन्ध का कारण सांख्यदर्शन में अज्ञान (प्रकृति-पुरुष विवेकाज्ञान) को माना गया है; जैनदर्शन में भी अज्ञान (मिथ्यात्व तथा कषायादि) को बन्ध का प्रमुख कारण माना गया है। पुण्य से मुक्ति का दोनों ने निषेध किया है। पुण्य केवल सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्ति या स्वर्गादिप्राप्ति में हेतु है। मुक्ति बाद दु:ख का और पुनरागमन का निषेध दोनों ने माना है। मोक्ष में सुख और ज्ञान की स्थिति जैनों ने तो मानी है परन्त सांख्याचार्यों ने नहीं; क्योंकि बुद्धि (प्रकृतिपरिणाम) के अभाव में ये दोनों बातें वहाँ सम्भव नहीं हैं। जैनों ने आत्मा में चैतन्य के साथ अनन्त ज्ञान और अव्याबाध सुख को भी स्वीकार किया है। ये दोनों इन्द्रियादिजन्य नहीं हैं, अपितु आत्मा के स्वरूप हैं।

(3) कारण-कार्य-सिद्धान्त- दोनों ही दर्शन सत्कार्यवादी हैं परन्तु दोनों के सत्कार्यवाद में थोड़ा अन्तर है। सांख्य के अनुसार कार्यकारण में अभेद है। अत: कारण में कार्य पहले से विद्यमान रहता है। परन्तु जैनों ने कारण और कार्य में गुण-गुणी की तरह कथञ्चित् भेदाभेदवाद को स्वीकार किया है। द्रव्य दृष्टि से कारण और कार्य में अभेद है परन्तु पर्याय (अवस्था, परिणाम) की अपेक्षा भेद है। परिणामवाद स्वीकार करने के कारण ऐसा भेद सांख्य को अवश्य मानना चाहिए था अन्यथा परिणामवाद का अर्थ ही नहीं लगता है।

(4) ज्ञानमीमांसा- सांख्यदर्शन में ज्ञान प्रकृति के महत् तत्त्व में स्वीकार किया गया है जबकि जैनदर्शन में आत्मा में। सांख्य चित्तवृत्ति को प्रमाण और ज्ञान को प्रमा मानते हैं जबकि जैन ज्ञान को ही प्रमाण और प्रमा दोनों मानते हैं। ज्ञान आत्मा का धर्म है, इन्द्रियादि का नहीं। इसीलिए जैन इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष मानते हैं। जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा से होने वाला ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो मुक्त जीवों का ज्ञान इन्द्रियादि के अभाव में प्रत्यक्षात्मक नहीं बनेगा। जैनों ने परवर्तीकाल में इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष माना है, परमार्थत: परोक्ष ही माना है। सांख्य में ऐसी कोई कल्पना नहीं है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त सांख्य ने दो ज्ञान और माने हैं-अनुमिति और शाब्द। अर्थात् इन तीन ज्ञानों के साधन तीन प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। उपमान, अर्थापत्ति, अभाव आदि को दोनों दर्शन पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं । जैनों का प्रमाण-विभाजन भिन्न प्रकार का है। प्रथमत: इसके दो भेद हैं प्रत्यक्ष (अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से तीन प्रकार का है) और परोक्ष (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेद से दो प्रकार का है)। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान आदि सभी

मतिज्ञान के भेद हैं। आप्तवचनरूप श्रुतज्ञान पृथक् ज्ञान है। इस तरह यदि इस विभाजन को आधुनिक विभाजनपद्धति से देखें तो जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष (पारमार्थिक और सांव्यावहारिक), स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान और शब्द ये 6 प्रमाण हैं। इन ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय उत्पत्ति की अपेक्षा अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में परत: होता है। ज्ञप्ति की अपेक्षा स्वत:।

इस तरह दोनों दर्शनों के साम्य वैषम्य पर संक्षिप्त चिन्तन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही दर्शन वस्तुवादी हैं। सांख्यदर्शन में बुद्धि को प्रकृति का परिणाम बतलाना, प्रकृति के लिए नर्तकी आदि का दृष्टान्त देना[15], सृष्टि की व्याख्या में पङ्गु-अन्ध का दृष्टान्त देना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनका सम्यक् समाधान नहीं मिलता है। जबकि जैनदर्शन में इनका सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है।

सन्दर्भ सूची -

1. संख्यायन्ते = गणयन्ते येन तत् सांख्यम्।
   संख्यायते = प्रकृतिपुरुषान्यथारव्यातिरूपोऽवबोधो सम्यग्ज्ञायते येन तत् सांख्यम्
2. व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। सांख्यकारिका 2
3. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृति-विकृतय: सप्त।
   षोडशकस्तु विकारो ने प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष:।। स0 का0 3
4. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्व सम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणाद् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। स0 का0 9
5. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
   पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग: ॥ सां. कां. 21
6. सांख्यकारिका 10-13
7. सांख्यकारिका 12, 13
8. वही
9. वही
10. सांख्यकारिका 64
11. सांख्यकारिका 18
12. सांख्यकारिका 23
13. दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
    दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।। सां0 का0 1
    दृष्टवदानुश्रविक: स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त:।
    तद्विपरीत: श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।। सां0 का 2
14. सांख्यकारिका 62, 63
15. सांख्यकारिका 59

सांख्य और जैनदर्शन में ईश्वर

'ईश्वर' शब्द को सुनते ही हमारे मन में यह विचारधारा आती है कि इस जगत् को बनाने वाला, पालन करने वाला, संहार करने वाला, हमारे पाप - पुण्य कर्मों का फल देने वाला, जीवों पर अनुग्रहादि करने वाला, सर्वैश्वर्यशाली, अनादि मुक्त, सर्वशक्तिसम्पन्न, अनन्त आनन्द में लवलीन, व्यापक तथा चैतन्यगुणयुक्त एक प्रभु है जिसकी इच्छा के बिना इस जगत् का पत्ता भी नहीं हिल सकता है[1], यह आत्मा से पृथक् तत्त्व है। ऐसा ईश्वर भारतीय दर्शन में केवल न्याय दर्शन ही स्वीकार करता है। अन्य भारतीय दार्शनिक जिन्होंने ईश्वर को स्वीकार किया है उनकी मान्यता कुछ भिन्न है।

ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दर्शन परम्परायें

भारतीय दर्शन में चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा मूलत: अनीश्वरवादी दर्शन माने जाते हैं। परन्तु परवर्ती काल में ये दर्शन (चार्वाक को छोड़कर) भी किसी न किसी रूप में ईश्वरवादी बन गये। इनका ईश्वर वैसा

नहीं जैसा कि ऊपर ईश्वर का स्वरूप बतलाया गया है। मूलतः ईश्वरवादी वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर भी वैसा नहीं है जैसा कि न्याय दर्शन का ईश्वर है।

वेदान्त दर्शन में नित्य, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप एक मात्र निर्गुण ब्रह्म तत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त समस्त जगत् इसी का विवर्त (भ्रम) है। अर्थात् समस्त जगत में एकमात्र ब्रह्म तत्त्व है, वह जब मायोपाधि से युक्त होकर सगुण रूप को धारण करता है तब वह न्याय दर्शन के ईश्वर के तुल्य हो जाता है। न्यायदर्शन को ईश्वर तो मात्र जगत् को निमित्त कारण है जबकि वेदान्त का सगुण ब्रह्मरूप ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। न्याय की दृष्टि से जगत् वास्तविक है और वेदान्त की दृष्टि से जगत् भ्रमात्मक या मायात्मक है। इस तरह वेदान्त की दृष्टि से परम ब्रह्म ही सत्य है और उस परम ब्रह्म का माया युक्त रूप ईश्वर है वह परम सत्य नहीं है।

योगदर्शन सांख्य दर्शन का पूरक दर्शन है। इसमें प्रकृति (अचेतन) और पुरुष (चेतन) ये दो मुख्य तत्त्व हैं। पुरुष (चेतन आत्मा) संख्या में अनेक हैं। एक पुरुष विशेष को ईश्वर कहा है जो अनादि मुक्त. क्लेशादि (शुभाशुभ कर्मों) से सर्वथा मुक्त, विपाक (कर्मों के फलोपभोग) तथा आशय (नाना प्रकार के संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट पुरुष विशेष है।[2] यह प्राणियों पर अनुग्रहादि करता है। इस तरह इस दर्शन का ईश्वर एक पुरुषविशेष है और वह सत्यरूप है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति में क्षोभ पैदा होता है और महदादि क्रम से प्रकृति से इस जगत् की सृष्टि होती है। इसमें ईश्वर (पुरुष विशेष) की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टि स्वाभाविक प्रक्रिया से होती है। जैसे वत्सविवृद्धि के लिए दूध की प्रवृत्ति स्वतः होती है।[3]

जैन दर्शन में 6 द्रव्यों की सत्ता मानी गई है—पुद्गल (रूपी अचेतन), जीव (चेतन-आत्मा), धर्म (गति हेतु) अधर्म (स्थिति-हेतु), आकाश (अवगाह-हेतु) और काल (वर्तना या परिवर्तन हेतु)[4]। इनसे ही स्वाभाविक रूप से सृष्टि होती है।[5] इसका सञ्चालक कोई ईश्वर नहीं है। इतना अवश्य है कि जीवन्मुक्तों और विदेहमुक्तों को ईश्वर (परमात्मा) शब्द से सम्बोधित किया गया है। परन्तु वे वीतराग होने से अनुग्रहादि कुछ भी कार्य नहीं करते। वे केवल आदर्श पुरुष मात्र हैं।

ईश्वरवाद के सन्दर्भ में सांख्य दर्शन और जैन दर्शन दोनों ही मूलतः अनीश्वरवादी दर्शन हैं परन्तु परवर्ती काल में सांख्य दर्शन ईश्वरवादी दर्शन बन गया। सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी दर्शन बनाने में सर्वप्रमुख भूमिका आचार्य विज्ञानभिक्षु की है सांख्यदर्शन के उपलब्ध सर्वप्राचीन ग्रन्थ सांख्यकारिका तथा उसकी सभी प्राचीन टीकाओं में कहीं भी ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है। गौडपादभाष्य आदि टीकाओं में सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन अवश्य मिलता है। श्री बालगंगाधर तिलक का विचार है कि ईश्वरकृष्ण की 61वीं कारिका लुप्त हो गई है जिसकी रचना उन्होंने गौडपादभाष्य के आधार पर करते हुए अनीश्वरवाद की स्थापना की है।[6]

सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका युक्तिदीपिका में स्पष्ट शब्दों में प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर-प्रेरणा का निषेध किया गया है।[7] गौडपादकार भी ईश्वर को सृष्टि का कारण मानने के मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ईश्वर जब निर्गुण है तो उससे सत्त्व आदि गुणों वाली (सगुण) प्रजा की सृष्टि कैसे हो सकती है।[8] वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जगत् की सृष्टि या तो स्वार्थवश सम्भव है या करुणावश। ईश्वर जब आप्तकाम है तो उसके स्वार्थ का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। करुणावश भी सृष्टि सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टि से पूर्व शरीर-इन्द्रियादि के अभाव होने से दुःखाभाव होगा फिर ईश्वर की करुणा कैसी ? करुणाभाव तो दूसरों के दुःखों के निवारण की इच्छा है। सृष्टि के पश्चात् प्राणियों को दुःखी देखकर करुणा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। किञ्च, करुणा से सृष्टि मानने पर उसे सभी को सुखी ही उत्पन्न करना चाहिए, दुःखी नहीं। अतः अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति मानना ही उचित है।[9]

वृत्तिकार अनिरुद्ध ने ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि ईश्वर की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।[10] ईश्वर के जगत्कर्तृत्व में निमित्तकारणता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर के न तो सशरीरी होने पर और न अशरीरी होने पर सृष्टि सम्भव है।[11] यदि ईश्वर स्वतन्त्र होकर भी जीवों के कर्मानुसार उनकी सृष्टि करता है तो उसकी आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि वह कार्य कर्म से ही हो जायेगा। किञ्च, राग के अभाव में वह सृष्टि कर ही नहीं सकता इसी तरह अन्य तर्कों के द्वारा अनिरुद्ध सांख्य सूत्रों की वृत्ति करते हुए सांख्य को अनीश्वरवादी सिद्ध करते हैं। जैन दर्शन में भी कुछ इसी तरह की युक्तियों के द्वारा जगत्कर्ता ईश्वर का खण्डन किया गया है।

इसके विपरीत आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य में सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि को ईश्वर का अवतार[12] तथा ईश्वर को मोक्षप्रदाता बतलाया है।[13] इस तरह इन्होंने सांख्य की निरीश्वरवादी परम्परा में नया मोड़ दिया और कहा कि ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न होने के कारण उसका अभाव नहीं माना जा सकता। इसीलिए सांख्य सूत्रों में ईश्वरासिद्धेः (1/92) कहा है परन्तु 'ईश्वराभावात्' (सां.प्र.भा. 1/92) के रूप में विज्ञानभिक्षु का यह तर्क अनुचित सा है। किञ्च, सांख्यसूत्र परवर्ती रचना है। अभी तक उसके कपिल मुनि प्रणीत होने की सिद्धि नहीं हो सकी है। वस्तुतः विज्ञानभिक्षु का ईश्वर वेदान्त और योगदर्शन को मिला-जुला रूप है।

पहले बतलाया जा चुका है कि सांख्यदर्शन का अनुगामी योगदर्शन क्लेशादि से अपरामृष्ट पुरुषविशेष को ईश्वर मानता है। योगदर्शन का यह ईश्वर सब प्रकार के बन्धनों से सर्वथा अछूता है। इसमें निरतिशय उत्कृष्ट सत्त्वशाली बुद्धि रहती है जिससे यह ऐश्वर्यसम्पन्न माना जाता है। ज्ञान और ऐश्वर्य का प्रकृष्टतम रूप जिसमें देखा जाता है वही नित्य ईश्वर है। प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञानपूर्वक मुक्त होने वाले जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त ईश्वर नहीं हैं क्योंकि वे पूर्व में बन्धनयुक्त रहे हैं। किञ्च, यह ईश्वर अन्य पुरुषों (आत्मा) से विशिष्ट है। सामान्य पुरुष अकर्ता है, परन्तु ईश्वर अकर्ता नहीं है। इस तरह योगदर्शन सांख्यानुगामी होकर भी पुरुष विशेष के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है। वस्तुतः बुद्धि आदि प्रकृति के धर्म हैं ऐसी स्थिति में बुद्ध्यादि के रहने पर रहने वाले ऐश्वर्यादि गुणों का धारक पुरुषविशेष ईश्वर ऐश्वर्यसम्पन्न कैसे हो सकता है ?

न्यायकुमुदचन्द्र[14] आदि जैन ग्रन्थों में योगानुसारी सांख्यदर्शन के इसी ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है। वस्तुतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है सांख्यदर्शन मूलतः जैनदर्शन की तरह अनीश्वरवादी है। डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी ने 'सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु' नामक शोध प्रबन्ध में विज्ञानभिक्षु का पक्ष लेते हुए सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध किया है। सांख्यदर्शन के विकासक्रम को देखने से उसके तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं-

(1) उपनिषदों[15], महाभारत[16], गीता[17], और पुराणों[18] में प्रतिपादित सांख्यदर्शन।

(2) कपिलमुनि, वार्षगण्य[19], अनिरुद्ध[20], ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का और उसके टीकाकारों[21] का सांख्यदर्शन।

(3) परवर्ती सांख्यदर्शन जिसका प्रतिनिधित्व विज्ञानभिक्षु करते हैं।

जब हम कपिल के सांख्यदर्शन से जैनदर्शन की तुलना करते हैं तो देखते हैं। कि दोनों में बहुत साम्य है दोनों में कहीं भी सर्वशक्तिसम्पन्न अनादि ईश्वर की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई है। परवर्ती काल में जिस प्रकार सांख्य में ईश्वरकर्तृत्व का समावेश हुआ है उस प्रकार जैनदर्शन में नहीं हुआ है। यद्यपि जैनदर्शन मे ईश्वरोपासना मिलती है परन्तु जैनदर्शन का ईश्वर कोई अनादिमुक्त पुरुष विशेष नहीं है अपितु सभी पुरुष (आत्मा) परमात्मा रूप हैं, उनमें से जो जीवन्मुक्त[22] (अर्हत् या तीर्थङ्कर) और विदेहमुक्त[23] (सिद्ध) हैं उन्हीं की ईश्वर रूप से उपासना की जाती है। जैनों के ये मुक्त-पुरुष या ईश्वर उपासक पर न तो कृपा करते हैं न निन्दक पर क्रोध। उपासना के द्वारा भक्त अपने आत्म-परिणामों की निर्मलता से यशादि को प्राप्त करता है। वस्तुतः जैनों के ये मुक्त तो सांख्य दर्शन की तरह साक्षी एवं तटस्थ हैं। वे शुद्ध चैतन्यरूप और साक्षी होने के साथ-साथ सर्वज्ञ, अनन्त शक्ति तथा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से भी सहित हैं जो सांख्यदर्शन के मुक्तपुरुष में नहीं है। ऐसे मुक्तात्माओं में ईश्वरत्व का आरोप निराधार नहीं है। यद्यपि निश्चय नय से ईश्वर कृपा नहीं है फिर भी व्यवहार से उनकी कृपा का उल्लेख मिलता है।[24] वस्तुतः फलप्राप्ति कर्मानुसार ही मानी जाती है। जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त इतना व्यवस्थित है कि उसके रहते सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता ही अनुभव में नहीं आती। इसके अतिरिक्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के रहते ईश्वर को कोई कार्य नहीं बचता जिसके लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर माना जाए। द्रव्य का स्वरूप उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्यात्मक होने से भी किसी प्रेरक ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी प्रकृति को स्वरूपतः सत्त्व (प्रकाशक), रजस् (क्रिया) और तमस् (आवरक) रूप[25] मानने से ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है।

कर्मों से सर्वथा अस्पृष्ट सर्वदृष्टा ईश्वर कथमपि सम्भव नहीं है। जैसाकि आप्तपरीक्षा में कहा है -

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्चास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपत्तितः ।।8।।

इस तरह हम देखते हैं कि अर्हत्पद अथवा सिद्धपद (जीवन्मुक्त या विदेहमुक्त) को प्राप्त जीव ही जैनदर्शन में ईश्वर हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव में यह ईश्वरत्व शक्ति है परन्तु अनादिकाल से कर्मबन्ध के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। इस

तरह पुरुष विशेष ईश्वर तो है परन्तु वह कभी बन्धन में नहीं था ऐसा जैनदर्शन को स्वीकार्य नहीं है। किञ्च, वह पुरुष विशेष जिसने कर्मबन्धनों को नष्ट करके अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य को प्राप्त किया है, ईश्वर तो है परन्तु आप्तकाम और वीतरागी होने से सृष्टि के किसी भी कार्य में रुचि नहीं लेता है। इस दृष्टि से वह सांख्यों के मुक्तों की तरह साक्षी दृष्टा मात्र है। जैन ग्रन्थों में सांख्यदर्शन के ईश्वर का जो खण्डन मिलता है यह योगदर्शन की दृष्टि से है क्योंकि सांख्यदर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। जैन दर्शन में ईश्वरत्व अथवा महानता का द्योतन ऐश्वर्यों से नहीं किया गया है क्योंकि वह ऐश्वर्य अन्यों के भी सम्भव हैं। उनकी ईश्वरता को मापदण्ड कर्ममल से रहित आत्मा की शुद्धपरिणति है। जैसा कि आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है –

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।।1।।
दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।।4।।

सन्दर्भ सूची-

1. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
   ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा।। उद्धृत, गौडपाद टीका 61
   आप्तपरीक्षा टीका, पद्य 23; स्याद्वादमञ्जरी, पृ 413.418
2. क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसूत्र 1.24
3. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
   पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।। सां. का. 57
4. तत्त्वार्थसूत्र 5.1-3, 39 तथा 5,17-22
5. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र 5.30
6. बालगङ्गाधर कृत कारिका-
   कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
   प्रजा कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च।
   सांख्यकारिका में मूलतः उपलब्ध कारिका –
   प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चदस्तीति मे मतिर्भवति।
   या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।। सां. का. 61॥
7. तस्माद्युक्तकर्मतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसङ्ग इति ॥ युक्ति 57
8. अत्र सांख्याचार्या आहुः- निर्गुण ईश्वरः सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति । गौड0 61
9. सांख्यतत्त्वकौमुदी 57
10. यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमंस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। अनि0 1/92 तथा 5/10-11.
11. अनि0 1/92
12. नारायणः कपिलमूर्तिः। सां0 प्र0 भा0 मंगलाचरण 2
13. दीयतां मोक्षदो हरिः। वही 6
14. न्यायकुमुदचन्द्र 111-114
15. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/9
16. महाभारत 12/306/36
17. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। गीता 9/10
    अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। गीता 7/6
18. ब्रह्मपुराण 1/33; विष्णुपुराण 1/2/29,
19. तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधान-प्रवृत्तिरप्रत्यया।
    पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते । युक्ति 19

20. पूर्वसिद्धमीश्वरासत्त्वम्। अनि0 5/2
यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति; तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते । तदेव तु नास्ति।अनि0 1/92
21. सांख्यकारिका 57 तथा उसकी टीकायें।
22. केवलणाण-दिवायर-किरणकलावप्पणासि अण्णाणो।।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणिय-परमप्पववएसो। गो0 जीव 63
असहायणाणदंसण सहिओ इदि केवली हु जोएण।।
जुत्तो ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ।। गो0 जीव 64
23. अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुण किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। गो0 जीव 68
24. सिद्धिं मे दिसंतु। तीर्थङ्करभक्ति 8; तित्थयरा मे पसीयन्तु ।। तीर्थ0 भक्ति 6
25. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थऽतो वृत्तिः।। सां0 का0 13 ॥

जैन श्रमण-संस्कृति की प्राचीनता एवं वैदिक संस्कृति

[प्रस्तुत लेख में श्रमण और वैदिक संस्कृति की परस्पर तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रारम्भ में दोनों संस्कृतियों का मूल एक ही रहा है किन्तु परवर्ती काल में आचार- विचार विषयक वैमत्य हो जाने से दोनों आमने-सामने खड़ी होकर परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ हो गईं। आज के बदले हुये नए परिवेश में दोनों संस्कृतियों में साम्यभाव आवश्यक है। जैन श्रमण संस्कृति प्राचीन है, यह वैदिक ग्रन्थों से भी सिद्ध है।]

भारतवर्ष में प्राचीन काल से दो प्रमुख संस्कृतियाँ अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध होती हैं-

(1) वैदिक संस्कृति और (2) श्रमण संस्कृति।

वैदिक संस्कृति में प्रवर्तक धर्म की प्रधानता होने से देवोपासना और यज्ञादि कर्मकाण्ड की प्रमुखता है। ''उद्भिदा यजेत पाशुकामः'' (पशु की कामना वाला उद्भिद यज्ञ करे), 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, स्वर्गकामः' (स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र यज्ञ करें) इत्यादि यज्ञीय विधि-विधानों के द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न देखा जाता है। सन्तान, स्त्री, धन, पशु, हिरण्य आदि भोग-सामग्रियों की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। इन्द्र, वरुण, मरुत्, रुद्र आदि देवताओं को स्तुतियों और यज्ञों के द्वारा प्रसन्नकर उनसे भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने की अभिलाषा देखी जाती है।[1] आत्मचिन्तन, त्याग, तपस्या, संसारमुक्ति आदि के लिए प्रयत्न परिलक्षित नहीं होता है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में निवर्तक धर्म की प्रधानता होने से अंहिसा, सत्य, तपस्या, संन्यास, समाधि, चित्तशुद्धि, वीतरागता, समत्वभावना, आत्मसंलीनता, निष्कामकर्म-परायणता आदि की प्रमुखता है। सांसारिक सुख-लाभ के लिए इस संस्कृति में महत्त्व नहीं है। वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व ब्राह्मणों में रहा है तथा श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व जैन-बौद्ध धर्मानुयायियों में रहा है।

इस तरह वैदिक संस्कृति वह है जिसमें वेद और वैदिक वाङ्मय को धार्मिक क्रियाओं के लिए प्रमाण माना जाता है। श्रमण संस्कृति में वेद और वैदिक वाङ्मय को धार्मिक दृष्टि से तो प्रमाण नहीं माना जाता परन्तु उनमें श्रमण संस्कृति के उल्लेखों को ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य प्रामाणिक माना जाता है। 'श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से प्राचीन है या अर्वाचीन है' यह तो विद्वानों में विवादास्पद है परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि वैदिक संस्कति के समानान्तर ही श्रमण संस्कृति, जनजीवन में व्याप्त थी। दाशराज्ञ और सुदास का युद्ध इन दोनों संस्कृतियों का युद्ध था।[2] दाशराज्ञ के नेता थे ऋषि विश्वामित्र और सुदास के नेता थे वशिष्ठ ऋषि । तपश्चरण द्वारा जाति-परिवर्तन करने वाले तथा ज्ञान और न्याय के मूर्तरूप विश्वामित्र श्रमण संस्कृति के प्रतिनिधि थे। यज्ञ-समाराधक वशिष्ठ वैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि थे। सुदास की विजयप्राप्ति के बाद वैदिक धर्म का प्रचार यद्यपि अबाधरूप से हुआ, परन्तु श्रमण संस्कृति के प्रभाव से वैदिक ऋषि

अछूते नहीं रहे। उपनिषत्कालीन ऋषियों में यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फलतः कुछ वैदिक ऋषि भौतिकता को छोड़कर आध्यात्मिक होने लगे। इसीलिए श्वेताम्बरों के ऋषिभाषित में ऐसे संयमी वैदिक ऋषियों के उल्लेख श्रमण संस्कृति के ऋषियों के साथ मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है की वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की मान्यता वैदिक आर्यों में अवैदिक श्रमण संस्कृति से आई है।[3] कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि संन्यास धर्म के बीज ऋग्वेद में भी मिलते हैं। ऋग्वेद में संन्यास धर्म के बीज मिलने से उसे वैदिक संस्कृति नहीं कह सकते, क्योंकि वेदों में श्रमण और ब्राह्मण दोनों संस्कृतियाँ मिलती हैं। उपनिषदों में तो स्पष्ट रूप से श्रमण संस्कृति को 'परमहंस' के रूप में समादृत किया गया है।

ऋग्वेद में केशी, वातरशना आदि जैन श्रमण मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। सायणाचार्य आदि भाष्यकार इन मुनियों का सम्बन्ध यद्यपि वैदिक परम्परा से जोड़ते हैं, परन्तु विचार करने पर ये श्रमण-परम्परा-परिपोषक ही सिद्ध होते हैं। वस्तुतः वातरशना मुनि न केवल श्रमण थे, अपितु आद्य जैन तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव ही थे, जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराण के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है-

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयतुकामो वातरशनानां श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्ल्या तनुवावततार।[5]

इससे स्पष्ट है कि वातरशना मुनि की श्रमण-धर्मपरम्परा ऋग्वेद में उल्लिखित है। हिन्दू शास्त्रों में भी जैनों के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को भगवान् के अवतारों में गिनाया गया है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को 'परमहंस' दिगम्बर धर्म के प्रतिपादक के रूप में स्मरण किया गया है -

''एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद् भगवान् ऋषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्ति-ज्ञान-वैराग्यलक्षणं परमहंसस्य धर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परम-भागवतं भगवञ्जनपरायणं भरतं धरणीपालनाय अभिषिच्य स्वयं भवन् शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिता हवनीयो ब्रह्मावर्तत् प्रवव्राज्''[6]

यहाँ परमहंस का जो चित्र चित्रित किया गया है वह पूर्णतः भगवान् ऋषभदेव का है। अथर्ववेद के जाबाल्योपनिषद् में परमहंस के लिए निर्ग्रन्थ करपात्री, कमण्डुलधारी आदि विशेषण दिये गये हैं-

''यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यकसम्पन्नः''[7] इसी प्रकार याज्ञवल्क्योपनिषद् में जैन नग्न श्रमण के लिए 'परमेश्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है- ''यथाजातरूपधरा निर्द्वन्दा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समो भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलुदकयोर्भैक्षामाचरन्नुदरमात्रसंग्रह; आशाम्वरो, न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति।[8]

यहाँ परमेश्वर रूप साधु का जो रूप चित्रित किया गया है। वह पूर्णतः जैन मुनि में ही घटित होता है। जैन मुनि को 'परमेश्वर' कहना उनकी श्रेष्ठता और पूज्यता को दर्शाता है। बृहदारण्यकोपनिषद्[9], वाल्मीकिरामायण[10], अष्टाध्यायी आदि में भी जैन श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं।

भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास को देखने से भी ज्ञात होता है कि सिन्धु देश की मोहनजोदड़ो संस्कृति और हड़प्पा संस्कृति प्राचीनतम हैं। वहाँ जो पाषाण-मूर्तियाँ हैं वे श्रमण संस्कृति के अनुकूल ध्यान की कायोत्सर्ग -मुद्रा में हैं। तदनन्तर अशोकनिर्मित पुरातात्विक चिह्न अन्य की अपेक्षा प्राचीन हैं । वहाँ भी आजीवक साधुओं के साथ निर्ग्रन्थ साधुओं का उल्लेख है।[11] आजीवक और निर्ग्रन्थ दोनों श्रमण-संस्कृति के साधु हैं। इसी प्रकार खण्डगिरि, उदयगिरि, खारवेल आदि के पुरातत्त्व श्रमण संस्कृति के परिपोषक हैं।

इस प्रकार प्राग्वैदिक काल से लेकर आज भी श्रमण संस्कृति भारत में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। यद्यपि यह श्रमण संस्कृति विभिन्न धाराओं में प्रवाहित थी परन्तु आज प्रमुख रूप से जैन और बौद्ध इन दो धाराओं में विभक्त है। बौद्ध श्रमण संस्कृति का प्रवाह भारतदेश की अपेक्षा भारत से बाहर बर्मा, सीलोन, थाईलैंड आदि देशों में अधिक है। जैन श्रमण संस्कृति प्रमुखरूप से भारतदेश में ही परिव्याप्त है।

'श्रम्' धातु से 'युच्' प्रत्यय करने पर 'श्रमण' शब्द बनता है। श्रमण शब्द के लिए प्राकृत और पालि भाषा में 'समण', मागधी में 'शमण', अपभ्रंश में 'सवणु', कन्नड में 'श्रमण', यूनानी में मेगस्थनीज ने 'सरमनाई', चीनी में ह्वेनसांग ने 'श्रमणेरस' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। सामान्यतः श्रमण के तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं- श्रमण, शमन और समण। जैसे

(1) **श्रमण**- श्रम का अर्थ है परिश्रम और वह परिश्रम 'तपस्या' के अर्थ में रूढ़ है। अत: जो अपने श्रम से या तप-पुरुषार्थ से उत्कर्ष को प्राप्त करता है वह श्रमण है। भगवती आराधना में श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति है 'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण:। श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृतिनिमित्ततप:क्रिया श्रामण्यम्।[12] (2) **शमन्** - शान्तिकारक। जो साधु अपने राग-द्वेष आदि चित्त के अशुभ विकारों को भेदविज्ञान के बल से प्रशमित करके आत्मीय अनन्त शक्ति में मग्न होता है वह 'शमन' है। (3) **समण**[13]- जिसका मन समता को लिए हुए है। जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है, विषमता को हटाता है, राग-द्वेषजन्य तुच्छ विचारों को विसर्जित करता है तथा सदा विश्वबन्धुत्व की भावना रखता है, वह 'समण' है।

इस तरह श्रम्, शम और सम इन तीनों अर्थों का समावेश श्रमण संस्कृति में विशेषकर जैन श्रमण संस्कृति में पाया जाता है। जैसे- 'श्रम' अर्थ करने पर 'श्रमण' कर्मठता , त्याग, तपस्या, पुरुषार्थ, परिषहजय आदि गुणों के द्वारा आत्मविकास करता है। 'शम' अर्थ करने पर श्रमण परस्पर विरुद्ध विभिन्न मतवादों से विचलित न होता हुआ शान्ति के अमोघशस्त्र को धारण करता है। 'सम' अर्थ करने पर श्रमण विषमता में भी संयम एवं समता को धारण करता है।
आज श्रम, शान्ति और समता इन तीनों की धार्मिक क्षेत्र की तरह सामाजिक क्षेत्र में भी महती आवश्यकता है। इससे सामाजिक क्षेत्र में सदाचार, सहनशीलता, क्षमाभाव, साम्यभाव, उदारता, विश्वबन्धुत्व आदि लोककल्याणकारक चिरन्तन संदेश प्रसारित होंगे। श्रम, शान्ति और समता से 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:' की भावना मनुष्यों के मन में समुद्भूत होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में नि:श्रेयस् की प्राप्ति होती है। बाह्य भोगोपभोग के साधनों की उपलब्धि और सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति श्रमण संस्कृति का आनुषङ्गिक फल है।

सामान्यत: जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति ये दोनों श्रमण-परम्परा वाली संस्कृतियाँ हैं, परन्तु दोनों में अन्तर है। जैनों का मूल आधार अहिंसा है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन संस्कृति में है उतना अन्य किसी भी संस्कृति में नहीं है। पृथ्वी, जल, कीड़े, मकोड़े, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि में आत्मदृष्टि से कोई भेद नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। यही जैनों का साम्यभाव है। अहिंसा के लिए आवश्यक है अपरिग्रहता और वीतरागता। विचारों में भी साम्यभाव हो इसके लिए अनेकान्तवाद्, स्याद्वाद्, और नयवाद् के सिद्धान्त जैन श्रमण संस्कृति में स्वीकार किए गये हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति वैदिक काल में एक साथ समभाव से थीं। बाद में उनमें विरोध बढ़ता गया और वह इतना बढ़ गया कि पाणिनि आदि को दोनों में शाश्वतिक विरोध कहना पड़ा। मर्यादापुरुषोत्तम राम और जैन तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के भाई श्रीकृष्ण ने इन दोनों संस्कृतियों के पारस्परिक विरोध के शान्त्यर्थ श्लाघनीय प्रयत्न किया होगा, जिसके फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों में ये दोनों महापुरुष सम्मान के पात्र बने । ईशावास्योपनिषद् और भगवद्गीता में भी प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग का समन्वय देखा जाता है। श्रमण संस्कृति का प्रभाव वैदिक संस्कृति पर और वैदिक संस्कृति का प्रभाव श्रमण संस्कृति पर पड़ा। वेदान्तदर्शन और उसका आधारभूत उपनिषद्दर्शन तो श्रमण संस्कृति से पूर्णत: प्रभावित है। यह एक बात विशेषरूप से मननीय है कि श्रमण संस्कृति (जैन-बौद्ध दोनों) में सदाचारी साधक को सच्चा ब्राह्मण कहा है तथा ब्राह्मणों के श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण भिक्षुओं को 'श्रमण' कहा गया है। बौधायन में मुनि को श्रमण कहा है।[14]

इस विवेचन से इतना स्पष्ट है कि वैदिक काल में जैन श्रमण संस्कृति थी और उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। कालान्तर में वैदिक और श्रमण संस्कृतियों में विरोध बढ़ता गया और वह इतना बढ़ गया कि पाणिनि जैसे वैयाकरणों को सर्प और नेवला के जन्मसिद्ध वैर की तरह तुलना करनी पड़ी। परन्तु वैदिक संस्कृति में कुछ ऐसे भी ऋषि हुए हैं जिन्होंने श्रमण संस्कृति को अपनी संस्कृति में समाविष्ट कर लिया। श्रमण संस्कृति पर भी वैदिक संस्कृति का प्रभाव पड़ा। वैदिक उल्लेख हमें यह भी विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं कि जैन श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति के आद्य सूत्रधार भगवान् ऋषभदेव रहे हैं, जिन्हें कालान्तर में स्वधर्मानुसार अपनी-अपनी संस्कृति में समाविष्ट कर लिया गया।[15] ऋषभदेव को वैदिक संस्कृति में शिव या रुद्र के रूप में प्रसिद्धि मिली। भगवान् ऋषभदेव ने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर गृहस्थों को असि, मसि आदि का उपदेश दिया था, जिससे ब्राह्मण संस्कृति पल्लवित हुई और भगवान् की तप:साधना पद्धति से जैन श्रमण संस्कृति विकसित हुई। 1

सन्दर्भसूची -

1. या व: शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं ना धत्त वृषण: सुवीरम्। ऋग्वेद 1: 85 : 12.

2. ऋग्वेद 7, 33,2, 5, 83, 8,आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, विश्वामित्र शब्द।
3. हिन्दू धर्मसमीक्षा, हिन्दी ग्रन्थ इन्नाकर, बम्बई; जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका पृ0 78,82; गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक) संन्यास और कर्मयोग प्रकरण। शतपथ ब्राह्मण 13 : 4 : 1 : 1; बौधायन धर्मसूत्र 2 : 6 : 11 : 33-34;. आपस्तम्बसूत्र 9 : 24 : 8.
4. ऋग्वेद- 10 : 136 : 1-4; भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ0 13-14.
5. भागवतपुराण 5 : 3 : 20.
6. भागयत 5 : 5.
7. अनेकान्त वर्ष 1, पृ0 539-540
8. भागवत 5 : 5.
9. बृहदारण्यक 4 : 3 : 22.
10. वाल्मीकि, सर्ग 18.
11. अशोक स्तम्भ लेख नं0 7.
12. भगवती आराधना 70 विजयोदया टीका
13. भगवती आराधना 60 विजयोदया टीका
14. बौ0 सू0 16 : 30; पाणिनिकालीन भारत, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ0 377.
15. ऋषभ सौरभ; डॉ. गोकुल प्रसाद जैन संस्कृति प्रसार। कामता प्रसाद जैन, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि। हिन्दू धर्म और दिगम्बरत्व।

यज्ञ : एक अनुचिन्तन

जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि जिस समय भगवान् महावीर और बुद्ध ने जन्म लिया था उस समय वेदविहित हिंसा प्रधान यज्ञों का प्रचलन धर्म के रूप में इतनी अधिक मात्रा में था कि प्रत्येक आवश्यक क्रियाओं की सफलता के लिये इन यज्ञों को करना आवश्यक समझा जाता था। जैसे पुत्रप्राप्ति के लिए, धन की प्राप्ति के लिए युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए आदि।[1] इस युग को कर्मकाण्डी ब्राह्मण युग कहा जाता हैं जिसमें पौरोहित्यवाद ने जोर पकड़ा तथा पुरोहित (पुजारी) देवों के तुल्य समझे जाने लगे।[2] वेदों को नित्य अपौरुषेय एवं ईश्वरप्रदत्त मानने की प्रवृत्ति का भी उदय इस काल में हुआ।[3] परम पुरुष के निश्वास के रूप में भी इनकी प्रसिद्धि हुई।[4] जो इनका ज्ञाता होता था वही पण्डित कहलाता था तथा समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था।[5] यज्ञान्न प्राप्त करने का भी अधिकारी वेदविद् ब्राह्मण ही समझा जाता था।[6] बाह्मण लोग यज्ञों में निरपराध एवं मूक पशुओं का हनन व हवन यह कह कर किया करते थे कि वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं कहलाती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा इसके सन्दर्भ में औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च और पक्षी यज्ञ में होम की विधा से मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।[7] पशु वगैरह की सृष्टि यज्ञ में हवन करने के लिए ही हुई है।[8] एक तरफ गाय में 33 करोड़ देवताओं का निवास मानते थे और दूसरी तरफ धर्म के नाम पर यज्ञमण्डप में उसके, करुणक्रन्दन करते रहने पर भी हिंसा किया करते थे। ज्ञान-पुञ्जरूप ऋग्वेद में यज्ञ के यथार्थ रूप का दर्शन देवों की आराधना के रूप में होता है परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को एक जादू-टोना का रूप प्राप्त हुआ जो यज्ञ प्रक्रिया की एक अवनति थी[9] तथा वेदविहित धर्म को कलुषित करना था। किस तरह वेदविहित धर्म को इन धूर्त माँस-लोलुप वेद के व्याख्याकारों ने अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों में धर्म के नाम पर अगणित निरपराध प्राणियों की हिंसा करके, कलुषित किया तथा स्वयं पतित होकर दूसरों को भी पतिताचार में प्रवृत्त कराया, इसका वर्णन हम आगे करेंगे। सर्वप्रथम हम यह जान लें कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जिनमें यज्ञ-याग का ही सविस्तार वर्णन है, किस तरह यज्ञ करने की प्रथा थी तथा यज्ञ में कौन-कौन से उपकरण होते थे ?

यज्ञ के अवसर पर एक यज्ञमण्डप बनवाया जाता था जिसके बीच में यज्ञ वेदिका होती थी जहाँ प्रज्ज्वलित अग्नि में आहुतियां दी जाती थीं। इन यज्ञों का सम्पादन चार विशिष्ट व्यक्ति ऋत्विज् मिलकर करते थे जो चारों वेदों के विशिष्ट ज्ञाता कहलाते थे। उनके नाम और कार्य निम्न प्रकार से थे -

(1) होता ऋत्विज् - यह यज्ञ के समय विशिष्ट मन्त्रों द्वारा देवता का आह्वान करता था। उन विशिष्ट मन्त्रों का सङ्कलन ऋग्वेद में होने से यह ऋग्वेद का पूर्णज्ञाता होता था।

(2) अध्वर्यु ऋत्विज् – यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना इसका कार्य है। इस विषय के ज्ञान के लिए आवश्यक मन्त्रों का सङ्कलन यजुर्वेद-संहिता में होने से, यह ऋत्विज यजुर्वेद का पूर्णज्ञाता होता था।

(3) उद्गाता ऋत्विज् – इसका कार्य है कि उच्च एवं मधुर स्वर से ऋचाओं का गान करे। सामवेद में ऐसी ऋचाओं का सङ्कलन है। अत: यह ऋत्विज् सामवेद का पूर्णज्ञाता होता था।

(4) ब्रह्मा ऋत्विज् — यह सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण करता है जिससे यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि न रहे। अत: इसे समग्र वेदों का ज्ञान होना जरूरी था। अथर्ववेद का सङ्कलन इसी ऋत्विज् के निमित्त है क्योंकि वेद तीन ही हैं 'त्रयी वेदा:'।[10] अत: यह ऋत्विज् मुख्यरूप से अथर्ववेद का ज्ञाता होता था।

'यज्ञ' शब्द 'यज्' पूजार्थक धातु से निष्पन्न होता है। अत: 'इज्यतेऽनेनेति यज्ञ:' जिसके द्वारा, हवन-पूजन किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार यज्ञ एक प्रकार का कर्म है, कर्म चाहे शुभरूप हो या अशुभरूप हो दोनों संसार भ्रमण में कारण हैं तथा संसार भ्रमण दु:ख का हेतु है। यह सम्पूर्ण संसारचक्र यज्ञ की प्रक्रिया से ही प्रचलित है।[11] तथा हमारी जो भी क्रियाएँ हैं वे सभी एक प्रकार की यज्ञ क्रियाएँ ही हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रचलित 'यज्ञ' शब्द एक विशिष्ट क्रिया का द्योतक है। इन यज्ञों को द्रव्य और भाव के भेद से दो भागों में विभाजित किया जाता है। द्रव्य-यज्ञ के पुन: दो मुख्य भेद हैं – श्रौतद्रव्ययज्ञ और स्मार्तद्रव्ययज्ञ। इनके क्रमश: स्वरूप निम्न प्रकार हैं-

श्रौतद्रव्ययज्ञ:—जिनमें जंगम और स्थावर जीवों की बलि दी जाती है। उन्हें श्रौतद्रव्य-यज्ञ कहते हैं। जैसे अश्वमेध, वाजपेय, ज्योतिष्टोम आदि। ये यज्ञ बहुत खर्चीले, पड़ते थे।[12] अत: साधारण जनता इन यज्ञों को नहीं कर सकती थी। इन यज्ञों में अनेक पशुओं की निर्मम हत्याएं होती थीं। इस तरह धर्म के नाम पर हिंसा का बहुत प्रचार देखकर तत्कालीन तत्त्वमनीषियों ने घोर खण्डन किया। यद्यपि एक, सुनिश्चित धर्म-परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को साहस न होता था परन्तु विरुद्ध विचारों को प्रकट करते हुए भी वेद को प्रमाण मानते रहे वेद को प्रमाण मानने वाले भारतीय दर्शनों में जो परस्पर विरोध है यह उन मनीषियों की चतुरता है। अत: उपनिषदों में तथा भगवान् महावीर और बुद्ध ने इस वैदिक कर्मकाण्ड की तीव्र आलोचना की। भगवान् महावीर और बुद्ध इस वैदिक कर्मकाण्ड, वेद प्रामाण्य के प्रबलतम विरोधी थे तथा उनके स्थान पर अहिंसाप्रधान धर्म का प्रचार करने वालों में श्रेष्ठतम थे। बौद्धों पर याज्ञिक क्रियाकाण्ड की इतनी प्रतिक्रिया हुई कि उन्हें आत्मा शब्द से ही घृणा हो गई। चूंकि आत्मा के निमित्त से स्वर्ग की प्राप्ति के लिए लोगों को प्रलोभित किया जाता था अत: उस शाश्वत आत्मतत्त्व को रागद्वेष की अमरवेल मानकर उसका खण्डन ही कर दिया।[13] जैन और बौद्ध ग्रन्थों में इन यज्ञों के खण्डन में जो तर्कपूर्ण युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं उन्हें देखकर कोई भी सहृदय व्यक्ति पुन: इन यज्ञों की तरफ देखने का साहस न करेगा। स्याद्वादमञ्जरी में एक कारिका उद्धृत है-

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥

अर्थात् जो लोग देव-प्रसादार्थ अथवा यज्ञ के बहाने घृणा से रहित होकर प्राणियों (जन्तुओं) को हिंसा करते हैं वे घोर अन्धकार से पूर्ण दुर्गति में जाते हैं।

वावरि ब्राह्मण का शिष्य पुण्णक भगवान् बुद्ध से निम्न प्रश्न पूछता है, भगवन्! किस कारण से ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने इस लोक में देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् यज्ञ कल्पित किए हैं भगवन् ! बतावें।

भगवान् बुद्ध – 'जिन किन्हीं ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने इस लोक में देवताओं के लिए पृथक्-पृथक् यज्ञ कल्पित किए हैं, उन्होंने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से अमुक्त होकर ही किए।

पुण्णक-जिन किन्हीं ने यज्ञ कल्पित किए, भगवन् ! क्या वे यज्ञ-पथ में अप्रमादी थे ? हे मार्ष, क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवन् ! आप से यह पूछता हूँ। मुझे बतायें।

भगवान् बुद्ध – वे जो आशंसन करते, स्तोम करते, अभिजल्प करते, हवन करते हैं सो लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।

पुण्णक-हे मार्ष! यदि: यज्ञ के योग से, यज्ञों के द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो मार्ष, फिर लोक में कौन देव जन्म-जरा को पार हुए ? हे भगवान् ! उसे बतलावें।

भगवान् बुद्ध – जिसे लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं है, जो शान्त, दुश्चरित रहित, रागादि से विरत, आशारहित है, वह जन्म-जरा को पार कर गया, ऐसा मैं कहता हूँ।'[14]

इसी तरह भगवान् बुद्ध के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड विशुद्धि-साधक नहीं है, वह तो सिर्फ लेन-देन रूपी व्यापार की भावना पर प्रतिष्ठित है। अर्थात् 'तुम मुझे यह दो, मैं तुम्हें यह देता हूँ' इस प्रकार की प्रवृत्तियों से सम्पूर्ण याज्ञिक विधान प्रतिष्ठित हैं।[15]

औपनिषदिक ऋषियों का विश्वास याज्ञिक विधान में दृष्टिगोचर नहीं होता है। वे यागादि क्रियाओं को यद्यपि परमार्थप्राप्ति में आवश्यक नहीं समझते हैं[16] तथापि अधिकारीभेद से आश्रम-धर्म की व्यवस्था के लिए उनका पूर्ण निराकरण भी नहीं करते हैं। इस तरह उनकी प्रवृत्ति एक तरफ समन्वयात्मक है[17] और दूसरी तरफ निन्दात्मक।[18] जैसे कहीं-कहीं पुरोहितों की खाने-पीने की लोलुपता को देखकर उनको एवं उनके याज्ञिक क्रिया-कलापों को एक घृणा की वस्तु बतायी गयी है। एक स्थान पर तो उन्हें कुत्तों की एक पाँत में खड़े जैसा भी दिखाया है। वे लोलुपतापूर्वक कहते हैं -'ओम् दा ओम् पिवा, ओम देवो वरुण: आदि (ॐ मुझे खाने दो, ॐ मुझे पीने दो, देव वरुण)।[19] इस लेन-देन के व्यापार के कारण ही देवों का भी दर्जा बहुत निम्न और लोलुपतापूर्ण दिखलाई पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास... जी ने इसका अच्छा वर्णन किया है जिसमें इन्द्र को 'श्वान' को उपमा दी गई है। इससे वैदिक देव की प्रतिष्ठा पर धक्का पहुँचता है।

वेद को प्रमाण मानने वाले सांख्याचार्यों ने इन यज्ञों की निन्दा करते हुए कहा है -

यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते॥

अर्थ-यूपादि (वृक्षादि) का छेदन करके, पशुओं की हिंसा करके तथा खून का कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो वह कौन-सा घोर कर्म है जिसके करने से नरक जाया जाता है। तथा सांख्यकारिका के प्रारम्भ में दैहिक, दैविक और भौतिक दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय व्यावहारिक (औषधादि) साधनों की तरह श्रौतविहित यज्ञप्रक्रिया को नहीं माना है -

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥2॥

अर्थ-लौकिक (दृष्ट) उपायों की तरह श्रुतिविहित यज्ञ भी दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं करा सकते क्योंकि श्रुतिविहित यज्ञ-विशुद्धि से रहित, क्षय और अतिशय से युक्त हैं।[20] इसके विपरीत प्रकृति-पुरुष का ज्ञान ही श्रेयकारी है।

वेद को ही प्रमाण स्वीकार करने वाले वेदान्तियों ने भी हिंसाप्रधान यज्ञों की निर्ममता देखकर कहा कि जो लोग पशुओं की हिंसा करके यज्ञ करते हैं। वे घोर अन्धकार में विलीन हो जाते हैं क्योंकि हिंसा न तो कभी धर्म रही है, न है और न रहेगी -

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्यैर्यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति॥

इस तरह वेदान्तियों ने हिंसाप्रधान धर्म का त्रैकालिक निषेध करके अहिंसाप्रधान धर्म की प्रतिष्ठापना की।

यशस्तिलकचम्पू में एक प्रसङ्ग आता है जिसमें राजा यशोधर आटे का कल्पित मुर्गा बनाकर बलि चढ़ाते हैं जिसके फलस्वरूप वे कई भवों तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। इस कल्पित मुर्गे की बलि से यह बतलाया गया है कि जब कल्पित पशु की बलि इतनी अनिष्टकर हो सकती है तो साक्षात्पशु की बलि चढ़ाने से क्या दुर्गति होगी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

अन्य संवाद जैन 'पद्मपुराण'[21] में आता है जिसमें नारद और पर्वत के बीच 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्द के अर्थ को लेकर विवाद उत्पन्न हो जाता है। तब वे सलाह करके उचित निर्णय कराने के लिए राजा वसु के पास अग्रिम दिन जाते हैं। उस समय राजा वसु सत्यवादी था तथा उसके प्रभाव से उसका सिंहासन पृथ्वी से ऊपर उठा रहता था। राजदरबार में पहुंचकर दोनों अपने-अपने पक्षानुसार 'अर्जैर्यष्टव्यम्' का अर्थ बताते हैं

(1) नारद-'अज से यज्ञ करना चाहिए' का अर्थ है-'उस प्रकार के धान्य (धान) से यज्ञ (हवन) करना जिसमें सहकारी कारण मिलने पर भी अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति वर्तमान न हो।'

(2) पर्वत -'अज से यज्ञ करना चाहिए' का अर्थ है-'बकरे की बलि चढ़ाकर यज्ञ (हवन) करना। राजा यद्यपि 'अज' शब्द का अर्थ कई बार धान्यविशेष कर चुके थे परन्तु किसी एक वचनबद्धता के कारण पर्वत के पक्ष में अपना

निर्णय दे देते हैं। फलस्वरूप राजा का सिंहासन पृथिवी पर गिर पड़ता है और राजा वसु सातवें नरक में जाकर अनन्त कष्टों को झेलते हैं। इस प्रसङ्ग में सिर्फ इतना ही बताया है कि 'अज' शब्द का अर्थ बकरा नहीं है अपितु धान्य विशेष है जिसमें अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो चुकी है। यहाँ 'अज' शब्द का बकरा अर्थ करना मात्र दुर्गति का कारण हो जाता है तब फिर पशु-यज्ञ कैसे धर्म कहे जा सकेंगे।

यह पशु-यज्ञ की प्रथा अनार्य, माँस-लोलुप ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित की गई। जैसा कि महाभारत में कहा है -

'सुरा मत्स्या मधु-मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तः प्रवर्तितं ह्येतन् नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥ महाभारत, शान्तिपर्व 265,9॥

चूंकि संसारी प्राणी स्वभाव से विषयासक्त होते हैं फिर यदि उन्हें इस प्रकार का उपदेश मिल जाय तो शीघ्र ही उसे ग्रहण कर लेते हैं। फलस्वरूप पशु-यज्ञों का प्रचलन बढ़ गया। परन्तु जो आर्य ब्राह्मण थे उनमें यह बात नहीं थी। उनका आदर्श ऊँचा था। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात के ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में जो ब्राह्मणों का आचरण बतलाया है वह बड़ा ही उच्च एवं आदर्शमय है-

यथा माता पिता भाता अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता यासु जायन्ति ओसधा ॥
अन्नदा वलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा नास्सु गावो हनिंसु ते।।

अर्थ-माता, पिता, भाई और अन्य नातेदारों की तरह गायें भी हमारी मित्र हैं क्योंकि खेती उन पर निर्भर है। वे अन्न, बल, कान्ति एवं सुख देने वाली हैं। ऐसा सोचकर प्राचीन काल में गायों की हत्या नहीं करते थे। यहाँ पर हम 'बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन'[22] से एक प्रसङ्ग उद्धृत करते हैं -

'हम उन पूर्व ऋषियों के प्रति आदर बुद्धि का प्रकाशन कर दें जो कि एक अत्यन्त सरल ढंग से यज्ञ करते थे और जिनके आचरण अत्यन्त पवित्र थे। ये ऋषि सम्भवतः संहिता काल के ही हो सकते हैं, क्योंकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय विधान प्रचलित था। कुछ-कुछ इसे हम ब्राह्मण युग का भी परिचायक कह सकते हैं। पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे, पाँच कामगुणों को छोड़ वे अपना अर्थ (ज्ञान, ध्यान), करते थे। उस समय ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न हिरण्य, न अनाज। वे स्वध्यायरूपी धन-धान्य वाले थे। ब्रह्मनिधि का पालन करते थे। नाना रङ्ग के वस्त्रों, शयन और आवसथों (अतिथि शालाओं) से समृद्ध जनपद-राष्ट्र उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अबध्य, अजेय, धर्म से रक्षित थे, कुलद्वारों पर उन्हें कभी कोई नहीं रोकता था। ....वे तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी और तेल को मांगकर धर्म के साथ निकालकर यज्ञ करते थे। यज्ञ-उपस्थिति होने पर वे गाय को नहीं मारते थे।[23] ब्राह्मणत्व की महिमा का कितना सुन्दर प्रख्यापन है। साथ ही वैदिक युग के निर्व्याज समाज और पशु-हिंसा के अभाव का कितना बड़ा साक्ष्य भी।

'पशु हिंसामयी, निकृष्ट तपस्या तो बुद्ध को ही नहीं सभी भारतीय मनीषियों' के लिए घृणा की वस्तु है, किन्तु यज्ञादिकों को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की थी जैसी कि उपनिषदों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने की थी।[24]

एक आदर्श द्रव्ययज्ञ का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं -'ब्राह्मण'! इस यज्ञ में गौएँ नहीं मारी गई, बकरे, भेड़े, मुर्गे, सूअर आदि नहीं मारे गए, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गए। न यूप के लिए वृक्ष काटे गये। जो भी उसके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दण्ड-तर्जित, भय-तर्जित हो, अश्रुमुख रोते हुए सेवा नहीं की। जिन्होंने चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। जो चाहा सो किया, जो नहीं चाहा सो नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्त हुआ।[25] इस तरह हम देखते हैं कि वेद में पशु-हिंसा मौलिक नहीं है किन्तु बाद में अनार्य मांस लोभी ब्राह्मणों द्वारा लाई गई है।[26] यदि ऐसा न होता तो जो याजक यह कहते हैं कि यज्ञ में जिस पशु का हवन किया जाता है वह स्वर्ग को जाता है तो वे स्वयं को क्यों नहीं हवन कर देते जिस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए इतना द्राविड प्राणायाम करते हैं।

इसी तरह जैन आगमग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र में भी आदर्श ब्राह्मण का स्वरूप बतलाया गया है[27] उसे यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है -

जो अग्नि की तरह संसार में (पापरहित होने से) पूजनीय है तथा कुशलों (श्रेष्ठ-महापुरुषों) द्वारा संदिष्ट है उसे

हम ब्राह्मण कहते हैं। जो स्वजनों में आसक्तिरहित है, प्रव्रज्या लेकर शोक नहीं करता है तथा आर्यवचनों में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो कालिमा आदि मैलापन से रहित, स्वर्ण की तरह राग, द्वेष, भय आदि। दोषों से रहित है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो तपस्वी, कृश, दमितेन्द्रिय, सदाचारी, निर्वाण के सम्मुख है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो मन, वचन, काय से त्रस एवं स्थावर प्राणियों की हिंसा नहीं करता है। उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से मिथ्या वचन नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो सचित्त अथवा अचित्त वस्तु को थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में बिना दिए हुए ग्रहण नहीं करता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो मन, वचन, काय से दिव्य लोक सम्बन्धी, मनुष्यलोक सम्बन्धी एवं तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो जल में उत्पन्न होकर भी जल से भिन्न कमल की तरह कामभोगों में अलिप्त हैं उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो लोलुपता से रहित, क्षुधाजीवी (भिक्षान्नजीवी), अनगार, अकिञ्चनवृत्तिवाला, गृहस्थों में असंसक्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो पूर्व संयोग (मातापितादि), ज्ञातिजनों के संयोग तथा बन्धुजनों के संयोग को त्यागकर पुन: भोगों में आसक्त नहीं होता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को त्यागकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अकिञ्चन भाव को धारण करता है, राग-द्वेष से रहित है, सदाचारी है वही ब्राह्मण है। केवल ओंकार का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं कहलाता है अपितु ब्रह्मचर्य को जो धारण करे वही ब्राह्मण है।[28] ऐसा ब्राह्मण सबके द्वारा पूज्य, अबध्य और मुक्ति को प्राप्त करने वाला होता है। जो इन लक्षणों से रहित होकर 'यज्ञ', 'यज्ञ' चिल्लाया करते हैं वे मूढ़ शुष्क तपश्चर्या करने और वेद के असली रहस्य को जाने बिना सिर्फ अध्ययन करने वाले राख से आवृत्त अङ्गार की तरह हैं।[29]

अत: जो वेद-पशुवध का उपदेश देते हैं वे सब वेद और पापकर्म द्वारा दी गई यज्ञ की आहुतियाँ, दु:शील वेदपाठी एवं यज्ञकर्ता की रक्षा नहीं करती हैं। क्योंकि कर्म बलवान हैं और वे बिना फल दिए दूर नहीं होते हैं।[30]

इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन काल में ब्राह्मणों का आचार कितना आदर्शपूर्ण और उच्च था। तथा वे जो यज्ञ करते थे वे पशु-हिंसा से रहित और निर्दोष सामग्री से निर्मित होते थे और श्वेताम्बर जैन साधु भी उस यज्ञान्न को लेते थे।[31] परन्तु बाद में यज्ञ पशु-हिंसा से दूषित हो गये जिससे महापुरुषों के द्वारा निन्दनीय हुए।

स्मार्त द्रव्ययज्ञ -

इनमें हिंसा नहीं होती है अपितु इनका सम्पादन घृत, धान्य आदि से होता है।[32] इन यज्ञों में याजक की भावना हिंसा करने की नहीं रहती है फिर भी जो स्थावर जीवों की हिंसा इस यज्ञ को व्यवस्था में होती है वह नगण्य है। अत: इन यज्ञों का विरोध नहीं किया गया। जैन सम्प्रदाय में भी ऐसे यज्ञ वर्तमान हैं-जैसे पञ्चकल्याणक, मन्दिर-वेदी-प्रतिष्ठा आदि। परन्तु इनका - विधान सिर्फ गृहस्थों के लिए ही किया गया है जिससे स्पष्ट है कि ये यज्ञ परमार्थसाधक नहीं हैं। इनका उद्देश्य सिर्फ धर्म का प्रचार एवं प्रसार है।

भावयज्ञ -

यही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है।[33] भावों की प्रधानता होने के कारण इसे भावयज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ के सम्पादन में बाह्य किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कोई भी इस यज्ञ को कर सकता है। विभिन्न ग्रन्थों में इस यज्ञ के विभिन्न नाम हैं जो अपनी सार्थकता लिए हुए हैं। जैसे-

(1) यमयज्ञ[34]-मृत्यु का देवता माना जाता है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी (देवता भी) नहीं है जो मृत्युरूप यम देवता के द्वारा असित न होता हो। अत: जिस यज्ञ में मृत्युरूपी यम देवता का हवन किया जाता है और जिससे संसार का आवागमन छूट जाता है उसे यमयज्ञ कहते हैं।

(2) अहिंसायज्ञ[35] - इस यज्ञ में अहिंसा की प्रधानता होने से इसे अहिंसायज्ञ कहते हैं। अहिंसा सब धर्मों का मूल है। कहा है 'अहिंसा परमो धर्म:'। जैनधर्म में जो पाँच महाव्रत बताये हैं उनमें अहिंसा महाव्रत ही प्रधान है। इस अहिंसा की रक्षा के लिए ही अन्य सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत माने गये हैं। पाँचों महाव्रतों का महत्त्व अचिन्त्य है। इनके पालन से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[36]

इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में कई यज्ञों के नाम हैं जो जैनों को भी मान्य हैं।[37] जैसे-

(1) दानयज्ञ- शीलवान प्रव्रजितों के लिए नित्य दान देना।

(2) त्रिशरणयज्ञ– बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण में जाना। यहाँ त्रिशरण से त्रिरत्न सम्यग्दर्शनादि करना।
(3) शिक्षापदयज्ञ– यम–नियमों का ग्रहण करना।
(4) शीलयज्ञ– पाँच शीलव्रतों को पालन करना।
(5) प्रज्ञायज्ञ– अज्ञान का विनाश करके ज्ञानार्जन करना।
(6) समाधियज्ञ– ध्यान द्वारा चित्तैकाग्र करके चित्तविशुद्धि करना।

दीघनिकाय के कूटदन्त सुत्त में राजाओं और ब्राह्मणों के द्वारा करने योग्य यज्ञों का प्रतिपादन है। एक कूटदन्त ब्राह्मण 700 गायों, इतने ही बछड़ों एवं इतने ही अन्यान्य पशुओं द्वारा यज्ञ करना चाहता है तब प्रसङ्गवश भगवान् गौतमबुद्ध अहिंसामय आदर्शयज्ञ का प्रतिपादन करते हैं। इसी तरह कोसल संयुक्त निकाय में कोसल राजा पसेनादि भी 500 बैल, 500 बछियां, 500 बकरे, 500 मेढे आदि की बलि चढ़ाने के लिए यूपों से बँधवाते हैं तथा राजा के सेवक दण्ड के भय से आँखों में आँसू भरकर यज्ञ का काम करते हैं तब भगवान् इस प्रकार के यज्ञों का निषेध करते हैं। इस प्रकार के अहिंसा यज्ञों का सम्पादन महाराजा विजित और अशोक ने किया था। राजा अशोक का अहिंसा चक्र तो लोकविख्यात ही है।

अध्यात्मयज्ञ या ज्ञानयज्ञ –

अध्यात्मप्रधान होने से इसे अध्यात्मयज्ञ कहते हैं और ज्ञान की प्रधानता होने से ज्ञानयज्ञ कहते हैं। यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या करना तथा उसके द्रव्यमय स्वरूप को हटाकर 'ज्ञानमय' रूप देने की प्रवृत्ति का उदय ब्राह्मण युग में ही हो गया था। शतपथ ब्राह्मणों में हम यत्र–तत्र आध्यात्मिक अर्थों में यज्ञ प्रक्रिया की व्याख्या को देखते हैं। जैसे— ऐषा नु देवता दशपौर्णमासयोः सम्पत् अबाध्यात्मम्। –यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, एष वै महान्देवो यद्यज्ञः, यज्ञो वै वृहत्विपश्चित्, यज्ञो वै ब्रह्म, संवत्सरो वै यज्ञः, आत्मा वै यज्ञः, पुरुषो वै यज्ञः आदि। आरण्यकों ने इस दिशा में गति प्रदान की और वानप्रस्थ मुनियों के लिए इस अध्यात्मयज्ञ का प्रतिपादन करते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा। धर्म के 10 प्रकार बतलाते हुए आरण्यक में कहा है –

सत्यं तपश्च संतोषः क्षमा चारित्रमार्जवम्।
श्रद्धा धृतिरहिंसा च संवरश्च तथा परः॥

अर्थ – सत्य, तप, संतोष, क्षमा, चारित्र, ऋजुता (आर्जव), श्रद्धा, धृति, अहिंसा तथा संवर—ये 10 धर्म के प्रकार हैं।

इसके बाद उपनिषदों में तो इस प्रवृत्ति की गतिशीलता स्पष्ट और सुदृढ़ ही जाती है जो गीता में परिपूर्णता को प्राप्त कर लेती है। छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में मनुष्य को यज्ञ और मनुष्य के समस्त क्रियाकलापों को ही यज्ञ की विभिन्न अवस्थाओं का रूप दिया गया है। इसी तरह अन्य बृहदारण्यक, ऐतरेयारण्यक आदि उपनिषदों में यज्ञ को 'ज्ञान–यज्ञ' का रूप दिया गया है तथा जीवन की समस्त क्रियाओं को यज्ञरूप बताया है। जैसे – कौषीतकि (25) में अग्निहोत्र को प्राणायाम के रूप में, छान्दोग्य में (4/11–14) तीन प्रकार की अग्नियों को आत्मा के रूप में परिवर्तित कर दिया है। तैत्तिरीय (25) में ज्ञान को यज्ञ और कर्म दोनों ही कहा है (विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते च)। ऐसे अनेक स्थल उपनिषदों में वर्तमान हैं। जिनमें यज्ञ के द्रव्यमय बाह्यस्वरूप के स्थान पर ज्ञानमय आध्यात्मिक यज्ञ को प्रतिष्ठापना की है।

इस अध्यात्म यज्ञ को वैदिक संस्कृति की प्रतीक गीता में कर्म–योगरूपी श्रेष्ठ यज्ञ कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं (अ0 3, श्लोक 10 से 13)–हे अर्जुन ! मैं अग्निमुख में आहुतियाँ अर्पण करने को यज्ञ की आत्मा नहीं समझता, किन्तु परिश्रमपूर्वक उत्पन्न किए धनधान्यादि तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को किसी विशिष्ट प्राणी को उद्दिष्ट करके ही नहीं वरन् संसार में जो कोई उसके क्षेत्र में आ जाय उन सबके हितार्थ भक्तिपूर्वक अर्पण करने को मैंने जीवन का कर्मयोगरूपी श्रेष्ठयज्ञ माना है। इस प्रकार करते हुए जो कुछ निर्वाहार्थ मिल सके उसे ही ईश्वर का अनुग्रह समझकर उपयोग करने को में यज्ञ को प्रसादी का उपयोग करता हूँ। इससे आत्मशुद्धि होती है। अतः यही यज्ञ की आत्मा है।[38]

इस तरह सभी भारतीय चिन्तकों ने वैदिक कर्मकाण्डी यज्ञ की व्याख्या –अध्यात्मपरक की है। यहाँ पर हम उत्तराध्ययन सूत्र के 25 वें यज्ञीय अध्ययन से एक प्रसङ्ग उद्धृत करना चाहते हैं जिससे यज्ञ सम्बन्धी बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण हो जावेगा।

जयघोष नामक एक जैन मुनि जब विहार करते हुए अपने भाई विजयघोष ब्राह्मण के यज्ञमण्डप में पहुँचते हैं तो वहाँ पर उपस्थित ब्राह्मण याजकों से यज्ञान्न की याचना करते हैं। यह सुनकर ब्राह्मण लोग कुपित हो जाते हैं और मुनि की निन्दा करते हुए कहते हैं कि इस यज्ञान्न को सिर्फ वेदविद्, यज्ञकर्ता, ज्योतिषाङ्गविद्, धर्मशास्त्रज्ञाता तथा स्वपर का कल्याणकर्ता ब्राह्मण ही प्राप्त कर सकता है। तब मुनिराज इसके उत्तर में कहते हैं कि आप लोग न तो वेदों के मुख को जानते हो, न यज्ञों के मुख को, न नक्षत्रों के मुख को, न धर्म मुख को और न स्वपर के कल्याणकर्ता को। अत: न तो आप लोग वेदविद् हैं, न यज्ञविद् हैं, न ज्योतिषाङ्गविद् है, न धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं और न स्वपर के कल्याणकर्ता हैं। इस बात को सुनकर वे ब्राह्मण मुनिराज से पूछते हैं कि कौन वेदादि के मुख को जानता है और वेदादि के मुख क्या हैं ? यह सुनकर मुनिराज गम्भीर अर्थ से युक्त भाषा में वैदिक और जैन दृष्टि से समन्वित जो उत्तर देते हैं वह निम्न प्रकार है

(1) वेदों का मुख– अग्निहोत्र वेदों का मुख है (जिस वेद में सच्चे अग्निहोत्र का प्रधानता से वर्णन हो वही वेद वेदों का मुख है)। 'अग्निर्मुखा वै वेदा:' ऐसी श्रुति भी है। वेदों में इसी अग्नि को प्रधानता होने से अग्नि के संस्कार को ही यज्ञ कहा जाता है। वैदिक, दैविक और भौतिक अग्नि में वैदिक अग्नि 'यजु' कहलाती है। इस तरह वेदानुसार अर्थ सङ्गत हो जाता है। परन्तु मुनिराज को यहाँ पर तप रूप अग्नि अभिप्रेत है, जिस तपाग्नि से कर्मरूपी महावन ध्वस्त किया जा सके। कहा भी है–

कर्मेन्धनं समाश्रित्य दृढसद्भावनाहुति:।
धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका॥

अर्थात् धर्मध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी इन्धन को जलाना चाहिए। इस तरह मैं वेदों का मुख जानने से वेदविद् हूँ, अत: यज्ञान्न पाने का अधिकारी हूँ। यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

(2) यज्ञों का मुख – यज्ञार्थी (संयमरूपी यज्ञ करने वाला साधु) है। जिस यज्ञ से कर्मों का क्षय हो वही यज्ञों का मुख है। अथवा जो पापबन्ध में कारण न हो वही यज्ञों का मुख है और ऐसा यज्ञ है भावयज्ञ या यमयज्ञ। हिंसा–प्रधान वैदिक यज्ञ कर्मक्षय में कारण नहीं हैं अपितु कर्मबन्ध में ही कारण है।[39] अत: बृहदारण्यक उपनिषद् में पूछा है–'किमहं तेन कुर्या येनाहं नामृता स्याम'। यहाँ पर अग्निहोत्र यज्ञ में जीवरूपी कुण्ड, तपरूपी वेदिका, कर्मरूपी इन्धन, ध्यानरूपी अग्नि, शुभोपयोगरूपी कल्छुली, शरीररूपी होता (यज्ञकर्ता) तथा शुद्धभावनारूपी आहुति बतलाई है। जिन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों का विधान है उन्हें वेद कहते हैं और जो ऐसे यज्ञों को करता है वही सर्वोत्तम याजक है। इस उत्तर से मुनि ने अपने को यज्ञकर्ता बतलाया है।

(3) नक्षत्रों का मुख– चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है। ज्योतिष शास्त्र का विषय नक्षत्र, चन्द्रमण्डल आदि हैं अत: नक्षत्रों का मुख ऐसा प्रश्न किया गया है। और तदनुसार चन्द्रमा को प्रधानता के कारण उसे नक्षत्रों का मुख कहा गया है। अत: मैं ज्योतिषशास्त्र का वेत्ता भी हूँ। इस तरह यह तृतीय प्रश्न का उत्तर है।

(4) धर्मों का मुख– काश्यप धर्मों का मुख है। धर्मशास्त्र का वेत्ता वही हो सकता है जो धर्मों के मुख को पहचाने । अत: ऐसा प्रश्न सार्थक है। यहाँ काश्यप से तात्पर्य काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेवप्रणीत धर्म से है। वेदों में भी भगवान् ऋषभदेव की स्तुति बहुत स्थानों पर की गई है।[40] इन्द्रादिदेव काश्यप (भगवान् ऋषभदेव) की स्तुति करते रहते हैं।[41]

(5) स्वपर का कल्याणकर्ता – जो आदर्श ब्राह्मण है जिसके स्वरूप का वर्णन हम पहले कर आये हैं वह ही स्व और पर का कल्याण करने में समर्थ है। अर्थात् जो अहिंसारूप यमयज्ञ का अनुष्ठान करता है वही स्व और पर का कल्याणकर्ता है। पशुओं की हिंसा करने वाला याजक ब्राह्मण, या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से कोई स्वपर का कल्याण कर्ता नहीं हो सकता है –

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो॥ उत्तराध्ययन 25/31॥

अर्थ–शिर मुण्डन से श्रमण, ओंकार जाप से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि और कुशतृण के वस्त्र धारण करने से कोई तपस्वी नहीं कहला सकता है। ये चिह्न तो मात्र बाह्य लिङ्ग के परिचायक हैं।[42] बाह्यवेष को ही अन्तरङ्ग शद्धि का कारण मान बैठना भूल है।[43] बाह्य पवित्रता की अपेक्षा अन्तरङ्ग पवित्रता को विद्वान् लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि अन्तरङ्ग शुद्धि ही वास्तविक शद्धि है। शरीर की बीमारी का निवारण आन्तरिक खराबी के दूर करने से ही होता है। अत: प्रात:

और सायंकाल जल का स्पर्श करना, कुशयूपादि का स्पर्श करना आदि ये सभी बाह्यशुद्धि के साधन हैं, इन्हें आन्तरिक शुद्धि के साधन मानना मूढ़ता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि ऐसी स्थिति है तो ब्राह्मणादि के आन्तरिक शुद्धि के लक्षण क्या हैं ? इसके उत्तर में मुनिराज ने कहा है[44] –

समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥
कम्मुणा बम्हुणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो होई कम्मुणा।।
एए पाउकरे बुद्धे जे हि होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं तं वयं वूम माहणं।।
एवं गुण-समाउत्ता जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तं परमप्पाणमेव च॥

अर्थ –समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, मनन (ज्ञान) से मुनि, तप (इच्छानिरोध) से तपस्वी होता है। कर्म से (आचार से) ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है। इस प्रकार विस्तार से सब बातें भगवान ने बताई हैं। स्नातक भी उक्त गुणों वाला ही हो सकता है तथा जो समस्त कर्मों से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है वह ब्राह्मण है और वही उत्तम बाह्मण स्व और पर का[45] कल्णाण करने में समर्थ है। क्योंकि शील-संयम से हो पूज्यता आती है। अत: सिद्ध है कि द्रव्ययज्ञ से भावयज्ञ, द्रव्यलिङ्गी मुनि से भावलिङ्गी मुनि, द्रव्यसंयम से भावसंयम, द्रव्यशुद्धि से भावशुद्धि श्रेष्ठ है। इस तरह पाँचवे प्रश्न का उत्तर दिया गया।

भावयज्ञ करने का अधिकारी –

इस यज्ञ को वही कर सकता है जो हिसादि पापों से संवृत, शरीर में ममत्त्व और कषायों में प्रवृत्ति से रहित होकर संयत है।[46] इसमें वैदिक कर्मकाण्डी यज्ञ की तरह जाति को कोई महत्त्व नहीं है। इस यज्ञ को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की तरह शूद्र भी कर सकते हैं। जैसे चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि जितेन्द्रिय और प्रधान गुणों से युक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।[47] चित और सम्भूत के जीव भी पूर्व जन्म में चाण्डाल कुलोत्पन्न होकर इस यज्ञ को करके क्रमश: मोक्ष और चक्रवर्तीपद को प्राप्त करते हैं।[48] जिस तरह पुरुष इस यज्ञ को करने के अधिकारी हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी इस यज्ञ को करके परमार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कर सकती हैं। जैसे राजीमती ने प्राप्त किया।[49] इस तरह इस यज्ञ को सभी जीव कर सकते हैं जो सदाचार पालन करने का प्रयत्न करे। यहाँ स्त्रियों की मुक्ति परम्परया समझना।

भावयज्ञ के उपकरण एवं विधि –

अब हमें यह देखना है कि इस भावयज्ञ को कैसे करना चाहिए। इसके उपकरण कौन-कौन हैं। इस विषय में उत्तराध्ययन में रूपकाश्रित बहुत सुन्दर वर्णन है। जैसे –

वैदिक द्रव्ययज्ञ के उपकरण	**भावयज्ञ के उपकरण**
(1) अग्नि	(1) तप (ज्योतिरूप) क्योंकि , तप में अग्नि की तरह कर्ममलभस्म करने की शक्ति है।
(2) अग्निकुण्ड (जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है)	(2) जीवात्मा (तपरूप अग्नि का स्थान)
(3) स्रुवा (जिससे घृत की आहुति दी जाती है)	(3) मन, वचन, कायरूप योग स्रोत है क्योंकि शुभाशुभ कर्मेन्धनों का आगमन इन्हीं के द्वारा होता है ।
(4) करीषाङ्ग (जिससे अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है। जैसे मधु, घृत आदि)	(4) शरीर क्योंकि तपरूपाग्नि इसी से प्रदीप्त होती है।
(5) समिधा (शमी, पलाशादि)	(5) शुभाशुभकर्म – क्योंकि तप रूप अग्नि में लकड़ी की तरह भस्म हो जाते हैं।
(6) शान्ति पाठ (कष्टों को दूर करने के लिए)	(6) संयम व्यापार-क्योंकि इससे सब जीवों को शान्ति मिलती है।

(7) हवन या होम (जिससे अग्नि प्रसन्न हो)	(7) चारित्ररूप भाव यज्ञानुष्ठान इससे तपरूप अग्नि को प्रसन्न करते हैं।
(8) जलाशय (स्नान के लिए)	(8) अहिंसा धर्मरूप जलाशय
(9) शान्ति तीर्थ (सोपान)	(9) ब्रह्मचर्य और शान्ति
(10) जल कैसा हो ? (जिससे कर्मरज दूर हो)	(10) कलुष भावरहित प्रसन्न लेश्या वाली आत्मा। अर्थात् उपरोक्त गुणरूपी तीर्थजल में स्नान करने से कर्मरज दूर हो जाती है)
(11) निर्मलता	(11) बाह्य स्नान की तरह अन्तरङ्ग आत्मा निर्मल और ताजी हो जाती है।

इस तरह इस भावयज्ञ को करने वाला याजक तपरूप अग्नि को जीवात्मारूपी अग्निकुण्ड में, शरीररूपी करोषाङ्ग से प्रज्ज्वलित करके कर्मरूपी इन्धन (समिधा आदि) का तीन योगरूपी स्रुवा (आहुति देने का पात्र) से हवन करे। संयम व्यापाररूपी शान्ति पाठ को पढ़े तथा शुक्ललेश्या की तरह निर्मल आत्मरूपी बल से युक्त ब्रह्मचर्यरूपी शान्तितीर्थ में स्नान करे।[50]

इस तरह अध्यात्मयज्ञ करने वाला जब अध्यात्म-जलाशय में स्नान करता है तब वह अत्यन्त शीतल और निर्मल होकर कर्मरजरूपी मलों को धो देता है।[51] यह स्नान ऋषियों द्वारा प्रशस्त है। जो इसमें स्नान करता है वह उत्तमगति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।[52] नन्दमाणव पुच्छा (सुत्तनिपात) में भगवान बुद्ध और नन्द ब्राह्मण का संवाद है जिसमें भगवान बुद्ध ने बताया है कि जो कोई श्रमण या ब्राह्मण यज्ञ और श्रुत से शुद्धि चाहते हैं वे जन्म-जरा से निवृत्त नहीं होते हैं अपितु तृष्णा के त्याग और अनास्रव से युक्त मनष्य संसार के जरामरण से तर जाते हैं। अर्थात् प्रज्ञा, शील और समाधि का जो यज्ञानुष्ठान करता है वह संसार के दु:खों से निवृत्त हो जाता है। उन्होंने सुत्त-निपात में कहा है -हे ब्राह्मण ! लकड़ी जलाने को शुद्ध मत समझो क्योंकि यह सिर्फ बाह्य उपचार है। इसे कुशल लोग शुद्धि नहीं मानते है। अत: तेरा यह अभिमान खरिया का भार (खारिभार) है, कोष धूम है, मिथ्या वचन भस्म है, रसना (जिह्वा)स्रुवा है, और हृदय ज्योति है। अत: हे। बाह्मण कुशलों से प्रशंसित, निर्मल घर्म के तालाब में जिसमें शील तीर्थ (घाट) हैं, उसमें नहाने से वेदज्ञ बिना भीगे हुए पार उतर जाते हैं। इस परम स्थान की प्राप्ति, सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। अत: तू ऐसी हवन क्रियाओं को नमस्कार कर जिसे मैं (भगवान बुद्ध) पुरुषदम्य सारथी (पुरुषों को विनम्र बनाने में सारथी रूप) मानता हूँ । इसी तरह महब व्यास ऋषि ने भी कहा है-ज्ञानरूपी चादर से ढके हुए, ब्रह्मचर्य और क्षमारूपी जल से पूर्ण, पापरूपी कीचड़ को नष्ट करने वाले अत्यन्त निर्मल तीर्थ में स्नान करके जीवकुण्ड में, दमरूपी पवन से उद्दीपित, ध्यानरूपी अग्नि में अशुभ कर्मरूपी काष्ठ की आहुति देकर उत्तम अग्निहोत्र यज्ञ को काम और अर्थ को नष्ट करने वाले शमरूपी मन्त्रों से दुष्टकषायरूपी पशुओं का यज्ञ करो। जो मूढ प्राणी मूक प्राणियों का वध करके धर्म की कामना करते हैं वे लोग काले सर्प की खोल में अमृत की वर्षा चाहते हैं।[53]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सभी भारतीय मनीषियों ने हिंसा-प्रधान यज्ञ का प्रबल विरोध करके अहिंसामूलक यज्ञों की प्रतिष्ठा की। गृहस्थों के लिए - कुछ घृतादि से सम्पन्न होने वाले द्रव्ययज्ञों का खण्डन न करते हुए भावयज्ञों यमयज्ञों या अध्यात्मयज्ञों को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ बतलाया। इस प्रकार के ही यज्ञ वस्तुत: परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायक हैं। इस प्रकार के यज्ञों की पूर्णता सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समष्टि में या प्रज्ञा, शील और समाधि की समष्टि में या भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की समष्टि में है अत: कहा है—चारित्र की पूर्णता सम्यक् ज्ञान के बिना सम्भव नहीं हैं तथा ज्ञान गुण को पूर्णता चारित्र के अभाव में नहीं है अपितु दोनों की समष्टि ही पूर्णता है।[54] उपनिषदों में जो 'ज्ञानयज्ञ' की चर्चा है सो उसमें चारित्र भी गतार्थ है क्योंकि जिसे सम्यग्ज्ञान हो जावेगा वह कभी मिथ्याचरण कर नहीं सकता है तथा पूर्णज्ञान की प्राप्ति विना चारित्र आ नहीं सकताहै। चूंकि संसार का मूलकारण अज्ञान है अत: उससे निवृत्ति का कारण भी ज्ञान है। इस दृष्टि से वहाँ पर 'ज्ञानयज्ञ' की चर्चा है। अत: भावों को निर्मलता जिसमें प्रधान है ऐसा अहिंसात्मक- अन्तरङ्ग शुद्धि को करने वाला यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है। उसे हम अध्यात्मयज्ञ, यमयज्ञ, अहिंसायज्ञ, भावयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ध्यानयज्ञ, शीलयज्ञ कुछ भी कहें उन सबका तात्पर्य एक ही है, अन्तरङ्गात्मा को शुद्धि और वही मुक्ति है।

सन्दर्भ सूची-

1. जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समगणमाहणे।
   दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया।। उत्तराध्ययन 9/38
2. बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ - 739
   तथा शतपथब्राह्मण 2/2/2/6, 2/4/3/14
3. वही ,, ,, ऋग्वेद 1/37/4, 3/18/3
4. वही ,, ,, शतपथब्राह्मण 11/5/81
   बृहदारण्यक 2/4/10 एवं पुरुषसूक्त।
5. इस विषय में जैन और बौद्ध आगमग्रन्थों को देखिए।
6. उत्तरा. 25/7,8 एवं 12/11
7. औषधय: पशवो वृक्षास्तिर्यञ्च: पक्षिणस्तथा।
   यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता: प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुन: ॥ शतपथब्राह्मण ॥
8. यज्ञार्थं पशव: सृष्टा: ।
9. वैदिक संस्कृति का विकास, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ.42
10. बौ0 दर्शन और अ0भा0 दर्शन, भरतसिंह पृ0 739 तथा ऋग्वेद,1/37/43, 3/18/3
11. यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:, गीता 3-14
12. उत्तरा. 12/10
13. प्रमाणवार्तिक 1/219-21,25.
14. सुत्तनिपात (पुण्णमापुच्छा)5/3
15. वाजसनेयिसंहिता 3/50, शतपथ ब्राह्मण 2/5/3/19
16. यज्ञादि से हमें स्वर्ग की प्राप्ति भले ही हो जावे परन्तु उससे परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती है। देखिये, छान्दोग्य 1/1/10;
    बृहदारण्यक 1/5/16; 6/2/16 प्रश्न: 1/9; मुण्डक-1/2/10।
17. कठ.1/17; 3/2, श्वेताश्वतर. 2/6-7 आदि।
18. बृहदारण्यक 1/4/10, 3/9/6,21
19. छान्दोग्य 1/12/4,5
20. देखिए, सांख्यकारिका पर गौडपादभाष्य।
21. पर्व 41, श्लोक 41 से 105
22. ले0 भरतसिंह उपाध्याय, द्वितीय भाग, पृ0 738,742, 743
23. सुत्तनिपात (धम्मियसुत्त ब्राह्मण) तथा अङ्गुत्तरनिकाय-द्रोणसुते।।
24. देखिए, बौद्ध दृष्टिकोण के लिए दीघनिकाय-कूटदंतसुत्त तथा सुत्तनिपात।
25. दीघनिकाय-कूटवंतमुत्त।
26. अट्ठकथा, चंकिसुत्त, बुद्धचर्या पृ0 224।
27. उत्तरा0 25 वां यज्ञीय अध्ययन, गाथा 19 से 29 तक।
28. उत्तरा. 25/31,32। नहाने से शुद्धि नहीं होती अपितु जो सत्य, धर्म, और शुचि से युक्त हैं वे ही ब्राह्मण है। जटिलसुतं; उदान 19 तथा वो सत्यव्रती, जितेन्द्रिय, वेदन्तगू और ब्रह्मचारी हैं वे ही यज्ञोपनीत है। संयुक्तनिकाय 7/1/9
29. उत्तरा0 25/18।
30. उत्तरा0 25/30
31. उत्तरा0 12 वां एवं 25 वां अध्ययन
32. वही0 12/34
33. उत्तराध्ययन 12/42
34. वही 25/1

35. प्रश्नव्याकरण तथा उत्तरा0 12 एवं 25 वाँ अध्ययन।

36. अहिंसा -यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम्।।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।

सत्य- यदा सर्वानृतं त्यक्तं मिथ्याभाषा विवर्जिता।
अनवद्यं च भाषेत ब्रह्मसम्पद्यते तदा।।
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया घृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।

अचौर्य- परद्रव्यं यदा दृष्टं आकुले ह्यथवा रहे।।
धर्मकामो न गृह्णाति ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।

ब्रह्मचर्य- देवमानुषतिर्यक्षु मैथुनं वर्जयेद्यदा।
कामरागविरक्तश्च ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।

अकिञ्चनभाव-यदा सर्वं परित्यज्य निस्सङ्गो निष्परिग्रहः।
निश्चिन्तश्च चरेद् धर्मं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।
उत्तराध्ययन-टीका, आत्माराम, पृ0 1121 से 1125

37. दीघनिकाय, कूटदंतसुत्त।

38. गीतामन्थन- किशोरीलाल, पृ0 97

39. उत्तरा0 12/39; 25/30,

40. आरण्यक में—''ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि प्रणीतानि ब्राह्मणानि।
ब्रह्माण्ड पुराण में भी लिखा है-'इह हि इच्छवाकुवंशोद्भवेन्। नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिका तेषां प्रवृर्तिः ख्यातः प्रणीतश्च त्रेतायामादौ'।

41. वही 25/17

42. बाह्यलिङ्ग के तीन प्रयोजन हैं - (1) संयमनिर्वाह, (2) ज्ञानादिग्रहण और (3) लोक में प्रतीति कराना कि यह अमुक है। उत्तरा0 23/32

43. उत्तरा0 12/38,39; 20/43 से 50; 22/46

44. वही 25/32 से 35

45. उत्तरा0 अध्ययन, 23

46. उत्तरा0 12/42

47. वही 12/1

48. वहीं अध्ययन 13 वाँ।

49. वही अध्ययन 22 वाँ।

50. उत्तरा0 12/42 से 45

51. उत्तरा0 12/46

52. वही0 12/47

53. स्याद्वादमञ्जरी-हिन्दी टीका, पृ0 131

54. चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा।
चरणकरणस्ससारं णिच्छयसुद्धं ण माणंति ।। सन्मतितर्क 3/67

पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर और श्वेताम्बर दृष्टि

[दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के किन ग्रन्थों में भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है, इसका कथन करते हुए भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों की एकरूपता बतलाई गई है। पार्श्वपत्यों का सिद्धान्त पार्श्वनाथ का सिद्धान्त नहीं है।]

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवन तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्राचीन उल्लेख बहुत कम मिलते हैं। जैन आगमों एवं पुराणों के अनुसार जैनधर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के राजा अश्वसेन की रानी वर्मला (वामा) देवी की कुक्षि से हुआ था।[1] इन्होंने तीस वर्ष की आयु में ही गृहत्याग करके सम्मेद-शिखर पर तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त करके सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश दिया। पश्चात् ई. पूर्व 777 (चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर-निर्वाण ई. पूर्व 527 से 250 वर्ष पूर्व) में निर्वाण प्राप्त किया। इनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाती है। इनके विवाह के सम्बन्ध में श्वेताम्बरों की मान्यता है कि इनका विवाह हुआ जबकि दिगम्बरों की स्पष्ट धारणा है कि तीर्थङ्कर वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ने कुमारावस्था (अविवाहितावस्था) में ही दीक्षा ली थी।[2] इनके कुलादि के सम्बन्ध में दिगम्बर इन्हें उग्रवंशीय (उरग या नागवंशीय) तथा श्वेताम्बर इक्ष्वाकुवंशीय स्वीकार करते हैं।[3] दिगम्बरों के **तिलोयपण्णत्ति** में तथा श्वेताम्बरों के **आवश्यकनिर्युक्ति** में इन्हें काश्यपगोत्रीय कहा गया है।[4]

आधार-ग्रन्थ- पार्श्वनाथ की दार्शनिक एवं आचार-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रतिपादक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगम-ग्रन्थों में उनके जीवन के सम्बन्ध में तथा उनके आचार एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के जो उल्लेख मिलते हैं वे अल्प ही हैं, तथापि उनके आधार पर परवर्ती काल में विशेषकर ई. सन् 8वीं शताब्दी के बाद प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा में रचे गये चरितकाव्य ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है। पार्श्वनाथ से सम्बन्धित ग्रन्थों का विभाजन निम्न दृष्टि से किया जा सकता है-

(क) दिगम्बर ग्रन्थ[5]- इसके अन्तर्गत **मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति** एवं **भगवती-आराधना** ये तीन प्राचीन प्रमुख ग्रन्थ हैं। परवर्ती गुणभद्र-रचित उत्तरपुराण भी पार्श्वनाथ-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। चरितकाव्यों में निम्न ग्यारह काव्यों का प्रमुख रूप से परिगणन किया जा सकता है -

1. **पार्श्वाभ्युदयः** (जिनसेनकृत, ई0 783), 2, **पार्श्वनाथचरितम्** (वादिराजसूरिकृत, ई0 1019), 3. **पासनाहचरिउ** (देवदत्तकृत, ई0 सन् 10वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध, अनुपलब्ध), 4, **पासनाहचरिउ** (पद्मकीर्तिकृत, ई0 1077), 5, **पासनाहचरिउ** (विबुधश्रीधरकृत, ई0 1132), 6. **पासनाहचरिउ** (देवचन्द्रकृत, ई0 12वीं शताब्दी), 7. **पार्श्वनाथपुराण** (सकलकीर्तिकृत, ई0 14वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध), 8. **पासनाहचरिउ** (रइधूकृत, ई0 1400), 9. **पासनाहचरिउ** (असपालकृत, ई0 1482), 10, **पार्श्वपुराण** (वादिचन्द्रकृत, ई0 1683) और 11. **पार्श्वपुराण** (चन्द्रकीर्तिकृत, ई0 1597-1624)।

(ख) श्वेताम्बर ग्रन्थ[6]- इसके अन्तर्गत **उत्तराध्ययनसूत्र, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, राजप्रश्नीय** और **ऋषिभाषित** ये दस प्राचीन प्रमुख ग्रन्थ हैं। शीलाङ्क (लगभग नवीं शताब्दी) के **चउपन्नमहापुरिसचरियं** तथा हेमचन्द्राचार्य के **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** में भी पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त मिलता है। चरितकाव्यों में निम्न नव काव्यों का प्रमुख रूप से परिगणन किया जा सकता है- 1. **सिरिपासनाहचरियं** (देवभद्रकृत, ई0 1111), 2. **पार्श्वनाथचरित्र** (माणिकचन्द्रसूरिकृत, ई0 1219), 3. **पार्श्वनाथचरित्र** (विनयचन्द्रकृत, ई0 1229-1288), 4. **पार्श्वनाथचरित्र** (सर्वानन्दसूरिकृत, ई0 1234), 5. **पार्श्वनाथचरित्र** (भावदेवसूरिकृत, ई0 1355), 6. **पासपुराण** (तेजपालकृत, ई0 1458), 7. **पासनाहकाव्य** (पद्मसुन्दरगणिकृत, ई0 16वीं शताब्दी), 8. **पार्श्वनाथचरित्र** (हेमविजयकृत, ई0 1575), तथा 9. **पार्श्वनाथचरित** (उदयवीरगणिकृत, ई0 1597)।

उभय परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में मात्र सूचनाएँ मिलती हैं। **तिलोयपण्णत्ति** तथा **आवश्यकनिर्युक्ति** में अपेक्षाकृत कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती है। 8वीं शताब्दी के बाद लिखे गये चरित काव्यग्रन्थों से ही हमें वस्तुतः

विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। परवर्ती चरितकाव्यों के आधारग्रन्थ यद्यपि प्राचीन ग्रन्थ ही हैं, तथापि उनसे जो अतिरिक्त जानकारी प्राप्त होती है उसका मूलस्रोत क्या है, स्पष्ट नहीं है। अत: इस आलेख में केवल प्राचीन उल्लेखों को ही आधार मानकर विवेचना की गयी है। विवेचना से यह ज्ञात होता है कि देश, काल आदि की परिस्थितियों तथा मनुष्यों की मनोवृत्तियों को ध्यान में रखकर पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में जो यत्किञ्चित् बाह्यभेद दृष्टिगोचर होता है वह नगण्य है, क्योंकि उनका मूल केन्द्रबिन्दु एक ही है। पार्श्वनाथ के आचार एवं सिद्धान्तों की तीर्थङ्कर महावीर के साथ तुलना करने के पूर्व यह आवश्यक है कि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित सन्दर्भो को समझ लिया जाये। इस सन्दर्भ में उभय परम्पराओं में जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे निम्न प्रकार हैं –

1. उत्तराध्ययनसूत्र[7]– इसमें पार्श्व–परम्परानुयायी केशी मुनि तथा महावीर–परम्परानुयायी गौतम गणधर के मध्य एक संवाद आया है जिसमें बाह्य रूप से दृश्यमान् मूलभूत दो अन्तरों का गौतम द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है जिससे सन्तुष्ट होकर केशी मुनि अपने 500 अनुयायियों के साथ महावीर द्वारा प्रतिपादित पञ्चयाम धर्म को स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ गौतम गणधर बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करना ही धर्म है। अन्य नियमोपनियम इसी के लिये हैं। भगवान् महावीर ने देशकाल की परिस्थितियों का विचार करके चातुर्यामधर्म को पञ्चयामधर्म (पञ्च महाव्रत) में और सचेलधर्म को अचेलधर्म में परिवर्तित किया है। कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ के समय मनुष्य ऋजु–जड़ (सरल परन्तु मन्दबुद्धि) थे, द्वितीय तीर्थङ्कर से तेईसवें तीर्थङ्कर के काल में ऋजुप्राज्ञ (सरल एवं बुद्धिमान्) थे, परन्तु चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के काल में वक्रजड़ (कुटिल तथा मन्दबुद्धि) हो गये, जिससे पार्श्व के चातुर्याम को पञ्चयाम में और सचेल (सवस्त्र) को अचेल में संशोधित करना पड़ा। यह धर्म का मात्र बाह्य रूप था, क्योंकि अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य (स्त्री–परिग्रहत्याग) भी गतार्थ था।

2. सूत्रकृताङ्ग[8]– इसमें 'उदक पेढालपुत्र' नामक पार्श्वापत्य तथा महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर के मध्य वार्ता होती है, जिसमें पेढालपुत्र गौतम गणधर से प्रश्न करते हैं कि महावीर की परम्परा में श्रमणोपासकों से कष्टकर प्रत्याख्यान क्यों कराया जाता है? प्रत्याख्यान का रूप हैं 'राजाज्ञादि के कारण किसी गृहस्थ या चोर को बाँधने–छोड़ने के अतिरिक्त मैं किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूंगा।' यहाँ पेढालपुत्र को शङ्का है कि त्रस जीव की हिंसा के त्याग का तात्पर्य क्या है? उस पर्यायवाले जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान अथवा त्रस रूप भूत–भावि–पर्यायवाले स्थावर जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान। गौतम गणधर यहाँ समाधान करते हैं कि वर्तमान त्रस पर्यायवाले प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान ही यहाँ अभीष्ट है। इस तरह तीर्थङ्कर पार्श्व के साथ तीर्थङ्कर महावीर का कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें महावीर के धर्म को पञ्चमहाव्रत तथा सप्रतिक्रमण धर्म कहा है।[9]

3. भगवतीसूत्र[10]– इसमें तीन प्रसङ्ग हैं –

(क) पार्श्वापत्य गाङ्गेय अनगार और तीर्थङ्कर महावीर के मध्य प्रश्नोत्तर होता है, जहाँ महावीर पार्श्व की तरह 'सत्' को उत्पत्ति–विनाशवाला भी सिद्ध करते हैं। शुभाशुभ कर्मानुसार चारों गतियों में जीव का परिभ्रमण बतलाते हैं। इसमें कोई प्रेरक ईश्वर तत्त्व नहीं है। गाङ्गेय महावीर के समाधान से सन्तुष्ट हो जाता है।

(ख) पार्श्वापत्य कालाश्यवैशिक–पुत्र की भगवान् महावीर के कुछ स्थविर श्रमणों से मुख्यरूप से सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग के स्वरूप पर चर्चा होती है। पश्चात् पार्श्वापत्य कालाश्यवैशिकपुत्र ने महावीर के सङ्घ में प्रविष्ट होकर पाँच महाव्रत और सप्रतिक्रमण रूप धर्म को स्वीकार किया। इसके साथ ही उसने मुनिचर्या–सम्बन्धी निम्न बातों को भी स्वीकार किया–नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छाता नहीं रखना, जूते नहीं पहनना, भूमिशयन करना, फलक या काष्ठशयन करना, केशलोच करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, भिक्षा, परगृहप्रवेश करना (भिक्षार्थ श्रावकों के घर जाना, निमन्त्रण स्वीकार न करना)। लब्ध–अलब्ध, ऊँच–नीच, ग्रामकण्टक (इन्द्रिय–भोगों की वासना) आदि बाईस परिषहों को सहन करना।[11] छेदसूत्रों में मुनि–आचार के प्रसङ्ग में छाता, जूते, क्षुरमुण्डन के उल्लेखों को देखकर डॉ0 सागरमल जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पार्श्व की परम्परा में ये सब बातें प्रचलित थीं, जिन्हें महावीर ने दूर किया था।[12]

(ग) संयम और तप के फल के सम्बन्ध में महावीर के श्रमण प्रश्न करते हैं और पार्श्वपत्य संयम का फल अनास्रव तथा तप का फल निर्जरा बतलाते हैं। यहीं पर एक अन्य प्रश्न के उत्तर में पार्श्वापत्य विभिन्न मतवादों के द्वारा उत्तर देते हैं। जैसे– प्रश्न–जीव देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं? उत्तर– कालीययुगानुसार प्राथमिक तप से, मोहिल स्थविर

के अनुसार प्राथमिक संयम से, आनन्दरक्षित के अनुसार कार्मिकता से (सराग संयम और तप से) तथा काश्यप स्थविर के अनुसार सांगिकता (आसक्ति) से देवलोक में जीव उत्पन्न होते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण वाला धर्म कहा गया है।[13]

4. आवश्यकनिर्युक्ति[14]- इसमें महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमणवाला तथा छेदोपस्थापना चारित्रवाला बतलाया गया है।

5. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य[15]- इसमें दस प्रकार के कल्पों की चर्चा करते हुए कहा है कि महावीर ने दस कल्पों की व्यवस्था दी थी। दस कल्प हैं- 1. अचेलता, 2. उच्छिष्टत्याग, 3. शय्यातर (आवास दाता), 4. पिण्डत्याग, 5. कृतिकर्म, 6. महाव्रत (चतुर्याम या पञ्चयाम), 7. पुरुषज्येष्ठता, 8. प्रतिक्रमण, 9. मासकल्प और 10. वर्षावास (पर्युषणा)। इनमें से चार (3, 5, 6, 7) कल्प अवस्थित हैं और शेष छ- अनवस्थित (अर्थात् सभी तीर्थङ्करों के काल में नहीं होते हैं)। पार्श्व के समय चार कल्पों की व्यवस्था थी, जबकि महावीर के समय सभी 10 कल्पों की अनिवार्यता की गयी।

इसके अतिरिक्त प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के धर्म को अचेलधर्म (तीर्थङ्कर असन्तचेल तथा अन्य सन्ताचेल) तथा मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के धर्म को अचेल अथवा सचेल दोनों कहा है।[16]

6. राजप्रश्नीय[17]- इसमें पार्श्वापत्यीय केशीमुनि द्वारा श्वेताम्बिका के राजा प्रदेशी को उपदेश देने का उल्लेख है।

7. ऋषभाषित[18]- डॉ0 सागरमल जैन का कथन है कि ऋषिभाषित में पार्श्व के उपदेशों के प्राचीनतम सन्दर्भ मिलते हैं।[19] इस ग्रन्थ में पार्श्व के जिन उपदेशों का उल्लेख है, वे हैं- चातुर्याम, अचित्तभोजन, मोक्ष, लोक, जीव-पुद्गल की गति, कर्म, कर्म-फल-विपाक तथा कर्मफलविपाक से प्राप्त विविध गतियों में सङ्क्रमण। जीव स्वभावत: ऊर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी हैं। जीव कर्मप्रधान हैं और पुद्गल परिणामप्रधान। जीव में गति कर्मफलविपाक के कारण होती है और पुद्गल में गति परिणामविपाक (स्वाभाविक परिवर्तन) के कारण। जीव सुख-दु:ख रूप वेदना का अनुभव करता है। प्राणातिपात-विरमण, कषायविरमण तथा मिथ्यादर्शन रूप शल्य-विरमण से ही जीव को शाश्वत सुख (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है। मुक्त होने के बाद पुन: संसार में परिभ्रमण नहीं होता है।

इसी ग्रन्थ में पाठभेद (गतिव्याकरण) के अनुसार निम्न धर्मों का उल्लेख मिलता है-- चातुर्याम धर्म, आठ प्रकार का कर्म, कर्मविपाक से नरकादि गतियों में गमन, प्राणातिपात से परिग्रहपर्यन्त पापकर्मों की गणना, पापकर्मों वाला व्यक्ति कभी भी न तो दु:खों से मुक्त हो सकता है और न मोक्ष प्राप्त कर सकता है, कर्मद्वार को रोकने से तथा चातुर्याम धर्म का पालन करने से शाश्वत सुख प्राप्त होता है, जीव स्वकृत कर्मफलों का भोक्ता है, परकृत कर्मफलों का भोक्ता नहीं है, जीव ऊर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी स्वभाव वाला है, पापकर्मों से युक्त जीव अपने परिणामों (मनोभावों) से गति करता है और वह पुद्गल की गति में भी कारण होता है। जीव और पुद्गल दोनों ही गतिशील हैं। गति दो प्रकार की है- प्रयोगगति (पर-प्रेरित) और विस्रसागति (स्वत:)। इस तरह **ऋषिभाषित** में भगवान् पार्श्व के जिन सिद्धान्तों को बतलाया गया है, उनमें से चातुर्याम को छोड़कर शेष सभी सिद्धान्त महावीर के धर्म में भी मान्य हैं।

8. मूलाचार[20]- दिगम्बराचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार में आया है कि महावीर के पूर्व के तीर्थङ्करों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था तथा अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण को आवश्यक बतलाया था; परन्तु महावीर ने सामायिक संयम (धर्म) के साथ छेदोपस्थापना संयम की व्यवस्था दी और प्रतिदिन (अपराध हो चाहे न हो) प्रतिक्रमण करने का विधान किया। इस संशोधन का कारण मूलाचार में उत्तराध्ययनसूत्र की तरह ही बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के काल के मनुष्य दुर्विशोध्य थे अर्थात् सरल तथा जड़ होने के कारण ये बार-बार समझाने पर भी ठीक तरह से नहीं समझ पाते थे। द्वितीय से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर के काल के मनुष्य सुविशोध्य (दृढ़बुद्धि प्रेक्षापूर्वचारी) थे अर्थात् सरल और प्रज्ञावाले थे जिससे उन्हें समझाना कठिन नहीं था, परन्तु महावीर के काल के मनुष्य दुरनुपाल्य थे अर्थात् जड़ थे तथा वक्रबुद्धि वाले थे जिससे उन्हें समझाना कठिन था। इस तरह यहाँ तीर्थङ्करकालीन मनुष्यों के स्वभाव का तो चित्रण है, परन्तु चातुर्याम-पञ्चयाम का तथा सचेल-अचेल धर्म की चर्चा नहीं है।

9. तिलोयपण्णत्ति[21]- इसके चतुर्थ महाधिकार में पार्श्व के जीवनवृत्त-सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। यहाँ पार्श्वनाथ को उरगवंशी (नागवंशी) तथा कुमारकाल (अविवाहितावस्था) में दीक्षा लेने वाला बतलाया है।

10, तत्त्वार्थवार्तिक [22]- दिगम्बराचार्य अकलङ्कदेव ने अपने **तत्त्वार्थवार्तिक** में निर्देश आदि का विधान करते हुए चारित्र के चार भेद भी बतलाए हैं- 'यमों के भेद से चारित्र के चार भेद हैं। **षट्खण्डागम** में भी 'पञ्चजम' का

प्रयोग इसी अर्थ में आया है।[23]

समीक्षा

इस तरह उभय जैन-परम्पराओं में पार्श्व अथवा पार्श्वापत्यों के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं उनमें निम्न बिन्दु विचारणीय हैं –

(1) पार्श्व के चातुर्याम धर्म का पञ्चयाम धर्म में परिवर्तन।

(2) पार्श्व के सचेलधर्म का अचेलधर्म में परिवर्तन।

(3) प्रतिक्रमण की अनिवार्यता जो पार्श्व के समय में अपराध होने पर ही करणीय थी।

(4) पार्श्व के सामायिक चारित्र में छेदोपस्थापनीय चारित्र का समावेश।

(5) औद्देशिक तथा राजपिण्ड भिक्षान्न के ग्रहण का निषेध।

(6) मासकल्प (एक मास से अधिक एक स्थान पर न ठहरना) तथा पर्युषणा (आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक वर्षावास में एक स्थान पर चार मास तक रहने का विधान) की व्यवस्था।

(7) अस्नान, अदन्तधावन, केशलोंच आदि का विधान।

(8) पार्श्व के विवाह एवं कुल-सम्बन्धी मतभेद।

(9) पार्श्वापत्य और पासत्थ शब्द क्या पार्श्वनाथ के लिए ही प्रयुक्त हैं?

(10) प्रथम तीर्थङ्कर से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर के काल की परिस्थितियों के अनुसार धार्मिक नियमों में संशोधन।।

कुछ व्याख्यागत मतभेद होते हुए भी इन विचारणीय बिन्दुओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और दशम में दोनों परम्पराएँ प्राय: एकमत हैं। सचेल और अचेल की व्याख्या को लेकर उभय-परम्पराओं में मतभेद है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ **'जैनसाहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका)'** में इस विषय पर विस्तार से चिन्तन किया है।[24] वस्तुत: 'अचेल' का अर्थ 'नग्नत्व' है इसमें श्वेताम्बरों का भी मतभेद नहीं है, क्योंकि जिनकल्प की दृष्टि से नग्नत्व उन्हें स्वीकार्य है। वहाँ अदन्तधावन, नग्नत्व, केशलोच आदि भी कहें हैं। वस्तुत: भगवती और बृहत्कल्पभाष्य मान्यता के समर्थक हैं।

जैनाचार के अनुसार जब कोई मुनि दीक्षा लेकर साधु (निर्ग्रन्थ) बनता है तो वह समस्त पाप-कार्यों का परित्याग करता है जिसे सामायिक चारित्र या सामायिक यम स्वीकार करना कहते हैं। इस एक यम रूप व्रत को जब भेद करके चार या पाँच यम रूप से स्वीकार किया जाता है तो उसे 'चातुर्याम' या 'पञ्चयाम' कहा जाता है। छेदोपस्थापना को जोड़कर महावीर ने इसे 'पञ्चयाम' रूप बनाया; ऐसी दिगम्बर मान्यता सम्भावित है। यह तर्कसङ्गत नहीं लगता है। अहिंसादि महाव्रतों में ब्रह्मचर्य को जोड़कर उसे पञ्चयामरूप बनाया, ऐसी श्वेताम्बर मान्यता है। वस्तुत: दोनों में सिद्धान्तत: कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों परम्पराएँ अहिंसादि पाँच महाव्रतों (यमों) और सामायिक आदि पाँचों आचारों (यमों) को आवश्यक मानते हैं। सम्भवत: छेदोपस्थापना चारित्र को जोड़ने के कारण ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण का विधान मान्य हुआ होगा। **स्थानाङ्गसूत्र** में बतलाया है कि शिष्यों की अपेक्षा से मध्य के बाईस तीर्थङ्कर तथा विदेहस्थ तीर्थङ्कर 'चातुर्याम' धर्म का तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर 'पञ्चयाम धर्म का उपदेश करते थे। वास्तव में तो सभी पञ्चयाम धर्म का ही उपदेश करते हैं।[25] यहाँ पञ्चयाम का तात्पर्य पाँच महाव्रतों से है, परन्तु इससे तथा अन्य उभय परम्परागत विवेचनों से स्पष्ट है कि पार्श्व और महावीर के उपदेशों में परमार्थत: मतभेद नहीं है; शिष्य-बुद्धि की अपेक्षा संक्षिप्त अथवा विस्तृत कथनमात्र है। इसीलिए आचाराङ्ग में साधु को सचेतन अथवा अचेतन, सूक्ष्म या स्थूल अल्पमात्र भी परिग्रह न रखने का विधान है अन्यथा वह परिग्रही कहलायेगा।[26]

इस तरह उभय-परम्पराओं के ग्रन्थों के आलोचन से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में आध्यात्मिक या निश्चय दृष्टि से कोई भेद नहीं था; किन्तु शिष्य-योग्यता के आधार से उपदेश में भेद है, परन्तु पूर्ण अपरिग्रही (वीतरागता) होना दोनों का लक्ष्य है। जितने भी पार्श्वापत्यों अथवा पासत्थों के उल्लेख हैं वे सभी पार्श्व-परम्परा के सम्यक् अनुयायी थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अन्यथा हम पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों को सही नहीं समझ सकेंगे।

सन्दर्भ-सूची

1. हयसेणवम्मिलाहिं जादो हि वाणारसीए पासजिणो। तिलोयपण्णत्ति, 4.548.

माता-पिता के नामादि के सन्दर्भ में श्वेताम्बर-दिगम्बर-परम्परा में कुछ अन्तर मिलता है। देखें- समवायाङ्गसूत्र, 220-221; कल्पसूत्र

149; आवश्यकनिर्युक्ति 388; उत्तरपुराण 43; पासणाहचरिउ (वादिराजकृत) 9.95.5.

2. णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य पासो वि गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि।। तिलोयपण्णत्ति, 4.670. वीरं अरिट्ठनेमि, पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च। एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो।। रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासमि पव्वइआ।। आवश्यकनिर्युक्ति, 221-222. अन्यत्र देखें-- पउमचरियं 22; पद्मपुराण, 20.67; हरिवंश 60.214.

3. णाहोग्गवंसेसु वि वीरपासा। तिलोयपण्णत्ति, 4.550,
इक्खगुवंस संभूय भूवइ भाल-तिलय भूओ आससेणो नाम नरवई। सिरिपासनाहचरियं। प्र0 3, पृ0 134; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 9.3, पृ0 34.

4. वाराणस्यामभूत् विश्वसेन: काश्यपगोत्रज:। उत्तरपुराण, 73-75.
मुणिसुव्वओ अ अरिहा अरिट्ठनेमी अ गोयमसगुत्ता। सेसा तित्थयरा खलु कासवगुत्ता मुणेयव्वा। आवश्यकनिर्युक्ति, 381.

5. तिलोयपण्णत्ति (चतुर्थ महाधिकार) 4.550, 548; भगवती आराधना 1944 टीका; मूलाचार 7.36-38, 129-133; उत्तरपुराण, 73-75,92.

6. उत्तराध्ययन 23वां अध्ययन, कल्पसूत्र 148-156; ऋषिभाषित अध्ययन 31; सूत्रकृताङ्ग 2.7.81; 1.6.28; समवायाङ्ग 9.4, 8.8, 16.4, 38.1, 100.4, स्थानाङ्गसूत्र 35, भगवतीसूत्र 10.9, 2.5; ज्ञाताधर्मकथा, आवश्यकनियुक्ति 236, 1241-1243; राजप्रश्नीयसूत्र, 167-190.

7. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 23

8. सूत्रकृताङ्ग, सूत्र 2.7.71-81.

9. सूत्रकृताङ्ग, सूत्र 2.7.81

10. भगवतीसूत्र, 9.32.379, 10.9.76.

11. भगवतीसूत्र, 1.9.432-433.

12. देखें, अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ0 36.

13. भगवतीसूत्र, 1.9.23.

14. आवश्यकनिर्युक्ति, 1241-1243.

15. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, उद्देश 6, भाष्यगाथा 6359-6364.

16. वही, भाष्यगाथा 6365-6369.

17. राजप्रश्नीयसूत्र, 167-190.

18. ऋषिभाषित, अध्ययन 31.

19. देखें, अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ0 22.

20. मूलाचार, 7.36-38, 129-133.

21. तिलोयपण्णत्ति (चतुर्थ महाधिकार), 4.448-550.

22. चतुर्धा चतुर्यमभेदात्। तत्त्वार्थवार्तिक, 1.7

23. सङ्गहिय सयल-संजममेय-जममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजमो होई।
छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पञ्चजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो।। षट्खण्डागम, खण्ड 1, भाग 1, पृ0 372.

24. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ0 395-399; 409-425.

25. स्थानाङ्गसूत्र, 266.

26. आचाराङ्गसूत्र, 150-152.

सभी विरोधों का समाधान : अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद

दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में पाए जाने वाले विरोधों का समाधान सम्यक् अनेकान्तवाद या स्याद्वाद या सापेक्षवाद के द्वारा ही सम्भव है। क्योंकि ज्ञान अनन्त है और हमारे ज्ञान की मर्यादाएँ हैं। एकान्तवाद की दृष्टि से वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को नहीं जाना जा सकता है। स्याद्वाद या अपेक्षावाद (दृष्टि विशेष) के द्वारा हम वस्तु के समग्र रूप को जान सकते हैं। भगवान् महावीर के दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल में उनका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने परस्पर विरोधी दिखलाई देने वाले एकान्तवादी सिद्धान्तों का सम्यक् समन्वय स्थापित किया है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। उस समय नित्यवाद, उच्छेदवाद आदि अनेक दार्शनिक मत-मतान्तर प्रचलित थे; उनमें सत्य क्या है? इसकी खोज भगवान् महावीर ने ध्यान के माध्यम से की थी। उन्होंने ध्यान के माध्यम से इस तथ्य का साक्षात्कार किया कि एकाङ्गी दृष्टि कभी भी वस्तु तत्त्व के समग्र रूप को प्रकाशित नहीं कर सकती है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं जिनका हम युगपत् भाषा के माध्यम से कथन नहीं कर सकते हैं। सापेक्षिक कथन द्वारा ही हम वस्तु के समग्र रूप का विश्लेषण कर सकते हैं; क्योंकि भाषा निरपेक्ष रूप से वस्तु के समग्र रूप को अभिव्यक्त नहीं कर सकती है। भाषा के माध्यम से जो कुछ भी कहा जाता है वह किसी न किसी सन्दर्भ-विशेष में कहा जाता है। अत: उसे सन्दर्भ विशेष की दृष्टि से ही देखना चाहिए, समग्र दृष्टि से नहीं। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि हम वस्तु को किस दृष्टि से देख रहे हैं?, कहाँ देख रहे हैं?, किस काल में देख रहे हैं?, कौन देख रहा है? आदि। इन सब प्रश्नों का समाधान अनेकान्तवाद में ही है, एकान्तवाद में नहीं। एकान्तवाद कब सम्यक् होता है और कब मिथ्या?[1] अनेकान्तवाद कब सम्यक् है और कब मिथ्या? इन सब बातों का विचार जैन ग्रन्थों में विस्तार से किया गया हैं। इसीलिए इस अनेकान्तवाद के व्याख्यार्थ स्याद्वाद सिद्धान्त (निश्चित सापेक्षवाद का सिद्धान्त) और नय सिद्धान्त (सम्यक् एकान्तवाद का सिद्धान्त) लाया गया है।[2] यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों की भी सही व्याख्या सम्भव नहीं होगी। इसके अतिरिक्त कोई भी दार्शनिक या वैज्ञानिक अपने सिद्धान्तों की सही व्याख्या तब तक नहीं कर सकता जब तक अनेकान्तवाद को स्वीकार न करें।[3] समाज-व्यवस्था आदि भी इसे स्वीकार किए बिना सम्भव नहीं है। ज्योतिषीय गणनाएँ, भौतिकसिद्धान्त-निर्वचनों, चिकित्सा-पद्धतियों आदि की व्याख्या भी बिना सापेक्षवाद के सम्भव नहीं है। अनेकान्तवाद शब्द को दो प्रकार से समझा जा सकता है

1. अन् + एकान्त = अनेकान्त अर्थात् एकान्तवाद नहीं; क्योंकि वस्तु अनेक धर्मवाली है।
2. अनेक + अन्त (धर्म या गुण) = अनेकान्त अर्थात् वस्तु अनेक धर्मवाली है।

अनेकान्त का कथन स्याद्वाद एवं नयों के द्वारा

अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन स्याद्वाद दृष्टि एवं नय दृष्टि से किया जाता हैं। 'स्याद्वाद' भाषा की वह निर्दोष पद्धति है जो वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन करने में सक्षम है। इसमें प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द (निपात-सिद्ध, तिङन्त प्रतिरूप) प्रत्येक वाक्य के निश्चित सापेक्ष (मुख्य या गौण) होने की सूचना देता है, न कि संशय का बोधक है। इसमें विवक्षित धर्म का कथन करके अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता अपितु विवक्षित को मुख्य करके अन्य को गौण किया जाता है। अत: जब जो धर्म विवक्षित होता है तब उसे मुख्य और अन्य को गौण किया जाता है। इस तरह मुख्य-गौण भाव से कथन करने पर समग्र वस्तु का कथन हो जाता है।[4] अर्थात् वस्तु केवल विवक्षित धर्म वाली ही नहीं है अपितु तदतिरिक्त भी अनेक धर्म उसमें विद्यमान है। यद्यपि स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में मिलता है, परन्तु स्याद्वाद निर्दिष्ट भाषा-शैली का प्रतीक है और अनेकान्तवाद ज्ञान का प्रतीक है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में जो सम्बन्ध है; वह है-लक्ष्य-लक्षण भाव या प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव या द्योत्य-द्योतक भाव का। स्याद्वाद तथा नयवाद की ही तरह निक्षेपवाद भी जैनदर्शन में प्रचलित है। इसके द्वारा भी वस्तु का विचार किया जाता है। निक्षेप के चार भेद हैं-

नाम, स्थापना, द्रव्य और माव। इसी तरह नयों के अनेक भेद किये गए हैं। सप्तभङ्गी 'स्याद्वाद' का ही विस्तार है।

एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सद्भाव

अनेकान्तवाद के विरोध में कहा जाता है कि वस्तु जब अस्तिरूप है तो नास्तिरूप कैसे है? वस्तु जब एक है तो अनेक कैसे हो सकती है? भावरूप है तो अभावरूप कैसे हो सकती है? छोटी है तो बड़ी कैसे हो सकती है? हलकी है तो भारी कैसे हो सकती है? अर्थात् परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं? वस्तुत: निश्चित सापेक्षभाव से परस्पर विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। उनमें न तो कोई विरोध है और न संशय। प्रत्यक्ष से वस्तु में जब हमें अनेक विरोधी धर्मों की स्पष्ट प्रतीति होती है तो उसमें संशय कैसा? घड़ा समग्र भाव से एक होकर भी अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की अपेक्षा तथा छोटा, बड़ा, हलका, भारी आदि अनन्त गुणों और धर्मों की अपेक्षा अनेक रूपों में दिखलाई पड़ता है। घड़ा अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तिरूप है तो स्वभिन्न पररूपों (घोड़ा, कपड़ा आदि) की अपेक्षा नास्तिरूप भी है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो घड़ा, कपड़ा, घोड़ा आदि में कोई भेद नहीं हो सकेगा। यहाँ नास्तित्व धर्म ही घड़े को घड़े के रूप में प्रतिष्ठित करता है तथा घोड़ा आदि अन्यों से पृथक् करता है।

वस्तु की भावाभावात्मकता

इसी तरह घटादि वस्तु भावरूप भी है और अभावरूप भी। यदि वस्तु को सर्वथा (द्रव्य और पर्याय दोनों अपेक्षाओं से) भावरूप ही स्वीकार किया जायेगा तो प्रागभाव (कार्योत्पत्ति के पूर्व असत् होना), प्रध्वंसाभाव (कार्योत्पत्ति के बाद घटरूप पर्याय का अभाव) एवं अत्यन्ताभाव (एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का त्रैकालिक अभाव) कुछ भी सम्भव नहीं होगा। वस्तु में दोनों रूप पाये जाते हैं- स्व-अस्तित्व और पर नास्तित्व। पर-नास्तित्वरूप को ही इतरेतराभाव (घट में पटादि का अभाव और पट में घटादि का अभाव) कहते हैं। इतरेतराभाव या अन्योन्याभाव स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। दो पदार्थों के स्वरूप का प्रतिनियत होना ही एक का दूसरे में अभाव है जो तत्-तत् पदार्थों का स्व-स्वरूप ही होता है, मिथ्या नहीं। इसीलिए घोड़ा और ऊँट में सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है। अन्यथा पूर्व जन्म के मृग और गौतम बुद्ध को एक मानकर मृग की भी पूजा प्राप्त होगी। अत: घोड़ा और ऊँट का सादृश्य एक जातीय होने से है, एक सत्ता का होने से नहीं। यदि वस्तु को सर्वथा अभावात्मक या सर्वथा शून्य माना जाएगा तो स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण कैसे होगा; क्योंकि सर्वथा अभाव पक्ष में न तो वस्तु का बोध होगा और न वाक्य-प्रयोग। अत: वस्तु भावाभावात्मक, नित्यानित्यात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक तथा उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है। किसी भी वस्तु का समूल विनाश नहीं होता; क्योंकि चेतन-अचेतन सभी सदा परिणामी नित्य हैं। अतीत पर्याय का व्यय, वर्तमान पर्याय का उत्पाद और दोनों अवस्थाओं में द्रव्यरूप से सदा रहना ध्रुवता है। वस्तु की ऐसी त्रयात्मकता को जैनाचार्यों ने तथा मीमांसकाचार्य कुमारिलभट्ट ने भी स्वीकार किया है।[5] पातञ्जल-महाभाष्य तथा योगभाष्य में भी वस्तु की त्रयात्मकता को स्वीकार किया गया हैं।[6]

गुण-गुणी में, सामान्य-सामान्यवान् में, कारण-कार्य में, अवयव-अवयवी में सर्वथा भेद मानने पर गुण-गुणीभावादि नहीं बन सकते; क्योंकि अमुक गुण का अमुक गुणी से नियत सम्बन्ध है, यह कैसे बतलाया जा सकता है? एक अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहता है या एकदेश से? दोनों पक्षों में दूषण है; क्योंकि यदि पूर्ण रूप से रहता है तो जितने अवयव होंगे उतने ही अवयवी होंगे। यदि एकदेश से रहता है तो जितने अवयव के प्रदेश हैं उतने अवयवी मानने पड़ेंगे। सर्वथा अभेद पक्ष में गुण-गुणी व्यवहार ही सम्भव नहीं है। अत: वस्तु को भेदाभेदात्मक मानना चाहिए क्योंकि गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

अनेकान्त के सम्बन्ध में भ्रम निवारण

राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ0 हर्मन यॉकोबी ने स्याद्वाद की सप्तभङ्गी (कथन के सात प्रकार) के चार भङ्गों (अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभयरूप) की उत्पत्ति शब्दसाम्य के आधार पर सञ्जयवेलट्ठिपुत्त के उच्छेदवाद से मानी है[7], जो सर्वथा अनुचित है। सञ्जयवेलट्ठिपुत्त जिन प्रश्नों का समाधान नहीं करते उन्हें अनिश्चय कहकर छोड़ देते हैं। गौतम बुद्ध भी उन्हें अव्याकृत कहकर छोड़ देते हैं।[8] भगवान् महावीर ने अनेकान्त सिद्धान्त के माध्यम से ऐसे सभी प्रश्नों का सयुक्तिक एवं सम्यक् उत्तर दिया है।[9] हिंसा और अहिंसा में जितना अन्तर है उतना ही महावीर के स्याद्वाद और सञ्जयवेलट्ठिपुत्त के अनिश्चय सिद्धान्त (संशय तथा अज्ञान) में अन्तर है।

डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपनी इण्डियन फिलासफी (जिल्द 1, पृ0 305 306) में स्याद्वाद को आपेक्षिक

अर्धसत्य कहा है, जो सर्वथा भ्रामक है। कुछ इसी प्रकार की भ्रामक व्याख्या पं0 बलदेव उपाध्याय (भारतीय दर्शन, पृ0 173) एवं डॉ0 देवराज (पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ0 65) जी ने भी की है।

मेरा स्पष्ट विचार है कि एकान्तवादी दर्शन चाहे जितना अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का खण्डन करें, परन्तु वे भी अपने सिद्धान्तों में समागत विरोधों की व्याख्या स्याद्वाद के माध्यम से ही करते हैं, जैसा कि पहले वस्तु की त्रयात्मकता के प्रसङ्ग में बतलाया गया है। स्व0 महामहोपाध्याय डॉ0 गंगानाथ झा तथा स्व0 फणिभूषण अधिकारी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शङ्कराचार्य जी ने स्याद्वाद को ठीक से समझा नहीं था अन्यथा वे उसका खण्डन नहीं करते।

अनेकान्त दो प्रकार का है- सम्यग् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। परस्पर सापेक्ष धर्मों का सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना सम्यग् अनेकान्त है तथा परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त हैं। **एकान्त भी दो प्रकार का है-** सम्यग् एकान्त और मिथ्या एकान्त अन्य सापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगेकान्त हैं और अन्य धर्म का निषेध करके एक का अवधारण करना मिथ्यैकान्त है। मिथ्या अनेकान्त और मिथ्या एकान्त प्रमाणाभास हैं एवं अग्राह्य हैं, जबकि सम्यगनेकान्त और सम्यगेकान्त प्रमाणरूप हैं एवं ग्राह्य हैं।

अन्य दर्शनों में स्याद्वाद-मुखापेक्षता

शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त में एक नित्य, निर्गुण परम ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है। वह ब्रह्म जब मायोपाधि से युक्त होता है तो सगुण ब्रह्म (ईश्वर) बनकर सृष्टि करता है। ब्रह्म की यह माया या अज्ञान सत्-असत् से अनिर्वचनीय है, त्रिगुणात्मक है, ज्ञान-विरोधी है तथा भावरूप कुछ है।[10] इसकी व्याख्या स्याद्वाद सिद्धान्त को माने बिना सम्भव नहीं है। ब्रह्म की निमित्त व उपादान कारणता, समष्टि चैतन्य, व्यष्टि चैतन्य, जीवन्मुक्त व विदेहमुक्त आदि की भी व्याख्यायें स्याद्वाद-मुखापेक्षी हैं। अत: अद्वैत (एकमात्र अविकारी तत्त्व) के रहते नानात्मक जगत् की व्याख्या के लिए वे त्रिविध सत्ता को स्वीकार करते हैं- पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और प्रतिभासिक सत्ता। पारमार्थिक सत्ता जैनों के शुद्ध निश्चय नय या परम संग्रह नयवत् हैं। व्यावहारिक सत्ता जैनों के व्यवहार नय एवं पर्यायार्थिक नयवत् है। प्रातिभासिक सत्ता जैनों के उपचरित नयवत् है। वेदों का नासदीयसूक्त अनेकान्तवाद का ही पोषक है।[11] ब्रह्म के निर्वचन में श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्,[12] 'क्षरमक्षरं व्यक्ताव्यक्तं च'[13] की व्याख्या बिना अनेकान्त सिद्धान्त के सम्भव नहीं है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य अपने विशिष्टाद्वैत की सिद्धि, भास्करभट्ट अपने भेदाभेद की सिद्धि, वल्लभाचार्य अपने निर्विकार ब्रह्म में उभयरूपता (परिणामी-नित्यता) की सिद्धि तथा विज्ञानभिक्षु (विज्ञानामृतभाष्यकार) अपने ब्रह्म में प्रकारभेद की सिद्धि अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना नहीं कर सकते हैं।[14]

जयराशिभट्ट ने अपने तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रन्थ में भाव-अभाव आदि अनेक विकल्प जालों से वस्तु के स्वरूप का मात्र खण्डन किया है, जिनका समाधान स्याद्वाद पद्धति से ही किया जा सकता है। व्योमशिवाचार्य (प्रशस्तपादभाष्य के प्राचीन टीकाकार) आत्मसिद्धि के प्रकरण में आत्मा को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध करते हैं। यहाँ एक प्रश्न है कि आत्मा कर्त्ता होकर उसी समय संवेदन का कर्म कैसे हो सकता है? इसका उत्तर वे स्याद्वाद के माध्यम से देते हैं- 'लक्षणभेद से दोनों रूप हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं हैं। स्वतंत्र आत्मा कर्ता हैं और ज्ञान का विषय होने से वह कर्म भी है।'[15]

बौद्धदर्शन में क्षणिकवाद स्वीकृत हैं। वहाँ शून्याद्वैतवाद अथवा विज्ञानाद्वैतवाद की सिद्धि बिना स्याद्वाद के सम्भव नहीं है। वहाँ भी द्विविध सत्य को स्वीकार किया जाता है- परमार्थसत्य और संवृति सत्य (व्यवहार-सत्य)। यह सिद्धान्त जैनों के निश्चय नय और व्यवहार नय के समान है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील वस्तुओं की अविच्छिन्न धारा की सिद्धि, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था आदि बिना स्याद्वाद माने सम्भव नहीं है। भगवान् बुद्ध को शाश्वतवाद से यदि भय था तो उच्छेदवाद भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। वस्तु को त्रैकालिक इसलिए माना जाता है कि वह अतीत से वर्तमान तक तथा आगे भी प्रवहमान रहती है। कहा है -

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कापसे रक्तता यथा।।

यह कथन स्याद्वाद के बिना सङ्गत नहीं हो सकता है। वस्तुत: द्रव्य से अन्वय का ज्ञान होता है और पर्याय से

व्यावृत्तिज्ञान (भेदज्ञान) का। द्रव्य एक होता है और पर्यायें कालक्रम से अनेक होती हैं। वैशेषिकों की तरह द्रव्य, गुण, कर्म आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं।

सर्वथा अभेद मानने वाले अद्वैतवाद में विवर्त, विकार या भिन्न-प्रतिभास सम्भव नहीं है। 'सत्' सामान्य से जो सब पदार्थों में ऐक्य स्थापित किया जाता है वह व्यवहारार्थ परम संग्रहनय का एकत्व है, जो कि उपचरित है, मुख्य नहीं। शब्द प्रयोग की दृष्टि से एक द्रव्य में विवक्षित धर्म-भेद और दो द्रव्यों में रहने वाला परमार्थ सत्‌भेद, दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व- ये तीनों रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही हेतु में माने जाते हैं। वहाँ सपक्षसत्त्व से विपक्षासत्व का ग्रहण जैसे नहीं माना जाता है वैसे ही प्रत्येक वस्तु में स्वरूपास्तित्व से पर-नास्तिक का भी ग्रहण नहीं माना जा सकता है। अत: उसका पृथक् कथन आवश्यक है। अन्वय-ज्ञान और व्यतिरेकज्ञानरूप प्रयोजन तथा कार्य भी पृथक्-पृथक हैं। वस्तु में सर्वथा भेद मानने वाले बौद्धों के यहाँ पररूप से नास्तित्व माने बिना स्वरूप की प्रतिनियत व्यवस्था नहीं बन सकती है। प्रतिनियत सन्तान-व्यवस्था से स्वयं सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद व्यय की निरन्वय परम्परा मात्र नहीं हैं। शान्तरक्षित परलोक-परीक्षा में ज्ञानादि सन्तति को अनादि-अनन्त स्वीकार करके परलोक की व्याख्या करते हैं -

उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्ततेः। काचिन्नियतमर्यादावस्थैव परिकीर्त्यते।।
तस्याश्चानाद्यनन्तायाः परः पूर्व इहेति च।। (तत्त्वसंग्रह, 1872-73)

इस तरह बौद्ध दर्शन सर्वथा एकान्तवादी कैसे हो सकता है? सांख्यदर्शन प्रकृति को परिणामी नित्य मानता है। वह प्रकृति-तत्त्व कारणरूप से एक होकर भी अपने महदादि विकारों की दृष्टि से अनेक है, नित्य होकर भी अनित्य है। योगभाष्य (3.13) में परिणामवाद का अर्थ किया है- 'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' स्थिर द्रव्य के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर नवीन धर्म की उत्पत्ति होना परिणाम है। बिना सापेक्षवाद के महदादितत्त्व प्रकृति विकृति उभयरूप कैसे है?[16]

न्याय-वैशेषिक दर्शन के तर्कसंग्रह में पृथ्वी द्रव्य का निर्वचन करते हुए कहा है 'तत्र गन्धवती पृथ्वी। सा द्विविधा-नित्यानित्या च। नित्या परमाणुरूपा, अनित्या कार्यरूपा'। इसी प्रकार जल, तेजस् और वायु द्रव्यों को नित्यानित्य माना है।[17] परसामान्य-अपरसामान्य, कालकृत परत्वापरत्व आदि भी सापेक्षता को लिए हुए हैं।

अनेकान्त में सम्भाव्य दोषों का निराकरण

इस तरह देखा जाता है कि सभी दर्शनों के आचार्यों ने एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों के समन्वयार्थ किसी न किसी रूप में सापेक्षवाद को अवश्य स्वीकार किया है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद पर मुख्य रूप से दो दोष (संशय और विरोध) बतलाए जाते हैं। तत्त्वसंग्रह में संकर और श्रीकण्ठभाष्य में अनवस्था दोष भी बतलाए हैं, परन्तु जैन आचार्य अकलङ्कदेव ने सम्भावित आठ दोषों की उपस्थापना करके उनका खण्डन किया है। वे दोष हैं- 1. संशय, 2. विरोध, 3. वैयधिकरण्य, 4. संकर, 5. व्यतिकर, 6. अनवस्था, 7. अप्रतिपत्ति और 8, अभाव।[18]

एक ही दृष्टि से दो विरोधी धर्म स्वीकृत न होने से **विरोध** नहीं है। जैसे- वैशेषिक दर्शन में पृथ्वीत्वादि अपर सामान्य स्वव्यक्तियों में अनुगत होने के कारण सामान्य रूप है तथा जलादि से व्यावर्तक होने से विशेष भी है। अत: वस्तु के दोनों धर्म पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित रूप में प्रतीत होने से **संशय** नहीं है। एक ही अखण्ड वस्तु में अनन्त धर्मों का संकर होने पर भी उनकी प्रतीति दृष्टिभेद से होती है। अत: **संकर** दोष नहीं है। 'व्यतिकर' का अर्थ है 'परस्पर विषयगमन', यह तभी सम्भव है जब पर्याय और द्रव्य दोनों दृष्टियों से द्रव्य को नित्यानित्य माना जाय, परन्तु ऐसा न मानने से **व्यतिकर** दोष भी नहीं है। 'द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है' यह निश्चित है, **वैयधिकरण्य** दोष भी नहीं है; क्योंकि सभी धर्म एक ही आधार में जाने जाते हैं, जैसे एक ही आकाश-प्रदेश में सभी द्रव्यों की सत्ता है। एक धर्म में अन्य धर्म की सत्ता न मानने से **अनवस्था** दोष भी नहीं है। किञ्च, धर्मों का एक रूप मानने से एकान्तत्व नहीं आता है; क्योंकि वस्तु अनेकान्तरूप है तथा सम्यगेकान्त का अनेकान्त से कोई विरोध नहीं है, धर्म धर्मिभाव सापेक्ष है; क्योंकि जो अपने आधारभूत धर्मी की अपेक्षा धर्म होता है, वह अपने आधेयभूत धर्मों की अपेक्षा धर्मी हो जाता है। इस तरह प्रमाण से निर्बाध प्रतीति होने के कारण न तो अप्रतीतत्व (अप्रतिपत्ति) दोष है और न **अभाव** दोष है। अत: स्याद्वाद या अनेकान्तवाद न तो संशयवाद है, न कदाचित्कवाद है, न सम्भवनावाद है, अपितु

सापेक्षात्मक निश्चयवाद है, जिसे जैन दर्शन में अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के नाम से कहा जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सभी दर्शन किसी न किसी रूप में सापेक्षता के सिद्धान्त को यथावसर स्वीकार करके अपने स्वीकृत सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं, परन्तु एकान्तवाद के आग्रह को नहीं छोड़ पाते हैं। इतना अवश्य है कि भगवान् महावीर ने सापेक्षता के सिद्धान्त का जितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, वैसा किसी ने नहीं किया है। निश्चित सापेक्षवाद के प्रतिपादक अनेकान्त एवं स्याद्वाद को ऊपरी तौर पर ही लोगों ने समझकर उसकी आलोचना की है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है; जिसके द्वारा विभिन्न मतवादों का नयदृष्टि से समन्वय करके विश्व-बन्धुत्व की स्थापना की जा सकती है। 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा, की तरह अनेकान्तवाद अनिश्चयवाद या संशयवाद नहीं है। भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद यही बतलाता है कि दृष्टि एकाङ्गी मत करो, वस्तु को सभी दृष्टिकोणों से देखो। किसी एक दृष्टि को सही और दूसरी को मिथ्या मत कहो। साथ ही यह भी कहा कि एक ही दृष्टि से वस्तु उभयविध नहीं है। वस्तु की उभयरूपता विभिन्न दृष्टियों से है। अत: अनेकान्तवाद निश्चयात्मकता का सिद्धान्त है। भारतीय दर्शनों का सामान्यत: समावेश जैन नयानुसार निम्न प्रकार से समायोजित किया जा सकता है -

1. नैगम नय की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक दर्शन का।
2. संग्रह नय की दृष्टि से सांख्य व वेदान्त दर्शन का ।
3. व्यवहार नय की दृष्टि से मीमांसा दर्शन का।
4. ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से बौद्धदर्शन का।
5. शब्द नय की दृष्टि से शब्दाद्वैत दर्शन का।
6. समभिरूढ नय की दृष्टि से चार्वाक दर्शन का।
7. भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से योग दर्शन का।

उपसंहार

ऊपर दार्शनिक दृष्टि से जिस तरह अनेकान्तवाद और स्याद्वाद द्वारा विभिन्न विरोधों के समाधान का सुगम मार्ग बतलाया गया है उसी तरह अन्य क्षेत्रों में भी इसे घटित कर लेना चाहिए। पिता को पुत्र के दृष्टिकोण को तथा समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिए। इसी तरह पुत्र को भी पिता की परिस्थितियों को समझना चाहिए। ऐसा करने पर विवाद समाप्त होंगे और जीवन में अमृतरस की वर्षा होगी। इसी तरह पति-पत्नी, मित्र-शत्रु, आदि सभी क्षेत्रों में इस सिद्धान्त की उपयोगिता है। यह एक ऐसी कुञ्जी है जिससे सभी बन्द ताले खुल सकते हैं, आवश्यकता है उसके सही प्रयोग की।

सन्दर्भ सूची

1. निरपेक्षा नय मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।- समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, 108
2. (क) अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वाद:।- लघीयस्त्रयविवृत्ति,
   (ख) सम्पूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वादश्रुतमुच्यते।- सिद्धसेनकृत न्यायावतार, 30
   (ग) स्याद्वाद: सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि:। सप्त-भङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषक:। समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, 104
   (घ) अपितानर्पितसिद्धे:।- तत्त्वार्थसूत्र, 5.32
3. देखें, अध्यात्म से समृद्धि, स्वास्थ्य एवं शान्ति, भाग-1, अनेकान्त समझ, डॉ0 पारसमल अग्रवाल
4. देखें, फुटनोट नं0 2
5. (क) घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिस्वयम्।
   शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।
   पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत:।।
   अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।।, आप्तमीमांसा, 59-60
   (ख) वर्धमानकभङ्गे च रुचक: क्रियते यदा।
   तदा पूर्वार्थिन: शोक: प्रीतिचाप्युत्तरार्थिन:।।
   हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।।

स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता।।, मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ0 619

6. द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णः कदाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराकारसदृश कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते। (पातञ्जल महाभाष्य, 1.1.1; योगभाष्य, 4.13)

7. दर्शन दिग्दर्शन, पृ0 491-496

8. चौदह वस्तुएँ अव्याकृत हैं, माध्यमिकवृत्ति, पृ0 446, दस वस्तुएँ अव्याकृत है, मज्झिमनिकाय, 2.23

9. जैन तर्कवार्तिक, प्रस्तावना, पृ0 14-24

10. अज्ञानं तु सदसदभ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति। वेदान्तसार, पृ0 14

11. ऋग्वेद नासदीय सूक्त।

12. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3.20

13. ओ. उपनिषद्, 1.8

14. विशेष के लिए देखें- जैनदर्शन, पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, पृ0 597-689

15. अथात्मनः कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासंभवेनाप्रत्यक्षत्वम्। तत्र लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः। तथाहि- ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृत्वम् । तदैव च क्रियया व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्वं चेति न दोषः। लक्षणतन्त्रत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः। (प्रश. व्यो. पृ0 392)

16. सांख्यकारिका, 3

17. तर्कसंग्रह, पृ0 4-6

18. प्रमाणसंग्रह, पृ0 103, अष्टशती (अष्टसस्री, पृ0 206)

प्रायश्चित्त तप

['प्रायश्चित्त तप' अपराध-सुधार हेतु एक प्रकार का दण्ड-विधान तथा कर्म-निर्जरा का माध्यम है। यह सभी के द्वारा आचरणीय है। यह हमारी आभ्यन्तर शुद्धि का सशक्त माध्यम है।]

जैन दर्शन में आभ्यन्तर तपों की गणना करते समय सर्वप्रथम 'प्रायश्चित्त तप को गिनाया गया है। प्रमादवश या अज्ञानवश हमारे द्वारा बहुत से अपराध हो जाते हैं जिन्हें हम 'प्रायश्चित्त' के द्वारा दूर कर सकते हैं अर्थात् भूलवश या असावधानी से हुए दोषों का शोधन करना प्रायश्चित्त है। यह सर्व विदित है कि जैन दर्शन में आचारशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। अतः जैसे फिल्टर से पानी को शुद्ध किया जाता है वैसे ही ग्रहण किए गए व्रतों में दूषण लगने पर प्रायश्चित्त द्वारा उनका शोधन किया जाता है। अतः अपराध की शुद्धि हेतु दण्ड स्वीकार करना प्रायश्चित्त है। इसके प्रभाव से पूर्वकाल में सञ्चित पापकर्म नष्ट होते हैं तथा आत्मा निर्मल होती है। तीव्र ज्वर में बिना विचारे ग्रहण की गई दोषयुक्त महान् औषधि भी आरोग्यवर्धक नहीं होती उसी प्रकार प्रायश्चित्त के बिना एक पक्ष या मास आदि का उपवास तप भी उपकारक नहीं होता।[1] जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब चमकता है वैसे ही सद्गुरु से दोष के अनुरूप प्रायश्चित्त करने पर तपस्वी चमकता है।[2]मूलाचार में प्रायश्चित्त के आठ नाम गिनाए हैं जो प्रायश्चित्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं -

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरणं सोधणं धुवणं।

पुच्छणमुच्छिवणं छिंदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाई।।[3]363।।

अर्थ- पूर्वोपार्जित कर्मों का 1. क्षपण (नष्ट करना), 2. क्षेपण (दूर हटाना), 3. निर्जरण (निर्जरा करना), 4. शोधन, 5. धावन (धोना), 6. पुंछन (पोंछना), 7. उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), 8. छेदन (टुकड़े करना) प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त दो शब्दों के मेल से बना है- 'प्रायः' और 'चित्त'। 'प्रायः शब्द का अर्थ है 'अपराध' और 'चित्त' (चिति धातु से उणादि में निष्ठा अर्थ से बना है) का अर्थ है 'शुद्धि'। अतः जिसके करने से अपराध की शुद्धि होती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।[4] 'प्रायः' शब्द का अर्थ 'लोक' भी होता है जिसका अर्थ है- जिस क्रिया के करने से लोग (लोक) अपराधी को निर्दोष मानने लगें (प्रायो लोकस्तस्य चित्तं शुद्धिमियर्ति यस्मात् तत्प्रायश्चित्तम्)। यहाँ 'प्रायः' शब्द का अर्थ

'तप' और 'चित्त' का अर्थ 'निश्चय भी है अर्थात् उपवास आदि तप में करणीयता का श्रद्धान (निश्चय)।

प्रायश्चित्त के भेद-दोष-संशोधन के जितने भी प्रकार हैं वे सभी प्रायश्चित्त के अन्दर आते हैं। संक्षेप में व्यवहार से उन्हें नौ प्रकारों में विभक्त किया गया है- 1.आलोचन (आलोचना), 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय (आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों), 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. परिहार और 9. उपस्थापन।[5] यद्यपि इनका विशेष सम्बन्ध साधु सङ्घ से है तथापि इसका उपयोग गृहस्थ श्रावकों के लिए भी अति उपयोगी है। अनगार-धर्मामृत में प्रायश्चित्त के 10 भेद गिनाए हैं[6]- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मल, परिहार और श्रद्धान (उपस्थापना)। श्रद्धान का लक्षण है- गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षा-ग्रहणं पुन:। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि।।[7] **अर्थ**- मिथ्यात्व का ग्रहण होने पर पुन: दीक्षा लेना श्रद्धान प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त के 10 भेद व्यवहार नय से हैं। निश्चय नय से इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।[8]

(1) आलोचन या आलोचना (प्रकटन, प्रकाशन)- गुरु या आचार्य के समक्ष अपनी गलती को निष्कपट भाव से निवेदन करना। यह निवेदन या आलोचना निम्न दस प्रकार के दोषों को बचाकर करना चाहिए। वे दोष हैं -

(क) आकम्पित दोष- 'आचार्य दया करके हमें कम प्रायश्चित्त देवें इस भावना से आचार्य को कुछ (पुस्तक, पिच्छी आदि) भेट देकर या सेवा करके अपने दोष का निवेदन करना। **(ख) अनुमापित दोष**- बातों-बातों में प्रायश्चित्त के कम या अधिक का अनुमान लगाकर अपने दोष को गुरु से प्रकट करना। **(ग) दृष्ट दोष**- जिस दोष को किसी ने देखा नहीं है उसे छुपा लेना और जो दोष दूसरे साथियों ने देख लिया है उसे ही गुरु से निवेदन करना। **(घ) बादर दोष**- केवल स्थूल (महान्) दोष का निवेदन करना, बाकी छोड़ देना। **(ङ) सूक्ष्म दोष**- बड़े (दण्ड) के भय से बड़े (स्थूल) दोष को छुपाकर छोटे दोष का निवेदन करना। **(च) छन्न दोष**- 'यदि कोई ऐसा अपराध करे तो उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए इस तरह गुरु से पहले पूछना पश्चात् दोष का निवेदन करना। **(छ) शब्दाकुलित दोष**- 'कोई मेरे दोष को सुन न ले' इस भावना से जब खूब हल्ला हो रहा हो उस समय अपना दोष कहना। **(ज) बहुजन दोष**- आचार्य ने जो प्रायश्चित्त मुझे दिया है वह ठीक है या नहीं' ऐसी आशङ्का करके अपने अन्य साथियों से पूछना। **(झ) अव्यक्त दोष**- भयवश आचार्य से अपना दोष न बतलाकर अपने सहयोगी को दोष बतलाना **(ञ) तत्सेवी**- आचार्य से अपने दोष का निवेदन न करके उस साथी से पूछना जिसने उसके समान ही अपराध किया हो और आचार्य ने उसे जो प्रायश्चित्त बतलाया हो उसे ही अपने लिए उचित मानना।

(2) प्रतिक्रमण- 'प्रमादवश मुझसे जो अपराध हुआ हो, वह मिथ्या होवे (मिच्छा मे दुक्कडं)' इस तरह अपनी मानसिक प्रतिक्रिया वचन द्वारा प्रकट करके सावधानी वर्तना प्रतिक्रमण है। यह रोज का एक कृत्य है। इसके द्वारा हम दैनन्दिन की चर्या में सम्भावित छोटे-छोटे दोषों का पर्यालोचन करते हैं। इसके लिए प्रतिक्रमण पाठ पढ़ा जाता है। 'आगे भूल न हो ऐसी सावधानी इसमें की जाती है।

(3) तदुभय (मिश्र)- ऐसा अपराध जिसके लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना पड़े।

(4) विवेक- आहार अथवा उपकरणों की सदोषता के विषय में जानकारी होने पर उनको पृथक् करना विवेक है अर्थात् 'यह ग्राह्य (निर्दोष) है और यह अग्राह्य (सदोष) है' ऐसा विचार कर ग्राह्य को ही लेना, अग्राह्य को नहीं।

(5) व्युत्सर्ग (प्रतिष्ठापन)- जिस दोष के परिहार के लिए विवेक (सदोष और निर्दोष का पृथक्करण) सम्भव नहीं हो वहाँ उसका त्याग करना या कुछ समय पर्यन्त कायोत्सर्ग करना वह व्युत्सर्ग (एकाग्रता के साथ शरीर, वचन आदि के व्यापारों को रोकना) है।

(6) तप- जिस दोष के होने पर अनशन आदि तप करना पड़े वह तप प्रायश्चित्त है।

(7) छेद (दीक्षा- अपहरण)- जिस अपराध के होने पर गुरु साधु की दीक्षा-अवधि को दोष के अनुसार कम (पक्ष, दिवस, मास, वर्ष का छेद) कर दे उसे छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। इसके फलस्वरूप साधु की वरिष्ठता (ज्येष्ठता=पूज्यता) कम हो जाती है और तब उसे उन साधुओं को भी नमस्कार करना पड़ता है जो पहले उसे नमस्कार करते थे और अब वे ज्येष्ठ हो गए हैं। 'दीक्षा की अवधि कितनी कम की गई है?' इस पर ही ज्येष्ठता-कनिष्ठता बनती है।

जैसे किसी दस वर्ष के दीक्षित साधु की यदि दीक्षा-अवधि पाँच वर्ष कम कर दी जाती है तो उसे पाँच वर्ष से एक दिन भी अधिक दीक्षित साधु को नमस्कार करना होगा।

(8) परिहार (पृथक्करण)- दोष के अनुसार कुछ समय (पक्ष, मास आदि) के लिए सङ्घ से बाहर कर देना और उससे कोई सम्पर्क न रखना परिहार प्रायश्चित्त है।

(9) उपस्थापना (पुनर्व्रतारोपण या पुनर्दीक्षा)- महाव्रतों के भङ्ग होने पर पुरानी दीक्षा पूरी तरह समाप्त करके पुनः नए सिरे से दीक्षित करना। 'छेद' में पूरी दीक्षा समाप्त नहीं की जाती है।

अन्तिम दो (परिहार और उपस्थापन) के स्थान पर तीन (मूल[9], अनवस्थाप्य[10] और पारश्चिक[11]) प्रायश्चित्त के भेद मिलने से कुछ ग्रन्थों में दस भेद भी गिनाए हैं। 'किस दोष के होने पर कौन सा प्रायश्चित्त लेना पड़ता है' इसका वर्णन मूलाचार, व्यवहार, जीतकल्पसूत्र आदि प्रायश्चित्त के प्रतिपादक ग्रन्थों में मिलता है।

दोष के अनुसार गृहस्थ जीवन में भी ये प्रायश्चित्त देखे जाते हैं। जैसे, कान पकड़ो, माफी मांगो, आज का खाना बन्द, घर से या शहर से बाहर निकालना, जाति बहिष्कार करना, छात्रों को छात्रावास सुविधा से वञ्चित करना, परीक्षा-फल रोक देना, स्कूल से कुछ समय या सदा के लिए निकाल देना, कुछ समय बाद पुनः प्रवेश दे देना, आदि।

इस तरह प्रायश्चित्त के 9 अथवा 10 भेद हैं। यह प्रायश्चित्त देश, काल, शक्ति, काय, संयम-विराधना आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार का तथा लघु अथवा बृहत् होता है। जैसे पञ्चेन्द्रिय पशु-पक्षि आदि की विराधना से मनुष्य जाति की विराधना अधिक दोषजनक है। देश-काल आदि की परिस्थितियों तथा अपराधी की योग्यता अथवा संयम की स्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त भी छोटा-बड़ा होता है। अत: एक ही अपराध का प्रायश्चित्त अलग-अलग हो सकता है। आगमों में जो अपराध का प्रायश्चित्त बतलाया है वह सामान्य कथन है। इसका निर्णय सद्गुरु या आचार्य करता है। हम प्रायश्चित्त के आगम ग्रन्थ पढ़कर स्वयं प्रायश्चित्त नहीं ले सकते हैं। गुरु के अभाव में आप भले स्वयं प्रायश्चित्त कर लें परन्तु यथावसर गुरु से सही-सही बतलाएं तथा गुरु जो कहे तदनुसार करें। आचार्य यदि स्वयं व्रतों में दोष लगाता है तो उसे बड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। दोषों की शुद्ध कैसे होगी ? इसका विवरण आगमों में विस्तार से दिया गया है।[12]

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अनगार धर्मामृत 5.45
2. अनगार-धर्मामृत 5.46
3. मूलाचार, गाथा 363
4. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, सूत्र 9.22
5. आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापना। तत्त्वार्थसूत्र 9.22
6. अनगार-धर्मामृत, संस्कृत टीका 7.37
7. अनगारधर्मामृत 7.57
8. देखें, वही 7.59
9. 'मूल' में 6 मास से अधिक की दीक्षा का छेद होता है और 'छेद' में 5 अहोरात्र से 6 मास तक की दीक्षा-छेद है। इस तरह 'मूल' चिरघाती है और 'छेद' सद्यःघाती है। -बृहत्कल्पभाष्य 711
10. मूलाचार (5.362) में मूल प्रायश्चित्त उसे कहा है जिसमें पुनः व्रत दिए जायें अर्थात् पुनः दीक्षा देना। अनवस्थाप्य- दीक्षा से हटाने के बाद तत्काल पुनः दीक्षा न देना। कुछ अवधि तक परीक्षण करने के बाद आचार्य व सङ्घ की अनुमति मिलने पर दीक्षा देना।
11. पारञ्चिक यह परिहार का ही भेद है। परिहार के तीन भेद हैं। निजगण अनुपस्थान, 2. सपरगणोपस्थान और 3. पारञ्चिक। तीनों भेदों में सङ्घ से निष्कासन मुख्य है। तीर्थङ्कर गणधर आदि की आशातना करने पर यह दण्ड दिया जाता है। अभिधान राजेन्द्रकोश में इसका विस्तार से वर्णन है- अनगार0 59 संस्कृत टीका।
12. व्यवहार, जीतकल्पसूत्र आदि प्रायश्चित्त प्रधान ग्रन्थ, तत्त्वार्थसूत्र 9.22 तथा इसकी टीकाएँ। लाटीसंहिता 7.82, प्रवचनसारोद्धार 92/750, मूलाचार 1033 / 5.363, व्यवहारभाष्य, गाथा. 53, अनगार0 7.37, स्थानाङ्गसूत्र, मधुकरमुनि टीका 10.73

आहार-विहारादि में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का समन्वय

(आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में)

[उत्सर्गमार्ग – शुद्धोपयोगी मार्ग तथा अपवाद मार्ग – देश, कालादि की परिस्थितिजन्य शुभोपयोगी मार्ग दोनों ही सम्यक् हैं। अपवादमार्ग शिथिलाचार या स्वेच्छाचार नहीं है]

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने सभी ग्रन्थों में सर्वत्र जैनधर्म के प्राणभूत स्याद्वादसिद्धान्तानुसार सापेक्षवाद या समन्वयवाद का प्रतिपादन किया है। कहीं भी वे एकान्तवाद का प्रतिपादन नहीं करते। प्रवचनसार में मुनि के आहार-विहार का प्रतिपादन करते हुए आचार्य उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का समन्वय ही श्रेयस्कर बतलाते हैं। उत्सर्गनिरपेक्ष अपवादमार्ग और अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गमार्ग श्रेयस्कर नहीं है। इसी बात का समर्थन करते हुए प्रवचनसार गाथा 231 की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्दजी लिखते हैं–'तत्र श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। तत्र श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः।'

उत्सर्ग-अपवाद मार्ग

(1) उत्सर्ग मार्ग – शुद्धात्मा से भिन्न सभी बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग (ममत्व त्याग) उत्सर्ग मार्ग है। निश्चय नय से यही मुनिधर्म है। इसे ही सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतरागचारित्र, शुद्धोपयोग आदि नामों से भी कहा जाता है। वास्तव में केवली ही इस मार्ग के सच्चे अनुयायी हैं। इसमें न किसी का त्याग होता है और न ग्रहण; यह तो शुद्धात्मा की स्वरूपस्थिति है। यहाँ भूख-प्यास कुछ भी नहीं रहती, अतः तदर्थ उसके ग्रहण का कोई प्रयोजन भी नहीं रहता।

(2) अपवाद मार्ग– शुद्ध आत्मा की भावना के सहकारी प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरण शास्त्र आदि का ग्रहण करना अपवाद मार्ग है। व्यवहारनय से यही मुनिधर्म है। इसे ही एकदेश परित्याग, अपहृत-संयम, सराग चारित्र, शुभोपयोग आदि नामों से भी कहा है। यह मार्ग उनके लिए है जो हीन शक्तिवाले होने से शुद्धात्मा में निश्चय से ठहरने में असमर्थ हैं परन्तु उस मार्ग को प्राप्त करना चाहते हैं।

अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग मार्ग–शुद्धात्मा की भावना के निमित्त सर्वपरित्यागरूप उत्सर्ग मार्ग के कठिन चरण में विचरता हुआ मुनि जब मूल संयम के साधक मूल शरीर के विनाश को रोकने के लिए प्रासुक आहारादि का ग्रहण करता है तो वह अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्ग का आश्रय लेता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि शरीर संयम साधना में सहायक होने से सर्वथा हेय या निन्दनीय नहीं है। उस में आसक्ति ही निन्दनीय है।

उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद मार्ग– जब कोई मुनि अपहृत संयम के मार्ग में विचरता हुआ भी शुद्धात्म तत्त्व साधक मूलभूत संयम की तथा संयम साधक मूलभूत शरीर की रक्षा करता हुआ विचरता है तो उसे उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्ग कहते हैं।

केवल उत्सर्ग मार्ग श्रेयस्कर नहीं –'आहार ग्रहण करने पर कुछ न कुछ कर्मबन्ध अवश्य होता है इस भय से उत्सर्गमार्गी मुनि जब कठोर तपस्या के द्वारा असमय में ही संयम साधक शरीर को विनाश कर देता है तो वह तपस्या के फलस्वरूप देवपर्याय में पहुँचकर असंयमी हो जाता है। वहाँ देव पर्याय में संयमाभाव होने से उसे अधिक कर्मबन्ध होने लगता है। अतः अपवाद मार्ग का विरोध कर मात्र उत्सर्ग मार्ग अपनाना अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के समान है।

केवल अपवाद मार्ग श्रेयस्कर नहीं – जब कोई शिथिलाचारी अपवादमार्गी मुनि आहार विहार करते हुए शुद्धात्म भावना की उपेक्षा कर देता है तो उसके द्वारा ऐसा करने पर (उत्सर्गमार्ग छोड़ देने से) अधिक कर्मबन्ध होता है। फलतः वे मार्गभ्रष्ट पथिक के समान अनन्त संसार में भटकते रहते हैं।

अतः दोनों मार्गों का आलम्बन लेकर संयम की सिद्धि करना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य ने कहा है –

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि ।। 230 ।।
आहारे व विहारे व देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणिता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।। प्रव0 231।।

अर्थ – जो मुनि बालक (अल्पायु) है या वृद्ध है या थका हुआ है। (श्रमाभिहत, तपस्या, मार्गश्रम से खिन्न) या रोगादि से

पीड़ित (ग्लान) है वह अपने योग्य शक्त्यनुसार वैसी चर्या का आचरण करे जिससे मूल संयम का घात (छेद) न हो। मुनि देश, काल, श्रम, सहनशक्ति और शरीररूप उपधि को जानकर यदि आहार या विहार में प्रवृत्ति करता है तो वह अल्प कर्मों से बँधता है, अन्यथा देश, कालादि का विचार किये बिना आचरण करने पर बहुत कर्मबन्ध करता है।

इससे स्पष्ट है कि अवस्था (बाल, वृद्ध, श्रमित, गिलान) का विचार करते हुए तथा देश-कालादि का विचार करते हुए ही मुनि को आहारादि में प्रवृत्ति करना चाहिए। शक्ति का विचार किए बिना यदि अति तप किया जायेगा तो वह उसी प्रकार चरमरा जायेगा जैसे क्षमता से अधिक भार लादने पर बैलगाड़ी। इसी प्रकार शक्त्यनुसार तपादि न करने पर उपयोगहीन लोहे की मशीनरी के समान जंग लगने से विनाश। अत: दोनों का समन्वय आवश्यक है। यहाँ इतना विशेष है कि साधु को भोजन में, उपवास में, गुहादि-निवास स्थान में (आवसय = वस्तिका में) विहार में, शरीर के परिग्रह में, सहवर्ती मुनियों में और विकथाओं में ममत्वभाव (णिबद्ध) नहीं रखना चाहिए। सर्वदा प्रमादरहित होना चाहिए क्योंकि प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति से मुनिपद का भङ्ग तथा हिंसादि का दोष होता है। जैसा कि कहा है -

भत्ते वा खवणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्मि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि।। प्रव0 3.15
अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सा सततत्ति मदा।। प्रव0 3.16

अपवादमार्गी मुनि के कमण्डलु आदि उपकरण उत्सर्गमार्गों के नहीं - देश और काल के दोष से अल्पशक्ति होने पर परमोपेक्षारूप संयम-धारण की शक्ति न होने पर आहार-विहार आदि क्रियाओं के लिए संयमपालन में सहायक अपवादमार्ग से ग्राह्य साधु के उपकरण बतलाते हुए कहा है (1) जो अप्रतिक्रुष्ट (अनिन्दित हिंसादि उपायों से अजन्य या हिंसादि के अजनक) हों, (2) असंयमी मनुष्य जिसे प्राप्त न करना चाहते हों, (3) ममत्व के अजनक हों तथा (4) अल्प हों। इस सिद्धान्तानुसार दिगम्बर जैन मुनि के उपकरण निम्न बतलाए हैं-(1) शारीरिक शुद्धि के लिए एक कमण्डलु जो लकड़ी का बना हो; धातु या चर्मादि का बना न हो, (2) जीवों का विघात रोकने के लिए एक मयूरपिच्छ, (3) उपयोग की स्थिरता एवं ज्ञानवृद्धि के लिए एक या दो शास्त्र। उत्सर्ग मार्ग से ये उपकरण यद्यपि परिग्रह हैं परन्तु अल्पशक्तिधारक मुनियों का इनके बिना निर्वाह नहीं हो सकता है। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने अपवाद रूप में इनके ग्रहण का विधान किया है। साधु को इनमें ममत्व नहीं होना चाहिए। ये संख्या में न तो अधिक (एकाधिक) होना चाहिए और न संयमविघातक होना चाहिए।

यथार्थ में मुनि के 4 उपकरण हैं-(1) यथाजातरूप (निर्ग्रन्थमुद्रा दिगम्बर मुद्रा), (2) गुरुवचन (तदनुसार प्रवृत्ति), (3) विनय (गुरु विनय) और (4) शास्त्राध्ययन। ये चारों ही शरीराश्रित हैं अत: परिग्रह रूप हैं और अन्त में त्याज्य भी हैं। उत्सर्ग मार्ग में इनकी आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि उत्सर्गधर्म वस्तुधर्म है परन्तु वह अन्तिमावस्था = कैवल्यावस्था है।

युक्ताहारी मुनि निराहारी कैसे ?-आकांक्षा और कषायरहित मुनि को युक्ताहारी (योग्य आहारी) होना चाहिए। युक्ताहार है- (1) एक बार भोजन (2) अपूर्ण उदर भोजन (स्वल्पाहार), (3) यथालब्ध (जैसा भी सरस या नीरस मिले वैसा) भोजन, (4) भिक्षा-वत्ति से प्राप्त भोजन, (5) रस की इच्छा से रहित भोजन तथा (6) मधुमांसादि से रहित भोजन। जैसा कि कहा है -

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं।। प्रव0 3.29

केवल शरीर रूप परिग्रह से युक्त परन्तु शरीर में ममत्व से रहित तथा शक्ति को न छुपाते हुए तपाभिलाषी एषणा दोष से रहित निर्दोष अन्न की भिक्षा लेने वाले मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी निराहारी हैं क्योंकि उसका आत्मा परद्रव्य का ग्रहण न करने से निराहार स्वभावी हैं तथा एषणादोषशून्य भिक्षा वाला है। जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार 3.27 गाथा की टीका में कहा है 'स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभेक्ष्यत्वाच्च युक्ताहार: साक्षादनाहार: एव स्यात् । आ0 कुन्दकुन्द ने भी कहा है -

जस्स अणेसणमप्पा तंपि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा।।
केवलदेहो समणो देहे ण ममेत्तिरहिदपरम्मो।
आउत्तो तं तवसा अणिगूहं अप्पणो सत्तिं ।। प्रव0 227-228

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मोक्षाभिलाषी मुनि को देश कालानुरूप तथा अवस्थानुसार अपनी शक्ति को न छुपाते हुए उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का सापेक्ष भाव से आश्रय लेना चाहिए। यद्यपि उत्सर्ग मार्ग को वस्तुस्वभाव कहा गया है परन्तु वह किसे कहा गया है ? इसका विचार भी आवश्यक है। दोनों का समन्वय ही श्रेयस्कर है। अपवाद मार्ग का मतलब स्वेच्छाचार या शिथिलाचार नहीं है। अत: 'अपनी शक्ति को न छुपाते हुए तपादि करना चाहिए ऐसा कहा गया है। शक्ति से न अधिक और न कम यही तात्पर्य है। मूलाचार में तथा उत्तराध्ययन सूत्र में भी देश-कालानुरूप धर्मोपदेश का विधान है। अहिंसा, संयम और रत्नत्रय की प्राप्ति जैसे हो वही धर्म है, बाकी बाह्य-क्रियायें हैं।

जो बात आहार के सन्दर्भ में है वही विहारादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। स्याद्वाद-सिद्धान्त कभी भी एकान्तवाद का प्रतिपादन नहीं करता है। आ0 कुन्दकुन्द ने भी देश-कालानुरूप उत्सर्ग-अपवाद मार्ग के समन्वय का विवेचन किया है।

जैन साहित्य में श्री हनुमान्

महाबली हनुमान् की गणना जैन पुराणों में शलाकापुरुषों (प्रसिद्ध श्रेष्ठ महापुरुषों) में की जाती है। शलाकापुरुषों की संख्या अधिकतम 169 है-(24 तीर्थङ्कर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 बलभद्र, 9 प्रतिनारायण, 24 कामदेव, 24 तीर्थकर पिता, 24 तीर्थङ्कर माता, 9 नारद, 11 रुद्र तथा 14 कुलकर)। ये सभी महापुरुष (प्रतिनारायणों को छोड़कर) तद्भव मोक्षगामी या निकट भविष्य (1-2 भवों) में मोक्षगामी भव्यजीव माने जाते हैं।[1] रुद्र और नारद शीघ्र मोक्षगामी नहीं माने गए हैं।[2] राम की गणना आठवें बलभद्र में, लक्ष्मण की गणना आठवें नारायण में, रावण की गणना आठवें प्रतिनारायण में तथा हनुमान की गणना बीसवें कामदेव में की जाती है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के काल में एक कामदेव होता है, जो अपने रूप, बल, विद्या आदि में लोकप्रिय होता है। हनुमान् बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के समय के कामदेव हैं। अतएव वे मुनिसुव्रतनाथ के आराधक रहे हैं।

श्री हनुमान् वीतरागी एवं न्यायप्रिय पुरुषोत्तम राम के अनन्य सहयोगी रहे हैं। उनकी कार्यसिद्धि के लिए उन्होंने स्नेहवश गुप्तचर का भी काम करके सीता के अन्वेषण में अथक सहयोग किया है। हनुमान् का प्रवेश रामकथा में किष्किन्धा नगरी में होता है, जहाँ सुग्रीव सहित अनेक बलवान् योद्धा सीता को लङ्का से वापिस लाने की मन्त्रणा कर रहे हैं। सब ओर से दुर्गम लङ्कानगरी में विद्या-बलशाली पवनञ्जय-नरेश पुत्र हनुमान् ही प्रवेश करने में समर्थ हैं, ऐसा विचार कर श्रीभूति नामक सन्देशवाहक हनुमान् को लाने के लिए श्रीपुर भेजा जाता है। हनुमान राम के न्यायसङ्गत कार्य में सहायता करने किष्किन्धा आते हैं। राम, सुग्रीव आदि हनुमान् का भव्य स्वागत-सत्कार करते हैं। पश्चात् सीता-अन्वेषणार्थ ससैन्य विमान पर आरूढ़ होकर दुर्गम लङ्कानगरी में प्रवेश करते हैं। लङ्का में पहुँचकर वे सर्वप्रथम विभीषण से मिलते हैं और उसे रावण के दुष्कृत्य के लिए उपालम्भ देते हैं। रावण को न्यायमार्ग की बात समझाने को परामर्श भी देते हैं। वहाँ से चलकर सीता जी की वाटिका में पहुँचते हैं। हनुमान् के सुदर्शन व्यक्तित्व से सीता जी आश्वस्त होती है तथा राम-लक्ष्मण का कुशलक्षेम पूछती हैं। विगत दस दिनों से सीता जी निराहार थीं। अत: हनुमान् उन्हें आश्वस्त करके हठपूर्वक कुछ फलादिक ग्रहण करने हेतु सहमत करते हैं। पश्चात् हनुमान् द्वारा उपवन नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है, हनुमान को पकड़कर बाँधा जाता है और हनुमान् द्वारा लङ्कादहन किया जाता है।

युद्ध में शक्ति लगने पर जब लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं, तो हनुमान सञ्जीवनी जड़ी-बूटी वाले पर्वत को लेकर नहीं आते, अपितु विशल्या नामक स्त्री चिकित्सिका को ससम्मान लाते हैं। हनुमान् इस तरह राम की सब प्रकार से सहायता करते हैं। वे रूपवान् और तेजस्वी तो थे ही, साथ ही संयमी, धैर्यवान्, विनम्र, दृढ़प्रतिज्ञ, प्रभावक एवं जैन धर्मानुयायी सद्गृहस्थ भी थे।[3]

एक दिन अपनी रानियों के साथ सुमेरु पर्वत की वंदना को जाते समय रात्रि में उल्कापात देखकर वे संसार से विरक्त हो जाते हैं। उनकी आँखों के समक्ष संसार की असारता का चित्र दिखलाई देने लगता है। फलस्वरूप राम की तरह हनुमान् भी साढ़े सात सौ विद्याधरों के साथ जैनमुनि की दीक्षा ले लेते हैं। पश्चात् घोर तपश्चरण करके कर्मबन्धन को शिथिल करते हैं और महाराष्ट्र प्रान्त के तुङ्गीगिरी से शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।[4] प्रत्येक जैन निर्वाणकाण्ड के निम्न प्राकृत पद्य को पढ़कर अनन्त सिद्ध भगवन्तों की अर्चना करते हुए राम, सुग्रीव, गव, गवाक्ष, नील, महानील के साथ हनुमान् को प्रतिदिन प्रणाम समर्पित करते हैं -

राम-हनू-सुग्गीओ-गवय-गवाक्खो य जीय-महणीलो।
णवणवदीकोड़ीओ तुङ्गीगिरी णिव्वुदे वंदे।।8।।

हनुमान् के छः पूर्वभव और उनके जन्म की घटना।

हनुमान् अपने पूर्वभव में लान्तव स्वर्ग में देव थे। वहाँ के भोगों को भोगने के बाद उन्होंने इस मनुष्य लोक में जन्म लिया। लान्तव स्वर्ग के देव से भी पूर्ववर्ती क्रमशः भव थे—सिंहवाहन राजपुत्र, स्वर्ग में देव, सिंहचन्द्र राजपुत्र, स्वर्ग में देव, दमयन्त राजपुत्र। ये हनुमान् के छः पूर्वभव हैं। इनमें तीन स्वर्गलोक सम्बन्धी हैं और तीन मनुष्य लोक सम्बन्धी।[5]

वर्तमान भव में हनुमान के पिता थे पवनञ्जय जो विजयार्थ पर्वत के दक्षिणभाग में स्थित आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद तथा उनकी धर्मपत्नी केतुमती रानी के पुत्र थे। पवनञ्जय धर्मप्रिय राजा थे तथा उनका विवाह महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र की कन्या अञ्जनासुन्दरी से हुआ था, परन्तु पापकर्मोदय से 22 वर्ष तक दोनों का मेल नहीं हो सका। पवनञ्जय यद्यपि अञ्जना के सौन्दर्य पर मुग्ध थे, किन्तु अञ्जना की सखि द्वारा अपनी निन्दा सुनकर अञ्जना से रुष्ट हो जाते हैं और विवाह हो जाने पर भी उसके पास नहीं जाते हैं। पवनञ्जय की इस कठोरता और अञ्जना की सहनशीलता को देखकर सभी आश्चर्य करते हैं।

एक समय युद्ध में रावण की सहायतार्थ पवनञ्जय युद्ध क्षेत्र में जाते हैं। नदी तट पर सैन्य शिविर ठहरता है। वहाँ चकवा के वियोग में चकवी के असह्य विलाप को देखकर पवनञ्जय को अञ्जना की स्मृति हो जाती है। वे सोचने लगते हैं के रात्रि के वियोग में चकवी की यदि यह पीड़ा है तो निर्दोष अञ्जना की क्या स्थिति होगी।' बस क्या था, सेना को वहीं छोड़, रात्रि में ही अञ्जना के पास पहुँच जाते हैं। रात्रि विश्राम के बाद पवनञ्जय प्रभात होने से पूर्व ही बिना किसी से कुछ कहे-सुने सेना के शिविर में वापिस चले जाते हैं। इधर पति मिलन के फलस्वरूप अञ्जना गर्भवती हो जाती है। जब गर्भ के लक्षण प्रकट होते हैं तो उसे कलङ्किनी समझ घर से बाहर निकाल दिया जाता है। दर-दर भटकती हुई अञ्जना निर्जन वन की एक गुफा में विराजमान दिगम्बर वीतरागी मुनि के पास पहुँचती है। उनके मुख से तद्भव मोक्षगामी कामदेव हनुमान् को गर्भ में जानकर अञ्जना प्रसन्न होती है तथा शुभ मुहूर्त में एक पुत्र को जन्म देती है। इसी समय आकाशमार्ग से जाते हुए राजा प्रतिसूर्य जब नारी की चीत्कार सुनते हैं तो अपने विमान को नीचे उतारते हैं। परस्पर परिचय से ज्ञात होता है कि राजा प्रतिसूर्य अञ्जना के मामा हैं। मामा के अनुरोध पर अञ्जना पुत्र के साथ विमान पर बैठकर जब आकाशमार्ग से मामा के घर हनुरूह द्वीप जा रही होती है, तभी पुत्र हनुमान् बालचाञ्चल्य के कारण विमान से नीचे एक विशाल शिला पर गिर पड़ते हैं, परन्तु हनुमान् को जरा भी चोट नहीं लगती है, अपितु जिस शिला पर वे गिरते हैं वह शिला चकनाचूर हो जाती है और पुत्र एक शिलाखण्ड पर सुखपूर्वक खेलने लगते हैं। पश्चात् अञ्जना सहित सभी हनुरूह द्वीप जाते हैं। हनुरूह द्वीप पहुँचकर बालक का जन्मोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है और उसके संस्कार किए जाते हैं।

इधर युद्ध में विजयप्राप्ति के बाद जब पवनञ्जय घर वापिस आते हैं तो अञ्जना के मृषा अपवाद की घटना को जानकर बहुत दुःखी होते हैं तथा उन्मत्त की तरह जंगलों में भटकते हुए एक दिन हनुरूह द्वीप पहुँचते हैं। पुण्योदय से अपनी पत्नी अञ्जना और पुत्र हनुमान् को पाकर अतीव प्रसन्न होते हैं, पश्चात् दोनों को साथ लेकर आदित्यपुर आ जाते हैं।

हनुमान् नामकरण का हेतु

हनुरूह द्वीप में जन्म-संस्कार की क्रियायें होने से इनका नाम 'हनुमान्' रखा जाता है तथा शिला को चूर्ण-चूर्ण करने के कारण 'श्रीशैल' नाम प्रसिद्ध होता है।[6] पवनञ्जय के औरस पुत्र होने से 'पवनसुत' तथा अञ्जनापुत्र होने से 'आंजनेय' भी प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं।

इस कथानक से यह भी सिद्ध है कि ये विद्याधर जाति के मनुष्य थे बन्दर नहीं। ये अञ्जना और पवनञ्जय के औरस पुत्र थे, वायु देवता से इनकी उत्पत्ति नहीं हुई थी।[7]

वानरवंश नामकरण का हेतु

स्वयम्भूदेव के पउमचरिउ में वर्णन आता है कि अयोध्या के सगर चक्रवर्ती राजा ने अपने पुत्र भगीरथ को राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सगर के बाद 64वीं पीढ़ी में कीर्तिधवल अयोध्या के राजा बने। एक बार उनका साला श्रीकण्ठ सपत्नीक उनके यहाँ आया। कीर्तिधवल ने प्रसन्न होकर उसे वानरद्वीप उपहारस्वरूप दिया। श्रीकण्ठ ने पहाड़ी पर किष्कपुर बसाया। पश्चात् वहाँ के राजा अमरप्रभ हुए। उन्होंने लङ्का की राजकुमारी से विवाह किया। नववधू जब ससुराल

आई तो वह आँगन में बन्दरों के सजीव चित्र देखकर भयभीत हो गई। फलस्वरूप राजा अमरप्रभ चित्रकार पर नाराज हुए। जब राजा को मन्त्रियों ने बतलाया कि उनके परिवार का बन्दरों से पुराना सम्बन्ध हैं, उसे तोड़ना उचित नहीं है, तब राजा ने 'वानर' को अपना राजचिह्न बना दिया। इस तरह ध्वजा पर राजचिह्न वानर होने से ये वानरवंशी कहलाए, पशुजाति के नहीं।

मोक्षप्राप्ति

एक दिन हनुमान् अपनी रानियों के साथ सुमेरु पर्वत की वन्दना को जाते समय रात्रि में उल्कापात देखकर संसार से विरक्त हो जाते हैं। उनका आँखों के समक्ष संसार की असारता का चित्र दिखलाई देने लगता है। फलस्वरूप राम की तरह हनुमान् भी अपने साढ़े सात सौ अनुयायियों के साथ दिगम्बर जैन मुनि की दीक्षा ले लेते हैं। पश्चात् घोर तपश्चरण करके कर्मबन्धन को शिथिल करते हैं और महाराष्ट्र प्रान्त के तुङ्गीगिरी से शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।[8]

जैन परम्परानुसार जो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, उसे 'सिद्ध' कहते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् पूज्य हो जाते हैं। आज प्रत्येक जैन निर्वाणकाण्ड के पद्य को पढ़कर, जिसका उल्लेख इस लेख में पूर्व में किया जा चुका है, अनन्त सिद्ध भगवन्तों की अर्चना करते हुए राम, सुग्रीव, गव, गवाक्ष, नील, महानील आदि के साथ हनुमान् को नमस्कार समर्पित करते हुए अर्घ्य चढ़ाते हैं।

इस तरह जैन कथा-साहित्य में हनुमान् का उज्ज्वल चरित्र अङ्कित है। रूप-सौन्दर्य के कारण इनकी गणना कामदेवों की जाती है। मोक्षगामी श्रेष्ठ पुरुषों की तरह आपके सुडोल एवं बलिष्ठ शरीर की संरचना प्रशस्त (समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहनन वाली) थी। इनकी विशेषताएँ थीं-

1. ये विद्याधर जाति के मनुष्य थे, बन्दर नहीं। बन्दर इनका राजचिह्न था।
2 लांगल इनका पाश (शस्त्र) था, पूँछ नहीं।[9]
3. पवनञ्जय राजा और अञ्जना सुन्दरी की औरस सन्तान थे, न कि वायुदेवता से इनकी उत्पत्ति हुई थी।[10]
4. जन्मकाल के समय ये विमान से नीचे गिर गए थे, जिससे शिला चकनाचूर हो गई थी, इन्हें चोट नहीं आई थी। इन्द्र ने इन पर वज्र प्रहार नहीं किया था।[11]
5. सुग्रीव के अधीन नहीं थे, अपितु श्रीपुर के स्वतन्त्र राजा थे।[12]
6. विशल्या नामक स्त्रीचिकित्सिका को ससम्मान लाए थे, न कि सञ्जीवनी प्राप्ति के लिए पर्वत उठाकर लाए थे।
7. ये विपुल सेना के साथ सीता अन्वेषण के लिए आकाशगामी विमान में बैठकर दुर्गम लङ्का में गए थे, न कि आकाश में उड़ते हुए।[13]
8. पैरों से लङ्का को ध्वस्त किया था।[14]
9. सूर्य को फल समझकर उसे खाने की घटना नहीं है।
10. हनुरुह द्वीप में जन्म संस्कार होने से हनुमान् नाम रखा गया था। पवनञ्जय पुत्र होने से पवनसुत तथा शिला चकनाचूर करने की घटना से श्रीशैल कहलाते हैं।[15]
11. रावण के साथ पारिवारिक सम्बन्ध थे। वरुण युद्ध में उनकी सहायता की थी जिससे प्रसन्न होकर रावण ने अपनी बहिन चन्द्रनखा की कन्या अनङ्गपुष्पा से विवाह कराया था[16] परन्तु सीता-अपहरण से नाराज होकर राम की सहायता की।
12 हनुमान् की अनेक रानियाँ थी[17], परन्तु बाद में ब्रह्मचारी बनकर घोर तपस्या की और परमपद (मोक्ष) प्राप्त किया।
13. दिगम्बर जैन धर्म के अनुनायी थे।
14. रावण के यहाँ रहते समय सती सीता ने अपने उपवास व्रत को हनुमान् के अनुरोध पर तोड़ा था।
15. लङ्का जाकर सर्वप्रथम विभीषण से सम्पर्क करते हैं और रावण को नीति की सलाह देने की प्रेरणा देते हैं।
16. बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के काल में उत्पन्न बीसवें कामदेव हैं।

सन्दर्भ सूची

1. तिलोयपण्णत्ति 4.1472-1673
2. तिलोयपण्णत्ति 4.1470, 1440-1442, त्रिलोकसार 835, 841, हरिवंशपुराण 60.547
3. पद्मपुराण

4. पद्मपुराण 111.44-45, 112.76
5. पद्मपुराण 17.142-148, 151, 152, 154, 162, 307
6. पुरे हनिरुहे यस्माज्जातः संस्कारमाप्तवान्।
हनूमानिति तेनागात्प्रसिद्धिं स महीतले। प.पु.17.403॥
चूर्णितश्च ततः शैलस्तेनासौ पतनात्तदा।
श्रीशैल इति तेनासावस्माभिर्विस्मितैः स्तुतः।। प.पु. 18.122॥
7. वाल्मीकि रामायण के अनुसार ब्रह्मा का निर्देश पाकर अनेक देवताओं ने अप्सराओं, यक्षिणियों, नागकन्याओं, किन्नरियों, विद्याधरियों, वानरियों आदि के साथ सम्भोग करके हजारों पुत्र उत्पन्न किए। जैसे ब्रह्मा से जामवान्, सूर्य से सुग्रीव, विश्वकर्मा से नल, अग्नि से नील, वायु से हनुमान्। जैन कथानुसार देवताओं से वानरवंशियों की उत्पत्ति नहीं हुई। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता नहीं थे, अपितु तत्तत् नामधारी मनुष्य थे। वानर नाम से एक मानव जाति थी। जिन विद्याधर राजाओं का राजचिह्न वानर था वे वानरवंशी कहलाते थे । प. पु. 6.214, 84-87, 107-122 162-191, 182, 214
8. देखें, निर्वाणकाण्ड 8
9. कश्चिल्लांगलपाशेन विद्यारचितमूर्तिना। प. पु. 19.54
10. प. पु. 16.166-213
11. प. पु. 17.391
12. प. पु. 49.1-3
13. प. पु. 49.113-116
14. प. पु. 53.202-204; 263-266
15. देखें, टि0 6
16. कैलासकम्पोऽपि समेत्य लङ्कां विधाय सम्मानमतिप्रधानम्।
महाप्रभां चन्द्रमखातनूजां ददौ समीरप्रभवाय कन्याम्।। 101
17. विवाह सम्बन्धों के लिए देखें, प. पु. 19.102 पर्व 19

महावीर की दृष्टि में जाति, वेष, लिङ्ग आदि का कितना महत्त्व ?

सब प्रकार के कर्मबन्धनों से छुटकारा पाकर आत्मा का अपने शुद्धस्वरूप में प्रतिष्ठित होने का नाम 'निर्वाण', 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है। इसीलिए इसे 'आत्मवसति' भी कहा गया है।[1] इस अवस्था की प्राप्ति में आत्मबाह्य जाति (वर्ण), वेष, लिङ्ग, वय और सङ्घ आदि (शरीर आदि) का कितना महत्त्व है ? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जाति आदि बाह्य अवस्थाएँ कर्मजनित (नाम, गोत्र और आयु कर्म के प्रभाव से उत्पन्न) हैं। अतः निर्वाण लाभ की दृष्टि से निश्चयनय से इनका कोई महत्त्व नहीं है। व्यवहारनय से कथञ्चित् महत्त्व है। इतना अवश्य है कि उत्तम जाति, वेष, लिङ्ग आदि निर्वाणलाभ के लिए सहायक हैं, अनिवार्य निश्चियनय से नहीं।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा का दर्शन किया।[2] जाति आदि के भेद से उसमें जो भेद दिखलाई दिया, उसे औपाधिक भेद या बाह्यभेद या व्यावहारिक भेद के नाम से अभिहित किया। यह औपाधिक भेद परमार्थ के प्रति अकिञ्चित्कर है। अतः आगमग्रन्थों में बाह्य लिङ्ग आदि की अपेक्षा आभ्यन्तरिक शुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है और आभ्यन्तरिक शुद्धि के अभाव में बाह्यशुद्धि की निन्दा करते हुए उसे निःसार बतलाया है। बाह्यलिङ्गादि मात्र तो बाह्यरूपादि के परिचायक हैं, कार्यसाधक नहीं।[3]

जाति (वर्ण)

उत्तराध्ययन सूत्र में जन्मना जातिवाद का खण्डन करते हुए स्पष्ट कहा है - कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही जीव शूद्र होता है।[5] कोई जाति विशेष नहीं है। केवल सिर मुडाने से श्रमण, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण, जंगल में रहने से मुनि और कुशा आदि धारण करने से तपस्वी नहीं हो जाता; अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप करने से तपस्वी होता है।[6] इसी तरह आदिपुराण में भी कहा है-जातिनामकर्म

के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्यजाति एक है, यदि उसके चार भेद माने जाते हैं तो वह केवल व्यवहार से आजीविका के कारण। जैसे–व्रत स्वीकार करने से ब्राह्मण, आजीविका के लिए शस्त्रधारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करने से वैश्य और सेवावृत्ति स्वीकार करने से शूद्र।[7] पद्मचरित में आचार्य रविसेन ने कहा है – 'व्रतों में स्थित चाण्डाल को देवगण ब्राह्मण जानते हैं।' हरिकेशबल मुनि ने शूद्र होकर भी जैनजगत् में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी।[9] सागारधर्मामृत में पं0 आशाधरजी ने लिखा है–''उपकरण, आचार और शरीर की पवित्रता से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान जैनधर्म धारण करने का अधिकारी है, क्योंकि जाति से हीन भी आत्मा कालादि लब्धि के आने पर श्रावकधर्म की आराधना करने वाला होता है।[10] इस तरह के अनेक उल्लेख जैन[11] तथा अजैन ग्रन्थों[12] में मिलेंगे जिनसे स्पष्ट है कि जाति 'निर्वाण' प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं है। यदि ब्राह्मण जघन्य कार्यों को करता है तो वह सच्चा ब्राह्मण नहीं है और निन्द्यकार्य करने वाला साधु सच्चा साधु नहीं है क्योंकि बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग की शुद्धि एवं सत्कार्यों से ही व्यक्ति महान् होता है। अच्छी जाति में जन्म होने से जातिगत अच्छे संस्कार पैदा होते हैं, जिससे व्यक्ति निर्वाण की ओर द्रुतगति से बढ़ सकता है। निर्वाण लाभ उसी भव में न भी मिले परन्तु उस मार्ग पर चलकर अगले भवों में प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही वेष आदि के विषय में जानना चाहिए।

वेष –

उत्तराध्ययन सूत्र के केशि–गौतमीय संवाद में इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है – 'विज्ञान से जान कर धर्म–साधनभूत उपकरणों की आज्ञा दी जाती है, बाह्यलिङ्ग (चिह्न, वेष आदि) तो लोक में मात्र प्रतीति कराते हैं कि अमुक साधु है, परन्तु मोक्ष के प्रति सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।[13] इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा उपदिष्ट साधु के वस्त्रसम्बन्धी विधान में परिवर्तन किया।[14] मोक्षार्थी चाहे 'सचेल' हो या 'अचेल' पीतवस्त्रधारी हो या श्वेतवस्त्रधारी इससे निर्वाण–प्राप्ति में प्रतिबन्धकता नहीं आती है। यदि मोक्षार्थी जल से भिन्न कमल की तरह निर्विकारभाव से वस्त्रादि धारण करता है तो, नहीं धारण किए हुए की तरह है और यदि वस्त्रादि के प्रति आसक्त है, मूर्च्छावान् है तो वस्त्रधारण न करके भी वस्त्रधारी के तुल्य है । हाँ ! इतना अवश्य है कि वेष यदि विकार पैदा न करने वाला हो तो वह निर्वाणप्राप्ति में अधिक सहायक होता है। दिगम्बर परम्परा में मुनि को नग्नवेश आवश्यक है।

लिङ्ग –

दिगम्बर–परम्परा में साक्षात् मुक्ति का अधिकारी केवल पुरुष को ही बतलाया गया है; जबकि श्वेताम्बर–परम्परा में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[15] ऐसा भेद होने पर भी दिगम्बर–परम्परा में स्त्री को दीक्षा लेने की अधिकारिणी बतलाया गया है, जिससे उसके लिए भी जन्मान्तर में मुक्ति का द्वार खुल जाता है । वस्तुत: मुक्तिप्राप्ति के समय तो व्यक्ति निर्वेद (पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक के वेद से रहित) होता है। राजीमती आदि उदात्त चरित्रवाली नारियों के जैन साहित्य में विपुल प्रमाण हैं। जिन्होंने स्वयं के लिए तो मुक्ति का पथ खोला ही, साथ ही भटके हुए पुरुषों को भी मुक्ति की ओर अग्रसर किया।

वय –

अवस्था भी मुक्ति के लिए प्रतिबन्धक नहीं है। शास्त्रों में इतना अवश्य है कि 8 वर्ष की उम्र के बाद मनुष्य दीक्षा ले सकता है। उसके पश्चात् एक वर्ष की अवधि बीतने पर शुक्ललेश्या का अधिकारी होता है। इससे प्रमाणित होता है कि इस अवस्था तक व्यक्ति की धर्माराधना में सहायक शारीरिक शक्तियाँ कर्म के प्रभाव से पूर्ण विकसित नहीं हो पाती हैं। मुक्ति का द्वार तो सर्वदा सभी के लिए खुला रहता है। गजसुकुमार, अतिमुक्तक, आदि बाल्यवय में, भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र, अनाथी, मृगापुत्र आदि युवावस्था में, भृगुपुरोहित, उसकी पत्नी, इषुकार राजा तथा उसकी पत्नी आदि युवावस्था के बाद दीक्षा लेते हैं। अरिष्टनेमि और राजीमती विवाह की मङ्गलवेला में दीक्षा ले कर निर्वाणलाभ करते हैं। दिगम्बर परम्परा में राजीमती के तद्भव निर्वाण की बात नहीं है।

सङ्घ

सङ्घ कई तरह के होते हैं। जैसे–जैनसङ्घ, साधुसङ्घ, साध्वीसङ्घ, श्रावकसङ्घ श्रविका सङ्घ, दिगम्बरसङ्घ श्वेताम्बरसङ्घ आदि। जाति, वेष आदि की तरह ही सङ्घ की भी स्थिति है। इतना अवश्य है कि सत्सङ्घ होने से आत्म–शोधन का अधिक अवसर मिलता है और असत्सङ्घ होने से आत्मशोधन की संभावनाएँ कम होती हैं। अत: सर्वत्र सत्सङ्गति का विधान किया गया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सत्सङ्घ के न मिलने पर मुक्ति नहीं मिलेगी। यह

तो आत्मा के अपने परिणामों पर निर्भर है। श्वेताम्बरों के उत्तराध्ययन सूत्र में एक समय में मुक्त होने वाले जीवों की गणना के प्रसङ्ग में विभिन्न स्थानों, विभिन्न धर्मावलम्बियों एवं विभिन्न लिङ्गवालों की पृथक् पृथक् संख्या गिनाई गई है। जैसे[16]–

मुक्त होनेवाले जीव	**अधिकतम संख्या**	**मुक्त होनेवाले जीव**	**अधिकतम संख्या**
पुरुष	108	शरीर की सबसे कम अवगाहना वाले	4
स्त्री	20	मध्यम अवगाहना	108
नपुंसक	10	ऊर्ध्वलोक से	4
जैनसाधु (स्वलिङ्गी)	108	मध्यलोक से	108
अजैनसाधु (अन्यलिङ्गी)	10	अधोलोक से	20
गृहस्थ	4	नदी आदि जलाशयों से	3
शरीर की सर्वाधिक अवगाहना वाले	2	समुद्र से	2

यहाँ संख्या की हीनाधिकता से इतना सुस्पष्ट होता है कि किनमें क्षमता अधिक है और किनमें कम, किन्हें आत्मशोधन के अवसर अधिक हैं और किन्हें कम। ऊर्ध्वलोकादि से मुक्ति विद्याधरों के द्वारा अपहरण करने की स्थिति में बनती है।

उपसंहार

इन सभी तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सदाचार-पालन करने की सामर्थ्य वाला प्रत्येक व्यक्ति जो संसार के विषयों से विरक्त होकर मुक्ति की अभिलाषा रखता है; चाहे वह किसी भी जाति, लिङ्ग, वय का क्यों न हो, निर्वाणप्राप्ति का अधिकारी है। संसार के विषय भोगों में आसक्त व्यक्ति श्रेष्ठ जाति तथा कुल में उत्पन्न होकर भी मुक्ति के अयोग्य है। जैसे-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। कुलक्रमागत संस्कारों के कारण निम्नजाति में उत्पन्न होने पर धर्म-साधना के अवसर प्रायः नहीं मिल पाते हैं; जबकि उच्चजाति में प्रायः सुलभ होते हैं। इस तरह मुक्ति के प्रति कर्मजनित जाति आदि के अकिञ्चित्कर होने अथवा आवश्यक अङ्ग न होने पर भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि उच्चजाति आदि निर्वाणलाभ की दृष्टि से सहायक अवश्य हैं। दूसरे शब्दों में निश्चयनय से जाति आदि का कोई महत्त्व नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से महत्त्व है। अन्यथा 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है, यह सिद्धान्त ठीक से पल्लवित न हो सकेगा। स्त्री आदि की मुक्ति का समाधान जन्मान्तर से संभव है।

सन्दर्भ सूची -

1. अप्पणो वसहि वए। उत्तराध्ययन सूत्र 14-48
2. वेदान्त दर्शन में भी प्रत्येक आत्मा परमात्मा है; परन्तु वहाँ एक ब्रह्म ही विवर्ताकार नाना रूपों में दिखलाई पड़ता है। वहाँ मुक्तावस्था में जीवात्मा की परमात्मा (ब्रह्म) से भिन्न स्थिति नहीं रहती है, जबकि जैनधर्म में जीवात्मा की परमात्मा से स्वतन्त्र इकाई है, जो मुक्तावस्था में भी बराबर बनी रहती है।
3. जं मग्गहा बहिरियं विसोहि न तं सुइट्ठं कुसला बयंति। 30.12-38।
   तथा देखिए मेरा शोध-प्रबन्ध उत्तराध्ययन सूत्र-एक परिशीलन, पृ0 238-239
4. कम्मुणो बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।।
   वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा । उ0 25/33
5. न दीसई जाइविसेस कोइ। उ0 12/37
6. न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
   न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो॥
   समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
   नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो। उ015/31-32
7. ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
   वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायाच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।। 38/46
8. व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः। 11/20

9. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 12

10. शूद्रोऽप्युपस्काराचारवपु: शुद्ध्याऽस्तु तादृश:।
    जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्।। 2.22

11. वरांगचरित (जटासिंह नंदि) 25/11, उत्तरपुराण (गुणभद्र) 74/488-495

12. आपस्तम्ब धर्मसूत्र। गीता (चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:) शान्तिपर्व 189,4,5

13. विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं। उ0 23.31
    पच्चयत्थं च लोगहसण नाणविहविगप्पणं।
    जत्तथं गहणत्थं च लोगे लिंगपओयणं। उ0 23.32

14. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।
    देसिओ बृद्धमाणेण पासेण य महाजसा।। उ0 23-29

15. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बर: ।।
    प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरै: सह ।। -जिनदत्तसूरि

16. उत्तराध्ययन सूत्र 36.49-54

तीर्थङ्कर चिह्न : एक अनुचिन्तन

जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियों (प्रतिमाओं) पर उत्कीर्ण चिह्नों से ज्ञात होता है कि अमुक मूर्ति किस तीर्थङ्कर की है। यदि तीर्थङ्कर मूर्तियों पर पृथक्-पृथक् चिह्न न होते तो उन्हें पृथक्-पृथक् तीर्थङ्कर के रूप में पहचानना सम्भव न होता, क्योंकि न तो किसी जैन तीर्थङ्कर की मुखाकृति ज्ञात है और न उनकी कोई वेशभूषादि है। सभी प्रतिमायें मनुष्याकृति में बीतरागता को लिये हुए ध्यान की मुद्रा में स्थापित हैं। दिगम्बर प्रतिमायें तो पूर्ण नग्नावस्था में है यद्यपि श्वेताम्बर प्रतिमायें वस्त्र और अलङ्कारों से अलङ्कृत की जाती हैं। परन्तु ये अलङ्करण तीर्थङ्करों की पहचान में कारण नहीं हैं क्योंकि ये अलङ्करण हिन्दू देवी-देवताओं की तरह पृथक्-पृथक् वाहन या शस्त्र विशेष के रूप में नहीं हैं।

प्राचीन परम्परा

मूर्ति पूजा जितनी प्राचीन है उतनी चिह्न-परम्परा प्राचीन नहीं है। प्रारम्भ में तीर्थङ्कर प्रतिमाओं पर पृथक्-पृथक् चिह्न बनाने की परम्परा नहीं थी अपितु उन पर उत्कीर्ण लेखों से ही उनकी पहचान होती थी। मथुरा की कुषाणकालीन (ई. पू. प्रथम शताब्दी से ई. प्रथम शताब्दी) प्रतिमाओं पर तीर्थङ्कर-चिह्न नहीं मिलते हैं। महावीर निर्वाण के 600-700 वर्ष बाद तक मात्र अर्हन्त की प्रतिमायें बनती रहीं। चिह्न सहित तीर्थङ्कर की सर्व प्राचीन प्रतिमा सम्भवत: राजगृह के वैभार पर्वत पर स्थित तीर्थङ्कर नेमिनाथ की है, जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चौथी शताब्दी) के समय की जान पड़ती है। इससे पूर्व की प्रतिमाओं पर तीर्थङ्कर-चिह्न नहीं दिखलाई देते हैं।

सामान्य केवली (तीर्थङ्कर भिन्न अर्हन्त) की मूर्ति में कोई चिह्न नहीं बनाया जाता अपितु मूर्ति के अधोभाग में केवली का नाम लिख दिया जाता है उसी से उसकी पहचान होती है। सामान्य केवलियों में बाहुबली, जम्बूस्वामी, भरत, नङ्ग, अनङ्ग, राम आदि आते हैं इनमें बाहुबली की प्रतिमा का अधिक प्रचलन है जो अपने विशेष स्वरूप (लताओं से वेष्टित शरीर) से भी पहचानी जाती हैं। आदिनाथ, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमायें भी अपने विशेष स्वरूप से पहचानी जाती है।[1] परन्तु कभी-कभी इनमें भ्रम भी हो जाता है क्योंकि कुछ प्रतिमाओं में सम्भवत: शिल्पकार आदि की अज्ञानता या भावनाओं और कल्पनाओं के मिश्रण के कारण विलक्षणता भी देखने को मिलती है।[2]

चिह्नाङ्कन के हेतु -

वसुबिन्दु (जयसेन) ने तीर्थङ्कर चिह्नों के हेतु को बतलाते हुए कहा है 'सुखपूर्वक पहचानने के लिए तथा अचेतन प्रतिमा में संव्यबहारसिद्धि के लिए तीर्थङ्करों में चिह्न बनाए गए हैं। पौराणिक कथानुसार तीर्थङ्करों के जन्मकल्याणक के समय सौधर्म इन्द्र तीर्थङ्करों को सुमेरु पर्वत पर ले जाता है और वहाँ उनका अभिषेक करता है। इसी समय इन्द्र तीर्थङ्कर के दाहिने पैर के अँगूठे पर जो चिह्न देखता है उसे ही वह उस तीर्थङ्कर का चिह्न घोषित करता है -

जम्मणकाले जस्स दु दाहिण पायम्मि होइ जो चिण्हं।

तं लक्खण पाउन्तं आगमसुत्तेसु जिणदेहं ।।

विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थङ्करों के गर्भ जन्म कल्याणक नहीं होते (प्राय: अन्तिम तीन कल्याणक – तप, ज्ञान और मोक्ष होते) हैं। अत: उनके जन्म कल्याणक के अभाव में इस पौराणिक हेतु का खण्डन नहीं किया जा सकता है। एक पक्ष यह भी है कि तीर्थङ्करों के चिह्न के पीछे उनके पूर्व भव या वर्तमान भव की कोई घटना कारण है। जैसे प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ (ऋषभदेव) ने प्रथमतया कृषि की शिक्षा दी थी और कृषि में बैलों की सहायता ली जाती थी। अत: खेती के लिये बैलों की सुरक्षा सूचित करने लिए उनका चिह्न बैल मान लिया गया। धरणेन्द्र और पद्मावती पूर्व भव में सर्प-सपणी थे उनकी प्राण रक्षार्थ भगवान पार्श्वनाथ ने प्रयत्न किया तथा मृत्यु समय उन्हें धर्मोपदेश दिया जिसके फलस्वरूप वे दोनों स्वर्ग में धरणेन्द्र तथा पद्मावती हुए। जब पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव ने उपसर्ग किया तो धरणेन्द्र-पद्मावती ने सर्प-फणावलि बनाकर उनकी सुरक्षा की। इसलिए इनका चिह्न सर्प मान लिया गया। भगवान महावीर अपने पूर्व भव में सिंह के रूप में थे। अत: उनको चिह्न सिंह स्वीकार कर लिया गया। इसी तरह अन्य तीर्थङ्करों के चिह्नों के सम्बन्ध में भी खोज की जा सकती है। परन्तु यह विचारधारा प्रामाणिक नहीं लगती।

तीर्थङ्कर चिह्नों के हेतु के रूप में आज दो अन्य हेतुओं को भी प्रस्तुत किया जाता है-(1) इन चिह्नों के द्वारा जीव-दया, शान्ति,वीत रागता आदि का सन्देश दिया गया है। (2) प्रकृति के साथ मानव जीवन को जोड़कर पर्यावरण-संरक्षण का सन्देश दिया गया है।

इस तरह तीर्थङ्कर चिह्नों के इन पाँच कारणों में से पौराणिक कारण का हम न तो खण्डन कर सकते हैं और न मण्डन क्योंकि यह श्रद्धा का विषय है। सुखपूर्वक पहचान तथा अचेतन में संव्यवहार सिद्धि के रूप में जो हेतु वसुविन्दु ने प्रस्तुत किया है वह युक्तिसङ्गत लगता है। सम्भव है, इसमें अन्य तीन प्रयोजनों को भी दृष्टि में रखा गया हो। तीर्थङ्कर-चिह्नों के निर्धारणार्थ कोई समिति हुई हो ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पौराणिक कारण से भिन्न यदि कोई कारण रहा होगा तो निश्चय ही कोई समिति का आयोजन हुआ होगा, अन्यथा सर्वत्र चिह्न निर्धारण में एकरूपता कैसे आती। चिह्न निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखा गया होगा कि जन साधारण तीर्थङ्करों और चिह्नों को आसानी से समझ सके तथा उनसे कोई सन्देश प्राप्त कर सके। आजकल के राजनैतिक पार्टियों के चुनाव चिह्नों में भी कुछ इसी प्रकार का उपक्रम देखा जाता है।

तीर्थङ्कर चिह्न तालिका-

तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यतानुसार जो तीर्थङ्कर चिह्न मिलते हैं, उनकी तालिका निम्न है-

क्रम	तीर्थङ्कर	दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा	विवरण
1.	आदिनाथ (ऋषभदेव)	वृषभ (बैल)	वृषभ	(आदिनाथ के मस्तक और कन्धों पर जटाएँ भी कहीं-कहीं मिलती हैं) खेती के साधन का प्रतिनिधि। गो= इन्द्रियकुल स्वामी वृषभ (गोपति) जो जितेन्द्रियता, भद्रता, सरलता और अप्रमत्तता का प्रतीक है।
2.	अजितनाथ	गज (हाथी)	गज	हाथी मृत्यु को महोत्सव की तरह वरण करता है। ऐसी मृत्यु (सल्लेखना) भाग्यशालियों को प्राप्त होती हैं। यह विवेक, पराक्रम, साहस, सहिष्णुता, संवेदनशीलता का प्रतीक है।
3.	संभवनाथ	अश्व (घोड़ा)	अश्व	मनरूपी घोड़े का संयम। स्वामिभक्ति = आत्मदर्शन तथा शक्ति का प्रतीक।
4.	अभिनन्दननाथ	वानर (बन्दर)	वानर	डार्विन के मत से बन्दर मनुष्यों का पूर्वज है। वानर जैसी चंचलता को छोड़कर स्थितिप्रज्ञ बनने का सन्देश।
5.	सुमतिनाथ	चक्रवाक (चकवा)	क्रौञ्च (कुरर)	चकवा एक जलीय पक्षी है, जो रात्रि में अपने जोड़े से बिछुड़ जाता (चकबा=कुरर) है। यह स्वानुभूति का प्रतीक है तथा अज्ञान से प्रकाश का द्योतक है। कुरर पक्षी अकिञ्चनता और करुणा का प्रतीक है।
6.	पद्मप्रभ	कोकनद (लालकमल)	लालकमल	ताम्र वर्ण का कमल। अनासक्ति, निर्लिप्तता, करुणा, गौरव, महत्ता तथा सौभाग्य का प्रतीक है।

7.	सुपार्श्वनाथ	नन्द्यावर्त या साथिया	स्वस्तिक(साथिया)	नन्द्यावर्त=वह भवन जिसमें पश्चिम की ओर द्वार न हो। यह परम आनन्द की उपलब्धि का मार्ग है तथा उदय का प्रतीक है। स्वस्तिक (सु-अस्ति=भला होना) एक दूसरे को काटती हुई दो रेखायें जन्म-मरण की तथा उसके चारों सिरों से प्रारम्भ होकर घूमती रेखायें चतुर्गति की प्रतीक हैं। भवभ्रमण के साथ यह मङ्गलकामना का भी प्रतीक है। हिन्दुओं के विघ्न-विनाशक गणेश देवता का लिप्यात्मक रूप स्वस्तिक ही है। सुपार्श्वनाथ के शिरोभाग पर 5 फणों की पंक्ति भी मिलती है।
8.	चन्द्रप्रभ	अर्द्ध चन्द्र	चन्द्र	अर्धचन्द्र विकासोन्मुखता का तथा चन्द्रमा शीतलता का प्रतीक है।
9.	पुष्पदन्त (सुविधिनाथ)	मकर (मगर)	मकर	श्वेताम्बर परम्परा में सुविधिनाथ नाम अधिक प्रचलित है। मकर से मकरध्वज (कामदेव) का भी बोध होता है। यह विषय वासना का प्रतीक है जिससे वचना चाहिए।
10.	शीतलनाथ	स्वस्तिक (साथिया)	श्रीवत्स	श्रीवत्स वक्षस्थल पर उत्कीर्ण कमलाकार चिह्न है। यह परमज्योति का प्रतीक है।
11.	श्रेयांसनाथ	खड्गी (गैंडा)	गैंडा	गैंडा एक शाकाहारी एकदन्त पशु है जिसकी थूथन पर करीब एक फुट लम्बी खाग होती है। घासपात खाकर भी बड़ा बलिष्ठ होता है। एकाग्रता से आत्मरक्षा करता है। चित्त की एकाग्रता का प्रतीक है।
12.	वासुपूज्य	महिष (भैंसा)	महिष	दलदल में डूबा तथा संसार से बेखबर पशु है। एकाग्रता तथा संसार की दलदलता का प्रतीक है।
13.	विमलनाथ	शूकर (सुअर)	वराह (सुअर)	शूकर और वराह एक ही पशु के दो नाम हैं जो समल और विमल का बोधक है। घृणा मतकर वीतरागी बन।
14.	अनन्तनाथ	खड्गी (सेही)	श्येन (बाज)	सेही के शरीर पर नुकीले काँटे होते हैं जिनसे यह आत्मरक्षा करता है। यह शाकाहारी रात्रिचर पशु है, अन्दर काँटे नहीं हैं। अत: आत्म उपलब्धि का प्रतीक है। श्येन शिकार के उपयोग का पक्षी है। पर का मुहरा न बनकर स्व-पर भेदविज्ञानी बनने का सन्देश।
15.	धर्मनाथ	वज्र	वज्र	भाले के फलक जैसा इन्द्र का एक कठोर अस्त्र। दृढ़ता एवं रत्नत्रय की शक्ति का प्रतीक।
16.	शान्तिनाथ	हरिण	हरिण	शाकाहारी सुन्दर पशु। सरलता, सुन्दरता और शान्ति का प्रतीक।
17.	कुन्थुनाथ	छाग (बकरा)	छाग	शाकाहारी, घासपास भोगी एक सीधा पशु। सरलता का प्रतीक तथा विश्वासघात न करने का उपदेशक।
18.	अरहनाथ (अरनाथ)	तगरकुसुम या मत्स्य	नद्यावर्त	तगर=नदी तटों पर पाया जाने वाला एक सुगन्धित लकड़ी का वृक्ष जिससे सुगन्धित तेल निकाला जाता है। वीतरागता की सुगन्धि का प्रतीक। तगरकुसुम का अर्थ मछली (मत्स्य) भी किया जाता है जो रसना इन्द्रिय को जीतने का सन्देश देती है।
19.	मल्लिनाथ	कलश	कलश	कलश (घड़ा) जो पानी से भरा होछ। ज्ञान जल से शरीररूपी कलश को भरने का सन्देश। कलश का अर्थ शिखर भी है जो उन्नति का प्रतीक है।
20.	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म (कच्छप)	कच्छप (कछुआ)	कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है तथा जल कल्मष को धोती रहता है। यह संयम, आत्ममग्नता और स्वच्छता का प्रतीक है।
21.	नमिनाथ	नीलोत्पल (नीलकमल)	नीलोत्पल	यह अनासक्ति और निष्कामवृत्ति का प्रतीक है। पुष्कर और इन्दीवर भी इसे कहते हैं। पुण्डरीक श्वेत कमल को कहते हैं

				जो शुभ्रता और दिव्यता का प्रतीक है।
22.	नेमिनाथ	शङ्ख	शङ्ख	शङ्ख एक जलचर शुभ्र धवल जीव है। इसे कान पर रखने से आवाज सुनाई देती है। यह ज्ञान का प्रतीक है।
23.	पार्श्वनाथ	सर्प (अहि या साँप)	सर्प	सर्प घर से बाहर टेढ़ा तथा घर में घुसते ही सीधा हो जाता है। अत: इसे मुक्ति की ऋजुता और संसार की वक्रता का प्रतीक माना गया है। पार्श्वनाथ के शिरोभाग पर 7, 9,11,1000 फणों वाली फणावलि भी देखी जाती है जो कमठ के उपसर्ग और रक्षा की सूचक है।
24.	महावीर (वर्धमान)	सिंह (सेर)	सिंह	सिंह महावीर का पूर्व भव है। यह पराक्रम का प्रतीक है। महावीर के वर्धमान, वीर, अतिवीर और सम्मति भी नाम हैं।

तीर्थङ्कर चिह्न (क्रमशः)

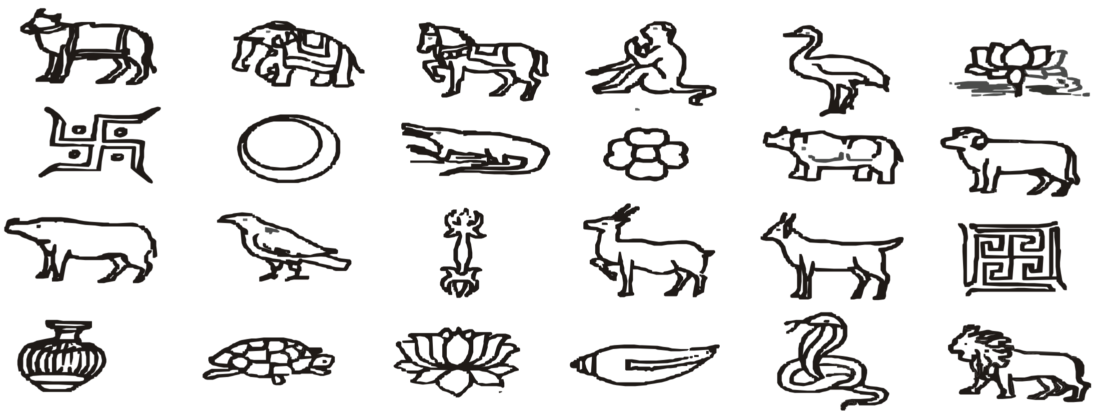

तीर्थङ्कर चिह्नों की इस तालिका को देखने से ज्ञात होता है। कि छ: तीर्थङ्कर चिह्नों (5, 7, 8, 10, 14 और 18 वे तीर्थङ्कर चिह्नों) में श्वेताम्बर, दिगम्बर में मतभेद है। इनमें तीन नए चिह्न (क्रौंच, श्रीवत्स और बाज) हैं और दो चिह्न स्वस्तिक और नन्द्यावर्त तीन स्थानों पर (एक जगह एक साथ और दो जगह पृथक्-पृथक्) हैं। इस तरह कुल तीर्थङ्कर चिह्नों की संख्या 24+3==27 हो जाती है। चन्द्र और अर्धचन्द्र को एक ही माना है। तगर (वृक्ष विशेष) का अर्थ यदि विकल्प से मीन (मछली) भी करेंगे तो एक चिह्न और बढ़ने से कुल चिह्न संख्या 27+1=28 हो जायेगी। इन चिह्नों का जब पृथक्-पृथक् वर्गीकरण किया जाता है तो उभय परम्परानुसार निम्न तालिका बनती है –

	जलचर	थलचर	नभचर	जल-थलचर	वृक्ष या पुष्प	ग्रह नक्षत्र	रेखाकृति	शस्त्र	पात्र	योग	शाकाहारी	मांसाहारी	अन्य कुलपशु
श्वे.	3	10	2	1	2	1	3	1	1	24	9	5	2	16
दिग.	4	11	1	1	2	1	2	1	1	24	10	5	2	17

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जैनों के यहाँ दो प्रकार की आराध्य अर्हन्त मूर्तियाँ पाई जाती हैं तीर्थङ्करों की तथा सामान्य केवलियों की। सभी मूतियाँ वीतरागता एवं ध्यान की खड्‌गासन या पद्मासन मुद्रा में पाई जाती हैं। चिह्नों की परम्परा केवल तीर्थङ्कर मूर्तियों में ही पाई जाती है। हिन्दू देवी-देवताओं की तरह इनके शस्त्र, वाहन आदि न होने के कारण इनकी पहचान के लिए स्थापना निक्षेप का आश्रय लेकर पृथक्-पृथक् चिह्नों की परम्परा को विकास हुआ। इस सन्दर्भ में पौराणिक हेतु के अलावा अन्य हेतुओं का भी समावेश संभव है। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध अवधूतोपाख्यान में अवधूत ऋषि ने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, आग, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्गा, मधुमक्खी, हाथी आदि 24 गुरु जैसों से विवेक बुद्धि प्राप्त की थी। वैसे ही इन चिह्नों से हमें जो शिक्षा मिलती है उसका भी चिन्तन करना चाहिए क्योंकि चिह्नों से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

सन्दर्भ –

1. जटामुकुट या कन्धों पर लहराते केश-गुच्छ से आदिनाथ की, पञ्चफण सर्प से सुपार्श्वनाथ की तथा सप्तफण सर्प छत्र से पार्श्वनाथ की सामान्यत: पहचान होती है।
2. **कुछ विलक्षण प्रतिमायें**-कुण्डलपुर की सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा जिस पर उल्टा स्वस्तिक का चिह्न है जिसे नन्द्यावर्त मान लिया गया है।

कुण्डलपुर में ही सिंह चिह्न युक्त महावीर की प्रतिमा जिस पर केशों का अङ्कन है। अत: कुछ इसे ऋषभदेव की प्रतिमा भी कहते हैं। सिवनी (छपारा) में प्रतिमा के शिरोभाग पर पञ्चफण देखकर सुपार्श्वनाथ का और कछुआ का चिह्न देखकर मुनिसुव्रतनाथ का बोध होता है। सोनागिर की सहस्रफणी प्रतिमा पर उल्टा स्वस्तिक देखकर उसे पार्श्वनाथ की प्रतिमा कहें या सुपार्श्वनाथ की। रामवन के तुलसी संग्रहालय की एक प्रतिमा के सिर पर फणावलि होने से पार्श्वनाथ की, कन्धों पर लहराती जटाओं के होने से आदिनाथ की तथा पीठिका पर चन्द्र चिह्न होने से चन्द्रप्रभु की प्रतीति होती है। सलेहा गाँव (पन्ना जिला) में तृतीय नेत्र वाली आदिनाथ प्रतिमा है। एक ही शरीर में चार एवं सात मुखों वाली चतुर्मुखी तथा सप्तमुखी प्रतिमायें भी मिलती हैं जो सम्भवत: क्रमश: चार अनुयोग और सप्तभङ्गी की सूचना देती है। एक प्रतिमा ऐसी भी है जो आदिवीर कही जाती है क्योंकि इसमें आदिनाथ और महावीर दोनों के चिह्न मिलते हैं। तीसरी आँख भी है।

3. दिगम्बर परम्परा में आज सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक चिह्न ही प्रसिद्ध है जो नन्द्यावर्त से मिलता जुलता है।

भगवान् महावीर का जीवन-सन्देश और वर्तमान युग

आज से 2544 वर्ष पूर्व मानव समाज मिथ्या-अभिमान, अन्धविश्वास और अज्ञान की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था, धर्म के नाम पर यज्ञों में मूक जीवों की बलि दी जाती थी; धार्मिक कृत्यों में अधिकार एक उच्च सम्प्रदाय विशेष के हाथों में था; नारीवर्ग की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव था; शूद्रों को हेय दृष्टि से देखा जाता था; धन एवं कामभोग की पिपासा युद्ध विभीषिका की जननी थी; विचारभेद सह अस्तित्त्व में बाधक था अर्थात् तत्कालीन मानव समाज धार्मिक, नैतिक और सामाजिक कुण्ठाओं से घिरा हुआ था और उसमें क्रान्ति की एक लहर थी। ऐसे समय में भगवान् महावीर ने इस भारत भूमि में जन्म लेकर अन्धविश्वासों को दूर करते हुए प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का दर्शन कराया तथा सह अस्तित्त्व में सहायक अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे परम उपादेय सिद्धान्तों का उपदेश देते हुए उसे अपने जीवन में समा लिया। फलस्वरूप उनसे उस दिव्यरूप की अलौकिक ज्योति से आकृष्ट होकर बहुत से जीव उनके अनुगामी बने, मगर कुछ भव्य जीव ही उनके बतलाए हुए मर्म को समझ सके बाकी तो उनके बाह्यरूप को ही चरम सत्य मानकर भटक गए। यद्यपि भगवान् महावीर का सन्देश जनसामान्य की भाषा में बहुत ही सीधा साधा, आडम्बर विहीन, विचारों की सङ्कीर्णता तथा जातिगत भेदभावों से शून्य था परन्तु उनके अनुयायियों ने उसे भगवान् के प्रति श्रद्धाभाव से अथवा अपनी श्रेष्ठता प्रकाशन की भावना से प्रेरित होकर उसे जटिल और आड़म्बरयुक्त बना दिया।

भगवान महावीर ने जिस धर्म का उपदेश दिया था। उसे गरीब-अमीर, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, बाल-युवक-वृद्ध सभी समानरूप से पालन कर सकते थे; मगर आज यह धर्म गरीब और निम्न जाति के लिए बड़ा महँगा हो गया है। जो अधिक से अधिक रुपयों की थैली भेंट स्वरूप देता है वह भगवान् का सबसे बड़ा भक्त कहलाता है और वही भगवान् की फूलमाल, ज्ञानमाल आदि के ग्रहण करने का अधिकारी समझा जाता है। 'इन्द्रत्व' जैसे सम्मान तथा सिङ्घई सवाई सिङ्घई आदि की सम्मानित उपाधियों को भी वही प्राप्त करता है। आज धर्म के समस्त आदर्शों का मापदण्ड पैसा बन गया है जबकि भगवान् ने सबसे बड़ा पाप धनसंग्रह को बतलाया था। कहा भी जाता है 'लोभ पाप को बाप बखानो।' हम कभी भी धार्मिक क्रियाकलापों को पैसे के बटखरे से नहीं तौल सकते हैं क्योंकि कभी कभी एक पैसा दान करने वाला भी करोड़ों रुपया दान करनेवाले से भारी होता है। अत: भगवान् महावीर ने समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों का मापदण्ड वीतराग अथवा अपरिग्रह की भावना को बनाया। जिसमें जितनी अधिक वीतराग अथवा अपरिग्रह की भावना होगी वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ अथवा धर्मात्मा होगा। इसीलिए भगवान् को पूर्ण वीतरागी और उनके बाह्यरूप को पूर्ण अपरिग्रही बतलाया गया है। जीवों के अध्यात्मिक क्रमिक विकास के जो चौदह गुणस्थान बतलाए गए हैं वे भी वीतरागता और अपरिग्रहता के तारतम्य की कसौटी पर ही निर्भर हैं। वस्तुत: धन सम्पत्ति विविध प्रकार के अनर्थों की ओर ले जानेवाली दुश्चरित्रा वेश्या है और उसके प्रति किया गया राग उलझानेवाला मकड़ी का मायाजाल है। अपरिग्रह से तात्पर्य केवल अर्थसंग्रह करने मात्र से नहीं है अपितु वस्तुमात्र के प्रति ममत्वबुद्धि के त्याग से है। ममत्व दूर हुए बिना धनादि के संग्रह की बुद्धि मिट नहीं सकती है।

रागद्वेष और परिग्रह की भावना से प्रेरित होकर जीवहिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन आदि पाप क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं। अत: भगवान् महावीर ने अपरिग्रह और वीतराग की मंजिल की ओर ले जाने में सहायक अहिंसारूपी सीढ़ी का सहारा लिया। '**जिओ और जीने दो**' का नारा देते हुए अहिंसा को उत्कृष्ट धर्म बतलाया '**अहिंसा परमोधर्म:**' तथा प्रत्येक

आचार विचार सम्बन्धी धार्मिक नियमोपनियमों अथवा विधिविधानों में अहिंसा की भावना को ध्यान में रक्खा। यद्यपि अहिंसा का उपदेश प्राय: सभी सम्प्रदायों के धार्मिक महर्षियों ने दिया परन्तु जितनी सूक्ष्मता से भगवान् महावीर ने इसका उपदेश दिया, उतना अन्य किसी ने नहीं। आज अहिंसा के वास्तविक अर्थ को हम भूल गए हैं और किसी जीव को जान से स्वयं नहीं मारना इतने मात्र को अहिंसा मान बैठे हैं। वस्तुत: हिंसा केवल जीवों को जान से स्वयं मारने अथवा मरवाने मात्र से नहीं होती है अपितु मन में सङ्कल्प करने अथवा अनुमोदन करने से भी हिंसा होती है। अत: मन वचन काय से कृतकारिता अनुमोदनपूर्वक हिंसा का त्याग अहिंसा है। अहिंसा का भी मापदण्ड हिंसा का त्यागमात्र नहीं है अपितु अप्रमत्तता और वीतरागता उसकी कसौटी है। इसीलिए ईर्यासमिति (अप्रमत्तभाव=सावधानीपूर्वक) से चलने वाला साधक चींटी आदि की हिंसा हो जाने पर भी हिंसक नहीं माना गया परन्तु ईर्यासमिति के बिना उन्मत्त की तरह चलने वाला चींटी आदि की हिंसा न होने पर भी हिंसक माना गया है।

देश के ऊपर शत्रु के आक्रमण करने पर बहुजन हिताय शस्त्र उठानेवाला सैनिक, रोग से कराहते हुए रोगी के रोगाणुओं को नष्ट करनेवाला डाक्टर, परिवार के न्यायपूर्वक पालनपोषण अथवा मानवमात्र के पालनपोषण के लिए खेती करते हुए क्षुद्र जीवाणुओं की हिंसा (आरम्भी हिंसा) करने वाला किसान व्यवहार में हिंसक नहीं माना जाता परन्तु चोरबाजारी, उपसञ्चय आदि के द्वारा सीधे हिंसा न करनेवाला मनुष्य दूसरे मनुष्यों के उत्पीड़न में कारण बनने से घोर हिंसक माना गया है। अत: भगवान् महावीर ने उन प्रत्येक मानसिक वाचिक एवं कायिक क्रियाओं को हिंसा का नाम दिया जिनसे दूसरे जीवों को कष्ट हो, परेशानी हो या बुरा लगे। किञ्च, **'हितं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** के सिद्धान्त को गले लगाया। यहाँ इतना विशेष है कि सर्व जनसुखाय की भावना से प्रेरित होकर चोर, डाकू, हत्यारे, जमाखोर आदि दुष्टों को पकड़वाने में राज्याधिकारियों की सहायता करना हिंसा नहीं है अपितु पवित्र कर्तव्य है। जो अपराधी नहीं है उसकी रक्षा करना भी परम धर्म है। यह दूसरी बात है कि जो संसारत्यागी, अरण्यवासी (चतुर्थाश्रमी) साधु हैं वे इन सांसारिक व्यवस्थाओं में रुचि सामान्यत: न लें परन्तु गृहस्थ जो कि अणुव्रती हैं उनका तो यह धर्म है।

वीतराग अथवा अप्रमादभाव रहते हुए जो अज्ञानतावश हिंसा होती है वह पापकर्म के आगमन (आस्रव) में हेतु तो है परन्तु विशिष्ट बन्ध में हेतु नहीं है, क्योंकि कर्मबन्ध तभी होता है जब अन्त:करण में रागद्वेषभाव होता है। जैसे मिट्टी के ढेले जब दीवाल से टकराते हैं तो उनमें यदि आर्द्रता होती है तो वे उस दीवाल से चिपक जाते हैं। अन्यथा टकराकर झड़ जाते हैं। कहा भी है–

'उल्लो सुक्खो य दो छूटा गोलया मट्टियामिया।
दोवि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सोत्थ लग्गई।। उत्तराध्ययन सुत्र, 25.42

द्रष्टव्य है कि यह व्यवस्था कितनी मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक है। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि यदि कोई अबोध बालक (वीतरागी) कोई अपराध या नुकसान कर बैठता है तो उसे हम माफ कर देते हैं और यदि कोई समझदार व्यक्ति रागद्वेष से प्रेरित होकर अपराध करता है तो उसे हम दण्ड देते हैं। अर्थात् रागद्वेष की भावना की हीनाधिकता पर ही दण्ड अथवा कर्म बन्ध की हीनाधिकता निर्भर करती है।

अहिंसा और वीतरागता की भावना से प्रेरित होकर भगवान् ने अनेकान्त और स्याद्वाद का उपदेश दिया। यह एक ऐसा अमूल्य मन्त्र है कि इसे जो स्वीकार करता है वह संशयातीत होकर सर्वत्र आदर प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक एवं तर्कसङ्गत होने पर भी शङ्कराचार्य जैसे बड़े बड़े विद्वानों ने इसे सन्देहवाद समझकर समझने में भूल की है। वस्तुओं का जब हम विभिन्न पहलुओं (दृष्टिकोणों) से विचार करते हैं तो वह हमें निश्चय ही विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। जैसे यज्ञदत्त का लड़का रमेश अपने पिता की दृष्टि में पुत्र है, अपने पुत्र की दृष्टि में पिता है, बहिन की दृष्टि में भाई है, मामा की दृष्टि में भानजा है, भाभी की दृष्टि में देवर है, पत्नी की दृष्टि में पति है, गुरु की दृष्टि में शिष्य है और शिष्य की दृष्टि में गुरु भी है। इस तरह रमेश में परस्पर विरोधी दिखलाई देनेवाले धर्म अविरुद्ध भाव से रहते हैं ।'रमेश पुत्र ही है अथवा पिता ही है' यह कथन जैसे सर्वथा सत्य नहीं कहा जा सकता, ठीक वैसे ही प्रत्येक वस्तुओं के बारे में एकान्त दृष्टि सत्य नहीं कही जा सकती है। जब हम विभिन्न पहलुओं से वस्तु का विचार करेंगे तो सत्य भी विभिन्न पहलुओं से अलग अलग होंगे। एक ही पहलू से वस्तु अनेकरूप नहीं है अपितु विभिन्न पहलुओं से अनेकरूप है। यदि एक ही पहलू से या एक ही दृष्टि से या एक ही अपेक्षा से वस्तु अनेकरूप हो तो संशय अथवा मिथ्या हो। अत: वस्तु को अनेकान्त (अनेक + अन्त= धर्म) रूप मानना अपरिहार्य हो जाता है।

अनेकान्त रूप वस्तु का जब कभी अभ्रान्त निर्वचन शब्दों में करना हो तो अपेक्षा भेद का द्योतक 'स्यात्' पद जोड़ना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए इसका पारिभाषिक नाम है–'स्याद्वाद'। स्याद्वादका अर्थ है 'सापेक्षवाद' अर्थात् अमुक (एक) अपेक्षा से वस्तु अमुक (एक) प्रकार की है और अमुक (दूसरी) अपेक्षा से अमुक (द्वितीय) प्रकार की है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ शायद नहीं करना चाहिए अन्यथा सन्देहवाद का प्रसङ्ग आयेगा। वस्तुतः यह 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का द्योतक है। यह दूसरी बात है कि हम अपनी दैनन्दिनी (बोलचाल) की भाषा में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ वक्ता और श्रोता दोनों अपेक्षा भेद को समझते हैं। परन्तु जहाँ भ्रम होता है या भ्रम की सम्भावना रहती है वहाँ अपेक्षा भेद को बतलाना आवश्यक हो जाता है। इस तरह जब हम सबके विचारों का अपेक्षा भेद से विचार करेंगे तो देखेंगे कि सभी के विचार किसी न किसी अपेक्षा से सत्य हैं।

जिसे यह अनेकान्त और स्याद्वाद की दृष्टि प्राप्त हो जाती है उसे कहीं भी (आचार अथवा विचार के क्षेत्र में) विचिकित्सा (सन्देह) नहीं होती है। यदि यह दृष्टि नहीं है तो पग पग पर विचिकित्सा होगी और कलह भी जिसके फलस्वरूप हम एक ही पक्ष का आग्रहपूर्ण पोषण करते हुए असत्य के पोषक बन जायेंगे। इस सन्दर्भ में एक घटना उदाहरणीय है– किसी चित्रकार ने एक ऐसा चित्र बनाया जो दाहिनी ओर से देखने पर 'नर' का था और वायीं ओर से देखने पर 'नारी' का। एक दिन उस चित्र को एक व्यक्ति दाहिनी ओर से देख रहा था और दूसरा बायीं ओर से। एक उसे 'नर' का और दूसरा उसे 'नारी' का चित्र बतला रहा था। दोनों एक दूसरे के दृष्टिकोण पर ध्यान दिए बिना आपस में लड़ने लगे। लड़ते लड़ते संयोग से दाहिनी ओर वाला व्यक्ति वायीं ओर और वायीं ओर वाला व्यक्ति दाहिनी ओर जाकर गिरा। इसके बाद जब उन्होंने पुनः चित्र को देखा तो उन्हें अपनी गलती का एहसास हुआ और तब आपस में क्षमा मांगते हुए हमेशा विभिन्न पहलुओं से विचार करसे की प्रतिज्ञा की। यदि ऐसा न किया जाय तो प्रत्येक घर में सह अस्तित्त्व का भाव तो दूर रहा व्यर्थ के कलहों का अखाड़ा बन जाए। अतः हमारी दृष्टि प्रत्येक वस्तु के समस्त पहलुओं को समन्वित रूप से देखकर निर्णय करने वाली होनी चाहिए। महावीर काल में जो भी उपनियम बतलाए गए उनमें यदि आज की बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखकर संशोधन एवं परिवर्तन नहीं किए गए तो एकान्त दृष्टि में आने वाले दोषों की उपस्थिति होगी। मूलाचार और उत्तराध्ययन सूत्र में इस तरह के संशोधन के उल्लेख भी मिलते हैं। वहाँ बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ के काल के जीव 'ऋजुजड़' (सरल परन्तु मन्दबुद्धि) होने से 'दुर्विशोध्य' (जिन्हें धर्माचार का ज्ञान कराना कठिन हो) थे, दूसरे से तेईसवें तीर्थङ्कर के काल के जीव 'ऋजुप्राज्ञ' (सरल तथा बुद्धिमान) होने से 'सुविशोध्य' और 'सुपालक' थे परन्तु चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के काल के जीव 'वक्रजड़' (कुटिल एवं मन्दबुद्धि) होने से 'दुरनुपालक' (कुतर्की होने से जिन्हें धर्माचरण में लगाना कठिन हो) थे। अतः भगवान् महावीर ने मूल सिद्धान्त का परिवर्तन न करते हुए तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की परम्परा के कुछ उपनियमों आदि में कुछ – संशोधन जोड़े –

पुरिमी उज्जुजड्डा वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उतेण धम्मे दुहा कए ।।
पुरिमाणं दुविसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ।। उत्तराध्ययन 23. 26. 27.

आज का मानव 'वक्रजड़ तो है ही परन्तु उसकी विचारधारा और देशकाल की परिस्थितियां भगवान् महावीर के समय से काफी बदल चुकी हैं। आज इस वैज्ञानिक युग में हम प्रत्येक धार्मिक क्रियाओं को विज्ञान की कसौटी पर परखना चाहते हैं तथा वर्तमान जीवन में – ही उनका फल पाना चाहते हैं क्योंकि भौतिक विज्ञान की चकाचबन्ध से हमारी आँखें अध्यात्मिक विज्ञान की ओर देख ही नहीं पाती हैं। अतः आज बदली हुई इन परिस्थितियों में हमें धार्मिक नियमों की व्याख्या समाज व्यवस्था के रूप में करनी आवश्यक हो गई है। हम इस व्याख्या के द्वारा ही महावीर के मूल उपदेशों को जनजन के मानस पटल में और अचरण में उतार सकते हैं अन्यथा उनके सिद्धान्तों का व्याख्यान चिकने घड़े पर पानी डालने की तरह व्यर्थ सिद्ध होगा । भगवान् महावीर इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे। अतः उन्होंने साधु और गृहस्थ (श्रावक और श्राविका) के आचार में सिद्धान्ततः विरोध न होते हुए भी पर्याप्त अन्तर किया है। हम चाहें कि एकदम ऊपर की सीढ़ी पर पहुँच जाएँ ऐसा सम्भव नहीं है। हमें क्रमशः ही ऊपर की ओर उठना होगा। आज समाजव्यवस्था के अनुरूप धार्मिक नियमों का यदि हम पालन कर सके तो हम बहुत बड़े धार्मिक एवं महावीर के पदचिह्नों के अनुयायी होंगे।

अन्यथा 'मुख में राम बगल में छुरी' की तरह हमारे धार्मिक कृत्य कोरे ढकोसला सिद्ध होंगे जिनसे न तो समाज का और न स्वयं को लाभ होगा।

भगवान् महावीर का यह जीवन सन्देश जितना वैज्ञानिक, स्पष्ट तथा सादगी से पूर्ण है उतना अन्यत्र पाना दुर्लभ है। 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है' महावीर का यह सिद्धान्त बतलाता है कि न तो कोई ईश्वर का अवतार है और न उसकी अंश विशेष ही। न तो कोई बड़ा है और न छोटा ही। कोई किसी की कृपा से न तो ऊपर उठ सकता है और न नीचे ही गिर सकता है। प्रत्येक जीव - अपने पुरुषार्थ से अथवा कर्तव्यकर्म के अनुष्ठान से महापुरुष ही नहीं परमात्मा या तीर्थङ्कर बन सकता है। भक्त और भगवान् में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है, यदि कोई अन्तर है तो सिर्फ इतना कि भगवान् वीतरागी हैं और हम (भक्त=संसारी जीव) अवीतरागी (रागी-द्वेषी) हैं । कहा है--

मैं वह हूँ जो हैं भगवान् जो मैं हूँ वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान वे विराग यहां राग वितान।।

संसारस्थ आत्माएँ जो कि सूर्य सदृश तेजस्वी एवं प्रकाशस्वरूप हैं उनके ऊपर कर्मरूपी वादलों का पर्दा पड़ा है जबकि मुक्तात्माओं के ऊपर कोई आवरण नहीं है, वे अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। जब हमारे ऊपर से कर्मरूपी आवरण हट जायेगा तो हम भी पूर्ण मुक्त परमात्मा या तीर्थङ्कर बन जायेंगे। कर्मरूपी बादलों को हटाने के लिए हमें प्रबल वायु तुल्य सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) सम्यग्ज्ञान (सच्चा ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (सदाचार) रूप रत्नत्रय का आश्रय लेना होगा। रत्नत्रय का आश्रय पाने के लिए हमें स्वयं अपनी आत्मा पर विजय पाना होगा क्योंकि रत्नत्रय स्वयं अपनी आत्मा में मौजूद है। अतः आत्मविजय को सबसे बड़ी विजय कहा गया है। आत्मा अपने उत्थान और पतन का स्वयं कर्ता और विकर्ता है, अच्छा मित्र और दुष्ट शत्रु है, वैतरणी नदी (एक नारकीय नदी जो दुःखकर है) और कूटशाल्मलि वृक्ष (दुःख देनेवाला पेड़) है, मामदुधा धेनु (गाय) और नन्दन (ये दोनों सुखकर) वन हैं-

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ।। उत्तराध्ययन सूत्र 20, 36-37

जब हम वर्तमान युग की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि आज मानव सभ्यता विनाशकारी अस्त्रों के निर्माण से विनाश के कगार पर खड़ी है, व्यक्ति से व्यक्ति का शोषण ही नहीं एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र का शोषण हो रहा है, विश्व अनेक शिबिरों में विभक्त होकर अपनी ही बात को पूर्ण सत्य मानने का आग्रही बन गया है, मानव हिंसा मनोरञ्जन का साधन हो चुकी है, अर्थसंग्रह (जमाखोरी) धार्मिक अनुष्ठान हो गया है, पक्षपात कर्तव्य कर्म बन गया है, घूसखोरी मेहनताना (मजदूरी) कहलाती है, व्यभिचार निरासक्ति का द्योतक है, धोखाधड़ी चतुरता (ऐन्द्रजालिक विद्या का अभ्यास) है, मिथ्या भाषण वाक्पटुता कहलाती है, चोरबाजारी कलाकौशल है, डकैती वीरत्व की निशानी है, पाकिटमारी हाथ की सफाई (जादू) है, भाई भतीजावाद समाजसेवा है, मिलावट आर्थिक विषमता का इलाज है, चापलूसी सेवाभक्ति है, ईमानदारी मूर्खता है, क्षमाभाव कायरता है, सत्यभाषण अव्यवहारिकता है, धार्मिकता अन्धविश्वास है, पातिव्रत्य समाजवाद का उपहास है। ऐसे समय में भगवान् महावीर का जीवनसन्देश जो कि आज से 2544 वर्ष पूर्व दिया गया था बहुत उपयोगी हो गया है। आवश्यकता आज केवल उसके बाह्य ढाँचे में युगानुरूप संशोधन एवं व्याख्यान करने की है। आज हमें उस सन्देश को धर्म विज्ञान या आध्यात्मिक विज्ञान के चश्मे से ही नहीं देखना है अपितु आधुनिक विज्ञान या समाजविज्ञान के चश्मे से भी देखना है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (स्वदार सन्तोष) और अपरिग्रह रूप अणुव्रती समाज व्यवस्था से देश में व्याप्त हिसा, कलह, चोरबाजारी, डकैती, व्यभिचार, जमाखोरी, घूंसखोरी आदि समस्त बुराईयों को दूर किया जा सकता है तथा समाजकल्याण, विश्वशान्ति आदि योजनाओं को सफल बनाया जा सकता है। अनेकान्त तथा स्याद्वाद की दृष्टि समस्त वैचारिक कलहों को दूर करके हमें सहनशील और गवेषी बनाकर न्यायवादी बना सकती है। अहिंसा का सिद्धान्त युद्धों और कलहों में आसक्त मानव जाति को शान्ति का वरदान दे सकता है। अपरिग्रह का व्यवहार सामाजिक जीवन की समस्त आर्थिक विषमताओं को दूर करके समता और सह अस्तित्त्व की स्थापना में सहयोग दे सकता है। इसी तरह 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है' यह उपदेश मानवजाति में व्याप्त कुण्ठा, धैर्य हीनता, उदासीनता आदि की हीन भावनाओं को दूर करने में तथा उत्साह, आत्मविश्वास, कर्तव्यनिष्ठा आदि की उच्च भावनाओं

को प्रोत्साहित करने में पूर्ण सक्षम है यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय भगवान् महावीर का यह सन्देश न केवल वर्तमान युग के लिए ज्योति है अपितु भविष्य के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ है। मानवीय मूल्यों (धार्मिक मूल्यों) के समझाने के लिए स्वर्ग-नरक के उदाहरण अपर्याप्त हैं। उन्हें समाजविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान से बतलाना होगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में निश्चय और व्यवहार-नय

दिगम्बर जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का मन्थन करके हमें नवनीत प्रदान किया है। भगवान् महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे जब बाह्यलिङ्ग के रूप में समझा जाने लगा तो कुन्दकुन्द ने महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। आभ्यन्तर के वीतराग भाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था, अत: उन्होंने देशकालानुरूप उन्हीं बातों का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें बाह्य वीतरागभाव अभीष्ट नहीं था। वस्तुत: उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभावों के उपदेशों का व्यवहार और निश्चय उभय नयों के द्वारा सम्यक् आलोडन करके उन्हें जीवन में तथा स्व-रचित ग्रन्थों में समावेश किया है। उनके ग्रन्थों के अन्त:साक्ष्य से तथा उनकी स्वयं की जीवनशैली से उनकी निश्चय-व्यवहार की समन्वयदृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से लेखक अपनी रचनाओं के प्रारम्भिक अंशों में अपने अनुभवों को भूमिकारूप में स्थापित करता है और अन्त में उपसंहार के रूप में उन्हें परिपुष्ट करता है। अत: उन्हीं अंशों को यहाँ प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आचार्य कुन्दकुन्द की समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की मान्य रचनायें हैं-1. पञ्चास्तिकायसंग्रह, 2. समयसार, 3. प्रवचनसार, 4. नियमसार, 5. अष्टपाहुड, 6. द्वादशानुप्रेक्षा और 7. भक्तिसंग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ में विद्वानों का मतभेद अधिक है।

1. पञ्चास्तिकायसंग्रह

यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते हैं।[1] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहारनय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में षड्द्रव्यों का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नव पदार्थों एवं मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है-'प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानकर जो रागद्वेष को छोड़ देता है वह दु:खों से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापर-बन्धरहित हो जाता है।[2] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्त्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग का कथन करके[3] निश्चय-मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है-'रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमें वह अन्य कुछ भी नहीं करता है और न कुछ छोड़ता ही है'[4]। यह कथन निश्चय ही केवली की ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया गया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एवं स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यहीं अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाण-प्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और संयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[5] यह कथन भी श्रुतकेवली या छठे से ऊपर के गुणस्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यहीं पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों में भक्ति करता है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[6] यहाँ टीकाकारों ने 'सिद्धेसु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति किया है।[7] गाथा 172 की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य ने केवल निश्चयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है (जो वस्तुत: निश्चय नय को नहीं जानते हैं)- 'कोई शुभभाववाली क्रियायों को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभ भावों में वर्तते हुए, (कुछ वनस्पतियाँ कीटभक्षी हैं तथा कुछ तो नरभक्षी भी हैं)। ऐसी वनस्पतियों की भाँति केवल पापबन्ध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके, स्वच्छन्द और आलसी हैं-

णिच्छयणयालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।

णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई।।

अन्त में इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं–'प्रवचन' (जिनवाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सारभूत यह पञ्चास्तिकायसंग्रह-सूत्र (शास्त्र) कहा है।[8]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाये तथा उसे मोक्षप्राप्ति में प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसंहार करते हुए 'जिनमार्ग-प्रभावनार्थ', 'प्रवचन-भक्ति-प्रेरित' जैसे वाक्यों का कथन क्यों करेगा ? अर्हद्मुक्ति से अकाम निर्जरा भी होती है। अत: नमस्कार वाक्यों में महावीर को 'अपुनर्भव का कारण' कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नहीं है। इत्यादि कथनों से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियायें भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वहीं तक सीमित न रह जायें, अत: उन तपस्वियों के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनों नयों का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपोदय कहना स्याद्वादसिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुन्द का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने स्थान पर दोनों नय सम्यक् हैं। परमदशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है। 'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाएँ जो तीर्थङ्कर प्रकृतिबन्ध का कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थङ्कर प्रतिबन्ध नियम से निर्वाणप्राप्ति का हेतु माना गया है। इस तरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चयनय-यही ग्रन्थकार का अभिमत है।

2. समयसार

यहाँ 'जीव' पदार्थ को 'समय' शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध-स्वभाव में स्थित होता है तब उसे 'स्वसमय' कहते हैं और जब परस्वभाव (रागद्वेषादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेश) में स्थित होता है तब उसे 'परसमय' कहते हैं।[9] इस ग्रन्थ में जीवात्मा के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहने का सङ्कल्प करते हैं[10], इसके बाद एकत्वविभक्त (सभी पर-पदार्थों से भिन्न, पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[11] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते हैं – 'मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्वविभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकूँ तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझाने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[12] कितना स्पष्ट कथन है।

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रन्थ में आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अत: वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ में उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है–'ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।' इस तरह वे निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित आत्मा को दर्शाना चाहते हैं अन्यथा वेदान्तदर्शन के साथ जैनदर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसलिए ग्रन्थकार व्यवहारनय से कहते हैं कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान हैं परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[13] यहीं ग्रन्थकार व्यवहारनय की अनुपयोगिता की आशङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना (वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहारनय के 'बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[14]

इस तरह यहाँ स्पष्ट रूप से अनुत्कृष्ट दशा वाले जीवों को परमार्थ तक पहुँचाने में व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को 'अभूतार्थ' तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को 'भूतार्थ' कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[15] यहाँ ग्रन्थकार भ्रम-निवारणार्थ पुन: कहते हैं–जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्त्व को उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव (अनुत्कृष्ट दशा) में स्थित हैं वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य हैं।[16] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनों नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते हैं। अधिकांश जीव अपरमभाव में ही स्थित है। यही टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य 'उक्तं च' कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं–

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।[17]

अर्थात्-यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि

व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा, क्योंकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नहीं। अत: जिनवचन सुनना, जिनबिम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनीय हैं।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है, 'जो पाखण्डी बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि लिङ्गों मैं ममत्व करते हैं वे समयसार को नहीं जानते।[18] व्यवहारनय दोनों (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गों को इष्ट मानता है।[19] यहाँ जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है जीव- अजीव द्रव्यों में से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है।[20] आगे कहा है -

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं ये अत्थ-तच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं।। गाथा 415

जो इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ एवं तत्त्व को जानकर इसके अर्थ में स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[21] यहाँ पडिहूणं (पढ़कर), अत्थच्चदो गाउँ (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ में स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते हैं। शुद्ध निश्चयनय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहाँ कुछ करणीय जरूरी नहीं होता, जबकि संसारी को करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

3. प्रवचनसार

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पाँच गाथाओं में तीर्थङ्करों, सिद्धों, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्वाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सरागचारित्र, वीतरागचारित्र आदि का कथन किया गया है। तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धों और श्रमणों को बारम्बार नमस्कार करके दु:खनिवारक, श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते हैं।[1] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय-व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते हैं।

प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ में कहा है-

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणा भूमिगदाणि हि बीयाणि व सस्सकालम्मि।।255।।

अर्थात्-जैसे एक ही बीज भूमि की विपरीतता से विपरीत फलवाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीतता से विपरीत फलवाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से संसारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। जयसेनाचार्य ने 254 वीं गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट किया है-'वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा 'साधु-सङ्गति से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।'[23]

उपसंहाररूप 274 वीं गाथा में शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा 275 वी गाथा में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है -

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगार-चरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।3.75।।

अर्थात्-जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अर्हन्त भगवान के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'सागारणगारचरियया' शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है- 'अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यान्तर-रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थ:।'

इस तरह प्रवचनसार में विशेष रूप से व्यवहार-निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनों नयों का सम्यक् समायोजन चाहते हैं। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार में भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते हैं।

4. नियमसार

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हों उन्हें 'नियम' कहते हैं। नियम से करने योग्य हैं सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ 'सार' पद का प्रयोग किया गया है।[24] इस तरह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र-स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण-प्राप्ति है।[25] इसमें 16 अधिकार हैं। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निजभावना बतलाया है परन्तु प्रवचन- भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[26]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार 'जिन' को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित नियमसार के कहने का सङ्कल्प करते हैं।[27] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते हैं। प्रथम जीवाधिकार के अन्त में ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नय-विभाजनों का समन्वय करते हैं -

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।18।।
दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।19।।

दशम परम भक्त्याधिकार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार व्यवहारनय की अपेक्षा से उसकी प्रशंसा में लिखते हैं-'जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय में भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषों में भक्ति करता है उसे निवृत्ति- भक्ति (निर्वाणभक्ति) होती है।'[28]

अन्त में ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते हैं-'प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफलों में यदि कुछ पूर्वापरविरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करे।'[29] किन्तु ईर्ष्याभाव से इस सुन्दरमार्ग की यदि कोई निन्दा करे तो उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।[30] यहाँ पूर्वापरविरोध-परिहार की बात करके ग्रन्थकार दोनों नयों का समन्वय करना चाहते हैं, इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोड़ने की बात करते हैं।

इस तरह ग्रन्थकार सरलहृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोधरहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते हैं।

5. अष्टपाहुड

दर्शनादि सभी पाहुडों के प्रारम्भिक पद्यों में वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है।[31] शीलपाहुड में शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पञ्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।[32] अत: सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड में केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालों को प्रतिबोधित किया गया है।[33]

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओं को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनों नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

6. द्वादशानुप्रेक्षा

इसका प्रारम्भ सिद्ध और चौबीस तीर्थङ्करों के नमस्कार से होता है।[34] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (89-90) में अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य बताकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुष को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के मर्मज्ञ किसी विद्वान् के द्वारा जोड़ी गई जान पड़ती है क्योंकि वहाँ 'जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे' वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पञ्चास्तिकाय की अन्तिम गाथा में 'मया भणियं, का प्रयोग किया गया है।[35] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अन्तिम गाथा इस प्रकार है -

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परम-णिव्वाणं।।91।।

इस गाथा में ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। 'सुद्धमणो' शब्द से यहाँ एकान्त आग्रहरहित वीतराग-हृदय का सङ्केत किया गया है।

7. भक्तिसंग्रह

यह पूर्णत: भक्तिग्रन्थ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे-'तित्थयरा मे पसीयन्तु'[36], 'आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोधिं'[37], 'सिद्धासिद्धिं मम दिंसतु'[38], 'दुक्खखयं दिंतु'[39] 'मंगलमत्थु मे णिच्चं'[40], 'णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्हं पसाएण'[41] 'एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुहे दिंतु'[42] इत्यादि।

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नहीं है। बाह्यरूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्ववाचक व्यवहारपरक वाक्यों का प्रयोग कैसे कर सकते हैं? परन्तु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नहीं हैं, क्योंकि तटस्थ निमित्तकारणों को भक्तिवश यहाँ सक्रियनिमित्त कारणों के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असङ्गत नहीं है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों के अवलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयों का समन्वय अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहीं कहीं मध्य और अन्त में भी, सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्तिसंग्रह पूर्णत: भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार बाह्यलिङ्ग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन ही करते हैं अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग को धारण भी करते हैं।

शुद्ध निश्चय से संसारी और मुक्त आत्माओं को नियमासार में जन्म-जरादि रहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से नय अलंकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल, विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[43] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना कहने मात्र से संसारी और मुक्त समान हो जायेंगे? ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेंगे। किञ्च वहीं परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[44] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नहीं सम्भव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही सम्भव है। अत: ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद को स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नहीं करेंगे तब तक ग्रन्थकार के मत का सही मूल्याङ्कन नहीं कर सकेंगे। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियों में किनके लिए निश्चयनय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को हेय उन्होंने कभी नहीं कहा अपितु उसे ही पकड़कर बैठ जाने अथवा उसकी ओट में जीविका चलाने का निषेध किया है।[45] आचार्य ने स्वयं 'समयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त में दोनों नयों से अतिक्रान्त समयसार है किसी एक नयाश्रित नहीं' कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दों में कहा है -

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवई कम्मं।। 141।।
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।। 142।।
सम्मद्दसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।। 144।।

अर्थात् व्यवहार नय से जीव में कर्म बद्ध है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध - स्पष्ट है। 'जीव में कर्म बँधे हैं अथवा नहीं बँधे हैं' ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा में प्रतिबद्ध है, दोनों नयों के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षों से रहित है वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है।

इस तरह आचार्य कुन्दकन्द के सभी ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसङ्गत है। उपरोक्त विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहीं भी एकान्त का पोषण नहीं किया अपितु श्रावक एवं साधु की भूमिका के अनुसार ही व्यवहार तथा निश्चयनय सापेक्ष समन्वयात्मक दृष्टि से उपदेश किया है। यह आलेख उनके लिए विशेष पठनीय मननीय है जो कुन्दकुन्द आचार्य को निश्चयनय के पोषक घोषित करते हुए निश्चयनय की ध्वजा फहरा रहे हैं।

सन्दर्भ सूची -

1. इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुर-विसदवक्काणं।

अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं।।

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिनिवारणं सणिव्वाणं।

एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि।। पञ्चास्तिकाय, प्रथम, श्रुतस्कन्ध, गाथा-1-2

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।

तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि।। वही, द्वि.श्रुत., गाथा -105

2. एवं पवयणसारं पञ्चत्थियसङ्गहं वियाणित्ता।

 जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।।

 मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।

 पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो। पञ्चा. प्र. श्रुत., गाथा-103-104

3. पञ्चा. 107, 160
4. पंचा. 161, 163
5. पञ्चा. 166, 168, 170, 171
6. पञ्चा. 169
7. पञ्चा. 169 (वही)
8. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।

 भणियं पवयणसारं पञ्चत्थियसङ्गहं सुत्तं।। पञ्चा.द्वि.श्रुत.,गाथा 173

9. समयसार, गाथा 2
10. वंदितु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।

 वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं।। समयसार, गाथा 1

11. समय. 3-4
12. तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।

 जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं।। समयसार, गाथा-5

13. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसणं णाण।

 ण वि णाणं ण चरितं ण देसणं जाणगो सुद्धो।। समयसार, गाथा-7

14. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।

 तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।। समयसार, गाथा-8

 तथा देखिए, वही गाथा 9-10

15. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

 भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो।। समयसार, गाथा-11

16. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परभावदरिसीहिं।

 ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भाव।। समयसार, गाथा-12

17. समयसार, गाथा 12 (टीका)
18. पाखंडीलिंगेसु व गिहलिंगेसु वा बहुप्पयारेसु।

 कुव्वति ज ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं।। समयसार, गाथा-413

19. ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणई मोक्खपहे।

 णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।। समयसार, गाथा-414

20. तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिण्हए किंचि।

 णेव विमुंचई किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण।। समयसार, गाथा-407

21. समयसार, गाथा- 415
22. प्रवचनसार, गाथा 201
23. प्रवचनसार, गाथा 254, जयसेनाचार्य टीका।

24. णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरितं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयण।। नियमसार, गाथा- 3
25. नियम. गाथा 2, 4
26. नियम. गाथा 184, 186 (देखें, नियमसार टि. नं.29-30)
27. नियम. गाथा 1
28. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।।
मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।। नियमसार, गाथा- 134-135
29. णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा।। नियमसार, गाथा-184
30. ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोचाऽभत्ति मा कुणह जिणमग्गे।।
णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिनोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।। नियमसार, गाथा- 185-186
31. दर्शनपाहुड, गाथा 1, 2
32. शीलपाहुड, गाथा 2
33. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। लिंगपाहुड, गाथा 2
जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणे।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णसेदि लिंगीणं।। लिंगपाहुड, गाथा-3
34. द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा 1
35. पञ्चास्तिकाय, गाथा 173
36. तीर्थङ्कर- भक्ति 6
37. तीर्थङ्कर- भक्ति 7
38. तीर्थङ्कर- भक्ति 8
39. योगिभक्ति 23
40. आचार्य भक्ति 1
41. आचार्यभक्ति 7
42. पञ्चगुरु भक्ति 7
43. जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।। नियमसार, गाथा 47
असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।
एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।। नियमसार, गाथा- 48-49
44. नियमसार, गाथा 50
45. देखें, लिंगपाहुड, अष्टपाहुड, टिप्पण नं. 33

जैन और बौद्ध धर्म-दर्शनों में साम्य-वैषम्य

भारतीय दर्शनों में जैन तथा बौद्ध दोनों की गणना नास्तिक दर्शनों में की जाती है, जो सर्वथा अनुचित है। इन दोनों को अवैदिक दर्शन या श्रमण दर्शन कहना युक्तियुक्त है। ये दोनों दर्शन स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि सभी कुछ मानते हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर को न मानने से इन्हें नास्तिक नहीं कहा जा सकता है, अन्यथा सांख्यदर्शन और मीमांसादर्शन को भी नास्तिक कहना होगा। ये दोनों धर्म परम्परा से सनातन हैं, परन्तु वर्तमान शासनकाल की अपेक्षा महावीर और बुद्ध द्वारा प्रचारित माने जाते हैं। कभी भ्रमवश कुछ विद्वान् इन दोनों को एक मानते थे, परन्तु दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों में पाये जाने वाले प्रमुख साम्य-वैषम्य के बिन्दु निम्न प्रकार हैं -

1. भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों समसामयिक हैं। महावीर का जन्म ई.पू. 599 में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था तथा निर्वाण ई.पू. 527 में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को हुआ था। केवल ज्ञान ई.पू. 557 में वैशाख शुक्ला दशमी को हुआ था। जीवन काल लगभग 72 वर्ष था तथा धर्मोपदेश (तीर्थ-प्रवर्तन) काल 29 वर्ष 5 मास 20 दिन था। डॉ.नन्दकिशोर देवराज के अनुसार भगवान् बुद्ध का जन्म ई.पू. 623 में वैशाख पूर्णिमा को हुआ था। पैंतीस वर्ष की अवस्था में आषाढ़ पूर्णिमा को बोधिलाभ (केवलज्ञान) प्राप्त करके तथा 45 वर्षों तक धर्मचक्र प्रवर्तन करते हुए 80 वर्ष की अवस्था में ई.पू. 543 में वैशाख पूर्णिमा को निर्वाण प्राप्त किया था। परन्तु यह समय निर्णय सही नहीं है। ये भगवान महावीर के समकालीन या कुछ परवर्ती है। डॉ. बी.एन. सिंह ने जन्म 563 ई.पू. माना है तदनुसार 483 ई. पू. निर्वाण सम्भव है।
2. महावीर (जन्म नाम वर्द्धमान) के पिता का नाम था राजा 'सिद्धार्थ' तथा प्रमुख गणधर का नाम था 'गौतम'। बुद्ध के जन्मकाल का नाम था सिद्धार्थ तथा मौसी द्वारा पालित होने से गौतम ऋषि के गोत्र में उत्पन्न होने से गौतम नाम पड़ा था।
3. दोनों के जन्म तथा विहार-क्षेत्र का सम्बन्ध प्रमुख रूप से बिहार तथा उत्तर प्रदेश के आस-पास रहा है।
4. जैन धर्म में तत्कालीन 363 मतवादों को तथा बौद्ध धर्म में 62 मतवादों का उल्लेख मिलता है, जिनमें पार्श्वनाथ का चतुर्याम भी सम्मिलित था।
5. जैन धर्म में 24 तीर्थङ्कर हुए तथा बौद्ध धर्म में बुद्ध के 24 अवतार।
6. जैन धर्म में महावीर के उपदेशों को उनके गणधरों ने ग्रन्थ रूप में (अङ्ग और अङ्गबाह्य) गुम्फित किया, जिसे मौखिक परम्परा से अग्रसर होने के कारण 'श्रुत' कहा गया। इनकी भाषा अर्ध-मागधी थी। बौद्ध परम्परा में भी उनके अनुयायियों (आचार्यो) ने बुद्ध के उपदेशों को त्रिपिटक के रूप में निबद्ध किया जिनका सङ्कलन पालिभाषा (प्राकृत का एक प्रकार) में किया गया।
7. दोनों ने अपने उपदेश तत्कालीन जनभाषा में दिए।
8. दोनों संसार के प्राणियों के दु:खों से द्रवित हुए और वैराग्य का मार्ग स्वीकार किया।
9. दोनों धर्मों में अहिंसा, वीतरागता और करुणा का उपदेश प्रधानता से दिया गया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को आवश्यक बतलाया।
10. संसार और मोक्ष के कारण-कार्य की व्याख्या जैन धर्म में सात तत्त्वों के रूप में और बौद्ध धर्म में चार आर्यसत्यों के रूप में की गई। चार आर्यसत्य हैं दु:ख, दु:खसमुदय (दु:ख के कारण), दु:खनिरोध और दु:खनिरोध मार्ग। सात तत्त्वों में भी यही है जीव, अजीव (इन दोनों के संयोग से ही दु:ख रूप संसार बनता है), आस्रव, बन्ध (ये दोनों दु:ख के कारण हैं), संवर, निर्जरा (ये दोनों दु:खनिरोध का मार्ग बनते हैं) और मोक्ष (दु:खनिरोध या निर्वाण)।
11. महावीर की परम्परा में चन्द्रगुप्त के शासनकाल तक (महावीर निर्वाण के 162 वर्षों तक) सङ्घ में विघटन का सूत्रपात नहीं हुआ। बौद्ध धर्म में भी 100 वर्षों तक सङ्घभेद नहीं हुआ। यहीं से सङ्घभेद को सूत्रपात हुआ और जो

बाद में सम्राट् अशोक के शासन काल में स्पष्ट रूप से हो गया। आचार्य वसुमित्र ने और चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने 18 निकायों में विभक्त होने का उल्लेख किया है। जैन धर्म प्रारम्भ में दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में विकसित हुआ परन्तु बाद में उनमें भी अवान्तर भेद हो गए। ऐसा होने पर भी मूल सिद्धान्तों में प्रायः मतभेद नहीं हुए। बौद्धों में आज दो प्रकार से भेद मिलते हैं- (1) हीनयान, महायान और (2) वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिक।

12. दोनों ने संसार के सभी पदार्थों में क्षणिकता को देखा, परन्तु जैनों ने उस क्षणिकता में नित्यता को भी बनाये रखा और द्रव्य की परिभाषा की उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। 'सत् द्रव्यलक्षणम्।' अर्थात् उत्पत्ति विनाश के साथ जो ध्रुव (नित्य) भी हैं वही सत् है। सत् ही द्रव्य है। कूटस्थ नित्य सत् नहीं हो सकता। सर्वथा अनित्य भी सत् नहीं हो सकता। बौद्धों ने नित्यता को सिरे से नकार दिया, परन्तु सन्तान परम्परा को मानकर उसे एक प्रकार से सन्तति नित्यता प्रदान कर दी। उन्होंने सत् का लक्षण किया 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' अर्थात् जिसमें अर्थक्रिया की सामर्थ्य हो वही सत् है। यह अर्थक्रिया कूटस्थ नित्यता में सम्भव नहीं।
13. दोनों ने वेदों में न तो प्रामाण्य स्वीकार किया और न उनको अपौरुषेय स्वीकार किया।
14. दोनों में ईश्वर को इस जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता स्वीकार नहीं किया। सब जीव अपने पुरुषार्थ से या कुशल कर्मों से महान् बनते हैं।
15. जैनों ने मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को आवश्यक माना। ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग बनाते हैं पृथक्-पृथक् तीन मार्ग भक्तियोग, ज्ञानयोग व कर्मयोग नहीं हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इसे ही अष्टाङ्गमार्ग कहा है सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यग्आजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इनमें प्रथम दो प्रज्ञा से, अन्तिम दो समाधि से तथा मध्यवर्ती चार शील से सम्बन्धित हैं। इन तीनों को रत्नत्रय कहा है जो जैनों के रत्नत्रयवत् हैं।
16. संसार के मुख्य कारण अज्ञान (अविद्या या मिथ्यात्व) और तृष्णा (आकांक्षा, लोभ) को दोनों ने स्वीकार किया है। बौद्धों का प्रतीत्य समुत्पाद (द्वादशनिदान) इसमें प्रमाण है। तृष्णा के जाते ही संसार चक्र समाप्त हो जाता है। जैनों में भी कर्मबन्ध के कारणों को गिनाते हुए मिथ्यात्व (अज्ञान) को सर्वप्रथम बतलाया 'मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध-हेतवः'। इनमें कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का जब योग होता है, तभी कर्मबन्ध होता है। 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सः बन्धः।' चारों में लोभ या तृष्णा या मोह सर्वप्रमुख है। इसके होने पर ही क्रोधादि होते हैं। इनके हटते ही व्यक्ति जीवन्मुक्त (अर्हत्) हो जाता है।
17. पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, कर्मसिद्धान्त को दोनों स्वीकार करते हैं।
18. बौद्ध दर्शन में जिसे समाधि (सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात) कहा है उसे जैन दर्शन में ध्यान (धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान) कहा है।
19. अनेक आत्माओं को जैनों ने स्वीकार किया है, जो अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है। वह सापेक्ष दृष्टि से अनित्य होकर नित्य हैं। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी कहा जाता है, उनके यहाँ व्यक्ति पञ्च स्कन्धात्मक है, नित्य नहीं है।
20. दोनों में चतुर्विध सङ्घ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की व्यवस्था है। साधु को श्रमण, साध्वी को श्रमणी, गृहस्थ को श्रावक और गृहस्थिनी स्त्री को श्राविका कहा गया है। दोनों ने स्त्रियों को बराबरी का दर्जा दिया और साध्वी भी बनाया।
21. बुद्धत्व प्राप्ति में क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ चार भूमियाँ (पड़ाव) हीनयान में बतलाई हैं- श्रोतापन्न (मुक्तिमार्ग पर आरूढ), सकृदागामी (एक जन्म लेकर या कुछ काल बाद मोक्ष पाना), अनागामी और अर्हत् (जीवन्मुक्त)। महायान में प्रमुदिता आदि 10 भूमियाँ गिनाई हैं। इसी तरह हीनयान में बोधिसत्व प्राप्ति के लिए 6 पारमितायें (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा) तथा महायान में 10 पारमितायें बतलाई हैं। जैन दर्शन में आत्मविकास के 14 गुणस्थान बतलाये हैं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। उनके क्रमशः नाम हैं- मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोग केवली। इनमें प्रथम चार गुणस्थान अव्रती श्रावक (गृहस्थ) के हैं। पाँचवाँ अणुव्रती श्रावक का है। इसके बाद के सभी गुणस्थान मुनि (साधु) के हैं। साधु छठे और सातवें गुणस्थान में प्रायः रहते हैं। आगे 12वें तक ध्यान की अवस्थायें हैं। 13-14वाँ गुणस्थान जीवन्मुक्त अर्हन्तों का है। आठवें से 12वें तक दो मार्ग

हैं उपशम मार्ग (8 से 11) और क्षयिक मार्ग (8 से 12)। उपशम मार्ग वाला पतित होकर छठे या पहले गुणस्थान तक गिर सकता है। क्षयिक मार्ग वाला गिरता नहीं है, अर्हतत्त्व तक जाता है।

22. कर्मों का विभाजन बौद्ध दर्शन में कुशल-अकुशल और अव्याकृत के रूप में मिलता है जिसे जैन दर्शन में पुण्य-पाप कर्म के रूप में विभक्त किया है। घाति-अघाति के रूप में भी कर्मों का विभाजन है। ज्ञानावरणादि 8 भेद भी हैं।
23. मुक्त या निर्वाण होने पर बौद्ध दर्शन में केवल दु:खाभाव कहा है जबकि जैन धर्म में दु:खाभाव तथा अतीन्द्रिय अनन्त चतुष्टय (अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन) की प्राप्ति रूप कहा है।
24. बौद्ध धर्म में 'जीव' को 'पुद्गल' कहा है जबकि जैनदर्शन में 'पुद्गल' शब्द जीव (चेतन-आत्मा) से भिन्न जड़ तत्त्व के लिए प्रयुक्त है।
25. महावीर और बुद्ध दोनों को केवलज्ञान या बोधि की प्राप्ति वृक्षतल में हुई थी।
26. जैन धर्म में कठोर तपस्या तो है परन्तु आवश्यक नहीं। चित्त की निर्मलता की प्रधानता होने से एक प्रकार से बौद्धों की तरह मध्यम मार्ग ही है।
27. याज्ञिक हिंसा तथा जन्मन: जातिवाद का खण्डन दोनों में है। बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा आभ्यन्तर भावों का प्रधान्य भी दोनों में है। बाद में बाह्य क्रियाओं को बोलबाला दोनों धर्मों में समाविष्ट हो गया।
28. महायानी बौद्ध धर्म में स्वीकृत परमार्थ सत्य और संवृत्ति सत्य की तुलना जैनों के निश्चयनय और व्यवहारनय से की जा सकती है। इससे स्याद्वाद सिद्धान्त का पोषण होता है। विज्ञानाद्वैत का आलय विज्ञान (बीजरूप) और प्रवृत्तिविज्ञान (बाह्य वस्तु का ज्ञान) भी स्याद्वाद की ओर सङ्केत करता है।
29. जैनाचार्य यशोविजय जी ने बौद्धों के क्षणिकवाद को ऋजुसूत्र नय में स्थान देकर समादर किया है।
30. जैनों ने (प्रत्यक्ष और परोक्ष) दो प्रकार के प्रमाण मानकर परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान और आगम को भी प्रमाण माना है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष (स्वलक्षण) और अनुमान (सामान्य विषय ग्राही) ये दो प्रमाण माने हैं। जैन दर्शन में प्रमाण को सामान्य-विशेष उभय विषयक कहा है। परन्तु बौद्ध ऐसा नहीं मानते।
31. जैन दर्शन में और बौद्ध दर्शन में ज्ञान को प्रमाण रूप माना है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि को प्रमाण नहीं माना। बौद्ध दर्शन में स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है जबकि जैन दर्शन में स्व पर व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान को प्रमाण माना है। अत: बौद्धों ने प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक कहा है। जैन दर्शन में उसे दर्शन कहा है ज्ञान सविकल्पक ही होता है।
32. बौद्ध प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हैं जबकि जैन भेदाभेद मानकर ज्ञान के साथ अज्ञान निवृत्ति को भी फल मानते हैं।
33. जैन हेतु का लक्षण हेतु और साध्य में अविनाभाव सम्बन्ध या अन्यथानुपपत्ति (साध्य के बिना हेतु का न पाया जाना) को मानते हैं। पक्ष सत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृतत्व रूप त्रैरूप्य हेतु को लक्षण में देना आवश्यक नहीं मानते, जबकि बौद्ध त्रैरूप्य हेतु के द्वारा असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभासों का निराकरण करना चाहते हैं। जैनों का कहना है कि अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) से ही जब कार्य सिद्ध हो जाता है तो त्रैरूप्य कहने की आवश्यकता ही नहीं है।
34. दोनों ने अपने आराध्यों को स्वस्वीकृत सिद्धान्तानुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्वयम्भू आदि नामों से सम्बोधित किया है।
35. जैन दर्शन अवतारवादी नहीं है, जबकि महायान में भगवान् बुद्ध को लोक कल्याणार्थ करुणावश अवतरण हैं, किसी ईश्वर आदि के अवतार नहीं हैं। हीनयान में और जैन दर्शन में व्यक्तिगत निर्वाण को प्रमुखता से निरूपित किया गया है। महायान में सबके निर्वाण की बात है केवल स्वमुक्ति तो स्वार्थ है।।

इस तरह दोनों दर्शनों में तुलना की दृष्टि से ये कुछ स्थूल बिन्दु बतलाए गए हैं। इनका सूक्ष्म चिन्तन अपेक्षित है। लक्ष्य दोनों का एक है 'दु:खनिवृत्ति' और दु:खनिवृत्ति के लिए आवश्यक है सभी प्रकार की आकांक्षाओं को त्यागकर वीतरागदृष्टि बनाना। भगवान बुद्ध ने आत्मा में राग की तीव्रता को देखकर अनात्मवाद को अपनाया जबकि महावीर ने आत्मज्ञान को प्रमुखता देकर राग विरक्ति का उपदेश दिया।

इक्कीसवीं शताब्दी और श्रमणाचार : एक मौलिक चिन्तन

ईशा की 21वीं शताब्दी का अभी एक दशक ही बीता है और भौतिकता की चकाचबन्ध ने श्रावक और श्रमण सभी को अपने आगोश में समेट लिया है। टी0वी0, कम्प्यूटर, मोबाइल आदि की संस्कृति ने चारों ओर आग में घी डालने का कार्य किया है। सुख-सुविधाओं का अम्बार लग जाने से व्यक्ति सुविधाभोगी हो गया है। खाने-पीने की चीजों में जहरीली दवाओं, अखाद्य वस्तुओं आदि की मिलावट ने शुद्धता को निगल लिया है। पर्यावरण विशाक्त हो गया है। जनसंख्या में वृद्धि होने से जंगल धीरे-धीरे वीरान हो रहे हैं। उपजाऊ भूमि बंजर होती जा रही है। श्रावकों की दिनचर्या भागम-भाग एवं तनावग्रस्त होने से उन्हें अध्यात्म के लिए समय निकालना कठिन हो गया है। श्रमणों में भी बहुविध शिथिलाचार पनपने लगा है। श्रमणों में शिथिलाचार का प्रवेश कराने में श्रावक भी बराबर के भागीदार हैं। श्रावक, साधुओं से अपना दुःखड़ा रोते हैं, आरम्भ-बहुल आयोजनों में उनको प्रभावना के नाम पर खसीटते हैं। हीटर, कूलर आदि से सुसज्जित महलों को उनकी वसतिका बनाते हैं, खुले मैदान समीप में न होने से छतों या कमरों में शौचादि कराके सेवक मनुष्यों से उठवाते हैं, शौचालयों के प्रयोग करने को समय की मांग बतलाते हैं, गरिष्ठ आहार देने की आवश्यकता बतलाते हैं, स्त्रियाँ उनके समीप जाकर चरण स्पर्श करती हैं, आज तो कई तरह के अनाचार भी श्रमणों के बारे में सुनने में आ रहे हैं। श्रावक इस पर अंकुश रखें।

इन परिस्थितियों में श्रमणाचार में समागत शिथिचार को कैसे रोका जाए? इस पर विचार करने के पूर्व शास्त्रानुमोदित श्रमणाचार पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है -

जब कोई श्रावक क्रमशः आत्म-विकास की दर्शन, व्रत आदि प्रतिमाओं का अभ्यास करते हुए उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं अन्तिम प्रतिमा में पहुँचकर 'ऐलक' हो जाता है तब वह जैन साधु बनने का अधिकारी होता है। साधु-सङ्घ में रहते हुए भी ऐलक अवस्था तक वह श्रावक की श्रेणी में ही आता है। इसके बाद उसकी योग्यता का परीक्षण करके आचार्य विधिपूर्वक श्रमण दीक्षा देते हैं और वह अपनी लंगोटी का भी त्याग करके दिगम्बर मुनि हो जाता है।[1] **जैन श्रमण के लिए जिन नामों** का शास्त्रों में प्रयोग मिलता है उनसे उनके गुणों और चर्या का बोध होता है, जैसे श्रमण (श्रम = तपश्चरण करने वाला या समता-भाव रखने वाला), संयत (संयमी), मुनि (चिन्तन-मनन करने वाला), ऋषि (ऋद्धिधारी), वीतरागी, अनागार (घर, स्त्री आदि के सम्बन्धों का त्यागी), भदन्त (सब कल्याणों को प्राप्त), दान्त (पञ्चेन्द्रिय-निग्रही), यति (इन्द्रियजयी), भिक्षु, योगी (तपस्वी), निर्ग्रन्थ (कर्मबन्धन की गाँठ से मुक्त), क्षपणक, निश्चेल, मुण्ड (ऋषि), दिग्वास, वातवसन, विवसन (वस्त्ररहित), आर्य, अकच्छ (लंगोटी से रहित) आदि।[2]

धवला में **श्रमणों के गुणों** को बतलाते हुए कहा है- 'सच्चे श्रमण को सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निस्पृह गोचरी वृत्ति वाला, वायु के समान निःसङ्ग (सर्वत्र भ्रमण करने वाला), सूर्य के समान तेजस्वी या तत्त्व प्रकाशक, समुद्र के समान गम्भीर, सुमेरु के समान अकम्प, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान ज्ञान-प्रभापुञ्जयुक्त, पृथ्वी के समान सहनशील, सर्प के समान अनियत वसतिका में रहने वाला, आकाश के समान निर्लेप होना चाहिए।'[3]

शुद्धोपयोगी वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त, प्रभावशाली, दयाशील, परिषह-विजेता, कामजयी, उपसर्गविजेता, शास्त्रोक्त विधि से आहार लेने वाला साधु 28 मूलगुणों तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करता है। ये मूलगुण और उत्तरगुण उसके अंशतः बहिरंग चिह्न हैं तथा आकांक्षा-रहित होकर शुद्धात्मभाव में लीन रहना अन्तरङ्ग चिह्न है। छठे गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक साधु सराग-चारित्रवाला कहलाता है और इसके बाद के गुणस्थानों में वीतराग चारित्र वाला या यथाख्यात चारित्रधारी कहा जाता है। भावरूप ध्यान की स्थिति में वह छठवें-सातवें गुणस्थान में झूला करता है। यदि परिणामों में अशुभ, क्रूरता आदि रूप परिणति होती है तो प्रथम गुणस्थान में भी पतित हो सकता है और तब वह साधु नहीं रह जाता है क्योंकि छठे गुणस्थान को प्राप्त व्यक्ति ही साधु कहलाता है। यदि कोई साधु मूलगुणों के पालन करने में अशक्त हो जाता है तो वह श्रमणचर्या पालन के योग्य नहीं रह जाता है।[4]

दिगम्बर परम्परा में वृक्षमूल के समान साधु के 28 मूलगुण बतलाए हैं जिनके बिना समस्त बाह्य योग (क्रियायें) किसी काम के नहीं हैं[5]-5 महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), 5 समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण तथा उच्चार-प्रस्रवण या प्रतिष्ठापनिका), 5 इन्द्रियनिग्रह (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण), 6 आवश्यक या नित्यकर्म (सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग) तथा 7 शेष गुण (लोच या केशलोच, आचेलक्य या नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्ताधावन, स्थित-भोजन या खड़े-खड़े अञ्जलि में आहार लेना तथा एकभक्त या एक बार दिन में भोजन)। लोचादि शेष 7 गुण दिगम्बर साधु के बाह्य विशेष चिह्न हैं। इनके अतिरिक्त अहिंसा महाव्रत की रक्षार्थ मयूरपिच्छ और शौच आदि क्रिया के निमित्त प्रासुक जलयुक्त कमण्डलु रखना। केशलोच आदि से शरीर को कष्ट-सहिष्णु तथा जितेन्द्रिय बनाया जाता है।

महाव्रतों की रक्षार्थ आहारचर्या, वसतिका आदि के सम्बन्ध में शास्त्रानुकूल आचरण सबसे अधिक आवश्यक है। इन सब नियमोपनियमों का उद्देश्य है महाव्रतों में अतिचार (दोष) न लगने देना। एकल-विहार, ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रयोग, शुभोपयोगी लौकिक-क्रियाओं का अधिक प्रयोग, मठों में स्थायी निवास आदि सर्वथा त्याज्य हैं।

इस तरह शास्त्रों में साधु की चर्या बहुत कठिन बतलायी गई है जो उचित भी है क्योंकि साधु का उद्देश्य 'आत्मकल्याण' है तथा गृहस्थ उनकी आहारादि की व्यवथा करके उनके कार्य में सहयोग करता है। जहाँ भौतिकता का साम्राज्य फैला हुआ हो वहाँ इस पञ्चम काल की 21वीं शताब्दी में तो और भी अधिक कठिन है। वस्तुत: 'आत्म-कल्याण' लक्ष्य है। अहिंसा और वीतरागता की कसौटी पर कसकर समस्त क्रियायें हों।

मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों ने श्रमण के 27 मूलगुण बतलाए हैं[6]- 1-5 पाँच महाव्रत, 6 रात्रिभोजन, 7-17 पृथ्वीकायिकादि रक्षाव्रत (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीवों का रक्षाव्रत), 18 लोभनिग्रह, 19 क्षमादि दशधर्म पालन, 20 शुभ भावना, 21 प्रतिलेखनादि शुद्ध क्रियायें करना, 22 संयम योगव्रत, 23-25 मन-वचन-काय गुप्ति, 26 शीतादि बाईस परीषहजय, 27 मारणान्तिक उपसर्ग सहत्व (सल्लेखना)।

स्थानकवासी श्वेताम्बरों द्वारा मान्य साधु के 27 मूलगुण हैं[7]- 1-5 पाँच महाव्रत, 6-10 पञ्च-इन्द्रियसंयम, 11-14 कषाय-निवृत्ति, 15-17 मन-वचन-काय समाधारण (गुप्ति), 18-20 भाव-करणयोग सत्य, 21-23 ज्ञानसम्यक्त्व, चारित्र सम्पन्नता, 24 क्षमा, 25 संवेग, 26 वेदना सहत्व (बाईस परिषहजय), 27 मारणान्तिक उपसर्ग सहत्व (सल्लेखना)।

श्वेताम्बरों ने उपाध्याय और आचार्य के क्रमश: 25 और 36 गुण बतलाए हैं परन्तु उनके नाम दिगम्बरों से भिन्न हैं। श्वेताम्बर साधु श्वेतवस्त्र धारण करते हैं, कुछ पात्रों को आहारादि हेतु रखते हैं तथा ऊननिर्मित रजोहरण का जीवरक्षार्थ प्रयोग करते हैं। भिक्षान्न गोचरी वृत्ति से 2-3 घरों से लाकर उपाश्रय में एकाधिक बार ग्रहण करते हैं। जल कई बार लेते रहते हैं। पैदल चलना, केवल चातुर्मास में एक स्थान पर रहना आदि दिगम्बरों के समान हैं। साध्वी का दर्जा साधु से नीचे माना गया है। वस्त्रादि उपकरण रखने के कारण उनकी सफाई आदि करते हैं। दीक्षा का प्रयोजन आत्म-कल्याण है।

दोनों परम्पराओं में प्रतिपादित श्रमणाचार को देखने से पता चलता है कि श्रमणदीक्षा आत्मकल्याण के लिए ली जाती है। उपदेश, धर्मप्रभावना आदि उसके आनुषङ्गिक कार्य हैं; मुख्य नहीं। दिगम्बरों के 21 मूलगुणों के साथ श्वेताम्बरों का प्राय: कोई विरोध नहीं है। शेष 7 गुणों में से केवल केशलोच को छोड़कर अन्य 6 मूलगुण उनके यहाँ नहीं हैं। जिनकल्पी श्रमण को अचेल जरूर कहा है। उत्तराध्ययनसूत्र में जब पार्श्वनाथ के शिष्य केशी और महावीर के शिष्य गौतम गणधर परस्पर मिलते हैं तो वहाँ महावीर का धर्म अचेल ही बतलाया है जिसे पार्श्वनाथ के शिष्य भी स्वीकार कर लेते हैं।[8]

अब प्रश्न यह है कि दिगम्बर श्रमण वर्तमान समय में कैसी चर्या करे ?

वसतिका और आहार- साधु की वसतिका, उपकरण और आहार के सम्बन्ध में मूलाचार आदि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से विचार है। यदि वसतिका और आहार शास्त्रानुकूल होगा तो शिथिलाचार का दोष नहीं पनपेगा। इसके लिए आवश्यक है कि नगर के बाह्य प्रदेशों में ऐसी वसतिकाएँ बनवाई जाएँ जहाँ साधु को शौचादि के लिए अनुकूल प्रदेश मिल सके तथा सांसारिक कोलाहल से दूर रहकर आत्मध्यान कर सकें। आहार के लिए नगर में प्रवेश करें अथवा वहीं आहार की व्यवस्था की जाए। साधु के साथ आहारादि के निमित्त चलने वाली ट्रक-व्यवस्था बन्द की जाए। गरिष्ठ भोजन तथा अनेक तरह के व्यञ्जन भी न हों परन्तु आवश्यक उन सभी तत्त्वों का समावेश हो जो शरीर को स्वस्थ रख सकें। साधु

उद्दिष्टत्यागी और आरम्भत्यागी होता है और श्रावक साधु के निमित्त ही आहार बनाता है जिससे साधु धर्म में अतिचार आता है। यदि श्रावक अतिथि-संविभागव्रती और शुद्ध आहार करने वाला हो तो साधु को दोष नहीं लगेगा। अत: श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह शुद्ध आहारी हो।

अदन्तधावन, केशलोच, नग्नत्व, अस्नान और स्थित-भोजन ये 5 गुण कभी-कभी पर-मतावलम्बियों के द्वारा आलोचना के विषय बनते हैं। जहाँ तक अदन्तधावन और अस्नान का प्रश्न है सो श्रावक आहार के समय अंशत: परिमार्जन कर देता है। स्थित-भोजन ऐसा हो कि अन्नादि कण जमीन पर न गिरे। केशलोच और नग्नत्व यदि अन्यमतावलम्बियों को अच्छा नहीं लगता तो न लगे। 'मयूरपिच्छ' को लेकर भी कुछ लोगों को अहिंसा को लेकर आपत्ति है परन्तु इस विषय का जब तक समुचित विकल्प नहीं मिलता है तब तक इसे न छेड़ा जाए।

मेरे विचार से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सर्वपरिग्रह-त्यागात्मक वीतरागी यह श्रमण दीक्षा आयु के अन्तिम पड़ाव पर कठिन परीक्षण के बाद दी जाए। 'ऐलक' और 'क्षुल्लक' को श्रावक महत्त्व देवें और वे श्रमणचर्या का अधिकांश अभ्यास करते रहें। तेरापन्थी श्वेताम्बर आचार्य तुलसी ने इसीलिए 'समण-समणी' की परम्परा विकसित की है जो श्रमण तो नहीं है परन्तु श्रमणचर्या करते/करती हैं। वे वाहन-प्रयोग कर सकते हैं। इसका प्रयोग प्रभावना को प्रचारित करना है। दिगम्बर भी क्षुल्लक एवं ऐलक से यह कार्य ले सकते हैं और देश-विदेश में अपने धर्म की प्रभावना कर सकते हैं क्योंकि श्रमण यह कार्य नहीं कर सकता है। यदि हम परिस्थितियों की ओट में श्रमण के नियमों में ढील देंगे तो शिथिलाचार बढ़ता ही जाएगा। अत: आगम-परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने में श्रावक को आगे आना होगा। मेरे विचार से चस्मा लगाने में कोई दोष नहीं है क्योंकि इसके अभाव में आहार आदि का शोधन ठीक नहीं होगा, अहिंसाव्रत में दोष होगा। लेपटाप, मोबाइल आदि को ज्ञान साधन मानकर श्रमण न रखे। ट्वायलेट का प्रयोग भी अनुचित है। विशेष परिस्थिति में नदी पार करने हेतु नौका प्रयोग कर सकते हैं परन्तु प्रायश्चित्त करें, यह अपवाद मार्ग है।

मेरे मित्र श्री जमना लाल जी जैन सर्वोदयी विचारधारा से प्रभावित होकर मुनिचर्या सम्बन्धी अनेक बातों की आलोचना करते हैं जो आत्मकल्याणार्थी श्रमण के विषय में अनुपयुक्त हैं। उनकी सर्वोदयी दृष्टि श्रावक पर लागू हो सकती है, श्रमण पर नहीं।[9]

टिप्पणी

1. जैनधर्म, पं0 कैलाश चन्द्र जैन, पृ0 219-222
2. समणो त्ति संजदो त्ति य रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
   णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो त्ति।। मू0आ0 888, बृहद्नयचक्र 332, प्रवचनसार, ता0 वृ0 249, भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन (आ0 देशभूषण जी), पृ0 666-673
3. सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सुरूवहिमदरिंदु-मणी।
   खिदि-उरगंबर-सरिसा परमपयविभग्गया साहू ।। ध0 1/1.1.1./31/51
   तथा देखिए पञ्चाध्यायी, उ0 670
   विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह:।
   ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। र0क0 10
4. मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादि य बाहिरं जोगं।
   बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति । मू0आ0 920 तथा पञ्चनंदि पञ्चविंशतिका 1/40 मूलाचार प्रदीप 4.312 से 319
   चक्खुं वा दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं वा दुब्बलं जस्स।
   जंघाबल-परिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ।। भ0 आ0 73
5. वद-समिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
   खिदि-सयणमदंत-धोवणं ठिदि-भोयणमेगभत्तं च। प्र0सा0 208, तथा देखें मूलाचार 1.2.3
6. नवपदाराधनविधि, पृ0 133
7. जैन स्तवप्रकाश, अमोलक ऋषि
8. उत्तराध्ययनसूत्र, केशी-गौतमीय अध्ययन 23.29
9. मुनि महाराज के मूलगुण : एक चिन्तन, पं0 जमना लाल जैन, सारनाथ

आओ खोजे : संसार की वस्तुएं किस से बनी हैं व कर्मसिद्धान्त

(जैन सिद्धान्तों का बालनाट्य विद्या से कथन)

[संदीप के घर का अध्ययन कक्ष चिन्तन की मुद्रा में संदीप। पिता जी का प्रवेश]

पापा- बेटे संदीप! क्या कर रहे हो ?

संदीप- पापा, मैं सोच रहा हूँ कि इस संसार में अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं। इनके मूल में क्या है? ये किन तत्त्वों से बनी है? इन्हें किसने बनाया है ?

पापा- बेटे ! सुनार सोने के कई आभूषण बनाता है। वे किस वस्तु से बनते हैं। उन्हें यदि गला दिया जाए तो क्या बचेगा? लुहार लोहे के बहुत से औजार बनाता है। कुम्हार मिट्टी से कई तरह की चीजें बनाता है। इन्हें तोड़ दिया जाए। तो क्या बचेगा? सोचा तुमने।

संदीप - हाँ पापा ! सोने के आभूषणों को गलाने पर सोना बचेगा। लोहे के औजार गलाने पर लोहा बचेगा और मिट्टी के बर्तनों को गलाने पर मिट्टी बचेगी। क्योंकि इनके मूल में क्रमशः सोना, लोहा और मिट्टी है।

पापा- बेटे ! इसी तरह आगे सोचो। सोने, चाँदी, लोहे, पीतल आदि की वस्तुयें किससे बनती हैं?

संदीप-धातुओं (Metals) से।

पापा- बेटे, इसी तरह आगे विश्लेषण करते-करते हम देखते हैं कि संसार में दिखलाई पड़ने वाली या स्पर्श से अनुभव में आनेवाली सभी वस्तुएँ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु से बनी है।

संदीप- हाँ पापा ! तभी किसी व्यक्ति के मरने पर लोग उसे जलाने के बाद कहते हैं कि अमुक का शरीर पृथिवी, जल, अग्नि और वायु में विलीन हो गया।

पापा- क्या इससे भी आगे सोचा है?

संदीप- नहीं पापा ! बतलाओ न पापा।

पापा - बेटे ! पृथिवी, जल, अग्नि और वायु एक ही तत्त्व से बने हैं जिन्हें जैनदर्शन में 'पुद्गल' कहा जाता है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु अलग-अलग तत्त्वों से नहीं बने हैं, जैसा तुम्हारे दोस्त नैयायिक कुमार कहते हैं। पुद्गल के सभी परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण वाले हैं। किसी में रूप है, किसी में रस है, किसी में गन्ध है और किसी में स्पर्श है; ऐसा नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों में रूपादि चारों हैं, भले ही हमें अप्रकट होने से अनुभव में न आयें। यह पुद्गल तत्त्व जड़ (अचेतन) है। पाँचों इन्द्रियों से हम इनका अथवा इनके रूपादि गुणों का ही अनुभव कर सकते हैं, अन्य द्रव्यों का नहीं। अर्थात् हम इन इन्द्रियों से जो जानते हैं वे सब पुद्गल हैं और अचेतन तथा रूप-रसादि गुण वाले हैं।

संदीप-क्या चेतन भी कोई द्रव्य है?

पापा - हाँ ! चेतन द्रव्य को आत्मा कहा जाता है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से सर्वथा रहित है। यह अजर-अमर है। आत्मा संसारावस्था में जब शरीर से युक्त होता है तो उसे 'जीव' कहते हैं। ज्ञान और दर्शन इसकी विशेष पहचान (गुण) है। शरीर पुद्गल की पर्याय (अवस्था विशेष) है। आत्मा उससे पृथक् है। शरीर तभी तक काम करता है जब तक उसका आत्मा से सम्बन्ध रहता है। आत्मा के निकल जाने पर 'अमुक मर गया' ऐसा व्यवहार देखा जाता है।

संदीप- जड़ (पुद्गल) और चेतन (आत्मा) ये दो ही मूल द्रव्य हैं अथवा अन्य भी द्रव्य हैं।

पापा - हाँ ! इनके अलावा चार द्रव्य और मानने पड़ेंगे। जैसे—गमन में सहायक गतिद्रव्य (धर्मद्रव्य), ठहरने में सहायक स्थिति द्रव्य (अधर्मद्रव्य), द्रव्यों में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन में निमित्त कारण कालद्रव्य और सभी द्रव्यों का आधारभूत (स्थान देने वाला) आकाश (space)। ये चारों जड़ हैं परन्तु पुद्गल से भिन्न है। इनमें रूप, रस आदि नहीं हैं।

संदीप - इन्हें मानने की आवश्यकता क्या है?

पापा - बेटे ! यदि धर्मद्रव्य (गति द्रव्य Lumoniferous-ether) नहीं होगा तो क्रियावान् द्रव्यों (पुद्गल और जीव) में गतिशीलता कैसे बनेगी? इसी प्रकार ठहरने की स्थिति में ठहरने में सहायक भी कोई होना चाहिए और उसका नाम है 'अधर्म द्रव्य' (स्थितिद्रव्य Field)। ये दोनों बलात् न तो क्रिया कराते हैं और न ठहराव अपितु उदासीन भाव से क्रिया और स्थिति में सहायक (निमित्त) मात्र हैं और ये दोनों सर्वलोक में व्याप्त हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो सदा गमन क्रिया या स्थिरता बनी रहेगी।यदि 'काल' (Time) को नहीं मानेंगे तो द्रव्यों में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या सम्भव नहीं है। सदा एकरूपता बनी रहेगी। इसी तरह आकाश (space) को न मानते पर ये सभी द्रव्य कहाँ रहते ? आकाश अनन्त है, एक है और व्यापक है। 'काल' रत्नों की राशि की तरह परमाणुओं के रूप में समस्त लोकाकाश (आकाश का वह क्षेत्र जहाँ पुद्गल आदि सभी द्रव्यों से युक्त सृष्टि है) में है। इसी काल के कारण वस्तुओं में परिवर्तन होता है और वर्तमान, भूत और भविष्य काल का व्यवहार होता है।

संदीप- क्या संसार को बनाने वाला ईश्वर नहीं है? ईश्वर को मान लेने पर उससे ही गति, स्थिति आदि मान लेंगे।

(मनोरमा मम्मी का प्रवेश)

मनोरमा- आप दोनों क्या कर रहे हैं? स्कूल नहीं जाना क्यों ? भोजन ठंडा हो रहा है।

पापा - चलो बेटे, मम्मी ठीक कह रही हैं। हम आगे कल विचार करेंगे। (सभी चले जाते हैं।)

(संदीप और नैयायिक कुमार परस्पर बातें कर रहे हैं। इसी बीच संदीप के पापा जी का प्रवेश। संदीप और नैयायिक कुमार उठकर अभिवादन करते हैं और यथास्थान बैठ जाते हैं)

संदीप- पापा जी। आपने कहा था कि इस संसार में मूलतः छः द्रव्य हैं-पुद्गल (रूपी अचेतन), चेतन (आत्मा या जीव), धर्म (गति-निमित्त कारण), अधर्म (स्थिति-निमित्त कारण), आकाश (आश्रय हेतु) और काल (परिवर्तन हेतु)। इनके अलावा सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सो कैसे ? हमारे मित्र नैयायिक कुमार का कहना है कि ईश्वर को स्वीकार किये बिना संसार व्यवस्था बन ही नहीं सकती। मैं इन्हें साथ ले आया हूँ। कृपया बतलाएँ।

पापा- बेटे ! ईश्वर न तो इस जगत् को बनाने वाला है, न दण्ड देने वाला है और न कृपा करने वाला है। अर्थात् ईश्वर न जनक है, न संहारक है और न पालनकर्ता है।

नैयायिक कुमार-'बिना कर्ता के कार्य नहीं होता' ऐसा नियम है। पेड़-पौधे आदि कार्य (उत्पन्न होते) हैं और उनका कर्ता हममें से कोई दिखलाई नहीं पड़ता है। अतः उनका कर्ता तो ईश्वर को मानना पड़ेगा। जैसे हम देखते हैं कि कुम्हारे घड़े को बनाता है, न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देता है और राजा प्रजा का पालन करता है, उसी प्रकार सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वव्यापक, दयालु और सर्वज्ञ कोई एक ईश्वर है, जो संसार के समस्त कार्यों का सञ्चालन अधिष्ठाता के रूप में करता है। अन्यथा समय से सूर्योदय का होना, समय से ऋतुओं का आना आदि कुछ भी नहीं होगा। पाप कर्मों का और पुण्य कर्मों का फल मृत्यु के बाद कौन देगा? पेड़-पौधों, जन्तुओं, पशुओं और मनुष्यों के शरीर की व्यवस्थित संरचना कैसे होगी ?

पापा - नैयायिक जी! आपका यह चिन्तन सामान्य धरातल का है क्योंकि इन कार्यों के लिए ईश्वर मानने पर कई असङ्गतियाँ होंगी। जैसे-जब ईश्वर दयालु है तो संसार में प्राणियों को दुःख भोगने के लिए क्यों उत्पन्न करता है? 'प्राणी पूर्व बद्ध कर्मों (पाप-पुण्य) से दुःखी और सुखी होता है' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में कोई भी प्राणी न तो पापी था और न पुण्यात्मा। ईश्वर जब सर्वशक्ति सम्पन्न है तो उसे अपनी क्रीड़ा (लीला) हेतु प्राणियों को कष्ट नहीं देना चाहिए। सबको अपने जैसा बना लेना चाहिए, सबके मन में अच्छे विचार भर देवे। सर्वकल्याण की भावना से वह ऐसा क्यों नहीं करता? क्या इसमें कोई रुकावट डालता है? यदि पूर्व कर्म रुकावट हैं तो ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न और दयालु कैसे हुआ? वह तो कर्मों के अधीन हो गया, जैसे लोक में राजा के अधीनस्थ कर्मचारी। यदि ईश्वर 'पूजा' से संतुष्ट होता है तो वह कैसा ईश्वर? वह तो आजकल के घूसखोर अफसरों जैसा राग-द्वेष युक्त हो गया। यह बात आपको भी अभीष्ट नहीं है।

(नाश्ते की प्लेटें लिए हुए मनोरमा जी का प्रवेश)।

मनोरमा-नाश्ता कर लो। भूखे पेट भजन नहीं होता। आज मन्दिर में पूजा के बाद रसगुल्ले बँटे हैं। आप सब लोग लेवें। मैं जाती हूँ।

पापा- अरी सौभाग्यवती ! तुम भी आज यहीं बैठो। सब मिलकर नाश्ता करेंगे।

नैयायिक (नाश्ता करते हुए)–आप लोग भी तो मंदिरों में महावीर भगवान (तीर्थङ्कर) की पूजा करते हैं और कामनाओं की पूर्ति हेतु उनसे प्रार्थनाएँ करते हैं। यह द्विरंगी चाल कैसी? एक तरफ तो आप ईश्वर का निषेध करते हैं और दूसरी ओर हमारी तरह ईश्वर की उपासना करते हैं। देखिए न ! अभी–अभी माता जी मंदिर से उपासना करके आई हैं।
संदीप– पापा जी ! इसका क्या जबाब होगा।
पापा – बेटे ! नैयायिक ने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। सुनो ! जैनधर्म में ऐसा कोई अनादि ईश्वर नहीं है जो संसार रचना आदि करता हो। यह एक प्राकृतिक नियम है। हम जो ईश्वर (अर्हन्त और सिद्ध) की उपासना करते हैं वह किसी फल की आकांक्षा से नहीं करते। जैनों का ईश्वर केवल सद्गुणों के चिन्तन का आधार है। उनके सद्गुणों के चिन्तन से हमारे विचारों में निर्मलता आती है। कहा है **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'** जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि होती है। विचारों की निर्मलता से पूर्वबद्ध कर्म नष्ट होते हैं और हमें अभीष्ट फल की प्राप्ति ईश्वर के बिना हस्तक्षेप के अनायास हो जाती है जैसे टी0 वी0, टेलीफोन, कम्प्यूटर आदि वैज्ञानिक उपकरण स्विच आन होते ही अपने आप कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं वैसे ही विचारों की वास्तविक निर्मलता से अभीष्ट फल की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है।

जैनों का ईश्वर ऐसा नहीं है जो संसार के किसी कार्य में रुचि लेता हो, क्योंकि वह पूर्णवीतरागी और आप्तकाम (पूर्ण संतुष्ट) है। एक समय वह ईश्वर भी हमारे आप के जैसा प्राणी था। उसने अपने मन के परिणामों की निर्मलता से अपनी शक्ति और स्वरूप को पहचाना और हमेशा के लिए सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर ईश्वर हो गया। हम भी वीतरागता पूर्ण वैसा ही सदाचरण करके ईश्वर बन सकते हैं। जैनों के ईश्वर से तात्पर्य है आत्मा का शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना। इसीलिए यहाँ प्रत्येक आत्मा को परमात्मा (ईश्वर) कहा जाता है।
मनोरमा– स्वामिन ! ईश्वर के बारे में कुछ और बतलायें।
पापा– संसार से मुक्ति की साधना करते हुए जब हम ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ से उसी जन्म में पूर्णमुक्ति (विदेह मुक्ति–सिद्धावस्था) अवश्यंभावी हो जाती है तो उसे जीवन्मुक्त या अर्हत् (चार प्रकार के ज्ञानादि गुणों के प्रतिबन्धक घातिया कर्मों से रहित) कहते हैं । ये अर्हत् ही धर्मोपदेश द्वारा जगत् का साक्षात् कल्याण करते हैं क्योंकि ये पूर्णवीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं। आयु के पूर्ण होने पर अर्हत् के शरीर का भी जब विसर्जन हो जाता है तो उसे विदेहमुक्त या सिद्ध (घातिया और शेष अघातिया सभी कर्मों से पूर्णमुक्त, अशरीरी अवस्था) कहते हैं। जैनों के यहाँ ये दोनों ही आदर्श पुरुष या ईश्वर या देवाधिदेव आराध्य हैं, अन्य नहीं। ये दुःखों से रहित, अनन्त अतीन्द्रिय आत्मिक सुखों से युक्त, वीतरागी, अपरिग्रही और सर्वज्ञ होते हैं। संसार की सृष्टि आदि से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे वीतरागी हैं। वे संसार में अवतार भी नहीं लेते। लोक–व्यवहार में उपचार से उन्हें दुःख भञ्जक कहा जाता है। इसीलिए सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही हमारें यहाँ भगवान को चढ़ाया गया प्रसाद नहीं खाते क्योंकि वह निर्माल्य है। भगवान् को चढ़ाया गया द्रव्य या प्रसाद अन्य किसी को या गाय आदि को दे दिया जाता है।
नैयायिक– अच्छा पापा जी ! आपने कर्मक्षय की बात कही वह कर्म–सिद्धान्त क्या है? बतलायें।
पापा– कल जब पिकनिक पर चलेंगे तब वहीं बतलायेंगे। अब समय हो गया है। अभी आवश्यक कार्य से जाना है।
(सब चले जाते हैं)
[संदीप के घर में पद्मप्रभु के कल्याणकों से पवित्र तथा यमुना नदी के सुरम्य तट पर स्थित प्रभाषगिरि जाने की तैयारी चल रही है। इसी बीच उसके मित्र भी आ जाते हैं। सभी लोग एक मेटाडोर लेकर पिकनिक मनाने तथा फरवरी 1996 में होने वाले पञ्चकल्याणक की तैयारी देखने प्रभाषगिरि प्रस्थान करते हैं।)
संदीप– (रास्ते में कुछ लोगों को देखकर) पापा! संसार में कुछ लोग सुखी हैं तो कुछ दुःखी, ऐसा क्यों ? कुछ लोग ज्ञानी हैं तो कुछ अज्ञानी क्यों हैं? कोई अच्छे कुल में और अच्छी जाति में तो कुछ नीच कुल में और निम्न जाति में क्यों जन्म लेते हैं? कोई व्यापार में बहुत श्रम करता है परन्तु उसे लाभ नहीं होता। कोई सामान्य श्रम करके भी बहुत लाभ प्राप्त करता है। कोई सौ वर्ष तक जीवित रहता है तो कोई जल्दी मर जाता है। कोई बीमार रहता है तो कोई स्वस्थ रहता है। कोई पाप कर्म छोड़ना चाहता है परन्तु छोड़ नहीं पाता है। कुछ लोग सुन्दर हैं और हृष्ट पुष्ट हैं तो कुछ असुन्दर और दुर्बल क्यों हैं? कोई धनवान है परन्तु सुखी नहीं है। कोई गरीब है परन्तु सुखी है। कोई देव गति में, कोई मनुष्य गति में, कोई पशु गति में, कोई नरक गति में क्यों जन्म लेता है? कोई पुरुष, कोई स्त्री, कोई नपुंसक क्यों?

पापा- बेटे! ये प्रश्न बहुत गम्भीर हैं। तुमने तो एक साथ कई प्रश्न पूंछ लिए। इसी तरह के अन्य अनेक प्रश्न सम्भव हैं। ये सब स्थितियाँ हमारे पूर्वबद्ध कर्मों के निमित्त से होती है। आज हम जैसे अच्छे या बुरे कर्म करेंगे उनका फल हमें आगे इसी जन्म में या अगले जन्मों में मिलेगा। रागद्वेष रूप परिणामों के निमित्त से हमारे अन्दर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप परिणति होती है। क्रोधादि का निमित्त पाकर कर्म-परमाणु हमारी आत्मा के साथ मिलकर उसके ऊपर एक आवरण बना लेते हैं जिससे हमारे आत्मीय ज्ञान-सुख आदि गुण प्रकट नहीं हो पाते। ऐसे कर्म मूलरूप में आठ प्रकार के हैं जिनके निमित्त से सुख- दु:ख, ज्ञान-अज्ञान, जन्म-मरण आदि परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सब कुछ पूर्वबद्धकर्मों (भाग्य) के निमित्त से ही होता है। पुरुषार्थ भी उसमें निमित्त बनता है।

ये कर्म जब अपना फल देने के लिए तत्पर (उदय को प्राप्त) होते हैं तब उस समय हमारे भावों में यदि वीतरागता के परिणाम होते हैं तो आगे कर्मबन्ध नहीं होता, यदि राग-द्वेषादिजन्य क्रोध, हिंसा आदि अशुभ भाव होते हैं तो पुन: पाप कर्मों का बन्ध होता है और यदि परोपकारादि शुभ भाव होते हैं तो पुण्य कर्मों को बन्ध होता है। पुण्य कर्मों के निमित्त से ऐश्वर्य, सुख, कीर्ति, ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है और पाप कर्मों के निमित्त से दरिद्रता, दु:ख, अपकीर्ति, अज्ञान आदि की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था सब कर्मों से पूर्ण रूप से छुटकारा पाने पर मिलती है। इसके लिए हमें प्रथमत: पाप कर्मों से विरक्त होना चाहिए।

संदीप- पापा ! आठ कर्म कौन से हैं और उनके कार्य क्या हैं?

पापा- बेटे! आत्मा की जानने (ज्ञान) की स्वाभाविक शक्ति को आवृत्त करने में निमित्त कारण **ज्ञानावरणीय कर्म** है। सब प्रकार के ज्ञान के पूर्व होने वाले दर्शनरूप साक्षात्कारात्मक शक्ति को आवृत्त करने में निमित्त कारण **दर्शनावरणीय** कर्म है। जो बाह्य आलम्बन के मिलने पर सुख-दु:ख का भोग (वेदन) कराने में निमित्त है वह **वेदनीय** कर्म हैं। यह कर्म सुख-दु:ख का वेदन कराने में निमित्त कारण मात्र है, भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति में कारण नहीं, क्योंकि भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति व्यवसाय या पुरुषार्थ से होती है तथा सम्पत्ति के होने पर सुखी होना और न होने पर दु:खी होना ऐसा नियम नहीं देखा जाता है। जिसके रहने पर राग-द्वेषादिरूप मोहभाव हों ऐसे निमित्त कारण को **मोहनीय** कर्म कहते हैं। यह सभी कर्मों में प्रधान (राजा) है। इसीके कारण हम चाहते हुए भी राग-द्वेष को नहीं छोड़ पाते। इसके हटते ही अन्य कर्मों के आवरण धीरे-धीरे आयु पूरी होने तक हट जाते हैं और आत्मा शुद्ध स्वरूप को पाकर संसार चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। **आयुकर्म** आत्मा को मनुष्य, देव आदि पर्याय धारण करने में निमित्त है अर्थात् जीव की आयु (शरीर की स्थिरता से मनुष्य आदि के जीवित रहने की समय-सीमा) का निर्धारण आयुकर्म से होता है। विविध प्रकार की शुभाशुभ शरीर की संरचना आदि में निमित्त कारण है **नामकर्म**। आत्मा के ऊँच और नीच भाव या जाति होने में निमित्त है **गोत्रकर्म**। आत्मा के दान, भोग आदि रूप भावों के न होने में कारण है **अन्तराय कर्म** अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव से सभी अनुकूलताओं के रहने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। 'दान देने की अभिलाषा रहने पर भी किसी व्यवधान के आ जाने पर दान न दे पाना' यह इसी कर्म के कारण है। यह कर्म ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ रहकर वहाँ भी व्यवधान करता है। ये ही आठ कर्म हैं। आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रति समय बंधते रहते हैं तथा फल देकर झड़ते भी रहते हैं। आयु कर्म के बारे में विशेष बाद में बतायेंगे।

मनोरमा- कर्म की यही चर्चा करते रहोगे या बस से नीचे उतरोगे। देखो, हम प्रभाषगिरी पहुँच चुके हैं।

पापा- अरे हाँ! हम कर्म-चर्चा में इतने खो गये कि कुछ पता ही नहीं चला। चलो, अब हम लोग उतरें। कर्म-विषयक शेष चर्चा अब हम बाद में करेंगे।

(सभी बस से नीचे उतरते हैं। प्रभाषगिरि में सभी लोग दर्शन, पूजन और भोजन के बाद मंदिर जी के प्रांगण में बैठे हैं)

संदीप- पापा। आप कर्मों के बारे में बतला रहे थे, उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष बतलायें।

पापा- बेटे तुमने देखा , हमारे जीवन के साथ कर्म छाया की तरह जुड़े हुए हैं। जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध रहता है तब तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है। हमारी प्रत्येक क्रिया कर्म से प्रभावित होती है। इष्ट के संयोग-वियोग से अथवा अनिष्ट के संयोग-वियोग से सुख दु:ख की अनुभूति होना, ज्ञान अज्ञान की हीनाधिक अवस्था की प्राप्ति होना, शरीर संरचना की विविधितायें होना, ऊँच नीच कुल में जन्म लेना। स्वर्ग, नर्क, तिर्यंच और मनुष्य गति की प्राप्ति होना, अल्पायु या दीर्घायु पाना, अकाल मृत्यु होना, कार्य सिद्धि में विघ्न आना, संसार के विषयों में मोह बना रहना, धर्म में आस्था न होना, आदि सब कार्य कर्म के आवरण की मौजूदगी अथवा उसके हीनाधिक आवरण के होने पर होते हैं।

इनमें फल की तथा स्थायित्व की हीनाधिकता कर्म के आवरण के अनुसार होती है। ये कर्म एक सच्चे न्यायाधीश की तरह जीव की प्रत्येक क्रिया को लिखते से जाते हैं और तदनुसार फल देते हैं। कर्मों का फलभोग अवश्यम्भावी है। अच्छे कर्मों का सुखकर फल मिलता है और खोटे कर्मों का दु:खकर फल, अन्य के लिए किया गया कर्म भी, कर्ता के द्वारा ही भोगा जाता है, अन्य के द्वारा नहीं। यहाँ इतना विशेष है कि यह कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद का पोषक नहीं है अपितु पुरूषार्थवाद का समर्थक है। इसमें भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है।

नैयायिक- हमने सुना है, आपके यहाँ कर्म के घातिया और अघातिया ये दो भेद हैं। इसका तात्पर्य क्या है।

पापा- नैयायिक जी। आपने ठीक ही सुना है। आत्मा में दो प्रकार के गुण हैं। 1. अनुजीवी स्वाभाविक गुण या विशेष गुण 2. प्रतिजीवी (सहयोगी) गुण या सामान्य गुण। विशेष गुण वे हैं जिनसे आत्मा को पहचाना जाता है और जो केवल आत्मा में पाए जाते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (शक्ति)। सामान्य गुण वे हैं जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में भी पाए जाते हैं। जैसे अवगाहनत्व, अरूपत्व आदि। इन दोनों प्रकार के गुणों में से जिनसे अनुजीवी गुणों का घात (आवरण) होता है उन्हें घातिया: कर्म कहते हैं और जिनसे प्रतिजीवी गुणों का घात (आवरण) होता है उन्हें अघातिया कर्म, कहते हैं। वस्तुत: दोनों घातिया ही हैं, अपेक्षा भेद से उन्हें घातिया और अघातिया कहा जाता है।

घातिया कर्म चार हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। शेष चार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, अघातिया कर्म हैं। प्रधानता घातिया कर्मों की है क्योंकि इनके हटने पर शेष चार अघातिया कर्म आयु पूरी होने पर निश्चय से हट जाते हैं। इसीलिए घातिया कर्मों के हटने पर जीव को जीवन्मुक्त कहा है और अघातिया कर्मों के भी हट जाने पर विदेह मुक्त या सिद्ध कहा जाता है। सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के बाद पुन: संसार में आगमन नहीं होता है। घातिया कर्मों में भी मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। वह जैसे जैसे हटता जाता है वैसे वैसे अन्य घातिया कर्म भी हटते जाते हैं। जैनदर्शन में गुणस्थान व्यवस्था (आत्मविकास के चौदह सोपान) इसी पर आधारित हैं जिसकी व्याख्या बाद में करेंगे।

अभिषेक- तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने वेदनीय को मोहनीय के पूर्व तथा अन्तराय को सबसे अन्त में क्यों कहा है? वहाँ कर्मों का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। वहाँ पहले घातिया कर्मों का फिर अघातिया कर्मों को क्यों नहीं कहा?

पापा- बेटे! बहुत गहरी सोच है तुम्हारी। ऐसा है कि अन्तराय कर्म घातिया तो है। पर वह नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों के साथ मिलकर ही अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी तरह वेदनीय कर्म सुख दु:ख का वेदन बिना मोहनीय के नहीं करा सकता। अत: उसे मोहनीय के पहले कहा है। इतना और विशेष है कि वेदनीय को उपचार से घातिया भी कहा है तथा अन्तराय को अघातिया। क्योंकि सुख-दु:ख का वेदन होने पर ही मोहनीय सक्रिय होता है और अन्तराय कर्म अन्य कर्मों के सहयोग से कार्य करता है।

मनोरमा- स्वामिन् । आयु कर्म के सम्बन्ध में विशेष बात क्या है। कृपया स्पष्ट करें।

पापा- चार गतियों के आधार पर आयु कर्म के चार भेद हैं-नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। आयु कर्म का बन्ध जीवन में एक बार होता है, शेष सात कर्मों का बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है। हमारी मानसिक , वाचिक और कायिक क्रिया के होते ही पुद्गल कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। यदि उस समय जीव में क्रोधादि कषायें या राग द्वेष भाव होते हैं तो कर्म परमाणु रागादि की तारतम्यता के अनुसार आत्मा से बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। रागादि के न रहने पर वे कर्म परमाणु तुरन्त झड़ जाते हैं, आत्मा से बन्ध नहीं होता। जब कर्मों का बन्ध होता हो तो उनका आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के रूप में योग्यतानुसार विभाजन हो जाता है। जैसे हमारे भोजन का रक्त, मज्जा, वीर्य आदि रूपों में। आयुकर्म का बन्ध सम्पूर्ण आयु के तृतीय भाग शेष रहने पर होता है। जैसे - किसी जीव की सम्पूर्ण आयु 99 वर्ष की है, तो वह 66 वर्ष के बाद 33 वर्ष शेष रहने पर अगले भव के आयु कर्म का बन्ध करेगा। अब यदि उस समय आयु कर्म के बन्ध का निमित्त नहीं मिलता है तो वह शेष आयु के त्रिभाग में आयु कर्म का बन्ध करेगा। इसी क्रम से आगे भी त्रिभाग-त्रिभाग करते जाना चाहिए जब तक आयुकर्म न बँधे। विषभक्षण या दुर्घटना के होने पर जब अकाल मृत्यु होती है तो तत्क्षण आयु कर्म बँध जाती है। एक बार नरकादि आयु कर्म बँधने के बाद में फिर नहीं बदलता, उसमें आयु सीमा घट बढ़ सकती है, परिणामों के अनुसार।

मनीषा- पापा । मैं भी कुछ पूछना चाहती हूँ।

पापा- बेटी । सूर्यास्त होने जा रहा है। चलो, पहले सायंकालीन भोजन कर लें, पश्चात् रात्रि में पुन: चर्चा करेंगे।

[तीर्थ क्षेत्र पपौसा जी की जैन धर्म शाला में रात्रि सात बजे का समय। पास में अङ्गीठी जल रही है। सब लोग उसके चारों ओर कर्म सिद्धान्त की चर्चा करने बैठे हैं। बहू अर्चना का प्रवेश)

अर्चना- पिता जी! क्या हम भी आपकी ज्ञानगोष्ठी में बैठ सकते हैं। मैंने अपने पतिदेव से आपकी कर्मसिद्धान्त की बातें सुनीं। बड़ी अच्छी लगीं। वे कह रहे थे तुम भी ज्ञानगोष्ठी में आया करो।

पापा- बहू! तुम मायके से आ गई। आओ तुम भी बैठो।

मनीषा- पापा! 'किन कार्यों के करने से कौन सा कर्मबन्ध होता है और क्या और कैसे उस कर्मबन्ध से बचा जा सकता है बतलाएँ सब लोग जानना चाहते हैं।

पापा- बेटी! इससे पूर्व यह समझो कि कर्मबन्ध होता कैसे है! मन, वचन और शरीर की क्रिया को जैन दर्शन में 'योग' कहा गया है। लोक व्यवहार में 'योग' शब्द का प्रयोग ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त है जिसका अर्थ है 'मन' वचन और शरीर की चेष्टाओं को रोककर किसी एक केन्द्र बिन्दु पर लगाना यह अर्थ यहां नहीं लेना। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग के होने पर आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द (सञ्चलन) होता है जिसके कारण जड़ कर्म परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे चुम्बक की ओर लोहा आकृष्ट होता है। कर्मों के इस आगमन को **'आस्रव'** कहते हैं। अच्छे उद्देश्य से की गई क्रिया प्रशस्त (शुभ) मानी जाती है और खोटे उद्देश्य से की गई क्रिया अप्रशस्त (अशुभ)मानी जाती है। अत: आत्मा के शुभ परिणामों (दया, सत्य वचन, परोपकार आदि भावों) से जो योग होता है उसे 'शुभ योग' कहते हैं और अशुभ परिणामों (हिंसा, असत्यवचन, चोरी, ईर्ष्या आदि भावों) से जो योग होता है उसे अशुभ योग कहते हैं। शुभ योग से पुण्य कर्मों का और अशुभ योग से पाप कर्मों का प्रधानता से आस्रव होता है।

अर्चना- पिता जी! क्या जिन कर्मों का आस्रव होता है, वे सभी बन्ध को प्राप्त होते हैं? यदि ऐसा है तो हमें कभी भी कर्मबन्ध से छुटकारा नहीं मिल सकता है।

पापा- बहू! जिन कर्मों का आस्रव होता है वे सभी बन्ध को प्राप्त नहीं होते। अपितु वे ही बन्ध को प्राप्त होते हैं जो रागादिभावों से प्रेरित होते हैं। बन्ध चार प्रकार का होता है - (1) **प्रकृति बन्ध** (कर्म का आस्रव होते ही उसमें ज्ञान-दर्शन को रोकने, सुख-दु:ख देने आदि का स्वभाव बनाना अर्थात् कर्मों का ज्ञानावरणीय आदि रूप से विभाग होना), (2) **प्रदेशबन्ध** (एक काल में जितने कर्म परमाणु बन्ध को प्राप्त होते हैं उनका परिमाण या संख्या), (3) **स्थितिबन्ध** (बँधने वाले कर्म का आत्मा के साथ कब तक सम्बन्ध रहेगा ऐसी काल मर्यादा का निश्चित होना) और (4) **अनुभाग बन्ध** या अनुभव बन्ध (कर्मबन्ध के समय ही कर्म के फल देने का हीनाधिक शक्ति का निश्चित होना)।

इन चार प्रकार के कर्मबन्ध प्रकारों में प्रथम दो प्रकार के कर्मबन्ध तो योग के निमित्त से प्रतिसमय सोते-जागते बराबर होते रहते हैं परन्तु शेष दो प्रकार का कर्मबन्ध तभी होता है जब राग-द्वेषादि भाव हों या क्रोधादि कषायरूप परिणाम हो। राग-द्वेष या कषायों की तीव्रता और मन्दता से स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध में अन्तर पड़ता है। इसीलिए कषाय सहित योग को **'साम्परायिक आस्रव'** (स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध में प्रमुख कारण) कहते हैं तथा कषायरहित योग को **'ईर्यापथ आस्रव'** (मात्र प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध में कारण) कहते हैं अर्थात् जैसे गीली दीवाल पर पड़ी हुई धूलि दीवाल के साथ चिपक जाती है वैसे ही कषाय सहित योग से ग्रहण किए गए कर्म आत्मा से संपर्क कर चिपक जाते हैं, बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। यदि दीवाल में गीलापन न हो, सूखी हो तो वह धूलि दीवाल से चिपकती नहीं तत्काल झड़ जाती है, इसी तरह कर्मों को जब आत्मस्थ राग-द्वेषरूप गीलापन नहीं मिलता तो वे आत्मा से तत्काल अलग हो जाते हैं। अत स्थिति और अनुभाग बन्ध के अभाव में प्रकृति- प्रदेश बन्ध नगण्य है। पहले से दसवें गुणस्थान तक जीव हीनाधिक कषाय सहित होते हैं तथा उसके आगे के गुणस्थान वाले मुनि कषायरहित अवस्था वाले होते हैं। इसीलिए उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता। आठवें से 10वें गुणस्थान के क्षायिक श्रेणी वाले जीव भी कषाय रहित होते हैं।

मनीषा- पापा! क्या एक सा काम करने वालों को एक ही प्रकार का कर्मबन्ध होता है या उसमें कुछ विशेषता है।

पापा- बेटी! बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है तुम्हारा। कल्पना करो, निम्न पाँच परिस्थितियों से कर्मबन्ध होने पर-(1) कोई व्यक्ति किसी को मारने का तीव्र भाव रखता है और दूसरा मन्दभाव रखता है, तो दोनों की बाह्य क्रिया समान होने पर भी उनके स्थिति -अनुभाग बन्ध में तीव्र-मन्द भावानुसार बहुत अन्तर हो जाता है। (2) कोई व्यक्ति किसी को जानबूझकर मारता है और दूसरे व्यक्ति से अज्ञानता में हिंसा हो जाती है। इन दोनों में हिंसा समान होने पर भी ज्ञात-अज्ञात भाव के

कारण स्थिति-अनुभाग बन्ध में बहुत अन्तर हो जाता है। (3) राजा, साधु या उच्च पदस्थ व्यक्ति के द्वारा बोले गए झूठ और साधारण व्यक्ति द्वारा बोले गए झूठ में बहुत अन्तर है। उच्च पदस्थ व्यक्ति के कथन का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है जबकि साधारण व्यक्ति का कम असर पड़ता है। (4) कोई स्वयं हिंसा करता है, कोई दूसरों से करवाता है, कोई केवल अनुमोदना करता है, कोई केवल मन में कल्पना करता है, कोई वचन भी हिंसापरक बोलता है और कोई मन-वचन-काया तीनों से हिंसा करता है। इन सबके बन्ध में अन्तर है। (5) कोई हिंसा करने की सोचता है पर मौका न मिलने से नहीं कर पाता और दूसरा हिंसा करने के बारे सोचता नहीं, सावधानी भी रखता है फिर भी हिंसा हो जाती है। यहाँ हिंसा न करके भी मन में सङ्कल्प करने वाला ज्यादा बन्ध करता है।

इससे स्पष्ट है कि स्थिति-अनुभाग बन्ध अन्धे कानून की तरह नहीं है। इसमें आभ्यन्तर भावों और परिस्थितियों का विशेष महत्त्व है। कोई देखे या न देखे आत्मा के भावों के अनुसार स्वचालित सतत् कम्प्यूटर यन्त्र की तरह यह बन्ध प्रक्रिया चलती रहती है। इसमें चूक नहीं होती बाहर की क्रियाओं से हम कोई सही निर्णय नहीं कर सकते। व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों से अनुमान लगा सकता है, यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार करे।

अर्चना- पिता जी! क्या पञ्चकल्याणक आदि धार्मिक आयोजनों से भी कर्मबन्ध होता है?

पापा- बहू ! समयोचित प्रश्न है तुम्हारा। इस पर दिनांक 23.2.96 को होने वाली अखिल भारतवर्षीय विद्वत्सङ्गोष्ठी में इस पर विस्तार से विचार किया जायेगा। फिर भी इतना समझ लो कि इन धार्मिक आयोजनों से अल्प पापबन्ध जरुर होता तो है परन्तु पुण्य बन्ध अधिक होता है क्योंकि यह जनकल्याणकारी प्रशस्त कर्म है।

अभिषेक - पापा बड़ी नींद आ रही है।

पापा - अच्छा बेटे तुम ठीक कहते हो। चलो अब सो जाओ क्योंकि नींद की स्थिति में ठीक नहीं समझ सकोगे। कल प्रात: पञ्चकल्याणक की भूमिपूजा में भी जाना है।

किन कार्यों से किस कर्म का बन्ध होता है

(भूमि पूजन के बाद, शास्त्र सभा में एकत्रित होने पर समूह में से एक श्रोता पंडित जी से वही प्रश्न करते हैं जो बेटी मनीषा ने पूछा था - 'किन कार्यों के करने से किस कर्म का बन्ध होता है)

एक श्रोता- महाशय, आपकी ज्ञानगोष्ठी में कर्म सिद्धान्त की चर्चा चल रही है। हम सभी लोग जानना चाहते हैं कि किन कार्यों के करने से किस कर्म का आश्रव व बन्ध होता है और कैसे उस कर्मबन्ध से बचा जा सकता है!

पंडित जी- पहले यहाँ पर यह जान लो कि प्रत्येक कर्मबन्ध के जो अलग-अलग कारण बतलाए जा रहे हैं वे केवल उसी कर्म के बन्ध के कारण नहीं हैं अपितु अन्य कर्मों का भी साथ में बन्ध कराते हैं, जैसा पहले बतला चुके हैं अत: जैनाचार्यों ने अनुभागबन्ध की अधिकता की दृष्टि से अलग-अलग कारण बतलाए हैं जैसे -

1, 2. ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण- ज्ञानावरण और दर्शनावरण के अलग-अलग कारण नहीं है। ज्ञान और दर्शन (ज्ञानपूर्व अवस्था) में व्यवधान करना, ज्ञान या ज्ञानी के प्रति ईर्ष्याभाव रखना। जैसे (1) कोई तत्त्व ज्ञान का उपदेश करता हो तो मुख से कुछ न कहकर मन में उससे ईर्ष्याभाव रखना (प्रद्वेष)। (2) किसी के पूछने पर जानते हुए भी कहना कि मैं नहीं जानता या पुस्तक आदि ज्ञानसामग्री के माँगने पर पास में होते हुए भी कह देना मेरे पास नहीं है (निह्नव)।, (3) शास्त्र ज्ञान होने पर भी दूसरों को इसलिए न बताना कि वे जान जायेंगे और मेरे वरावर ज्ञाता हो जायेंगे (मात्सर्य), (4) ज्ञानाभ्यास में किसी भी तरह का विघ्न डालना जिससे दूसरा व्यक्ति ज्ञानार्जन न कर सके (अन्तराय)।, (5) सच्चे ज्ञानी की प्रशंसा न करना (आसादना)।, (6) निर्दोष ज्ञान में झूठे दूषण लगाना। यहाँ इतना विशेष है कि दुष्ट व्यक्ति के होने पर पुस्तक आदि न देने पर ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध नहीं होगा सम्भव है वह पुस्तक वापिस न करे या उसका दुरुपयोग करे। इसी तरह अन्य कारण भी जान लेना ।

(3) **सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण**- दया करना, दान देना, सराग संयम का पालन करना, बाल तप (आत्मज्ञान हीन तप), क्षमा भाव (क्रोध शमन), लोभ त्याग (शौच) करना, अर्हन्त पूजा, मंदिर जाना, वैयावृत्ति करना, पञ्चकल्याणक करवाना आदि। पात्रादि के भेद से दया, दान आदि के फल में अन्तर पड़ता है। **असाता वेदनीय कर्मबन्ध के कारण**-

पीड़ा से दुखी होना, प्रिय वस्तु के वियोग होने पर शोक करना, अपमान होने पर संताप करना, दुखी होकर चिल्ला-चिल्लाकर रोना (आक्रन्दन), बहुत अधिक रोना जिससे सुनने वाला द्रवित हो जाए (परिदेवन), जान से मारना आदि। इस तरह स्वयं दुखी होना या दूसरों को दुखित करना असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण हैं।

एक श्रोता- यदि स्वयं दुख उठाने और दूसरों को दुख में डालने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है तो मुनि दुखकर केश लोच, उपवास, तप आदि क्यों करते हैं? दूसरों को भी वैसा करने का उपदेश क्यों देते हैं?

पंडित जी- बन्धु! क्रोधादि के वशीभूत होकर जो दुःख स्वयं उठाया जाता है या दूसरों को दिया जाता है उससे असतावेदनीय कर्मबन्ध होता है। तीर्थङ्करों ने संसार के दुःखों से पीड़ित जीवों के कल्याणार्थ वैसा उपदेश दिया है। जैसे एक डॉ. रोगी के रोग को दूर करने के लिए उसके शरीर की चीर-फाड़ करता है। उसका उद्देश्य दूसरों को दुःख देने का नहीं होता है अपितु उसे स्वस्थ करने का होता है। मुनियों को केश लोच आदि से स्वयं को भी दुःख नहीं होता क्योंकि उन्हें शरीर से निर्ममत्व भाव हो जाता है, कष्ट सहन करने का अभ्यास हो जाता है। यह आत्मशक्ति को पहचानने से होता है। जैसे एक गरीब व्यक्ति भीषण गर्मी में बिना पंखे के सड़क पर आराम से सो जाता है परन्तु धनी व्यक्ति बिजली के अभाव में रातभर तड़पता रहता है। यह क्रमशः शरीर की सहन-क्षमता एवं अक्षमता का प्रभाव है। इस क्षमता को ही मुनि जागृत करते हैं, वहाँ कषायें नहीं हैं।

(4) **दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध के कारण**- अर्हन्त केवली, जिनवाणी, मुनिसङ्घ अहिंसा धर्म और सच्चे देवों के स्वरूप पर दोषारोपण करना, निन्दा करना, देवता मदिरापान करते हैं, अर्हत हमारी तरह भोजन करते हैं, शास्त्रों में मांस भक्षण निषिद्ध नहीं है आदि कहना। मुनि की नग्नावस्था की खिल्ली उड़ाना, उन्हें शूद्र कहना इत्यादि से भी धर्म श्रद्धान में रुकावट आती है। **चरित्रमोहनीय कर्मबन्ध के कारण**- क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर स्वयं क्रोधादि करना, दूसरों को भी क्रोधादि की आग में जलाना, तपस्वी मुनियों अथवा सदाचारी व्यक्ति के आचरण में दोष लगाना आदि। इसी प्रकार दूसरों का उपहास करना, बहुत बकवास करना, व्रतों में अरुचि रखना, पापियों की सङ्गति करना, दूसरों में बैचेनी उत्पन्न करना स्वयं शोकातुर होना व दूसरों को भी शोकातुर करना, स्वयं भयभीत होना व दूसरों को भयभीत करना, अच्छी क्रियाओं में ग्लानि करना, परदोष दर्शन की प्रवृत्ति होना, राग की तीव्रता होना, परस्त्री सेवन करना आदि से भी चारित्र मोहनीय (नोकर्म मोहनीय) कर्मबन्ध होता है।

5 नरकायु कर्मबन्ध के कारण- हिसांदि कार्यों में निरन्तर प्रवृत्त रहना, विषय-भोगों में अति आसक्ति होना, धनादि का अधिक संग्रह करना, रौद्र ध्यान करना (हिंसादि का सतत चिन्तन) आदि अशुभ भाव। **तिर्यञ्चायु कर्मबन्ध के कारण**- मायाचारी करना, स्वार्थवश मिथ्याबातों का प्रचार करना, छल-कपट करना, आर्तध्यान करना (सदा दुःखी रहना) आदि। **मनुष्यायु कर्मबन्ध के कारण**- अल्प कषाय होना, थोड़ा परिग्रह रखना, सरल व्यवहार करना, विनम्र होना, मृत्यु समय शान्तभाव रखना आदि। देवागति और नरकगति का सम्यग्दृष्टि जीव नियम से मनुष्यायु कर्म का बन्ध करते हैं। **देवायु कर्मबन्ध के कारण**- देवों के प्रमुख चार प्रकार है- भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। प्रथम तीन प्रकार के देवों को भवनत्रिक कहते हैं। ये अधम देव भी कहलाते हैं यहाँ मिथ्यादृष्टि ही जन्म लेते हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं । सम्यग्दृष्टि जीव वैमानिक देव होते हैं। अल्प परिग्रह रखना, अल्प कषाय करना आदि देवायु के कारण हैं। गृहस्थ के अणुव्रतों को धारण करना (संयमासंयम), महाव्रत लेकर मुनि बनने पर भी राग का न छूटना (सराग संयम), पञ्चाग्नितप करना आदि।

6. अशुभ नाम कर्म बन्ध के कारण- सोचने, बोलने और करने में अन्तर होना, चुगल खोरी करना, आत्म-प्रशंसा करना, पर निन्दा करना, घट-बढ़ देना लेना, कुटिलता करना आदि। **शुभ नाम कर्मबन्ध के कारण**- जो कारण अशुभ नाम कर्म के कहे हैं उनसे विपरीत आचरण करना। जैसे सरलता, सदाचरण आदि। **तीर्थङ्कर नाम कर्मबन्ध के कारण**- तीर्थङ्कर (देवाधिदेव, परमात्मा) वनना बहुत गौरव की बात है। यह यद्यपि कर्मबन्ध है तथापि मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट द्वार भी है। दर्शनविशुद्धि (सम्यग्दर्शन के साथ लोककल्याण की भावना होना) आदि सोलहकारण भावना तीर्थङ्कर नाम कर्मबन्ध के कारण गिनाए हैं। उन सबमें दर्शन विशुद्धि ही प्रमुख कारण है। कुछ अन्य कारण हैं- विनय सम्पन्नता, अहिंसादि व्रतों का दोषरहित पालन, निरन्तर ज्ञानार्जन भोगों से उदासीनता, यथाशक्ति त्याग, यथाशक्ति तप आदि सदाचरण।

7 .नीच गोत्र कर्मबन्ध के कारण- दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों को छुपाना, दूसरों में

दुर्गुण न होने पर भी उसमें दुर्गुण बतलाना, अपने अन्दर गुण न होने पर भी अपने को अनेक गुणों से युक्त बतलाना, अपनी जाति- विद्या- रूप आदि का अहंकार करना, दूसरों की कृति को अपनी बताना आदि। **उच्च गोत्र कर्मबन्ध के कारण**- जो कारण नीच गोत्र कर्मवन्ध के बतलाए हैं उनसे विपरीत आचरण करना। जैसे अपने दोषों की छानबीन करते रहना, दूसरों के अच्छे गुणों को प्रकट करना, नम्रता आदि।

8. अन्तराय कर्मबन्ध के कारण- दान में विघ्न पैदा करना, भोगोपभोग में बाधक बनना, लाभ होने में बाधक होना, शक्ति के अपहरण में निमित्त बनाना। अर्थात् दूसरों के लाभ या उत्कर्ष में रूकावटें पैदा करना।

इस तरह कर्मबन्ध के कारणों का विचारकर हमें ऐसा आचरण करना चाहिए जो हमें इस जन्म में और जन्मान्तर में कल्याणकारी हो। समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान शास्त्र के सिद्धान्तों से इस व्यवस्था में कहीं कोई विरोध नहीं है।

दशलक्षण या पर्यूषण पर्व

दशलक्षण पर्व के लिए श्वेताम्बर परम्परा में पर्यूषण शब्द प्रसिद्ध है। 'पर्युषण' इस संस्कृत शब्द का अर्थ है- जिसमें सब ओर से पापकर्मों को जलाया जाए (परित: समन्तात् उष्यन्ते=दह्यन्ते कर्माणि यस्मिन् तत् पर्यूषणम्)। प्राकृत में इसे 'पेज्जूषण' कहा जाता है—पेज्ज' अर्थात् रागद्वेष और 'ऊषण' अर्थात् जलाना। इस तरह 'पर्यूषण' का अर्थ हुआ 'रागद्वेष या संसार-परिभ्रमण के कारणभूत कर्मबन्ध की निर्जरा (नष्ट) करना।'

जैसे क्रिश्चियन में 'क्रिसमस' का, मुसलमानों में 'रमजान' का और हिन्दुओं में 'नवरात्र-दशहरा' का महत्त्व है वैसे ही जैनों में दशलक्षण या पर्यूषण का महत्त्व है। यह एक आध्यात्मिक साधना तथा आत्मावलोकन का महापर्व है। इसे मिनी (छोटा) चातुर्मास भी कहते हैं। साधु तो महाव्रती होते हैं अत: वे पूर्ण रूप से धर्मनिष्ठ हैं परन्तु गृहस्थ कई कार्यों में व्यस्त रहता है। अत: उन्हें विशेष रूप से यह पर्व समाचरणीय है। इसमें गृहस्थ (श्रावक) अहिंसक आचरण का अभ्यास करते हैं, तन, वचन और मन को मांजकर उन्हें निर्मल करते हैं, क्षमा-अहिंसा को रोमरोम में बसाते हैं, आत्मा को सम्यक्त्व के रस में डुबोते हैं, अप्रमत्त होकर सर्व-परिग्रह से मुक्ति की कामना करते हैं, आत्मनिर्भर होकर आकांक्षाओं को सीमित करते हैं, क्रोध, ईर्ष्या आदि जो आत्मा के विभाव-भाव हैं उन्हें हटाकर सम्यक्त्वी क्षमा आदि स्वभाव-भाव की ओर अग्रसर होते हैं। इन दिनों में बच्चा-बच्चा एकासना या उपवास करने की इच्छा करता है। स्थानाङ्गसूत्र में धर्म के चार मार्ग बतलाए हैं जो चारों कषायों के अभाव रूप हैं- क्षमा, मार्दव, आर्जव और निर्लोभता। **श्वेताम्बर परम्परा** में यह पर्व आठ दिनों का होता है जिसे वे दिगम्बरों से पहले भाद्रपद कृष्णा बारस से भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी तक मनाते हैं तथा पञ्चमी को अथवा चतुर्थी को 'संवत्सरी' (क्षमा पर्व) का आयोजन करते हैं। संवत्सरी (संवत् अर्थात् वर्ष) का अर्थ है 'वार्षिक-प्रतिक्रमण' (दोषों का परिमार्जन, आभ्यन्तर कचड़ा हटाना एवं क्षमाभाव)। संवत्सरी को पज्जोसवणा या वर्षधर पर्व भी कहा जाता है। 'क्षमा एक 'कल्पवृक्ष' है जो स्वस्थ निर्मल चित्त की उर्वरा (उपजाऊ) भूमि में खूब लहलहाता (फलीभूत होता) है। पर्युषण पर्व की आराधना से निर्मल हुए चित्त में क्षमापना या समापन पर 'क्षमा' या 'मिच्छा मे दुक्कड़ं' (मेरा अपराध मिथ्या हो) सार्थक है। इस दिन सामूहिक प्रतिक्रिमणपाठ पढ़ा जाता है और परस्पर क्षमाभाव के बाद साधार्मिक वात्सल्य भोज की स्वस्थ परम्परा है। प्रतिदिन करणीय प्रतिक्रमण की अपेक्षा इस वार्षिक (सांवत्सरिक) प्रतिक्रमण का बड़ा महत्त्व है।

श्वेताम्बर इसे 'अष्टाह्निक पर्व भी कहते हैं। जीवाभिगम सूत्र में कहा है कि वर्ष में चार अष्टाह्निक पर्व आते हैं जो चैत्र सुदी, आषाढ़ सुदी, भाद्रपद सुदी और आश्विन सुदी सप्तमी से चतुर्दशी तक या अष्टमी से पन्द्रस तक। जो वर्ष में छह अष्टाहिक पर्व मानते हैं वे इनमें कार्तिक सुदी और फाल्गुन सुदी को जोड़ देते हैं। ऐसी मान्यता है कि इन दिनों में देवगण नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं और वहाँ अठाई महोत्सव मनाते हैं। दिगम्बर परम्परा में यह अलग पर्व है और वर्ष में तीन बार आता है- आषाढ़ सुदी (8-15), कार्तिक सुदी (8-15) तथा फाल्गुन सुदी (8-15) कर्म आठ हैं, सिद्धों के गुण 8 हैं, प्रवचनमातायें 8 हैं, अत: पर्यूषण पर्व भी आठ दिनों का होता है। इन आठ दिनों में कर्मों की निर्जरा, सिद्धों के गुणों की साधना और प्रवचन-माताओं की आराधना की जाती है। 'अन्तगडसूत्र' का अथवा 'कल्पसूत्र का पाठ किया जाता है। 'कल्प' का अर्थ है।'साधु की आचारविधि'। भद्रबाहु प्रणीत कल्पसूत्र में चौबीस तीर्थङ्करों का जीवन चरित्र है तथा

महावीर की उत्तरवर्ती स्थविरावलि भी है। इसकी गणना छेदसूत्रों में की जाती है। यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं अपितु दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन है। अन्तगड सूत्र में भगवान् नेमिनाथ और महावीर युग के 90 आत्म-साधकों का रोचक वर्णन है। यह आठवां अङ्ग ग्रन्थ है। इसके आठ वर्ग भी हैं। चमत्कार और आडम्बरों से ध्यान हटाने के लिए इसके पाठ का प्रचलन हुआ है। विशेषकर प्रथम तीन दिन अष्टाह्निका व्याख्यान होता है और चौथे दिन से कल्पसूत्र की नौ वाचनाएँ होती हैं। पाँचवें दिन तीर्थङ्कर माता त्रिशला के चौदह स्वप्न बतलाते हैं। छठे दिन महावीर की जीवनचर्या को बतलाकर उनका जन्म दिन भी मनाया जाता है। सातवें दिन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और आदिनाथ का क्रमशः वर्णन किया जाता है। आठवें दिन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पढ़ा जाता है। आठों दिन धार्मिक आयोजन होते हैं। संवत्सरी के दिन कल्पसूत्र का मूलपाठ (श्री वारसासूत्र) पढ़ा जाता है। कालान्तर में श्वेताम्बरों में निम्न चार प्रमुख पन्थ हुए- 1. **खरतरगच्छ** जिसकी स्थापना वि.सं. 1204 में आ. जिनवल्लभसूरि के शिष्य आ. जिनदत्तसूरि ने की थी। 2. **अचलगच्छ** जिसकी स्थापना वि.सं. 1213 में श्री आ. आर्यरक्षित या विजयचन्द्र सूरि ने की थी।, 3. **स्थानकवासी (लुकामत या लोकागच्छ)** जिसकी स्थापना वि.सं. 1508 में हुई थी; ये संवत्सरी भादों सुदी पञ्चमी को मनाते हैं।, 4. **तेरापन्थ** जिसकी स्थापना वि.सं. 1818 में श्री आ. भीखम जी ने की थी तथा आचार्य तुलसी और महाप्रज्ञ जिसके अनुयायी थे। ये सभी कल्पसूत्र की वाचना करते हैं।

दिगम्बर परम्परा इस पर्व को **'दशलक्षण'** पर्व के नाम से मनाते हैं। जिसमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों की आराधना की जाती है अथवा तद्रूप आचरण किया जाता है। यहाँ उत्तम शब्द सम्यक्त्व का बोधक है। वे दश धर्म निम्न हैं - 1. **उत्तम क्षमा** (क्रोध पर संयम), **2. उत्तम मार्दव** (मृदुता या मान कषाय पर संयम), 3. **उत्तम आर्जव** (ऋजुता, सरलता या माया कषाय पर संयम), 4. **उत्तम शौच** (शुचिता या लोभ कषाय पर संयम), 5. **उत्तम सत्य** (सत्यनिष्ठता या हित-मित-प्रिय वचन व्यवहार), 6. **उत्तम संयम** (शरीर, इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण), 7. **उत्तम तप** (उपवास आदि बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप करना), 8. **उत्तम त्याग** (बाह्य धनादि परिग्रह तथा अहंकार आदि आभ्यन्तर परिग्रह का विसर्जन), 9. **उत्तम आकिञ्चन** (शरीरादि से पूर्ण निर्लिप्त होना) और 10 **उत्तम ब्रह्मचर्य** (कामेच्छा से रहित होकर आत्म-ध्यान में लीन होना)। वस्तुतः ये दश धर्म नहीं हैं अपितु एक ही धर्म के दश लक्षण हैं जिसका तात्पर्य है कि कोई भी धर्म का पालन करोगे तो शेष का भी पालन करना पड़ेगा क्योंकि ये सभी आत्मा के स्वभाव हैं और एक दूसरे में गतार्थ हैं। यह पर्व दिगम्बरों में 10 दिन का होता है और क्रमशः एक-एक दिन एक-एक धर्म (उत्तम क्षमा आदि) का विशेष पालन किया जाता है। देव-पूजन, शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक आयोजन होते हैं। यह पर्व यद्यपि आष्टाह्निकों की तरह वर्ष में तीन बार (चैत्र, भाद्रपद और माघ मास में शुक्ल पक्ष की पञ्चमी से चतुर्दशी तक) आता है परन्तु भाद्रपद में ही इसके मनाने का विशेष व्यवहार है। श्वेताम्बरों में तीन बार का कोई उल्लेख नहीं है। दिगम्बरों में यह पर्व श्वेताम्बरों की सम्पूर्ति होने के बाद मनाया जाता है। दिगम्बरों के दशलक्षण पर्व के मध्य में अन्य व्रत भी आते हैं, जैसे - षोडशकारण, लब्धिविधान, रोटतीज, पुष्पाञ्जलि, शील-सप्तमी, सुगन्धदशमी, अनन्तव्रत, अनन्त-चतुर्दशी, तीर्थङ्कर शान्तिनाथ एवं सुपार्श्वनाथ का गर्भ कल्याणक, तीर्थङ्कर पुष्पदन्त और वासुपूज्य का निर्वाण (मोक्ष) कल्याणक दिगम्बरों में इस पर्व को भाद्रपद (5-14 तिथियों) में मनाने के पीछे एक घटना का उल्लेख आता है- अवसर्पिणी (जिस काल में धर्म का और सुखादि का क्रमशः ह्रास होता है) के पञ्चम आरा या काल (दुःखमा) की समाप्ति तथा छठे काल (दुःखमा-दुःखमा) के प्रारम्भ होने पर हिंसा प्रधान अनार्यवृत्ति का आविर्भाव हो जाता है। छठे काल के समाप्त होने पर और उत्सर्पिणी (जिस काल में धर्म और सुखादि का क्रमशः विकास होता है) के प्रथम काल (दुःखमा-दुःखमा) का प्रारम्भ होने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से सात सप्ताह (7×7=49 दिन) तक सात प्रकार की भयङ्कर कष्टकारी वर्षा होती है पश्चात् धर्माराधना का सुयोग आता है। इसी समय सौधर्म इन्द्र विजयार्ध की गुफा से स्त्री. पु. के 72 जोड़ों को बाहर निकालता है जिन्हें उसने प्रलय के समय (49 दिन पूर्व) वहाँ छुपाया था। श्वेताम्बर ग्रन्थ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में यह घटना उत्सर्पिणी के प्रथम आरा की समाप्ति तथा द्वितीय आरा के प्रारम्भ होने पर बतलाई है और तदनुसार श्वेताम्बर रस मेघ वाले सातवें सप्ताह में भाद्रपद कृष्णा 12 से पर्यूषण पर्व मनाते हैं तथा अन्त में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी या पञ्चमी को संवत्सरी मनाते हैं। यही दोनों परम्पराओं में अन्तर है। इसे हम वर्तमान वर्षा आदि के समयचक्र से भी समझ सकते हैं। आश्विन कृष्णा एकम् को दिगम्बर (संवत्सरी) क्षमावाणी मनाते हैं। परस्पर गले लगकर एक दूसरे से क्षमा-याचना करते हैं तथा सहभोज आदि करते हैं।

जैनधर्म की ऐतिहासिकता

जैन धर्म के इतिहास के सन्दर्भ में जैनेतरों में बड़ा भ्रम है कि इसका उद्भव भगवान् महावीर के काल से हुआ है जबकि परम्परा से इसे अनादि माना जाता है। वर्तमान इतिहास की दृष्टि से भी जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव तथा वातरशना केशी आदि मुनियों के उल्लेख हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। जैन पुराणों (पद्म पुराण 3.288, हरिवंश पुराण 9.204) में ऋषभदेव के जीवन के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं प्राय: वैसी ही सूचनाएँ हिन्दुओं के भागवत् पुराण के पञ्चम स्कन्ध के प्रथम छ: अध्यायों में प्राप्त होती है। वहाँ भी भगवान् ऋषभ को नाभि- मेरु (मरु) पुत्र तथा भरत के पिता के रूप में बतलाया गया है। वे नग्न (वीतरागी, गृहत्यागी, दिगम्बर) होकर प्राकृतिक वातावरण में रहते थे और तप:साधना के द्वारा उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया था। समस्त जैन तीर्थङ्करों में सिर्फ ऋषभदेव के मस्तक पर केशों (बालों) के कारण उन्हें केशरी कहा जाता है।

ऋग्वेद में प्राप्त अनेक उल्लेखों (4.58.3, 10.102.6, 7.21.5, 10.99.3) से स्पष्ट है कि वैदिक काल में श्रमण-संस्कृति का अस्तित्त्व था जिसका परिवर्तित रूप महादेव 'शिव' में दिखलाई पड़ता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि श्रमण जैन संस्कृति वैदिक काल में थी। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से भी इसकी प्रचीनता सिद्ध है। विष्णु के अवतारों में भी ऋषभदेव का नाम आता है। इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ की अनासक्त वृत्ति के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। नमि मिथिला के राजा थे तथा राजा जनक के पूर्वज थे। बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का वासुदेव कृष्ण के साथ चचेरे भाई का सम्बन्ध था। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुआ था। इस तरह जैन श्रमण परम्परा की ऐतिहासिकता और प्राचीनता स्वयं सिद्ध है।

जैन वास्तुकला, मंदिर निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि का भी गौरवपूर्ण इतिहास है। जैन गुफाओं और जैन शिलालेखों से भी इसके प्रमाण मिलते हैं।

श्वेताम्बर कल्पसूत्र में वर्णित तीर्थङ्कर नेमिनाथ अरिष्टनेमी के पंच कल्याणक -

तीर्थङ्कर नेमिनाथ (अर्हत् अरिष्टनेमि) को जैन शास्त्रों में श्रीकृष्ण का चचेरा भाई बतलाया गया है। कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन अपराजित नामक देवलोक से तैतीस सागरोपम आयु पूर्ण कर अर्हत् अरिष्टनेमि का जीव जम्बूद्वीप के भारतवर्ष क्षेत्र के शौर्यपुर (सौरीपुर) नगर के राजा समुद्रविजय की भार्या शिवादेवी की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय चित्रा नक्षत्र में गर्भ में अवतरित होता है। उस समय तीर्थङ्कर माता चौदह स्वप्न देखती हैं, दिगम्बर परम्परा में सोलह स्वप्न। गर्भ-कल्याणक के पश्चात् नौ मास पूरे होने पर वह जीव श्रावण शुक्ला पञ्चमी को चित्रा नक्षत्र में माता की कुक्षि से जन्म लेता है। जन्म (जन्म-कल्याणक) के समय 56 दिक्कुमारियाँ (देवलोक की युवा देवियाँ) देवराज सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से माता की सेवा में उपस्थित होती हैं। सूतिका कर्म आदि करती हुई दिक्कुमारियाँ, पर्यङ्कासनस्थ बालरूप अरिष्टनेमि तथा माता शिवादेवी को देखती हैं। देवलोक के देवगण प्रसन्नतापूर्वक स्तुति करते रहते हैं। अरिष्टनेमि का जन्म होने पर इन्द्र-पत्नी शची बालक को सूतिका गृह से बाहर लाकर तथा मायावी पुत्र को माता के पास रखकर इन्द्र को देती हैं। तत्पश्चात् देवों के साथ इन्द्र सुमेरु पर्वतशिखर पर जाकर उनका जन्मकृत जलाभिषेक करते हैं। अनन्तर अरिष्टनेमि 300वर्षों तक गृहस्थाश्रम में रहकर रैवतक पर्वत पर हजार पुरुषों के साथ जिनदीक्षा ले लेते हैं। जिनदीक्षा के पूर्व श्रीकृष्ण राजीमती के साथ उनके विवाह (अरिष्ट नेमी के) का आयोजन करते हैं। परन्तु विवाह में भोज हेतु पिंजड़ों में बन्द पशुओं के आर्तनाद को सुनकर वे विवाह करने से मना कर देते हैं। राजीमती भी जिनदीक्षा ले लेती हैं। अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत की चोटी पर स्थित बाँस के वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञानी होकर अर्हत् हो जाते हैं (केवलज्ञान कल्याणक)। कुछ कम सात सौ वर्षों तक केवलज्ञानी अर्हत् (जीवन्मुक्त) रहने के बाद 1000 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर आषाढ़ शुक्ल अष्टमी के दिन गिरनार पर्वत से मोक्ष (सिद्धत्व या निर्वाण) को प्राप्त हुए (निर्वाण कल्याणक)। तब से गिरनार पर्वत भगवान् नेमिनाथ की निर्वाण भूमि के रूप में पूज्य हो गई।

दीपावली

भारतीय पर्व संस्कृति के संवाहक होते हैं। इनके पीछे महापुरुषों के जीवन और कार्यों की घटनाओं का अपूर्व इतिहास छुपा होता है। ये केवल मौज-मस्ती से सम्बन्धित नहीं होते हैं अपितु इममें एक जनकल्याणकारी संदेश छुपा रहता है। दीपावली (दीप +आवली = दीप-पंक्ति) एक ऐसा ही ज्योति- पर्व है जो बाह्य-अन्धकार के साथ आभ्यन्तर-अन्धकार को भी दूर कर देता है। इस पर्व में हिन्दू और जैन सभी समान भाव से सम्मिलित होते हैं। इसे आध्यात्मिक चेतना का राष्ट्रीय पर्व भी कह सकते हैं। इसे मनाने के पीछे कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हमें प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। जैसे -

1. हिन्दू पुराणों के अनुसार इस दिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम चौदह वर्ष के वनवास के बाद 'रावण' नामक राक्षस का वध करके अयोध्या वापस आए थे। तब अयोध्यावासियों ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम का स्वागत करने के लिए नगर को सजाकर दीपोत्सव मनाया था।

2. हिन्दू पुराणों के ही अनुसार अत्याचारी और व्यभिचारी नरकासुर नरेश ने 16000 राज-कन्याओं को कैद कर लिया था जिससे प्रजाजन बहुत सन्त्रस्त थे। श्रीकृष्ण ने नरकासुर का वध करके उन राजकन्याओं को मुक्त कराया था। फलस्वरूप प्रजा ने खुशी में दीप जलाये थे जो कालान्तर में ज्योति-पर्व बन गया।

3. हिन्दू पुराणों के अनुसार आज के दिन अत्याचारी राजा बलि को पाताल जाना पड़ा था जिससे प्रजा में हर्ष व्याप्त हुआ था।

4. सिक्खों के छठे गुरु हरगोविन्द सिंह जी को जेल से आज के दिन मुक्त किया गया था।

5. गुरु नानक का जन्म भी इसी दिन हुआ था।

6. स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज समाधि हुई थी।

7. जैन-परम्परानुसार कार्तिक कृष्णा अमावस्या को सूर्योदयकाल (चतुर्दशी सोमवार की रात्रि का अन्तिम प्रहर तथा अमावस्या मंगलवार का उष:काल) में चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर का करीब 72 वर्ष की आयु में ई. पूर्व 527 (शक सं. 305 वर्ष 5 माह पूर्व वि.सं. 470 वर्ष पूर्व) में परिनिर्वाण हुआ था। हरिवंश पुराण, तिलोयपण्णत्ति आदि की पौराणिक भाषा में जब चौथे काल (सुषमा-दुषमा) के समाप्त होने में 3 वर्ष 8.5 माह शेष रह गए थे तब तीर्थङ्कर महावीर का परिनिर्वाण हुआ था अर्थात् सर्वज्ञता के बाद 29 वर्ष 5 माह 20 दिन बीतने के बाद तीर्थङ्कर महावीर ने अवशिष्ट चारों अघातिया कर्मों को नष्ट करके मोक्ष-लक्ष्मी का वरण किया था। इस पवित्र काल में चारों ओर एक अलौकिक प्रकाश फैल गया था। इसी दिन सायंकाल तीर्थङ्कर महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ था। इन दोनों आध्यात्मिक घटनाओं की खुशी में जैन दीपावली पर्व मनाते हैं तथा उनकी स्मृति में उस दिन से महावीर निर्वाण संवत् प्रारम्भ किया गया। आज वीर निर्वाण संवत् का 2545 वाँ वर्ष चल रहा है। इसी तरह अन्य कई घटनाएँ दीपावली पर्व के साथ जुड़ी हैं।

इस पर्व के साथ तीन अन्य पर्व भी भारतीय संस्कृति में जुड़ गए हैं जिनकी जैनधर्मानुसार व्याख्या इस प्रकार की जाती है।

(1) **धनतेरस**- कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भगवान् ने बाह्य लक्ष्मी समवसरण का त्याग करके मन, वचन और काय का निरोध किया था। उस योग-निरोध से भगवान् को मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हुई थी। अत: मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति में निमित्तभूत त्रयोदशी धन्य (धनतेरस) हो गई। अत: आज के दिन बाह्य-संग्रह का त्याग करके रत्नत्रय का संग्रह करना चाहिए। न कि बाजार से सोना, चाँदी, बर्तन आदि खरीदना चाहिए।

(2) **रूपचौदस**- का. कृ. चतुर्दशी को भगवान् महावीर ने 18 हजार शीलों को प्राप्त कर रत्नत्रय की पूर्णता की थी तथा पूर्णरूप से अपने स्वरूप में लीन हो गए थे जिससे यह 'रूप चौदस' का पर्व बन गया।

(3) **गोवर्द्धन पूजा**- कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन केवलज्ञान प्राप्ति के बाद स्वामी गणधर गौतम के मुखारबिन्द से

सप्तभङ्गी-अनेकान्त स्याद्वादमयी दिव्यध्वनि प्रथम बार प्रकट हुई थी। अत: यह दिन गोवर्द्धन पूजा (गो = वाणी = सप्तभङ्गमयी जिनवाणी का वर्द्धन) के रूप में प्रचलित हुआ। जैनेतर लोग गोबर से चित्रादि बनाकर सप्तपूत मां की कथा का श्रवण करते हैं।

(4) **दीपावली या दिवाली**- दीपावली को दिवाली भी कहते हैं जिसका एक अर्थ यह भी कुछ लोग करते हैं- 'सांसारिक प्रपञ्चों का दिवाला निकालना (कर्मों का नाश करना)। यह अर्थ भी भगवान् के परिनिर्वाण से जुड़ा है क्योंकि इस दिन उन्होंने सभी कर्मों (घातिया-अघातिया) से छुटकारा पा लिया था। चित्त की निर्मलता होने पर आत्मा में एक नाद होता है जिसके विस्फोट (पटाका फूटना) से सभी कषायें चूर-चूर हो जाती हैं। अत: हम जो रागद्वेष के जाल से जकड़े हुए हैं उसे हटाना है अर्थात् आत्म-घर की सफाई करना है। बाह्य अन्धकार के साथ आभ्यन्तर अन्धकार को भी इस दिन दूर करना चाहिए। यह इस पर्व का लक्ष्य है। जैसे तिल-तिल जलता दीपक प्रकाश देता है वैसे ही हमें तप द्वारा कर्मों को जलाकर आभ्यन्तर को प्रकाशित करना चाहिए। करुणा, दया, प्रेम, इंसानियत और वात्सल्य को प्रजाजन में उड़ेलना चाहिए। जन्म-जन्मान्तरों से ईर्ष्या, घृणा, लोभ, मोह और अहंकार की जो एक मोटी से काली परत आत्मा पर चढ़ी है उसे यदि साफ करना है तो कषायों को जलाना होगा क्योंकि पवित्र हृदय में ही मानवता की दिव्य ज्योति जगमगाती है। गरीबों की गरीबी दूर कर उन्हें प्रकाश दीप देना चाहिए। उन्हें भरपेट खाना खिलाना चाहिए।

आज दिगम्बर जैन समाज में प्रात:काल पूजा के बाद महावीर निर्वाण का लाडू चढ़ाया जाता है और सायंकाल घरों में भी पूजा आदि की जाती है। व्यापारी वर्ग लेखा-जोखा करके गणेश और लक्ष्मी का पूजन करते हैं। कुछ जैनी तिजोरियों से धन निकाल कर भगवान् महावीर के साथ गणेश और लक्ष्मी की भी एक साथ पूजा करते हैं जो ठीक नहीं है। आतिशबाजी, जुआ आदि की कुछ विसङ्गतियाँ भी आज के दिन के साथ जुड़ गई हैं। जो दीपावली की मूल धारणा के प्रतिकूल हैं। तान्त्रिक आज की रात्रि को मन्त्र-सिद्धि का अनुकूल समय मानते हैं जो सांसारिक परिभ्रमण में कारण है। वस्तुत: जैन दृष्टि से दीपावली पर्व आत्मशुद्धि द्वारा आत्मा को केवलज्ञान की ज्योति से प्रकाशित करने का पर्व है।

णमोकार मंत्र

जैनियों का यह मन्त्र हिन्दुओं के 'गायत्री मन्त्र' से भी ज्याद शक्तिशाली माना जाता है। दिगम्बर 'णमो' का प्रयोग करते हैं और श्वेताम्बर 'नमो' प्रयोग करते हैं। मन्त्र विषयक जानकारी के लिए निम्न चार्ट द्रष्टव्य है।

क्र.सं.	**णमोकार मंत्र**	**अक्षर**	**मात्रा**	**स्वर**	**व्यंजन**
1	णमो (नमो) अरिहन्ताणं	7	11	6	6
2	णमो (नमो) सिद्धाणं	5	9	5	5
3	णमो (नमो) आइरियाणं	7	11	7	5
4	णमो (नमो) उवज्झायाणं	7	12	7	6
5	णमो (नमो) लोये सत्त्वसाहूणं	9	15	9	8
	योग	35	58	34	30

इसका अर्थ है- सभी अर्हन्तों को नमस्कार हो। सभी सिद्धों को नमस्कार हो। सभी आचार्यों को नमस्कार हो। सभी उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सभी सच्चे साधुओं को नमस्कार हो। इस मन्त्र में **'लोए'** और **'सव्व'** शब्द 'अन्त्यदीपक' हैं जिनका अर्थ है इन्हें सभी मन्त्र वाक्यों के साथ जुड़ा हुआ समझना चाहिए।

प्राकृत भाषा में रचित यह पञ्च परमेष्ठी वाचक मन्त्रराज है। इसका संस्कृत रूप है नमस्कार मन्त्र। यह सभी पापों को नष्ट करने वाला और सभी मङ्गलों में प्रथम (श्रेष्ठ) मङ्गल है। कहा है -

एसो पञ्च णमोयारो सव्व-पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होई मंगलं ।।

इस मन्त्र में कुछ शब्दों का अन्य रूप भी मिलते हैं, जैसे -

(1) **अरिहंत**- मोह रूप कर्म-शत्रुओं को नष्ट करने वाला या आत्मा से अलग करने वाला। यहाँ हिंसा का भाव नहीं है।

(2) **अरहन्त** (अर्हन्त)- यह पूज्यार्थक 'अर्ह' धातु से बना है। अत: इसका अर्थ है 'पूज्य'।
(3) **'अरूहंताणं'** - संसार रूपी वृक्ष के बीज को दग्ध करने वाला। 'अरुह' अर्थात् जो बीज पुन: अंकुरित न हो।
(4) **'नमो'** श्वेताम्बर परम्परा में 'नमो' का प्रयोग मिलता है। प्राकृत के नियमानुसार 'न' को 'ण' होता है परन्तु हेमचन्द्राचार्य ने पद के आदि के 'न' के प्रयोग को उचित बतलाया है।
(5) **'आयरियाणं या आइरीयाणं'** दोनों प्रयोग मिलते हैं। प्राकृत नियमानुसार आयरियाणं में 'य' श्रुति हुई है।
(6) **'सव्व'** के स्थान पर सब्ब' भी प्रयुक्त होता है।

इस मन्त्र का सभी को प्रात:, मध्याह्न और सायंकाल अवश्य स्मरण (जप) करना चाहिए। यह नमस्कार मन्त्र अहंकार का विसर्जन करता है। आत्मशुद्धि करता है। इस मन्त्र के कई नाम हैं-पञ्च नमस्कार मन्त्र, महामन्त्र, अपराजित मन्त्र, मूलमन्त्र, अनादिनिधन मन्त्र, मंगल मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र आदि। इस मन्त्र में किसी देवता को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु जिन्होंने तप-ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण किया है तथा जो आत्म-कल्याण के मार्ग में स्थित हैं तथा भविष्य में मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं, ऐसे महापुरुषों को नमस्कार किया गया है। इस मन्त्र के द्वारा किसी प्रकार की याचना नहीं की गई है फिर भी अपने आप कार्यसिद्धि होती है, जैसे अंजन चोर को आकाश-गामिनी विद्या की प्राप्ति, मरणासन्न कुत्ते को राजकुमार जीवन्धर द्वारा यह मन्त्र सुनाने पर सुदर्शन नामक यक्षेन्द्र देवत्व की प्राप्ति। निन्दा करने पर सुभौम चक्रवर्ती को सातवें नरक की प्राप्ति।

इस महामन्त्र का संक्षिप्त रूप 'ॐ' है। 'ओम्' (अ + अ + आ + उ + म्) में पाँचों परमेष्ठियों के आदि अक्षर समाहित हैं, जैसे- अ = अरहन्त, अ = अशरीरी, सिद्ध, आ = आचार्य, उ = उपाध्याय और म् = मुनि (साधु)। कहा है

अरहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खर-णिप्पण्णो ओंकारो पञ्च परमेट्ठी ।।

इसका दूसरा संक्षिप्त रूप है- अ-सि-आ-उ-सा नम:।

यहाँ प्रश्न कर सकते हैं कि सिद्धों को पहले नमस्कार करना चाहिए क्योंकि उन्होंने आठों कर्मों को निर्जीर्ण कर दिया है जबकि अर्हन्तों ने अभी सभी अघातिया कर्मों को निर्जीर्ण नहीं किया है। इसका उत्तर है कि अर्हन्त ही हमें संसार-सागर से पार उतरने का समवसरण में दिव्य उपदेश देते हैं। अत: उन्हें प्रथम नमस्कार किया है। वे ही हमारे मार्ग दर्शक हैं। सिद्ध अशरीरी हैं उनसे साक्षात् उपदेश नहीं मिलता है। वस्तुत: 'सिद्ध' और 'अर्हन्त' ये परमात्मा की दो अवस्थायें हैं- सशरीरी-अवस्था (जीवन्मुक्त या केवलज्ञानी) और अशरीरी-अवस्था (विदेहमुक्त या सिद्ध)।

आत्मा की वैभाविकी शक्ति

आत्मा में स्वाभाविकी शक्ति के साथ वैभाविकी शक्ति (रागादिरूप अशुद्ध परिणति)भी मानी जाती है यदि वह मुक्तावस्था में भी रहेगी तब कोई भी जीव शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो सकेगा। जबकि मुक्तावस्था में उसका सर्वथा अभाव माना जाता है यह कथन कैसे सम्भव है? क्योंकि किसी भी शक्ति (गुण) का कभी भी सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। ऐसी शंका होने पर विचारणीय है कि प्रत्येक द्रव्य सत्-स्वभावी तथा परिणमनशील है। आत्मा में दो प्रकार का परिणमन करने की शक्ति है- (1) स्वाभाविक परिणमन (स्वाभाविकी क्रिया) और (2) वैभाविक परिणमन (वैभाविकी, क्रिया)। ये दोनों प्रकार के परिणमन या क्रियायें, सत् की पारिणामिक शक्तियाँ हैं; ये न तो दो स्वतन्त्र शक्तियाँ हैं और न एक ही शक्ति का द्विधा-भाव। वस्तुत: शक्ति तो एक स्वाभाविकी ही है जो निमित्त विशेष के कारण विभाव रूप परिणत होने की योग्यता रखती है।

स्वभाव-परिणमन -निमित्त-निरपेक्ष होता है और विभाव-परिणमन निमित्त-सापेक्ष होता है। निमित्त दो प्रकार के हैं- सामान्य और विशेष। 'काल' सभी द्रव्यों के परिणमन में सामान्य निमित्त है। रागादि रूप भावकर्म और ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म आत्मा के विभाव रूप परिणमन में विशेष निमित्त हैं। इन कर्मादि विशेष निमित्तों के कारण आत्मा में विभाव रूप परिणति देखी जाती है। यह वैभाविक परिणमन-विशेष निमित्त-सापेक्ष होकर भी वस्तु (आत्मा) की उस काल में प्रकट होने वाली योग्यतानुसार ही होता है। संसारावस्था में कर्म-विशेष निमित्त से अमूर्त आत्मा भी कर्मों से बद्ध होकर मूर्त सा हो जाता है, परन्तु मुक्तावस्था में कर्म-विशेष निमित्तों का अभाव होने से उसमें वैभाविक परिणति नहीं होती

है।

इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, जैसे सफेद रोशनी यदि नीले रंग के काँच के गिलास पर पड़ती है तो वह नीली हो जाती है और यदि लाल गिलास पर पड़ती है तो वह लाल हो जाती है। रोशनी तो सफेद ही है, निमित्तविशेष (नीला/लाल) मिलने पर वह नीले अथवा लाल रंग की हो जाती है, वस्तुत: वह सफेद ही है। इसी तरह आत्मा की शक्ति तो स्वाभाविकी ही है परन्तु वह निमित्त-विशेष के मिलने पर भिन्न रूप प्रतीत होने लगती है। मुक्तावस्था में कोई कर्मादि-निमित्त नहीं रहते जिससे वह स्वाभाविक रूप में ही रहती है। (विशेष के लिए देखें पञ्चाध्यायी (राजमल्लकृत 2.61 से 93 तथा जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भाग 3, पृष्ठ 557-559)

दक्षिण भारत में जैनधर्म

इतिहास से ज्ञात होता है कि सभी जैन तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, तप (दीक्षा), ज्ञान और मोक्ष- ये पाँचों कल्याणक या तो पूर्वी भारत या उत्तरी भारत से सम्बन्धित रहे हैं, फिर कब जैनधर्म दक्षिण भारत में गया? वहाँ के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थकार कौन हैं? इसके उत्तर में निम्न सन्दर्भ ध्यातव्य हैं -

आपका यह कथन सही है कि चौबीसों तीर्थङ्करों की कर्मस्थली उत्तर भारत या पूर्वी भारत रहा है परन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह भी सिद्ध है कि चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के काल में उत्तर भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बारह वर्षों के दुर्भिक्ष को देखते हुए अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने दक्षिण भारत की ओर 12 हजार साधुओं के साथ प्रस्थान किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ गये थे। उन्होंने श्रवणबेलगोल पहुँचकर अपने साथ आए साधुओं को चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशों में जाने का आदेश दिया था तथा स्वयं वहाँ अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ चन्द्रगिरि पर्वत (कलवप्पु या कटव) पर ठहर गए थे। कुछ का कहना है कि वे बाद में नेपाल की ओर चले गए थे। वस्तुत: अन्त समय आने पर उन्होंने श्रवणबेलगोल में ही समाधिपूर्वक अपने शरीर का त्याग किया था। यह बात वहीं पर स्थित 6ठीं-7वीं शताब्दी के शिलालेखों से प्रमाणित होती है। इस तरह यह तो सुनिश्चित है कि भद्रबाहु के समय (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में) जैनधर्म दक्षिण भारत में गया। हाथी-गुम्फा से प्राप्त खारवेल के शिलालेख (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) से ज्ञात होता है कि कलिंग जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था। सम्भावना है कि भगवान् महावीर ने कलिंग में विहार किया हो। इसी शिलालेख से यह भी सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व 424 के आसपास सम्राट नन्द कलिंग को जीतकर वहाँ स्थित 'जिन-प्रतिमा' को मगध ले गया था, जिस प्रतिमा को खारवेल ने मगध पर विजय प्राप्त करके पुन: उस 'जिन-प्रतिमा' को कलिंग में स्थापित किया था। खारवेल के शिलालेख से यह भी सिद्ध होता है कि खारवेल के पूर्व भी उदयगिरि पर्वत पर जैन मन्दिर थे।

स्व0 काशी प्रसाद जायसवाल ने लिखा है (जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 3, पृ0 448) कि उड़ीसा में जैनधर्म का प्रवेश शिशु नागवंशी राजा नन्दवर्धन के समय में ही हो गया था। जैनधर्म कलिंग से आन्ध्र में, आन्ध्र से तमिल में तथा तमिल से श्री लङ्का में पहुँचा। वहाँ के अनेक शासकों तथा राजवंशों का जैनधर्म को संरक्षण मिला। आशा तो है कि इसके पूर्व भी जैनधर्म वहाँ रहा होगा अथवा यह भी सम्भव है कि उनके साथ गए श्रावकों ने ही व्यवस्था की हो। जो कुछ भी हो, आज दक्षिण भारत में अनेक शिलालेख तथा कलापूर्ण विशाल जैन मन्दिर विद्यमान हैं। पं0 आशाधर जी (वि0 सं0 1300) के 'अनगारधर्मामृत' में जिन मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख आया है उनमें द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर मठाधीश मुनियों को भी गिनाया है, जिससे ज्ञात होता है कि 13वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में मठवासी भट्टारक दिगम्बर मुनियों का वर्चस्व हो गया था। यहाँ भट्टारकों ने परिस्थिति विशेष के कारण (जैन धर्म के रक्षार्थ) वस्त्रादि ग्रहण किए थे। परिणामस्वरूप जैनागमों का संरक्षण हो सका। ये वस्तुत: मुनि नहीं थ अपितु ब्रह्मचारी होकर भी पिच्छी-कमण्डलु रखते थे और मठों में रहते थे, प्रजा का भी संरक्षण करते थे। अत: इन्हें मिथ्यादृष्टि मुनि कहना अनुचित है। मैंने स्वयं उनसे इस विषय में चर्चा की है। उस समय प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों के साथ दिन-रात चलने वाले सङ्घर्ष के परिणामस्वरूप जैनधर्म में अनेक विकृतियाँ पनप गईं थीं। दसवीं शताब्दी के अन्त में राष्ट्रकूट तथा गंग राजवंशों के पतन के बाद जैनधर्म अपने आप को सम्हाल नहीं सका। तमिल के नयनारों की तरह ही बारहवीं शताब्दी के मध्य में वीर शैव धर्मावलम्बी वसव ने कर्नाटक में भी जैनधर्म के पतन में अहम भूमिका निभाई। फिर भी पन्द्रहवीं शताब्दी तक कर्नाटक

में जैनधर्म की लोकप्रियता बनी रही। 16-17वीं शताब्दी में दक्षिण भारत और पूर्वी भारत में कहीं भी जैनधर्म का प्रभाव बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि अन्य धर्मों का प्रभाव यहाँ भी व्यापक रूप ले चुका था। जहाँ तक दक्षिण भारत में जैनधर्म के अस्तित्त्व का प्रश्न है, वहाँ विशेषकर कर्नाटक जैनधर्म का प्रमुख गढ़ रहा है। दक्षिण भारत से हमें विपुल शिलालेखी प्रमाणों के अतिरिक्त जैनधर्म के आधार स्तम्भरूप ग्रन्थकर्ता आचार्यों का अस्तित्त्व मिलता है। कुछ प्रमुख रचनाकार हैं -

1. **कुन्दकुन्दाचार्य** (ई0 प्रथम शताब्दी)- कुछ इन्हें पारवर्ती मानते हैं। ये दिगम्बर जैनियों के आज भी आदर्श हैं। इसीलिए उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने आपको कुन्दकुन्दान्वयी बतलाया है। तमिल, कन्नड तथा तेलगु भाषा-भाषी इन्हें अपने-अपने प्रदेश से सम्बद्ध करते हैं। इन्होंने जैन अध्यात्म को एक नई दिशा दी है जो सभी को मान्य है। शौरसेनी प्राकृत में रचित इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं- पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार और अष्टपाहुड। इन पर उत्तरवर्ती टीकाकारों ने संस्कृत, कन्नड, हिन्दी आदि में अनेक टीकाएँ लिखी हैं। अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकायें बहुत प्रसिद्ध हैं।

2. **आचार्य उमास्वाति** (**उमास्वामी**)- ये कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य तथा जैनियों में संस्कृत के आद्य सूत्रकार हैं। इनका बाइबिल तथा भगवद्गीता की तरह प्रसिद्ध ग्रन्थ है-तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र। इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। इस पर दक्षिण के ही पूज्यपाद, अकलङ्कदेव तथा विद्यानन्दी ने संस्कृत में विशाल टीका-ग्रन्थ लिखे हैं।

3. **समन्तभद्राचार्य**- श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने आपको 'वादिमुख्य' कहा है। कर्नाटक में इस महान् तार्किक की रचनाएँ हैं- आप्तमीमांसा, रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुति आदि। ये दिगम्बर जैन साहित्य के युग-प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं।

4. **पूज्यपाद** (देवनन्दि या जिनेन्द्रबुद्धि, वि0 6-7 शताब्दी)- ये निष्णात वैयाकरण थे। इनकी रचनाएँ हैं- जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र टीका), समाधितन्त्र, इष्टोपदेश तथा दशभक्ति।

5. **अकलङ्कदेव** (8वीं शताब्दी)- ये महान् तर्कशास्त्री थे। इन्हें जैनन्याय का पिता कहा जाता है। आपकी रचनाएँ हैं- तत्त्वार्थराजवार्तिक या राजवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति), अष्टशती (आप्तमीमांसा-टीका), लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह। इनके ग्रन्थों पर विद्यानन्द, अनन्तवीर्य तथा प्रभाचन्द्र ने संस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं।

6. **विद्यानन्दाचार्य** (ई0 810-816 के आसपास)- इनका अष्टसहस्री नामक न्यायग्रन्थ आप्तमीमांसा तथा उसकी टीका अष्टशतीभाष्य का विद्वत्तापूर्ण महाभाष्य है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की टीका), आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा और विद्यानन्द महोदय भी आपके लिखे ग्रन्थ हैं।

7. **प्रभाचन्द्राचार्य**- ये धारा नगरी के राजा भोज के समकालीन थे। इनके दो महान् टीकाग्रन्थ हैं- न्यायकुमुदचन्द्र (अकलङ्क के लघीयस्त्रय की टीका), प्रमेयकमलमार्तण्ड (माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र की टीका)।

8. शाकटायन (पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष प्रथम के समकालीन)- आपकी रचना है। अमोघवृत्ति सहित शाकटायन व्याकरण।

9-11. वीरसेन, जिनसेन एवं गुणभद्र (अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में)वीरसेन स्वामी ने भूतबलि-पुष्पदन्त रचित षट्खण्डागमसूत्र पर धवला टीका तथा गुणधराचार्य रचित कसायपाहुड पर जयधवला टीका संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखीं। जयधवला टीका पूर्ण करने के पहले ही ये जब स्वर्गवासी हो गए तो इनके शिष्य जिनसेन स्वामी ने उसे पूरा किया। जिनसेनाचार्य ने कालिदास के मेघदूत को माध्यम बनाकर पार्श्वाभ्युदय नामक खण्डकाव्य भी रचा। त्रेषठशलाकापुरुषचरित लिखने की इच्छा से महापुराण को लिखना प्रारम्भ किया परन्तु शरीरान्त हो जाने से वे उसे पूरा नहीं कर सके जिसे उनके शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया।

12. **जिनसेन द्वितीय** (ई0 783)- इन्होंने हरिवंशपुराण लिखा है।

13. **सोमदेव** (ई0 959)- इनकी दो रचनाएँ हैं- यशस्तिलक चम्पू (इसके अन्तिम भाग का नाम है उपासकाध्ययन) तथा नीति वाक्यामृतम् (कौटिल्य के अर्थशास्त्र की शैली में लिखित)। ये सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषा अथवा संस्कृत में लिखे गए हैं।

अन्य रचनाएँ- ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर 12वीं शताब्दी तक दक्षिण के जैनों ने कन्नड भाषा में विपुल रचनाएँ की हैं। जैन कन्नड स्त्रियों ने भी कन्नड में साहित्य लिखकर महनीय योगदान किया है जिनमें **'कान्ति'** नाम की

कन्नड लेखिका ने अभिनव **पम्प** की अपूर्ण कविता को पूर्ण किया था। 10वीं शताब्दी में प्रसिद्ध पम्प ने आदिपुराण तथा विक्रमार्जुनविजय ग्रन्थ लिखे। **पोन्न** कवि ने शान्तिपुराण तथा भुवनैकरामाभ्युदय ग्रन्थ लिखे। **रन्न** कवि ने अजितपुराण तथा साहसभीमविजय या गदायुद्ध लिखे। **चामुण्डराय** ने त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण लिखा। इसके अतिरिक्त कन्नड जैन गन्थकारों ने गणित, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, पशुचिकित्सा आदि पर भी साहित्य लिखा। श्रीनरसिंहाचार्य ने अपने कन्नड कविचरिते में लिखा है कि कन्नड भाषा के 280 कवियों में से सर्वाधिक 95 कवि जैन थे। तमिल, तेलगु और मराठी साहित्य पर जैनों का प्रभाव कन्नड की तरह ज्यादा प्रभावक नहीं रहा। आज पूरे विश्व में जैनधर्म की प्रभावना हो रही है।

'दक्षिण में जैनधर्म' की विशेष जानकारी के लिए देखें- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-7 (पार्श्वनाथ विद्यापीठ), 'दक्षिण भारत में जैनधर्म' (पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ), 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया', जर्नल आफ बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द 3 आदि।

जैन धर्म केवल निवृत्ति प्रधान नहीं है ? समन्वयात्मक प्रवृत्ति प्रधान भी है।

भारतीय अनुसन्धान इतिहास परिषद्, नई दिल्ली के आर्थिक अनुदान से पार्श्वनाथ विद्यापीठ में एक पन्द्रह दिवसीय (12-27 मार्च) कार्यशाला आयोजित की गई थी। जिसका विषय था जैन विद्या के स्रोत एवम् उसके मौलिक सिद्धान्त'। विषय बहुत व्यापक था परन्तु इसका लक्ष्य था जैन विद्या के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण।

समन्वयात्मक दृष्टि -

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि जैन धर्म एक श्रमण परम्परा है और यह सामान्यत: निवृत्ति प्रधान मानी जाती है। यहाँ एक प्रश्न है कि क्या जैन धर्म केवल निवृत्ति प्रधान है? नहीं, निवृत्ति के अतिरिक्त यहाँ प्रवृत्ति विषयक कर्मकाण्ड तथा साहित्य भी उपलब्ध हैं। विभिन्न धार्मिक मान्यताओं की जैन धर्म में उपेक्षा नहीं की गई है अपितु उनका इनके मान्य महापुरुषों का सम्मान करते हुए न केवल विधिवत् अपनी परम्परा में अपनाया गया है अपितु उन्हें जैनधर्मानुयायी बतलाया गया है। जैसे- अवतारी राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलराम आदि को तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों (शलाका पुरुषों) के साथ जोड़कर आदर दिया गया है और जैनेतर धर्मी भाइयों की भावनाओं को सम्मान दिया गया है। इतना ही नहीं वैदिक पुराणों में घृणित भाव से चित्रित रावण, जरासंध जैसे राजाओं को भी जैन पुराणों में सम्मान देकर अनार्यों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचने दी है। रावण को दशमुखी राक्षस न मानकर विद्याधरवंशी बतलाया है। पंडित प्रवर रावण को सीता के साथ बलात्कार करने की सलाह दी जाती है परन्तु वह अपने व्रत के कारण वैसा प्रयत्न नहीं करता है। हनुमान, सुग्रीव आदि को बानर न मानकर विद्याधरवंशी बतलाया है। उनका ध्वजचिह्न अवश्य बानर था। इस तरह जैन पुराणों में पक्षपात की संकुचित भावना से ऊपर उठकर समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसी तरह नागवंशी राजाओं की हिंसात्मक पूजा-विधियों का निषेध करके उनके प्रमुख यक्ष नागादि देवताओं को अपने तीर्थङ्कर के रक्षक के रूप में स्थान दिया है। पशुओं को भी आदर देते हुए उन्हें भी तीर्थङ्कर चिह्न के रूप में समाहित किया गया है। इसी तरह वनस्पति, वायु, जल आदि के संरक्षण की आवश्यकता बतलाते हुए पर्यावरण संरक्षण को महत्त्व दिया गया है। यह समन्वयात्मक नीति जैनियों की अवसरवादिता नहीं है अपितु जैनधर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की स्वाभाविक पृष्ठभूमि है।

स्याद्वाद सिद्धान्त सभी की अनिवार्यता

जैनधर्म की उदात्त विचारधारा-स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों के परिणाम स्वरूप आज विश्व ने इसकी महत्ता को स्वीकार कर लिया है। भौतिक विज्ञान तथा तर्क के द्वारा भी इन सिद्धान्तों की पुष्टि होती है। विश्वबन्धुत्व की भावना को स्याद्वाद-सिद्धान्त के माध्यम से पल्लवित किया गया है। स्याद्वादसिद्धान्त अनिश्चयात्मक या संशयात्मक नहीं है अपितु एक निश्चयात्मक विचारदृष्टि को दर्शाता है। ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है जो इस सिद्धान्त को बिना स्वीकार किए अपने पक्ष को रख सकता हो। एक ओर वेदान्त दर्शन एकमात्र नित्य चिदात्मक ब्रह्म की सत्ता को मानता है और दृश्यमान् जगत् को मायाजाल कहता है, दूसरी ओर चार्वाक दर्शन मात्र भौतिक तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करके चैतन्य की उत्पत्ति उन्हीं का परिणमन मानता है। जैन धर्म जीव और अजीव (चित् और अचित्) दोनों

की सत्ता स्वीकार करता है परन्तु वह उन्हें सांख्य दर्शन की तरह दो मौलिक तत्त्व अथवा चित्-अचित् रूप विशिष्टाद्वैत न मानकर छह द्रव्यों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य को त्रिगुणात्मक (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप) स्वीकार करता है। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म वेदान्त की तरह न तो सत्ता को सर्वथा नित्य मानता है और न बौद्धों की तरह क्षणिक। अपितु जैन धर्म दोनों सिद्धान्तों का विधिवत् सयुक्तिक समन्वय स्थापित करता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों में भी जब उनके सिद्धान्तों में विरोध उत्पन्न होता है तो वे दो (परमार्थिक और संवृति सत्य) या तीन प्रकार की (पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्ता को स्वीकार करके अपने पक्ष में समागत विरोधों का समन्वय करते हैं। जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त भी नित्य अनित्य आदि विरोधों का समन्वय निश्चयनय-व्यवहारनय या द्रव्यार्थिकनय पर्यायार्थिकनय द्वारा करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैन धर्म मात्र एकान्तरूप मिथ्यादृष्टियों का समन्वय करता है। अपितु विभिन्न दृष्टियों से देखने पर तत्त्व हमें विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। इस विविध दृष्टिगोचरता को उजागर करते हुए जैनधर्म में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद तथा निक्षेपवाद आदि का प्रतिपादन किया है।

जैनधर्म की कसौटी अपरिग्रह और अहिंसा

संसार में सुख-शान्ति स्थापित हो इसके लिए जैन तीर्थङ्करों ने स्याद्वाद के अतिरिक्त अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर बल दिया है। अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ है 'वीतरागता' और उसका परिणाम है 'अहिंसा'। जैनधर्म के समस्त आचार और विचारों की कसौटी अहिंसा और अपरिग्रह ही है। यदि किसी धार्मिक आचरण में मन, वचन, काय से अहिंसा और अपरिग्रह की परिपुष्टि नहीं होती है तो वह सदाचार नहीं है, मिथ्यात्व या असदाचार है। अहिंसा और अपरिग्रह से व्यवहार में सुख-शान्ति सम्भव है और परमार्थ से मुक्ति भी है। ये दोनों विषम-परिस्थितियों और विरोधों में दीपक का काम करते हैं। जगत् में व्याप्त कलह, तनाव आदि से निवृत्ति का उपाय एकमात्र अहिंसा और अपरिग्रह है। अन्य जितने भी नियम और उपनियम हैं वे सब इसी धुरी के आरे हैं।

कर्मवाद और ईश्वर

जैनधर्म का दूसरा सिद्धान्त 'कर्मवाद का है जो पूर्णत: मनोवैज्ञानिक है। इसके प्रभाव से शरीर-संरचना, ज्ञान, चारित्र, आयु, संपन्नता, सुख, दु:ख, शक्ति आदि का निर्धारण होता है। मूलत: कर्म के आठ प्रकार हैं। ये अवान्तर भेदों से 148 हैं। ये कार्मण-पुद्गल आत्मा के राग-द्वेषादि परिणामों का निमित्त पाकर मूर्तिक होकर भी अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। इस सम्बन्ध को कराने में लेश्यायें गोंद की तरह कार्य करती हैं। जैनधर्म में किसी अनादि, नित्य, सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और पालनकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानी गई है। तीर्थङ्करों को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा की जाती है। यद्यपि तीर्थकर कुछ नहीं करते परन्तु उनके गुणों के चिन्तन से हमारे विचारों में परिवर्तन एवं शुद्धता आती है और हमें अच्छा फल मिलता है। यहाँ प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति को स्वीकार किया गया है। कर्म का आवरण उस शक्ति को प्रकट होने में आवरण का कार्य करता है। रत्नत्रय के प्रभाव से इस कर्म-आवरण के हटते ही आत्मा पूर्ण चैतन्यता, आनन्दावस्था, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता को प्राप्त कर लेता है।

मूल स्रोत

परम्परा से जैनधर्म अनादि माना जाता है। वर्तमान काल में आज से असंख्यात वर्ष पूर्व प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ (ऋषभदेव) हुए थे जिन्होंने सर्वप्रथम असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या (गायनादि) इन छह विद्याओं की शिक्षा दी थी तथा समाज को कार्यों के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया था- क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। बाद में ऋषभदेव के पुत्र इस युग के प्रथम चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। ऋषभदेव के भरत और बाहुबली आदि 101 पुत्र तथा ब्राह्मी, सुन्दरी ये दो पुत्रियाँ थीं। ब्राह्मी को लिपि विद्या और सुन्दरी को अंक-विद्या सिखाई। ऋषभदेव का उल्लेख हमें वेदों में भी मिलता है। इनके बाद जैनधर्म में 23 तीर्थकर और हुए जिनमें 20वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के समय मर्यादापुरुषोत्तम राम हुए। नेमिनाथ के 84650 वर्ष बाद 23वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ और उसके 248 वर्ष बाद ईसा पूर्व 599 में भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह अन्तिम 24वें तीर्थङ्कर का शासनकाल चल रहा है। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद 2544 वर्ष बीत चुके हैं। आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन चारों तीर्थङ्करों की ऐतिहासिकता सिद्ध हो चुकी है। तीर्थङ्कर महावीर के शिष्य गौतम, सुधर्मा आदि गणधरों ने 12 आगमों की रचना की पश्चात् उपांग आदि आगम परवर्ती ऋषियों ने लिखे जो आज इस धर्म के मूल स्रोत

हैं। वेदों में हमें वातरशना मुनि और केशी आदि के जो वर्णन मिलते हैं वे स्पष्टत: जैनमुनियों की ओर सङ्केत करते हैं, जैसे –

''ककर्दवे वभाभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुर्धयुक्तस्य दवतः सहानस, ऋच्छन्ति मा नि पदो मुद्गलानीम्।।''

तात्पर्य यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगी ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं। ऋग्वेद में जिन यतियों का उल्लेख आया है वे सम्भवत: जैनयति थे।

प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में विविध-विषयक विपुल साहित्य

भाषा की दृष्टि से जैनागमों की भाषा जनभाषा प्राकृत थी। वैदिकों ने संस्कृत को 'दैवी वाक् मानकर उसी भाषा में रचना की। इसका एक अच्छा परिणाम यह रहा कि प्राचीनतम् वेदों की रक्षा भली प्रकार हुई परन्तु तत्कालीन विविध लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं बन सका। भगवान् महावीर और बुद्ध ने इस कमी को पूरा करते हुए लोक भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। भगवान् बुद्ध की भाषा को बाद में 'पालि' के नाम से व्यवस्थित किया गया। महावीर के उपदेशों को उनके गणधरों ने अर्धमागधी में उपनिबद्ध किया जो 18 भाषाओं का सम्मिश्रण था। कालान्तर में शौरसेनी भाषा में दिगम्बरों के परवर्ती आगमों की रचना हुई। पश्चात् संस्कृत तथा अन्य लोक भाषाओं में विपुल साहित्य लिखा गया। यह साहित्य हमें काव्य, दर्शन, वाद्य, सङ्गीत, आयुर्वेद, मन्त्र-तन्त्र, विधि-विधान, ज्योतिष, पूजा-पाठ, योग, खगोल, गणित, आदि विविध विषयों में उपलब्ध हैं। इस साहित्य के अतिरिक्त हमें लोक-कलाओं से सम्बन्धित स्थापत्यकला, स्तूप, गुफा, मंदिर, शिलालेख आदि से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त होती है जिसके द्वारा जैनधर्म दर्शन के सिद्धान्तों को रूपायित किया गया है।

अत: हम कह सकते हैं कि जैन धर्म केवल निवृत्ति-प्रधान नहीं है अपितु लौकिक जीवन से बहुत अधिक सम्बन्ध रखता है। इसी तरह इसमें समाजोपयोगी विपुल साहित्य तथा समन्वय की प्रवृत्ति उपलब्ध है। अत: जहाँ साधुचर्या को प्रमुखता से रूपायित किया गया है वहीं गृहस्थाचार को भी प्रमुखता दी है। गृहस्थाचार को तो उत्तराध्ययनसूत्र में घोराश्रम की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इस पर चारों आश्रमों का उत्तरदायित्व होता है। मूलस्रोत के रूप में आगम ग्रन्थ, परवर्ती आगमाश्रित साहित्य तथा पुरातात्विक साक्ष्य हैं।

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और उनके दस भव

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे।[1] विश्व के विघ्न समूह का नाश करने वाले, तीन लोक के स्वामी और अनन्त महिमा वाले श्रीपार्श्वनाथ को मस्तक झुकाकर नमस्कार हो।[2]

नमः श्रीपार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौघनाशिने।
त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना ह्यनन्तमहिमात्मने।।

तीर्थङ्कर महावीर से करीब 250-300 वर्ष पूर्व जैनधर्म के 23वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवंशीय (इक्ष्वाकुवंशीय) राजा विश्वसेन (अश्वसेन हयसेन) के घर वामादेवी के गर्भ से वाराणसी में हुआ था। इनके जीवन-चरित से सम्बन्धित सामग्री जैनागमों और प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि के काव्यग्रन्थों में मिलती है। इन ग्रन्थों में चिन्तामणि,विघ्नहर पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन मिलता है जिनका अवलोकन करने से एक ही बात प्रमुख रूप से समझने में आती है 'अपने प्रति वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वाले के प्रति क्षमा, सहृदयता और मंगलभावना रखना चाहिए।' उनके जो प्रमुख दस भव बतलाये गए हैं, वे इस प्रकार हैं –

पहला भव- अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में पोदनपुर के राजा अरविन्द थे। उनके मन्त्री/पुरोहित का नाम था- विश्वभूति ब्राह्मण। ये ही पार्श्वनाथ के उस जन्म के पिता थे। उनकी माता का नाम था अनुन्धरी/अनुद्धया। उनके दो पुत्र थे- कमठ और मरुभूति। कमठ की पत्नी का नाम था- वरुणा और मरुभूति की पत्नी का नाम था वसुन्धरा। वसुन्धरा बहुत सुन्दर थी जिस पर क्रोधी और दुराचारी बड़े भाई कमठ की कामान्ध दृष्टि लगी रहती थी। एक बार मौका पाकर उसने कपटपूर्वक उसके साथ दुराचार किया। मरुभूति के कामविरक्त स्वभाव को देखकर दोनों में परस्पर सम्बन्ध होने लगा। इस बात को

जब मरुभूति ने स्वयं देखा तो उसने राजा से निवेदन किया। राजा ने कमठ को सिर मुड़ाकर राज्य से निकाल दिया। छोटे भाई मरुभूति को राज्य या श्रय मिलने से नाराज कमठ देशान्तर में जाकर पञ्चाग्नि तप करने लगा। कालान्तर में जब मरुभूति का क्रोध शान्त हुआ तो वह अपने भाई कमठ से क्षमायाचना के लिए उसके पास गया परन्तु कमठ ने क्रोधित होकर उसके ऊपर विशाल शिला से प्रहार कर दिया जिससे इन्द्रभूति का आर्तध्यानपूर्वक मरण हो गया। आर्तध्यानपूर्वक मरण होने से मरुभूति अगले जन्म में तिर्यञ्च योनि में हाथी पर्याय को प्राप्त हुआ।

दूसरा भव- इस भव में मरुभूति बज्रघोष नाम का हाथी बनता है और कमठ कुक्कुट नामक सर्प। इस भव में हाथी मुनिवेशधारी राजा अरविन्द के उपदेश से श्रावक के व्रतों को धारण करता है और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। कमठ के जीव सर्प के द्वारा डसे जाने पर वह हाथी मृत्यु को प्राप्त होता है।

तीसरा भव- इस भव में मरुभूति श्रावक के व्रतों को धारण करने के कारण सहस्रार स्वर्ग में देव होता है और कमठ धूमप्रभ नामक पाँचवें नरक में जन्म लेता है।

चौथा भव- इस भव में मरुभूति विद्युत्गति और विद्युत्माला के पुत्र के रूप में जन्म लेता है जहाँ उसका नाम अग्निवेग/किरणवेग/रश्मिवेग रखा जाता है। कमठ अजगर के रूप में जन्म लेता है और ध्यानस्थ अग्निवेग मुनि को डसता है। मुनि डसने वाले सर्प के प्रति दयाभाव रखते हैं तथा उसके अपकार को भी उपकार मानते हैं।

पाचवाँ भव- इस भव में मरुभूति अच्युत स्वर्ग में विद्युत्प्रभ देव होता है और कमठ छठे नरक को प्राप्त करता है।

छठा भव- इस भव में मरुभूति बज्रवीर्य और विजया के पुत्र के रूप में बज्रनाभ चक्रवर्ती होता है और कमठ कुरंग/कुरंगक नामक भील बनता है। इस भव में भी कमठ अपने बाणों से ध्यानस्थ बज्रनाभ मुनि का वध करता है।

सातवाँ भव- इस भव में मरुभूति मध्यम ग्रैवेयक स्वर्ग जाता है और कमठ सातवें नरक में उत्पन्न होता है।

आठवाँ भव- इस भव में बज्रबाहु/कुलिशबाहु और प्रभंकरी/सुदर्शना के पुत्र के रूप में आनन्द/सुवर्णबाहु नामक चक्रवर्ती राजा होता है और कमठ सिंह पर्याय में जन्म लेता है। यहाँ भी वह ध्यानस्थ मुनि का भक्षण करता है। शान्तपरिणामों के कारण मरुभूति तीर्थङ्कर नामकर्म प्रकृत्ति का बन्ध करता है।

नवाँ भव- इस भव में मरुभूति आनत/प्राणत स्वर्ग में महर्धिक देव होता है और कमठ चौथे नरक में जाता है।

दसवाँ भव- इस भव में मरुभूति तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लेता है और कमठ सम्वर/महिपाल नामक नीच जाति (असुर जाति) का देव होता है। इन दस भवों के मध्य में दोनों के अवान्तर कई जन्म होते हैं जिनका विशेष महत्त्व न होने के कारण केवल दस भवों को दिखाया गया है। इनमें भी दूसरा, आठवाँ और दसवाँ भव अधिक महत्त्वपूर्ण है।

दसवें भव में दो प्रमुख घटनाएँ घटती हैं-

1. राजकुमार पार्श्व जब घूमते हुए गंगा नदी के तट पर यज्ञ कर रहे तपस्वी (कमठ का जीव) के द्वारा यज्ञकुण्ड में डाली जा रही लकड़ी में अवधिज्ञान से सर्प-सर्पिणी के जीवों को देखते हैं तो उस तपस्वी को ऐसा करने से मना करते हैं। तपस्वी उनकी बात पर विश्वास नहीं करता है और लकड़ी को जब चीरता है तो उसमें से मरणासन्न सर्प-सर्पिर्णी निकलते हैं। पार्श्व उन्हें नवकार मन्त्र सुनाते हैं जिसके प्रभाव से वे दोनों सर्प-सर्पिणी नागलोक में धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में जन्म लेते हैं।

2. जब पार्श्वप्रभु ध्यानस्थ मुद्रा में कठोर तप कर रहे थे तब कहीं से कमठ का जीव सम्बरदेव/महिपाल वहाँ आता है और उन्हें देखकर पूर्वजन्म का स्मरण करता है तथा उन्हें अपना शत्रु समझकर उनके ऊपर घनघोर जलवर्षा, अग्निवर्षा आदि करके उपसर्ग करता है। जब इसका ज्ञान धरणेन्द्र और पद्मावती को होता है तो वे आकर प्रभु को अपने ऊपर बैठाकर तथा उनके सिर पर फनों का छत्र लगाकर उनकी रक्षा करते हैं। उस उपसर्ग के शान्त होने पर धरणेन्द्र और पद्मावती के साथ प्रभु पार्श्व उपसर्गकर्ता देव के प्रति भी मंगल-कामना करते हैं। पार्श्व प्रभु के पञ्च कल्याणकों की तिथियाँ हैं- (1) **च्यवन या गर्भ**- चैत्र कृ0 4 (दिग0 वैशाख वदी 2), विशाखा नक्षत्र, (2) **जन्म**- पौष कृ0 10 (दिग0 पौष कृ0 11), अनुराधा नक्षत्र (दिग0 विशाखा नक्षत्र), (3) **दीक्षा या तप**- पौष कृ0 11, (4) **ज्ञान**- चैत्र कृ0 4, विशाखा नक्षत्र, (5) **निर्वाण**- श्रावण शु0 8 (दिग0 श्रावण शु0 7) विशाखा नक्षत्र, **निर्वाण स्थल**- सम्मेदशिखर। **राशि** कुम्भ तथा **वर्ण** नीलमणि की तरह था।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार आपका विवाह प्रसेनजित राजा की पुत्री प्रभावती से हुआ था दिगम्बर में विवाह नहीं हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ की आयु 100 वर्ष की थी जिसमें 30 वर्ष तक गृहस्थ जीवन, में रहे तथा सत्तर वर्ष तक साधु

बनकर धर्मोपदेश देते रहे। श्वेताम्बर उत्तराध्ययनसूत्र के केशी(गौतमीय संवाद से ज्ञात होता है कि उन्होंने सचेल (सन्तरोत्तर) तथा चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह) धर्म का देशकालानुरूप उपदेश दिया था जिसे महावीर ने देशकाल की परिस्थिति के अनुसार रत्नत्रय का ध्यान रखकर अचेल और पञ्चयाम में परिवर्तित किया था। दिगम्बर परम्परा में सचेल-अचेल का उल्लेख तो नहीं है परन्तु चातुर्याम की चर्चा अन्य रूप में मिलती है। यहाँ महावीर ने क्षेदोपस्थापना चारित्र स्थापित किया था। देशकाल की परिस्थितियाँ आदिनाथ से लेकर महावीरपर्यन्त तक की दोनों परम्पराओं में एक जैसी मिलती हैं।

सन्दर्भ -

1. देखें- कल्पसूत्र, महापुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पसणाहचरियं (गुणभद्रगणि), पाश्वभ्युदय (जिनसेन), पार्श्वनाथचरित (वादिराज), पार्श्वनाथचरित (भट्टारक सकलकीर्ति), पार्श्वनाथपुराण (चन्द्रकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), पासचरिउ (रइधू), पासणाहचरिउ (श्रीधर, देवचन्द, पद्मनन्दि), पासपुराण (तेजपाल), पार्श्वपुराण (भूधरदास) आदि।

2. सकलकीर्ति, पार्श्वनाथचरित।

उपवास

जैन धर्म में उपवास का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। नेचुरोपैथी (प्राकृतिक-चिकित्सा-पद्धति) में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। जैन बाह्य तपों के छह भेदों में से प्रथम चार भेद किसी न किसी रूप में भोजन त्याग से सम्बन्धित हैं।

सामान्य रूप से लोग 'उपवास' का अर्थ 'दिन (दिन और रात्रि) भर के लिए अन्न-जल-फलादि 'त्याग' समझते हैं। इस प्रकार के उपवास को 'निर्जल उपवास' भी कहते हैं। जैनेतर परम्पराओं में कुछ लोग दिनभर (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) तो कुछ नहीं लेते परन्तु रात्रिभर खाते-पीते रहते हैं। कुछ लोग अन्न (गेहूँ, चावल आदि) को त्याग करके फलाहारी (फल, आलु, कुट्टू का आटा आदि) करते रहते हैं। वस्तुत: उपवास का सही रूप है जिसमें चारों प्रकार के आहार (खाद्य, लेह्य, पेय ओर स्वाद्य) के त्याग के साथ पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का तथा चारों कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) का भी त्याग हो। इसके अतिरिक्त सांसारिक प्रपञ्चों से दूर होकर शान्त भाव से स्वाध्याय-मनन या ईश्वर-प्रणिधान में चित्त को लगाया जाना भी आवश्यक है। इसके अभाव में 'लङ्घन' तो हो सकता है उपवास नहीं। अतिव्यस्तता के कारण भोजन न मिल पाने से भी उपवास नहीं होता है क्योंकि भोजन त्याग की भावना नहीं है। अत: कहा भी है -

विषय कषायारम्भत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः सो विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः।।

जैन धर्म में उपवास का बड़ा महत्त्व है। जैन सन्तों में भगवान् आदिनाथ (प्रथम तीर्थङ्कर) ने छ: मास का लगातार उपवास किया था तथा नियमानुसार आहार न मिलने पर पुन: छ: मास का उपवास किया था। संसार बन्धन के कारणभूत कर्मों की निर्जरा करने के लिए उपवास को यद्यपि बाह्य तपों में गिनाया गया है परन्तु वही उपवास जब अन्तर्ध्यान या धर्मध्यान के साथ जुड़ जाता है तो वह आभ्यन्तर तप कहलाने लगता है। जैन ग्रन्थों में उपवास को 'अनशन' (न+अशन=अनशन) भी कहा गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि इसे शक्ति के अनुसार करना चाहिए। ऐसा उपवास न कर सकने पर एकाशन (दिन में 1 बार भोजन लेना) या अवमौदर्य (भूख से कम खाना) या वृत्तिपरिसंख्यान (नियम विशेष की आकड़ी लेकर भोजन लेना) या रसपरित्याग (खट्टा-मीठा आदि कुछ रसों का त्याग करना, रूखा-सूखा उबला भोजन करना) करने का विधान है। इन सभी प्रकारों में भूख से कम खाना (कम से कम 1/4 भाग पेट का खाली रखना) आवश्यक है। 'ऊनोदर्य' उपवास से भी कठिन है। उपवास को 'प्रोषधोपवास भी कहा गया है जिसमें प्रथम दिन एक बार भोजन किया जाता है दूसरे दिन पूर्ण उपवास फिर तीसरे दिन एकासन। प्रोषध का अर्थ पर्व (अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व) भी किया जाता है। अर्थात् उन तिथियों में उपवास करना प्रोषधोपवास है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस उपवास के महत्त्व को समझा था तथा प्रयोग भी किया था। यदि उपवास को सात्विक विधि से किया जाता है तो शरीर की बहुत सी बीमारियों से बचा जा सकता है। आयुर्वेद में भी इसका महत्त्व

प्रतिपादित है। एलोपेथी में भी कुछ परिस्थितियों में अन्न, जल-ग्रहण का निषेध किया जाता है। दिगम्बर जैन साधु तो नियम से बारह महीना एकाशना करते हैं और बीच-बीच में पूर्ण सात्विक उपवास भी करते हैं, इसीलिए बीमारियों से बचे रहते हैं। आज जैन समाज में कई ऐसे गृहस्थ भी हैं जो 1-1 मास का उपवास करते हैं। पर्युषण (दशलक्षण) पर्व पर तो बहुत से साधक 1 दिन, 5 दिन या 10 दिनों का लगातार उपवास रखते हैं। उपवास से हमारा कोलोस्ट्रोल कम होता है। इसलिए स्थूल शरीर वालों को कम खाने की हिदायत दी जाती है। नेचुरोपैथी में तो उपवास आदि क्रियाओं के माध्यम से ही शरीर के विकारों का शोधन करके व्यक्ति को निरोग किया जाता है।

उपवास का सही फल तब नहीं मिलता है जब व्यक्ति पहले दिन ठूंस-ठूंस कर खा लेता है, उपवास के दिन सात्विक विचार नहीं रखता है, सांसारिक कार्यों को करता रहता है। वस्तुतः उपवास के दूसरे-तीसरे दिन भी विधिपूर्वक (संयम के साथ) आहारादि लेना है क्योंकि आगे भी नियमों का पालन आवश्यक है। उपवास यदि विधिवत् तथा अनुभवी गुरु की देखरेख में नहीं किया जायेगा तो लाभ के स्थान पर हानि भी सम्भव है क्योंकि उपवास के बाद गरिष्ठ और अतिभोजन से आंतें चिपक सकती हैं। किसे करना चाहिए और कब करना चाहिए यह भी जानना चाहिए। इस तरह सही उपवास वही है जिसमें जितेन्द्रिय व्यक्ति विषय भोगों तथा लोभादि कषायों से विरक्त) होता है। जितेन्द्रिय वीतरागी व्यक्ति भोजन करते हुए भी उपवासी कहलाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है -

उवसमणो अक्खाणं उववासो वण्णिदो समासेण।
भुजंता वि य जिदिंदिया होंति उपवासा।।439।।

अर्थ- तीर्थङ्कर गणधरादि मुनीन्द्रों ने उपशमन (इन्द्रियों की आसक्ति पर विजय) को उपवास कहा है। इसीलिए जितेन्द्रिय मुनि भोजन करते हुए भी उपवासी कहलाते हैं। इसतरह उपवास में पाँचों इन्द्रियों को संयमित करके शान्त परिणामी होना आवश्यक है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में अन्तर

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों में क्या अन्तर है इसे जानने से पूर्व इसके इतिहास-क्रम को जानना आवश्यक है। आज से 2544 वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर (जन्म ई. पूर्व 599) के निर्वाण (ई. पूर्व 527) के 162 वर्षों तक (चन्द्रगुप्त के शासनकाल तक) जैन सङ्घ में कोई मतभेद नहीं था। महावीर के बाद गौतम, सुधर्मा और जम्बू स्वामी ये तीनों गणधर केवली (अनुबद्ध केवलज्ञानी) हुए।

जम्बू केवली के बाद श्वेताम्बर परम्परानुसार क्रमशः प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय और भद्रबाहु ये पाँच चौदह पूर्वो के ज्ञाता हुए। संभूतिविजय और भद्रबाहु ये दोनों यशोभद्र के शिष्य थे। संभूतिविजय के शिष्य स्थूलभद्र थे। दिगम्बर-परम्परानुसार जम्बू स्वामी के बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली (आगमज्ञ) हुए। इस तरह भद्रबाहु को दोनों परम्पराओं ने मान्य किया। इसके बाद निमित्तज्ञानी भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के शासनकाल में मगध में पड़ने वाले 12 वर्षीय अकाल को जानकर अपने सङ्घ के साथ दक्षिण में समुद्र तट की ओर चले गए। जो शेष साधु बचे वे स्थूलभद्र (निर्वाण, वी.नि. सं. 219) के नेतृत्व में वहीं रह गए।

अकाल के दूर होने पर पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र ने जैन साधुओं का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें मौखिक परम्परा से चले आ रहे ग्यारह अङ्ग ग्रन्थों का सङ्कलन किया गया। बारहवाँ अङ्ग 'दृष्टिवाद' भद्रबाहु के अलावा किसी दूसरे को याद नहीं था। उनकी अनुपस्थिति से उसका सङ्कलन नहीं हो सका। इसके बाद आर्य स्कन्दिल (ई. सन् 300-313) के नेतृत्व में मथुरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। करीब इसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में वलभी (सौराष्ट्र) में भी एक सम्मेलन हुआ। इसके बाद दोनों नेता आपस में नहीं मिल सके जिससे आगमों का अंशतः पाठभेद बना रह गया। इसके बाद देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी में एक तीसरा सम्मेलन (वी.नि. सं. 980-993) हुआ। इसमें जिसे जो याद था उसे पुस्तकारूढ़ कर दिया गया।

इधर दिगम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद (ई. सन् प्रथम शताब्दी मध्यकाल) गिरनार पर्वत की चन्द्र गुफा में तपस्या में लीन आचार्य धरसेन के पास (महाराष्ट्र में स्थित नगरी) आचार्य अर्हद्बलि ने पुष्पदन्त और

भूतबलि नामक दो शिष्यों को भेजा। वहाँ कुछ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर दोनों ने मिलकर षट्खण्डागम ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया। इसके बाद गुणधर ने कसायपाहुड और आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसारादि ग्रन्थों की रचना की। यही आज दिगम्बर परम्परा के मान्य आगम हैं। दिगम्बरों ने सभी अङ्ग आगम ग्रन्थों और उपाङ्ग आगम ग्रन्थों का लोप स्वीकार कर लिया, जो एक बड़ी भूल हुई।

इधर उत्तर भारत में अकाल की विशेष परिस्थितियों में स्थूलभद्र के सङ्घ ने अपवाद स्वरूप वस्त्रादि ग्रहण करके कुछ नियमों में शिथिलता को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप आगे चलकर (ई.सन् प्रथम शताब्दी) श्वेताम्बर, दिगम्बर भेद बन गए और दोनों की गुर्वावलियाँ भिन्न हो गईं। प्रारम्भिक मतभेद साधु के वस्त्र को लेकर था, गुरु और शास्त्र में मतभेद होने पर भी बहुत समय तक एक ही प्रकार की मूर्ति की दोनों उपासना करते रहे परन्तु बाद में आराध्य में भेद न करके मूर्तियों की संरचना में अन्तर कर दिया गया। कुछ मान्यताओं में तथा कुछ बाह्य क्रियाओं आदि में बाह्य मतभेद होने पर भी बौद्धों की तरह दार्शनिक सिद्धान्तों (छह द्रव्य, सात तत्त्व, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, पाँच महाव्रत, अहिंसा, वीतरागता आदि) में मतभेद नहीं हुए।

इस ऐतिहासिकता को दृष्टि में रखकर परम्पराओं की भिन्नता को निम्न सारणी द्वारा दर्शाया जा सकता है-

श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत	**दिगम्बर परम्परा में स्वीकृत**
1. सवस्त्र मुक्ति होती है।	1. सवस्त्र मुक्ति नहीं होती है।
2. स्त्रीमुक्ति (उसी पर्याय में) सम्भव है।	2. नहीं।
3. गृहस्थावस्था में मुक्ति सम्भव है।	3. नहीं।
4. भरत चक्रवर्ती को शीशमहल में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।	4. नहीं।
5. मल्लिनाथ (19वें तीर्थङ्कर) स्त्री थीं।	5. नहीं, पुरुष थे।
6. केवलज्ञानी कवलाहार (भोजन) करते हैं।	6. केवलज्ञानी का शरीर परम औदारिक हो जाता है अतः भोजन ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।
7. केवलज्ञानी नीहार (मल-मूत्रादि का विसर्जन) करते हैं।	7. नहीं।
8. मरुदेवी को हाथी पर चढ़े हुए ही मुक्ति हो गई।	8. नहीं।
9. साधु के लिये पहले 14 उपकरण ग्राह्य थे अब और अधिक हो गए हैं।	9. साधु को संयम-रक्षणार्थ पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र उपकरण ही स्वीकृत हैं, अन्य नहीं
10. वस्त्राभूषण युक्त (अलंकृत)प्रतिमा पूज्य है । रचना में भी थोड़ा अन्तर है।	10. नहीं, पूर्ण दिगम्बर प्रतिमा की पद्मासन या स खड्गासन मुद्रा ही पूज्य है। उनकी ध्यानमुद्रा ऐसी हो जिसमें चक्षु (नासाग्र दृष्टि)हो तथा शरीर से वीतरागता प्रकट होती हो।
11. भगवान् महावीर का गर्भपरिवर्तन (ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रियाणी के गर्भ में) हुआ था।	11. नहीं, क्षत्रियाणी के गर्भ में ही अवतरण हुआ था।
12. भगवान् महावीर का विवाह हुआ था और एक कन्या भी हुई थी।	12. दोनों नहीं।
13. महावीर तपःकाल में 12 मास तक वस्त्र पहने रहे।	13. नहीं।
14. साधुओं और साध्वियों के द्वारा कई घरों से लाए गए भिक्षान्त को लाकर एकाधिक बार आहार करना।	14. विधि मिलने पर एक ही घर में खड़े-खड़े अंजुली में ही एक बार आहार, पानी आदि लेना 'साध्वियां बैठकर आहार करती हैं, यह अन्तर है।
15. ग्यारह अङ्ग-आगम और उपाङ्ग उपलब्ध हैं। परन्तु दृष्टिवाद और पूर्वों का लोप हो गया है।	15. समस्त अङ्गों और पूर्वों का लोप हो गया है। पूर्वो पर आधारित षट्खण्झगम तथा कषायपाहुड उपलब्ध हैं। परवर्ती कुन्दकुन्दाचार्य आदि के ग्रन्थ आगमवत् हैं।
16. आगम अर्धमागधी प्राकृत में लिखित हैं।	16. जैन शौरसेनी प्राकृत में वर्तमान आगम लिखित हैं।
17. वैमानिक स्वर्ग 12 हैं और मुख्य इन्द्र भी 12 हैं।	17. वैमानिक स्वर्ग 16 हैं परन्तु उनके मुख्य इन्द्र 12 ही हैं। सब मिलाकर इन्द्रों की संख्या 100 है।
18. मुनि के 27 मूलगुण हैं।	18. मुनि के 28 मूल गुण हैं।

दिगम्बरों के मूलगुणों से कुछ अन्तर भी है।	
19. तीर्थङ्कर की माता को 14 स्वप्न आते हैं।	19. तीर्थङ्कर की माता को 16 स्वप्न आते हैं।
20. केवली के ऊपर केवल के पूर्व उपसर्ग सम्भव है।	20. नहीं। पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुण्डावसर्पिणी कालदोष से हुआ। परन्तु केवलीज्ञानी होने पर नहीं।
21. मानुषोत्तर पर्वत से आगे मनुष्य जा सकता है।	21. नहीं।
22. अङ्गग्रन्थों के सङ्कलन हेतु वाचनायें हुईं।	22. नहीं।
23. पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य,अचौर्य और अपरिग्रह) को महावीर ने पञ्चयाम (ब्रह्मचर्य जोड़कर) किया। परिवर्तन में श्वेताम्बरवत् कारण थे।इस परिवर्तन का कारण था मनुष्यों की विचार-भिन्नता। तीर्थङ्कर आदिनाथ के जीव ऋजु-जड़ थे। दूसरे से तेईसवें तीर्थङ्कर के काल के जीव ऋजुप्राज्ञ थे परन्तु महावीर के काल के जीव वक्र-जड़ थे।	23. ऐसा नहीं है, परन्तु सामायिकादि चार प्रकार के चारित्र में छेदोपस्थापना चारित्र जोड़कर पञ्चयाम किया। इस
24. पार्श्वनाथ के शिष्य केशी का साथ संवाद हुआ था और केशी ने अपने 500 शिष्यों के साथ महावीर का धर्म (पञ्चयाम तथा अचेल धर्म) स्वीकार किया था। वस्तुत: 'रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) दोनों का मूल लक्ष्य था।	24. ऐसा उल्लेख नहीं है। अचेल, महावीर के शिष्य गौतम के पञ्चयाम तथा रत्नत्रय धर्म इन्हें भी अभीष्ट हैं।
25. सुधर्मा गणधर से गुर्वावलि प्रारम्भ है, गौतम गणधर से नहीं। आज सभी सन्ताने सुधर्मा की हैं। आगमों में कहीं-कही गौतम द्वारा प्रश्न किए गए हैं।	25. इन्द्रभूति गौतम गणधर से गुर्वावलि प्रारम्भ होती है। इन्होंने ही 12 अङ्गों को संयोजित किया और सुधर्मा को सौंपा। सुधर्मा ने जम्बू को सौंपा।
26. स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतधर (11 14 पूर्वो के ज्ञाता) थे। वज्रस्वामी 10 पूर्वो के तथा उनके शिष्य आर्यरक्षित 9.5 पूर्वो के ज्ञाता थे। तत्पश्चात् पूर्वो का ज्ञान लुप्त हो गया। केवल 11 अङ्ग बचे रह गये।	26. 683 वर्षों तक अङ्गज्ञान की परम्परा क्षीण होते हुए अङ्ग, भी अविच्छिन्न रही।
27. अङ्ग बाह्य (उपाङ्ग, मूलसूत्र आदि) श्रुतों की आज भी सत्ता। है परन्तु उनकी संख्या आदि में कुछ अन्तर है।	27. अङ्गबाह्य श्रुत भी लुप्त हो गया।
28. भगवान् के पैरों का नाखून युक्त चरण चिह्न पूज्य है।	28. मिट्टी में पैर रखने पर जैसे चिह्न बनते हैं वैसे भगवान् के ऊपरी चरण चिह्न पूज्य हैं।
29. अवान्तर पन्थ भेद	**29. अवान्तर पन्थ भेद**
(क) चैत्यवासी या मंदिरमार्गी (चौथी-पाँचवीं शताब्दी)। हाथों में रखते हैं परन्तु बोलते समय उसे मुख पर रखते हैं।	(क) भट्टारक पंथी (13वीं शताब्दी)। ये मूर्तिपूजक ये मुखपट्टी हैं।
(ख) स्थानकवासी (15वीं शताब्दी)। में लम्बी मुखपट्टी रखते हैं। मूर्तिपूजा नहीं करते।	(ख) तारणपंथी (15वीं शताब्दी)। ये मूर्तिपूजक नहीं, शास्त्रपूजक हैं।
(ग) तेरहपंथी (18वीं शताब्दी)। ये चौड़ी मुखपट्टी रखते हैं। मूर्ति पूजक नहीं हैं।	(ग-घ) तेरहपंथी और बीस पंथी (17वीं शताब्दी)। ये दोनों मूर्तिपूजक हैं तेरह पंथ में स्त्रियाँ भगवान् का अभिषेक नहीं कर सकतीं। इनके यहाँ पूजा में सचित्त पुष्प, नैवेद्य आदि नहीं चढ़ाया जाता। बीस पंथ में ये दोनों बातें स्वीकृत हैं तथा ये भगवान् को चन्दन और फूलों से अलंकृत भी करते हैं। (ङ) कहानपंथी या मुमुक्षुपन्थी या सोनगढी (20वीं शताब्दी)। ये निश्चयनय मार्ग का अनुसरण करते हैं तथा तेरहपंथी की तरह मूर्तिपूजक हैं।
30. गुर्वावलि-सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र शिष्य, (संभूतिविजय और भद्रबाहु), स्थूलभद्र (संभूतिविजय के शिष्य)।	30. गुर्वावलि-गौतम, सुधर्मा, जम्बू, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु।

इसी तरह अन्य अवान्तर भेद भी देखे जा सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या में भी कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर मिलता है (जैसे, प्रमाण-लक्षण, बन्ध-प्रक्रिया आदि)।

श्रावक और श्रमण की प्रतिमाएँ

उपासक (श्रावक या गृहस्थ) की ग्यारह और श्रमण (मुनि या भिक्षु या साधु या अनगार) की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख जैन आगमों में मिलती है।

उपासक और श्रमण दोनों की प्रतिमाओं का उल्लेख हमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मिलता है।[1] 'प्रतिमा' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है- प्रतिज्ञा-विशेष[2], व्रत-विशेष, अभिग्रह-विशेष, मूर्ति, प्रतिकृति, बिम्ब, प्रतिबिम्ब, छाया, प्रतिच्छाया आदि। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'प्रतिमा' शब्द तप-विशेष या वीतरागता-वर्धक-साधना पद्धति की भूमिकाओं (सोपानों) के अर्थ में लेना चाहिए। इन्हें प्रतिमा या योगसाधना भी कह सकते हैं। प्रतिमाधारी उपासक (गृहस्थ या सागार या श्रावक) श्रमणसदृश या श्रमण-जीवन की प्रतिकृति रूप हो जाता है। दिगम्बर परम्परा में परवर्ती प्रतिमाओं में स्थित श्रावक को पूर्ववर्ती प्रतिमाओं का जीवनपर्यन्त पालन करना आवश्यक है परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में समयसीमा का निर्धारण होने से जीवनपर्यन्त धारण करना आवश्यक है, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। श्रमण की प्रतिमाएँ तप-विशेष हैं जिन्हें क्रमशः धारण किया जाता है।

श्रावक (उपासक) प्रतिमाएँ-

श्रावक के तीन प्रकार बतलाये गए हैं जो उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं- 1. पाक्षिक (प्रारम्भिक अवस्था वाला), 2. नैष्ठिक (प्रतिमाधारक) और 3. साधक (समाधिमरणधारी)।

पाक्षिक श्रावक- पाक्षिक श्रावक वह है जो पाँच अणुव्रतों (स्थूल अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का पालन करता है। मद्य, मांस और मधु (शहद) का सेवन नहीं करता है। जुआ, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, शिकार आदि से भी दूर रहता है। पीपल, वट, पिलखन, गूलर और काक- इन पाँच क्षीरी फलों या उदुम्बर फलों (जन्तुफल या हेमदुग्धक) का भी सेवन नहीं करता है। जिन वृक्षों से दूध जैसे पीले रंग का पदार्थ निकलता है वे क्षीरीफल कहे जाते हैं। इसमें त्रसजीवों की सत्ता नग्न आँखों से देखी जा सकती है। उपासक त्रस-हिंसात्यागी होता है। रात्रिभोजन न करना, छना पानी पीना, गुरुसेवा करना, सुपात्रों को दान देना आदि कार्य पाक्षिक श्रावक के लक्षण हैं। पाक्षिक श्रावक नैष्ठिक श्रावक बनने की तैयारी में होता है। यह पाँच अणुव्रतों के साथ सात शीलों का भी पालन करता है। सात शील (3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रत) हैं। दिग्व्रत, देशावकाशिक (देशव्रत), अनर्थदण्ड-विरत, सामायिक, भोगोपभोग-परिमाण, पोषधोपवास और अतिथि-संविभाग। दोनों परम्पराओं में इनके क्रम में अन्तर है।

साधक श्रावक- मरणकाल के सन्निकट आने पर साधक श्रावक चारों प्रकार के आहार का त्याग करके सन्थारा या सल्लेखना या समाधिमरण लेता है। इसे कब ले सकते है, कब नहीं ? विधि क्या है ? उस समय कैसे विचार हों ? आदि का विचार शास्त्रों में किया गया है। यह मरण न तो आत्महत्या है और न ही इच्छामृत्यु। मेरा सल्लेखना वाला लेख द्रष्टव्य है।

नैष्ठिक श्रावक- पाक्षिक श्रावक जब नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से वीतरागता की ओर बढ़ना चाहता है तो उसे क्रमशः इन प्रतिमाओं को धारण करना पड़ता है। पाक्षिक श्रावक जिन नियमों को अभ्यास के रूप में पालन करता था उन्हें ही यहाँ नियमपूर्वक अतिचार-रहित पालन करना होता है। श्वेताम्बरों में प्रतिमा-ग्रहण की कालसीमा भी बतलायी है जबकि दिगम्बरों में जीवनपर्यन्त पालने का नियम है। इनके क्रम के विषय में तथा नाम के विषय में श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में थोड़ा अन्तर है, जो नगण्य है।

श्वेताम्बर परम्परा के उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रावक के प्रसङ्ग में उसके द्वारा धारण की गई ग्यारह प्रतिमाओं के कथन हैं जो इस प्रकार हैं- 1. दर्शन, 2. व्रत, 3. सामायिक, 4. पोषध, 5. कायोत्सर्ग या नियम, 6. ब्रह्मचर्य, 7. सचित्ताहार-वर्जन, 8. स्वयं आरम्भवर्जन, 9. भृत्य-प्रेष्यारम्भवर्जन, 10, उद्दिष्टवर्जन और 11. श्रमणभूत। दिगम्बर परम्परा के रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में श्रावक की प्रतिमाएँ हैं -1. दर्शन, 2. व्रत, 3. सामायिक, 4. पोषध, 5. सचित्तत्याग, 6. रात्रिभुक्तित्याग, 7. ब्रह्मचर्य, 8. आरम्भत्याग, 9. परिग्रहत्याग, 10. अनुमतित्याग और 11.

उद्दिष्टत्याग। (श्रमणवत् इसके दो भेद हैं- क्षुल्लक और ऐलक।)

इस तरह प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम और क्रम में कोई अन्तर नहीं है। श्वेताम्बरों की पाँचवीं नियम प्रतिमा में के स्थान पर दिगम्बरों की छठी रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा श्वेताम्बरों में छठी है और दिगम्बरों में सातवीं है। सचित्तत्याग प्रतिमा श्वेताम्बरों में सातवीं और दिगम्बरों में पाँचवीं है। श्वेताम्बरों की नौवीं भृत्य-प्रेष्यारम्भत्याग दिगम्बरों की परिग्रहत्याग ही है। दिगम्बरों की दसवीं अनुमतित्याग का समावेश श्वेताम्बरों के उद्दिष्टत्याग में माना गया है। दिगम्बरों की ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा श्वेताम्बरों की ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा है। दोनों परम्पराओं में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण निम्न है-

(क) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

1. दर्शन प्रतिमा- यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ है **'सम्यक् श्रद्धा'**। अत: शंका आदि दोषों से रहित जिनवचन में दृढ़ आस्था (प्रगाढ़ श्रद्धा) रखना। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि इस प्रतिमा को धारण करता है। वह अपने अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है। न्यायपूर्वक आजीविका चलाता है। चर्मपात्र में रखे घी, तेल आदि का उपयोग नहीं करता है। सङ्कल्पी हिंसा नहीं करता है। अपने आचार-विचार को शुद्ध रखता है। प्रलोभनों से विचलित नहीं होता है। श्वेताम्बरों में इसकी आराधना का काल एक मास है।

2. व्रत प्रतिमा- पाँच अणुव्रतों और सात शीलव्रतों (3 गुणव्रतों और 4 शिक्षाव्रतों) का जिन्हें पाक्षिक श्रावक पालन करता था उनका दृढ़तापूर्वक निरतिचार पालन करना व्रत प्रतिमा है। यहाँ वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत को अभ्यासरूप में करता है। अनुकम्पागुण से युक्त होता है। किसी के बारे में अनिष्ट नहीं सोचता। श्वेताम्बरों में इसका आराधनाकाल दो मास है।

3. सामायिक प्रतिमा- प्रतिदिन नियम से तीन बार सामायिक (मन-वचन-काय की एकाग्रता) करना। इसमें वह सामायिक और देशावकाशिक (देशव्रत) का भी निरतिचार पालन करता है। पोषधोपवास को अभ्यासरूप में करता है। श्वेताम्बरों में इसका आराधना काल तीन मास है।

4. पोषध प्रतिमा- अष्टमी, चतुर्दशी तथा पर्व-तिथियों में पोषध (उपवास) व्रत का नियमत: पालन करना पोषध प्रतिमा है। पूर्णिमा, अमावस्या आदि विशिष्ट तिथियों में भी यथाशक्य पोषध करना चाहिए। श्वेताम्बरों में इसका आराधनाकाल चार मास है।

5. नियम या कायोत्सर्ग प्रतिमा- शरीर के साथ ममत्व छोड़कर आत्मचिन्तन में लगना कायोत्सर्ग (ध्यान) है। अष्टमी तथा चतुर्दशी को रात-दिन का कायोत्सर्ग करना। इसे नियम प्रतिमा भी कहते हैं क्योंकि इसमें पाँच नियमों का पालन करना होता है- 1. स्नान न करना, 2. रात्रिभोजन त्याग, 3. धोती की लांग न लगाना, 4 दिन में ब्रह्मचर्य और रात्रि में मर्यादा और 5. माह में एक रात्रि कायोत्सर्ग। श्वेताम्बरों में इसका आराधनाकाल 1 दिन, 2 दिन, 3 दिन, से लेकर पाँच मास तक है। दिगम्बर परम्परा में इसके स्थान पर **रात्रिभोजनत्याग** और **दिवा-मैथुनविरत** नाम मिलते हैं।

6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा- पूर्णरूपेण काम-चेष्टाओं से विरक्ति ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। स्त्रियों/पुरुषों से अनावश्यक मेल-जोल, शृङ्गारिक चेष्टाओं का अवलोकन, कामवर्धक सङ्गीत श्रवण आदि वर्जित है। स्वयं भी शृङ्गारिक वेश-भूषा धारण करना, गरिष्ठ कामवर्धक भोजनपान करना आदि भी वर्जित है। पाँचों इन्द्रियों का संयम जरूरी है। श्वेताम्बरों में इसका आराधनाकाल 1 दिन, 2 दिन, 3 दिन तथा छह मास है। जीवन-पर्यन्त का भी विधान है।

7. सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा- सचित्त (सजीव या हरी) वनस्पति का तब तक आहार न करना जब तक वह अचित्त (जीव-रहित) न हो जाए। पकाकर या सुखाकर सचित्त को अचित्त करने पर प्राणि-संयम तो नहीं होता परन्तु इन्द्रिय-संयम होता है। कुछ वनस्पतियाँ **सप्रतिष्ठ** (अगणित-अनन्तकाय जीव वाली) होती हैं और कुछ अप्रतिष्ठ (एक जीव वाली) होती हैं। जिन्हें तोड़ने पर समान रूप से दो भाग हो जाएँ उन्हें सप्रतिष्ठ कहते हैं। इनका छिलका मोटा उतरता है तथा ऊपर की धारियाँ (शिराएँ) स्पष्ट नहीं होतीं। **अप्रतिष्ठ** वनस्पतियाँ वे हैं जो तोड़ने पर टेढ़ी-मेढ़ी टूटें, छिलका पतला हो, धारियाँ स्पष्ट हों तथा अलग-अलग फाँकें हों। इस प्रतिमा का साधक खेती आदि आरम्भ-क्रियाओं का त्याग नहीं करता है। श्वेताम्बरों में इसकी आराधना का उत्कृष्ट काल 7 मास है।

8. स्वयं आरम्भवर्जन प्रतिमा (आरम्भत्याग)- प्रतिमाधारी इसमें बच्चों के बड़े हो जाने पर आजीविका हेतु खेती, व्यापार आदि क्रियाएँ स्वयं नहीं करता परन्तु दूसरों से करा सकता है। संपत्ति पर अपना अधिकार रखता है। श्वेताम्बरों में

इसकी आराधना-अवधि एक दिन से लेकर 8 मास है।

9. भृत्यप्रेष्य आरम्भवर्जन प्रतिमा - (भृत्य प्रेष्य-परित्याग या परिग्रह-त्याग)इसका साधक दूसरों से भी आरम्भ क्रियाएँ नहीं कराता। आरम्भ होने की अनुमति का त्याग न होने से उसके उद्देश्य से बनाये गए आहार को ले सकता है। यहाँ वह मोह छोड़कर परिग्रहत्यागी हो जाता है। सलाह मांगने पर उचित सलाह दे सकता है। श्वेताम्बरों में इसका आराधनाकाल एक दिन से लेकर 9 मास तक है।

10. उद्दिष्ट-भक्तवर्जन प्रतिमा- इसमें अपने लिए तैयार भोजन आदि का साधक (उपासक) त्याग कर देता है। लौकिक कार्यों से पूर्ण विरत हो जाता है, सलाह भी नहीं देता है। उस्तरे से बाल मुण्डित करा सकता है। चोटी रख सकता है। इसकी अवधि एक दिन से लेकर 10 मास तक है। दिगम्बर परम्परा में इस प्रतिमा का नाम अनुमतित्याग है और इस प्रतिमा का धारी लौकिक कार्यों की सलाह देना भी बन्द कर देता है। प्राय: मन्दिर या उपाश्रय में रहता है। निमन्त्रण स्वीकार कर सकता है।

11. श्रमणभूत प्रतिमा- साधक अपने को श्रमण जैसा बना लेता है। श्रमण जैसी वेशभूषा, पात्र तथा उपकरण रखता है। सहिणुता होने पर केशलुञ्चन करता है। भिक्षाचर्या से जीवन-यापन करता है। श्रमण किसी के भी घर भिक्षाचर्या हेतु जाता है जबकि श्रमणभूत प्रतिमा वाला प्राय: अपने सम्बन्धियों के घरों में जाता है। श्वेताम्बरों में इसका काल एक दिन से लेकर ग्यारह मास है। दिगम्बर परम्परा में इसका नाम **उद्दिष्टत्याग** प्रतिमा है। अपने उद्देश्य से बनाये गए आहार आदि को नहीं लेता। निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता। बालों को कैंची या छुरे से बनाता है। इसके दो भेद हैं- 1. **क्षुल्लक**- यह एक लंगोटी और एक सफेद चादर रखता है। कई घरों से या एक घर से पात्र में भिक्षा लेता है। जूठे बर्तन स्वयं धोता है। मुनियों के साथ रहकर उनकी वैयावृत्ति करता है। 2. **ऐलक**- केशलोंच करता है। केवल एक लंगोटी होती है। मयूरपंख की पीछी रखता है। मुनिवत् आहार हाथ में लेकर करता है।

(ख) श्रमण (भिक्षु) की बारह प्रतिमाएँ

श्रावक की प्रतिमाओं की तरह श्रमण (भिक्षु) की भी विशिष्ट-साधना-भूमिका रूप बारह प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं अथवा प्रतिमायोग की साधना में श्रमण मन-वचन-काय तीनों योगों को नियंत्रित करता है। प्रथम सात प्रतिमाएँ विशेषरूप से आहार-नियमन से सम्बन्धित हैं और बाद की पाँच प्रतिमाएँ आसन-विशेषरूप-कायोत्सर्ग से सम्बन्धित हैं। इनका विशेष विवरण निम्न प्रकार हैं -

श्वेताम्बर मान्यता

1. मासिकी- इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रमण एक मास तक प्रतिदिन एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति जल की ग्रहण करता है। एक दत्ति का अर्थ है एक अखण्ड धारा के रूप में जो आहार या जल साधु के पात्र में दाता श्रावक देता है, उतना ही लेकर संतोष करना। विशिष्ट नियम (अभिग्रह) लेकर (जैसे दाता का एक पैर देहली के बाहर हो) दिन में एक बार ही भिक्षार्थ जाता है। यदि विधि के अनुकूल आहार नहीं मिलता तो उपवास करता है। गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली स्त्रियों के लिए निर्मित आहार नहीं लेता। समागत सभी कष्टों को समताभाव से सहन करता है। उपसर्ग करने वाले पर द्वेष न करके उसे अपना उपकारी समझकर कर्म-निर्जरा करता है। एक गाँव में दो रात्रि से अधिक नहीं ठहरता और सूर्यास्त होने पर जैसा भी स्थान होता है रुक जाता है।

2. द्विमासिकी- दो मास तक दिन में दो दत्ति अन्न की और दो दत्ति जल की लेता है। शेष प्रथम प्रतिमावत् है। यद्यपि यहाँ दो दत्तियाँ आहार की मिल रही हैं फिर भी प्रथम से द्वितीय प्रतिमा कठिन है क्योंकि इसकी समय-सीमा अधिक है तथा आहारविधि के नियम कठोर होते हैं।

3. त्रिमासिकी- इसमें तीन मास तक तीन दत्तियाँ ली जाती हैं।

4. चतुर्मासिकी- इसमें चार दत्तियाँ चार मास तक ली जाती हैं।

5. पञ्चमासिकी- इसमें पाँच दत्तियाँ पाँच मास तक ली जाती हैं।

6. षड्मासिकी- इसमें छ: दत्तियाँ छ: मास तक ली जाती हैं।

7. सप्तमासिकी- इसमें सात दत्तियाँ सात मास तक ली जाती हैं।

8. प्रथम सप्त अहोरात्रिकी- इसमें श्रमण एक दिन का निर्जल उपवास (चतुर्भक्त) करके नगर के बाहर जाकर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन द्वारा सात दिन-रात का कायोत्सर्ग करता है। मल-मूत्र की बाधा होने पर उसे

विसर्जित कर पुन: उसी स्थान पर उसी आसन से बैठ सकता है। अन्य किसी भी प्रकार की बाधा या उपसर्ग होने पर ध्यान से विचलित नहीं होता है।

9. द्वितीय सप्त अहोरात्रिकी– यह भी पूर्ववत् सात दिन-रात की है। इसमें दण्डासन, लकुटासन अथवा उत्कटुकासन से कायोत्सर्ग ध्यान किया जाता है।

10. तृतीय सप्त अहोरात्रिकी– यह भी सात दिन-रात की है। इसमें गोदोहनिकासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से कायोत्सर्ग (आत्म-ध्यान) किया जाता है।

11. अहोरात्रिकी– यह एक अहोरात्रिकी (24 घण्टे = सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक) की प्रतिमा है। इसमें साधक दो दिन तक निर्जल उपवास (षष्ठभक्त = बेला) करके नगर के बाहर चौबीस घण्टे तक खड्गासन (दोनों पैरों को संकुचित करके तथा दोनों भुजाओं को जानु-पर्यन्त जांघ तक लम्बी करके) से ध्यान लगाता है।

12. रात्रिकी– इस प्रतिमा का प्रारम्भ अष्टम भक्त (तीन दिन तक चारों प्रकार के आहार का त्याग रूप तेला) तप से किया जाता है। पूर्ववत् खड्गासन से नगर के बाहर कायोत्सर्ग (ध्यान) करता है। इसमें शरीर को थोड़ा सा आगे झुकाकर किसी एक पुद्गल द्रव्य पर अनिमेष दृष्टि लगाता है और अपनी इन्द्रियों को भी गुप्त कर लेता है। इस ध्यान (निर्विकल्प समाधि) में ध्याता और ध्येय दोनों एकाकार हो जाते हैं। यह अति कठिन ध्यान है। इसमें असावधानी बरतने पर बहुत अनिष्ट (पागलपन, भयंकर रोग, धर्मच्युति) होता है और यदि सम्यक् साधन कर लेता है तो क्रमश: अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इस तरह साधु का यह प्रतिमायोग आयारदसा की छठी दसा में बतलाया गया है। यही श्वेताम्बर मान्यता है।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा में भी इन्हीं नामों वाली साधु की बारह प्रतिमाएँ मिलती हैं। सल्लेखना के प्रकरण में कहा गया है कि यदि साधु की आयु एवं शरीर की शक्ति अधिक शेष है तो उसे शास्त्रोक्त बारह प्रतिमाओं को धारण करके क्रमश: आहार का त्याग करना चाहिए। महासत्त्वशाली, परीषहजयी तथा उत्तम संहनन वाला क्षपक साधु इन प्रतिमाओं को धारण करता है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान को करते हुए क्रमश: अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार ये सभी प्रतिमाएँ उत्तरोत्तर कठिन एवं श्रेष्ठ हैं।

1. मासिकी– दुर्लभ आहार-ग्रहण सम्बन्धी विधि लेकर नियम करता है– 'यदि एक मास में ऐसा आहार मिला तो आहार लूँगा अन्यथा नहीं'। मास के अन्तिम दिन वह प्रतिमायोग धारण कर लेता है। इसी तरह अग्रिम प्रतिमाओं में आहार विधि के कठोर नियम लेकर पूर्ववत् आहार न मिलने पर प्रतिमायोग धारण करता है। **2. द्विमासिकी, 3. त्रिमासिकी, 4. चतुर्मासिकी, 5. पञ्चमासिकी, 6. षाण्मासिकी** और **7. सप्तमासिकी**।

8-10 सप्त– सप्त दिवसीय तीन प्रतिमाएँ ये भी पूर्ववत् सौ-सौ गुना अधिक कठिन विधि पूर्वक होती हैं। इनमें क्रमश: 3, 2 और 1 ग्रास आहार लिया जाता है।

11 अहोरात्रिकी तथा 12 रात्रिकी– इन दो प्रतिमाओं में अनगार क्रमश: चौबीस तथा बारह घण्टों का प्रतिमायोग (कायोत्सर्ग-आत्मध्यान) करता है। फलस्वरूप सूर्योदय होने पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। पश्चात् अन्तिम प्रतिमायोग करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इस तरह दोनों परम्पराओं में श्रमण-प्रतिमाओं में थोड़ा अन्तर है। वस्तुत: ये वीतरागता-प्राप्ति के सोपान हैं। इनकी अवधि दोनों परम्पराओं में (उपवास आदि की अवधि न जोड़ने पर) 28 मास साढ़े 22 दिन होती है।

सन्दर्भ

1. देखें, आयारदसा छह और सात दशायें। समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश।
2. प्रतिमा प्रतिज्ञा-अभिग्रह:। स्थानांगवृत्ति, पत्र 184
3. पं. आशाधर प्रणीत मूलाराधनादर्पण, गाथा 25, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, पृ. 392-393

Is peaceful co-existence possible through Jainism?

Everybody wants happiness and peaceful coexistence in his life. All the religions and faiths teach us to strive towards this ultimate goal of peaceful co-existence. Jainism enables an individual and societies to achieve this ultimate goal by prescribing them to believe and acquire the Right Vision, Right Knowledge and Right Conduct. In order to acquire these three objectives, Jainism proposes the following three principles to practice:

1. Non-violence (Ahimsa)
2. Abstinence from worldly possessions (Aparigraha)
3. Multiplicity of Views (Anekanta) .

Non-violence is deeply rooted in the Jaina philosophy. Jainism believes that all types of evils can be eliminated by practicing non-violence. Violence is commonly believed to mean bodily harm to someone: additionally, Jainism believes that hurting someone's feelings or emotions either directly or indirectly, especially when done on purpose, are also violence. Non-violence is for the brave people. Mahatma Gandhi fought against the British rule to free India based on the sound principles of Non-violence. All the 24 Jaina Tirthankaras were born in royal families and were also great warriors; but they all realized that it is more courageous to conquer oneself than the outside world.

It is extremely challenging to practice the purest form of Nonviolence in our daily lives. Violence can occur from one of the following four kinds of activities:

a) Accidental violence is caused by living a life while doing daily routine work.
b) Occupational violence is caused while doing business.
c) Protective violence is caused while protecting oneself when attacked from others as a reaction.
d) Intentional violence is caused either by making a mental determination or by thinking about hurting someone.

Jainism prescribes that a common person must avoid intentional violence by taking extra measures, while the other forms of violence must be avoided as for as possible. Jainism insists on vegetarian food habits and strongly opposes non-vegetarian food habits. It is an established fact that non-vegetarian food habits not only promote violence but also are harmful to our mind, body and spiritual soul. It has been medically shown that non-vegetarian food habits are responsible for many types of diseases. Similarly, drinking filtered water and eating before sunset are also medically proved good life-style habits as they prevent many types of harmful infections, indigestion, acidity and reflux problems.

The principle of Aparigraha is about practicing renunciation of materialistic possessions, controlling anger, greed etc. For example, a family person should only earn and possess just enough to meet his ends and to lead a simple life, and the excess money and other materialistic possessions should be donated to the people, community and society in need. Aparigraha allows peaceful prevention of undue accumulation of capital in the hands of individuals. Consequently, such a practice can significantly help the societies and nations reach socio-economic equalization.

The principle of Anekanta is about respectful acceptance of multiple view-points and perspectives about any subject matter. Firstly, the human beings have limited, and often, differing and incomplete understanding and knowledge about a subject matter. Secondly, the thoughts and the understanding about a subject matter are presented, expressed and communicated with varying view-points. Sometime, these varying view-points are conflicting in nature and unacceptable by some other individuals. Jainism strikes a perfect balance by unifying and harmonizing the individual view-points into a predictable and acceptable whole based upon the theory of Syadvada. In other words, the theory of Syadvada is like a music orchestra that blends the individual discordant notes of different instruments into a perfect composition. The theory of Syadvada teaches that there is no one independent individual correct view-point; there are multiple correct view-points and they all must be simultaneously true to facilitate "intellectual tolerance".

As is obvious, the principles of Ahisa, Anekanta and Aparigraha are the right conduct, knowledge and vision. Jainism further believes that we all should be friendly to others, show compassion towards people in need and respect good people. Therefore, by practising the principles of Jainism, one inherently promotes and cultivates peaceful co-existence of individuals and societies not only with other human beings but also with all other living creatures, thereby also protecting our environment.

Anekantavada and Syadvada theories of Jainism teaches us the acceptance of different points of view. How can individuals practice this in everyday life to become more tolerant?

Individual can practice Anekantavada by following means:

- Listen to others
- Attempt to understand other person's viewpoints and not impose our own.
- Communicate your own viewpoints by educating others or using alternate communication mechanisms in a peaceful manner.
- Be flexible and adopting.

Jainism advocates total non-violence. How does one defend one self or one's country in the face of violence by others?

Answer: Jainism prescribes absolute total non-violence for 'Munis'. It strongly

recommends total non-violence to the common man or woman like us; however it allows the common man or woman to defend oneself or one's country only when attacked by others.

How do Digambaras and Svetambaras perform their Worship (puja) ?

Each religion has its own code of conduct which is the essence or the heart of the religion which keeping it alive. There are some essentials prescribed for Jain house-holders. Among these worship of deity (Deva-Puja) is the foremost. Puja is usually performed in the presence of an idol of Seer (Arihanta) by offering some materials (dravya). Sometimes, it can also be performed in the absence of the idol without offeringmaterials. Puja is usually performed in the temple in front of the idol of Seer (Arihanta) but it can also be performed at home with or without the idol. Normally when materials are is offered, it is called Dravya Puja and when it is performed without offering materials, it is called Bhava Puja.

Importance of worship (puja)

Puja is the most important ritual among the idol-worshipper (Murtipujaka) Jains. Digambara and Svetambara perform puja according to their rituals. Some differences are there but the main aim is same i.e. to destroy their karmas and to attain the liberation (moksha).

In Jain religion the Supreme God (Tirthankara) is not the ultimate cause of creation, maintainance and destruction of the world. The Seer neither pleases nor angers. Therefore he neither gives blessings to the worshipper nor punishes anyone out of anger. According to Jain religion Paramatma (Arhanta, Siddha) is the supreme spirit reaching the ultimate state of spiritual evolution by gradual destruction of karma through penance etc. Each atma becomes Paramatma and sustains its individuality. Paramatma has nothing to do with the worldly life.

Reason of worship (puja)

Why do Jainas worship their Tirthankaras etc? They claim that Tirthankaras are desireless. They are Vitaragi (detached). Worshippers worship them not to fulfill their worldly desires. Worldly desires of the worshipper are automatically fulfilled owing to the destruction of karma.

Method of worship (puja)

Now we have to discuss how Digambara and Svetambara perform puja? First of all worshippers take bath. After taking bath they go to the temple for puja and put on their special purified clothes which are usually kept in the temples. Before entering the temple one must wash one's hands and feet. Having entered the temple one should ring the bell slowly and utter three times 'Nissihi' (renunciation), three times 'Om' and three times 'Namostu'. Then after the recitation of 'Namokara Mantra' for the three times and bowing before the idol one should make circumvallation (परिक्रमा) around the altar (vedi) in clockwise direc-

tion. Idol worshippers of both the Jain sects (Digambara and Svetambara) perform their pujas. Though their methods of puja differ to some extent yet their aim is similar. In both traditions puja is the most important ritual. According to Svetambara tradition worship is offered in three different ways-

(1) First worship is called Anga-Puja, this is done by anointing for different path of an idol or Arihanta with water, sandal wood and flowers.

(2) Second worship is called Agra-Puja, which is done by placing, incense, lamp, rice, fruits and sweets in front of idols.

(3) Third worship is Bhavapuja, which is done by Caitya Vandana.

Note : The first and second worships are called Draya Puja (Material Worship). These two pujas collectively together are called Asta Prakari Puja. The Asta Prakari Puja is done by offering eight different types of substances. Jain puja symbolizes various aspects of our religion. There are different types of puja being performed at the occassion of various religious ceremonies.

The following eight materials are used in performing pujas in both traditions-

Svetambara Tradition

(1) Jala (Water) puja
(2) Candana (Sandal wood) puja
(3) Puspa (Flower) puja
(4) Dhupa(Incense) puja
(5) Dipaka(lamp) puja
(6) Aksata (Rice) puja
(7) Naivedya (Sweets) paja
(8) Fala (Fruits) puja

Note : Other functions are -

(1) Darpana (Mirror) puja : Jains see the reflection of the idol on the mirror by turning their own neck. At that time they think that the God is reflecting in their heart.
(2) Camvara puja
(3) Fan puja
(4) Vandana / Bhava puja
(5) Arati puja-Specially performed in evening, symbolizing the joy after performing all religious activities. It destroys all karmas and brings happiness.

Other Special puja

(a) Snatra puja- It symbolises bathing of the new born Tirthankaras by gods and goddesses over Meru Mountain. It is always performed prior to any puja. This is birthday celebration of God. Digambars perform this worship daily.
(b) Pañca kalyanaka puja (Garbha, Janma, Diksha, Jñana, Nirvana)
(c) Nava pada puja (Five Parmeshthi, Ratnatraya and Tapa).
(d) Baraha vrata puja (Twelve vows).

(e) Navvanu puja (99 types).

Digambara Tradition

(1) Jala (Water) Puja
(2) Candana (Water which is coloured by sandal wood) Puja
(3) Akshata (White Rice) Puja
(4) Puspa (Rice coloured by sandal wood) Puja
(5) Naivedya (Small pieces of white coconut) Puja
(6) Dipa (Coloured pieces of coconut) Puja- It is a symbol of Dipaka
(7) Dhupa (Incense) Puja
(8) Fala (Dry Fruits) Puja

Note : Before starting puja, they perform Jalabhisheka or Prakshala of Idol and then Asta Prakari Puja. After offering fruits, they offer Arghya (mixture of all the eight materials). First of all they worship Deva, Šastra and Guru, after then worship by adoration (Jaimala) is performed. At the end, they read santipatha and Visarjanapatha. Some Digambaras (Bisapanthi) use green fruits, flowers and sweets also. They also perform abhisheka by sandal wood, mixed water, curd, milk etc. but other (Terapanthi) use only pure water. This bathing water is called Gandhodaka (holy water) and they touch this holy water on their foreheads and faces too. Having performed all these worships, they end with Arati.

Other special Pujas

(a) Navagraha Puja
(b) Ratnatraya Puja
(e) Pañcameru Puja
(d) Siddhacakra Puja
(e) Tirthankara Puja
(f) Indradhvaja Puja
(g) Santinatha Vidhana Puja
(i) Dasha Laksana Puja

Objectives of worship (puja) in both traditions

Now we are going to discuss the objectives of puja. These are-

Jala (Water) Puja-To remove all the karmas and impurities from soul or to get rid oneself of the cycle of birth and death.

Candana (Sandal-wood) Puja-To make our soul tranquil (calm) or to subside the suffering of the world (Samsaratapavinašanaya).

Puspa (Unbroken flowers) Puja- To live like flowers, full of love and compassion to all worldly living beings or to conquer our sexual desires and passions which are the root cause for the accumulation of karmas.

Dhupa (Incensed) Puja- To destroy the bad odor (smell) or false faith (mithyatva) and to manifest our pure soul or to destroy all the eight karmas.

Dipa (Lamp) Puja- To attain the knowledge in the form of kevalajñana (omniscience) or to destroy the darkness of ignorance and false belief

(Mohandhakaravinašanaya).

Aksata (White Rice) Puja- Not to be born again or to end the cycle of birth, life and death .

Naivedya (Sweet) Puja- To attain that position where, there remains no desire for food or to eliminate the desire for food.

Fala (Fruit) Puja-To attain liberation, the ultimate goal of every living being.

Arghya Puja- (Mixture of all eight substances)- To attain anarghyapada that is moksha (nirvana).

Jaimala (Adoration) - By reciting the virtues of Tirthankaras to possess similar virtues in our soul.

santipatha (Wishing peace) Puja- Wishing peace and happiness for all living beings. Visarjana (Conclusion)-Asking for forgiveness for any mistake or negligence committed during the puja.

Arati- To show our respect to lord.

The whole purpose of Puja is that by reciting the virtues of Tirthankara, Arhanta, Siddha or Paramesthi, we also remind ourselves that these same virtues are also to be possessed by us and that by taking the path of Tirthankara, we also can attain the liberation.

जैन दर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध

मनुष्य अपने विचारों और अनुभूतियों को प्रमुख रूप से शब्दप्रतीकों (सार्थक ध्वनि-सङ्केतों के सुव्यवस्थित रूप) के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। भारतीय दर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन दार्शनिकों ने भी इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों में विस्तृत विचार किया है। शब्दार्थ के सम्बन्ध में जैनेतर भारतीय दार्शनिकों की निम्न मान्यतायें हैं

(क) बौद्ध- शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द का अर्थ विधिरूप न होकर अन्यापोह (इतर-व्यावृत्ति) रूप है। इनका कहना है कि शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना जाता है वह वस्तुत: कार्यकारणभाव सम्बन्ध से भिन्न नहीं है क्योंकि बुद्धि में अर्थ का जो प्रतिबिम्ब होता है वह शब्दजन्य है; इससे उसे वाच्य कहते हैं तथा शब्द को उसका जनक होने से वाचक कहते हैं ।

(ख) मीमांसक- ये शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। शब्द को भी नित्य मानते हैं। शब्द का अर्थ सामान्य मात्र होता है, विशेष नहीं, जैसे 'गौ' शब्द 'गो' व्यक्ति का बोधक न होकर 'गोत्व' सामान्य का बोधक है। सामान्य व्यक्ति के बिना नहीं रह सकता है ऐसा नियम होने से सामान्यबोध के पश्चात् लक्षितलक्षणा के द्वारा व्यक्ति-विशेष की प्रतीति होती है। भाट्ट मीमांसक शब्द को द्रव्य मानते हैं और प्रभाकर मीमांसक आकाश का गुण स्वीकार करते हैं ।

(ग) वैयाकरण- ये 'स्फोट' नामक एक नित्य तत्त्व मानते हैं। इनके अनुसार वर्ण-ध्वनियाँ (वर्ण, पद और वाक्य) क्षणिक हैं, अत: उनसे अर्थबोध नहीं हो सकता है। इन वर्ण-पदादिरूप क्षणिक वर्णध्वनियों से भिन्न स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और उससे अर्थ का बोध होता है। इनके मतानुसार केवल संस्कृत शब्दों में ही अर्थबोध की शक्ति है। प्राकृत आदि देशी भाषाओं के शब्दों में नहीं। शब्द ब्रह्मवादी होने से इनके यहाँ शब्द द्रव्यात्मक स्वीकृत है।

(घ) न्याय- वैशेषिक- ये शब्द को आकाश का गुण मानते हैं जो आकाश-द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। शब्द ताल्वादिजन्य होने से अनित्य है।

(ङ) सांख्य-योग- शब्द प्रकृति का परिणाम होने से अनित्य है। तथा द्रव्यरूप है।

जैन दर्शन की मान्यता :

शब्द अनित्य है, शब्दार्थसम्बन्ध अनित्य है तथा शब्द का विषय सामान्य-विशेषात्मक है। शब्द न तो आकाश

का गुण है और न स्वतन्त्र द्रव्य अपितु पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। वाच्यार्थ का सही ज्ञान नय और निक्षेप पद्धति से सम्भव है।

शब्द की अनित्यता तथा उसके द्रव्यरूप या गुणरूप होने का विचार -

जैन दृष्टि से शब्द पुद्गलद्रव्य (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि से युक्त अचेतन तत्त्व) की पर्याय है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं-नित्य धर्म (गुण) और अनित्य धर्म (पर्याय)। भाषा वर्गणारूप पुद्गल के परमाणु (पुद्गल के वे परमाणु जो शब्दरूप में बदलने की योग्यता रखते हैं) ही निमित्त पाकर शब्दरूप परिणत हो जाते हैं। अर्थात् जब वे पुद्गल-परमाणु संयोगविभाग आदि निमित्त पाकर शब्दरूप परिणत होते हैं तो उसे पुद्गल की पर्याय कहते हैं। यह शब्दरूप परिणमन शक्ति केवल पुद्गल के भाषा वर्गणारूप परमाणुओं में ही है, अन्य में नहीं। यह परिणमन क्षणिक होता है। अत: ये पुद्गल के अनित्य धर्म कहे जाते हैं। ये शब्द न तो वायुरूप हैं और न आकाशगुण रूप स्वीकृत हैं। ये स्वरूपत: गत्यात्मक हैं। इन पर देश-काल का प्रभाव पड़ता है। चारों ओर इनका वीची-तरङ्गन्याय से विस्तार होता है जिसमें वायु सहायक कारण बनता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है-

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसङ्गसंधादो।।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो।। पञ्चास्तिकाय 79

अर्थ-परमाणुओं के सङ्घात (परस्पर संयोगविशेष) से स्कन्ध बनता है और उन स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। अत: शब्द निश्चय से उत्पाद्य (अनित्य) है।

स्पष्टार्थ-जिस प्रकार परमाणुओं में गन्धादि गुण अव्यक्त रूप से सदा रहते हैं उसी प्रकार शब्द भी परमाणुओं में रहते हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि शब्द स्कन्धों के टकराने से उत्पन्न होते हैं और वे श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से मूर्त (स्कन्धरूप) हैं। शब्द में रूपादि भी हैं। परन्तु अनुद्भूत हैं। अत: वे पुद्गलस्कन्ध की पर्याय (अनित्य धर्म) हैं, गुण नहीं। वस्तुत: शब्द अनन्त पुद्गल परमाणुओं की स्कन्धात्मक पर्याय है जो बाह्य निमित्तकारणरूप स्कन्धों (वायु, गला, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, घंटा, ढोल, मेघ आदि) के टकराने से जन्य है। अभ्यन्तर कारण स्वयं शब्द रूप परिणमित होने वाली अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणायें हैं। ये शब्द वर्गणायें समस्त लोक में व्याप्त हैं। इस तरह शब्द न तो गुण रूप है, न परमाणु रूप है और न द्रव्यरूप है अपितु पुद्गलद्रव्य की पर्यायविशेष (अनित्यधर्म) है। पर्यायें, द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं होती हैं। अत: अपेक्षाभेद से शब्द को पौद्गलिक या पुद्गलद्रव्य भी कह सकते हैं।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की अनित्यता

शब्द और अर्थ में न तो अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है और न बौद्धों की तरह तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्ध है। अपितु योग्यतारूप सम्बन्ध है। जैसे ज्ञान में ज्ञापक शक्ति है और ज्ञेय में ज्ञाप्य शक्ति है वैसे ही शब्द में वाचक (प्रतिपादक) शक्ति और अर्थ में वाच्य (प्रतिपाद्य)। शक्ति प्रतिनियत है। इसी वाच्य-वाचक शक्ति का नाम 'योग्यता है। यद्यपि सभी शब्दों में सभी प्रकार के अर्थों को कहने की शक्ति है परन्तु व्यक्तियों के द्वारा प्रतिनियत सङ्केत कर लेने के कारण प्रत्येक शब्द प्रतिनियत अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। यही कारण है कि एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में तथा विभिन्न प्रदेशों में विविध अर्थों में सङ्केत मिलता है, जैसे-'फूल' शब्द हिन्दी भाषा में 'पुष्प' का वाचक है तो अंग्रेजी में 'मूर्ख' का वाचक है । 'कर्कटिका' शब्द मालवा में 'ककड़ी' अर्थ का वाचक है तो, गुजरात में 'योनि' अर्थ का वाचक है। इस तरह सिद्ध है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध अनित्य है । प्रयोग, सन्दर्भ आदि के अनुसार उसे अर्थ दिया जाता है। यही कारण है कि देश, काल, भाषा आदि के भेद से शब्दार्थ-सम्बन्धों में भेद पाया जाता है। अर्थापकर्ष (यथा-असुर), -अर्थविस्तार (यथा-स्याही), अर्थसङ्कोच (यथा वास) आदि भाषाविज्ञान के नियम भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। जैन दृष्टि से सम्प्रेषण और अर्थग्रहण की शक्ति में 'नामकर्म' का क्षयोपशम भी निमित्त कारण होता है। चक्षु में जैसे रूप के प्रकाशन की शक्ति है वैसे ही शब्द में अर्थ के प्रकाशन की शक्ति स्वाभाविक है, परन्तु शब्द सङ्केतग्राही पुरुष को ही अपने अर्थ का ज्ञान कराता है। चूंकि शब्द ज्ञापक है, अत: वह सङ्केत की अपेक्षा से ही अर्थ का बोध कराता है। जो ज्ञापक होता है वह उसी पुरुष को, ज्ञाप्य का ज्ञान कराता है जिसने पहले से ज्ञापक और ज्ञाप्य के सम्बन्ध को जान लिया हो।

शब्द और अर्थ का मीमांसकों की तरह नित्य सम्बन्ध नहीं है, अपितु अनित्य सम्बन्ध है-शब्द योग्यतारूप सम्बन्ध से ही अर्थ का प्रतिपादक होता है। यह सम्बन्ध नैयायिकों की तरह 'ईश्वरेच्छारूप' भी नहीं है अपितु प्राणियों के प्रयत्न से जन्य है। यह अर्थबोधकता मात्र शब्द में निहित नहीं है अपितु वक्ता और श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। यही

कारण है कि अनसीखी भाषा से न तो अर्थबोध होता है और न वक्ता उस भाषा को बोल पाता है।

अनित्य शब्दों से अर्थज्ञान कैसे ?- शब्द को अनित्य मानने पर वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगा, फलस्वरूप 'गौ' (ग्-औ) आदि शब्दों से अर्थज्ञान नहीं होगा। इसके उत्तर में जैनों का कहना है, जैसे धूम के अनित्य होने पर भी सादृश्य के कारण धूम सामान्य से अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही शब्द के अनित्य होने पर भी सादृश्य के कारण शब्द-सामान्य से अर्थज्ञान हो सकता है। शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है। शब्द कार्य है क्योंकि वह कारणों के होने पर उत्पन्न होता है और कारणों के अभाव में उत्पन्न नहीं होता है। शब्द उत्पन्न होकर वीचीतरङ्ग न्याय से अन्य-अन्य सदृश शब्दों को उत्पन्न करता हुआ लोकान्त तक जा सकता है।

वैयाकरणों ने वर्ण, पदादि के अनित्य होने से एक नित्य, स्फोट तत्त्व की कल्पना की है, परन्तु जैनों ने ऐसे किसी नित्य तत्त्व को अर्थबोध के लिए आवश्यक नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि पूर्व वर्णों के नाश से विशिष्ट अन्तिम वर्ण से अर्थ का बोध होता है अर्थात् पूर्व वर्णों के ज्ञान के संस्कार से सहित अन्तिम वर्ण अर्थ का बोध कराता है। जैसे-प्रथमतः वर्ण का ज्ञान, पश्चात् उससे संस्कारोत्पत्ति, पश्चात् दूसरे वर्ण का ज्ञान, तदनन्तर पूर्ववर्णज्ञान के संस्कार से सहित उस ज्ञान से विशिष्ट संस्कार का जन्म। तृतीय आदि वर्णों के विषय में भी अर्थ का ज्ञान कराने वाले अन्तिम वर्ण के सहायक अन्तिम संस्कार तक यही क्रम जानना चाहिए। वाक्य से अर्थज्ञान होने में भी यही नियम है।

शब्द का विषय सामान्य-विशेषात्मक है-मीमांसकों की तरह शब्द का विषय सामान्यमात्र नहीं है अपितु सामान्य विशेषात्मक है। वस्तुतः सङ्केत के अनुसार ही शब्द वाचक होता है। सङ्केत सामान्यविशिष्ट विशेष में ही किया जाता है, न कि सामान्य मात्र में। केवल सामान्य न तो प्रवृत्ति का विषय है और न किसी अर्थक्रिया में उपयोगी है। जैसे गौ, घट आदि व्यक्ति कार्यकारी हैं, गोत्व या घटत्व जाति (सामान्य) नहीं। 'दण्डी' शब्द से जैसे दण्ड विशिष्ट पुरुष की प्रतीति होती है वैसे ही 'गौ' शब्द से गोत्व-विशिष्ट गोपिण्ड की प्रतीति होती है। वस्तुतः जाति और व्यक्ति दोनों शब्दवाच्य हैं। प्रसङ्गानुसार विवक्षाभेद से उनमें मुख्यता और गौणता देखी जाती है।

संस्कृत भिन्न शब्दों में भी अर्थ-वाचकता - संस्कृत के 'गौ' आदि शद्ध शब्दों की तरह अपभ्रंश के 'गावी' आदि शब्दों से भी अर्थज्ञान होता है, क्योंकि वाच्यवाचकभाव लोकव्यवहार के अधीन होता है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो असंस्कृतज्ञों को कभी भी शब्दार्थज्ञान नहीं होगा।

शब्दों के भेद- शब्द दो प्रकार के हैं--प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुष आदि चेतन के प्रयत्न से जन्य शब्द को 'प्रायोगिक' कहते हैं। चेतनप्रयत्न के बिना केवल पुद्गल स्कन्धों के सङ्घर्ष से जन्य शब्द को 'वैस्रसिक' कहते हैं । जैसे--मेघध्वनि आदि। प्रायोगिक के प्रथमतः दो भेद हैं - भाषात्मक और अभाषात्मक। इनके भी अवान्तर भेद हैं।

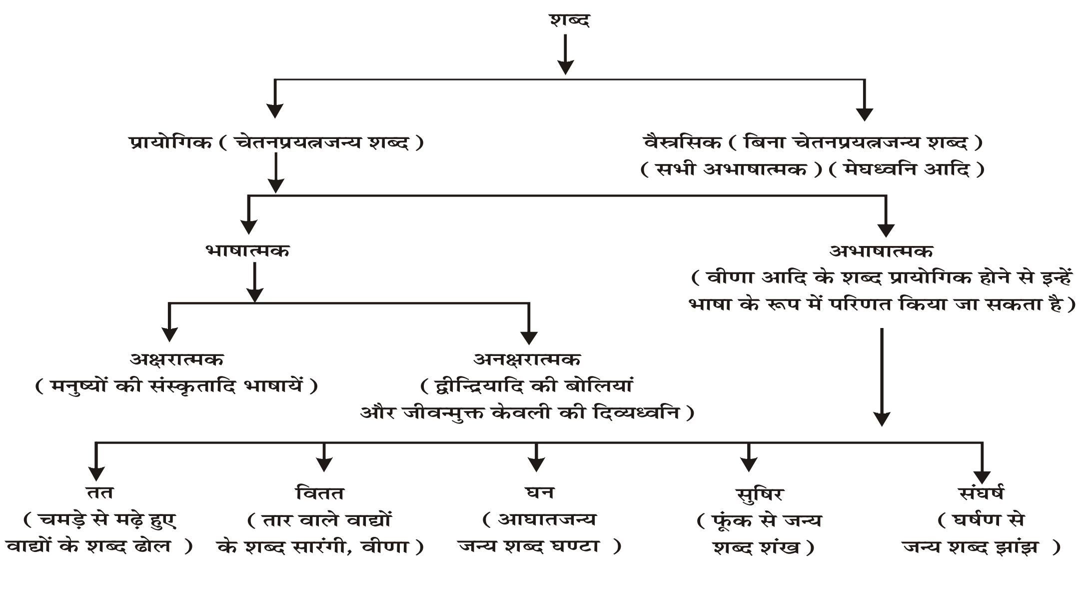

अन्य प्रकार -शब्दों के अन्य प्रकार से निम्न तीन भेद किए गए हैं-

भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक के दो भेद हैं–अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। मनुष्यों की संस्कृत, प्राकृत, अङ्ग्रेजी आदि भाषाये अक्षरात्मक हैं। द्वीन्द्रियादि जीवों की भाषा तथा केवली की दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है। वीणा, ढोल, झांझ, बांसुरी आदि से उत्पन्न शब्द अभाषात्मक हैं। सभी वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक हैं ।

शब्द, पद और वाक्य

अर्थबोधक विभक्तिरहित वर्णों के समुदाय को 'शब्द' कहते हैं और विभक्तिसहित होने पर उसे ही 'पद' कहते हैं। जैसे 'राम' (र्–आ–म् –अ) एक शब्द है और 'राम:' (राम –सु विभक्ति =:) या 'राम ने एक पद है। 'पद' वाक्यांश होता है और वह वाक्यसापेक्ष होता है परन्तु 'शब्द' वाक्य–निरपेक्ष होता है।

अपने वाच्यार्थ को प्रकट करने के लिए परस्पर साकाङ्क्ष (सापेक्ष) पदों का निरपेक्ष समुदाय वाक्य है, 'पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्ष: समुदायो वाक्यमिति (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ0 458) अर्थात् साकाङ्क्ष पद परस्पर मिलकर तब एक ऐसी इकाई बना लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं रहती है, वाक्य कहते हैं।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दो प्रमुख मत हैं–

(1) वाक्य से पृथक् पद का कोई महत्त्व नहीं है। वाक्य एक अखण्ड इकाई है। इस मत वाले अन्विताभिधानवादी (प्रभाकर मीमांसक का मत) कहलाते हैं। इस अन्विताभिधान मत में पद परस्पर अन्वित ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् पदों को सुनकर सङ्केत ग्रहण केवल अनन्वित पदार्थों में नहीं होता, अपितु वाक्य में पद परस्पर अन्वित (सम्बन्धित) होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

(2) पद वाक्य के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं और वे अपने आप में स्वतन्त्र इकाई हैं। इस मत वाले अभिहितान्वयवादी (कुमारिलभट्ट का मत) कहलाते हैं। इस मत (अभिहितान्वयवाद) से प्रथमत: पदों को सुनकर अनन्वित (असम्बद्ध) पदार्थ उपस्थित होते हैं पश्चात् आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य के आधार पर (विभक्तिप्रयोग के आधार पर) उन पदों के परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्य का बोध होता है, अर्थात् वाक्यार्थ पदों के वाच्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) पर निर्भर है।

जैन दृष्टि से पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक महत्त्व है, क्योंकि पदों के अभाव में न तो वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद अपने विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन में सक्षम है। इस तरह जैनदर्शन में पद और वाक्य दोनों पर समान बल दिया गया है। वस्तुत: पद और वाक्य न तो परस्पर भिन्न हैं और न अभिन्न। अत: वाक्यार्थ बोध में कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। इस तरह जैनदर्शन में दोनों मतों का समन्वय किया गया है। किञ्च इसमें न केवल क्रियापद (आख्यात) प्रधान है और न कर्तृपद।

वाच्यार्थ-निर्धारण की नय-निक्षेप-पद्धति

वक्ता द्वारा कहे गए शब्दों का सही अर्थ निर्धारण नय और निक्षेप पद्धतियों से सम्भव है। एक ही शब्द या वाक्य प्रयोजन तथा प्रसङ्गानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे – 'सैन्धव' शब्द भोजन के समय 'नमक' का बोधक है और यात्रा के समय 'घोड़ा' का बोधक है। अत: श्रोता को वक्ता के शब्दों के साथ उसका अभिप्राय, कथनशैली, तात्कालिक सन्दर्भ आदि को जानना जरूरी है। इसके लिए आवश्यक है, नय और निक्षेप सिद्धान्तों का जानना।

निक्षेप पद्धति

वक्ता ने किस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है इसका निर्धारण निक्षेप से किया जाता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार प्रकार के अर्थ सम्भव हैं। अत: उन चार अर्थों के आधार पर ही निक्षेप के चार भेद किए जाते हैं 1. नाम निक्षेप, 2. स्थापना निक्षेप, 3. द्रव्य निक्षेप और 4. भाव निक्षेप । जैसे – 'राजा' शब्द (1) राजा नामधारी व्यक्ति, (2) राजा का अभिनय करने वाला अभिनेता, (3) भूतपूर्व शासक और (4) वर्तमान शासक, इन चार अर्थों को क्रमश: नामादि चार निक्षेपों के द्वारा प्रकट करता है।

(1) नाम निक्षेप--शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ की तथा गुणादि की अपेक्षा न करते हुए किसी व्यक्ति या वस्तु को संकेतित करने के लिए कोई 'नाम' रख देना नाम निक्षेप है। जैसे–जन्मान्ध को 'नयन सुखदास' कहना। इसी तरह लोक

व्यवहारार्थ रिंकू, पप्पू आदि नाम रखना नाम निक्षेप है। इसमें पर्यायवाची शब्द नहीं प्रयुक्त होते हैं क्योंकि एक शब्द से एक ही अर्थ (व्यक्ति) का बोध होता है और वह उसमें रूढ़ हो जाता है। एक नाम वाले कई व्यक्ति भी हो सकते हैं।

(2) स्थापना निक्षेप–मूर्ति, चित्र, प्रतिकृति आदि में मूलवस्तु का आरोप करना स्थापना निक्षेप है। इसके दो प्रकार हैं– (क) तदाकार स्थापना और (ख) अतदाकार स्थापना। जब मूल वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति वाली वस्तु में मूल वस्तु का आरोप करते हैं तो उसे तदाकार–स्थापना कहते हैं। जैसे भगवान राम की मूर्ति को 'राम' कहना और उसे राम की तरह सम्मान देना। जब मूलवस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति के न रहने पर भी उसमें मूलवस्तु का आरोप किया जाता है तो उसे अतदाकार–स्थापना कहते हैं। जैसे शतरंज की मोहरों को राजा, वजीर आदि कहना।

(2) द्रव्य निक्षेप––जो अर्थ या वस्तु पूर्वकाल में किसी पर्याय में रह चुकी हो या भविष्य में रहेगी उसे वर्तमान में भी उसी नाम से सङ्केतित करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे– सेवानिवृत्त अध्यापक को वर्तमान में भी अध्यापक कहना। डाक्टरी पढ़ने वाले छात्र को वर्तमान में डाक्टर कहना। मिट्टी के ऐसे घड़े को घी का घड़ा कहना जिसमें या तो पहले कभी घी रखा गया था या भविष्य में घी रखा जायेगा परन्तु वर्तमान में घी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(4) भाव निक्षेप –जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त या प्रवृत्ति–निमित वर्तमान में घटित होता हो उसे तद्रूप कहना भावनिक्षेप है। जैसे–सेवा कर रहे व्यक्ति को सेवक कहना, खाना पका रहे व्यक्ति को पाचक कहना, आदि।

नय पद्धति –

वक्ता या ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को 'नय' कहते हैं। इससे 'भाषा का अर्थ–विश्लेषण किया जाता है। अभिप्रायों की अनेकता के कारण इसके अनेक भेद सम्भव हैं। किन्तु सामान्य रूप से इसके सात भेद स्वीकृत हैं। जैनदर्शन में नयों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। जैसे द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय, निश्चय नय और व्यवहार नय, आदि। परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रमुख सात भेद स्वीकृत हैं जिन्हें शब्दनय और अर्थनय के भेद से दो भागों में भी विभक्त किया गया है। जैसे–

(1) अर्थनय – इसमें नैगम, सङ्ग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये 4 नय आते हैं।

(2) शब्दनय–इसमें शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत में 3 नय आते हैं।

सातों नयों के स्वरूप निम्न हैं –

(1) नैगमनय–वक्ता के सङ्कल्पमात्र या उद्देश्यमात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय कहलाता है। इसमें भूत और भविष्यत् पर्यायों में भी वर्तमान–व्यवहार होता है। औपचारिक कथन इसी नय की दष्टि से सत्य है। क्रियमाण (भविष्यत् क्रिया) को कृत (हो चुकी क्रिया) कहना भी इसी नय से सम्भव है। क्योंकि वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई है उसे इस नय की दृष्टि से पूर्ण माना जाता है। जैसे–डाक्टरी पढ़ने वाले छात्र को भावि लक्ष्य की दृष्टि से वर्तमान में डाक्टर कहना। 'आज कृष्ण जन्माष्टमी है' ऐसा वर्तमानकालिक व्यवहार भूतकालीन घटना का औपचारिक प्रयोग है। अभी पूरा भोजन नहीं बना परन्तु कहना 'भोजन बन गया' क्रियमाण को कृत कहना है। इसमें कुछ कार्य हो चुका है और कुछ होना बाकी है। भात पक गया (चावल का पकना), आटा पिसाना (गेहूं पिसाना) आदि प्रयोग इसी नय की सीमा में आते हैं।

(2) सङ्ग्रहनय––व्यष्टि (विशेष या भेद) को गौण करके समष्टि (सामान्य या अभेद) का कथन करना या ज्ञान होना संग्रहनय है । अपनी–अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का एक ही रूप से कथन करना या वैसा ज्ञान होना। जैसे–'जीव' शब्द से सभी एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को एक कोटि में रखा जाता है। 'भारतीय' कहने से स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, गरीब, अमीर आदि सभी भारतवासियों का बोध होता है।

(3) व्यवहार नय–समष्टि को गौण करके व्यष्टि का कथन या ज्ञान व्यवहार नय है। इसमें सङ्ग्रह नय से गृहीत पदार्थों में अन्त तक विधिपूर्वक भेद करते जाते हैं। जैसे, 'जीव' के दो भेद– संसारी और मुक्त। संसारी के 4 भेद–देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी। 'भारतीय' के अन्य भेद–उत्तरप्रान्तीय, दक्षिणप्रान्तीय आदि)।

(4) ऋजुसूत्र नय–भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय को ग्रहण करने वाला वचन या ज्ञान ऋजुसूत्र नय है। यद्यपि एक पर्याय एक समय तक ही रहती है (क्योंकि वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इस सिद्धान्त से) परन्तु व्यवहार से स्थूल पर्याय का ग्रहण करना। जैसे जन्म से मृत्यु तक एक मनुष्य पर्याय मानना।

(5) शब्द नय– शब्द के लिङ्, संख्या, कारक, उपसर्ग, काल आदि के भेद से वाच्यार्थ में भेद करना अर्थात् लिङ्ग आदि के व्यभिचार को दूर करने वाले वचन और ज्ञान को शब्द नय कहते हैं। भिन्न–भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का एक ही

वाच्य मानना लिङ्ग-व्यभिचार है। जैसे- स्त्रीवाचक नारी (स्त्रीलिङ्ग) और कलत्रम् (नपुंसकलिङ्ग) ये भिन्न-भिन्न लिङ्ग वाले होने से पर्यायवाची नहीं बन सकते। इसी तरह 'होने वाला कार्य हो गया' यहाँ काल व्यभिचार है, 'कृष्ण ने (कतृ कारक) मारा' और 'कृष्ण को (कर्मवारक) मारा' यहाँ कृष्ण में कारक व्यभिचार है।

(6) समभिरूढ़ नय- लिङ्गादि का भेद न होने पर भी शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद करना समभिरूढ़ नय है। जैसे-इन्द्र (आनन्दयुक्त), शक्र (शक्तिशाली) और पुरन्दर (नगर-विदारक) में; राजा (शोभायमान), भूपाल (पृथिवीपालक) और नृप (मनुष्यों का पालक) में लिङ्गादि-व्यभिचार नहीं है। अत: ये परस्पर एकार्थवाची होने से शब्दनय की दृष्टि से पर्यायवाची हो सकते हैं परन्तु इन शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न होने से समभिरूढ़नय की दृष्टि से ये एकार्थवाची नहीं हैं। अत: पर्यायवाची नहीं बन सकते। इस तरह शब्दभेद से अर्थभेद करना समभिरूढ़नय का कार्य है।

(7) एवम्भूत नय-जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ हो, उस क्रियारूप से परिणत पदार्थ को ही ग्रहण करने वाला वचन या ज्ञान एवम्भूतनय है। इस नय की दृष्टि से सभी शब्द क्रियावाचक हैं। अत: शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर किया जाता है । जैसे आनन्दोपभोग करते समय ही देवराज को इन्द्र कहना, अध्यापक जब पढ़ा रहा हो तभी अध्यापक कहना; आदि ।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-विषयग्राही हैं। लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों का प्रयोग नैगमनय के ही अधीन है। जब वस्तु का कथन किसी एक नय की दृष्टि से किया जाता है तो वहाँ अन्य नयों की दृष्टि को गौण कर दिया जाता है। नय वस्तु के एकांश या एक धर्म को ही ग्रहण करता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। जिनमें से एक-एक नय एक-एक धर्म को विषय करता है। यदि कोई एक नय की दृष्टि को ही पूर्ण सत्य समझेगा तो वह दुर्नयानुगामी कहलायेगा। आवश्यकतानुसार एक को मुख्य और शेष को गौण करते हुए सातों नयों की सापेक्षता से ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाना जा सकता है।

इस तरह नय और निक्षेप विधियों के द्वारा ही वाक्यार्थ तथा शब्दार्थ का निर्धारण जैनदर्शन में किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि वाच्यार्थ न केवल विधिरूप होता है और न केवल निषेधरूप। जब हम विधि का कथन करते हैं तो वहाँ निषेध (अन्य-व्यावृत्ति) गौण रहता है और जब निषेध का कथन करते हैं तो वहाँ विधि गौण होता है। शब्दों के द्वारा एक साथ विधि-निषेध का कथन नहीं किया जा सकता; अत: उसे अवक्तव्य कहा जाता है। इस कथन-प्रक्रिया को जैनदर्शन में सप्तभङ्गी शब्द से कहा गया है-(1) स्यादस्ति, (स्वापेक्षया विधि कथन), (2) स्यान्नास्ति (परापेक्षया निषेध-कथन), (3) स्यादस्ति नास्ति (स्व-परापेक्षया विधि-निषेध का क्रमश: कथन), (4) स्यादवक्तव्य (स्व-परापेक्षया विधि-निषेध का युगपत् कथन), (5) स्यादस्ति अवक्तव्य, (6) स्यान्नास्ति अवक्तव्य, और (7) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। अन्तिम तीन भङ्ग ऊपर के चार भङ्गों के सम्मिश्रण हैं।

जैन दर्शन में वाच्यार्थ के सत्यासत्य का भी विस्तार से विचार किया गया है। सर्वत्र अनेकान्तदृष्टि या स्याद्वाददृष्टि का सहारा लिया गया है।

प्रमाण-स्वरूप (प्रथम भाग)

'प्रमाण' शब्द का प्रयोग दर्शनशास्त्र तथा लोकव्यवहार में उभयत्र मिलता है। लोकव्यवहार में प्रमाण शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में मिलता है, जैसे लम्बाई-चौड़ाई का माप, परिमाण, सीमा, साक्ष्य, यथार्थ- प्रत्यय, सम्मोदन, निश्चायक, वह जिसका शब्द विश्वसनीय माना जाये, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का उपाय आदि।[1] परन्तु दर्शनशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग किसी खास अर्थ में किया जाता है, जैसा कि प्रमाण (प्र +मा+ ल्युट्) शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है- 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' जिसके द्वारा जाना जाय अर्थात् जो पदार्थों के जानने का साधन हो। यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञान यथार्थ हो तथा साधकतम साधन (=करण = साधकतम कारण = विशिष्ट कारण-जिसके तुरन्त बाद बिना व्यवधान के फल प्राप्ति हो। अत: साधकतम कारण को करण, यथार्थ ज्ञान को प्रमा और प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है।[2] इस तरह प्रमाण में निम्नलिखित दो बातें होनी चाहिए : यथार्थ ज्ञान की जनकता और विशिष्ट साधनता।

1. यथार्थ ज्ञान की जनकता : इससे मिथ्याज्ञान के जनक में प्रमाणता का खण्डन हो जाता है।

2. विशिष्ट साधनता : इससे यथार्थ ज्ञान के जनक विभिन्न सामान्य कारणों में प्रमाणता का खण्डन तथा अपने

अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण में निश्चयपूर्वक फलोत्पादक साधन में प्रमाणता की स्थापना।

विभिन्न दर्शनों में प्रमाण का स्वरूप :

यद्यपि प्रमाण के उपर्युक्त स्वरूप में किसी को विवाद नहीं है परन्तु प्रमा का करण किसे माना जाय इस विषय को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है जिसे दो पक्षों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम पक्ष के अनुसार ज्ञानभिन्न इन्द्रियसन्निकर्षादि तथा द्वितीय पक्ष के अनुसार ज्ञान ही प्रमा का जनक है।

सामान्यत: जो ज्ञानभिन्न इन्द्रियादि (अज्ञानरूप अचेतन) में प्रमाणता स्वीकार करते हैं वे ज्ञान को प्रमाण का फल (प्रमा या प्रमिति) मानते हैं। और जो ज्ञान में ही प्रमाणता स्वीकार करते हैं वे या तो अज्ञाननिवृत्ति एवं हेय-उपादेय-उपेक्षा बुद्धि आदि को प्रमाण का फल मानते हैं अथवा अर्थप्रकाशरूप ज्ञान को ही उसका फल मानते हैं। इसे स्पष्ट करने के पूर्व विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के प्रमाण-लक्षण पर विहङ्गम दृष्टि डालना आवश्यक है।

न्याय-वैशेषिक (योग) :

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने 'निर्दोष ज्ञान' को प्रमाण का सामान्य लक्षण बतलाया है।[3] न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम के न्यायसूत्र में यद्यपि प्रमाण का लक्षण उपलब्ध नहीं होता है परन्तु उसके भाष्यकार वात्स्यायन ने उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) को प्रमाण बतलाया है।[4] इसी प्रकार उद्योतकर[5] और जयन्तभट्ट[6] आदि[7] ने भी प्रमा के करण को प्रमाण कहा है। इन लक्षणों के आधार पर न्याय-वैशेषिक दर्शन में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष (सम्बन्धविशेष) और ज्ञान इन तीनों में प्रमाणता स्वीकार की गई है।[8] इसका खुलासा इस प्रकार है-नैयायिक प्रमाण और फल के बीच में एक व्यापार[9] मानते हैं और उस व्यापार से प्रमाण और फल के मध्य व्यवधान नहीं मानते हैं।[10] जैसे कुठार (करण) से छेदन क्रिया (फल) करने पर कुठार और लकड़ी का संयोगरूप व्यापार आवश्यक है उसी प्रकार इन्द्रियों (प्रमाण) से घट-पटादि का ज्ञान (प्रमा) होने पर इन्द्रिय और घटादि पदार्थ का (संयोगादि) सन्निकर्षरूप व्यापार भी अवश्यम्भावी है। जैसे कुठार और लकड़ी के सम्बन्ध-बिना छेदन क्रिया असम्भव है उसी प्रकार इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्षसम्बन्धविशेष के बिना प्रमिति (ज्ञान) भी असम्भव है। यहाँ इतना विशेष है कि जब इन्द्रियाँ प्रमाण होती हैं तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार और निर्विकल्पक ज्ञान फल होता है। जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण माना जाता है तो निर्विकल्पक ज्ञान (विशेषण-विशेष्य का सम्बन्धानवगाही ज्ञान) व्यापार और सविकल्पक ज्ञान (सम्बन्धावगाही ज्ञान) फल होता है; जब निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण माना जाता है तो सविकल्पक ज्ञान व्यापार और हेय-उपादेय-उपेक्षाबुद्धि फल होती है। यह तो हुआ प्रत्यक्ष स्थल में परन्तु अनुमिति आदि स्थल में ज्ञान करण (प्रमाण) होता है और परामर्शादि व्यापार । जैसे-[11]

प्रमाण	करण	व्यापार	फल
प्रत्यक्ष-	1. इन्द्रियाँ	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान
	2. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान
	3. निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान	हेय-उपादेय-उपेक्षा बुद्धि
अनुमान-	व्याप्तिज्ञान	लिङ्गपरामर्श	अनुमिति (अग्न्यादिज्ञान)
उपमान-	सादृश्यज्ञान	अतिदेशवाक्यार्थ स्मरण	उपमिति (यह गवय है ऐसा शक्ति ज्ञान)
शब्द-	पदज्ञान	पदजन्यपदार्थ स्मरण	शाब्दी (शाब्दबोध)

कोई-कोई प्राचीन नैयायिक कारक-साकल्य(इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि समस्त ज्ञान सामग्री) को प्रमाण मानते हैं[12] परन्तु उनके इस कथन की 'प्रमा के करण' के साथ सङ्गति नहीं है।[13]

इस तरह न्यायवैशेषिक दर्शन में मुख्य रूप से ज्ञानभिन्न इन्द्रियादि को प्रमाण स्वीकार किया है और ज्ञान को उसका फल। जहाँ ज्ञान को प्रमाण माना है वहाँ ज्ञानान्तर को फल माना गया है तथा प्रमाणरूप प्रथम ज्ञान की प्रमाणता इन्द्रियों के द्वारा ही स्वीकृत है। अर्थात् नैयायिक व वैशेषिक मुख्यत: इन्द्रियों को या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानते हैं और ज्ञान को परम्परया।

सांख्ययोग : इन्द्रियवृत्ति

सांख्ययोग दर्शन में इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण न मानकर इन्द्रियवृत्ति (चक्षु आदि इन्द्रियों अथवा चित्त का विषय के आकाररूप में परिणमन करना = इन्द्रियव्यापार) को प्रमाण माना गया है।[14] परन्तु इन्द्रिय

अथवा बुद्धि का पदार्थ के आकार का होना अनुभव विरुद्ध है[15] तथा इन्द्रिय के अचेतन होने से इन्द्रियवृत्ति भी अचेतन (अज्ञानरूप) होगी। इस तरह सांख्य-योग दर्शन में भी न्याय-वैशेषिक की ही तरह अज्ञानरूप इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण और ज्ञान (पौरुषेय बोध) को फल स्वीकार किया गया है।

वेदान्त : अन्तःकरणवृत्ति

वेदान्त दर्शन में न तो इन्द्रिय को और न इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण माना गया है अपितु अन्तःकरणवृत्ति को प्रमाण माना गया है। वेदान्त दर्शन में प्रत्यक्ष स्थल में ज्ञान की प्रक्रिया क्रमशः इस प्रकार है-1. इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, 2. इन्द्रिय और अन्तःकरण (मन) का सन्निकर्ष, 3 इन्द्रियोपरूढ़ अन्तःकरण के साथ अर्थ का सन्निकर्ष, 4. अन्तःकरण का विषयाकार परिणमन, 5. उस पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब, पश्चात् 6. पदार्थज्ञान । इस तरह यहाँ प्रमातृ-चैतन्य (आत्मा), प्रमाण-चैतन्य (अन्तःकरणवृत्ति) और प्रमेय-चैतन्य (घटादि पदार्थ) ये तीनों जब एकाकार होते हैं तभी ज्ञान होता है। अनुमानादि स्थल में व्याप्तिज्ञानादिजन्य अन्तःकरणवृत्ति प्रमाणरूप होती है। वहाँ अन्तःकरण वह्नि आदि के देश में नहीं जाता है। क्योंकि वह्नि आदि के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं होता है।[16] इस तरह वेदान्त दर्शन में अन्तःकरणवृत्ति को प्रमाण मानने से वह भी अज्ञान रूप ही हुआ ।

मीमांसा : ज्ञातृव्यापार, ज्ञान तथा अनुभूति

मीमांसा दर्शन में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं-1. भाट्ट (कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायी) तथा 2. प्रभाकर (प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायी)। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अज्ञात (अनधिगत = अपूर्व) और यथावस्थित अर्थ का निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है।[17] एक अन्य लक्षण में कहा है-'जो अपूर्व अर्थ को जानने वाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दुष्ट कारणों से उत्पन्न हो और लोकसम्मत हो वह प्रमाण है।'[18] इस तरह इस मत में ज्ञान को प्रमाण माना गया है।

प्रभाकर मत में अनुभूति[19] तथा ज्ञातृव्यापार[20] दोनों को प्रमाण माना गया है। अनुभूति तो प्रमाण नहीं हो सकती क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों को एक ही अर्थ की अनुभूति अपनी-अपनी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अतः वह प्रमा और अप्रमा उभयरूप सम्भव है। ज्ञातृव्यापार का तात्पर्य है-आत्मा, मन, इन्द्रिय और पदार्थ-इन चारों का सम्बन्ध होने पर ज्ञाता (आत्मा) का व्यापार (क्रिया) होता है। यह ज्ञाता का व्यापार पदार्थ का ज्ञान कराने में साधकतम होने से प्रमाण है। इस तरह इस मत में अन्तःकरणवृत्ति से ऊपर उठकर आत्मा की वृत्ति (व्यापार) में प्रमाणता स्वीकार की गई है। यह ज्ञाता का व्यापार अज्ञानरूप ही है और वह ज्ञानरूप फल (प्रमा) को पैदा करता है। परन्तु ज्ञातृव्यापार में प्रमाणता युक्तिसङ्गत नहीं है।[21]

बौद्ध : ज्ञान

बौद्ध दर्शन में स्वसंवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादी (यथार्थ) ज्ञान को प्रमाण माना गया है।[22] इस दर्शन की मुख्य विशेषता यह है कि प्रमाण और फल में यद्यपि अभेद माना गया है फिर भी प्रमाणरूप ज्ञान को विषयाकार परिणत माना गया है।[23] इस तरह बौद्ध दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, इन्द्रियादि को नहीं।

जैन : ज्ञान

जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। इस का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में किया है।[24] इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने स्व और पर (अर्थ) के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[25] आचार्य सिद्धसेन ने भी बाधारहित स्व-परप्रकाशक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है।[26] यह बाधारहित विशेषण से ज्ञात होता है कि जो भी ज्ञान (भ्रमरूप या प्रमारूप) होता है वह स्वपरप्रकाशक ही होता है। अतः भ्रमस्थल का निराकरण करने के लिए बाधा रहित विशेषण देना उचित ही है। इसके बाद अकलङ्कदेव ने स्व-पर के प्रकाशक व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) अथवा अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण माना हैं।[27] अकलङ्कदेव ने सिद्धसेन के बाधविवर्जित के स्थान पर व्यवसायात्मक और अविसंवादी पदों का प्रयोग किया है जो लक्षण का परिमार्जन है, अर्थ भेद नहीं। कहीं-कहीं अकलङ्कदेव के द्वारा प्रमाण-लक्षण में 'अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्', 'अनिर्णीतनिर्णायकत्वात्' और 'अनिश्चितनिश्चयात्' पदों[28] का भी प्रयोग किया गया है जिसके आधार पर किन्हीं विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अकलकदेव अज्ञातार्थज्ञापक (जो पहले से ज्ञात नहीं है उसका ज्ञान कराने वाला) ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे, गृहीतग्राही (धारावाहिक) ज्ञान को नहीं।[29] यह कथन सर्वथा भ्रामक है क्योंकि एक तो इन शब्दों के प्रयोग का केवल इतना तात्पर्य है कि जो अज्ञात, अनिर्णीत और

अनिश्चायक है उसको ज्ञात, निर्णीत और निश्चायक कराने वाला है। अकलङ्क ने स्वयं तत्त्वार्थ वार्तिक में अपूर्वार्थग्राही लक्षण की अनुपपत्ति दिखलाते हुए स्पष्ट शब्दों में विस्तारपूर्वक धारावाहिक ज्ञानों में स्मृति आदि की तरह प्रमाणता स्वीकार की है।[30] इसी प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने भी 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण का लक्षण बतलाकर उसे स्वार्थ-निश्चायक माना है, न कि अनधिगत अथवा अपूर्वार्थग्राही।[31] परन्तु माणिक्यनन्दि और तदुत्तरवर्ती दिगम्बर आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व पद का निवेश करके स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण माना है।[32] न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषणयति ने। विद्यानन्दि के 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इस लक्षण को स्वीकार करके भी आचार्य माणिक्यनन्दि की तरह ज्ञान को स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ही सिद्ध किया है[33] जो केवल गड्डुलिकाप्रवाह मात्र प्रतीत होता है। श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रमाण माना है, अपूर्वार्थ मात्र को नहीं।[34] श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा में इसका सपरिष्कृत विवेचन किया है[35] जिसका आगे विचार करेंगे।

ज्ञानभिन्न में प्रमाणता का खण्डन :

इस तरह विभिन्न दर्शनशास्त्रियों ने प्रमा के करण रूप प्रमाण का अपने-अपने सिद्धान्तानुसार प्रतिपादन किया है। हम देखते हैं कि एक दर्शन सम्प्रदाय के लोग करीब एक ही प्रकार का लक्षण स्वीकार करते हैं और दूसरे सम्प्रदाय वाले कुछ दूसरे प्रकार का। इसका कारण है तत्तत् सम्प्रदायों में मान्य कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का संरक्षण। यदि वे अन्य प्रकार से लक्षण करते हैं तो उनके स्वीकृत मूल सिद्धान्तों से विरोध होता है। जैसे, नैयायिक सर्वथा भेदवादी होने से प्रमाण और फल में पूर्णभेद स्थापित करने के लिए ज्ञान को प्रमाण न मानकर इन्द्रियादि को प्रमाण स्वीकार करता है और यह बहुत ही स्थूल दृष्टि है, इसीलिए नैयायिक को एक प्रमाण न मानकर इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान इन तीनों को प्रमाण मानना पड़ता है। बौद्ध क्षणिकवादी होने से अज्ञातार्थज्ञापक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं तथा प्रमाण और फल में अभेद मानते हैं, अन्यथा क्षणिक सिद्धान्त होने से सामञ्जस्य ही नहीं बनेगा। इसी प्रकार सांख्य-योग, वेदान्त, मीमांसा और जैन दर्शन भी अपने-अपने स्वीकृत मूलभूत सिद्धान्तों से अनुबद्ध हैं। जहाँ तक स्थूल दृष्टि का प्रश्न है, न्यायवैशेषिक का सिद्धान्त ठीक है, परन्तु हम ज्यों-ज्यों सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो क्रमशः इन्द्रियवृत्ति, अन्तःकरणवृत्ति, ज्ञातृव्यापार व ज्ञान की प्रमाणता तक पहुँच जाते हैं क्योंकि ज्ञानातिरिक्त अचेतन इन्द्रियादि को प्रमाण मानने पर एक तो उनमें प्रमाकरणता (साधकतमता) नहीं बनती है और दूसरे अचेतन इन्द्रियादि से ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान चेतन का धर्म है। जब तक चेतन का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक ज्ञान पैदा नहीं हो सकता अन्यथा मृत पुरुष की इन्द्रियों को भी ज्ञान होना चाहिए। यदि इस दोष से बचने के लिए इन्द्रियों में शक्ति विशेष या योग्यता की कल्पना की जाय (जो कि जीवितावस्था में रहती है और मृतावस्था आदि में नहीं रहती है) तो वह शक्ति इन्द्रिय से भिन्न ही होगी, अभिन्न नहीं, क्योंकि शक्ति को इन्द्रिय से अभिन्न मानने पर कोई फायदा नहीं होगा। इन्द्रिय से भिन्न शक्ति अन्ततोगत्वा ज्ञानरूप ही पड़ेगी। तीसरे इन्द्रिय को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ का अभाव होगा। चौथे इन्द्रिय को प्रमाण मानने पर भी ज्ञान को प्रमाण मानते ही हैं फिर लाघव हेतु से केवल ज्ञान को क्यों नहीं मान लेते।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को यदि प्रमाण माना जाय तब भी उपर्युक्त सभी दोष आते हैं तथा सन्निकर्ष के द्विष्ठ (इन्द्रिय और अर्थ इन दो में) होने से प्रमाण के फल को भी दो में रहने वाला (द्विष्ठ-इन्द्रिय और अर्थ) मानना पड़ेगा, जिससे घट-पटादि अचेतन पदार्थों में भी ज्ञान के सद्भाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और तब घटादि को भी हमारी तरह ज्ञान होने लगेगा। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान का सम्बन्ध (समवाय) केवल आत्मा (तत्सम्बन्ध से इन्द्रियाँ भी) से ही है, क्योंकि इसमें कोई नियामक हेतु नहीं है। जैसे अचेतन आत्मा में ज्ञान का समवाय है वैसे ही घटादि में भी क्यों न हो क्योंकि आपके यहाँ आत्मा से ज्ञान को पृथक् माना गया है। यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप मान लिया जाता है तो सिद्धान्तहानि दोष होता है। इसी प्रकार इन्द्रियवृत्ति आदि में भी नाना दोष हैं जिनका जैन दर्शन के न्यायग्रन्थों में खूब विचार किया गया है । अतः वहीं से जान लेना चाहिए।

ज्ञान स्वसंवेदी है :

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि जो (ज्ञानभिन्न, इन्द्रियादि) स्वयं को नहीं जान सकते हैं वे दूसरे घटादि पदार्थों को कैसे जान सकते हैं। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को रास्ता नहीं बतला सकता। जैसे स्वयं प्रकाशी दीपक अन्य घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होता है वैसे ही स्वयं प्रकाशी ज्ञान ही घटादि पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ हो सकता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो ज्ञान को प्रमाण मानकर भी उसे स्वसंवेदी नहीं मानते हैं, उनका

कथन ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान को परसंवेदी मानने पर अनवस्था या अन्योन्याश्रय आदि दोष होंगे।

निश्चयात्मक ज्ञान में प्रमाणता का समर्थन :

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अनिश्चयात्मक अथवा निर्विकल्पात्मक (जिसे जैन दर्शन में ज्ञान की पूर्वावस्था या पदार्थ आलोचनरूप 'दर्शन', न्यायदर्शन में विशेषणविशेष्य के सम्बन्ध से रहित 'ज्ञान' और बौद्धदर्शन में अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीति से रहित 'ज्ञान' कहा है) नहीं, क्योंकि एक तो अनिश्चयात्मक ज्ञान से यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती है, दूसरे निर्विकल्पक में अर्थप्रकाश के सामर्थ्य का अभाव भी है।

प्रमाण का फल :

अब तक यह सिद्ध हो चुका है कि स्वसंवेदी निश्चयात्मक ज्ञान[36] ही प्रमाण हो सकता है और उसी में साधकतमता पाई जाती है। इससे भिन्न इन्द्रियादि में जो प्रमाणता लोकव्यवहार में तथा दर्शनशास्त्र में प्रचलित है, वह औपचारिक है, वास्तविक नहीं। इस सन्दर्भ में एक शंका जो अक्सर इन्द्रियप्रमाणवादियों के द्वारा उठाई जाती है उसका समाधान आवश्यक है।

शंका :

प्रमाण चूंकि करण है, अत: उसे फलवाला होना ही चाहिए अन्यथा उसमें करणता ही नहीं बन सकती है। ज्ञान को ही जब प्रमाण मान लिया जायेगा तो उसके फल (प्रमा) का अभाव हो जायेगा क्योंकि अर्थावबोध ही तो फल है।

समाधान :

ज्ञान को प्रमाण मानने पर भी जैन दर्शन में दो प्रकार का फल बतलाया है : 1. साक्षात् फल और 2. व्यवहित (परम्परा) फल। साक्षात् फल भी दो हो सकते हैं : 1. अर्थ प्रकाश अथवा 2. अज्ञाननिवृत्ति।[37] व्यवहित फल कई प्रकार का हो सकता है : जैसे-त्याग करने की बुद्धि, ग्रहण करने की बुद्धि, राग-द्वेष से रहित उपेक्षा बुद्धि, प्रीति[38] तथा क्रम से पैदा होनेवाले ज्ञानों में पूर्व ज्ञान की अपेक्षा उत्तर ज्ञान। यहाँ 'अर्थ प्रकाश' को जो ज्ञान का साक्षात् फल बतलाया गया है वह यद्यपि ज्ञानरूप होने से प्रमाण से अभिन्न ही है परन्तु व्यवस्थाप्य (फल), व्यवस्थापक (प्रमाण) व प्रकाश्य-प्रकाशक की अपेक्षा दोनों में भेद भी है। प्रमाण और फल का यह भेदाभेद जैन स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल ही है। [40] हानोपादानोपेक्षा वृद्धिरूप फल तो नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है।

सन्दर्भसूची

1. देखिए-संस्कृत-हिन्दी कोश, वा. शि. आप्टे, पृ0 669.
2. प्रमाकरणं प्रमाणम् ....यथार्थानुभव: प्रमा,......साधकतमं करणम्। (पा0 अ0 1.4.42) अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थ:।

   - तर्कभाषा प्रमाणनिरूपण, पृ0 13-19;

   प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्।

   प्रमाणं प्रमाया: साधकतमम्। -प्रमाणमीमांसा, 1.1.1, पृ0 3

   अतिशयेन साधकमति साधकतमं नियमेन कार्योत्पादकमित्यर्थ:।।

   उद्धृत -न्यायदीपिका, पृ. 11, फुटनोट नं. 7.
3. अदुष्टं विद्या। - वैशेषिकसूत्र, 9. 2. 12.
4. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि। -न्यायभाष्य, 1.1.3.
5. उपलब्धिहेतु: प्रमाणम्।-न्यायवार्तिक, 1.1.3.
6. प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।-न्यायमञ्जरी, पृ. 25.
7. उदयन-यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।-न्यायकुसुमाञ्जलि, 4.1.

   विश्वनाथ-बुद्धिस्तु द्विविधा मता। अनुभूति: स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे।

   -कारिकावली, 51-52.

   केशवमिश्र-देखिए-फुटनोट नं. 2.

   नोट-उदयन के पूर्व अनुभवघटित प्रमाणलक्षण उदयन के काल से परवर्ती न्यायदर्शन में अनुभवघटित प्रमाणलक्षण मिलता है। सम्भव है उन पर प्रभाकर मीमांसक का प्रभाव पड़ा हो। अनुभवघटित प्रमाणलक्षण करने से 'स्मृति' को प्रमाणकोटि से बाहर किया गया है-

अनुभव इति स्मृतेर्निरासः। ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्त ज्ञानम्।–तर्क भाषा, पृ. 14.

8. तस्याः करणं विविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।–वही, पृ0 46–49.

9. व्यापार उसे कहते हैं जो स्वयं कारण से जन्य हो और कारण से जन्य का जनक भी हो। जैसे—कुठार से जन्य कुठार दारु–संयोग (व्यापार) और कुठार से जन्य छेदन क्रिया का भी जनक (कुठार दारु–संयोग रूप व्यापार) है। –तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः।। –वही, पृ0 50.

10. क्योंकि न्यायदर्शन में कुछ दार्शनिक करण के लक्षण में व्यापार का भी सन्निवेश करते हैं–करण = व्यापारवदसाधारणकारणं भवति। –न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, किरणावलीटीका, पृ0 218.

11. महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्। विषयेन्द्रियसम्बन्धोव्यापारः सोऽपि षड्विधः ।।58–59 ।।
    व्यापारस्तु परामर्शः, करणं व्याप्तिधीर्भवेत्। अनुमायां........।।66–67।।
    सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्।।79।।
    वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिव्यापार उच्यते ।
    गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम्।।80 ।।
    पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
    शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।81 ॥–वही.

12. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।–न्यायमञ्जरी, पृ0 12.

13. असंदिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।–सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका 4), पृ0 72–75.
    विशेष खण्डन के लिए देखिए–न्यायकुमुदचन्द्र, पृ0 35–39. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ0 7–3

14. रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।–सांख्यकारिका, 28.
    इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते। सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ0 –47
    इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्।–योगदर्शन (व्यासभाष्य), पृ0 27.

15. देखिए–न्यायकुमुदचन्द्र, पृ0 40–41; प्रमेयकमल0, पृ0 19.

16. देखिए–वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ0 35–37.

17. अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका, पृ0 123)
    उद्धृत–प्रमेयरत्नमाला, प्रस्तावना, पृ0 30.

18. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।।
    अदुष्टकारणारब्धं प्रमाण लोकसम्मतम्।।–वही.

19. अनुभूतिश्च न प्रमाणम्। (बृहती 1. 1. 5)–वही.

20. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते। तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः।।
    व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्। (मीमांसाश्लोक, पृ0 152)–वही.

21. देखिए– प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ0 20–25; न्याय कु0, पृ0 42–45.

22. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्।–प्रमाणसमुच्चय, पृ0 11.
    प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्।... प्रमाणवा0, 2. 1.
    प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। ... (बौद्ध) तर्क0, पृ.1.

23. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तदरूपार्थनिश्चयः।
    विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते। –प्रमाणसमुच्चय, 1.10, तत्त्वसङ्ग्रह, कारिका 1344.

24. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।–तत्त्वार्थसूत्र, 1. 9–10.

25. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।–स्वयम्भूस्तोत्र, का.63.
    तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।–आप्तमीमांसा, का0 101.

26. प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्।। –न्यायावतार, का0 1.

27. व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थ ग्राहक मतम्।–लघीयस्त्रय, का0 60.

28. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।– अष्टशती, का0 36, पृ0 175.

प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत्।-वही, का0 101, पृ0278, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं, अनिश्चितनिश्चयादनुमानवत्। -वही, पृ0 280.

29. देखिए-न्यायदीपिका, प्रस्तावना, पं. दरबारीलाल कोठिया, पृ017-19; जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृ0 66-67, 69.

30. अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ॥12 ॥

'अपूर्वाधिगमलक्षणं प्रमाणम्' इत्येतच्च नोपपद्यते। कुतः ? सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। सर्वेण च ज्ञानेन प्रमीयते। यथा अन्धकारेऽवस्थितानां घटादीनामुत्पत्त्यनन्तरं प्रकाशकः प्रदीप उत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं जहाति तदवस्थानकारणत्वात्, एवं ज्ञानमप्युत्पत्त्यनन्तरं घटादीनामवभासकं भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूयोत्तरकालमपि न तं व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात्। अथ मतम् -क्षणे क्षणेऽन्य एवं प्रदीपोऽपूर्वमेव प्रकाशकत्वमवलम्बत इति; एवं सति ज्ञानमपि तादृगेवेति क्षणे क्षणेऽन्यत्वोपपत्तेरपूर्वाधिगमलक्षणमविशिष्टमिति; तत्र यदुक्तम् स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगतविषयत्वात् पुनः पुनरभिधानं ज्ञानं न प्रमाणम् इति, तद् व्याहन्यते।-तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, 1.12.12, पृ0 56.

31. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ....स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्। -प्रमाणपरीक्षा, पृ0 51,53.। तत्स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं मानमितीयता लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्। गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणम्।। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.10.77, पृ0 174. 'सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथञ्चिद्पूर्वार्थत्वात्। न चैतद् गृहीतग्रहणादप्रमाणमिति शङ्कनीयं, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्।:::: लैङ्गिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः। -प्रमाण परीक्षा, पृ0 70.

32. 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।।-परीक्षामुखसूत्र, माणिक्यनंदि, 1.1.

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। अथापि धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासां सम्यग्ज्ञानत्वात्। न च तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति; उच्यते कथं तत्र लक्षणमतिव्याप्नोति ? तेषां गृहीतग्राहित्वात्। -न्यायदीपिका, पृ0 9, 13. 33. वही.

34. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।- सन्मति टीका (अभयदेव), पृ0 518,

स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्।—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, 1.2.

35. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।-प्रमाणमीमांसा, 1.1.2.

36. बौद्ध दर्शन में ज्ञान को अर्थ से उत्पन्न होने के कारण 'साकार (अर्थाकार), मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति से ज्ञान की प्रतीति होने के कारण 'परोक्ष'; न्याय-वैशेषिक दर्शन में स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से 'ज्ञानान्तरवेद्य'(परन्तु ईश्वरज्ञान को स्वसंवेदी माना जाता है) और सांख्य दर्शन में प्रकृति का परिणाम होने से अचेतन माना जाता है। परन्तु जैन दर्शन में ज्ञान को निराकार (ज्ञान और अर्थ में तदुत्पत्ति सम्बन्ध न मानकर योग्यतारूप सम्बन्ध मानने से), स्वसंवेदी (स्वात्मा में क्रिया का विरोध न मानने से) और आत्मा (चेतन) का धर्म माना जाता है।

-देखिए : जैनन्याय (पं0 कैलाशचन्द्र), पृ0 86-102.

37. फलमर्थप्रकाशः। अज्ञाननिवृत्तिर्वा। -प्रमाण मीमांसा,11.34,38 तथा उसकी स्वोपज्ञवृति.

38. हानादिबुद्धयो वा। - वही, 1.1.40.

उपेक्षाफलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदानहानधीः ।।

पूर्वा वाऽऽज्ञाननाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे।।-आप्तमीमांसा,का.102.

ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति, नैष दोषः, अधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्।-सर्वार्थ 0 1.10, पृष्ठ 57-58. अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपक्षाश्च फलम्।-परीक्षा0 5.1.

39. अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्।-प्रमाणमीमांसा,1.1.36.

अर्थ-अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क (ऊह) और अनुमान-ये ज्ञान क्रम से उत्पन्न होते हैं। इनमें पहले-पहले वाला ज्ञान प्रमाण और बाद वाला ज्ञान उसका फल है। जैसे अवग्रह प्रमाण है तो ईहा उसका फल, ईहा प्रमाण है तो अवाय उसका फल। इसी तरह आगे भी समझना चाहिए।

40. प्रमाणमी0 1.1.34-37 सूत्र की स्वोपज्ञ वति।। परीक्षामुख एवं प्रमेयरत्नमाला, समुद्देश 5.

41. यदा सन्निकर्षस्तदा प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा बुद्धयः फलम्।-वात्स्यायन न्यायभा0 1.1.3.

प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते। तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः।।-न्यायम0, पृ0 62.

प्रमाण-स्वरूप में स्वापूर्वार्थ विचार (द्वितीय भाग)

धारावाहिक या गृहीतग्राही ज्ञान के विषय में विभिन्न दर्शनों का दृष्टिकोण :

उपर्युक्त प्रमाण के विभिन्न लक्षणों से ज्ञात होता है कि किन्हीं-किन्हीं दार्शनिकों ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत शब्दों का प्रयोग किया है। अपूर्व और अनधिगत शब्दों का अर्थ है-जिसका अब से पहले ज्ञान न हुआ हो। इससे वे ज्ञान ही प्रमाण कोटि में आते हैं जो पहले से ज्ञात नहीं रहते हैं। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि धारावाहिक अथवा गृहीतग्राही ज्ञान में प्रमाणता मानी जाय अथवा नहीं। यह घट है, 'यह घट है' इस प्रकार लगातार द्वितीयादि क्षण में जो एक ही घट का ज्ञान होता रहता है उसे धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। प्रथम क्षण में जाने हुए पदार्थ को ही द्वितीयादि क्षण में पुन: जानना गृहीतग्राही ज्ञान है। इस विषय पर प्राय: सभी दार्शनिकों ने विचार किया है। प्राय: अधिकांश दार्शनिक इस प्रकार के ज्ञान में प्रामाण्य ही स्वीकार करते हैं परन्तु उनके प्रतिपादन की पद्धति भिन्न-भिन्न है। इसमें प्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न विशेष रूप से उन्हें करना पड़ता है जो अनधिगत अथवा अपूर्व पदों का प्रमाण के लक्षण में सन्निवेश करते हैं। विभिन्न दर्शनों की इस विषय में विचार-सरणि इस प्रकार है :

न्याय-वैशेषिक- न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। उनका विचार है कि ज्ञान का काम अर्थ-प्रदर्शन मात्र है और वह अर्थ-प्रदर्शन प्रथम ज्ञान की तरह द्वितीयादि ज्ञानों में भी है फिर क्यों प्रथम ज्ञान को तो प्रमाण माना जाय और द्वितीयादि को न माना जाय। ये द्वितीयादि ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद (क्षणविशिष्ट घट का ग्रहण) नहीं मानते हैं। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से उस सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण सम्भव नहीं है।[1] नैयायिक लोग ज्ञातविषया स्मृति को जो प्रमाण नहीं मानते हैं उसका कारण उसकी गृहीतग्राहिता नहीं है अपितु पदार्थ से उत्पन्न न होना (क्योंकि स्मृतिस्थल में पदार्थ मौजूद नहीं रहता है, केवल संस्कार रहता है) ही है।[2] इस तरह नैयायिक धारावाहिक गृहीतग्राही समस्त ज्ञान को सूक्ष्म कालभेद माने विना ही प्रमाण मानते हैं।

सांख्य-योग- यद्यपि सांख्य-दर्शन में धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता अथवा अप्रमाणता का विचार नहीं मिलता है परन्तु अनधिगत अर्थ को विषय करने वाली चित्तवृत्ति (बुद्धिव्यापार) को प्रमाण माना गया है। इससे यहां भी गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण ही ठहरता है क्योंकि समाधिस्थल में चित्त-वृत्ति के एकाकार रूप परिणत होने पर भी उसे प्रमाण माना गया है।[3]

वेदान्त- वेदान्त दर्शन में भी धारावाहिक स्थल में भी ज्ञान (अन्त:करण की वृत्ति) का भेद नहीं माना जाता है अपितु जब तक घटादि एक ही विषय का लगातार अनुभव होता रहता है तब तक घटादि विषयाकार में परिणत हुई अन्त:करण की वृत्ति एक ही रहती है। एकाकार ज्ञान में अनेकाकार अन्त:करणवृत्ति नहीं होती।[4] अत: वेदान्त दर्शन में अनधिगत और अबाधितविषय ज्ञानत्व होने पर भी धारावाहिक बुद्धि के प्रामाण्य में कोई दोष नहीं है।[5]

मीमांसक- यद्यपि मीमांसकों के दोनों सम्प्रदाय धारावाहिक ज्ञान में प्रामाण्य स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी विचार पद्धति भिन्न-भिन्न है। जैसे प्रभाकर मतानुयायी सूक्ष्म काल भेद को स्वीकार न करके भी अनुभूति मात्र होने से (पूर्वोत्तर विज्ञानों में उत्पत्तिकृत और प्रतीतिकृत कोई विशेषता न होने से) उसे प्रमाण मानते हैं।[6] परन्तु कुमारिल भट्ट के मतानुयायी सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण स्वीकार करके उसे प्रमाण मानते हैं।[7] क्योंकि इनके प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद का निवेश किया गया है। इनके मत से चक्षु आदि इन्द्रियों से भी कालभेद ग्रहण हो जाता है।[8]

बौद्ध - बौद्धों ने 'अज्ञातार्थज्ञापक' को प्रमाण माना है, अत: इनके यहां गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं है।[9] परंतु अर्चट ने हेतुबिन्दु की टीका में योगियों के धारावाहिक ज्ञान को सूक्ष्म कालभेद ग्रहण करने के कारण प्रमाण माना है और सामान्य लोगों द्वारा सूक्ष्म कालभेद ग्रहण न होने से उनके ज्ञान को अप्रमाण माना है।[10]

जैन- जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रमाण के लक्षण में अपूर्व, अनधिगत जैसे शब्दों का प्रयोग न होने से सर्वत्र धारावाहिक ज्ञान में प्रमाणता इष्ट है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में कुछ दार्शनिकों द्वारा अपूर्व पद का सन्निवेश किये जाने से धारावाहिक बुद्धि स्थल में द्विविधा पैदा हो गई है कि धारावाहिक गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण माना जाए अथवा नहीं। यदि प्रमाण मानते हैं तो अपूर्व विशेषण निरर्थक हो जाता है और यदि प्रमाण नहीं मानते हैं तो स्मृति आदि ज्ञानों में जो

गृहीतग्राही हैं, कैसे प्रमाणता हो सकेगी ? इस द्विविधा से छुटकारा पाने के लिए कुछ विद्वान् कथञ्चिद् अपूर्वार्थता का समाधान प्रस्तुत करते हैं और आचार्य अकलङ्क, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि आदि के सिद्धान्तलक्षणों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।[11] परन्तु यह समाधान मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। जैसा कि मैं इस विषय में पहले भी लिख चुका हूँ कि अकलङ्कदेव अपूर्वार्थक के समर्थक नहीं थे। उन्होंने स्वयं अपूर्वार्थता का खण्डन भी किया है।[12] आचार्य माणिक्यनन्दि जो कि अपने लक्षण में अपूर्व पद का निवेश करते हैं। उनके सम्मुख भी यह समस्या आई और उन्होंने अपूर्वार्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि एक तो वह अपूर्वार्थ है जिसका पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया। यहां इतना विशेष है कि यदि किसी पदार्थ के बारे में दूसरे ज्ञान से कुछ विशेषता लिए हुए प्रतीति होती है तो वह भी अपूर्वार्थ ही है क्योंकि उसमें सूक्ष्म विषय अथवा काल भेद है जो पहले ज्ञान से ज्ञात नहीं था। यदि ऐसा न माना जाता तो अवग्रह, ईहा, अवाय आदि ज्ञान के प्रकारों में जो कि एक ही विषय का ग्रहण करते है, प्रमाणता नहीं सिद्ध होती दूसरे वह भी ज्ञान अपूर्वार्थ है जो पहले से ज्ञात तो है परन्तु उसमें सन्देह आदि (समारोप) उत्पन्न हो जाने से धूमिलता आ गई है। ऐसा मानने से स्मृति आदि में प्रमाणता बन जाती है। इससे स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दि को कुछ न कुछ विशेषता लिए हुए अपूर्वार्थ विषयक ज्ञान में ही प्रमाणता अभीष्ट है। परन्तु जिस धारावाहिक ज्ञान में सूक्ष्म कालभेद (पर्यायभेद) प्रतीति में नहीं आ रहा हो वह पिष्टपेषण मात्र होने से प्रमाण नहीं है। इस तरह कुछ गृहीतग्राही ज्ञानों में (जिनमें सूक्ष्म विषय या कालभेद है) तो प्रमाणता है और कुछ (जिनमें सूक्ष्म विषयादि का भेद नहीं है) में नहीं है।

गृहीतग्राही ज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन- वस्तुत: यदि जैन स्याद्वाद सिद्धान्त से विचार किया जाए तो प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' पद देने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ज्ञान चाहे गृहीतग्राही हो अथवा अगृहीतग्राही यदि वह सम्यक् है तो प्रमाण है, यदि असम्यक् है तो अप्रमाण है। क्या द्वितीयादि क्षण में होने वाला धारावाहिक ज्ञान अप्रमाण माना जाता है ? सर्वज्ञ को युगपत् एक काल में जब समस्त द्रव्य व उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का ज्ञान हो जाता है तो क्या द्वितीयादि क्षण का ज्ञान अप्रामाणिक हो जाता है ? उत्तर होगा नहीं ? तब फिर क्या कारण है कि गृहीतग्राही ज्ञान को स्मृति, ईहा आदि ज्ञानों की तरह प्रमाण न माना जाए। वस्तुत: जैन दर्शन में गृहीतग्राहिता और ग्रहीष्यमाणग्राहिता (अगृहीतग्राहिता जिसका भविष्य में ग्रहण किया जाय) में सर्वथा भेद न तो द्रव्य की अपेक्षा सम्भव है और न पर्याय की अपेक्षा। द्रव्य दृष्टि से समस्त पदार्थ जैन दर्शन में नित्य और एकरूप (सत्) माने गए हैं जिससे गृहीत और ग्रहीष्यमाण अवस्थाकृत भेद ही नहीं बनता है। पर्याय की अपेक्षा समस्त द्रव्य हर क्षण नूतन-नूतन अवस्था को धारण करने के कारण गृहीतग्राही कथमपि सम्भव नहीं है। फिर क्यों प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' पद रखा जाए।[14] कोई शंका करे कि हमें पर्यायकृत भेद परिलक्षित नहीं होता अत: 'अपूर्व' पद देना उचित है, परन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहां एक तो सिद्धान्त का विचार है, हमें ज्ञान होता है अथवा नहीं इससे तात्पर्य नहीं, अन्यथा दर्शन, अवग्रह, ईहा आदि में जहाँ सामान्यत, भेद परिलक्षित नहीं होता है वहां तथा अन्य जहां लोकव्यवहार से सिद्धान्तलक्षणों का विरोध होता है, वहां सर्वत्र अव्यवस्था हो जायगी। दूसरे सर्वज्ञ के विषय में क्या करेंगे, तीसरे गृहीतग्राही में अप्रमाणता का व्यवहार भी नहीं होता है। इस प्रकार अनेक कारणों से धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए। इस तरह सिद्ध होता है कि ज्ञान चाहे 'अपूर्व' अर्थ को विषय करे चाहे ज्ञात विषय को, सभी समान रूप से प्रमाण हैं। हेमचन्द्र ने ठीक ही कहा है :

ग्रहीष्यमाण ग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्। -प्रमाणमीमांसा, 1.1.4.

अर्थ - ग्रहीष्यमाणग्राही (अपूर्वार्थग्राही) की तरह गृहीतग्राही ज्ञान भी अप्रमाण नहीं है।

मालूम पड़ता है प्रमाण का साक्षात् फल 'अज्ञाननिवृत्ति' मानने से ही गृहीतग्राही को प्रमाण नहीं माना जाता है क्योंकि गृहीतग्राही ज्ञान नूतन अज्ञाननिवृत्ति को नहीं करता है। यदि कहा जाये कि उस ज्ञान से क्या प्रयोजन जो अज्ञाननिवृत्ति आदि नवीनता को न देवे ? इस विषय में मेरा कहना है कि एक तो किसी विषय को बारम्बार जानने से उसमें स्थायित्व पैदा होता है जो कि प्रथम ज्ञान से नहीं हुआ था, दूसरे ज्ञान का फल उपेक्षा को भी माना गया है जो कि सर्वज्ञ (तथा साधारण लोगों) के लिए प्रमुख फल है।[15] वस्तुत: प्रमाण का साक्षात् फल 'अर्थप्रकाश' ही है जो कि प्रमाण से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। यह अर्थप्रकाश गृहीतग्राही ज्ञान में भी हमेशा पाया जाता है वह भी प्रमाण है। हेमचन्द्र ने इसीलिए प्रमाण का साक्षात् फल 'अर्थप्रकाश' बतलाया है तथा 'अज्ञाननिवृत्ति को बाद में 'वा' पद के उल्लेख के साथ दिखलाया गया है।[16] यह अज्ञाननिवृत्ति रूप फल वहीं होगा जहां अज्ञात मौजूद होगा और जहां अज्ञाननिवृत्ति पहले से हुई रहेगी वहां केवल अर्थप्रकाश मात्र से प्रमाणता रहेगी। अर्थप्रकाश और अज्ञाननिवृति के एक साथ होने से (कोई कालभेद

न होने से) दोनों को साक्षात् फल और त्यागादि रूप बुद्धि के बाद में उत्पन्न होने से परम्परया (व्यवहित) फल मानने में कोई बाधा नहीं है।

प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद की स्थिति का विचार– प्रमाण के लक्षण के सन्दर्भ में स्वपद देने की भी आवश्यकता नहीं है, जैसा कि हेमचन्द्र ने कहा है।[17] वस्तु में जितने धर्म पाये जाते हैं उन सभी को लक्षण में नहीं कहा जाता (और न ऐसा करना सम्भव ही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं) अपितु जो धर्म विपक्ष (अलक्ष्य) से व्यावर्तन करे उसे ही कहना चाहिए। स्वनिर्णय जैसे प्रमाण में है वैसे ही अप्रमाण संशयादि में भी है, अत: वह विपक्ष से व्यावर्तक धर्म नहीं हुआ। सूत्र अथवा लक्षण लघु ही होना चाहिए। हां, प्रतिपक्षी जो कि ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानते उनके खण्डन के लिए 'स्व' पद का निवेश किया जा सकता है। अथवा तदर्थ अलग से ज्ञान शब्द का निर्वचन किया जा सकता है।

'अर्थ' पद की स्थिति का विचार– यदि हेमचन्द्र के 'सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम्' इस प्रमाण लक्षण को और छोटा करके 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इतना किया जाए तो काम चल सकता है। प्रमाण लक्षण में जिस प्रकार उन्होंने 'स्व' पद को देना निरर्थक माना है उसी प्रकार 'अर्थ' पद भी निरर्थक है क्योंकि ज्ञान से अर्थ का ही निर्णय नहीं होता अपितु ज्ञान का भी निर्णय होता है। दुसरे 'अर्थ' पद का आक्षेप कर लिया जा सकता है क्योंकि सूत्र सोपस्कार होते हैं।[18]

यहां 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इस प्रमाण लक्षण में एक शंका और रह गई हैं कि ऐसा लक्षण करने पर सम्यग्ज्ञान रूप प्रमा (प्रमिति) में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसका समाधान न्यायदीपिका में दिया हुआ है[19] कि यहां ज्ञान पद (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्) करण साधन के अर्थ में प्रयुक्त है, न कि भावसाधन (ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानम्) के अर्थ में क्योंकि प्रमा के कारण को ही प्रमाण कहा गया है अत: उसके साथ एकार्थप्रतिपादकत्वरूप शब्द सामानाधिकरण्य तभी बन सकता है जब ज्ञान को करणसाधन माना जाए। अत: कोई दोष नहीं है।

कर्ता, करण और भाव में प्रमाणता– इस सन्दर्भ में एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जैन दर्शन में प्रमाण शब्द की निरुक्ति कतृसाधन (प्रमिणोतीति प्रमाणम्), करणसाधन (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्) और भावसाधन (प्रमिति मात्र प्रमाणम्) तीन प्रकार से की गई है।[20] इससे प्रमाणता आत्मा में और प्रमा में भी चली जाती है। फिर क्यों न्यायदीपिकाकार ने केवल करणसाधन परक ही प्रमाण शब्द को लेकर सामानाधिकरण्य रूप समाधान प्रस्तुत किया है। समाधान यह है कि भावसाधन और कर्तृ साधन में जो प्रमाणता मानी जाती है वह दूसरी अपेक्षा से है। यहाँ जो विचार है वह करणसाधन की अपेक्षा से है। अत: कोई दोष नहीं है। जब कर्तृसाधनपरक निरुक्ति से कर्ता (आत्मा) में प्रमाणता मानी जाती है तब आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने से आत्मा और ज्ञान में अभेद माना जाता है। जब करणसाधनपरक निरुक्ति से करण (ज्ञान) में प्रमाणता मानी जाती है तब आत्मा से ज्ञान गुण को भिन्न माना जाता है और जब भावसाधन से भाव (ज्ञप्ति) में प्रमाणता मानी जाती है तब ज्ञान मात्र में प्रमाणता होती है और प्रमा ही प्रमाण हो जाती है। ऐसा होने पर भी फल का अभाव नहीं होता है क्योंकि उसके बाद प्रीति आदि देखी जाती है।[21]

उपसंहार— इस तरह सिद्ध हुआ है कि प्रमा का करण सम्यग्ज्ञान ही हो सकता है, इन्द्रियादि नहीं। 'मैं चक्षु से देखता हूँ' 'धूम से अनुमान करता हूँ, 'शब्द से जानता हूँ इत्यादि इन्द्रियपरक जो व्यवहार होता है वह उपचार से होता है। क्योंकि अर्थावबोध में इन्द्रियाँ भी सहकारी कारण होती हैं, साधकतम नहीं।[22] देखा भी जाता है कि इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता है (जैसे चक्षु में स्थित काजल का, घट के साथ आकाश का आदि, और कभी-कभी सन्निकर्ष न होने पर भी (चक्षु से बाहर स्थित पदार्थ आदि का) ज्ञान हो जाता है। अत: वास्तविक प्रमाणता तो, सम्यग्ज्ञान में ही है और वह ज्ञान स्वसंवेदी व निश्चयात्मक (व्यवसायात्मक) है। ज्ञान में अपूर्व विशेषण आवश्यक नहीं है क्योंकि द्रव्य दृष्टि से सभी ज्ञान गृहीतग्राही हैं और पर्यायदृष्टि से सभी अगृहीतग्राही। जिन विद्वानों ने ज्ञान के साथ अपूर्व विशेषण का प्रयोग किया है वह या तो पर्याय दृष्टि से है अथवा परीक्षार्थ प्रयोग किया है।

सन्दर्भ सूची

1. अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति-नाद्रियामहे। न च काल-भेदेनाधिगतगोचरत्वं धारावाहीकानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशित-लोचनैरस्मोऽशैरनाकलनात्। तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानप्रवर्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणे नोत्तराण्यपि। -न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, वाचस्पति मिश्र, पृ0 21, द्रष्टव्य-न्यायमञ्जरी, पृ0 22, कन्दली, पृ0 61.

2 न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।

3. अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकरणम्।-न्यायमञ्जरी, पृ0 23., प्रमाणमीमांसा, पृ0 12. परिणामः। ततः पुनः शान्तीदितौ तुल्यप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रता—योगदर्शन 3.12.

4. किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिक बुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना, वृत्तेः स्वविरोधिवृत्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूप-घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्तिशंकाऽपि। -वेदान्तपरिभाषा,प्रत्यक्षपरिच्छेद, पृ0 13.

5. प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, अनधिगतावाधितविषयज्ञानत्वम्। स्मृतिसाधारणत्वबाधितविषयज्ञानत्वम्। —वही, पृ0 8.

6. तत्राह अन्योन्यनिरपेक्षा धारावाहिकबुद्धयः। व्याप्रियमाण हि पूर्वविज्ञान-कारणकलाप-उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिक विज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता। -प्रकरणपञ्जिका (शालिकनाथ), पृ0 42-43,

7. नन्वेवं धारावाहिकेषु.......................तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।-शास्त्रदीपिका (पार्थसारथि मिश्र), पृ0 124-126.

8. वही.

9. अनधिगतविषयं प्रमाणम्। पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयाप्रमाणम्। -न्यायबिन्दु (टीका), पृ0 3.

10. हेतुबिन्दु टीका (अर्चट)। उद्धृत-तर्कभाषा, (विश्वेश्वर टीका), पृ0 43,

11. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृ0 66-69.

12. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1,12,12, पृ0 56.

13. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः। दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्। - परीक्षामुख, 1.4-5; तथा प्रमेयरत्नमाला,

14. प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञवृत्ति), 1. 1. 4. ।

15. प्रमाणमीमांसा, 1.1. 40.

16. आप्तमीमांसा, का0 102; प्रमाणमी0 1. 1, 34-38; प्रमाणमीमांसा, 1. 1. 2 स्वोपज्ञवृत्ति, पृ0.6,

17. स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्।-प्रमाणमीमांसा, 1.1.3. । ननु ....अयमर्थः -नहि अस्ति इत्येव सर्वं लक्षणत्वेन वाच्यं किन्तु यो धर्मो विपक्षाद् व्यावर्त्तते।.......................वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः। वही, पृ0 7-10.

18. सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्। सर्वार्थसिद्धि , 1.3, पृ0 5.

19. ननु..................., भवेदेवम्, यदि भावसाधनमिहज्ञानपदम्। करणसाधनं खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति। ....भावसाधनं तु ज्ञानपदं प्रमितिमाह।..........................अन्यथा सम्यग्ज्ञानपदेन सामानाधिकरण्याघटनात्। तेन प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणमिति सिद्धम्। न्यायदीपिका, पृ0 10-11.

20. अयं प्रमाणशब्दः भावे कर्तरि करणे च वर्तते। तत्र भावे तावत् प्रमेयार्थं प्रति निवृत्तव्यापारस्य तत्त्वकथनात् प्रमा प्रमाणमिति। कर्तरिप्रमेयार्थं प्रति प्रमातृत्वशक्तिपरिणतस्याश्रितत्त्वात् प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणम्। करणे प्रमातृप्रमाणयोः प्रमाण-प्रमेययोश्च स्यादन्यत्वात्। प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणम्। -तत्त्वार्थवातिक, 1,10, पृ. 49.

21. स्यादेतत्- भावसाधने प्रमाणे प्रमैव प्रमाणमिति न फलमन्यदुपलभ्यते इति फलाभाव इति, तन्न, किं कारणम् ? अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते, सा फलमित्युच्यते । - वही, पृ0 50..
स्यान्मतम्-'प्रमिणोत्यात्मानं परं वा प्रमाणम्' इति कर्तृसाधनत्वमयुक्तम्; यस्मादन्यत्प्रमाणे ज्ञानम्, स च गुणः, अन्यश्च प्रमाता आत्मा स च गुणी, गुणिगुणयोश्चाऽन्यत्वं द्रव्यरूपवत्.............ततःकरणसाधनत्वमेव युक्तमिति, तन्न, किं कारणम् ? अज्ञत्वप्रसङ्गात्। यदि ज्ञानादन्य आत्मा, तस्याऽज्ञत्वं प्राप्नोति, घटवत् ज्ञानयोगादिति चेत्; न; अतः स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः अन्धप्रदीपसंयोगवत्। -वही, पृ0 9.

22. चक्षुषा प्रमीयते इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्, उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्वं निबन्धनम्। नहि सहकारि तत्साधकमिदमिति करणं नाम। -न्यायदीपिका, पृ0 13.

23. देखिए-चक्षु की अप्राप्यकारिता, जैनन्याय, पं. कैलाशचन्द्र, पृ0 56-57; तत्त्वार्थवातिक, 1.19, पृ0 67-68.

'पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी': एक समीक्षा

सरस्वती वरदपुत्र पण्डितप्रवर बंशीधर व्याकरणाचार्य द्वारा रचित एतद्विषयक प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ विषय की दृष्टि से बहुत गम्भीर है। आपकी अन्य रचनायें भी गम्भीर विषयों का ही प्रतिपादन करती हैं। 'भाग्य और पुरुषार्थ' प्रस्तुत ग्रन्थ का पूरक ग्रन्थ है क्योंकि पर्यायों को यदि क्रमबद्ध ही माना जायेगा तो भाग्यवादीकी विजय होगी और यदि अक्रमबद्ध ही माना जाएगा तो पुरुषार्थवादी की विजय होगी। यदि क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों ही माना जायेगा तो भाग्य-पुरुषार्थ दोनों का समन्वय होगा।

द्रव्यस्वरूप और पर्यायों की द्विविधता

जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य का स्वरूप है 'सत्' और 'सत्' उसे कहते हैं जो उत्पत्ति और विनाशरूप पर्यायों के होते रहने पर भी ध्रुव (नित्य) बना रहे।[1] इसी अर्थ का पोषक द्रव्य का दूसरा लक्षण भी है जिसमें गुण और पर्यायें हों वह द्रव्य है।[2] इन दोनों लक्षणों में भेद नहीं है अपितु दोनों परस्पर पूरक हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-

प्रत्येक द्रव्यमें स्वाभाविक रूप से स्वतः सिद्ध अनन्त गुण रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यपर्याय और गुणपर्यायें रहती हैं। इस तरह पर्यायें दो तरह की होती है-(1) द्रव्य पर्यायें और (2) गुण पर्यायें। चूँकि गुण द्रव्य के स्वतः सिद्ध स्वभाव हैं। अतः गुण भी 'सत्' कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक गुण में हमेशा उत्पाद व्यय की प्रक्रिया चालू रहती है। द्रव्य और गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्याय की उत्पत्ति का नाम है 'उत्पाद्' और उनकी स्व-स्व पूर्वपर्याय के विनाश का नाम है 'व्यय'। पर्यायों के बदलने पर भी द्रव्य अपनी द्रव्यरूपता को और गुण अपनी गुणरूपता को कभी नहीं छोड़ते हैं। अतः वे नित्य हैं, सत् हैं।

ग्रन्थ का उद्देश्य

सभी द्रव्यपर्यायें स्व-पर प्रत्यय होती हैं तथा षट्गुणहानि-वृद्धिरूप गुणपर्यायों को छोड़कर शेष सभी गुणपर्यायें भी स्व-पर प्रत्यय होती हैं। षट्गुणहानिवृद्धिरूप गुणपर्याय स्वप्रत्यय ही होती हैं। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्री की सहायता के बिना ही मात्र उपादानकारणजन्य हो वह स्वप्रत्ययपर्याय है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्री की सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो वह स्व-पर प्रत्यय पर्याय है। स्वप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और स्व-पर प्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों रूप होती हैं। यही सिद्ध करना इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य है।

क्रमबद्ध-अक्रमबद्ध का अर्थ तथा विवाद-स्थल

क्रमबद्धता का अर्थ है पर्यायों का नियतक्रम से उत्पन्न होना और अक्रमबद्धता का अर्थ है पर्यायों को अनियतक्रम से उत्पन्न होना। यहाँ इतना विशेष है कि एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें कदापि युगपत् एक ही समय में उत्पन्न नहीं होतीं अपितु एक जातीय पर्यायें एक के पश्चात् एकरूप क्रम से ही उत्पन्न होती हैं। इसमें किसी को भी विवाद नहीं है। विवाद का स्थल है स्व-पर प्रत्यय पर्यायों को बाह्यनिमित्तकारण सापेक्षता के आधार पर अक्रमबद्ध माना जाए या नहीं। स्व-परप्रत्यय पर्यायों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में मुख्य दो मत हैं-

(1) पुरातन सिद्धान्तवादी-ज्ञप्ति की अपेक्षा स्व-पर प्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होने पर भी उत्पत्ति को अपेक्षा क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों होती हैं ।

(2) सोनगढ सिद्धान्तवादी-उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों अपेक्षाओं से स्व-पर प्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अक्रमबद्ध नहीं।

सोनगढ़ सिद्धान्तवादियोंका पूर्वपक्ष

सोनगढ़ सिद्धान्तवादियों के पास अपनी मान्यता को बल देनेवाले मुख्यरूप से दो तर्क हैं-

(1) आत्मख्याति टीका का क्रमनियमित शब्द-समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की 308-11 तक की गाथाओं की आत्मख्याति टीकामें आया है- 'जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः।' यहाँ आए 'क्रमनियमित' शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल ने अपनी पुस्तक 'क्रमबद्ध पर्याय' पृष्ठ 123 पर लिखा है-क्रम = क्रमसर तथा नियमित= निश्चित।

अर्थात् जिस समय जो पर्याय आने वाली है वही आएगी उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता है। इससे पुरुषार्थ का निषेध और निश्चित भाग्यवाद की पुष्टि होती है। इसका यह भी तात्पर्य है कि सभी स्व-पर प्रत्यय पर्यायें भी पूर्व निश्चितक्रमानुसार होने से क्रमबद्ध हैं।

(2) केवलज्ञान का विषय होना- सर्वज्ञ के केवलज्ञान में प्रतिसमय युगपत् सम्पूर्ण द्रव्यों की त्रैकालिक सभी स्व-पर प्रत्यय पर्यायें प्रतिभासित होती हैं। अत: स्व-पर प्रत्यय पर्यायों को भी क्रमबद्ध हो मानना चाहिए अन्यथा अक्रमबद्ध (अनियतक्रम) होने पर उन स्व-पर प्रत्यय पर्यायों का केवलज्ञान में प्रतिसमय युगपत् क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असम्भव है।

ये दो ही मुख्य तर्क हैं जिनके आधारपर स्व-पर प्रत्यय पर्यायों को क्रमबद्ध सिद्ध किया जाता है।

पुरातन सिद्धान्तवादियोंका उत्तरपक्ष

(1) 'क्रमनियमित' का सही अर्थ- आत्मख्याति टीका के 'क्रमनियमित' शब्द का अर्थ 'क्रमवर्ती समयके साथ नियमित (बद्ध)' यह सोनगढी अर्थ ठीक नहीं है अपितु एक जातीय स्व-पर प्रत्यय पर्यायें एक के पश्चात् एक रूप क्रम में नियमित (बद्ध) यह अर्थ उचित है।

(2) उत्पत्ति और ज्ञप्तिका भेद - यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वज्ञ के केवलज्ञान में त्रैकालिक स्व-पर प्रत्यय पर्याय युगपत् एक ही समय में क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं परन्तु इस आधार पर उन पर्यायों की उत्पत्ति को भी क्रमबद्ध मानना न्यायसङ्गत नहीं है क्योंकि उन त्रैकालिक पर्यायों का केवलज्ञान में युगपत् एक ही समय में क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है तथा उनकी उपादान, प्रेरक तथा उदासीन निमित्तकारणों के बल से यथासम्भव क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध रूप में उत्पन्न होना अन्य बात है। अत: उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करने पर स्व-पर प्रत्यय पर्यायें प्रेरक और उदासीन निमित्त कारण-सापेक्ष होने से क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों सिद्ध होती हैं। ज्ञप्ति की अपेक्षा विचार करने पर हम कह सकते हैं कि उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होने वाली उन पर्यायों का प्रतिभासन केवलज्ञान में युगपत् एक ही समय में क्रमबद्ध रूप में होता है। पर्यायों की उत्पत्ति का निश्चय श्रुतज्ञान के आधार पर सम्भव है केवलज्ञान के विषय-आधार पर नहीं।[3]

दोनों सिद्धान्तों में भेद का हेतु

पुरातन सिद्धान्तवादी स्व-पर प्रत्यय पर्याय की उत्पत्ति में देश और काल को महत्त्व न देकर निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्री को महत्त्व देते हैं परन्तु सौनगढ़ी स्व-पर प्रत्यय पर्याय की उत्पत्ति में उपादानकारणभूत अन्तरङ्ग सामग्री को महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्री को महत्त्व न देकर उस देश और काल को महत्त्व देते हैं जहाँ और जिस काल में पर्याय की उत्पत्ति हुई थी, हो रही है या होगी। अर्थात् देश-काल को नियामक मानते हैं। परन्तु पुरातन सिद्धान्ती देश काल को कार्योत्पत्ति में उपयोगी नहीं मानते हैं। कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उपादान और निमित्त सामग्री को साथ ही मानते हैं। यही दोनों में भेद का हेतु है।[4] वस्तुत: देश और काल भी उदासीन बाह्य निमित्तकारण ही है।

केवलज्ञान की विषय-मर्यादा[5]

इसके अतिरिक्त पूर्ण क्षायिक केवलज्ञान में संयुक्त या बद्ध पदार्थों का प्रतिभासन संयुक्त या बद्ध दशा में संयुक्त या बद्ध रूप से न होकर पृथक्-पृथक् रूप में होता है परन्तु मति-अवधि और मन:पर्ययज्ञानों में बद्ध पदार्थोंका ज्ञान बद्ध रूप से ही होता है। अत: सभी जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध होते हुए भी जब केवलज्ञान में सतत् अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता या पर्यायरूपता-सहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं तो उस स्थिति में उन पदार्थों की संयुक्तदशा का एवं जीव-पुद्गलकी बद्धदशा का प्रतिभासन केवलज्ञान में नहीं हो सकता है। केवलज्ञान में जब प्रतिक्षण पदार्थों की पृथक्-पृथक् रूपता का प्रतिभासन हो रहा है तो उनकी अवास्तविक दशा का प्रतिभासन सम्भव नहीं। अत: केवलज्ञान के प्रतिभासन हेतु से 'स्व-पर प्रत्यय पर्यायों की क्रमबद्धतामात्र सिद्ध नहीं होती है। यह केवलज्ञान की विषय-मर्यादा कहाँ तक आगमोचित है-इसका विद्यावारिधि वाणीभूषण श्यामसुन्दरलाल शास्त्री ने अपने प्राक्कथन (पृ0 2) में सङ्केत किया है। वस्तुत: केवलज्ञान की विषय-मर्यादा के सन्दर्भ में विद्वान् लेखक ने जो अपना पक्ष दिया है वह विद्वानों के विचारार्थ दिया है। अत: उनपर आक्षेप करना उचित नहीं।

इस तरह सूक्ष्मदर्शी विद्वान् जो न केवल वैयाकरण ही हैं अपितु एक अच्छे आगमज्ञ और दार्शनिक भी हैं, ने

युक्ति और आगम के द्वारा पर्यायों की क्रमबद्धता और अक्रमबद्धता को सिद्ध किया है। ऐसा मानने में ही जीवों का कल्याण है और अनेकान्तसिद्धान्त के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त विद्वान् लेखक ने प्रसङ्गानुकूल पुद्गलों का आवश्यक सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत पुस्तक में किया है।[6]

सन्दर्भसूची -

1. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र 5-29-30
2. गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। तत्त्वार्थसूत्र 5-38
3. देखें मूलग्रन्थ का पृ0 12,17,35
4. वही, देखें पृ0 7-9
5. वहीं, देखें पृ0 24-31,35
6. वही, देखें पृ0 31-34।

श्वेताम्बर जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य

भगवान महावीर (ई.पू. छठी शताब्दी) की अर्थरूप वाणी से उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादक प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों को जैनागम के नाम से जाना जाता है। सिद्धान्तविषयक सन्देह होने पर सन्देह-निवारणार्थ इन्हें आगम प्रमाण माना जाता है। गणधर या श्रुतज्ञ ऋषियों के द्वारा प्रणीत होने से 'आर्षग्रन्थ' तथा श्रुत परम्परा से प्राप्त होने के कारण 'श्रुतग्रन्थ' के रूप में भी ये जाने जाते हैं।[1] इन्हें प्रमुख रूप से दो भागों में विभक्त किया जाता है -1. अङ्ग प्रविष्ट (अङ्ग) 2. अङ्ग-बाह्य।

अङ्ग ग्रन्थ वे हैं जो भगवान महावीर के साक्षात शिष्यों (गणधरों) के द्वारा रचित हैं तथा अङ्गबाह्य ग्रन्थ वे हैं जो उत्तरवर्ती श्रुतज्ञ आचार्यों के द्वारा रचित हैं। भगवान महावीर के साक्षात् शिष्यों के द्वारा रचित होने से अङ्ग ग्रन्थ सर्वप्रधान हैं। इन्हें बौद्धों के 'त्रिपिटक' की तरह 'गणिपिटक'[2] तथा ब्राह्मणों के वेदों की तरह 'वेद'[3] भी कहा गया है। इनकी संख्या बारह नियत होने से इन्हें 'द्वादशाङ्ग'[4] के नाम से भी जाना जाता है। इस तरह अङ्ग और अङ्गबाह्य सभी ग्रन्थ अर्थरूप से महावीर प्रणीत हैं तथा शब्दरूप से गणधर प्रणीत या तदुत्तरवर्ती श्रुतज्ञ आचार्यों के बरा प्रणीत है।[5]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 683 तक श्रुत परम्परा चली जो क्रमश: क्षीण होती गई। आगमों को लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जिससे सभी (12 अङ्ग तथा 14 अङ्गबाह्य) आगम ग्रन्थ लुप्त हो गये। इतना विशेष है कि इन मूल आगमों के नष्ट हो जाने पर भी दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग ग्रन्थान्तर्गत पूर्वो के अंशांश ज्ञाताओं द्वारा (वीरनिर्वाण 10वीं शताब्दी में) रचित षट्खण्डागम[6] और कषायपाहुड[7] को तथा वीरनिर्वाण की 14वीं शताब्दी में रचित इनकी क्रमश: धवला और जयधवला टीकाओं को आगम के रूप में मानते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों को भी आगम के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर परम्परानुसार देवर्धिगणिक्षमाश्रमण की अन्तिम वलभीवाचना (वीरनिर्वाण सं. 980 के करीब) के समय स्मृति-परम्परा से प्राप्त आगमग्रन्थों को सङ्कलित करके लिपिबद्ध किया गया। दृष्टिवाद नामक 12वां अङ्ग ग्रन्थ उस समय किसी को याद नहीं था जिससे उसका सङ्कलन नहीं किया जा सका। फलत: उसका लोप स्वीकार कर लिया गया। इस तरह अङ्गों की संख्या घटकर 11 रह गई।

अङ्गबाह्य आगम कितने है? इस विषय में मतभेद हैं -

1. दिगम्बर परम्परा -- 14 अङ्गबाह्य ग्रन्थ हैं। जैसे - 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. वैनयिक, 6. कृतिकर्म, 7. दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्पाकल्प, 11. महाकल्प, 12. पुण्डरीक, 13. महापुण्डरीक और 14. निषिद्धिका । श्वेताम्बर परम्परानुसार इन 14 अङ्गबाह्य के भेदों में प्रथम 6 भेद छह आवश्यक रूप हैं, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का मूलसूत्रों में समावेश है, शेष 6 भेदों का अन्तर्भाव कल्प-व्यवहार और निशीथ नामक छेदसूत्रों में है।

2. स्थानकवासी श्वेताम्बर परम्परा - 21 अङ्गबाह्य ग्रन्थ हैं। जैसे - 12 उपाङ्ग, 4 मूलसूत्र (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार), 4 छेदसूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ) तथा 1 आवश्यक।

3. मूर्तिपूजक श्वेताम्बर परम्परा -- 34 अङ्गबाह्य ग्रन्थ है। जैसे - 12 उपांग, 5 छेदसूत्र (पञ्चकल्प को जोड़कर), 5 मूलसूत्र (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनन्दि और अनुयोगद्वार), 8 अन्य ग्रन्थ (कल्प, जीतकल्प, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिक, श्रामणा, नन्दि और ऋषिभाषित), 10 प्रकीर्णक, 12 नियुक्तियाँ और विशेषावश्यक महाभाष्य।

इस तरह श्वेताम्बर परम्परा में 11 अङ्गों को जोड़कर स्थानकवासी 32, मूर्तिपूजक 45 तथा अन्य मूर्तिपूजक 84 आगमों को मानते हैं। इनके नामों में भी कुछ अन्तर है। इनकी रचना अर्धमागधी प्राकृत भाषा में की गई है जबकि दिगम्बरों के आगम ग्रन्थ जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

आगम-विभाजन के प्रकार

अङ्ग, उपांग आदि के रूप में श्वेताम्बर आगमों का स्पष्ट विभाजन सर्वप्रथम भावप्रभसूरि (18वीं शताब्दी) द्वारा विरचित जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक 30) की स्वोपज्ञ टीका में मिलता है। प्राचीन परम्परा में आगमों को प्रथमत: आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त के रूप में विभक्त किया गया है। इसके पश्चात् आवश्यकव्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किये गये हैं। जिनका अध्ययन किसी निश्चित समय (दिन एवं रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर) में किया जाता है उन्हें कालिक और जिनका अध्ययन तदतिरिक्त काल में किया जाता है उन्हें उत्कालिक कहते हैं। उत्तराध्ययन आदि कालिक श्रुत हैं, तथा दशवैकालिक आदि उत्कालिक। कालिक और उत्कालिक का यह भेद केवल अङ्गबाह्य ग्रन्थों में था परन्तु परवर्तीकाल में श्वेताम्बरों ने दृष्टिवाद को छोड़कर शेष 11 अङ्गों को कालिक में गिनाया है। दृष्टिवाद को लुप्त मान लेने से उसको न तो कालिक बतलाया है और न उत्कालिक। आवश्यक में पहले सामायिक आदि छ: ग्रन्थ थे, जिनका आज एक आवश्यकसूत्र में समावेश है।

आगम ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

अङ्ग ग्रन्थ

1. आचाराङ्ग -- इसमें विशेष रूप से साधुओं के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ है 'संयम' यह श्रुतस्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्राचीन है। इसमें शस्त्रपरिज्ञा आदि 9 अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूलायें हैं जिनका 18 अध्ययनों में विभाजन है। इसकी पञ्चम चूला 'निशीथ' आज अचाराङ्ग से पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के 'महापरिज्ञा' नामक समग्र अध्ययन का लोप हो गया है, परन्तु उस पर लिखी गई नियुक्ति उपलब्ध है।

2 सूत्रकृताङ्ग -- इसमें धार्मिक उपदेशों के साथ जैनेतर मतावलम्बियों के सिद्धान्तों का खण्डन है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 18 और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्याय हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध के परिशिष्ट के समान है। भारत के धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान कराने की दृष्टि से दोनों श्रुतस्कन्ध महत्त्वपूर्ण हैं।

3. स्थानाङ्ग -- इसमें एक स्थानिक, द्वि-स्थानिक आदि क्रम से 10 स्थानिक या अध्ययन हैं जिनमें एक से लेकर 10 तक की संख्या के अर्थों का कथन है। इसमें वस्तुओं का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया जाने से यह संग्रह प्रधान कोश शैली का ग्रन्थ है।

4. समवायाङ्ग -- यह ग्रन्थ भी स्थानाङ्ग की शैली में लिखा गया कोश ग्रन्थ है। इसमें 1 से वृद्धि करते हुए 100 समवायों का वर्णन है। एक प्रकीर्ण समवाय है, जिसमें 100 से आगे की संख्याओं का समवाय बतलाया गया है। अन्त में 12 अङ्ग ग्रन्थों का परिचय भी है। दिगम्बरों के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली में कुछ अन्तर था।

5. व्याख्यापज्ञप्ति (भगवती) -- व्याख्यात्मक कथन होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। पूज्य और विशाल होने से इसे श्वेताम्बर 'भगवती' भी कहते हैं। यह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भ के 20 शतक प्राचीन हैं।

6. शाताधर्मकथा -- इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 19 अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं। इस कथा ग्रन्थ की मुख्य और अवान्तर कथाओं में आई हुई अनेक घटनाओं से तथा विविध प्रकार के वर्णनों से तत्कालीन इतिहास और संस्कृति की जानकारी मिलती है।

7. उपासकदशा -- इसमें आनन्द आदि 10 उपासकों की कथायें हैं। प्राय: सभी कथायें एक जैसी हैं।

8. अन्तकृद्दशा -- 'अन्तकृत्' शब्द का अर्थ है - संसार का अन्त करने वाले। इसमें ऐसे ही अन्तकृतों की कथा है। इसमें 8 वर्ग हैं जिनमें प्रथम 6 वर्ग कृष्ण और वासुदेव से सम्बन्धित हैं, षष्ठ और सप्तम वर्ग भगवान महावीर के शिष्यों

से सम्बन्धित हैं तथा अष्टम वर्ग राजा श्रेणिक की काली आदि 10 भार्याओं की कथा से सम्बन्धित है।

9. अनुत्तरोपपातिकदशा - (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि के वैमानिक देव अनुत्तर अर्थात् श्रेष्ठ कहलाते हैं जो उपपाद जन्म से अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का इसमें वर्णन है। इसमें तीन वर्ग हैं जिनमें 33 अध्ययन हैं।

10. प्रश्नव्याकरण -- इसमें प्रश्नों के उत्तर (व्याकरण) नहीं है अपितु पाँच आस्रवद्वार (हिंसादि) और पाँच संवरद्वार (अहिंसादि) रूप 10 अध्ययन हैं।

11. विपाकसूत्र -- विपाक का अर्थ है -'कर्मफल'। पापरूप और पुण्यरूप कर्मों के फलों का कथन है। दो श्रुतस्कन्ध हैं जिनमें 10+10 अध्ययन हैं।

12. दृष्टिवाद -- यह ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इसमें स्वसमय और परसमय की सभी प्ररूपणायें थीं। यह 5 भागों में विभक्त था -परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। यह विशालकाय ग्रन्थ रहा है। पूर्वों के कारण इसका अधिक महत्त्व था। दिगम्बर आगम ग्रन्थों (षट्खण्डागम और कषायपाहुड) का उद्गम स्रोत यही ग्रन्थ माना गया है। 11 अङ्ग से पृथक् इसका उल्लेख दोनों सम्प्रदायों में मिलता है।

अङ्गबाह्य -- इन्हें पहले प्रकीर्णक कहा जाता था। निरयावलिया में इन्हें उपाङ्ग भी कहा गया है परन्तु अब ये दोनों नाम दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गये हैं।

उपाङ्ग ग्रन्थ -- इनकी रचना स्थविरों ने की है। इनका अङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं है। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। उपाङ्ग शब्द का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है।

1. औपपातिक -- इसमें 43 सूत्र हैं। चम्पानगरी के वर्णन से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। इसका सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व है। इसमें मनुष्यों के भव सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है।

2. राजप्रश्नीय -- इसमें 217 सूत्र हैं और दो भागों में विभक्त है। इसका प्रारम्भ अमलकल्पा नगरी के वर्णन से होता है। इसमें राजा परासी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नों का समाधान केशि मुनि के द्वारा किया गया है।

3. जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम) -- इसमें 9 प्रतिपत्ति (प्रकरण) और 272 सूत्र हैं जिनमें जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का वर्णन है।

4. प्रज्ञापना -- इसमें 349 सूत्र हैं जिनमें प्रज्ञापना, स्थान आदि 36 पदों का वर्णन है। जैसे अङ्ग में भगवतीसूत्र बड़ा है वैसे ही उपाङ्गों में यह बड़ा है।

5. सूर्यप्रज्ञप्ति -- इसमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की स्थितियों को 108 सूत्रों में (20 पाहुडों में) विस्तार से वर्णन है।

6. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति -- इसमें 7 वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं जिनमें 176 सूत्र हैं। तीसरे वक्षस्कार में भारतवर्ष और राजा भरत का वर्णन है। जम्बूद्वीप की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

7. चन्द्रप्रज्ञप्ति -- इसकी विषयवस्तु सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। इसमें 20 प्राभृत है।

8. निरयावलिया -- इसमें 5 उपाङ्ग समाविष्ट हैं - 1. निरयावलिया अथवा कल्पिका, 2. कल्पावतंसिका, 3. पुष्पिका, 4. पुष्पचूलिका और 5. वृष्णिदशा। निरयावलिया (कल्पिका) में 10 अध्ययन हैं जिनमें राजा कुणिक आदि की कथायें हैं। मगध का इतिहास जानने के लिए यह बहुत उपयोगी है।

9. कल्पावतंसिका -- इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें राजा श्रेणिक के 10 पौत्रों के सत्कर्म की कथायें हैं।

10. पुष्पिका -- इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें चन्द्र, सूर्य और शुक्र के वर्णन के साथ अन्य कथायें हैं।

11. पुष्पचूलिका -- इसके 10 अध्ययनों में श्री, ह्री आदि की कथायें हैं।

12. वृष्णिदशा -- इसमें 12 अध्ययन है जिनमें द्वारका के राजा कृष्ण वसुदेव के वर्णन के साथ वृष्णिवंशीय 12 राजकुमारों की कथायें हैं।

मूलसूत्र -- साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश होने से ये मूलसूत्र कहलाते हैं। 'मूलसूत्र' नाम का भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता है। मूलसूत्र नामकरण के विषय में, इनकी संख्या के विषय में तथा मूलसूत्रान्तर्गत आगम ग्रन्थों के नामों के विषय में मतभेद है। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक को सभी एक स्वर से मूलसूत्र मानते हैं। अन्य नामों में आवश्यक, नन्दि और अनुयोगद्धार प्रमुख हैं। पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और पाक्षिकसूत्र को भी कुछ लोग

मूलसूत्रों में गिनते हैं। ऐसा इन ग्रन्थों के महत्त्व के कारण है।

1. उत्तराध्ययन -- यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें 36 अध्ययन हैं जिनमें कुछ आख्यानप्रधान हैं, कुछ उपदेशात्मक हैं और कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं।

2. दशवैकालिक -- यह भी उत्तराध्ययन की तरह प्राचीन और महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें 10 अध्ययन है तथा विकाल (सन्ध्याकाल) में अध्ययन किया जाने के कारण इसका नाम दशवैकालिक है। मुनि का आचार प्रतिपादित करना इसका मुख्य विषय है। इसके रचयिता स्वयम्भव है।

3. आवश्यक -- इसमें सामायिक आदि 6 नित्यकर्म प्रतिपादक ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

4. पिण्डनिर्युक्ति - यह साधु के पिण्ड (आहार) का प्रतिपादक है।

(5-6.) नन्दी और अनुयोगद्वार -- ये दोनों आगमों के परिशिष्ट जैसे हैं। नन्दी दूष्यगणि के शिष्य देववाचक की और अनुयोगद्वार आर्यरक्षित की रचना है।

(7) ओघनिर्युक्ति -- ओघ का अर्थ है सामान्य। इसमें साधु के सामान्य आचार-विचार का दृष्टान्त शैली में वर्णन है। यह भी भद्रबाहु की रचना है।

(8) पाक्षिकसूत्र -- यह आवश्यक का अङ्ग है क्योंकि इसमें साधु के पाक्षिक प्रतिक्रमण का वर्णन है।

छेदसूत्र -- इनमें साधु एवं साध्विनियों के प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है। आगमों के प्राचीनतम अंश होने से महत्त्वपूर्ण है। ये संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। बौद्धों के विनयपिटक से इनकी तुलना की जा सकती है। इनकी संख्या के विषय में मतभेद है। ये संख्या में अधिक से अधिक छः माने गये हैं और कम से कम चार। छेदसूत्र जैन आचार की कुञ्जी है तथा जैन संस्कृति की अद्वितीय निधि है।

1. दशाश्रुतकन्ध (आचारदशा) -- इसमें 10 अध्ययन हैं। मुख्यतया यह गद्य में है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं।

2. बृहत्कल्प (कल्पसूत्र) -- इसमें 6 उद्देशक हैं जो गद्य में लिखे गये हैं।

3. व्यवहार -- इसमें 20 उद्देशक हैं जिसमें करीब 1500 सूत्र हैं। छेदसूत्रों में इसका सबसे अधिक महत्त्व है।

4. महानिशीथ -- इसमें 6 अध्ययन एवं दो चूलायें हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह प्राचीन नहीं लगता है। वस्तुतः महानिशीथ नष्ट हो गया है। उपलब्ध महानिशीथ (जो निशीथ से छोटा है) हरिभद्रसूरि कृत उद्धार है।

6. जीतकल्प -- इसके रचयिता भाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण हैं। इसमें 103 गाथायें हैं। कुछ विद्वान् इसके स्थान पर पञ्चकल्प नाम देते हैं।

प्रकीर्णक - प्रकीर्णक का अर्थ है विविध। इनकी संख्या हजारों में है, परन्तु वलभीवाचना में 10 प्रकीर्णकों को मान्यता दी गई थी। वर्तमान में मुख्य रूप से 10 प्रकीर्णक माने जाते हैं। यद्यपि इनके नामों में एकरूपता नहीं है फिर भी निम्न 10 प्रकीर्णक प्रमुख हैं जो मूर्तिपूजकों को विशेष रूप से मान्य हैं --

1. चतुःशरण (कुशलानुबन्धि अध्ययन) -- इसमें 63 गाथायें हैं। इसमें अरहंत, सिद्ध साधु और केवलि कथित धर्म को शरण माना गया है। अतः इसे चतुःशरण कहते हैं।

2. आतुरप्रत्याख्यान (अन्तकाल प्रकीर्णक) -- इसमें 70 गाथायें तथा कुछ गद्य भाग है। इसमें बालमरण और पण्डितमरण का विवेचन है।

3. महाप्रत्याख्यान -- इसमें 142 गाथाओं द्वारा प्रत्याख्यान (त्याग) का वर्णन किया गया है।

4. भक्तिपरिज्ञा -- इसमें 172 गाथाओं द्वारा भक्तपरिज्ञा नामक मरण का वर्णन किया गया है।

5. तन्दुलवैचारिक -- इसमें 139 गाथायें तथा कुछ सूत्र हैं। इसमें नारी जाति के विषय में तथा गर्भ के विषय में वर्णन है। 100 वर्ष की आयु वाला मनुष्य कितना तन्दुल (चावल) खाता है, इसका विचार होने से इसका नाम तन्दुलवैचारिक पड़ गया है।

6. संस्तारक -- इसमें 123 गाथायें हैं जिनमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य संस्तारक (तृण आदि की शय्या) का महत्त्व वर्णित है।

7. गच्छाचार -- इसमें 137 गाथायें हैं जिनमें गच्छ (समूह) में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है। यह महानिशीथ, कल्प (बृहत्कल्प) तथा व्यवहारसूत्र के आधार पर लिखा गया है।

8. गणिविद्या -- इसमें 82 गाथायें हैं जिनमें ज्योतिष विद्या का वर्णन है।

9. देवेन्द्रस्तव -- इसमें 307 गाथाओं द्वारा 32 देवेन्द्रों का वर्णन किया गया है।

10. मरणसमाधि (मरणविभक्ति) -- इसमें 683 गाथायें हैं। इसमें समाधिमरण का 14 द्वारों में विवेचन किया गया है।

नोट :-- श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गच्छाचार और मरणसमाधि के स्थान पर निम्न दो प्रकीर्णक मानते हैं-

11. चन्द्रवेध्यक -- इसमें 175 गाथायें हैं। इसमें 'मृत्यु के समय थोड़ा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए' इसका वर्णन है।

12. वीरस्तव -- इसमें 43 गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति है।

आगमिक व्याख्या साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के रहस्य का उदघाटन करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया। इनमें ग्रन्थकार ग्रन्थ के गूढार्थ को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपनी मान्यता की भी प्रतिस्थापना करते हैं। कई व्याख्या ग्रन्थ तो इतने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हो गये कि उन्हें मूल आगम ग्रन्थों में मिला लिया गया। इससे व्याख्या साहित्य का महत्त्व प्रकट होता है। भारतीय संस्कृति, कला, पुरातत्त्व, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि कई दृष्टियों से इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस व्याख्या साहित्य को 5 भागों में विभक्त किया जाता है --

1. निर्युक्ति (निज्जुति) -- प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध व्याख्या।
2. भाष्य (भास) -- प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध व्याख्या।
3. चूर्णि (चुण्णि) -- संस्कृत-प्राकृत मिश्रित गद्यात्मक व्याख्या।
4. संस्कृत टीकायें।
5. लोकभाषा में रचित टीकायें।

इनके अतिरिक्त आगमों के विषयों का संक्षेप में परिचय देने वाली संग्रहणियाँ भी बहुत प्राचीन है। पञ्चकल्पमहाभाष्य के उल्लेखानुसार संग्रहणियों की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिकसूत्र में भी संग्रहणी का उल्लेख मिलता है।

निर्युक्तियाँ

इनमें प्रत्येक पद का व्याख्यान न करके विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यान है। इनकी व्याख्यान शैली निक्षेप पद्धति के रूप में प्रसिद्ध है। इस शैली में किसी एक पद के कई सम्भावित अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत (प्रासंगिक) अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अत: शब्दार्थ निर्णय (निश्चय) का नाम निर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु (गाथा 88) में स्पष्ट लिखा है कि एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, उनमें से कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग के लिए उपयुक्त है, भगवान महावीर के उपदेशकाल में किस शब्द से कौन सा अर्थ सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखकर सम्यक् अर्थ निर्णय तथा मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। इस तरह पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या करना निर्युक्तियों का प्रयोजन है। इतिहास, दर्शन, संस्कृति, भूगोल, भाषाविज्ञान आदि दृष्टियों से इनका अध्ययन कई महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को देने वाला है। ये पद्यात्मक हैं तथा प्राकृत भाषा में लिखी गई हैं। इनका रचनाकाल वि.सं. 500-600 के मध्य माना जाता है। इनके प्रसिद्ध रचयिता है -- आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय)। इन्होंने निम्न दशनिर्युक्तियों को लिखा है--

1. आवश्यकनिर्युक्ति -- यह आचार्य भद्रबाहु की प्रथम कृति है। आवश्यकसूत्र की यह निर्युक्ति अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अति महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रारम्भिक उपोद्घात सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। इस निर्युक्ति पर जिनभद्र, जिनदासगणि आदि ने विविध टीकायें लिखीं हैं। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में इसकी गाथा संख्या भिन्न-भिन्न है। माणिक्यशेखर की दीपिकाटीका में इस निर्युक्ति की 1615 गाथायें हैं। कहीं-कहीं जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथायें भी निर्युक्ति गाथाओं में मिली हुई हैं।

2. दशवैकालिकनिर्युक्ति -- इसमें पुष्प, धान्य, रत्न आदि पदों के व्याख्यान से विविध विषयों की सम्यक् जानकारी मिलती है।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति -- इसमें विविध पदों की निर्युक्ति के प्रसङ्ग में अङ्ग की व्याख्या करते हुए गंधाङ्ग, औषधाङ्ग, मद्याङ्ग, शरीराङ्ग, युद्धाङ्ग आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन है। सत्रह प्रकार के मरण की भी व्याख्या है।

4. आचाराङ्गनिर्युक्ति -- इसके प्रारम्भ में आचाराङ्ग का अङ्ग में प्रथम स्थान माने जाने का हेतु बतलाया गया है। अन्त

में 'आचाराङ्ग की पञ्चम चुला निशीथ की नियुक्ति बाद में करूँगा' कहकर उसे छोड़ दिया है।

5. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति -- इसमें सूत्रकृताङ्ग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, पुरुष, समाधि, आहार आदि विविध पदों की व्याख्या की गई है।

6. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति -- इसमें समाधि, स्थान, चित्त, पर्यूषणा, मोह आदि पदों की नियुक्तियाँ हैं।

7. बृहत्कल्पनिर्युक्ति -- इसमें भाष्य गाथायें मिश्रित हो गई हैं। इसमें ताल, नगर, राजधानी, उपाश्रय, चर्म, मैथुन आदि की महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ हैं। बीच-बीच में दृष्टान्तरूप कथानक भी हैं।

8. व्यवहारनिर्युक्ति -- इसमें भी भाष्य गाथायें मिश्रित हो गई हैं। यह बृहत्कल्प की पूरक रूप निर्युक्ति है। इसमें साधुओं के आचार-विचार से सम्बन्धित पदों की संक्षिप्त विवेचना है।

9. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति -- अनुपलब्ध है।

10. ऋषिभाषितनिर्युक्ति -- अनुपलब्ध है।

ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पञ्चकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचाराङ्गनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति परवर्ती किसी अन्य आचार्य की रचना है। गोविन्दाचार्य की गोविन्दनिर्युक्ति अनुपलब्ध है। ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में भी गिनाया जाता है।

भाष्य -- निर्युक्तियों के संक्षिप्त तथा गूढ़ होने से उनका विस्तार से विचार करने हेतु तथा गूढार्थ के रहस्य को प्रकट करने के लिए भाष्य लिखे गए। जिस तरह प्रत्येक आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं लिखी जा सकी, उसी प्रकार प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखे जा सके। कुछ भाष्य तो निर्युक्तियों पर हैं परन्तु कुछ भाष्य मूलसूत्रों पर भी हैं। इस भाष्य साहित्य का कई दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ भाष्य बहुत विस्तृत हैं तथा कुछ भाष्य बहुत संक्षिप्त हैं। ये भाष्य भी निर्युक्तियों की तरह पद्यात्मक शैली में प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं। जिससे कहीं-कहीं भाष्य गाथायें निर्युक्ति गाथाओं में मिल गई हैं। भाष्यकार के रूप में जिनभद्रगणि और सङ्घदासगणि प्रसिद्ध हैं। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य सङ्घदासगण की रचनायें हैं। सम्भवतः सङ्घदासगणि आ. जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। अन्य भाष्यकारों की स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। प्रमुख 10 आगम ग्रन्थों के भाष्य निम्न हैं-

1. आवश्यकभाष्य -- आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं -- मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त हैं और उनकी गाथायें विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं। यह विशेषावश्यकभाष्य पूरे आवश्यकसूत्र पर न होकर केवल प्रथम सामायिक आवश्यक पर है। इसमें 3803 गाथायें हैं। जैनागम के प्रायः सभी विषयों की चर्चा इस भाष्य में है। इसमें जैन सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक पद्धति से किया गया है जिससे जैनेतर दार्शनिकों की भी मान्यताओं का ज्ञान इससे होता है। दिगम्बरों की केवलदर्शन और केवलज्ञान के युगपद् उपयोग की मान्यता का इसमें खण्डन किया गया है।

2. दशवैकालिकभाष्य -- इसमें 83 गाथायें हैं।

3. उत्तराध्ययनभाष्य -- इसमें 45 गाथायें हैं।

4. बृहत्कल्पभाष्य -- बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं -- लघु और बृहत्। लघुभाष्य में 8400 गाथायें हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस लघुभाष्य का अतिमहत्त्व है। जैनश्रमणों के आचार का सूक्ष्म और तर्कसङ्गत विवेचन इसकी विशेषता है। बृहत्-भाष्य पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

5. पञ्चकल्पमहाभाष्य -- इसमें 2574 गाथायें हैं। यह पञ्च कल्पों में विभक्त पञ्चकल्पनिर्युक्ति का व्याख्यान रूप है। प्रव्रज्या के योग्य और अयोग्य व्यक्तियों का, साधुओं के विचरण के योग्य आर्य क्षेत्र का भी इसमें वर्णन है।

6. व्यवहारभाष्य -- इसमें 4629 गाथायें हैं जिनमें साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है ।

7. निशीथभाष्य -- इसमें लगभग 6500 गाथायें हैं।

8. जीतकल्पभाष्य -- इसमें 2606 गाथायें हैं। इसमें बृहत्कल्प, लघुभाष्य आदि की कई गाथायें अक्षरशः उद्धृत हैं। इसमें प्रायश्चित्त के विधि-विधानों का प्रमुख रूप से विवेचन है।

9. ओघनिर्युक्तिभाष्य -- इस पर दो भाष्य हैं -- लघु एवं बृहत् । दोनों में क्रमशः 322 और 2517 गाथायें हैं। दोनों में ओघ, पिण्ड आदि का विचार है।

10. पिण्डनिर्युक्तिभाष्य -- इसमें पिण्ड, अधाकर्म आदि का 46 गाथाओं में वर्णन है।

चूर्णियाँ

जैनागमों पर प्राकृत अथवा संस्कृत मिश्रित प्राकृत में गद्यात्मक शैली में जो व्याख्यायें लिखीं गईं उन्हें चूर्णियाँ कहते हैं। इस तरह की चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी लिखी गई हैं। चूर्णिकार जिनदासगणिमहत्तर (वि.सं. 650-750) परम्परा से निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि तथा सूत्रकृताङ्गचूर्णि के कर्ता माने जाते हैं। इनके जीवन से सम्बन्धित विशेष जानकारी नहीं मिलती है। जैनागमों पर लिखी गई प्रमुख चूर्णियाँ निम्न हैं - 1. आचाराङ्गचूर्ण (निर्युक्त्यनुसारी), 2. सूत्रकृताङ्गचूर्ण (निर्युक्त्यनुसारी संस्कृत प्रयोग) अपेक्षाकृत अधिक हैं, 3. व्याख्याज्ञप्ति या भगवतीचूर्णि, 4. जीवाभिगमचूर्णि, 5. निशीथचूर्णि (इस पर दो चूर्णियाँ हैं परन्तु उपलब्ध एक ही है, निशीथविशेषचूर्णि कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है), 6. महानिशीथचूर्णि, 7. व्यवहारचूर्णि, 8. दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, 9. बृहत्कल्पचूर्णि (दो चूर्णियाँ हैं), 10. पञ्चकल्पचूर्णि, 11. ओघनिर्युक्तिचूर्णि, 12. जीतकल्पचूर्णि (इस पर दो चूर्णियाँ हैं परन्तु उपलब्ध एक ही है। उपलब्ध चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। यह सम्पूर्ण प्राकृत में है), 13. उत्तराध्ययनचूर्णि, 14. आवश्यकचूर्णि (इसमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के कथानकों का संग्रह है), 15. दशवैकालिकचूर्णि (इस पर दो चूर्णियाँ हैं। एक अगस्त्यसिंह की है और दूसरी जिनदासकृत है), 17. नन्दीचूर्णि (यह संक्षिप्त और प्राकृत भाषा प्रधान है। मुख्यरूप से ज्ञान-स्वरूप की चर्चा है), 18. अनुयोगद्वारचूर्णि (इस पर दो चूर्णियाँ हैं। एक के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि हैं और दूसरे के चूर्णिकार जिनदासगणि), 19. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णि आदि।

संस्कृत टीकायें

संस्कृत के प्रभाव को देखते हुए जैनाचार्यों ने जैनागमों पर कई नामों से संस्कृत व्याख्यायें लिखीं हैं। इनका भी आगमिक व्याख्या साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत व्याख्याकारों ने निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों का उपयोग करते हुए नये-नये तर्कों के सिद्धान्त पक्ष की पुष्टि की है। जैनागम पर सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेतालशान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ अज्ञात टीकाकार भी हैं। ज्ञातनामा टीकाकार भी बहुत हैं।

लोकभाषारचित टीकायें -- हिन्दी, गुजराती, अङ्ग्रेजी आदि लोक-भाषाओं में भी विपुल टीकायें लिखी गई हैं। समीक्षात्मक शोध-प्रबन्धों के द्वारा भी आगमों के रहस्य को इन लोक भाषाओं में उद्घाटित किया गया है। इनका भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस तरह जैनागम और उसका व्याख्या साहित्य न केवल जैनों की अमूल्य निधि है अपितु भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि की भी अमूल्य निधि है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्त्व है। यदि आज यह साहित्य हमारे पास उपलब्ध न होता तो हम अन्धकार में पड़े रहते।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ. 31.
2. समवायाङ्गसूत्र, भाग 1, पृ. 136.
3. प्राकृत साहित्य बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ. 44
4. वही,
5. नन्दीसूत्र 43; तत्त्वार्थवार्तिक 1,20,13; आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 92
6. षट्खण्डागम -- यह 18 भागों में प्रकाशित है। इसके जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धसामित्तविचय, वेदना, वग्गणा और महाबन्ध ये 6 खण्ड हैं, अत: इसे षट्खण्डागम कहते हैं। इसका उद्गम स्रोत दृष्टिवाद के द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के चयनलब्धि नामक 5वें अधिकार के चौथे पाहुड कर्मप्रकृति को माना जाता है। लेखक हैं आचार्य धरसेन । इस पर आचार्य वीरसेन ने धवलाटीका लिखी है। महाबन्ध नामक छठा खण्ड अपनी विशालता के कारण पृथक् ग्रन्थ के रूप में माना जाता है।
7. कषायपाहुड -- यह 18 भागों में प्रकाशित है। इसमें राग (पेज्ज) और द्वेष का निरूपण हैं। रचनाकार है आचार्य गुणधर जो दृष्टिवाद के 5वें ज्ञानप्रवाद पूर्व के 10वें वस्तु के 3सरे कषायप्राभृत के पारगामी थे। यही अंश इसका उद्गम स्रोत है। इस पर जयधवलाटीका आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने लिखी है। आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णि लिखी है।

अङ्ग आगमों के विषयवस्तु-सम्बन्धी उल्लेखों का श्वेताम्बर और दिगम्बर आगमों के आधार पर तुलनात्मक विवेचन

[श्वेताम्बर मान्यतानुसार देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वलभीवाचना (वी.नि.सं.980) में 'दृष्टिवाद' नामक 12वाँ अङ्ग-आगम छोड़कर शेष ग्यारह अङ्गों का सङ्कलन करके लिपिबद्ध कर दिया गया था जो आज प्रकाशित हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार कर्णपरम्परा से समागत सभी 12 अङ्ग ग्रन्थ विस्मृत हो गए हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। गुणधराचार्य प्रणीत (वि.पू. प्रथम शताब्दी) कषायपाहुड और षट्खण्डागम (धरसेनाचार्य ई. सन् 73) से सुनकर पुष्पदन्त भूतबलि प्रणीत (ई. सन् 1-2) ये दो ग्रन्थ दृष्टिवाद के अंशांश के ज्ञाताओं द्वारा रचित ग्रन्थ हैं जिन पर धवला और जयधवला टीकाएँ पाई जाती हैं। आज ये ग्रन्थ ही मान्य हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में जो विषयवस्तु द्वादशाङ्ग वाणी की मिलती है उसका इस शोधात्मक आलेख में विस्तार से कथन है। वर्तमान श्वेताम्बरीय अङ्ग आगम पूर्णत: उस रूप में नहीं मिलते जिससे उनमें परवर्ती संशोधन ज्ञात होते हैं।]

भगवान् महावीर ने अपनी दिव्यवाणी द्वारा जिस वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन किया, उसे अत्यन्त निर्मल अन्त:करण वाले तथा बुद्धिवैभव के धनी गणधरों ने आचाराङ्ग आदि द्वादश अङ्गग्रन्थों के रूप में ग्रथित करके अपने पश्चाद्वर्ती आचार्यों को श्रुत-परम्परा से प्रदान किया।[1] श्रुत की इस अलिखित परम्परा का स्मृति-लोप होने से क्रमश: ह्रास होता गया।

श्वेताम्बर-मान्यतानुसार स्मृति-परम्परा से प्राप्त ये अङ्ग ग्रन्थ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वलभीवाचना (वीर नि0 सं 980) के समय लिपिबद्ध किए गए। दृष्टिवाद नामक 12वाँ अङ्ग-ग्रन्थ उस समय किसी को याद नहीं था, अत: वह लिपिबद्ध न किया जा सका। इसके पूर्व भी आचार्य स्थूलभद्र द्वारा पाटलिपुत्र (वीर नि0 सं0 219) में तथा आय स्कन्दिल द्वारा माथुरी वाचना (वीर नि0 8वीं शताब्दी) में भी इन 11 अङ्ग ग्रन्थों का सङ्कलन किया गया था परन्तु उस समय उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

दिगम्बर-परम्परा इन वाचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानती है। उनके अनुसार वीर नि0 सं0 683 तक श्रुत-परम्परा चली, जो क्रमश: क्षीण होती गई। अङ्ग-ग्रन्थों के लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, फलत: सभी अङ्ग ग्रन्थ लुप्त हो गए। इतना विशेष है कि वे दृष्टिवाद नामक 12वें अङ्गान्तर्गत पूर्वो के अंशांश के ज्ञाताओं द्वारा (वीर नि0 7वीं शताब्दी में) रचित षट्खण्डागम और कषायपाहुड को तथा वीर निर्वाण की 14वीं शती में रचित इनकी धवला और जयधवला टीकाओं को आगम के रूप में मानते हैं।[2]

बारह अङ्गों के नाम

उभय-परम्परा में मान्य 12 अङ्ग-ग्रन्थों के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं-(1) आचाराङ्ग, (2) सूत्रकृताङ्ग, (3) स्थानाङ्ग, (4) समवायाङ्ग, (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति (अपरनाम भगवती[3]), (6) ज्ञाताधर्मकथा (नाथधर्मकथा), (7) उपासकदशा (उपासकाध्ययन), (8) अन्तकृद्दशा (अन्तकृद्दश) (9) अनुत्तरोपपादिकदशा (अनुत्तरौपपादिकदश), (10) प्रश्नव्याकरण, (11) विपाकसूत्र और (12) दृष्टिवाद । छठे से नौवें तक के कोष्ठकान्तर्गत नाम दि0 परम्परा में प्रचलित हैं।

इन अङ्गों के क्रम में कहीं कोई अन्तर नहीं मिलता है। साधारण नाम-भेद अवश्य पाया जाता है। जैसे[4]-छठे और सातवें अङ्ग का नाम दिगम्बर ग्रन्थों में क्रमश: 'नाथधर्मकथा' (णाहधम्मकहा) तथा 'उपासकाध्ययन' (उवासयज्झयणं) मिलता है। इसी प्रकार पाँचवें 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का प्राकृत नाम श्वे0 ग्रन्थों में 'विवाहपन्नत्ती' मिलता है जबकि दि0 ग्रन्थों में 'वियाहपण्णत्ती' है जो व्याख्याप्रज्ञप्ति के अधिक निकट है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में सूत्रकृताङ्ग का प्राकृतनाम ''सुद्दयडं'' मिलता है जबकि स्थानाङ्ग आदि में 'सूयगडो' और धवला आदि में 'सूद्दयदं' मिलता है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में दृष्टिवाद को 'दृष्टिपात' कहा है जो चिन्त्य है। श्वे0 ग्रन्थों में 'अन्तकृद्दशा' और 'अनुत्तरौपपादिकदशा' के लिए क्रमश: 'अन्तगडदसाओ' और 'अणुत्तरोववाइअदसाओ' नाम हैं जबकि दि0 ग्रन्थों में ''अन्तयडदसा'' और 'अणुत्तरोववादियदसा' नाम मिलते हैं।

ये नामभेद प्राकृत भाषाभेद एवं लिपिप्रमाद के कारण हैं।

अब हम इन अङ्ग ग्रन्थों के विषयवस्तु की निम्न चार आधारों पर समीक्षा करेंगे ।

1. श्वे0 ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख, (2) दिग0 ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख, (3) उपलब्ध अङ्ग आगमों का वर्तमान स्वरूप और (4) तुलनात्मक विवरण। अन्त में समस्त ग्रन्थों की समग्ररूप से समीक्षा करते हुए उपसंहार दिया जाएगा।

1-आचाराङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में अङ्ग ग्रन्थों को विषयवस्तु का उल्लेख-

श्वेताम्बर परम्परा में अङ्ग ग्रन्थों की विषयवस्तु का उल्लेख स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा में मिलता है। अतः यहाँ इन्हीं आधारों पर अङ्ग ग्रन्थों की समीक्षा करेंगे

1. स्थानाङ्गसूत्र में[5]**—**आचाराङ्ग की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए उसके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी 9 अध्ययनों का उल्लेख किया गया है, जिनमें अन्तिम तीन का क्रम है-विमोह, उपधान और महापरिज्ञा। दस दशा के निरूपणप्रसङ्ग में जो आचारदशा के 10 अध्ययनों का उल्लेख है, वह आचाराङ्ग से सम्बन्धित न होकर दशाश्रुतस्कन्ध से सम्बन्धित है।[6]

2. समवायाङ्ग में[7] - आचाराङ्ग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चंक्रमण, प्रमाण, योग-योजन, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम, उत्पादन, एषणा-विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तपोपधान इन सबका सुप्रशस्त कथन किया गया है। वह आचार संक्षेप से 5 प्रकार का है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। अङ्गों के क्रम में यह प्रथम अङ्ग-ग्रन्थ है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, 25 अध्ययन हैं, 85 उद्देशन काल हैं, 85 समुद्देशन काल हैं और 18 हजार पद हैं।

परीत (परिमित) वाचनायें हैं, संख्यात अनुयोगद्वार हैं, संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं, संख्यात वेष्टक हैं, संख्यात श्लोक हैं, संख्यात निर्युक्तियाँ हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्यायें हैं, परिमित त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं, शाश्वत, कृत (अनित्य), निबद्ध (ग्रथित) और निकाचित (प्रतिष्ठित) हैं, जिनप्रज्ञप्त भाव हैं, जिनका सामान्य रूप से और विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है, दर्शाया गया है, निदर्शित किया गया है तथा उपदर्शित किया गया है। आचाराङ्ग के अध्ययन से आत्मा ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस तरह इसमें चरण और करण धर्मों की ही विशेषरूप से प्ररूपणा की गई है।

इस अन्तिम पैराग्राफ की समस्त बातें सभी 12 अङ्गों के सन्दर्भ में एक ही समान कही गई हैं।

समवायाङ्ग के 57वें समवाय के सन्दर्भ में आचाराङ्ग (9+ 15=24 अध्ययन, आचारचूला छोड़कर), सूत्रकृताङ्ग (23 अध्ययन) और स्थानाङ्ग (10 अध्ययन) के अध्ययनों की सम्पूर्ण संख्या 57 बतलाई है।[8] नवम समवाय में आचाराङ्ग के 9 ब्रह्मचर्य अध्ययन गिनाये हैं शस्त्र-परिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, अवन्ती, धूत, विमोह, उपधानश्रुत और महापरिज्ञा।[9] पच्चीसवें समवाय में चूलिका सहित 25 अध्ययन गिनाये हैं।[10]

3. नन्दीसूत्र में[11] - आचाराङ्ग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, शिक्षा, भाषा, अभाषा, करण, यात्रा, मात्रा (आहार परिमाण) आदि का कथन संक्षेप में है। आचार 5 प्रकार का है-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप:आचार और वीर्याचार।

अङ्गक्रम और वाचना आदि का समस्त विवेचन समवायाङ्ग की तरह बतलाया है।

4. विधिमार्गप्रपा में[12]**—** आचाराङ्ग के 2 श्रुतस्कध बतलाए गए हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के 9 अध्ययन कहे गए हैं-शस्त्र-परिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, अवन्ती या लोकसार, धूत, विमोह, उपधानश्रुत और महापरिज्ञा। इसमें महापरिज्ञा को विच्छिन्न बतलाया है जिसमें आकाशगामिनी विद्या का वर्णन था। यहाँ यह भी लिखा है कि शीलांकाचार्य ने महापरिज्ञा को आठवाँ और उपधानश्रुत को नवाँ कहा है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की 5 चूलायें बतलाई हैं, जिनका अध्ययनों में विभाजन इस प्रकार किया गया है- **प्रथम चूला** के 7 अध्ययन हैं-पिण्डषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा और अवग्रह-प्रतिमा (उवग्गहपडिमा)। इनमें क्रमशः 11,3,3,2,2,2,2 उद्देशक हैं। **द्वितीय चूला** के सात अध्ययन हैं (सतसत्तिक्कएहि बीया चूला)- स्थानसत्तिक्कय, निषीधिका-सत्तिक्कय, उच्चारप्रस्रवणसत्तिक्कय, शब्दसत्तिक्कय, रूपसत्तिक्कय, परक्रियासत्तिक्कय और अन्योन्यक्रियासत्तिक्कय। इनके उद्देशक नहीं हैं। **तृतीय चूला** में 'भावना' नामक एक ही अध्ययन है। **चतुर्थ चूला** में ''विमुक्ति'' नामक एक ही अध्ययन है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 16 अध्ययन और प्रथम चूला के सात अध्ययनों के 25 उद्देशक हैं, शेष के उद्देशक नहीं हैं। **पञ्चम चूला** में 'निशीथ' नामक एक ही अध्ययन है। इस चूला का आचाराङ्ग से पृथक् कथन किया गया है। यह चूला अब एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान्य है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख

दिगम्बर परम्परा में अङ्ग ग्रन्थों की विषयवस्तु का निरूपण प्रमुख रूप से तत्त्वार्थवार्त्तिक, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में हुआ है । यथा-

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[13] —आचाराङ्ग में (मुनि) चर्या का विधान है जो 8 शुद्धि, 5 समिति और 3 गुप्ति रूप है।

2. धवला (षट्खण्डागम-टीका) में[14]--आचाराङ्ग में कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़े होना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे शयन करना चाहिए, कैसे भोजन करना चाहिए और कैसे सम्भाषण करना चाहिए ? इत्यादि रूप से मुनियों के आचार का कथन किया गया है। इसमें 18 हजार पद हैं।

3. जयधवला (कषायपाहुड-टीका) में[15]-आचाराङ्ग में 'यत्नपूर्वक गमनादि करना चाहिए' इत्यादि रूप से साधुओं के आचार का वर्णन है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[16] -आचाराङ्ग में 18 हजार पद हैं। भव्यों के मोक्षपथगमन में कारणभूत मुनियों के आचार का वर्णन है। इसमें धवला और जयधवलावत् कथन है। मुनियों के केशलोंच, अवस्त्र, अस्नान, अदन्तधावन, एकभक्त, स्थितिभोजन आदि का भी उल्लेख है।

(ग) वर्तमान रूप

उपलब्ध आचाराङ्ग में विशेषरूप से साधुओं के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध— इसका नाम ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ है 'संयम'। यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्राचीन है। इसमें 9 अध्ययन हैं-1-शस्त्रपरिज्ञा, 2-लोकविजय, 3-शीतोष्णीय, 4-सम्यक्त्व, 5-आवन्ति (यावन्तः) या लोकसार, 6-धूत, 7-महापरिज्ञा, 8-विमोह या विमोक्ष और 9-उपधानश्रुत। कुल मिलाकर इस श्रुतस्कन्ध में 44 उद्देशक हैं। पहले 51 उद्देशक थे[17] जिनमें से 7वे महापरिज्ञा के सातों उद्देशकों का लोप माना गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध-इसमें चार चूलायें हैं (''निशीथ'' नामक पञ्चम चूला आज आचाराङ्ग से पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है) जिनका 16 अध्ययनों और 25 उद्देशकों में विभाजन विधिमार्गप्रपा की तरह ही है।

(घ) तुलनात्मक विवरण-

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि इसमें साधुओं के आचार का वर्णन था तथा इसकी पद-संख्या 18 हजार थी। उपलब्ध आगम से पद-संख्या का मेल करना कठिन है।

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में तो पद-संख्या का उल्लेख किया है, परन्तु जयधवला में उल्लेख नहीं किया है। आचाराङ्ग की विषयवस्तु के सन्दर्भ में दिगम्बर ग्रन्थों में केवल सामान्य कथन है जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में आचाराङ्ग के अध्ययनों आदि का विशेष वर्णन है। स्थानाङ्ग में केवल प्रथम-श्रतस्कन्ध के 9 अध्ययनों का उल्लेख मिलने से तथा समवायाङ्ग में ब्रह्मचर्य के 9 अध्ययनों का पृथक् उल्लेख होने से प्रथम श्रुतस्कन्ध की प्राचीनता और महत्ता को पुष्टि होती है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा अध्ययन का क्रम स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में नवमा है, जबकि उपलब्ध आचाराङ्ग में 'महापरिज्ञा' का क्रम सातवां है। शीलांकाचार्य की व्याख्या में 'महापरिज्ञा' को आठवां स्थान दिया गया है।[18] इस तरह क्रम में अन्तर आ गया है। 'महापरिज्ञा' का लोप हो गया है, परन्तु उस पर लिखी गई नियुक्ति उपलब्ध है। निर्युक्ति में आचाराङ्ग के दस पर्यायवाची नाम भी गिनाए हैं-आयार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अङ्ग, आइण्ण, आजाई और आमोक्ख।[19] 'चूला' शब्द का उल्लेख हमें समवायाङ्ग में मिलता अवश्य है परन्तु वहां उसका स्पष्ट विभाजन नहीं है जैसा कि विधिमार्गप्रपा में मिलता है। समवायाङ्ग के 57वें समवाय में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग और स्थानाङ्ग के जो 57 अध्ययन कहे गए हैं उनमें सूत्रकृताङ्ग के 23 और स्थानाङ्ग के 10 अध्ययन हैं। इस तरह 33 अध्ययन निकाल देने पर आचाराङ्ग के 24 अध्ययन शेष रहते हैं। इन 24 अध्ययनों की सङ्गति किस प्रकार बैठाई जाए, यह विवादास्पद ही है। सम्भवत: विलुप्त 'महापरिज्ञा' को कम कर देने पर प्रथम के 8 अध्ययन और दूसरे के चला (निशीथ) छोड़कर 16 अध्ययन माने जाने पर 24 अध्ययनों की सङ्गति बैठाई जा सकती है जो एक विकल्प मात्र है। इस पर अन्य दृष्टियों से भी सोचा जा सकता है क्योंकि वहां 'महापरिज्ञा' के लोप का उल्लेख नहीं है।

जहां तक आचाराङ्ग की विषयवस्तु के निरूपण का प्रश्न है, मेरी दृष्टि में श्वे0 परम्परा के आचार्यों के सामने उपलब्ध आचाराङ्ग ही रहा है किन्तु दिगम्बर आचार्यों ने मूलाचार को ही आचाराङ्ग का रूप मानकर उसकी विषयवस्तु

का निरूपण किया है क्योंकि वहाँ जो गाथा उद्धृत है वह मूलाचार में उसी रूप में मिलती है। श्वे0 आगम साहित्य में यह गाथा दशवैकालिक में मिलती है, आचाराङ्ग में नहीं। दशवैकालिक ग्रन्थ भी मुनि के आचार का ही प्रतिपादक ग्रन्थ है।

2-सूत्रकृताङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में

1. समवायाङ्ग[20] में— सूत्रकृताङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्वसमय-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक सूचित किए जाते हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष तक के सभी पदार्थ सूचित किए गए हैं। जो श्रमण अल्पकाल से ही प्रव्रजित हुए हैं और जिनकी बुद्धि खोटे समयों (परसिद्धान्तों) को सुनने से मोहित तथा मलिन है। उनको पापकारी मलिनबुद्धि के दुर्गणों के शोधन के लिए क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67 और वैनयिकों के 32; इन सब 363 अन्यदृष्टि-समयों का व्यूहन करके स्वसमग्र की स्थापना की गई है। नाना दृष्टान्तयुक्त युक्ति-युक्त वचनों द्वारा परमतों की निस्सारता को बतलाया गया है। अनेक अनुयोगों द्वारा विविध प्रकार से विस्तारकर, परसद्भावगुणविशिष्ट, मोक्षपथ के अवतारक, उदार, अज्ञानान्धकाररूपी दुर्गों के लिए दीपकरूप, सिद्धि और सुगति के लिए सोपानरूप, विक्षोभ और निष्प्रकम्प सूत्रार्थ हैं ।

अङ्गों के क्रम में यह दूसरा अङ्ग है। इसमें 2 श्रुतस्कन्ध, 23 अध्ययन, 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशनकाल और 36 हजार पद हैं।

वाचनादि का विवेचन आचाराङ्गवत् है। समवायाङ्ग में सूत्रकृताङ्ग के 23 अध्ययन भी गिनाये गये हैं[21]-1-समय, 2-वैतालिक, 3-उपसर्गपरिज्ञा, 4-स्त्रीपरिज्ञा, 5-नरकविभक्ति, 6-महावीरस्तुति, 7-कुशीलपरिभाषित, 8-वीर्य, 9-धर्म, 10-समाधि, 11-मार्ग, 12-समवसरण, 13-आख्यातहित (याथातथ्य), 14-ग्रन्थ, 15-यमतीत, 16-गाथा, 17-पुण्डरीक, 18-क्रियास्थान, 19-आहारपरिज्ञा, 20-अप्रत्याख्यान क्रिया, 21-अनगारश्रुत, 22-आर्द्रीय और 23-नालन्दीय ।।

2. नन्दीसूत्र में[22]— सूत्रकृताङ्ग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय और स्वसमय-परसमय की सूचना की जाती है। इसमें 180 क्रियावादियों, 84 अक्रियावादियों, 67 अज्ञानवादियों और 32 वैनयिकों के, कुल 363 परमतों का व्यूहन करके स्वसमय की स्थापना की गई हैं।

यह दूसरा अङ्ग हैं। इसमें 2 श्रुतस्कन्ध, 23 अध्ययन, 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशनकाल और 36 हजार पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

3. विधिमार्गप्रपा में[23]-इसमें स्पष्ट रूप से प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16 और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 7 अध्ययन गिनाये गए हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों को महाध्ययन कहा है। समवायाङ्ग में कथित सूत्रकृताङ्ग के 23 अध्ययन हो यहाँ गिनाये हैं परन्तु कहीं-कहीं किञ्चित् नामभेद है। यथा 5वां वीरस्तुति, 13वां अहतहं, 14 वाँ गन्ध (सम्भवत: यह लिपिप्रमाद है), 20वां प्रत्याख्यानक्रिया और 21वां अनगार।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[24]—सूत्रकृताङ्ग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का प्ररूपण हैं।

2. धवला में[25]- सूत्रकृताङ्ग में 36 हजार पद हैं। यह ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का निरूपण करता है। स्वसमय और परसमय का भी निरूपण करता है।

3. जयधवला में[26]- सूत्रकृताङ्ग में स्वसमय और परसमय का वर्णन है। इसके साथ ही इसमें स्त्रीसम्बन्धी-परिणाम, क्लीवता, अस्फुटत्व (मन की बातों को स्पष्ट न कहना), कामावेश, विलास, आस्फालनसुख, पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[27] - सूत्रकृताङ्ग में 36 हजार पद हैं। यहां सूत्रार्थ तथा उसके करण को संक्षेप से सूचित किया गया है। ज्ञान-विनय आदि, निर्विघ्न अध्ययन आदि, सर्व सत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहारवृषक्रिया, छेदोपस्थापना, यतिसमय, परसमय और क्रियाभेदों का अनेकश: कथन है।

5. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका (प्रभाचन्द्रकृत) में[28]- सूत्रकृताङ्ग के 23 अध्ययनों के नाम तथा उनमें प्रतिपादित विषयों का कथन है। समवायाङ्गोक्त अध्ययन-नामों से इसके नामों में कुछ भिन्नता है।[29]

(ग) वर्तमान रूप-

इसमें धार्मिक उपदेशों के साथ मुख्यत: अन्य मतावलम्बियों का खण्डन है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और दूसरा प्रथम श्रुतस्कन्ध के परिशिष्ट के समान है। भारत के धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान कराने की दृष्टि से दोनों श्रुतस्कन्ध महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16 अध्ययन हैं—1. समय, 2. वेयालिय, 3. उपसर्गपरिज्ञा, 4. स्त्रीपरिज्ञा, 5. नरकविभक्ति, 6. वीरस्तव, 7. कुशील, 8. वीर्य, 9. धर्म, 10, समाधि, 11. मार्ग, 12. समवसरण. 13. याथातथ्य (आहत्तहिय), 14 ग्रन्थ (परिग्रह), 15. आदान या आदानीय (सङ्कलिका = शृंखला; जमतीत या यमकीय ये सभी नाम सार्थक हैं) और 16. गाथा। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 7 महाध्ययन हैं-1 पुण्डरीक, 2. क्रियास्थान, 3. आहारपरिज्ञा, 4. प्रत्याख्यान क्रिया 5. आचारभुत व अनगारश्रुत, 6. आर्द्रकीय और 7. नालन्दीय या नालन्दा।

(घ) तुलनात्मक विवरण

इस आगम के पदों की संख्या में उभय परम्परा में कोई मतभेद नहीं है। पं0 कैलाशचन्द शास्त्री ने इसके निकास की सम्भावना दृष्टिवाद के सूत्र नामक भेद से की है क्योंकि इसका नाम सूत्रकृताङ्ग है।[30] जो चिन्त्य है। तत्त्वार्थवार्तिक में परसमय के कथन का कोई उल्लेख नहीं है। जबकि समवायाङ्ग, नन्दी, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में परसमय-कथन का भी उल्लेख है। समवायाङ्ग और नन्दी में तो स्थानाङ्ग आदि में भी परसमय-कथन का उल्लेख है जो एक प्रकार से गीतार्थ (अलङ्कारिक-कथन) मात्र है। जयधवला में स्पष्टरूप से ग्यारह अङ्गों का विषय स्वसमय ही बतलाया है।[31] फिर भी जयधवला में जो सूत्रकृताङ्ग का विषय परसमय बतलाया गया है वह उपलब्ध सूत्रकृताङ्ग का द्योतक है। जयधवला में स्त्री-सम्बन्धी विशेष वक्तव्यों का कथन भी बतलाया है जो उपलब्ध आगम में है। समवायाङ्ग, विधिमार्गप्रपा और प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में जिन 23 अध्ययनों के नाम बतलाए हैं वे प्राय: परस्पर समान और वर्तमान रूप से मिलते हैं।

नन्दी में केवल 23 अध्ययन-संख्या का उल्लेख है, स्पष्ट नाम नहीं हैं। प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी को छोड़कर दिगम्बर ग्रन्थों में इसका इतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। आचार्य भद्रबाहुकृत सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति में सूत्रकृताङ्ग के तीन नामों का उल्लेख है-सूतगडं (सूतकृत), सुतकडे (सूत्रकृत) और सुयगडें (सूचीकृत) ।।

3-स्थानाङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में

1. समवायाङ्ग में[32]- स्वसमय, परसमय, स्वसमय-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्यायों की प्ररूपणा है। शैल (पर्वत), नदी (गङ्गादि), समुद्र, सूर्य, भवन, विमान, आकर (स्वर्णादि की खान), नदी (सामान्य नदी), निधि, पुरुषजाति, स्वर, गोत्र तथा ज्योतिष्क देवों के सञ्चार का वर्णन है। एकविध, द्विविध से लेकर दसविध तक जीव, पुद्गल तथा लोकस्थानों का वर्णन है। अङ्गों के क्रम में यह तीसरा अङ्ग है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 10 अध्ययन, 21 उद्देशनकाल, 21 समुद्देशनकाल और 72 हजार पद हैं । वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है ।।

2. नन्दीसूत्र में[33] - जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्वसमयपरसमय, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमें टङ्क (छिन्न तट), कूट (पर्वतकूट), शैल, शिखरि, प्राग्भार, कुण्ड, गुहा, आकर, तालाब और नदियों का कथन है। शेष कथन समवायाङ्ग की तरह है-परन्तु यहाँ एकादि क्रम से वृद्धि करते हुए 10 प्रकार के पदार्थों के कथन का उल्लेख नहीं है। इसमें संख्यात संग्रहणियों का अतिरिक्त कथन है।

3. विधिमार्गप्रपा में[34] - स्थानाङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध है। एक स्थान, द्विस्थान आदि के क्रम से दसस्थान नाम वाले 10 अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में -

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[35]—स्थानाङ्ग में अनेक आश्रयवाले अर्थों का निर्णय है।

2. धवला में[36] - स्थानाङ्ग में 42 हजार पद हैं। एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन हैं । जैसे-जीव का 1 से 10 संख्या तक का कथन--

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो।
चदुसङ्कमणाजुत्तो पञ्चग्गगुणप्पहाणो य॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवगुत्तो सत्तभंगिसब्भावो ।

अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ ।।

3. जयधवला में[37] - स्थानाङ्ग में जीव और पुद्गलादिक के एक से लेकर एकोत्तर क्रम (2,3,4 आदि) से स्थानों का वर्णन है। धवला में कथित 'एक्को चेव महप्पा' गाथा भी उद्धृत है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[38] -स्थानाङ्ग में 42 हजार पद हैं। एकादि क्रम से स्थान भेद हैं, जैसे-संग्रह नय से जीव एक है। संसारी और मुक्त के भेद से (व्यवहार नय से) जीव दो हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से जीव तीन प्रकार का है। चार गतियों में संक्रमण करने से जीव चार प्रकार का है। पाँच भावों के भेद से जीव पाँच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अध:गमन करने के कारण छः प्रकार का जीव है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य स्याद् अस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादुभय-अवक्तव्य के भेद से जीव सात प्रकार का है। आठ प्रकार के कर्मों से युक्त होने से जीव आठ प्रकार का है। नवर्थक (नवपदार्थक) होने से जीव नौ प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक, निगोद, द्वि, त्रि, चतु: तथा पाँच इन्द्रियों के भेद से 10 प्रकार का जीव है। इसी प्रकार पुद्गल नाम से अजीव एक है। अणु और स्कन्ध के भेद से अजीव पुद्गल दो प्रकार का है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

(ग) वर्तमान रूप-

इसमें एक स्थानिक, द्विस्थानिक आदि 10 स्थान या अध्ययन हैं जिनमें एक से लेकर दस तक की संख्या के अर्थों का कथन है। इसमें लोकसम्मत गर्भधारण आदि विषयों का भी कथन है। इसमें आठ निह्नवों में से ''बोटिक'' को छोड़कर केवल सात निह्नवों का कथन है। इससे ज्ञात होता है कि इसके रचनाकाल तक जैनों में सम्प्रदायभेद नहीं हुआ था। इस तरह इसमें वस्तु का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया गया है, जिससे यह संग्रह प्रधान कोश-शैली का ग्रन्थ हो गया है।

(घ) तुलनात्मक विवरण

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थोक्त पद संख्या में अन्तर है। इसके 10 अध्ययन हैं ऐसा स्पष्ट कथन समवायाङ्ग आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में तो है, परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं है। धवला में जीवादि के 1 से 10 संख्या तक के कथन का स्पष्ट उल्लेख होने से तथा जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में तदनुरूप ही उदाहरण मिलने से यह सम्भावना की जा सकती है कि इसमें 10 अध्ययन रहे होंगे, परन्तु उनका विभाजन संख्या के आधार पर रहा होगा या विषय के आधार पर यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है। दिगम्बर-ग्रन्थोक्त शैली और उपलब्ध आगम की शैली में स्पष्ट अन्तर है। समवायाङ्ग के इस कथन से कि 'इसमें एकविध, द्विविध से लेकर दसविध तक जीव, पुद्गल तथा लोकस्थानों का वर्णन है' स्पष्ट ही दिगम्बर शैली का सङ्केत है। तत्त्वार्थवार्तिककार का यह कथन कि 'इसमें अनेक आश्रयवाले अर्थों का निर्णय है' पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

यह एक प्रकार का कोश ग्रन्थ है जिसकी शैली समवायाङ्ग से निश्चित ही भिन्न रही है। वर्तमान स्थानाङ्ग दिगम्बरोक्त स्थानाङ्ग-शैली से सर्वथा भिन्न है। आश्चर्य है कि स्थानाङ्ग में 10 संख्या के वर्णन प्रसङ्ग में स्थानाङ्ग के 10 अध्ययनों का उल्लेख नहीं है, जो होना चाहिए था। वर्तमान आगम में गर्भधारण आदि अनेक लौकिक बातों का समावेश कालान्तर में किया गया लगता है।

4-समवायाङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में

1. समवायाङ्ग में[39] - स्वसमयादि सूत्रकृताङ्गवत् सूचित किए जाते हैं। इसमें एक-एक वृद्धि करते हुए 100 तक के स्थानों का कथन है तथा जगत् के जीवों के हितकारक बारह प्रकार के श्रुतज्ञान का संक्षेप से समवतार है। नाना प्रकार के जीवाजोवों का विस्तार से कथन है। अन्य भी बहुत प्रकार के विशेष तत्त्वों का कथन है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और सुरगणों के आहार, उच्छ्वास, लेश्या, आवास-संख्या, आयाम-प्रमाण, उपपात-च्यवन, अवगाहना, उपधि, वेदना, विधान (भेद), उपयोग, योग, इन्द्रिय, कषाय, नाना प्रकार की जीव-योनियाँ, पर्वत आदि के विष्कम्भ (चौड़ाई), उत्सेध (ऊँचाई), परिरय (परिधि) के प्रमाण, मन्दर आदि महीधरों के भेद, कुलकर, तीर्थङ्कर, गणधर, समस्त भरतक्षेत्र के स्वामी, चक्रवर्ती, चक्रधर (वासुदेव), हलधर (बलदेव) आदि का निर्वचन है।

अङ्गों के क्रम में यह चौथा अङ्ग है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 1 अध्ययन, 1 उद्देशन, 1 समुद्देशन और 1 लाख 44 हजार पद हैं। वाचनादि का विवेचन आचाराङ्गवत् है ।।

2. नन्दीसूत्र में[40] - समवायाङ्ग में जीवादि का (समवायाङ्गवत्) समाश्रय किया गया है। एकादि से वृद्धि करते हुए 100 स्थानों तक के भावों की प्ररूपणा है। द्वादश गणिपिटक का संक्षेप से परिचय है।

शेष श्रुतस्कन्धादि तथा वाचनादि का कथन समवायाङ्गवत् है।

3. विधिमार्गप्रपा में[41] — इसमें श्रुतस्कन्ध, अध्ययन और उद्देशक का उल्लेख नहीं है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में-

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[42] — समवायाङ्ग में सभी पदार्थों का समवाय (समानता से कथन) है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से वह समवाय 4 प्रकार का है, जैसे—**(क) द्रव्य समवाय**-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश तथा एक जीव के एक समान असंख्यात प्रदेश होने से इनका द्रव्यरूप से समवाय है (पर्यायार्थिक नय से प्रदेशों के द्रव्यत्व की भी सिद्धि होती है)। **(ख) क्षेत्र समवाय**-जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक तथा नन्दीश्वरद्वीप की एक बावड़ी ये सब 1 लाख योजन विस्तारवाले होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। **(ग) काल समवाय**-उत्सर्पिणी और अवसपणी ये दोनों 10 कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होने से इनमें काल समवाय है। (घ) **भाव समवाय**-क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र ये सब अनन्त विशुद्धिरूप होने से भाव समवाय वाले हैं।

2. धवला में[43] - समवायाङ्ग में 1 लाख 64 हजार पदों के द्वारा सभी पदार्थों के समवाय का कथन है। समवाय 4 प्रकार का है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। जैसे—**(क) द्रव्य समवाय**-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश परस्पर समान हैं। **(ख) क्षेत्र समवाय**—सीमन्तक नरक (प्रथम इन्द्रक बिल), मानुष क्षेत्र, ऋजु विमान (सौधर्म इन्द्र का पहला इन्द्रक) और सिद्धलोक ये चारों क्षेत्र की अपेक्षा समान हैं। **(ग) काल समवाय**-एक समय दूसरे समय के समान है और एक मुहूर्त दूसरे मुहूर्त के समान है। (घ) **भाव समवाय**-केवलज्ञान और केवलदर्शन समान हैं क्योंकि ज्ञेयप्रमाण ज्ञान-मात्र में चेतना शक्ति की उपलब्धि होती है ।

3. जयधवला में[44] - समवायाङ्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के समवाय का वर्णन है। शेष कथन प्राय: धवला के समान है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[45]-समवायाङ्ग में 1 लाख 64 हजार पद हैं। संग्रहनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों की अपेक्षा पदार्थों के सादृश्य का कथन है। शेष कथन प्राय: धवला के समान है।

(ग) वर्तमान रूप

यह अङ्गग्रन्थ भी स्थानाङ्ग की शैली में लिखा गया कोश ग्रन्थ है। इसमें 1 से वृद्धि करते हुए 100 समवायों का वर्णन है। एक प्रकीर्ण समवाय है जिसमें 100 से आगे की संख्याओं का समवाय बतलाया गया है। इसके अन्त में 12 अङ्ग ग्रन्थों का परिचय दिया गया है जो नन्दीसूत्रोक्त श्रुतपरिचय से साम्य रखता है। जिससे इसके कुछ अंशों की परवर्तिता सिद्ध होती है।

(घ) तुलनात्मक समीक्षा

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में बतलाई गई इसकी पदसंख्या में कुछ अन्तर है। दिगम्बरों के सभी ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का विषय एक जैसा बतलाया है। उदाहरण में यत्किञ्चित् अन्तर है। समवायाङ्ग और नन्दी में 100 समवायों तथा श्रुतावतार का उल्लेख है जो वर्तमान आगम में देखा जाता है। वर्तमान आगम में एक प्रकीर्ण समवाय भी है जिसमें 100 से अधिक के समवायों का कथन है। विधिमार्गप्रपा में अध्ययनादि के विभाजन का निषेध है। उसमें 100 समवाय और श्रुतावतार का भी उल्लेख नहीं है जो चिन्त्य है। दिगम्बर ग्रन्थों में भी 100 समवाय तथा श्रुतावतार का उल्लेख नहीं है। वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से 4 प्रकार के समवाय द्वारा सभी पदार्थों के विवेचन का निर्देश है। इस तरह उपलब्ध आगम की शैली दिगम्बर-ग्रन्थोक्त शैली से भिन्न है। उपलब्ध आगम की शैली उपलब्ध स्थानाङ्ग जैसी (संग्रह-प्रधान) ही है। वस्तुत: स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली में अन्तर होना चाहिए था। दिगम्बर ग्रन्थोक्त स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली में अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थोक्त स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की दो शैलियों से उपलब्ध स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली भिन्न प्रकार की है।

5-व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में-

1. समवायाङ्ग में[46] - व्याख्याप्रज्ञप्ति में नानाविध देव, नरेन्द्र, राजर्षि तथा अनेक संशयग्रस्तों के प्रश्नों के भगवान् जिनेन्द्र

ने विस्तार से उत्तर दिये हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय, क्षेत्र, काल, प्रदेश, परिणाम, यथास्थितिभाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और सुनिपुण उपक्रमों के विविध प्रकारों के द्वारा प्रकट रूप से प्रकाशक, लोकालोक का प्रकाशक, संसार-समुद्र से पार उतारने में समर्थ, सुरपति से पूजित, भव्य जनों के हृदय को आनन्दित करने वाले, तम:रज-विध्वंशक, सुदृष्टदीपकरूप, ईहामति-बुद्धिवर्द्धक, पूरे (अन्यून) 36 हजार व्याकरणों (प्रश्नों के उत्तर) को दिखाने से व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्रार्थ के अनेक प्रकारों का प्रकाशक, शिष्यों का हितकारक और गुणों से महान् अर्थ वाला है। स्वसमयादि का कथन पूर्ववत् है।

अङ्गों के क्रम में यह 5वां अङ्गग्रन्थ है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 100 से कुछ अधिक अध्ययन, 10 हजार उद्देशक, 10 हजार समुद्देशक, 36 हजार प्रश्नों के उत्तर तथा 84 हजार पद हैं। वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

यहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिए 'विवाहपन्नत्ती' और 'वियाहपन्नत्ती' दोनों पदों का प्रयोग हुआ है। इसके लिए 'भगवती' पद का भी प्रयोग किया गया है तथा यहाँ भी इसके 84 हजार पद बतलाये गये हैं।[47]

2. नन्दीसूत्र में[48] - व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीवादि का कथन है (पूर्ववत्) । समवायाङ्गोक्त 'नानाविध देवादि0' यह अंश यहाँ नहीं है। यहाँ केवल ''विवाहपन्नत्ती'' शब्द का प्रयोग हुआ है। पद परिमाण दो लाख 88 हजार बतलाया है। शेष कथन समवायाङ्गवत् है।

3. विधिमार्गप्रपा में[49] - व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिए 'भगवती' और 'विवाहपन्नत्ती' दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ किया गया है। इसमें श्रुतस्कन्ध नहीं हैं। 'शतक' नामवाले 41 अध्ययन हैं जो अवान्तर शतकों के साथ कुल 138 शतक हैं।[50] इसके 1923।1932 उद्देशक बतलाये हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[51]-''जीव है या नहीं है'' इत्यादि रूप से 60 हजार प्रश्नों के उत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति में हैं।

2. धवला में[52]- इसमें 2 लाख 28 हजार पदों के द्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादि रूप से 60 हजार प्रश्नों के व्याख्यान हैं।

3. जयधवला में[53] - इसमें 60 हजार प्रश्नों तथा 96 हजार छिन्नच्छेदों से जनित शुभाशुभों का वर्णन है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[54] - इसे मूल गाथा में 'विवायपण्णत्ति' कहा है तथा इसकी संस्कृत छाया में 'विपाकप्रज्ञप्ति' कहा है। इसमें जीव हैं, नहीं है, नित्य है, अनित्य है आदि 60 हजार गणि प्रश्न हैं। पदसंख्या 228000 है।

(ग) वर्तमान रूप-

इसमें गौतम गणधर प्रश्नकर्ता हैं तथा भगवान महावीर उत्तर प्रदाता हैं। इस शैली का स्पष्ट उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक में मिलता है-''एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्...... '' इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्'।[55]

इस ग्रन्थ का प्रारम्भ मङ्गलाचरण पूर्वक होता है। ऐसा किसी अन्य अङ्ग ग्रन्थ में नहीं हैं। प्रारम्भ के 20 शतक प्राचीन हैं। वेबर के अनुसार बाद के 21 शतक पीछे से जोड़े गए हैं।[56] रायपसेणीय, पन्नवणा आदि अङ्ग बाह्य ग्रन्थों के भी उल्लेख इसमें मिलते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों की भी चर्चा है। जयन्ति श्राविका का भी कथन है। इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गणधरों के तो नाम हैं परन्तु सुधर्मा गणधर का नाम नहीं है। पौधे, लेश्या, कर्मबन्ध, समवसरण, त्रेता, द्वापर, कलियुग, ब्राह्मी-लिपि आदि का वर्णन है।

व्याख्यात्मक कथन होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं तथा पूज्य और विशाल होने से इसे 'भगवती' भी कहते हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण-

इसके पद-प्रमाण के सम्बन्ध में दिगम्बर ग्रन्थों में तो एकरूपता है, परन्तु श्वेताम्बरों के समवायाङ्ग और नन्दीसूत्र में एकरूपता नहीं है। इस तरह पदप्रमाण के सम्बन्ध में 3 मत हैं(1) दिगम्बर ग्रन्थों का, (2) समवायाङ्ग का और (3) नन्दीसूत्र का । नन्दी में आचाराङ्ग से व्याख्याप्रज्ञप्ति तक स्पष्ट रूप से क्रमश: दुगुना-दुगुना पद-प्रमाण बतलाया गया है, परन्तु समवायाङ्ग में ऐसा नहीं किया गया है। समवायाङ्ग में दो स्थानों पर पदसंख्या उल्लिखित हुई है। और दोनों स्थानों पर 84 हजार पद बतलाए हैं। प्रश्नों के उत्तरों की संख्या के सन्दर्भ में भी 3 मत मिलते हैं (1) श्वेताम्बर ग्रन्थों में 36 हजार, (2) तत्त्वार्थवार्तिक, धवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में 60 हजार और (3) जयधवला में 60 हजार प्रश्नोत्तरों के साथ 96 हजार छिन्नच्छेद । वर्तमान व्याख्याप्रज्ञप्ति की दिगम्बर उल्लेखों से भिन्नता है। इसमें गौतम का प्रश्नकर्ता होना और सुधर्मा का नाम न होना चिन्त्य है। गौतम का प्रश्नकर्ता होना दिगम्बरों के अनुकूल है। इस ग्रन्थ का कुछ अंश निश्चय ही

प्राचीन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु रायपसेणीय आदि अङ्गबाह्य ग्रन्थों के उल्लेखों, समवायाङ्ग आदि में निर्दिष्ट विषयवस्तु से भिन्नता होने, मङ्गलाचरण होने आदि कारणों से इसके कुछ अंशों को बाद में जोड़ा गया है।

इस ग्रन्थ का भगवती नाम श्वेताम्बरों में प्रसिद्ध है। समवायाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में इस नाम का प्रयोग भी मिलता है। इस ग्रन्थ के प्राकृत नाम कई हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसे 'विक्खापण्णत्ती' कहा है जो व्याख्याप्रज्ञप्ति के अधिक निकट प्रतीत होता है,[57] परन्तु यह नाम धवला आदि में न होने से ज्ञात होता है कि यह नाम बाद में संस्कृत के स्वर-व्यञ्जन-परिवर्तन के आधार पर दिया गया है।

6-ज्ञाताधर्मकथा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में

1. समवायाङ्ग में[58] - ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों के (1) नगर, (2) उद्यान, (3) चैत्य, (4) वनखण्ड, (5) राजा, (6) माता-पिता, (7) समवसरण, (8) धर्माचार्य, (9) धर्मकथा, (10) इहलौकिकपारलौकिक ऋद्धिविशेष, (11) भोगपरित्याग, (12) प्रव्रज्या, (13) श्रुतपरिग्रह, (14) तपोपधान, (15) पर्याय (दीक्षा पर्याय), (16) सल्लेखना, (17) भक्तप्रत्याख्यान, (18) पादपोपगमन, (19) देवलोक गमन, (20) सुकुलप्रत्यागमन, (21) पुन: बोधिलाभ (सम्यक्त्वप्राप्ति) और (22) अन्तक्रियाओं का वर्णन है।

इसमें (1) श्रेष्ठ जिन-भगवान् के शासन की संयमरूपी प्रव्रजितों की विनयप्रधान प्रतिज्ञा के पालन करने में जो धृति, मति, और व्यवसाय (पुरुषार्थ) से दुर्बल, (2) तप-नियम, तपोपधानरूप युद्ध-दुर्धर भार को वहन करने में असमर्थ होने से पराङ्गमुख, (3) घोर परीषहों से पराजित होकर सिद्धालय प्राप्ति के कारणभूत महामूल्य ज्ञानादि से पतित, (4) विषय सुखों को तुच्छ आशा के वशीभूत होकर रागादि दोषों से मूर्च्छित, (5) चारित्र, ज्ञान और दर्शन की विराधना से सर्वथा नि:सार और शून्य, (6) संसार के अपार दु:खरूप दुर्गतियों के भवप्रपञ्च में पतित ऐसे पतित पुरुषों की कथाएँ हैं।

जो धीर हैं, परीषहों और कषायों को जीतने वाले हैं, धर्म के धनी हैं, संयम में उत्साहयुक्त हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और समाधियोग की आराधना करने वाले हैं, शल्यरहित होकर शुद्ध सिद्धालय के मार्ग की ओर अभिमुख हैं ऐसे महापुरुषों की कथायें हैं। जो देवलोक में उत्पन्न होकर देवों के अनुपम सुखों को भोगकर कालक्रम से वहां से च्युत होकर पुन: मोक्षमार्ग को प्राप्तकर अन्तक्रिया से विचलित (अन्तसमय में विचलित) हो गए हैं उनकी पुन: मोक्षमार्ग-स्थिति की कथायें हैं।

अङ्गक्रम में यह छठा अङ्ग है। इसमें 2 श्रुतस्कन्ध और 19 अध्ययन हैं जो संक्षेप से दो प्रकार के हैं-चरित और कल्पित। इसमें 29 उद्देशनकाल, 29 समुद्देशनकाल और संख्यात सहस्र पद हैं। इसमें धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में 500-500 आख्यायिकायें हैं, प्रत्येक आख्यायिका में 500-500 उपाख्यायिकायें हैं, प्रत्येक उपाख्यायिका में 500-500 आख्यायिका-उपाख्यायिकायें हैं । इस तरह पूर्वापर सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ अपुनरुक्त कथायें हैं।

शेष वाचना आदि का कथन आचाराङ्गवत् है ।

2. नन्दीसूत्र में[59] - इसमें ज्ञाताधर्मकथा की विषयवस्तु प्राय: समवायाङ्गवत् ही बतलाई है। क्रम में अन्तर है। 'पतित प्रव्रजित पुरुषों की कथायें हैं, यह पैराग्राफ नहीं है। उद्देशन काल 19 और समुद्देशनकाल भी 19 बतलाये हैं।

3. विधिमार्गप्रपा में[60] — इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं—ज्ञाता और धर्मकथा। ज्ञाता के 19 अध्ययन हैं-(1) उत्क्षिप्त, (2) सङ्घाट, (3) अण्ड, (4) कूर्म, (5) शैलक, (6) तुम्बक, (7) रोहिणी, (8) मल्ली, (9) माकन्दी, (10) चन्दिमा, (11) दावद्रव, (12) उदक, (13) मण्डुक, (14) तेतली, (15) नन्दिफल, (16) अवरकङ्का, (17) आकीर्ण, (18) सुसुमा और (19) पुण्डरीक।

धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं जिनमें क्रमश: 10/10/4/4/32/32/4/4/8/8/ अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में -

1. तत्त्वार्थवार्त्तिक में[61]— णाणकहा में अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का वर्णन है ।

2. धवला में[62] - नाथधर्मकथा में 5 लाख 56 हजार पद हैं जिनमें सूत्र-पौरुषी-विधि (सिद्धान्तोक्त-विधि) से तीर्थङ्करों की धर्मदेशना का, गणधरों के सन्देह निवारण की विधि का तथा बहुत प्रकार की कथा-उपकथाओं का वर्णन है।

3. जयधवला में[63] — नाथधर्मकथा में तीर्थङ्करों की धर्मकथाओं के स्वरूप का वर्णन है। तीर्थङ्कर दिव्यध्वनि द्वारा

धर्मकथाओं के स्वरूप का कथन करते हैं। इसमें उन्नीस धर्मकथायें हैं।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[64] — इसमें 'णाणकहा' तथा 'णाहकहा' दोनों शब्दों का प्रयोग है जिनकी संस्कृत-छाया 'ज्ञातृकथा' तथा 'नाथकथा' की है। पुष्पिका में 'णादाधम्मकहा' लिखा है इसमें 556000 पद हैं। इसे नाथकथा के कथन से संयुक्त कहा है -(नाथ = त्रिलोक स्वामी, धर्मकथा = तत्त्व-सङ्कथन)। इसमें गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र के द्वारा प्रश्न करने पर दश धर्म का कथन या जीवादि वस्तु का कथन है । अथवा ज्ञातृ, तीर्थङ्कर, गणि, चक्रि, राजर्षि, इन्द्र आदि की धर्मानुकथादि का कथन है।

(ग) वर्तमान रूप

छठे से ग्यारहवें तक के कथा-प्रधान अङ्ग-ग्रन्थों में सुधर्मा और जम्बू स्वामी के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। क्रिया पद अन्यपुरुष में है जिससे लगता है कि इनका रचयिता स्वयं सुधर्मा या जम्बू स्वामी नहीं है अपितु उनको प्रमाण मानकर किसी अन्य व्यक्ति ने रचना की है। इस कथा-ग्रन्थ की मुख्य और अवान्तर कथाओं में आई हुई अनेक घटनाओं से तथा विविध प्रकार के वर्णनों से तत्कालीन इतिहास और संस्कृति की जानकारी प्राप्त होती है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं-

प्रथम श्रुतस्कन्ध

इसमें 19 अध्ययन हैं- (1) उत्क्षिप्त (मेघकुमार की कथा), (2) सङ्घाटक (धन्नासेठ), (3) अण्डक (चम्पानगरी-वर्णन तथा मयूर-अण्डकथा), (4) कूर्म (वाराणसी नगरी-वर्णन तथा कछुआ की कथा), (5) शैलक (द्वारकावर्णन तथा शैलक की कथा), (6) तुम्बक (राजगृह का वर्णन), (7) रोहिणीज्ञात (वधू रोहिणी की कथा), (8) मल्ली (19वें तीर्थङ्कर की कथा), (9) माकन्दी (वणिक पुत्र जिनपालित और जिनरक्षित की कथा), (10) चन्द्र, (11) दावद्रव (दावद्रव समुद्र तट पर स्थित वृक्ष की कथा), (12) उदकज्ञात (कलुषित जलशोधन), (13) मण्डुक ज्ञात या दर्दुरज्ञात (नन्द के जीव मेढ़क की कथा), (14) तेतलिपुत्र, (15) नन्दीफल, (16) द्रौपदी, (17) आकीर्ण (जङ्गली अश्व), (18) सुसुमा (सेठ कन्या) और (19) पुण्डरीक। इन कथाओं में कथा को अपेक्षा उदाहरण पर विशेष बल दिया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध- विषय और शैली की दृष्टि से यह प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है। इसमें धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं जिनमें चमर, बलि, चन्द्र, सूर्य, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र आदि देवों की पटरानियों के पूर्वभव की कथायें हैं। इन पटरानियों के नाम उनके पूर्वभव (मनुष्य भव) की स्त्रीयोनि से सम्बन्धित हैं। जैसे काली, रजनी, मेघा आदि।

(घ) तुलनात्मक विवरण

यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक आख्यान-उपाख्यान कहे हैं परन्तु जयधवला में ज्ञाताधर्म की 19 धर्मकथाओं के कथन का उल्लेख मिलता है जो सम्भवत: 19 अध्ययनों का द्योतक है। इससे तथा श्वे0 ग्रन्थों के उल्लेख से एक बात ज्ञात होती है कि मूलत: इसमें 19 अध्ययन रहे होंगे। 'धर्मकथाओं के 10 वर्ग हैं जिनमें 33 करोड़ कथायें हैं' इत्यादि कथन अतिरञ्जनापूर्ण है। इन 10 धर्मकथाओं का स्थानाङ्ग में कोई उल्लेख भी नहीं मिलता है। श्वे0 ग्रन्थोक्त संख्यात सहस्र पद-संख्या अनिश्चित है जबकि दिग0 ग्रन्थों में एक निश्चित पदसंख्या का उल्लेख किया गया है। समवायाङ्गोक्त 29 उद्देशन और 29 समुद्देशन काल में सम्भवत: 19 अध्ययन और 10 धर्मकथाओं के वर्ग को जोड़कर 29 कहा है जबकि नन्दी में मात्र 19 उद्देशन और 19 समुद्देशन काल कहे हैं।

''ज्ञाता'' शब्द का अर्थ ''उदाहरण'' ऐसा जो टीकाकार अभयदेव ने लिखा है वह प्राप्त किसी भी उद्धरण से सिद्ध नहीं है। ऐसा उन्होंने सम्भवत: उपलब्ध आगम के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है अन्यथा यह ज्ञातवंशी (दिग0 नाथवंशी) भगवान महावीर की धर्मकथाओं से सम्बन्धित रहा है। ऐसा दिग0 ग्रन्थों से स्पष्ट है। जब इस अङ्ग ग्रन्थ के नाम के शब्दार्थ पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि दिग0 इसे नाथधर्मकथा (णाहधम्मकहा) कहते हैं और श्वे0 ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्म कहा) 'ज्ञात' से श्वेताम्बर-मान्यतानुसार ज्ञातृवंशीय महावीर का तथा 'नाथ' से दिगम्बर-मान्यतानुसार नाथवंशीय महावीर का ही बोध होता है। अत: भगवान महावीर से सम्बन्धित या उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म कथाओं का हो सञ्चयन इसमें होना चाहिए। धर्मच्युतों को पुन: धर्माराधना में संस्थापित करना उन कथाओं का उद्देश्य रहा है ऐसा समवायाङ्ग और नन्दी के उल्लेखों से स्पष्ट है। समवायाङ्ग से ज्ञात होता है कि इसमें तीन प्रकार की कथायें थीं— (1) पतितों की, (2) दृढ़ धार्मिकों की और (3) धर्ममार्ग से विचलित होकर पुन: धर्ममार्ग का आश्रय लेने वालों की।

7-उपासकदशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में-

1. स्थानाङ्ग में[65] - इसके 10 अध्ययन हैं—आनन्द, कामदेव, चूलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और लेयिकापिता।

2. समवायाङ्ग में[66] - इसमें उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथायें, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धिविशेष, शीलव्रत-विरमण-गुण-प्रत्याख्यान-प्रोषधोपवास प्रतिपत्ति, सुपरिग्रह (श्रुतपरिग्रह), तपोपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, सुकुलप्रत्यागमन, पुन: बोधिलाभ और अन्तक्रिया का कथन किया गया है।

उपासकदशा में उपासकों (श्रावकों) के ऋद्धिविशेष, परिषद, विस्तृत धर्मश्रवण, बोधिलाभ आदि के क्रम से अक्षय सर्व-दु:खमुक्ति का वर्णन हैं। अङ्गों के क्रम में सातवां अङ्ग है—1 श्रुतस्कन्ध, 10 अध्ययन, 10 उद्देशनकाल, 10 समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

2. नन्दीसूत्र में[67] - इसमें प्राय: समवायाङ्गवत् वर्णन है। क्रम में अन्तर है। उपासकों के ऋद्धिविशेष, परिषद् आदि वाला अंश यहां नहीं है। पद-संख्या संख्यात सहस्र बतलाई है।

3. विधिमार्गप्रपा में[68] - इसमें एक श्रुतस्कन्ध तथा 10 अध्ययन हैं। अध्ययनों के नाम हैं-1. आनन्द, 2. कामदेव, 3. चूलनीपिता, 4. सुरादेव, 5. चुल्लशतक, 6. कुण्डकोलिक, 7. सद्दलपुत्र, 8. महाशतक, 9. नन्दिनीपिता और 10. लेतिआपिता।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में-

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[69] - श्रावकधर्म का कथन है।

2. धवला में[70] - उपासकाध्ययन में 1170000 पद हैं जिनमें दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रीषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन 11 प्रकार के उपासकों के (श्रावकों के) लक्षण, उनके व्रतधारण करने की विधि तथा आचरण का वर्णन है।

3. जयधवला में[71] - दार्शनिक आदि 11 प्रकार के उपासकों के ग्यारह प्रकार के धर्म का वर्णन उपासकाध्ययन में है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[72] - उपासकाध्ययन में 117000 पद हैं जिनमें दार्शनिक आदि 11 प्रकार के देशविरतों (श्रावकों) के श्रद्धा, दान, पूजा, सङ्घसेवा, व्रत, शीलादि का कथन है।

(ग) वर्तमान रूप-

इसमें उपासकों के आचारादि का वर्णन है। उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथावत् है। आनन्द आदि जिन 10 उपासकों के नाम स्थानाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में हैं उनकी ही कथायें इसमें हैं। सभी कथायें एक जैसी हैं उनमें केवल नामादि का अन्तर है।

(घ) तुलनात्मक विवरण-

यह एकमात्र ऐसा अङ्गग्रन्थ है जिसमें उपासकों के आचार आदि का वर्णन किया गया। है, ऐसा दिग0 और श्वे0 दोनों के उल्लेखों से प्रमाणित होता है। 'दशा' शब्द 10 संख्या का बोधक है। इस तरह यह अङ्ग-ग्रन्थ स्वनामानुरूप है। धवला और जयधवला में उपासकों की 11 प्रतिमाओं का भी उल्लेख है परन्तु तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसा उल्लेख नहीं है। समवायाङ्ग और नन्दी में 'प्रतिमा' शब्द तो मिलता है परन्तु प्रतिमा के दार्शनिक आदि नाम नहीं हैं। शीलव्रत आदि शब्दों का भी प्रयोग समवायाङ्ग और नन्दी में मिलता है। समवायाङ्ग और नन्दी में आनन्द आदि 10 उपासकों के नामों का उल्लेख तो नहीं है परन्तु 10 अध्ययन संख्या से 10 उपासकों की पुष्टि होती है। दिग0 इस विषय में चुप हैं। वर्तमान आगम में स्थानाङ्गोक्त आनन्द आदि 10 उपासकों की ही कथायें हैं।

पदसंख्या से सम्बन्धित तीन प्रकार के उल्लेख हैं—(1) समवायाङ्ग में संख्यात लाख, (2) नन्दी में संख्यात सहस्र और (3) धवला में 11 लाख 70 हजार। उपोद्घातादि से यह अपेक्षाकृत परवर्ती रचना सिद्ध होती है। श्रावकधर्म का प्रतिपादक यह प्राचीनतम ग्रन्थ रहा है ऐसा उभय परम्परानुमत है।

8-अन्तकृद्दशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में-

1. स्थानाङ्ग में[73] - इसमें 10 अध्ययन हैं—नमि, मातङ्ग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किङ्कष चिल्वक

(चिल्लक), पाल और अम्बडपुत्र।

2. समवायाङ्ग में[74] - इसमें कर्मों का अन्त करने वाले अन्तकृतों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, तप-उपधान, बहुत प्रकार की प्रतिमायें, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य, शौच, सत्रह प्रकार का संयम, ब्रह्मचर्य, आकिञ्चन्य, तप, त्याग समितियों तथा गुप्तियों का वर्णन है। अप्रमादयोग, स्वाध्याय और ध्यान का स्वरूप, उत्तम संयम को प्राप्त करके परीषहों को सहन करने वालों को चार घातियाँ कर्मों के क्षय से प्राप्त केवल ज्ञान, कितने काल तक श्रमण पर्याय और केवलि पर्याय का पालन किया, किन मुनियों ने पादोपगमसंन्यास लिया और कितने भक्तों का छेदनकर अन्तकृत मुनिवर अज्ञानान्धकार से विप्रमुक्त हो अनुत्तर मोक्षसुख को प्राप्त हुए, उन सबका विस्तार से वर्णन है।

अङ्गों के क्रम में यह आठवाँ अङ्ग है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 10 अध्ययन, 7 वर्ग, 10 उद्देशनकाल, 10 समुद्देशनकाल और संख्यात हजार पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

3. नन्दीसूत्र में[75]- इसमें अन्तकृतों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, पर्याय (दीक्षा पर्याय), श्रुतपरिग्रह, तपोपधान, सल्लेखना, भक्त प्रत्याख्यान, पादपोपगमन और अन्तक्रिया (शैलेशीअवस्था) का वर्णन है। इस आठवें अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध, 8 वर्ग, 8 उद्देशनकाल और 8 समुद्देशनकाल हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है ।।

4. विधिमार्गप्रपा में[76] - इस आठवें अङ्ग में 1 श्रुतस्कन्ध तथा 8 वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में क्रमश: 10,8,13,10,10,16,13 और 10 अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में

1. तत्त्वार्थवार्त्तिक में[77] -जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है उन्हें अन्तकृत कहते हैं। चौबीसों तीर्थङ्करों के समय में होने वाले 10-10 अन्तकृत अनगारों का वर्णन है जिन्होंने दारुण उपसर्गों को सहनकर मुक्ति प्राप्त की। भगवान महावीर के समय के 10 अन्तकृत हैं—नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र। अन्तकृतों की दशा अन्तकृद्दशा है, अत: इसमें अर्हत्, आचार्य और सिद्ध होने वालों की विधि का वर्णन है।

2. धवला में[78] - 2328000 पदों के द्वारा इसमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहनकर, प्रातिहार्यों (अतिशय-विशेषों) को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त हुए 10-10 अन्तकृतों का वर्णन है। तत्त्वार्थभाष्य में कहा है-''संसारस्यान्त:कृतो येस्तेऽन्तकृत:'' (जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है, वे अन्तकृत हैं)। वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ में होने वाले 10 अन्तकृत हैं—नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलोक, वलीक, किष्कम्बिल, पालम्ब और अम्बष्टपुत्र। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तीर्थङ्करों के तीर्थ में दूसरे 10-10 अन्तकृत हुए हैं। इन सबकी दशा का इसमें वर्णन हैं।

3. जयधवला में[79] - इसमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में चार प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्यों को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त हुए सुदर्शन आदि 10-10 साधुओं का वर्णन है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[80] — अन्तकृत में 2328000 पद हैं, जिनमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ के 10-10 अन्तकृतों का वर्णन है । वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ के 10 अन्तकृतों के नाम धवलावत् है।

(ग) वर्तमान रूप

अन्तकृत शब्द का अर्थ है-संसार का अन्त करने वाले। इसका उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथावत् है। इसमें 8 वर्ग हैं **प्रथम वर्ग**- इसमें गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, थिमिअ, अयल, कम्पिल्ल, अक्षोभ, पसेणई और विष्णु इन अन्धकवृष्णि के 10 पुत्रों से सम्बन्धित 10 अध्ययन हैं। **द्वितीय वर्ग**- इसमें 10 मुनियों के 10 अध्ययन हैं। **तृतीय वर्ग**- इसमें 13 मुनियों के 13 अध्ययन हैं। **चतुर्थ वर्ग**- इसमें जालि आदि 10 मुनियों के 10 अध्ययन हैं। **पञ्चम वर्ग**- इसमें पद्मावती आदि 10 अन्तकृत स्त्रियों के नामवाले 10 अध्ययन हैं। **षष्ठ वर्ग**- इसमें 16 अध्ययन हैं। **सप्तम वर्ग**- इसमें 13 अध्ययन हैं, जिनमें अन्तकृत स्त्रियों (साध्वियों) की कथायें हैं। **अष्टम वर्ग**-इसमें राजा श्रेणिक की काली आदि 10 अन्तकृत स्त्रियों (साध्वियों) से सम्बन्धित 10 अध्ययन हैं।

इन आठ वर्गों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे (1) प्रथम पाँच वर्ग कृष्ण और वासुदेव से सम्बन्धित व्यक्तियों की कथा से सम्बन्धित हैं, (2) षष्ठ और सप्तम वर्ग भगवान् महावीर के शिष्यों (स्त्री) की कथा से

सम्बन्धित हैं तथा (3) अष्टम वर्ग राजा श्रेणिक की काली आदि 10 भार्याओं की कथा से सम्बन्धित हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण-

स्थानाङ्ग, तत्त्वार्थवार्तिक, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में नमि आदि भगवान महावीर कालीन 10 अन्तकृतों के नाम प्राय: एक समान मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि मूल में इनका वर्णन रहा है। समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा में इन नामों का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर ग्रन्थों में एक स्वर से कहा गया है कि इसमें न केवल भगवान महावीर-कालीन 10 अन्तकृतों का वर्णन रहा है अपितु चौबीसों तीर्थङ्करों के काल के 10-10 अन्तकृतों का वर्णन रहा है। वर्तमान ग्रन्थ में न तो 10 अध्ययन हैं और न नमि आदि अन्तकृतों का वर्णन है। यह परवर्ती रचना है जिसमें नमि और महावीर-कालीन कुछ अन्तकृतों का वर्णन है परन्तु पूर्वोक्त नमि आदि नामों से भिन्नता है।

स्थानाङ्ग से इसके केवल 10 अध्ययनों का बोध होता है जबकि समवायाङ्ग से 10 अध्ययनों के अतिरिक्त 7 वर्गों का भी बोध होता है। नन्दी में केवल 8 वर्गों का उल्लेख है, अध्ययनों का नहीं । विधिमार्गप्रपा में 8 वर्गों और उसके अवान्तर अध्ययनों का कथन है जो वर्तमान आगम के अनुरूप है सिर्फ द्वितीय वर्ग की अध्ययनसंख्या में अन्तर है।

9-अनुत्तरौपपातिकदशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में-

1. स्थानाङ्ग में[81] - अनुत्तरौपपातिकदशा में 10 अध्ययन हैं-ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, संस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्त।

2. समवायाङ्ग में[82] — अनुत्तरौपपातिकदशा में अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले महापुरुषों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धियाँ, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, तपोपधान, पर्याय, प्रतिमा, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, अनुत्तर विमानों में उत्पाद, सुकुलोत्पत्ति, पुन: बोधिलाभ और अन्तक्रिया का वर्णन है।

परम मङ्गलकारी, जगत् हितकारी तीर्थङ्करों के समवसरण आदि का वर्णन है। उत्तम ध्यान योग से युक्त होते हुए जीव जिस प्रकार अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं, वहाँ जैसे विषयसुख का भोग करते हैं उन सबका वर्णन इसमें किया गया है। पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वे जिस प्रकार संयम धारणकर अन्तक्रिया करेंगे उस सबका वर्णन है।

इस नवम अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

3. नन्दीसूत्र में[83]- इसमें अनुत्तरौपपातिकों के नगरादि का वर्णन है। 1 श्रुतस्कन्ध, 3 वर्ग, 3 उद्देशनकाल, 3 समुद्देशनकाल तथा संख्यात सहस्र पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

4. विधिमार्गप्रपा में[84]— इसमें 1 श्रुतस्कन्ध ओर 3 वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में क्रमश: 10, 13 और 10 अध्ययन हैं । जालि आदि अध्ययनों के नाम हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में-

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[85] - देवों का उपपाद जन्म होता है। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर देवों के विमान हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में अनेक प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहनकर पूर्वोक्त अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले 10-10 मुनियों का इसमें वर्णन होने से इसे अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। महावीर के तीर्थ के 10 अनुत्तरौपपातिक हैं-ऋषिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र।

अथवा अनुत्तरौपपादिकों की दशा, आयु, विक्रिया आदि का इसमें वर्णन है।

2. धवला में[86] — इसमें 9244000 पद हैं, जिनमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में उत्पन्न होने वाले 10-10 अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन है। महावीर के तीर्थ में उत्पन्न होने वाले 10 अनुत्तरौपपादिकों के नाम 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' कहकर तत्त्वार्थभाष्यानुसार दिए हैं।

3. जयधवला में[87] — इसमें चौबीस तीर्थङ्करों के तीर्थ में चार प्रकार के दारुण उपसर्ग सहनकर अनुत्तर विमान को प्राप्त हुए 10-10 मुनिवरों का वर्णन है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[88] — इसमें 9244000 पदों के द्वारा प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में उत्पन्न 10-10 अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन है । वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ के 10 अनुत्तरौपपादिक मुनि हैं ऋजुदास, शालिभद्र, सुनक्षत्र, अभय, धन्य, वारिषेण,

नन्दन, नन्द, चिलातपुत्र और कार्तिकेय।

(ग) वर्तमान रूप

उपपाद जन्म वाले देव औपपातिक कहलाते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि के वैमानिक देव अनुत्तर (श्रेष्ठ) कहलाते हैं। अत: जो उपपाद जन्म से अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। इस तरह इसमें अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की दशा का वर्णन हैं। इसके तीन वर्ग हैं जिनमें 33 अध्ययन हैं

प्रथम वर्ग-जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार से सम्बन्धित 10 अध्ययन हैं।

द्वितीय वर्ग-दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गुढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, दुम, दुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन से सम्बन्धित 13 अध्ययन हैं।

तृतीय वर्ग-धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल से सम्बन्धित 10 अध्ययन हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण

दिगम्बर उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में अन्तकृत-दशा की तरह 24 तीर्थङ्करों के तीर्थ में होने वाले 10-10 अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन है। भगवान महावीर के काल के जिन अनौपपादिकों के नामों का उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में मिलता है उनमें से 5 नाम स्थानाङ्ग में शब्दश: मिलते हैं। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में इसके 10 अध्ययनों का उल्लेख है। स्थानाङ्ग में नाम गिनाए हैं और समवायाङ्ग में नहीं। इसके अतिरिक्त समवायाङ्ग में तीन वर्गों का भी उल्लेख है परन्तु उद्देशन और समुद्देशन काल 10 ही बतलाया है जो चिन्त्य है। नन्दी में अध्ययनों का उल्लेख ही नहीं है उसमें तीन वर्ग और तीन उद्देशन कालादि का ही कथन है। विधिमार्गप्रपा में तीन वर्गों के साथ उसके 33 अध्ययनों का भी निर्देश है जिनका वर्तमान आगम के साथ साम्य है। वर्तमान ग्रन्थ में केवल 3 नाम ऐसे हैं जो स्थानाङ्ग और दिग0 ग्रन्थों में एक साथ उक्त हैं। पद संख्या समवायाङ्ग, नन्दी और दिग0 ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न है। ज्ञाताधर्मकथा की तरह इसमें उपोद्घात भी है। इन सब कारणों से यह परवर्ती रचना सिद्ध होती है ।

10-प्रश्नव्याकरण

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में-

1. स्थानाङ्ग में[89] - इसमें 10 अध्ययन हैं-उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमिकप्रश्न, कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अङ्गुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

2. समवायाङ्ग में[90] - इसमें 108 प्रश्न, 108 अप्रश्न, 108 प्रश्नाप्रश्न, विद्यातिशय तथा नाग-सुपर्णो के साथ दिव्यसंवाद हैं। स्वसमय-परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येक बुद्धों के विविध अर्थों वाली भाषाओं के द्वारा कथित वचनों का, आचार्यभाषितों का, वीरमहर्षियों के सुभाषितों का, आदर्श (दर्पण), अङ्गुष्ठ, बाहु, असि, मणि, क्षौम (वस्त्र) और आदित्य (सूर्य)-भाषितों का, अबुधजनों को प्रबोधित करने वाले प्रत्यक्ष प्रतोतिकारक प्रश्नों के विविध गुण और महान अर्थवाले जिनवरप्रणीत उत्तरों का इसमें वर्णन है। अङ्गों के क्रम में यह 10वाँ अङ्ग है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 45 उद्देशनकाल, 45 समुदेशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

3. नन्दीसूत्र में[91] - इसमें 108 प्रश्न, 108 अप्रश्न, 108 प्रश्नाप्रश्न हैं। जैसे—अङ्गुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, आदर्श प्रश्न, अन्य विचित्र विद्यातिशय तथा नाग-सुपर्णो के साथ दिव्य संवाद।

श्रुतस्कन्ध-संख्या आदि का कथन समवायाङ्गवत् ही बतलाया है परन्तु यहाँ 45 अध्ययन और संख्यात् सहस्रपदसंख्या बतलाई है।

4. विधिमार्गप्रपा में[92] **—** इसमें 1 श्रुतस्कन्ध है। इसके 10 अध्यायों के क्रमश: नाम सादार, मृषावादद्वार, स्तेनितद्वार, मैथुनद्वार, परिग्रहद्वार, अहिंसाद्वार, सत्यद्वार, अस्तेनितद्वार ब्रह्मचर्यद्वार और अपरिग्रहद्वार। यहाँ कोई 5-5 अध्ययनों के दो श्रुतस्कन्ध भी बतलाते हैं ।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में-

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[93] - 'प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्'। इसमें युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेपरूप प्रश्नों के उत्तर हैं जिनमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

2. धवला में[94] - इसमें 9316000 पद हैं जिनमें आक्षेपिणी (तत्त्वनिरूपिका) विक्षेपणी, (स्वसमयस्थापिका), संवेदनी (धर्मफलनिरूपिका) और निवेदनी (वैराग्यजनिका) इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। आक्षेपिणी आदि कथाओं का स्वरूप तथा कौन किस प्रकार की कथा का अधिकारी है ? इसका भी यहाँ उल्लेख किया गया है। अन्त में प्रश्न के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दु:ख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण है।

3. जयधवला में[95] - पदसंख्या को छोड़कर शेष कथन प्राय: धवलावत् है ।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[96] - इसका विवेचन धवलावत् है।

(ग) वर्तमान रूप-

इसमें पाँच आस्रवद्वार और पाँच संवरद्वाररूप 10 अध्ययन हैं जिनमें क्रमश: हिंसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अहिंसा, सत्य, अदत्ताग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन है। उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथा की ही तरह है । इसमें प्रश्नों के व्याकरण (उत्तर) नहीं हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण

उपलब्ध आगम सर्वथा नवीन रचना है क्योंकि इसमें न तो ग्रन्थ के नामानुसार प्रश्नोत्तर शैली है और न उपलब्ध प्राचीन उल्लेखों से कोई साम्य है। वर्तमान रचना केवल विधिमार्गप्रपा के वक्तव्य से मेल रखती है। विधिमार्गप्रपा बहुत बाद की रचना है जो उपलब्ध आगम को दृष्टि में रखकर लिखी गई है अन्यथा यहाँ नन्दी को आधार होना चाहिए था। स्थानाङ्ग में जिन 10 अध्ययनों का उल्लेख है उनसे वर्तमान 10 अध्ययनों को दूर तक कोई साम्य नहीं है। नन्दी और समवायाङ्ग में जिन विद्यातिशयों का उल्लेख है वे भी नहीं हैं। इस सन्दर्भ में वृत्तिकार अभयदेव का यह कथन कि 'अनधिकारी चमत्कारी-विद्यातिशयों का प्रयोग न करें अत: उन्हें हटा दिया गया है', समुचित नहीं है क्योंकि कुछ तो अवशेष अवश्य मिलते। उपोद्घात भी इसे नूतन रचना सिद्ध करता है।

स्थानाङ्ग में 10 अध्ययन गिनाए हैं और नन्दी में 45 अध्ययन। समवायाङ्ग में अध्ययनों का उल्लेख तो नहीं है परन्तु उसके 45 उद्देशन और समुद्देशन काल बतलाए हैं जिससे इसके 45 अध्ययनों की कल्पना को जा सकती है। समवायाङ्ग के 54292वें समवाय में कहा है कि भगवान् महावीर ने एक दिन में एक आसन से बैठे हुए 54 प्रश्नों के उत्तर रूप व्याख्यान दिए। यहाँ कथित 54 संख्या चिन्त्य है। समवायाङ्ग, नन्दी और दिगम्बर ग्रन्थों में पद-संख्या भिन्न-भिन्न है। दिग0 ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इसमें आक्षेप-विक्षेप के जनक प्रश्नों के उत्तर थे तथा लौकिक एवं वैदिक शब्दों का नयानुसार शब्दार्थ-निर्णय था। स्थानाङ्ग में कथित क्षौमिक प्रश्न आदि से भी इसकी पुष्टि होती है। सम्भवत: इसके ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित अंश स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं।

11-विपाकसूत्र

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में -

1. स्थानाङ्ग में[97] - कर्मविपाक के 10 अध्ययन हैं-मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहस्रोद्दाह, आमरक और कुमारलिच्छवी ।

2. समवायाङ्ग में[98] - दुष्कृत और सुकृत कर्मों के फलों का वर्णन होने से यह दो प्रकार का है-दु:खविपाक और सुखविपाक। प्रत्येक के 10-10 अध्ययन हैं। दु:खविपाक में दुष्कृतों के नगरादि का वर्णन है तथा सुखविपाक में सुकृतों के नगरादि का वर्णन है। प्राणातिपात, असत्यवचन आदि पाप कर्मों से नरकादि गतिप्राप्तिरूप दु:खविपाक होता है। शील, संयम आदि शुभ भावों से देवादिगति-प्राप्ति (परम्परया मोक्ष-प्राप्ति) रूप सुखविपाक होता है। ये दोनों विपाक संवेग में कारण हैं। अङ्गों के क्रम में यह ग्यारहवाँ अङ्ग है। इसमें 20 अध्ययन, 20 उद्देशनकाल, 20 समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

3. नन्दीसूत्र में[99] - प्राय: समवायाङ्गवत् कथन है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध तथा संख्यात-सहस्र पद कहे हैं।

4. विधिमार्गप्रपा में[100] - इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम दु:खविपाक श्रुतस्कन्ध में 10 अध्ययन हैं—मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्नसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नन्दिवर्धन, उम्बरिदत्त, शौरिकदत्त, देवदत्ता और अन्जु। द्वितीय सुखविपाक श्रुतस्कन्ध के 10 अध्ययन हैं—सुबाहु, भद्रनन्दि, सुजात, सुवासव, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दि, महाचन्द्र और वरदत्त।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में -

1. तत्त्वार्थवार्तिक में[101]- इसमें पुण्य और पाप कर्मों के फल (विपाक) का विचार किया गया है।

2. धवला में[102] — इसमें 18400000 पद हैं जिनमें पुण्य और पाप कर्मों के विपाक (फल) का वर्णन है।

3. जयधवला में[103] - इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर शुभाशुभ कर्मों के विपाक का वर्णन है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[104] - धवला-जयधवलावत् कथन है ।

(ग) वर्तमानरूप

इसमें ज्ञाताधर्मकथावत् उपोद्घात है । विपाक का अर्थ है 'कर्मफल' । यहाँ इन्द्रभूति गौतम संसार के प्राणियों को दु:खी देखकर भगवान महावीर से उसका कारण पूछते हैं। भगवान महावीर पापरूप और पुण्यरूप कर्मों के फलों का कथन करके धर्मोपदेश देते हैं। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं **(1) दु:खविपाक**- इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें क्रमश: मुगापुत्र, उज्झितक (कामध्वजा), अभग्नसेन (चोर), शकट, बृहस्पतिदत्त (पुरोहितपुत्र), नन्दिवर्धन, उम्बरदत्त (वैद्य), शोरिक (सोरियदत्त मछलीमार), देवदत्ता और अन्जु की कथाएँ हैं। इनमें पाप कर्मों के परिणामों का कथन है। **(2) सुखविपाक**-इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें क्रमश: सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्तकुमार की कथाएँ हैं। इनमें पुण्यकर्मों के परिणामों का कथन है।

यहाँ इतना विशेष है कि दु:खविपाक में असत्यभाषी और महापरिग्रही की तथा सुखविपाक में सत्यभाषी और अल्पपरिग्रही की कथायें नहीं हैं जो चिन्त्य हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण -

दिग0 और श्वे0 दोनों के उल्लेखों से इतना तो निश्चित है कि इसमें कर्मों के दु:खविपाक और सुखविपाक का विवेचन रहा है। यद्यपि इसमें कर्मों के दु:खविपाक और सुखविपाक का ही विवेचन है परन्तु इसकी मूलरूपता चिन्त्य है। समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा के अनुसार अध्ययनों की तो सङ्गति बैठ जाती है परन्तु समवायाङ्ग में इसके दो श्रुतस्कन्धों का उल्लेख नहीं है। स्थानाङ्ग में 10 अध्ययन ही बतलाए हैं। यद्यपि वहाँ केवल कर्मविपाक शब्द का प्रयोग है, परन्तु वह सम्भवत: सम्पूर्ण विपाकसूत्र का प्रतिनिधि है अन्यथा दु:खविपाक और सुखविपाक के 10-10 अध्ययन पृथक-पृथक् गिनाए जाते । वर्तमान दु:खविपाक के अध्ययनों के साथ स्थानाङ्गोक्त 10 अध्ययनों का पूर्ण साम्य नहीं है। समवायाङ्ग के 55वें समवाय में कहा है-''भगवान् महावीर अन्तिम रात्रि में पुण्यफल-विपाक वाले 55 और पापफल विपाकवाले 55 अध्ययनों का प्रतिपादन करके सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो गए।'' इस कथन से प्रकृत ग्रन्थ-योजना सङ्गत नहीं बैठती हैं। उपोद्घात भी इसकी परवर्तिता का सूचक है।

12 - दृष्टिवाद

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में -

1. स्थानाङ्ग में - इसके 4 भेद गिनाए हैं परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग।[105] दृष्टिवाद के 10 नामों का भी उल्लेख है- दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तत्त्ववाद (तत्त्ववाद या तथ्यवाद), सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषाविचय (भाषाविजय), पूर्वगत, अनुयोगगत और सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह।[105] इसके अतिरिक्त उत्पादपूर्व की 10 वस्तु और आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व की 10 चूलावस्तु का उल्लेख है परन्तु नाम नहीं गिनाए हैं।[106] द्रव्यानुयोग के 10 प्रकार गिनाए हैं—द्रव्यानुयोग, मातृकानुयोग, एकार्थिकानुयोग, करणानुयोग, अर्पितानर्पितानुयोग, भाविताभावितानुयोग, बाह्याबाह्यानुयोग, शाश्वताशाश्वतानुयोग, तथाज्ञानानुयोग और अतथाज्ञानानुयोग।[107] अरिष्टनेमी के समय के चतुर्दशपूर्ववेत्ता मुनियों की संख्या 400 बतलाई है।[108]

2. समवायाङ्ग में[109] - दृष्टिवाद में सब भावों की प्ररूपणा की जाती है। संक्षेप से वह 5 प्रकार का है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।

(अ) परिकर्म 7 प्रकार का है-सिद्धश्रेणिका, मनुष्यश्रेणिका, पृष्टश्रेणिका, अवगाहनश्रेणिका, उपसम्पद्यश्रेणिका, विप्रजहत्श्रेणिका और च्युताच्युतश्रेणिका। (1) सिद्धश्रेणिका के 14 भेद हैं मातृकापद[110], एकार्थकपद, अर्थपद, पाठपद, आकाशपद, केतुभूत, राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत प्रतिग्रह, संसारप्रतिग्रह, नन्द्यावर्त और सिद्धबद्धा। (2) मनुष्यश्रेणिका परिकर्म के 14 भेद हैं-मातृकापद से लेकर पूर्वोक्त नन्द्यावर्त तक तथा मनुष्यबद्ध। (3-7) पृष्टश्रेणिका परिकर्म से लेकर शेष सभी परिकर्मों के 11-11 भेद हैं। मूल में इनके भेद नहीं गिनाए हैं, परन्तु नन्दी में भेदों को गिनाया गया है। सम्भवत: समवायाङ्ग के अनुसार इनके भेद मनुष्यश्रेणिका परिकर्मवत् बनेंगे, अन्तिम भेद केवल बदलता जायेगा। पूर्वोक्त सातों परिकम स्वसामयिक (जैनमतानुसारी) हैं, सात आजीविका मतानुसारी हैं, छ: परिकर्म चतुष्कनय

वालों के हैं और सात त्रैराशिक मतानुसारी हैं। इस प्रकार ये सातों परिकर्म पूर्वापर भेदों की अपेक्षा 83 (14 + 14+ 11 + 11 + 11 + 11 + 11) होते हैं।

(आ) सूत्र–ये 88 होते हैं। जैसे–ऋजुक, परिणतापरिणत, बहुभङ्गिक, विजयचर्या, अनन्तर, परम्पर, समान, सन्जूह (संयूथ), सम्भिन्न, अहाच्चय, सौवस्तिक, नन्द्यावर्त, बहुल, पृष्टापृष्ट, व्यावृत्त, एवम्भूत, द्वयावर्त, वर्तमानात्मक, समभिरूढ, सर्वतोभद्र, पणास (पण्णास) और दुष्प्रतिग्रह। ये 22 सूत्र स्वसमयसूत्रपरिपाटी में छिन्नच्छेदनयिक हैं। ये ही 22 सूत्र आजीविका सूत्र परिपाटी से अच्छिन्नच्छेदनयिक हैं। ये ही 22 सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से त्रिकनयिक हैं और ये ही 22 सूत्र स्वसमय सूत्र परिपाटी से चतुष्कनयिक हैं। इस तरह कुल मिलाकर 22 × 4= 88 भेद सूत्र के हैं।

(इ) पूर्वगत–इसके 14 प्रकार हैं–1. उत्पादपूर्व, 2. अग्रायणीयपूर्व, 3. वीर्यप्रवादपूर्व, 4. अस्तिनास्तिपूर्व, 5. ज्ञानप्रवादपूर्व, 6. सत्यप्रवादपूर्व,, 7. आत्मप्रवादपूर्व, 8. कर्मप्रवादपूर्व, 9. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, 10. विद्यानुप्रवादपूर्व, 11. अबन्ध्यपूर्व, 12. प्राणायुपूर्व, 13. क्रियाविशालपूर्व और 14. लोकबिन्दुसारपूर्व। पूर्वो की वस्तुएँ और चूलिकायें निम्न प्रकार हैं–

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परानुसार

पूर्वक्रमाङ्क	श्वे.वस्तु	दिग. वस्तु	श्वे.चूलिका	दिग.चूलिका
1	10	10	4	0
2	14	14	12	0
3	8	8	8	0
4	18	18	10	0
5	12	12	0	0
6	2	12	0	0
7	16	16	0	0
8	30	20	0	0
9	20	30	0	0
10	15	15	0	0
11	12	10	0	0
12	13	10	0	0
13	30	10	0	0
14	25	10	0	0

(ई) अनुयोग - यह दो प्रकार का है—**(क) मूलप्रथमानुयोग—**इसमें अर्हतों के पूर्वभव, देवलोक गमन, देवायु, च्यवन, जन्म, जन्माभिषेक, राज्यवरश्री, शिविका, प्रव्रज्या, तप, भक्त (आहार) केवलज्ञानोत्पत्ति, वर्ण, तीर्थप्रवर्तन, संहनन, संस्थान शरीरउच्चता, आयु, शिष्यगण, गणधर, आर्या, प्रवर्तनी, चतुर्विध सङ्घ–परिमाण, केवलिजिन, मन:पर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, सम्यक्श्रुतवादी, अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होने वाले साधू, सिद्ध, पादपोपगत, जो जहाँ जितने भक्तों का छेदनकर उत्तम मुनिवर अन्तकृत हुए, तमोरज से विप्रमुक्त हुए, अनुत्तरसिद्धिपथ को प्राप्त हुए, इन महापुरुषों का तथा इसी प्रकार के अन्य भाव मूल–प्रथमानुयोग में कहे गए हैं। **(ख) गण्डिकानुयोग**–यह अनेक प्रकार का है। जैसे–कुलकरगण्डिका, तीर्थङ्करगण्डिका, गणधरगण्डिका, चक्रवर्तीगण्डिका, दशारगण्डिका, बलदेवगण्डिका, वासुदेवगण्डिका, हरिवंशगण्डिका, भद्रबाहुगण्डिका, तप:कर्मगण्डिका, चित्रान्तरगण्डिका, उत्सपिणीगण्डिका, अवसर्पिणीगण्डिका, देवमनुष्यतिर्यञ्च और नरक गति में गमन, विविध योनियों में परिवर्तनानुयोग इत्यादि गण्डिकाएँ इस गण्डिकानुयोग में कही जाती हैं।

(उ) चूलिका– प्रथम 4 पूर्वो की ही श्वे0 में चूलिकाएँ मानी गई हैं, शेष की नहीं । दिग0 में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। अङ्गों के क्रम में दृष्टिवाद 12वाँ अङ्ग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, चौदह पूर्व, संख्यात वस्तु, संख्यात चूलावस्तु, संख्यात प्राभृत, प्राभूत–प्राभृत, प्राभृतिक, प्राभृत–प्राभृतिक हैं। पद संख्या संख्यात लाख है। शेष वचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है ।।

3. नन्दीसूत्र में[112] – दृष्टिवाद में सर्वभावप्ररूपणा है। नन्दी में प्राय: समवायाङ्ग की तरह ही दृष्टिवाद की समग्र विषयवस्तु

बतलाई गई है। कहीं-कहीं क्रम और नाम में यत्किचित् परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पृष्टश्रेणिका आदि परिकर्मों के भेद गिनाए हैं जबकि समवायाङ्ग में नहीं हैं। दृष्टिवाद की पदसंख्या यहाँ संख्यात सहस्र बतलाई है।

4. विधिमार्गप्रपा में[113] - दृष्टिवाद को उच्छिन्न बतलाकर यहाँ कुछ भी कथन नहीं किया है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में-

1. तत्त्वार्थवार्त्तिक में[114] - दृष्टिवाद में 363 जैनेतर दृष्टियों (कुवादियों) का निरूपण करके जैनदृष्टि से उनका खण्डन किया गया है । कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियों के 180 भेद हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि अक्रियावादियों के 84 भेद हैं। साकल्य, वाल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानवादियों के 67 भेद हैं। वशिष्ठ, पराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रौमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थुण आदि वैनयिकों के 32 भेद हैं। कुल मिलाकर 363 मतवाद हैं।

दृष्टिवाद के 5 भेद हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । इन 5 भेदों में से केवल पूर्वगत के उत्पादपूर्व आदि 14 भेदों का तत्त्वार्थवातिक में विवेचन है, शेष का नहीं, जो संक्षेप से निम्न प्रकार है -

(1) उत्पादपर्व- काल, पुद्गल, जीव आदि द्रव्यों का जब जहाँ और जिस पर्याय से उत्पाद होता है, उसका वर्णन है।

(2) अग्रायणी पूर्व- क्रियावादियों की प्रक्रिया और अङ्गादि के स्व-समयविषय का वर्णन है।

(3) वीर्यप्रवाद पूर्व - छद्मस्थ और केवली की शक्ति, सुरेन्द्र और दैत्येन्द्र की ऋद्धियाँ, नरेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव की सामर्थ्य तथा द्रव्यों के लक्षण हैं।

(4) अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - पाँच अस्तिकायों का अर्थ तथा नयों का अनेक पर्यायों के द्वारा 'अस्ति-नास्ति' का विचार। अथवा छहों द्रव्यों का भावाभाव-विधि से, स्व-पर पर्याय से, अर्पित-अनर्पितविधि से विवेचन है।

(5) ज्ञानप्रवाद पूर्व- पाँचों ज्ञानों तथा इन्द्रियों का विवेचन है।

(6) सत्यप्रवाद पूर्व-वचनगुप्ति, वचनसंस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषायें, दस प्रकार के सत्य तथा वक्ता के प्रकारों का वर्णन है।

(7) आत्मप्रवाद पूर्व- आत्मा के अस्तित्त्व, नास्तित्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का तथा छः प्रकार के जीवों के भेदों का सयुक्तिक विवेचन है।

(8) कर्मप्रवाद पूर्व- कर्मों की बन्ध, उदय, उपशम आदि दशाओं का तथा उनकी स्थिति आदि का वर्णन है।

(9) प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व- व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्पोपसर्ग, आचार, प्रतिमा आदि का तथा मुनित्व में कारण, द्रव्यों के त्याग, आदि का वर्णन है।

(10) विद्यानुवाद पूर्व- समस्त विद्याएँ (अङ्गुष्ठप्रसेना आदि 700 अल्पविद्याएँ और महारोहिणी आदि 500 महाविद्याएँ), अन्तरिक्ष आदि आठ महा निमित्त, उनका विषय, लोक (रज्जुराशि विधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा), समुद्घात आदि का विवेचन है।

(11) कल्याणनामधेय पूर्व - रवि, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का गमन, शकुन व्यवहार, अर्हत्, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि के गर्भावतरण आदि महाकल्याणकों का वर्णन है।

(12) प्राणवाय पूर्व - कायचिकित्सा, अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जाङ्गुलिप्रक्रम (इन्द्रजाल), प्राणापान-विभाग का वर्णन है।

(13) क्रियाविशाल पूर्व - लेख, 72 कलायें, 64 स्त्रियों के गुण, शिल्प, काव्य गुण, दोष, क्रिया, छन्दोविचितिक्रिया और क्रियाफलभोक्ता का विवेचन है।

(14) लोकबिन्दुसार पूर्व-आठ व्यवहार, चार बीज, परिकर्म, राशि (गणित) तथा समस्त श्रुतसम्पत्ति का वर्णन हैं।

2. धवला में[115] — अनेक दृष्टियों का वर्णन होने से 'दृष्टिवाद' यह गुण नाम है। अक्षर, पद-सङ्घात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वार की अपेक्षा यह संख्यात संख्या प्रमाण है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त संख्या प्रमाण है। इसमें तदुभय-वक्तव्यता है। पूर्वोक्त 363 मतों का वर्णन तथा उनका निराकरण है।

दृष्टिवाद के 5 अधिकार हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

(क) परिकर्म-परिकर्म के 5 भेद हैं-चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति । (1)

चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई का वर्णन है। (2) सूर्य प्रज्ञप्ति में सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन, किरण और प्रकाश का वर्णन है। (3) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि के मनुष्यों, तिर्यञ्चों, पर्वत, द्रह, नदी, बेदिका, वर्ष, आवास और अकृत्रिम जिनालयों का वर्णन है। (4) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में उद्धारपल्य से द्वीप और सागर के प्रमाण का द्वीप-सागरान्तर्गत अन्य पदार्थों का वर्णन है। (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी अजीवद्रव्य (पुद्गल), अरूपी अजीवद्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश और काल), भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीवों का वर्णन है। इनके पदों का पृथक्-पृथक् पदप्रमाण भी बताया गया है।

(ख) सूत्र-इसमें 88 लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, सर्वगत ही है, अणुप्रमाण ही है, नास्तिस्वरूप ही है, अस्तिस्वरूप ही है, पृथिवी आदि पाँच भूतों के समुदायरूप से उत्पन्न होता है, चेतना-रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से आत्मा का [पूर्वपक्ष के रूप में] वर्णन है। त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है। 'सूत्र के 88 अधिकारों में से केवल चार अधिकारों का अर्थनिर्देश मिलता है-अबन्धक, त्रैराशिकवाद, नियतिवाद और स्वसमय।[116]

(ग) प्रथमानुयोग—इसमें 5 हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन किया गया है। जिनवंश और राजवंश से सम्बन्धित 12 पुराणों का वर्णन है । जैसे-अर्हन्तों (तीर्थङ्करों), चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों (नारायण-प्रतिनारायणों), चारणों, प्रज्ञाश्रमणों, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश, वादियवंश और नाथवंश।

(घ) पूर्वगत- 95 करोड़ 50 लाख और 5 पदों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन है। उत्पाद पूर्व आदि 14 पूर्वों की विषयवस्तु का वर्णन प्राय: तत्त्वार्थवार्तिक से मिलता है परन्तु यहाँ विस्तार से कथन है तथा पदादि की संख्या का भी उल्लेख है।।

(ङ) चूलिका-जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका के 5 भेद हैं। (1) **जलगता** में जलगमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या आदि का वर्णन है। (2) **स्थलगता** में भूमिगमन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या आदि का वर्णन है। वास्तुविद्या और भूमिसम्बन्धी शुभाशुभ कारणों का भी वर्णन है। (3) **मायागता** में इन्द्रजाल आदि का वर्णन है। (4) **रूपगता** में सिंह, घोड़ा, हरिण आदि के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या का वर्णन है। चित्रकर्म, काष्ठ, लेप्यकर्म आदि के लक्षणों का भी वर्णन है। (5) **आकाशगता** में आकाशगमन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन है। सभी चूलिकाओं का पद-प्रमाण $20989200 \times 5 = 104946000$ है ।

3. जयधवला में[117] - दृष्टिवाद नाम के 12वें अङ्गप्रविष्ट में 5 अर्थाधिकार हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। **परिकर्म** के 5 अर्थाधिकार हैं-चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। **सूत्र** में 88 अर्थाधिकार हैं परन्तु उनके नाम ज्ञात नहीं हैं क्योंकि वर्तमान में उनके विशिष्ट उपदेश का अभाव है।[118] **प्रथमानुयोग** में 24 अर्थाधिकार हैं क्योंकि 24 तीर्थङ्करों के पुराणों में सभी पुराणों का अन्तर्भाव हो जाता है।[119] **चूलिका** में 5 अर्थाधिकार हैं-जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता[120]। **पूर्वगत** के 14 अर्थाधिकार हैं-उत्पादपूर्व आदि धवलावत्। प्रत्येक पूर्व के क्रमश: 10, 14, 8, 18, 12, 12, 16, 20, 30, 15, 10, 10, 10, 10 वस्तुएँ (महाधिकार) हैं। प्रत्येक वस्तु में 20-20 प्राभृत (अवान्तर अधिकार) हैं और प्रत्येक प्राभृत में 24-24 अनुयोगद्वार हैं। यह भी लिखा है कि 14 विद्यास्थानों (14 पूर्वो) के विषय का प्ररूपण जानकर कर लेना चाहिए।[121] पृष्ठ 128-136 पर इनके विषय का प्ररूपण किया गया है जो प्राय: धवला से मिलता है।

4. अङ्गप्रज्ञप्ति में[122] — इसमें 363 मिथ्यावादियों की दृष्टियों का निराकरण होने से इसे दृष्टिवाद कहा गया है। पदों की संख्या 1086856005 है। दृष्टिवाद के 5 प्रकार हैं-परिकर्म, सूत्र, पूर्व, प्रथमानुयोग और चूलिका। यद्यपि यहाँ पर पूर्व को प्रथमानुयोग के पहले लिखा है परन्तु विषय-विवेचन करते समय पूर्वो के विषय का विवेचन प्रथमानुयोग के बाद किया है। इसमें सूत्र के 88 लाख पद कहे हैं तथा इसे मिथ्यादृष्टियों के मतों का विवेचक कहा है। कालवाद, ईश्वरवाद, नियतिवाद आदि को नयवाद कहा है। इसका आधार धवला और जयधवला है।

(ग) वर्तमान रूप

वर्तमान में यह आगम अनुपलब्ध है। दिगम्बरों के अनुसार द्वितीय अग्रायणीपूर्व के चयनलब्धि नामक

अधिकार के चतुर्थ पाहुड नामक कर्म-प्रकृति के आधार पर षट्खण्डागम की तथा पञ्चम ज्ञानप्रवादपूर्व के 10वें वस्तु-अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्जदोसपाहुड से कषायपाहुड की रचना हुई हैं जिन पर क्रमश: धवला और जयधवला टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण -

वर्तमान में इसके अनुपलब्ध होने से यद्यपि इसकी तुलना करना सम्भव नहीं है फिर भी प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इसमें स्वसमय और परसमय की सभी प्रकार की प्ररूपणायें थीं। ग्रन्थ बहुत विशाल था तथा 14 पूर्वों के कारण इस ग्रन्थ का बहुत महत्त्व था। पूर्ववेत्ताओं के क्रमश: ह्रास होने से यह ग्रन्थ लुप्त हो गया। उभय परम्पराओं में इसके क्रमश: क्षीण होने की परम्परा के उल्लेख उपलब्ध हैं। स्थानाङ्ग को छोड़कर उभय-परम्पराओं में इसके 5 प्रमुख भेद बतलाए गए हैं। दिगम्बर परम्परा में तृतीय स्थान प्रथमानुयोग का है और चतुर्थ स्थान पूर्वगत का है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तृतीय स्थान पूर्वगत का है और चतुर्थ स्थान अनुयोग का। दिग0 अङ्गप्रज्ञप्ति की कारिका में यद्यपि 'पूर्व' का उल्लेख श्वे0 की तरह अनुयोग के पहले किया है परन्तु विवेचन बाद में ही किया है। स्थानाङ्ग में चूलिका को छोड़कर 4 भेद गिनाए हैं। परिकर्म के भेदों की संख्या तथा विषयविवेचन उभयपरम्पराओं में भिन्न-भिन्न है। सूत्र के 88 भेद या अधिकार दोनों परम्पराओं ने माने हैं। परन्तु धवला में केवल चार भेदों को गिनाया है और शेष को अज्ञात कहा है। समवायाङ्ग और नन्दी में इनके 88 भेदों को गिनाया गया है। समवायाङ्ग और नन्दी में अनुयोग के दो भेद किए हैं परन्तु धवलादि में इसे प्रथमानुयोग कहा है और उसके दो भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है। पूर्वों की संख्या दोनों ने 14 स्वीकार की है परन्तु श्वे0 ने 'कल्याणप्रवाद' और 'प्राणावायप्रवाद' पूर्व को क्रमश: 'अबन्ध्य' और 'प्राणायु:' कहा है। चूलिका के 5 भेद दिगम्बरों ने किये हैं जबकि ऐसा समवायाङ्ग आदि में नहीं है । समवायाङ्ग और नन्दी में प्रथम चार पूर्वो की ही चूलिकायें मानी गई हैं। स्थानाङ्ग में दृष्टिवाद के 10 नामों का उल्लेख है तथा पूर्वों के ज्ञाताओं का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु दृष्टिवाद के 5 भेदों का उल्लेख नहीं मिलता है। जयधवला में पूर्वों के 14 भेदों का कथन करके लिखा है कि इन 14 विद्यास्थानों की विषयप्ररूपण जानकर कर लेना चाहिए। तत्त्वार्थवार्तिक में दृष्टिवाद के 5 भेद तो गिनाए हैं परन्तु विवेचन केवल पूर्वों का ही किया है। विधिमार्गप्रपा में इसे उच्छिन्न कहकर इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा है।

उपसंहार-

श्वेताम्बर परम्परानुसार 11 अङ्ग-ग्रन्थों के उपलब्ध संस्करण वीर नि0 सं0 980 में बलभी में हुई देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में अन्तिमरूप से लिपिबद्ध किए गए थे। श्रुतपरम्परा से प्राप्त ये ग्रन्थ अपने मूलरूप में यद्यपि पूर्ण सुरक्षित नहीं रह गए थे परन्तु इन्हें सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जिसे जो कुछ याद था उसका सङ्कलन इस वाचना में किया गया था। स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और नन्दी में इन अङ्ग ग्रन्थों की जो विषय-वस्तु प्रतिपादित की गयी है उसका उपलब्ध सभी अङ्ग ग्रन्थों के साथ पूर्ण मेल नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि बलभीवाचना के बाद भी कुछ ग्रन्थ मूल रूप से सुरक्षित नहीं रह सके और जो सुरक्षित रहे भी उनमें भी कई संशोधन और परिवर्द्धन हो गए। दृष्टिवाद का सङ्कलन क्यों नहीं किया गया जबकि उसकी विस्तृत विषय-वस्तु समवायाङ्ग और नन्दी में उपलब्ध है। स्थानाङ्ग में भी दृष्टिवाद के कुछ सङ्केत मिलते हैं। समवायाङ्ग और नन्दी में कहीं भी उसके उच्छिन्न होने का सङ्केत नहीं है अपितु सभी अङ्गों को हिन्दुओं के वेदों की तरह नित्य बतलाया है। विधिमार्गप्रपा जो 13-14 वीं शताब्दी की रचना है उसमें अवश्य दृष्टिवाद को व्युच्छिन्न बतलाकर उसकी विषयवस्तु की चर्चा नहीं की गई है। विधिमार्गप्रपा के लेखक के समक्ष वर्तमान आगम उपलब्ध रहे हैं जिससे उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु का उपलब्ध आगमों से प्राय: मेल बैठ जाता है। यद्यपि वह नन्दी पर आधारित है परन्तु उसमें पूर्णरूप से नन्दी का आश्रय नहीं लिया गया है। समवायाङ्ग के 100 समवायों और श्रुतावतार के सन्दर्भ में विधिमार्गप्रपा एकदम चुप है, जबकि स्थानाङ्ग के 10 स्थानों का स्पष्ट उल्लेख करता है। समवायाङ्ग और नन्दी में इन दोनों बातों का स्पष्ट उल्लेख है। इससे समवायाङ्ग की विषयवस्तु विधिमार्गप्रपाकार के समक्ष थी या नहीं, यह चिन्त्य है।

दिगम्बर परम्परानुसार वीर नि0 सं0 683 के बाद श्रुत-परम्परा का उच्छेद हो गया परन्तु दृष्टिवाद के अंशांश के ज्ञाताओं के द्वारा रचित षट्खण्डागम और कषायपाहुड ये दो ग्रन्थ लिखे गये। पश्चात् शक सं0 700 में उन पर क्रमश: धवला और जयधवला टीकायें लिखी गयीं। इन ग्रन्थों में तथा इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिक में द्वादश अङ्गों की जो विषयवस्तु मिलती है, उससे उपलब्ध आगमों का पूर्ण मेल नहीं है। कई स्थलों पर तो श्वेताम्बर अङ्गों में बतलाई गई

विषयवस्तु से भी पर्याप्त अन्तर है। पदसंख्या आदि में सर्वत्र साम्य नहीं है। दृष्टिवाद की विषयवस्तु बतलाते समय जयधवला में स्पष्ट लिखा है कि 'सूत्र' के 88 भेद ज्ञात नहीं हैं क्योंकि इनका विशिष्ट उपदेश नहीं पाया जाता है।[123] धवला में मात्र 4 भेदों का कथन किया गया है।[124] इससे ज्ञात होता है कि उनके पास शेष अङ्गज्ञान की परम्परा कुछ न कुछ अवश्य रही है अन्यथा वे 'सूत्र के 88 भेदों के विशिष्ट उपदेश नहीं पाये जाते' ऐसा नहीं लिखते। समवायाङ्ग और नन्दी में इसके जो 88 भेद गिनाए हैं वे भिन्न प्रकार के हैं।

ग्यारह अङ्ग ग्रन्थों का दृष्टिवाद से पृथक् उल्लेख दोनों परम्पराओं में प्राप्त होता है। दोनों ने दृष्टिवाद में स्वसमय और परसमय-सम्बन्धी समस्त विषय-प्ररूपणा मानी है। ग्यारह अङ्गों को दिगम्बरों ने स्वसमय-प्ररूपक कहा है।[125] केवल सूत्रकृताङ्ग को परसमय का भी प्ररूपक बतलाया है। श्वेताम्बरों ने सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और व्याख्याप्रज्ञप्ति को भी समान रूप से स्वसमय और परसमय का प्ररूपक स्वीकार किया है। जयधवला में उक्त ज्ञाताधर्म की 19 कथायें सम्भवत: उसके 19 अध्ययनों की बोधक हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण कथन है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में सूत्रकृताङ्ग के 23 अध्ययनों के नाम आए हुए हैं जो समवायाङ्गोक्त अध्ययनों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। उपलब्ध 6 से 11 तक के अङ्गों में कथा की प्रधानता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम, अग्निभूति और वायुभूति के नाम आना और सुधर्मा का नाम न होना चिन्त्य है। इसी प्रकार प्रश्नव्याकरण में जम्बू स्वामी का नाम तो है परन्तु सुधर्मा का नाम नहीं है। प्रश्नव्याकरण की मङ्गलयुक्त नवीन शैली है तथा 6 से 11 तक के अङ्गों की उत्थानिका एक जैसी अन्यपुरुष-प्रधान है। इससे इनकी रचना परवर्ती काल में हुई है यह निर्विवाद सत्य है । यह सम्भव है कि इनमें कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित हों। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की जो विषयवस्तु दिग0 धवला आदि में मिलती है और जो वर्तमान ग्रन्थों में उपलब्ध है उसमें बहुत अन्तर है। सम्भव है ये भी परवर्ती रचनाएँ हों। इनमें ऐसे भी बहुत से लौकिक विषय आदि आ गये हैं जिनका इनमें समावेश करना अपेक्षित नहीं था। वर्तमान प्रश्नव्याकरण प्रश्नों के उत्तर के रूप में नहीं है। विधिमार्गप्रपा जो बहुत बाद की रचना है उसमें स्थानाङ्ग के 10 स्थानों का तो उल्लेख है परन्तु समवायाङ्ग के 100 समवायों और श्रुतावतार की चर्चा तक नहीं है। नन्दी आदि अङ्ग बाह्य-ग्रन्थों का उल्लेख होने से भी समवायाङ्ग बहुत बाद की रचना सिद्ध होती है। अन्तकृद्दशा में जो वर्णन मिलता है वह स्थानाङ्ग आदि के कथन से मेल नहीं रखता है। यही स्थिति ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा आदि की है।

इन सभी कारणों से ज्ञात होता है कि उपलब्ध आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध अधिक प्राचीन हैं। शेष में परवर्ती आचार्यों के कथनों का अधिक समावेश है। इतना होने पर भी उपलब्ध आगम हमारे लिए बहुत उपयोगी हैं। दिगम्बरों ने इनको सुरक्षित करने का प्रयत्न न करके बहुत बड़ी भूल की है। सभी ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् समालोचन करके इनकी समयसीमा तथा विषय-वस्तु की मूलरूपता का विस्तार से निर्धारण अपेक्षित है। जो उभय परम्परा को मान्य हो।

सन्दर्भ सूची -

1. भगवान् महावीर के 11 गणधर थे जिन्होंने उनके अर्थरूप उपदेशों को 12 अङ्ग ग्रन्थों के रूप में ग्रथित किया था।
2. आचार्य धरसेन (ई0 1-2 शताब्दी, वीर नि0 7वीं शताब्दी) के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की । षट्खण्डागम के प्रारम्भ के 177 सूत्र आचार्य पुष्पदन्त ने और शेष आचार्य भूतबलि ने लिखे। इस ग्रन्थ का आधार द्वितीय अग्रायणी पूर्व के चयनलब्धि नामक अधिकार का चतुर्थ पाहुड 'कर्मप्रकृति' है। कषायपाहुड की रचना धरसेनाचार्य के समकालीन गुणधराचार्य ने ज्ञानप्रवाद नामक 5वें पूर्व की 10वें वस्तु के तीसरे 'पेज्जदोसपाहुड' के आधार पर की। इन दोनों पर क्रमश: 'घवला' और 'जयधवला' नामक टीकाएँ वीरसेनाचार्य ने लिखी हैं । चार विभक्तियों के बाद 'जयधवला' टीका की पूर्णता वीरसेन के शिष्य जिनसेन ने (शक सं0 759) की है।
3. विवाहपन्नतीए णं भगवतीए चउरासीइं पयसहस्सा पदग्गेणं पण्णत्ता । समवायाङ्ग 84-395
4. स्थानाङ्ग 10-110; समवायाङ्गसूत्र 511, 57, 300; नन्दी पृ0 287-288; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 1.20; तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20, पृ0 72; धवला 1.1.2, पृ0 100; जयधवला गाथा 1, पृ0 72, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 356
5. स्थानाङ्ग 9.2
6. स्थानाङ्ग 10.110, 115
7. समवायाङ्गसूत्र 512-514
8. तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा आयारे सूयगडे ठाणे । समवायाङ्ग, समवाय 57 सूत्र 300
9. समवायाङ्ग 9.53

10. समवायाङ्ग 25.168
11. नन्दीसूत्र, सूत्र 46
12. विधिमार्गप्रपा पृ. 50-51
13. तत्त्वार्थवार्तिक 1.20, पृ0 72-73
14. धवला 1.1.2 पृ0 110
15. जयधवला गाथा, 1, पृ0 111
16. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 15, 19 पृ0 260
17. नवण्हं बंभचेराणं एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता। समवायाङ्ग 51.280
18. सीलङ्कापरियमारण पुण एयं अट्ठमं विमुक्खज्झयणं सत्तयं उवहाणसुयं नवमं ति। विधिमार्गप्रपा, पृ0 51
19. आचाराङ्ग नियुक्ति गाथा 290
20. समवायाङ्गसूत्र 515-518
21. वही, 23.155; 57.300
22. नन्दीसूत्र 47
23. विधिमार्गप्रपा पृ0 51-52
24. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 73
25. धवला 1.1.2, पृ0 73
26. जयधवला गाथा 1, पृ0 112
27. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 20-22, पृ0 261
28. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका, पृ0 56-58
29. 1. समय (त्रिकाल स्वरूप), 2. वेदालिंग-(त्रिवेदों का स्वरूप), 3. उपसर्ग (4 प्रकार के उपसर्ग), 4. स्त्रीपरिणाम (स्त्रियों का स्वभाव), 5. नरकान्तर (नरकादि चतुर्गति), 6. वीरस्तुति (24 तीर्थङ्करों का गुण-कीर्तन), 7. कुशीलपरिभाषा (कुशीलादि 5 पार्श्वस्थों का स्वरूप वर्णन), 8. वीर्य-(जीवों के वीर्य के तारतम्य का वर्णन), 9. धर्म (धर्माधर्म का स्वरूप), 10. अग्र (श्रुताग्रपद वर्णन), 11. मार्ग (मोक्ष तथा स्वर्ग का स्वरूप एवं कारण), 12. समवसरण (24 तीर्थङ्करों के समवसरण), 13. त्रिकालग्रन्थ (त्रिकालगोचर अशेषपरिग्रह का अशुभत्व), 14. आत्मा-(जीवस्वरूप), 15. तदित्थगाथा (वादमार्ग प्ररूपण), 16. पुण्डरीक-(स्त्रियों के स्वर्गादि स्थानों के स्वरूप का वर्णन), 17. क्रियास्थान-(13 क्रियास्थानों का वर्णन), 18. आहारकपरिणाम-(सभी धान्यों के रस, वीर्य विपाक तथा शरीरगत सप्तधातुस्वरूप वर्णन), 19. प्रत्याख्यान-(सर्वद्रव्य विषयों से निवृत्ति), 20, अनगारगुणकीर्तन-(मुनियों के गुण वर्णन), 21. श्रुत-(श्रुतमाहात्म्य), 22. अर्थ-(श्रुतफल वर्णन) और 23. नालंदा-(ज्योतिष्कदेवों के पटलों का वर्णन)।-प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका, पृ0 56-58।
30. जैनसाहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ0 644
31. जयधवला पृ0 120
32. समवायाङ्गसूत्र 519-521
33. नन्दीसूत्र 48
34. विधिमार्गप्रपा, पृ0 52
35. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 73
36. धवला 1.1.2, पृ0 101
37. जयधवला गाथा 1, पृ0 113.
38. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 23-28, पृ. 261-262.
39. समवायाङ्गसूत्र 522-525.
40. नन्दीसूत्र 49.
41. विधिमार्गप्रपा, पृ0 52.
42. तत्त्वार्थ. 1.20, पृ0 73,
43. धवला0 1.1.2, पृ0 102.
44. जयधवला गाथा 1, पृ0 113.
45. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 29-35, पृ0 263-264.
46. समवा0 सूत्र 526-529; 84-395
47. समवा0 सूत्र 84-395
48. नन्दीसूत्र 50
49. विधिमार्गप्रपा, पृ0 53-54
50. एकतालीस शतकों का 138 शतकों में विभाजन-33 से 39 तक के शतक 12-12 शतकों के समवाय होने से (7 ×12 = 84) 84 शतक, 40वाँ शतक 21 शतकों की समवाय है, शेष 1 से 32 तक तथा 41वाँ प्रत्येक 1-1 शतक होने से 33 शतक हैं। (कुल 84+21 + 33 =138)
51. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 73
52. धवला 1.1.2, पृ0 102.
53. जयधवला गाथा 1, पृ0 114.
54. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 36-38, पृ0 264.
55. तत्त्वार्थ0 4.26.
56. जैन साहित्य इ0 पूर्वपीठिका, पृ0 657
57. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 356.
58. समवा0 सूत्र 530-534
59. नन्दीसूत्र 51
60. विधिमार्गप्रपा पृ0 55
61. तत्त्वार्थ0 1.20 पृ0 73
62. धवला 1.1.2 पृ0 102-103
63. जयघवला गाथा 1 पृ0 114-115
64. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 39-44 पृ0 265-266
65. स्थानाङ्गसूत्र 10.112
66. समवायाङ्गसूत्र 535-538
67. नन्दीसूत्र 52
68. विधिमार्गप्रपा पृ0 56
69. तत्त्वार्थ0 1.20 10 73
70. धवला 1.1.1 पृ0 103
71. जयधवला गाथा 1 पृ0 118
72. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 45-47 पृ0 266
73. स्थानाङ्गसूत्र 10.113

74. समवायाङ्गसूत्र 539-542
75. नन्दीसूत्र 53
76. विधिमार्गप्रपा, पृ0 56
77. तत्त्वार्थ0 1.20 पृ. 73
78. धवला 1.1.2, पृ0 103-104
79. जयघवला गाथा, 1, पृ. 118
80. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 48-51, पृ0 267
81. स्थानाङ्गसूत्र 10.114
82. समवा0 सूत्र 542-545
83. नन्दीसूत्र 54
84. विधिमार्गप्रपा, पृ0 56.
85. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 73.
86. धवला 1.1.2, पृ0 104-105
87. जयधवला गाथा 1, पृ0 119
88. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 52-55, पृ0 267-268
89. स्थानाङ्गसूत्र 10.116
90. समवा0 सूत्र 546-549
91. नन्दीसूत्र 55
92. विधिमार्गप्रपा, पृ0 56
93. तत्त्वार्थ.1.20, पृ0 73-74
94. धवला 1.1.2, पृ0 105-108
95. जयधवला गाथा 1, पृ0 119
96. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 56-67, पृ0 268-270
97. स्थानाङ्गसूत्र 10.111
98. समवायाङ्गसूत्र 550-556
99. नन्दीसूत्र 56
100. विधिमार्गप्रपा पृ0 56
101. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 74
102. धवला 1.1.2, पृ0 108
103. जयधवला गाथा 1, पृ0 120
104. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 68-69, पृ0 270-271
105. स्थानाङ्ग सूत्र 4.131
106. वही, 10.92
107. वही 10.67-68
108. वही, 10.47
109. वही, 4.647
110. समवा0 सूत्र 557-570
111. समवायाङ्ग के 46वें समवाय में दृष्टिवाद के 46 मातृकापदों का उल्लेख है परन्तु उनके नाम नहीं गिनाए हैं।
112. नन्दी सूत्र 57
113. विधिमार्गप्रपा पृ0 56
114. तत्त्वार्थ0 1.20, पृ0 74
115. धवला 1.1.2, पृ0 108-123
116. धवला 1.1.2, पृ0 113
117. जयधवला, गाथा 1, पृ0 23, 120-138
118. वही, पृ0 137
119. विस्तार के लिए देखें, वही, पृ0 126
120. वही पृ0 120-128
121. एदेसिं चोद्दसविज्जाट्ठाणाणं विसयपरूवणा जाणिय कायव्वा।- जयधवला, गाथा 1, पृ0 23
122. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा 71-76 तथा आगे भी, पृ0 271-304
123. सुत्ते अट्ठासीदि अत्थाहियारा। ण तेसिं णामाणि जाणिज्जंति, संपहि विसिट्ठुवएसाभावादो। -जयधवला गाथा 1, पृ0 137
124. उत्तं च-
अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियारणमत्थणिद्देसो।
पढमो अबन्धयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो।।76।।
तदियो य णियइ-पक्खे हवइ चउत्थी ससमयम्मि। -धवला 1.1.2 पृ0 113
125. जेणेवं तेणेक्कारसण्हमंगाणं वत्तव्वं ससमओ। -जयधवला गाथा 1, पृ0 120

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् की दृष्टि में जैनदर्शन : एक समीक्षा

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक और गहन रहा है। आपने अनुभव किया कि विश्व औद्योगिक और तकनीकी उन्नति करके भी असुरक्षित और असहाय है। वैज्ञानिक सफलताओं के कारण प्राचीन मूल्यों का ह्रास हो गया है तथा व्यक्ति आध्यात्मिक खोखलेपन का शिकार हो गया है।[1] संसार के प्राणियों के इस वैचारिक खोखलेपन को दूर करने के लिए और परम सत्य का उद्घाटन करने के लिए राधाकृष्णन ने पूर्व और पश्चिम दोनों दार्शनिक विचारधाराओं का सम्यक् समन्वय किया। यह आपके उदार और सहिष्णु चिन्तन का परिणाम है। इनका चिन्तन कोरा चिन्तन नहीं है अपितु जीवन में उतारने का प्रयत्न भी है। इसीलिए इनके चिन्तन को 'धार्मिक अध्यात्मवाद' कहा जाता है। इन्होंने वेदान्त के निष्कर्षों को धार्मिक अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत करके जीवन और दर्शन को जोड़ने का प्रयत्न किया है। आपकी दृष्टि में धर्म और मानवतावाद में कोई विरोध नहीं है।[2] मानवीय जीवन के जिस रूप को

मानवतावादी प्रस्तुत करता है धर्म उसी को पूर्णता प्रदान करता है।

आपकी दृष्टि यद्यपि अद्वैत वेदान्तमूलक है परन्तु आपके वेदान्त में और शङ्कराचार्य के वेदान्त में स्पष्ट अन्तर है।[3] डॉ. राधाकृष्णन् ने सर्जनात्मक व्यक्तित्व के आधार पर सविशेष और निर्विशेष की जो व्याख्या की है उससे विश्व के मिथ्यात्व का बोध नहीं होता। जैसे किसी कलाकार की कृतियाँ सर्जनात्मक क्षमता से सम्बद्ध होने के कारण यथार्थ हैं, मिथ्या नहीं, उसी प्रकार ईश्वर की विश्वात्मक सृष्टि यथार्थ है, शङ्कराचार्य की तरह आभासमात्र या मिथ्या नहीं है।

इस विश्वरचना के सन्दर्भ में निर्विशेष परम सत् सविशेष हो जाता है।[4] अत: निर्विशेष से सम्बद्ध होने के कारण न तो यह विश्व मिथ्या है और न ईश्वर का आभासमात्र। डॉ. राधाकृष्णन् की इस दृष्टि से जब हम उनके विचारों की तुलना जैनदर्शन के साथ करते हैं तो हम देखते हैं कि आपने अपने भारतीय दर्शन में सर्वत्र जैनदर्शन की समीक्षा अद्वैत दृष्टि से ही की है। जैसे-

(1) जैनदर्शन के विवेचनोपरान्त आपने उपसंहाररूप में कहा है-एक बात बिल्कुल स्पष्ट है, आधे रास्ते में ही ठहर जाने के कारण जैनमत एक अनेकान्तवादी यथार्थता का प्रतिपादन कर सका है।[5]

(2) अत्यन्त सरल जैनधर्म में रियायत अथवा क्षमा को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इसीलिए जनसाधारण के मन को आकृष्ट न कर सका और इसीलिए अस्थायी समझौते ही किए गए।[6]

(3) केवलज्ञान अथवा मुक्तात्माओं के ज्ञान के ऊपर ध्यान देकर विचार करने से हमें प्रतीत होगा कि जैन सिद्धान्त उपलक्षण या सङ्केत द्वारा अन्तर्दृष्टि की विधि एवं निरपेक्ष परमसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है।[7]

(4) प्रत्येक दृष्टिकोण जो हमें ज्ञान प्राप्त कराता है सदा ही आंशिक होता है और उस तक हम पृथक्करण की प्रक्रियाओं द्वारा पहुँचते हैं।[8] जैन तर्कशास्त्र हमें अद्वैतपरक आदर्शवाद की ओर ले जाता है और जिस हद तक जैन इससे बचने का प्रयास करते हैं उस हद तक वे अपने निजी तर्क के सच्चे अनुयायी नहीं हैं।[9] सापेक्षता का सिद्धान्त तार्किक दृष्टिकोण से, बिना एक निरपेक्ष की कल्पना के नहीं ठहर सकता है।......यदि जैनदर्शन अनेकत्ववाद तक ही रहे जो अधिकतर केवल सापेक्ष एवं आंशिक सत्य है और वह यह जिज्ञासा न करे कि उच्चतर सत्य भी कोई है जो एक ऐसी एकमात्र सत्ता की ओर निर्देश करता है जिसने इस विश्व के पदार्थों में व्यक्तिगतरूप धारण कर रखा है, जो एक दूसरे से मुख्यत: अनिवार्यरूप में है और अन्तर्यामीरूप में सम्बद्ध है तो वह अपने तर्क को स्वयं दूर करके एक सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष सत्य की उन्नत कोटि में पहँचा देता है। केवल इसी प्रकार का अद्वैतपरक सिद्धान्त जैनदर्शन के सापेक्षतावाद के साथ मेल खा सकता है क्योंकि सम्बन्ध जितने भी हैं वे उन बाह्य पदार्थों से, जिनसे वे सम्बन्ध रखते हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं।[10]

(5) जैन मत में जिस अनेक सत्तात्मक विश्व की कल्पना की गई है वह केवल सापेक्ष दृष्टिकोण से ही है, किन्तु परम सत्य नहीं है।[11] संसार अनात्म के 'बल से निर्माण हुई एक प्रतीतिमात्र है, सत् नहीं है। अनात्म भी केवल आत्मा का दूसरा अंश है या उसका कुछ प्रतिबिम्ब है।'[12] आध्यात्मिक एवं भौतिक प्रवृत्तियों के बीच, जिनके सङ्घर्ष को इस संसार में अनुभव होता है, परस्पर क्या सम्बन्ध है? यद्यपि ये एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं परन्तु वे उस एकता के विरोधी प्रतीत नहीं होते क्योंकि वह एकता विरोधियों का एक संश्लेषण है। अत: जैन सिद्धान्त को हठात् एक पूर्ण सर्वव्यापक सत्ता की ओर आना ही होगा जो भिन्न भी है और संयुक्त भी है।[13] यथार्थ सत्ता केवल एक ही पूर्ण है-विशुद्ध आत्मा एवं विशुद्ध प्रकृति उस सत्ता के पृथक्करण मात्र हैं। इनका पृथक्करण केवल तर्कशास्त्र के लिए है। ये दोनों यद्यपि एक दूसरे के विरोधी हैं किन्तु एक ही पूर्ण सत्ता के पृथक् न किए जा सकने वाले अवयव हैं।[14] जैन तर्क के अनुसार भी एक समष्टिरूप एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद ही निकलेगा।[15]

(6) अध्यात्मविद्यासम्बन्धी विवाद का यह एक सर्वसम्मत एवं सामान्य नियम है कि जो प्रारम्भ में नहीं था और अन्त में भी न रहेगा उसकी वर्तमान प्रक्रिया में भी यथार्थ सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती (आदावान्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि न तत्तथा)। अनेकता वास्तविक एवं विद्यमान् तो मानी जा सकती है। किन्तु उसकी यथार्थता को नहीं माना जा सकता।[16] आत्मा की अनेकता तब तक सम्भव नहीं जब तक परमार्थदशा में भी भिन्नता का कोई आधार न हो। मुक्त आत्मा के पृथक् अस्तित्त्व के मार्ग में बाह्य पदार्थ एवं शारीरिक बन्धन सदा ही बाधक रहेंगे। तब मुक्ति किसकी होगी?[17] यदि हम जैनदर्शन के इस पहलू पर बल दें और यह स्मरण रखें कि केवली व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान होता है जो विचार से ऊँची श्रेणी का है, तो हम ऐसे एकेश्वरवाद (अद्वैतवाद) में पहुँच जाते हैं जो परमार्थरूप और अपरिमित है, जिसके कारण हम सङ्घर्ष में जुटे संसार को, जहाँ पर सब पदार्थ यथार्थता एवं शून्यता के मध्य में ही घूमते रहते हैं, अयथार्थ समझ

सकेंगे। संसार को हम उसी अवस्था में यथार्थ समझ सकते हैं जबकि हम विशुद्ध आत्मा के उच्चतम पक्ष की ओर से एकदम आँख बन्द कर लें।[18]

(7) जैनी 'जिन' महावीर (विजेता) के अनुयायी हैं। जैनदर्शन का स्वरूप मुख्यत: नैतिक है।[19] अत: अध्यात्मविद्या के विषय में जैनमत उन सब सिद्धान्तों के विरोध में है जो नैतिक उत्तरदायित्व पर बल नहीं देते। मनुष्य की मुक्ति में नैतिक हित ही निर्णायक दृष्टिकोण है।[20] डॉ. राधाकृष्णन् का नीतिदर्शन वेदान्त के नीतिदर्शन से भिन्न नहीं है। वे कहते हैं व्यक्ति तथा ब्रह्म में तात्त्विक अभेद के स्तर पर नैतिकता अपेक्षित ही नहीं है। कर्तव्याकर्तव्य के नियम तभी तक अपेक्षित हैं। जब तक हम आत्मोत्कर्ष की ओर अग्रसर होकर अपने भीतर के श्रेष्ठ ब्रह्म रूप को जान नहीं लेते। आत्मस्थ पुरुष परम्परागत नीति के नियमों में नहीं बन्धता।[21]

(8) जैनियों की सम्मति में न्याय-वैशेषिक, सांख्य, अद्वैत वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन ये क्रमश: प्रथम चार नयों को स्वीकार करते हैं और भ्रम से उन्हें सम्पूर्ण सत्य समझते हैं। सभी नय दृष्टिकोण सापेक्ष हैं। हमारे पास निश्चय नय भी है जो सत्य और पूर्ण दृष्टिकोण है। यह दो प्रकार का है-शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय। शुद्ध निश्चय प्रतिबन्धरहित यथार्थसत्ता का प्रतिपादन करता है जबकि अशुद्ध निश्चय प्रतिबन्धयुक्त सत्ता के विषय पर विचार करता है।[22]

डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा जैनदर्शन के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से प्रस्तुत उपर्युक्त तथ्य इसी ओर संकेत करते हैं कि जैनदर्शन में यदि एक अद्वैत परमसत्ता को मानकर व्याख्या की गई होती तो उनके अनुकूल होती। वस्तुत: जैनदर्शन की मान्यता है कि व्यक्तियों का ज्ञान सापेक्ष होता है क्योंकि वे कर्मबद्ध हैं। अतीन्द्रिय परमज्ञान मुक्तात्माओं का माना गया है जो निरपेक्ष और प्रमाण कोटि का है। सांसारिक परिवर्तन जो दृष्टिगोचर होता है वह भी सत्य है क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव है। ऐसा होने पर भी वस्तु अपने स्वरूप से विकृत नहीं होती।[23] वस्तुओं का ज्ञान नयों और प्रमाणों से होता है। नयों से होने वाला ज्ञान आंशिक है जबकि प्रमाणों (विशेषकर केवलज्ञानप्रमाण) से होने वाला ज्ञान पूर्ण है।[24]

जीवात्मा और परमात्मा में अभेद स्वीकार करते हुए समाधि शतक में कहा गया है -

यः परमात्मा से एवाऽहं योऽहं सः परमस्ततः।।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।[25]

अर्थ-जो परमात्मा (शुद्धात्मा) है वही मैं (जीवात्मा) हूँ और जो मैं (जीवात्मा) हूँ वही परमात्मा है। मेरे द्वारा मेरी ही उपासना की जाती है, इससे भिन्न अन्य कोई नहीं है। अत: केवलज्ञानी के लिए कुछ भी कर्तव्याकर्तव्य के विवेक का प्रश्न नहीं है। यह कथन जीवात्मा के गुणों की अपेक्षा से है।

अपेक्षा भेद से शरीर-परिमाणी आत्मा को जैनदर्शन में व्यापक भी कहा गया है-

आदा णाणपमाणं णाणं तु णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।।
णेयं लोयालोयं णाणं तु सव्वगयं।।[26]

अर्थ-आत्मा ज्ञानरूप होने से ज्ञानप्रमाण है। ज्ञान समस्त ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय समस्त लोकालोक है। अत: ज्ञान सर्वगत है। ज्ञान के सर्वगत होने से आत्मा भी सर्वगत है। यह कथन केवलज्ञान गुण सापेक्ष है।

इस तरह जैनदर्शन अपेक्षाभेद से अद्वैतवाद को स्वीकार करते हुए भी भेद को मानता है। जैन दर्शन मूलत: छ: द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार करता है। इन्हें ही चेतन और अचेतन की दृष्टि से दो भागों में भी समाहित करता है। चेतन और अचेतन इन दो की सत्ता को डॉ. राधाकृष्णन् भी स्वीकार करते हैं परन्तु वे अचेतन को चेतन का ही अंश या प्रतिभास मानना चाहते हैं, जबकि जैनदर्शन ऐसा स्वीकार नहीं करता है। अचेतन कभी भी चेतन का अंश नहीं हो सकता है। यही मौलिक अन्तर है। शाङ्करवेदान्त और जैनदर्शन की तुलना करते हुए मैंने अपने उस निबन्ध में इन विषयों पर प्रकाश डाला है।[27] आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार में स्पष्ट कहा है-सव्वणयपक्खरहिदा भणिदो जो सो समयसारो[28] जो सभी नयपक्षों से रहित है वही समयसार (आत्मा) है।

इस तरह जैसे डॉ. राधाकृष्णन् ने पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक विचारधाराओं का समन्वय किया है उसी प्रकार जैनदर्शन में भी अपेक्षाभेद से सभी दार्शनिक विचारधाराओं का समन्वय किया गया है। समन्वय करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् अद्वैत तत्त्व तक पहुँच गए हैं जबकि जैनदर्शन अद्वैत तक पहुँचकर भी अनेकता में विश्वास रखता है। डॉ. राधाकृष्णन् स्वीकार करते हैं कि जैनमत में अनेकान्तवादी यथार्थता का प्रतिपादन किया गया है। यह भी कहा है कि जैन सिद्धान्त को हठात् एक पूर्ण सर्वव्यापक सत्ता की ओर आना ही होगा जो भिन्न भी है और संयुक्त भी है। इससे स्पष्ट है कि

डॉ. राधाकृष्णन् को जैन सिद्धान्त भी यथार्थत: स्वीकार्य है यदि अद्वैततत्त्व का समावेश हो। ऐसा मानने पर जैनदर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह एकान्तवादी हो जायेगा जो उसे कथमपि स्वीकार्य नहीं है। हर पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। एक पदार्थ कभी अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर सब कुछ अव्यवस्थित हो जाएगा। सब द्रव्यों की स्वतन्त्र इकाई मानना ही परम सत्ता है। इसमें ईश्वरकृत् न तो हस्तक्षेप सम्भव है और न यह जगत् आभासमात्र (स्वप्नवत् मायारूप) है।

सन्दर्भसूची -

1. उद्धृत समकालीन भारतीय दर्शन (संपा. श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना) पृ.173.
2. ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ. 77,
3. कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी, पृ. 498.
4. वही।
5. भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, डॉ. राधाकृष्णन् (हिन्दी संस्करण), पृ. 275.
6. वही, पृ. 268.
7. वही, पृ. 249.
8. वही, पृ. 244.
9. वही, पृ. 247.
10. वही, पृ. 247-248.
11. वही, पृ. 270.
12. वही, पृ. 275.
13. वही, पृ. 274
14. वही, पृ. 274.
15. वही पृ. 274-275.
16. वही पृ. 273.
17. वही, पृ. 273-274,
18. वही, पृ. 275.
19, वही, पृ. 232.
20. वही, पृ. 252.
21. हिन्दू व्यू. आ. ला., पृ. 121 तथा इंडियन फिलासफी भाग 2, पृ. 611, 620,
22. भारतीयदर्शन,भाग 1 (हिन्दी सं.) पृ. 244
23. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद्व्यय-धौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र, 5.29,31.
24. सकलादेश: प्रमाणाधीन:। विकलादेशो नयाधीन:। तद्भावाव्यये, नित्यम्।, तत्त्वार्थवार्तिक 14.42.13.
25. समाधिशतक, 31.
26. प्रवचनसार, 1.23.
27. वेदान्तदर्शन और जैनदर्शन, श्रमण, जून 1989.
28, समयसार, गाथा 144.

जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण

जैन-परम्परा में भगवान महावीर (ई. पू. 523 वर्ष) की अनक्षरात्मक वाणी (दिव्यध्वनि-रूप उपदेश) को अर्थ रूप से जानकर उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने जो शब्दात्मक वर्ण बनाए उन्हें श्रुत कहा जाता है। इन्हें अङ्ग, अङ्गप्रविष्ट, गणिपिटक, वेद, अगम, द्वादशाङ्ग आदि नामों में भी जाना जाता है। इस तरह से अन्य अर्थरूप में भगवान महावीर से पूर्व जैन श्रमणपरम्परा में कुछ ऐसी रचनायें मानी गई हैं जिन्हें 'पूर्व' कहा जाता है। श्रुत के बारहवें अङ्ग दृष्टिवाद में ऐसे 14 पूर्वों का उल्लेख मिलता है जिनमें महावीर के पूर्व की अनेक विचारधाराओं का सङ्कलन था। इन पूर्वों में न केवल तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का सङ्कलन था अपितु इनके भीतर नाना कलाओं, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, शकुनशास्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि विषयों का भी समावेश था। वस्तुत: ये प्राचीन काल के ज्ञानकोष थे परन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित न रह सका। परवर्ती साहित्य में इन पूर्वों का तथा इनके विषयों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इन 14 पूर्वों के ज्ञाता अन्तिम (पाँचवें) श्रुत केवली भद्रबाहु थे। क्रमश: इन पूर्वों का ज्ञान लुप्त होता गया। षट्खण्डागम के वेदना दण्ड में आगत 'नमो दसपुव्वियाणं' एवं 'नमो चउद्दसपुव्वियाणं' सूत्रों की व्याख्या करते हुए वीरसेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रारम्भ के 10 पूर्वों का ज्ञान हो जाने पर कुछ मुनियों को नाना महाविद्याओं की प्राप्ति हो जाने से उन्हें सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो गया था। जो इस व्यामोह में नहीं पड़ता था वह 14 पूर्वों का ज्ञाता होकर पूर्ण श्रुतज्ञानी हो जाता था। अन्तिम 4 पूर्वों में विविध कलाओं, मन्त्र, तन्त्र, इन्द्रजाल आदि का प्ररूपण था जिनका प्रयोग संयमी जैन मुनि को निषिद्ध था। अत: प्रथमत: इन 4 पूर्वों का लोप हुआ। शेष 10 पूर्वों की बातें अन्य 11 अङ्ग ग्रन्थों में समाहित थीं, फलस्वरूप इन पूर्वों के पठन-पाठन में समयशक्ति को लगाना आवश्यक नहीं

समझा गया और धीरे-धीरे इन 10 पूर्वों का ज्ञान भी लुप्त हो गया। दिगम्बर परम्परानुसार गुणधराचार्य (ई. पू. प्रथम शताब्दी) को पञ्चम पूर्वगत पेज्जदोसपाहुड तथा महाकामपयडिपाहुड का ज्ञान प्राप्त था जिसके आधार पर उन्होंने पेज्जदोसपाहुड (कसायपाहुड) ग्रन्थ की रचना 180 गाथाओं में की। इन्हें दिगम्बर परम्परा में लिखित श्रुत ग्रन्थ का प्रथम श्रुतकार माना जाता है। इन्हीं के कुछ पश्चादवर्ती धरसेनाचार्य (ई. सन् 73 के आसपास) को द्वितीय पूर्वगत (अग्रायणी पूर्व) कम्मपयडिपाहुड अधिकार का ज्ञान प्राप्त था जिसे उन्होंने श्रुत की रक्षार्थ आचार्य पुष्पदन्त (ई. सन् 50-80) और भूतबलि (ई. सन् 87 के आस-पास) को दिया। आचार्य पुष्पदन्त (प्रारम्भिक 177 सूत्र) और भूतबलि (बाद के 6000 सूत्र) ने छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) या सत्कर्मप्राभूत ग्रन्थ की रचना की। जिस दिन यह ग्रन्थ पूरा हुआ उस दिन (ज्येष्ठा शुक्ला पञ्चमी) को श्रुतपञ्चमी के रूप में मान्यता मिली।

श्रवण-परम्परा से गणधरप्रणीत 'श्रुत' की परम्परा वी. नि. सं. 62 वर्ष बाद तक गौतम (इन्द्रभूति), सुधर्मा और जम्बू स्वामी तक अखण्ड रूप में चली। तीनों केवलज्ञानी थे और इन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें अपना धर्मगुरु स्वीकार करती हैं। अन्तर इतना है कि दिगम्बर परम्परा गौतम को और श्वेताम्बर परम्परा जम्बू स्वामी को विशेष महत्त्व देती है। जम्बू स्वामी के बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर गुर्वावलि में अन्तर पड़ गया परन्तु उनमें पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम (वी.नि.सं. 100 या 162) को दोनों अपना गुरु मानते हैं। जैसे -

(क) दिगम्बर गुर्वावलि (पट्टावली के अनुसार) - जम्बू, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ।

(ख) श्वेताम्बर गुर्वावलि-जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय और भद्रबाहु (चतुर्दशपूर्वी)। यहाँ यशोभद्र के शिष्य थे सम्भूतिविजय और भद्रबाहु। सम्भूति विजय के शिष्य थे स्थूलभद्र जिनसे आगे की श्वेताम्बर गुर्वावलि चली और भद्रबाहु की परम्परा में दिगम्बर गुर्वावलि चली।

दिगम्बरों के अनुसार भद्रबाहु के बाद 11 आचार्य क्रमिक ह्रास होते हुए 11 अङ्ग और 10 पूर्वों के ज्ञाता हुए। इसके बाद पाँच आचार्य 11 अङ्गधारी हुए। तदनन्तर कुछ आचार्य 10, 6 और 8 अङ्गों के धारी हुए। इसी क्रम में भद्रबाहु द्वितीय (बी. नि. सं. 462) और उनके शिष्य लोहाचार्य हुए। इसके बाद अङ्गों या पूर्वी के अंश मात्र के ज्ञाता हुए। लोहाचार्य के बाद सम्भवत: गुरु-परम्परा निम्न प्रकार रही होगी -

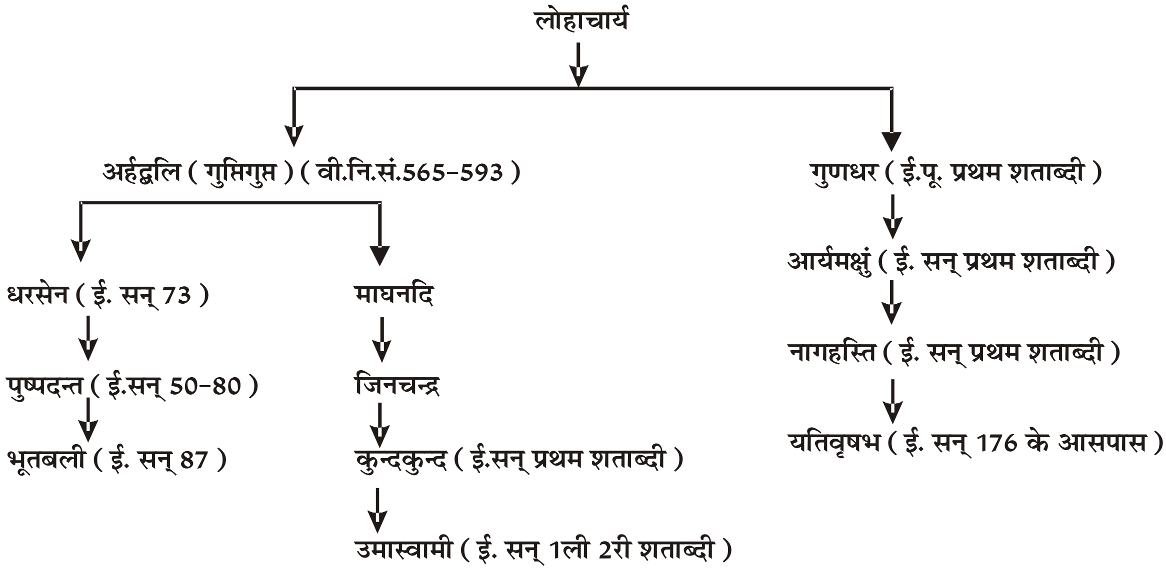

भद्रबाहु प्रथम (वी. नि. सं. 162 वर्ष) के समय अवन्ति देश में बारह वर्ष का अकाल पड़ा जिसके कारण कुछ आचार्यों में शिथिलाचार आ गया। फलस्वरूप आचार्य स्थूलभद्र (भद्रबाहु प्रथम के शिष्य) के संरक्षण में एक स्वतन्त्र श्वेताम्बर सङ्घ की स्थापना हो गई। भद्रबाहु की सङ्घ व्यवस्था भी अहन्दवलि (गुप्तिगुप्त) (वी. नि. 565-563) के काल में समाप्त हो गई और दिगम्बर मूल, नन्दि, वृषभ आदि सङ्घों में विभक्त हो गए। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार आचार्य अर्हद्बलि ने पाँच वर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय (वी. नि, 575) सङ्गठन बनाने के लिए दक्षिणदेशस्थ

महिमानगर (महाराष्ट्र प्रदेश का सतारा जिला) में एक वृहद् साधु-सम्मेलन बुलाया जिसमें 100 योजन तक के साधु एकत्रित हुए। इसमें मतैक्य न होने से मूल सङ्घ बिखर गया। इसी समय पञ्चम पूर्व के ज्ञाता आचार्य गुणधर (ई. पू. प्रथम शताब्दी) ने कसायपाहुड की और ई. सन् प्रथम शताब्दी में द्वितीय पूर्व के ज्ञाता आचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना करके श्रुत को लिपिबद्ध किया। इसके बाद कसायपाहुड पर यतिवृषभाचार्य ने चूर्णिसूत्र तथा तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में युगसंस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थ रचे। उमास्वामी का तत्त्वार्थ सूत्र और वट्केर आचार्य का मूलाचार भी इसी समय लिखा गया। इम तरह उपलब्ध दिगम्बर आगम ई. सन् प्रथम शताब्दी के आसपास लिपिबद्ध कर लिए गए। अनन्तर इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अन्य रचनाएँ लिखी गईं। इस तरह दिगम्बरों ने सभी 12 अङ्ग, 14 पूर्व और 14 अङ्गवाह्य का लोप स्वीकार कर लिया।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार आगमों के लिपिबद्ध होने के पूर्व चार रचनाएँ हुई। भगवान महावीर के निर्वाण (ई. पूर्व 527 वर्ष) के लगभग 160 वर्ष बाद (ई. पू. 367) चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में मगध में वह दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें बहुत ने साधु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर प्रस्थान कर गए तथा शेष स्थूलभद्र (स्वर्गगमन वी. नि. सं. 216 वर्ष बाद) के नेतृत्व में मगध ही में रहे। अकाल के दूर होने पर स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में जैन साधुओं का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें मौखिक परम्परा में चले आ रहे श्रुत को व्यवस्थित करने के लिए 11 अङ्ग-ग्रन्थों का सङ्कलन किया गया। यह प्रथम वाचना थी। बारहवाँ दृष्टिबाद भद्रबाहु को छोड़कर किसी को ज्ञात नहीं था। चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। अतएव पूर्वो के ज्ञानार्थ स्थूलभद्र कुछ साधुओं के साथ आचार्य भद्रबाहु के पास नेपाल गए। वहाँ से स्थूलभद्र को छोड़ शेष सभी वापिस आ गए। स्थूलभद्र भी 10 पूर्वों तक निर्बाध ज्ञान प्राप्त करके दोषवशात् शेष 4 पूर्वों के अध्यापन में भद्रबाहु द्वारा मना कर दिए गए। फलतः यहाँ से पूर्वों के शनैः-शनैः लुप्त होने की शुरुआत हो गई। इस वाचना में दृष्टिवाद का सङ्कलन नहीं हो सका।

महावीर निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद (ई. सन् 300-313) पुनः आए 12 वर्ष के अकाल के बाद आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगमों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए मथुरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमें जिसे जो याद था उसे कालिकश्रुत के रूप में सङ्कलित कर लिया गया। इसे माथुरी वाचना कहते हैं।

नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में वलभी (सौराष्ट्र) में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। यद्यपि यह सम्मेलन आर्य स्कन्दिल के काल में ही हुआ परन्तु ये दोनों नेता आपस में मिल नहीं सके जिससे आगमों का पाठभेद बना रह गया। इसे प्रथम वलभी वाचना कहते हैं।

महावीर निर्वाण के लगभग 980 या 993 वर्ष वाद (ई. सन् 453-466) बलभी में ही देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में चौथा सम्मेलन हुआ। इसमें तृतीय सम्मेलन भी कहते हैं। इस समय 45 आगमों (श्वे.) को लिपिबद्ध किया गया। विविध पाठान्तरों और वाचनाभेदों का समन्वय करके माथुरी वाचना को आधार बनाया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका उनका 'वायणान्तरे पुण', 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप में उल्लेख कर दिया गया। दृष्टिवाद न मिलने के कारण उसे व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया। इसे द्वितीय वलभी वाचना व अन्तिम वाचना भी कहते हैं। उपलब्ध आगम इसी वाचना के परिणाम हैं। इतना अवश्य है कि आगमों में कुछ परिर्वतन इस वाचना के द्वारा लिपिबद्ध होने के बाद भी हुए हैं, ऐसा अन्त:परीक्षण से ज्ञात होता है।

इस विवेचन निम्न तथ्य प्रकट होते हैं -

(1) जैन परम्परा में भावश्रुत (ज्ञानात्मक) और द्रव्यश्रुत (वचनात्मक) के भेद से श्रुत दो प्रकार का है। भावश्रुत की अपेक्षा से 'श्रुत' अनादि, अपौरुषेय अथवा महावीर प्रणीत है। द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से गणधरप्रणीत है। दिगम्बर आगम ई. सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में लिपिबद्ध हो गए थे और श्वेताम्बर अगम 1000 वर्षों के अन्तराल के बाद देवर्धिगणि। क्षमाश्रमण की वलभी वाचना में लिपिबद्ध किए गए।

(2) मूल भाषा अर्धमागधी (आर्ष प्राकृत) थी। श्वेताम्बर आगम इसी भाषा में हैं परन्तु दिगम्बरों के आगम शौरसेनी (जैन शौरसेनी) प्राकृत में है। भाषागत परिवर्तन होने से उनकी अप्रमाणता नहीं मानी गई है क्योंकि जैन धर्म में शब्द की अपेक्षा भावों का प्राधान्य है, वेदों की तरह शब्द का नहीं। यही कारण है कि वेदों की तरह इनकी सुरक्षा पूर्णरूप से शब्दशः नहीं हो सकी।

(3) श्वेताम्बरों के अनुसार दृष्टिवाद को छोड़कर शेष अङ्ग और अङ्ग बाह्य आगम सुरक्षित हैं जबकि दिगम्बर परम्परा में दृष्टिवाद का अशांश ही सुरक्षित है, शेष लुप्त हो गया है।
(4) श्वेताम्बरों के यहाँ 45 आगम मान्य हैं जबकि दिगम्बरों में बारह अङ्ग और चौदह अङ्गबाह्य। बारह उपाङ्गों का उल्लेख न तो दिगम्बर साहित्य में है और न श्वेताम्बरों के नन्दिसूत्र में है। दिगम्बरों ने मूल आगम लुप्त मानकर परवर्ती आचार्यों की कुछ रचनाओं को आगम की मान्यता दी है। उनमें प्रमुख हैं कसायपाहुड और छक्खण्डागम।

यह एक विस्मयकारी तथ्य है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के साहित्य में वीर निर्वाण संवत् 355 (ईसा पूर्व 172) में उड़ीसा में कुमारी पर्वत पर हुई वाचना को अनदेखा किया गया है। यह जैन श्रुत आगम दशाङ्ग के वाचन का सर्व प्राचीन उल्लिखित अभिलेखीय प्रमाण है। इस सम्बन्ध में The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka-- A Critical Study द्रष्टव्य है ।

परीक्षामुख : एक अनुशीलन

तत्त्वार्थ के प्रतिपादन में जो स्थान जैन-धर्म के तत्त्वार्थसूत्र का, ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में ब्रह्मसूत्र का, योगशास्त्र के विवेचन में पातञ्जल-योगसूत्र का और न्यायशास्त्र के न्याय-निर्णय में गौतम के न्यायसूत्र का है, वही स्थान एवं प्रसिद्धि जैन न्याय के आद्य सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख का भी है। कहीं-कहीं पर परीक्षामुख के सूत्र गौतम के न्यायसूत्र से अधिक लघु, तर्कसङ्गत एवं सुस्पष्ट अर्थ से समन्वित दृष्टिगोचर होते हैं।

विषय-परिचय -

परीक्षामुख में मुख्यरूप से प्रमाण और प्रमाणाभास का 212 सूत्रों द्वारा, जो 6 परिच्छेदों में विभक्त हैं, विशद एवं तर्कसङ्गत चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थारम्भ में एक कारिका द्वारा प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन बताया गया है[1] तथा ग्रन्थ-परिसमाप्ति के अवसर पर भी एक कारिका दी गई है[2], जिसमें 'बाल' शब्द से अपनी अल्पज्ञता एवं विनयशीलता का परिचय देते हुए परीक्षामुख को हेयोपादेय तत्त्व का निर्णय करने के लिए एक दर्पण बताया गया है। ग्रन्थ में विषय-प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है -

1. प्रथम परिच्छेद में 13 सूत्रों द्वारा प्रमाण के स्वरूप तथा उसके प्रामाण्य का निश्चय किया गया है।
2. द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रमाण के दो भेद करके प्रत्यक्ष के मुख्य और सांव्यवहारिक दोनों भेदों का विचार 12 सूत्रों में किया गया है।
3. तृतीय परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण के पाँचों भेदों (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और मागम) का विवेचन 101 सूत्रों में किया गया है। इसमें न्याय के प्रमुख अङ्ग अनुमान का विशाल वंशवृक्ष भी समुपस्थित किया गया है। अत: यह परिच्छेद सबसे बड़ा हो गया है।
4. चतुर्थ परिच्छेद में 9 सूत्रों द्वारा प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को बतलाकर उसका सभेद वर्णन प्रस्तुत किया गया है।
5. पञ्चम परिच्छेद में केवल 3 सूत्र हैं, जिनमें प्रमाण के उभयविध फल (1) साक्षातफल अज्ञाननिवृत्ति तथा (2) परम्पराफल-हानोपादानोपेक्षाबुद्धि) को कहकर उसे प्रमाण से कथञ्चित्। भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न बतलाया गया है।
6. षष्ठ परिच्छेद में प्रमाणाभासों (स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास) का सविस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अन्त में जय-पराजय आदि की भी जैन दृष्टि से व्यवस्था की गई है। इस परिच्छेद में कुल 74 सूत्र हैं।

इस तरह इस परीक्षामुख में जैन न्याय के प्राय: सभी मौलिक विषयों पर प्राञ्जल एवं विशद भाषा में बड़ी कुशलतापूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसीसे सम्भवत: आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी टीका में परीक्षामुख को गम्भीर, निखिलार्थ प्रकाशक, निर्मल, शिष्य-प्रबोध-प्रद एवं अद्वितीय रचना कहा है।[3]

उद्‌गम -

इस परीक्षामुख को आचार्य अकलङ्क के वचनरूपी समुद्र से मथकर निकाला गया न्यायविद्यामृत कहा गया है।[4] वस्तुत: परीक्षामुख का मूल उद्गम-स्रोत आचार्य अकलङ्क के न्याय-ग्रन्थ (अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह एवं सिद्धिविनिश्चय) हैं। कुछ अंशों में आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

आदि भी हैं।[5] परीक्षामुख जितना सरल है उतना ही गम्भीर है। यही कारण है कि जैन न्यायशास्त्र में प्रवेश के लिए प्रथमत: इसका अध्ययन किया जाता है। तदुपरान्त इस पर लिखी गई टीकाओं के आधार पर इसके गहन अर्थ का स्पष्टीकरण अवगत किया जाता है।

टीकाएँ -

इस परीक्षामुख की कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध है, उनमें सर्वप्रथम आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित 12 हजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नाम की विशाल टीका है, जिसके अध्ययन से समस्त न्यायशास्त्र का सम्यग्ज्ञान हो जाता है।[6] इसके उपरान्त 12वीं शताब्दी के आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने 'प्रमेयरत्नमाला' (जो 'परीक्षामुखपञ्जिका' एवं 'परीक्षामुखलघुवृत्ति' के भी नाम से प्रसिद्ध है) नाम की प्रसन्न और ललित शैली वाली टीका लिखी है, जिस पर कालान्तर में 'अर्थप्रकाशिका' और 'न्यायमणिदीपिका' नामकी दो टीकाएँ लिखी गईं। इसके उपरान्त नव्यन्याय के प्रचार को देखकर आचार्य चारुकीर्ति ने जैन न्याय को उसी शैली में ढालने के प्रयत्न स्वरूप 'प्रमेयरत्नालङ्कार' नाम की टीका लिखी, जो 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'प्रमेयरत्नमाला को एक कड़ी में जोड़ने का उपक्रम करती है। चतुर्थटीका 'प्रमेयकण्ठिका है जो 'परीक्षामुख' के प्रथम सूत्र (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) पर पाँच स्तवकों में श्री शान्तिवर्णि द्वारा लिखी गई है।[7]

महत्त्व और ग्रन्थ-वैशिष्ट्य -

उत्तरकाल में परीक्षामुख का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि परवर्ती अनेक आचार्यों के ग्रन्थ परीक्षा मुख के उपजीव्य बने। हेमचन्द्राचार्य की 'प्रमाणमीमांसा' और वादिदेवसूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' ये दो ग्रन्थ तो परीक्षामुख के विशेष आभारी हैं।

प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, पण्डिताचार्य चारुकीर्ति, शान्तिवर्णी आदि कई विद्वान् उनके प्रमुख टीकाकार ही हैं। न्यायदीपिकाकार आचार्य अभिनवधर्मभूषण ने न्यायदीपिका में परीक्षामुख के सूत्रों को सादर उद्धृत किया है।[8] एक स्थल पर तो परीक्षामुखसूत्रकर्ता के लिए 'भगवान्' और 'भट्टारक' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है।[9]

परीक्षामुख के सभी सूत्र नपे-तुले, सार-युक्त, अर्थ-गर्भ, असंदिग्ध और अल्प शब्दों को लिए हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रथम सूत्र को ही लीजिए। इसके सभी पद सहेतुक, तथा अपनी विशेषता के द्योतक हैं। परीक्षामुख में प्राय: सर्वत्र परमत के निराकरण के साथ स्वमत-स्थापना की शैली का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न सूत्रों को देखिए -

(क) तत्प्रामाण्यं स्वत: परतश्च।—परीक्षामुख 1.13

(ख) एतद्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्। परीक्षामुख 3.33

(ग) न च ते तदङ्गे। परीक्षामुख 3.36

अन्य कुछ ग्रन्थों के साथ परीक्षामुख की तुलना-

(क) परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार - प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और परीक्षामुख के सूत्रों की जब हम तुलना करते हैं तो लगता है कि परीक्षामुख के सूत्र ही वादिदेवसूरि ने कहीं-कहीं कुछ शब्द-परिवर्तन करके ज्यों-के-त्यों रख दिए हैं, कहीं शब्दाडम्बर इतना बढ़ा दिया है कि अर्थ भी क्लिष्ट हो गया है, कहीं-कहीं उदाहरणों में अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। जिससे अर्थावबोध में कष्ट होता है, कहीं-कहीं सूत्रों का भाव ही तिरोभूत हो गया है। कहीं सूत्र इतने लम्बे दिखाई पड़ते हैं, जैसे कोई भाष्य लिखा जा रहा हो।[10] इसके विपरीत परीक्षामुख के सूत्र लघु, सरल और अर्थगरिमा से समन्वित हैं। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार के प्रथम छह परिच्छेद तो परीक्षामुख के आधार पर बनाये गये हैं, परन्तु अन्तिम दो परिच्छेदों में नयादि का अतिरिक्त वर्णन किया गया है, जिसकी 'परीक्षामुख' में केवल सूचना दी गई है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में सूत्रात्मकता की अपेक्षा वृत्तिरूपता अधिक है। सम्भवत: लेखक का अभिप्राय विषय-स्पष्टीकरण एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन रहा हो ।

(ख) परीक्षामुख और प्रमाणमीमांसा-इन दोनों ग्रन्थों की भी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि प्रमाणमीमांसा में भी परीक्षामुख का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। अनुकरण करने पर भी प्रमाणमीमांसा के सूत्रों में वह लघुरूपता नहीं आ पाई, जो परीक्षामुख के सूत्रों में है। इतना अवश्य है कि उसके सूत्रों में प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार के सूत्रों की तरह दीर्घरूपता नहीं है।[11]

(ग) न्यायसूत्र, न्यायविन्दु और परीक्षामुख-यद्यपि परीक्षामुख में धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु, दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और गौतम के न्यायसूत्र का प्रभाव परिलक्षित होता है तो भी परीक्षामुख के सूत्र न्यायविन्दु आदि की अपेक्षा अल्पाक्षर और अर्थगर्भ हैं। न्यायसूत्र और न्यायबिन्दु में प्रमाणसामान्य का कोई लक्षण उपलब्ध नहीं है, केवल उसके भेदों को गिना दिया गया। है। पर परीक्षामुख में प्रमाणसामान्य का लक्षण तथा उसके भेद दोनों उपलब्ध हैं। इसी तरह न्यायसूत्र में सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण करते समय उसका पर्यायवाची ही शब्द रखा गया है।[12] जिससे उसका लक्षण स्पष्ट नहीं हो सका है। जब कि परीक्षामुख में उसका लक्षण स्पष्ट मिलता है।[13] इससे प्रकट है कि परीक्षामुख न केवल जैन न्याय-विद्या का एक अपूर्व ग्रन्थ है, अपितु भारतीय न्याय शास्त्र-गगन का वह एक प्रकाशमान नक्षत्र है।

ग्रन्थकार-

परीक्षामुख के कर्ता कौन हैं और उनका समय एवं परिचय क्या है ? आदि प्रश्नों का यहाँ उठना स्वाभाविक है। अत: उन पर यहाँ संक्षिप्त विचार किया जा रहा है।

इस महत्त्वपूर्ण जैन न्यायसूत्र ग्रन्थ के कर्ता आचार्य माणिक्यनन्दि हैं, जिनका उल्लेख एवं स्मरण शिलालेखों[14] और समवर्ती[15] एवं उत्तरवर्ती साहित्यिक रचनाओं में किया गया है।[16] उनके समकालीन आचार्य नयनन्दि (वि0 की 11 वीं शती) ने उन्हें 'महापण्डित' और 'तर्ककुशल लिखा है।[17] प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य जैसे उनके समर्थ टीकाकार तो उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते हैं। प्रभाचन्द्र कहते हैं[18] कि उनके चरणप्रसाद से ही उन्हें जैन न्यायशास्त्र तथा अजैनन्यायशास्त्र का ज्ञान हुआ है, जिसके वे समुद्र हैं। अनन्तवीर्य 'नमो माणिक्यनन्दिने' जैसे सम्मान-सूचक शब्दों द्वारा उनके प्रति अत्यधिक आदर एवं श्रद्धा व्यक्त करते हैं।[19] इससे मालूम पड़ता है कि माणिक्यनन्दि तर्कशास्त्र के पण्डित तो थे ही, अन्य शास्त्रों के भी वे मर्मज्ञ थे। इनका समय प्रो0 दरबारीलाल जी कोठिया ने ऊहापोह के साथ विक्रम की 11 वीं शताब्दी (ई. सन् 1028) निर्णीत किया है और अनेक आधारों से माणिक्यनन्दि और उनके आद्य टीकाकार प्रभाचन्द्र में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिद्ध किया है।[20]

सन्दर्भ -

1. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
   इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः।।1।।
2. परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
   संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम्॥ 2॥
3. 'गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्।
   यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।।
3. 'अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दधे येन धीमता।
   न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने। प्रमेयरत्नमाला श्लो0 2
   आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रारम्भ में कहा है
   'श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितु-कामस्तत्परिज्ञानाऽग्रनुहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह।
5. इस सम्बन्ध में प्रो0 दरबारीलालजी कोठिया का वह शोधपूर्ण निबन्ध द्रष्टव्य है जो अनेकान्त (वर्ष 5, किरण 3, 4) तथा आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में प्रकाशित है। उन्होंने इसमें 7 ग्रन्थों की तुलना द्वारा परीक्षामुख के मूल-स्रोतों की खोज प्रस्तुत की है।
6. विशेष-प्रमेयकमलमार्तण्ड-भूमिका-पं0 महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य।
7. विशेष जानकारी के लिए तत्तत् ग्रन्थों का तथा प्रो0 दरबारीलाल जी के प्रबन्ध का (हीरकजयन्ति-कानजीस्वामी-अभिनन्दनग्रन्थ, पृष्ठ-300) अवलोकन करें।
8. न्यायदीपिका (सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद-प्रो.दरबारीलाल कोठिया) पृष्ठ-26, 27, 33, 34, 52, 73, 74, 80, 99 आदि।
9. 'तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः'-न्यायदीपिका, पृष्ठ-120
10. क्रमशः द्रष्टव्य सूत्रों की संख्या—(क) प्रमा. नय. 1.3 तथा 2.2, परीक्षा 1.2 तथा 2.3
11. विशेष के लिए देखें, पं0 वंशीधरजी व्याकरणाचार्य का इस विषय का लेख, जैन सिद्धान्तभास्कर, भाग 2, कि. 1,2
12. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।-न्यायसूत्र 1.2
13. 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः'।-परीक्षामुख 6.30

14. देखें, शिलालेख नं0 105, 224, शिलालेख संग्रह पृ0 200
15. देखें, नयनन्दि का सुदंसणचरिउ।
16. देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा प्रमेयरत्नमाला।
17. देखें, नयनन्दि क सुदंसणचरिउ।
18. देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड के आदि व अन्तिम प्रशस्ति-पद्य।
19. देखें, प्रमेयरत्नमाला कारिका 2
20. देखें, प्रो0 दरबारीलाल कोठिया, परीक्षामुख की प्रस्तावना, पृष्ठ 29

आचार्य हरिभद्रसूरि और उनकी धर्मसंग्रहणी

समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान आदि सरस और मनोरंजक आख्यानप्रधान ग्रन्थों, अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, योगबिन्दु, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि प्रसिद्ध दार्शनिक मौलिक ग्रन्थों तथा आवश्यक, दशवैकालिक आदि आगमों पर व्याख्यात्मक साहित्य के लेखक श्री आचार्य हरिभद्रसूरि ही इस 'धर्मसंग्रहणी' ग्रन्थ के रचयिता हैं। इन्होंने सरस कथासाहित्य के अलावा दर्शनशास्त्र पर भी अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया था। ये बड़े मेधावी और विचारशील लेखक थे। श्री राजशेखरसूरि ने इन्हें 1444 प्रकरणों का रचयिता माना है।[1] परन्तु वर्तमान में न तो इन सभी ग्रन्थों की उपलब्धि है और न उनके नामादि का ठीक-ठीक परिज्ञान। आज इनके जिन ग्रन्थों के नाम सुनने में आते हैं, वे निम्नोक्त हैं[2] -

(1) अनुयोगद्वारलघुवृत्ति, (2) अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञटीकासहित), (3) अनेकान्तप्रघट्ट, (4) अनेकान्तवादप्रवेश, (5) अर्हच्छ्रीचूडामणि, (6) अष्टकप्रकरण, (7) आवश्यकटीका, (8) आवश्यकबृहट्टीका, (6) उपदेशपदानि, (10) उपदेशप्रकरण, (11) ओघनिर्युक्तिवृत्ति, (12) कथाकोश, (13) कर्मस्तववृत्ति, (14) कुलकानि, (15) क्षमावल्लीबीज, (16) क्षेत्रसमासवृत्ति, (17) चैत्यवन्दनभाष्य (संस्कृत), (18) चैत्यवन्दनवृत्ति, (16) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, (20) जम्बूद्वीपसंग्रहणी, (21) जीवाभिगमलघुवृत्ति, (22) ज्ञानपञ्चकविवरण, (23) तत्त्वतरङ्गिणी, (24) तत्त्वार्थलघुवृत्ति, (25) त्रिभङ्गीसार, (26) दर्शनशुद्धिप्रकरण, (27) दर्शनसप्ततिका, (28) दशवैकालिकलघुवृत्ति, (29) दशवैकालिकबृहद्वृत्ति, (30) दिनशुद्धि, (31) देवेन्द्रनरेन्द्रप्रकरण, (32) द्विजवदनचपेटा, (33) धर्मबिन्दु, (34) धर्मलाभसिद्धि, (35) धर्मसंग्रहणी, (36) धर्मसार, (37) धूर्ताख्यान, (38) ध्यानशतकवृत्ति, (39) नन्दी-अध्ययनटीका, (40) नानाचित्रप्रकरण, (41) न्यायप्रवेशटीका, 342) न्यायविनिश्चय, (43) न्यायावतारवृत्ति, (44) पञ्चनियंठी, (45) पञ्चलिङ्गी, (46) पञ्चवस्तुकप्रकरण (स्वोपज्ञटीकासहित), (47) पञ्चसूत्रविवरण, (48) पञ्चस्थानक, (49) पञ्चाशक, (50) परलोकसिद्धि, (51) पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, (52) प्रज्ञापनप्रदेश व्याख्या, (53) प्रतिष्ठाकल्प, (54) बृहन्मिथ्यात्वमथन, (55) मुनिपतिचरित्र, (56) यतिदिनकृत्य, (57) यशोधरचरित्र, (58) योगदृष्टिसमुच्चय, (59) योगबिन्दु, (60) योगशतक, (61) योगविंशति, (62) लग्नकुण्डलिका, (63) लग्नशुद्धि, (64) लघुक्षेत्रसमास, (65) लघुसंग्रहणी, (66) लोकतत्त्वनिर्णय, (67) लोकबिन्दु, (68) विंशिका, (69) वीरस्तव, (70) वीराङ्गदकथा, (71) वेदबाह्यतानिराकरण, (72) व्यवहारकल्प, (73) शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञटीकासहित), (74) श्रावक प्रज्ञप्तिवृत्ति, (75) श्रावकधर्मतन्त्र, (76) षड्दर्शनसमुच्चय, (77) षड्दर्शनी, (78) षोडशक, (79) संकितपञ्चासी, (80) संग्रहणीवृत्ति, (81) सपञ्चासित्तरी, (82) संबोधसित्तरी, (83) संबोधप्रकरण, (84) संसारदावास्तुति, (85) संस्कृतात्मानुशासन, (86) समराइच्चकहा, (87) सर्वज्ञसिद्धि (टीकासहित), (88) स्याद्वादकुचोद्यपरिहार ।।

इस तरह इनमें कुछ तो मौलिक ग्रन्थ हैं और कुछ व्याख्यात्मक। उनमें भी कुछ सरस साहित्यिक, कुछ दार्शनिक, कुछ चरितात्मक, कुछ स्तोत्रात्मक आदि हैं।[3]

हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए हैं[4] परन्तु उनमें धर्मसंग्रहणीकार सबसे प्राचीन हैं और जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपका समय कोई वि0 श0 9-10 मानते हैं और कुछ वि0 श0 6-7 मानते हैं। श्री कल्याणविजय जी ने द्वितीय मत का (वि0 श0 6-7) बड़े ऊहापोह के साथ समर्थन किया है।[5] आपका जन्म राजस्थान (मेवाड़) के चित्रकूट (चित्तौड़) नगर में हुआ था। आपने अपना जीवन विशेष रूप से राजपूताना और गुजरात में ही

व्यतीत किया। ये जन्म से ब्राह्मण और अद्वितीय पाण्डित्य के कारण तत्कालीन राजा जितारि के राजपुरोहित भी थे। आप जाति से यद्यपि ब्राह्मण थे तथापि बाद में जैन हो गये थे। 'प्रभावकचरित्र' में एतद्विषयक एक उल्लेख मिलता है, तदनुसार आपको अपने पाण्डित्य पर इतना गर्व था कि इनका कहना था कि सारे भूखण्ड में मेरी तो क्या मेरे शिष्य की भी कोई बराबरी नहीं कर सकता'। यहाँ तक कि ये जम्बू वृक्ष की एक शाखा अपने पास में रखते थे तथा पेट पर एक स्वर्ण पट्ट भी बाँधे रहते थे जिसका मतलब था कि जम्बूद्वीप में मुझ जैसा कोई विद्वान् नहीं एवं पेट में इतना ज्ञान है कि उसमें समा न सकने के कारण कहीं फट न जावे। इनकी एक प्रतिज्ञा भी थी कि जिसका वचन नहीं समझूँगा उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक बार राजा का मदोन्मत्त हाथी आत्पातस्तम्भ को लेकर नगर में दौड़ रहा था। हरिभद्र उससे वचने का प्रयत्न करते हुए समीपस्थ एक जैन उपाश्रय में घुस गये। वहाँ जिन प्रतिमा को देखकर उपहास किया मगर एक दिन किसी जैन उपाश्रय में याकिनी महत्तरा साध्वी को एक गाथा पढ़ते हुए सुना[6]। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब उसका अर्थ उनकी समझ में नहीं आया तो उन्होंने याकिनी महत्तरा से उसका अर्थ पूछा। तब साध्वी ने नियमानुसार श्वेताम्बर गच्छपति आचार्य जिनदत्त के पास भेजा। आचार्य जिनदत्त से उक्त गाथा का अर्थ समझकर प्रतिज्ञानुसार उनके शिष्य बन गये। हरिभद्र ने याकिनी महत्तरा को अपनी धर्म माता बना लिया। इनकी विद्वत्ता और सदाचारपरायणता को देखकर आचार्य ने इन्हें पट्टधर आचार्य बना दिया। तदनन्तर हरिभद्र भ्रमण करते हुए जैनधर्म का प्रसार करने लगे।[7]

धर्मसंग्रहणी –

हरिभद्रकृत प्रस्तुत ग्रन्थ में 1396 प्राकृत गाथाएँ हैं जिनमें नाना प्रकार की युक्तियों, कल्पनाओं एवं प्रमाणों के द्वारा धर्म का निर्वचन करते हुए आत्मा के स्वरूप का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस पर प्रसिद्ध वृत्तिकार आचार्य मलयगिरिसूरिकृत संस्कृत-टीका भी उपलब्ध है जो गाथाओं के अर्थ बोध में बहुत सहायक है।[8]

टीकाकार ने धर्मसंग्रहणी को दो भागों में विभक्त किया है-पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में धर्म-निर्वचन के साथ आत्मा की सत्ता, उसकी अनादि निधनता, अमूर्तता, परिणामिता और ज्ञस्वभावता की सिद्धि की है। उत्तरार्ध में आत्मा के ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, और सर्वज्ञत्व की सिद्धि करते हुए भावधर्म के फलादि का निर्वचन किया है। ग्रन्थ में यथाप्रसङ्ग बहुत-सी दार्शनिक बातों का जैसाकि अन्य दर्शन-ग्रन्थों में प्राय: पाया जाता है, विचार किया गया है जिसका हम आगे चलकर विस्तार, से कथन करेंगे।

संक्षेप में ग्रन्थकार ने 'नमिऊण वीयराग.' इस गाथा से प्रारम्भ करके 35 गाथा पर्यन्त मङ्गलपूर्वक ग्रन्थ के अभिधेय प्रयोजन आदि का वर्णन किया है। 'जीवो उ नत्थि केई.' इस 36 वीं गाथा से लेकर 158 वीं गाथा पर्यन्त भौतिकवादी चार्वाकमत की परीक्षा करके जीव के अस्तित्त्व को सिद्ध किया है। 'जम्हाण कित्ति मो सो' इस 159 वीं गाथा से लेकर 191 वीं गाथा पर्यन्त जीव के अनादिनिधन को, 'कम्म विमुक्कसरूवो' इस गाथा युगल (192-193) के द्वारा आत्मा के अमूर्तत्व को, 'परिणामी खलु जीवो.' इस 194 वीं गाथा से 475 वीं गाथा पर्यन्त जीव के परिणामित्व को, 'जाता संवित्तीउ' इस 476 वीं गाथा से 545 पर्यन्त आत्मा के ज्ञायकत्व को, 'कत्त ति दारमहुणा' इस 546 वीं गाथा से 580 गाथा पर्यन्त आत्मा के कर्त्तृत्व को, 'भोत्ता सकडफलस्स य' इस 581 वीं गाथा से 605 गाथा पर्यन्त आत्मा के भोक्तृत्व को, 'नाणादि परिणति' इस 606 वीं गाथा से 748 गाथा पर्यन्त जीव और कर्म के संयोग-सम्बन्ध को, 'सम्मत्त नाण चरणा' इस 749 वीं गाथा से 1137 गाथा पर्यन्त भावधर्म को, 'चोएति कहं रागादि' इस 1138 वीं गाथा से 1375 गाथा पर्यन्त वीतराग सर्वज्ञसिद्धि को, 'काऊण इमं धम्म' इस 1376 वीं गाथा से 1396 गाथा पर्यन्त पूर्व प्रतिपादित भावधर्म के फल को प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त प्रमुख विषयों के अलावा यथा प्रसङ्ग जो अवान्तर अन्य विषय प्रतिपादित हैं, उन सब का विवरण निम्न प्रकार है –

धर्मसंग्रहणी में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम (1-3) वीतराग, सर्वज्ञ, देवपूज्य, यथार्थवक्ता, और अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा परोपकार करनेवाली जिनवाणी को गुरूपदेश से जानकर संक्षिप्त धर्म संग्रहणी के प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा की है। इसके बाद परोपकारयुक्त पुरुषार्थ को धर्म बतलाते हुए उपकार के दो भेद किए हैं—द्रव्योपकार और भावोपकार। अन्नपानादि दानरूप द्रव्योपकार है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जिससे स्थिति हो वह भावोपकार है । इस प्रकार द्रव्योपकार और भावोपकार का स्वरूप बतलाकर भावोपकार की श्रेष्ठता बतलाते हुए दो श्रेष्ठियों के दृष्टान्त दिए हैं।[9] इसके बाद पुन: जिनवचन के अतिशय का प्रतिपादन करते हुए[10] प्रकृत ग्रन्थ

में प्रवृत्ति कराने के लिए भव्यों के प्रति उपदेश दिया है। तदनन्तर धर्म शब्द की निरुक्ति बतलाते हुए मोक्ष के प्रति धर्म का असाधनता का निराकरण किया है।[11] इसके बाद (27-33) नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्यधर्म, क्षेत्रधर्म, कालधर्म भावधर्म के भेद से धर्म के छह भेदों का स्वरूप बतलाया है। तत्पश्चात्, (34) ग्रन्थ की सङ्गति बतलाते हुए जीव और कर्मयोग का श्रुतानुसार वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

जीव के स्वरूप को बतलाते हुए सर्वप्रथम ग्रन्थकार अनादिनिधन, अमूर्तीक, परिणामी, कर्ता और कर्मफल-भोक्ता के रूप में जीव को प्रदर्शित करते हैं।[12] इसके बाद जीव में उपर्युक्त गुणों की सत्ता सिद्ध करने के पूर्व जीव के अस्तित्त्व को पृथिव्यादि से पृथक् न मानने वाले भौतिकवादियों के पूर्वपक्ष को उपस्थित करके उसका वहन करते हुए जीव की सत्ता सिद्ध करते हैं क्योंकि जब तक सामान्य जीव का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो जाता है तब तक उसके विशेषगुणों का साधन कैसे हो सकता है।

भौतिकपुरुषवादीमत-परीक्षाद्वार-

123 गाथाओं (36-185) वाले इस प्रकरण में सर्वप्रथम भौतिक पदार्थों से भिन्न जीव के अस्तित्त्व को स्वीकार न करनेवाले भौतिकवादियों (चावकों) के पक्ष को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हैं। इस प्रसङ्ग में प्रत्यक्षादि प्रमाण और अभाव-प्रमाण आदि से जीव के स्वतन्त्र अस्तित्त्व का खण्डन करते हुए जाति-स्मरण, स्तनपानाभिलाषा आदि से जीव के अस्तित्त्व को सिद्ध करनेवाले आस्तिकों का खण्डन भी किया गया है (36-43)। तत्पश्चात् भौतिकवादियों के मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम अवग्रहादि आत्मगुणों को अनुभवसिद्ध बतलाते हैं। तदनन्तर बुद्धि को अप्रत्यक्ष माननेवाले मीमांसकों का निराकरण करके उसके प्रत्यक्षत्व को सिद्ध किया है। यहीं पर ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्यस्वीकार करनेवाले नैयायिकों के मत का भी खण्डन किया गया है। इसी प्रकार आत्मा के अप्रत्यक्षत्व साधन में प्रयुक्त युक्तियों का, चैतन्य के भूतधर्मत्व का, भूतकार्यत्व का, शरीरजन्यत्व का, चार्वाक द्वारा उपस्थित 'तद्भावे तद्भावात्' इस हेतु का और मद्यदृष्टान्त का खण्डन किया है। इसके बाद अनुमान आदि प्रमाण से जीव के अस्तित्त्व को सिद्ध करते हुए आत्मप्रतिषेधक भावात्मक प्रमाणों के अभाव का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त यथाप्रसङ्ग मीमांसकाभिमत आलोचनात्मक निविकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य का निराकरण, नैयायिक-वैशेषिकाभिमत 'विशेषण-ज्ञान प्रमाण है और विशेष्यज्ञान फल' इस मत का खण्डन, सौगत विशेषाभिमत ज्ञान के प्रमेयसारूप्यप्रमाणवाद का खण्डन, गौणवृत्ति से भी ज्ञान ही प्रमाण है इस मत का खण्डन, 'विज्ञानघन' इत्यादि पदों का यथार्थ व्याख्यान, परलोक शब्द की व्याख्या, आत्मा के परलोकगमन आदि की सिद्धि भी की गई है।

अनादिनिधनत्वद्वार-

जीव के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के अनन्तर ग्रन्थकार 33 गाथाओं (156-191) द्वारा अनादिनिधनत्वद्वार में जीव के अनादिनिधनत्व में कारण उपस्थित करते हुए उसकी कृत्रिमता में दूषण देते हैं।[13] इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ईश्वर के जगत्-कर्तृत्व का भी खण्डन करते हैं। जगत्कर्तृत्व के खण्डन में ग्रन्थकार ने अनवस्था, प्रयोजनाभाव, प्रमाणाभाव, असुन्दरता, संसार की अनादिता, ईश्वर की आदिमत्ता, युक्तिविरहता, विचित्र जीवों के निर्माण का अभाव, मध्यस्थता का अभाव, जगन्निर्माण की असमर्थता, ईश्वर के भी कर्मफलवेदन के प्रसङ्ग की प्राप्ति आदि नाना प्रकार के दोषों को उपस्थित किया है।

अमूर्तत्त्वद्वार-

जीव के अनादिनिधनत्व को सिद्ध करने के अनन्तर ग्रन्थकार जीव के अमूर्त्तत्व की सिद्धि केवल दो गाथाओं (192-193) द्वारा ही करते हैं। इस प्रसङ्ग में जीव के अमूर्त्तत्व को सिद्ध करते हुए लोकप्रसिद्धि को भी हेतु रूप से उपस्थित किया है।[14]

परिणामित्वद्वार -

जीव के अमूर्तत्व को सिद्ध करने के उपरान्त उसके परिणामित्व को 282 गाथाओं (194-475) द्वारा सिद्ध किया गया है। इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम सुखादियोग की अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से जीव के परिणामी स्वभाव को सिद्ध किया है। अर्थात् सर्वथा एकान्त, नित्य और अनित्य पक्ष में सुख-दु:खादि का उचित सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अत: जीव को परिणामी मानना आवश्यक है।[15] यदि एकान्त से नित्य माना जावेगा तो जीव जब सुखी होगा तो उसके कभी भी सुख का अभाव नहीं होगा और यदि दु:खी होगा तो उसके दु:ख का कभी अभाव भी नहीं होगा, यदि युगपत्

उभय स्वभाव मानोगे तो युगपत् उसे सुख-दु:ख का अनुभव होना चाहिए। परन्तु ऐसा अनुभव में नहीं आता। इसी प्रकार अनित्य पक्ष में भी सुख-दु:खादि की उचित व्यवस्था सम्भव नहीं है क्योंकि एकान्त क्षणिक पक्ष में कार्य-कारणभाव नहीं बनता और कार्य-कारणभाव के अभाव में सुख-दु:खादि निर्हेतुक होनेपर अभाव से भाव की उत्पत्ति, भाव का विनाश, कृतनाश, अकृतागम आदि नानाविध दोष आवेंगे । इस तरह सभी व्यवस्था गड़बड़ हो जावेगी। अत: जीव को सर्वथा नित्य या अनित्य न मानकर परिणामस्वभावी (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) मानना चाहिए। आत्मा को परिणामी स्वभाव मानने से उसे शरीर-प्रमाण भी माना गया है, न सर्वंगत और न अणु मात्र।

इसी तरह प्रकरणवश ग्रन्थकार नित्यवादियों के खण्डन-प्रसङ्ग में ज्ञान-ज्ञानवान् के एकान्तभेद और प्रधान (प्रकृति) के बन्ध मोक्ष का खण्डन,[16] करते हुए आत्मा के बन्ध-मोक्षरूप परिणाम की सिद्धि करते हैं। किञ्च, नित्यपक्ष में व्यवहारलोप और सन्तान की अपेक्षा व्यवहार मानने पर उसका भी खण्डन किया गया है। इसी प्रकार एकान्त क्षणिकवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए कार्यकारणभाव की अनुत्पत्ति, अभाव से भाव की अनुत्पत्ति, कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर अन्वयसिद्धि का प्रसङ्ग; कारणनाश-कार्योत्पाद को युगपत् स्वीकार करने पर दोष, प्रतीत्यसमुत्पाद का खण्डन, कारण के सत्तामात्र से कार्योत्पाद का खण्डन, द्वितीय क्षण में कार्य की कारणसापेक्षता का खण्डन, कार्यकारण की स्वभावविशेष कल्पना का खण्डन, कारणवैशिष्ट्य का अयोग, उपादान सहकारिकारणों से भी वैशिष्ट्यसिद्धि का अभाव, अनादिवैशिष्ट्य का खण्डन, उपादानक्षण की विशिष्टस्वभावता का खण्डन, प्रत्यक्षानुपलम्भ आदि के द्वारा कार्य-कारणभाव के निश्चय का अभाव, कारण की सत्तामात्र से कार्य मानने पर अतिप्रसङ्ग, अर्थक्रियाविरोध, कार्य में कारणधर्म के नियमन का अभाव, वासना से भी कार्य-कारणभाव की अनुत्पत्ति, सुखादियोग का अभाव आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

इसके अतिरिक्त इसी अधिकार में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु की सिद्धि, केवल भेदवादी बौद्धों और केवल अभेदवादी नैयायिकों के मत का खण्डन, द्रव्य और पर्याय में कथञ्चित् भेदाभेद की सिद्धि, आत्मा के सर्वगतत्त्व का निराकरण, आत्मस्थ होकर ही ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है इसकी सिद्धि, आत्मा के शरीरप्रमाण की सिद्धि, केवलज्ञान के सर्वगतत्त्व का आत्मा के अणुमात्र का खण्डन, आत्मा के सप्रदेशत्व की सिद्धि, आत्मा की नित्यानित्यता की व्यवस्था, अन्वयव्यतिरेक से वस्तु के परिणामित्व की सिद्धि, बौद्धों के द्वारा स्वीकृत निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान का खण्डन, और सविकल्पकज्ञान की सिद्धि आदि विविध विषयों की चर्चा की गई है।

कर्त्तृत्वद्वार-

जीव के ज्ञातृत्व को सिद्ध करने के बाद उसके कर्तापने को 35 गाथाओं (546-580) द्वारा सिद्ध करते हुए सर्वप्रथम तद्विषयक अनुमान और लोक-व्यवहार को हेतु रूप से उपस्थित किया है।[17] यहाँ बतलाया है कि जीव अपने कर्म फल को भोगने के कारण अपने कर्मों का स्वयं कर्ता है। यहाँ स्वकर्म फल भोगरूप हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है क्योंकि ऐसा न मानने पर लोकविरोध, युक्तिविरोध, सर्वज्ञोपदेशविरोध आदि दोष आवेंगे। आगे लोकविरोध को बतलाते हुए लिखा है-' किसी जीव को सुखी अथवा दु:खी देखकर लोक में कहा जाता है कि वह अपने कर्म-फल को भोग रहा है। यह कथन 'प्रत्येक वट में यक्ष रहता है' इस वाक्य की तरह मिथ्यालोकप्रवाद नहीं है क्योंकि नानारूप सुख-दु:ख का अनुभव निर्हेतुक नहीं हो सकता, आदि।

इसी प्रकरण में स्वभाववाद, एकान्त नियतिवाद, यदृच्छावाद, देववाद आदि वादों का खण्डन, जीव के सुखाभिलाषी होने पर भी दु:खकारी कर्मों को करने का स्पष्टीकरण[18], इतरेतराश्रय दोष को दूर करते हुए कर्म और मिथ्यात्व के उद्भव की व्यवस्था, कर्म के कृतक होने पर भी प्रवाह रूप से अनादिता, कर्म के अनादि होने पर दृष्टान्तीभूत काल की अनादिता आदि विषयों की सयुक्तिक चर्चा की गई है।

भोक्तृत्वद्वार-

जीव के कर्तृत्व को सिद्ध करके ग्रन्थकार इस प्रकरण में 25 गाथाओं (581-605) द्वारा जीव के भोक्तृत्व, 143 गाथाओं (606-748) द्वारा जीवकर्मसंयोग और 389 गाथाओं (749-1137) द्वारा भावेधर्म का प्ररूपण करते हैं जिससे यह भोक्तृत्वद्वार बहुत विशाल हो गया है। सर्वप्रथम ग्रन्थकार अनुभव लोक और आगमप्रमाण के द्वारा जीव के भोक्तृत्व को सिद्ध करते हुए भोक्तृत्व के न स्वीकार करने पर दूषण देते हैं।[19] इस के बाद कर्मविपाक के वेदनरूप आत्मपरिणति को ही भोक्तृता बतलाते हुए ग्रन्थकार लोक प्रसिद्ध उक्ति का स्पष्टीकरण करते हैं। यदि स्वकृत सातासाता

वेदनीयादि कर्म विपाक के अनुभवरूप क्रिया ही कर्मभोग क्रिया कही जाती है तो लोक में अङ्गनादि के सम्बन्ध होने पर ही 'यह भोक्ता है ऐसी प्रसिद्धि क्यों है ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि वह स्वकृत कर्मविपाक वेदनरूप क्रिया प्राय: स्रक्-चन्दन-अङ्गना आदि सहकारिकारण के सान्निध्य से देखी जाने के कारण लोकव्यवहार ऐसा होता है। इससे कर्मविपाक के अनुभव रूप आत्मपरिणति को भोक्तृता मानने में कोई दोष नहीं है।[20] इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने ईश्वर को कर्म फल देने में प्रेरक कारण स्वीकार करनेवालों का भी खण्डन किया है तथा लोक आदि के द्वारा जीव की भोक्तृता को पुष्ट किया है।

इसके उपरान्त ग्रन्थकार जीव का (सुख-दु:ख देनेवाले) कर्मों के साथ सम्बन्ध बतलाने के लिए कर्म का स्वरूप, कर्म का अमूर्तिक जीव के साथ सम्बन्ध, मूर्त कर्म के द्वारा अमूर्त जीव के उपघात और अनुग्रह का समर्थन, संसारी जीव के सर्वथा अमूर्त्तत्व का निषेध, अमूर्तकर्मवादियों का खण्डन, देह-आत्मा का सम्बन्ध, बाह्यार्थ का खण्डन करनेवाले विज्ञानवादियों के पूर्व पक्ष को उपस्थित कर उसका खण्डन, परमाणु का स्वरूप, अवयवी का स्वरूप, अवयवी की सिद्धि, भ्रमात्मक ज्ञान से भी बाह्यार्थ की सिद्धि, अभाव को एकान्तत: तुच्छ माननेवाले धर्मकीर्ति आदि बौद्धों का खण्डन, ज्ञान की साकारता, अन्यथानुपपत्ति से बाह्यार्थसिद्धि, बुद्ध की दानपारमिता अन्यथानुपपत्ति से बाह्यार्थ की सिद्धि, कर्म के मूर्तिकपने की सिद्धि, आठों कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति आदि का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार संक्षेप से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध बतलाने के बाद ग्रन्थकार ग्रन्थ के आदि में निर्दिष्ट भावधर्म का प्रतिपादन करते हैं। सर्वप्रथम भावधर्म का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है-सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र रूप जो मोक्षमार्ग भगवान् जिनेन्द्र ने बतलाया है वही भावधर्म है।[21] इसी प्रकरण में भावधर्म के मूलभूत सम्यक्त्व की प्राप्ति का प्रकार, सम्यक्त्वादि गुण से रहित जीव के बन्ध अधिक और निर्जरा कम होने पर भी ग्रन्थिभेद का समाधान, अनन्तभव-भावित संसार के होने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद शीघ्र विनाश में युक्ति, सभी जीवों के ग्रन्थिभेद में वीर्योत्कर्ष की निमित्तता का निषेध, दैव और पुरुषार्थ की तुल्यबलवत्ता, ग्रन्थिभेद की कष्टसाध्यता, जिस प्रकार सम्यक्त्व विहीन जीव बहुत कर्मस्थिति का क्षय कर देता है उसी प्रकार शेष अल्प कर्म स्थिति को क्यों नहीं नष्ट कर देता ? इसके लिए दर्शनादि की क्या आवश्यकता है? इस शंका का समाधान, प्रवृत्त-अपूर्व-अनिवृत्तिरूप करणत्रय का निरूपण, सम्यक्त्व के क्षयोपशमिकादि भेदों का निर्वचन, कारक और दीपकसम्यक्त्व का निर्वचन, निसर्गरुचि और आज्ञारुचि आदि 10 प्रकार के सम्यक्त्व का क्षयोपशमिकादि सम्यक्त्व में अन्तर्भाव, निश्चय नय से सम्यक्त्व और मौन में अभेद होने पर भी व्यवहार नय से दोनों में पार्थक्य, आभिनिबोधिक आदि 5 ज्ञानों का वर्णन, ज्ञप्तिस्वभाव से ज्ञान के ऐक्य का खण्डन, ज्ञानों के पार्थक्य में स्थूलनिमित्तता, पाँच से अधिक ज्ञानों का खण्डन, क्षीणावरणवाले केवलियों के आभिनिबोधिक (मतिज्ञान) ज्ञान के प्रसङ्ग का खण्डन, केवलज्ञानावरण के प्रति समय प्रदेशत: क्षय होने पर भी चरम समय में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का समर्थन, ज्ञानों के क्रमश: कथन का प्रयोजन, चारित्र का स्वरूप-निर्वचन, श्रमणों के 6 मूलगुणों (अहिंसादि 5 महाव्रत और रात्रिभोजनत्याग) का सविस्तार कथन, वेदविहित हिंसा की निर्दोषता का खण्डन, जैन मन्दिर (जिनायतन) की तरह वेदविहित हिंसा की निर्दोषता का खण्डन, जिनायतन के विशिष्ट गुणसाधकपने का प्रदर्शन, वेदविहितहिंसा में सत्फल और वध्य के उपकार का अभाव, वेदमन्त्र के साथ भी की गई हिंसा में व्यभिचार आदि दोषों का वर्णन, स्वनिन्दा में हेतुभूत मृषावाद की अदुष्टता का खण्डन, ऐकान्तिक पक्ष का खण्डन करके अनेकान्तवाद की सत्यता की स्थापना, अवधारणपूर्वक वचनत्याग का उपदेश, पर-पीड़ाकारक सत्यवाणी में भी मिथ्यापना, वाणिज्य की तरह चोरी को भी निर्दोष माननेवाले स्कन्द-रुद्र आदि के अनुयायिओं के मत का पूर्वपक्षपूर्वक खण्डन, स्त्रीसेवा को निर्दोष मानने वालों का युक्ति और प्रमाण से पूर्वपक्षपूर्वक खण्डन, रत्नत्रय (बुद्ध, धर्म और सङ्घ) की वृद्धि में हेतुभूत ग्रामादि के परिग्रह को अदुष्ट माननेवाले बौद्धों का पूर्वपक्षपूर्वक खण्डन, वस्त्रादि (खण्ड, पात्र आदि) धर्म के उपकरणों को भी परिग्रह मानने वाले दिगम्बरों (वोटिकों) के मत का पूर्वपक्षपूर्वक खण्डन, वस्त्रादि के ग्रहण से संयम की उपकारता का समर्थन, वस्त्रादि के धारण करने पर भी निर्ग्रन्थता का समर्थन, 'जिनलिङ्ग ही जिनके शिष्यों द्वारा आदरणीय है' ऐसा माननेवाले दिगम्बरों को सयुक्तिक शिक्षा, रात्रिभोजनत्याग में प्रत्यक्ष और परोक्ष फल की सिद्धि, आदि विविध विषयों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त पिण्डविशुद्धि आदि श्रमणों के उत्तर गुणों को अन्य आगम ग्रन्थों से देखने का मात्र सङ्केत किया है। श्वेताम्बर लेखक द्वारा रचित होने से दिगम्बरत्व का खण्डन किया गया है।

वीतराग-सर्वज्ञसिद्धिद्वार -

आत्मा के भोक्तृत्व की सिद्धि के बाद उसके सर्वज्ञत्व की सिद्धि में 238 गाथाएँ (1138-1375) हैं। सर्वज्ञता प्राप्ति के पूर्व वीतरागता आवश्यक है। वीतरागता के लिए भावधर्म का पालन करना आवश्यक है। अत: ग्रन्थकार ने सर्वज्ञत्व की सिद्धि के पूर्व जीव-भोक्तृत्व की सिद्धि के प्रकरण में ही जीव के कर्मबन्ध और भावधर्म का विवेचन करके तदुपरान्त प्राप्त होनेवाली वीतरागता और तज्जन्य सर्वज्ञता का निरूपण किया है। चूंकि ज्ञान आत्मा का गुण है और ज्ञान में हीनाधिकता पाई जाती है। अत: कहा जा सकता है कि कहीं-न-कहीं ज्ञान का अतिशय है और जहाँ ज्ञान की सर्वातिशयता है वहाँ सर्वज्ञता भी है। यह सर्वज्ञता जीव को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाई जाती अत: ग्रन्थकार ने जीवविशिष्ट को सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम अन्य प्रकरणों की तरह सर्वज्ञ का स्वरूप न लिखकर वीतरागता और सर्वज्ञत्व को स्वीकार न करनेवाले मीमांसकों के पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हुए लिखा है कि रागादि, ज्ञानादि की तरह आत्मा के धर्म हैं फिर कैसे उनके नाश से वीतरागता आ सकती है ? जब वीतरागता नहीं बन सकती तो सर्वज्ञता कैसे सम्भव है ? इसी प्रकरण में मीमांसक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि का अभाव सिद्ध करते हुए सर्वज्ञकृत आगम को भी सदोष सिद्ध करते हैं। इसके उपरान्त ग्रन्थकार उत्तरपक्ष में मीमांसकों का खण्डन करते हुए सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं। सर्वप्रथम अनादिमान् रागादि के देशक्षय-दर्शन से प्रतिपक्ष की भावना द्वारा सर्व क्षय की सम्भावना को उपस्थित किया है।[22] इसके उपरान्त भावनादि का वर्णन करते हुए ज्ञानादिक को रागादि का प्रतिपक्षी सिद्ध किया है। इसके बाद जल और ज्वलन (दीपक) के दृष्टान्त से आत्मा को एकान्त से विनाशरूप मानने वालों का खण्डन किया है। तदुपरान्त क्षीण रागादि के पुनर्बन्ध का अभाव, उसका कारण, नैरात्म्य भावना को रागादि के विनाश का निमित्त मानने वाले बौद्धों का खण्डन, धर्म-धर्मी में एकता, चेष्टा से वीतरागता का निर्णय, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही सर्व वस्तुज्ञानोत्पत्ति की साधनता, आवरण का अभाव होने पर जीव की सर्वज्ञता, माँस आदि अशुचि पदार्थों का ज्ञान होने पर भी सर्वज्ञत्व में अपवित्रता का खण्डन, व्यवहार और निश्चयनय से सर्वज्ञज्ञान का निरूपण, आगम से सर्वज्ञ की सत्ता का ज्ञान, आगम के प्रामाण्य की व्यवस्था, नित्य आगम को माननेवाले मीमांसकों का खण्डन करके कथञ्चित् नित्य आगम की व्यवस्था, आगम की पुरुषप्रणीतता, वेद के स्वत: प्रामाण्य का खण्डन, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञप्रतिषेधकता का खण्डन, सर्वज्ञप्रतिषेधक प्रमाण में दृष्टान्त की संदिग्ध साध्यता, अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादक वैद्यक और ज्योतिषादि शास्त्रों की अन्यथानुपपत्ति से सर्वज्ञसिद्धि, केवलज्ञान की त्रिकालवस्तुविषयता, वस्तु के द्रव्य-पर्यायात्मकत्व की सिद्धि, केवलज्ञान की स्फुटता, केवलज्ञान और दर्शन में साकारता और अनाकारता को लेकर पार्थक्य निरूपण, विषयबिम्बसंक्रमणादि से साकारता मानने वालों का खण्डन, केवलज्ञान के सर्वगतत्त्व का खण्डन क्योंकि केवलज्ञान आत्मस्थ होकर ही सभी पदार्थों को जानता है, केवलज्ञान के उत्पत्तिकाल में ही सर्व पदार्थों के जानने के सामर्थ्य का समर्थन, कुछ आचार्यों के मत से केवलज्ञान के सर्वगतत्त्व का समर्थन, केवलज्ञान और केवलदर्शन के युगपद् उपयोगवादी वादिसिद्धसेन का मत और उसका जिन भद्रगणिक्षमाश्रमण के अनुसार खण्डन, केवलज्ञान और दर्शन में अभेद माननेवालों का खण्डन, जिनेन्द्र देव के ही सर्वज्ञत्व का समर्थन, सर्वज्ञत्व के सिद्ध हो जाने पर आगम के छिन्नमूलादि दोषों का खण्डन आदि विविध विषयों का वर्णन है।

इसके उपरान्त ग्रन्थकार 21 गाथाओं (1376-1366) द्वारा ग्रन्थ की परिसमाप्ति के पूर्व सम्यग्दर्शनादि रूप भावधर्म के निर्वाणरूप फल का वर्णन करते हैं।[23] क्योंकि प्रेक्षावानों की प्रवृत्ति फलप्राप्ति की आशा से ही होती है। इसी प्रकरण में मोक्षसुख की नित्यता और मोक्षसुख की अनुपमता में कन्याद्वय का सटीक दृष्टान्त दिया गया है।[24] इसके बाद हमेशा जीवों के मोक्ष जाते रहने पर भी भव्यजीवों के उच्छेद की शंका का खंडन किया है।[25]

अन्त में सम्पूर्ण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने इसकी संक्षिप्तता और भव्यों के प्रति दु:ख-विमोक्ष की भावना से जिनधर्म की सम्बोधि प्राप्ति के लिए मङ्गलकामना की है।[26]

उपसंहार -

इस तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ में धर्म-निर्वचन के माध्यम से जीव की सत्ता उसकी अनादिनिधनता, अमूर्त्तता, परिणामिता, ज्ञातृता, कर्तृता, भक्तृता, सर्वज्ञता अदि की सिद्धि के साथ नित्यैकान्तवाद, अनित्यैकान्तवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, वेद के स्वत:प्रामाण्यवाद, वैदिक अहिंसावाद, आगम के अपौरुषेयवाद, निर्विकल्पकज्ञानवाद, विषयबिम्बसंक्रमणवाद, अवीतरागतावाद, कर्मफलप्रेरकत्ववाद, विज्ञानवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद,

प्रमेयसारूप्यप्रमाणवाद, आलोचनात्मक निर्विकल्पक प्रामाण्यवाद, विशेषणज्ञान प्रमाणवाद, विशेष्यज्ञानफलवाद, समवायसम्बन्धवाद, दिगम्बरों के अचेलकत्ववाद आदि विविधवादों का संक्षेप या विस्तार से खण्डन करके जैन श्वेताम्बरसम्मत सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। प्रकरणवश सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, कर्म, कर्मबन्ध, मोक्ष आदि का सविस्तार व्याख्यान किया गया है।

प्राकृत पद्य में निबद्ध दर्शन-शास्त्र का यह एक अनूठा ग्रन्थ है। इसकी भाषा आचाराङ्ग आदि आगम ग्रन्थों की भाँति अतिकठिन न होकर सरल और मधुर है। यद्यपि विषय बहुत ही स्पष्ट रीति से समझाया गया है। परन्तु कहीं-कहीं प्रमेयकमलमार्तण्ड के विकल्पों की याद आ जाती है।[27] कहीं-कहीं सरस साहित्यिक दृष्टान्तों से भी पदार्थ को स्पष्ट किया है। अन्त में ग्रन्थकार अपनी सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार 'विरह' शब्द के साथ इस ग्रन्थ की भी समाप्ति करते हैं।

सन्दर्भ सूची -

1. कहा जाता है कि बौद्धों का संहार करने के सङ्कल्प के प्रायश्चित्त के रूप में उनके गुरु ने हरिभद्र को 1444 ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दी थी। इसका उल्लेख राजशेखरसूरि ने अपने चतुर्विंशतिप्रबन्ध और मुनि क्षमाकल्याण ने अपनी खरतरगच्छपट्टीवली में भी किया है। देखें, जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ0 362-363। विशेष के लिए देखें-धर्मसंग्रहणी प्रस्तावना-मुनि कल्याणविजय, पत्र 11
2. वही, पत्र 12-19 । जै. सा. बृ. इ. भाग-3, पृ0 362 में 72 ग्रन्थों की सूची दी गई है।
3. कुछ ग्रन्थ 50 श्लोक-प्रमाण (पञ्चाशक) हैं, कुछ 16 श्लोक-प्रमाण (षोडशक) और कुछ 20 श्लोकप्रमाण (बिंशिकाएँ) हैं । देखें-जे. सा. बृ.इ. भाग 3, पृ0 363
5. देखिए-धर्म. प्रस्तावना-पत्र 1-4.
6. वही, पत्र 23-34, जै. सा. बृ. इ भाग 3, पृ. 359-जैन परम्परा के अनुसार वि. सं0 585 (वीर सं0 1055, सन् 529) में हरिभद्र का देहावसान हो गया था। परन्तु हर्मन जैकोबी ने सन् 650 में होनेवाले धर्मकीर्ति के तात्त्विक विचारों से हरिभद्र को परिचित बतलाकर उपर्युक्त मान्यता का खण्डन किया है। सन् 779 (वि0सं0 835) को कुवलयमाला ग्रन्थ की समाप्ति करनेवाले उद्योतन ने हरिभद्र को गुरु माना है तथा कई ग्रन्थों के रचयिता के रूप में उल्लेख किया है। इसके आधार पर हरिभद्र को उद्योतन के कुछ समसमयवर्ती मानकर सन् 700-770 (वि0सं0 757-827) को मुनि जिनविजय जी स्वीकार करते हैं।
7. चक्कीदुगं हरियणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।।
   केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्कीय ।। जै0 सा0 बृ0 इ0, भाग 3, पृ0 360 फुटनोट.
8. दुर्भाग्य से मुझे इस टीका का उत्तरार्ध ही प्राप्त हो सका ।
9. आहरणं सेट्ठिदुगं जिणिदपारणगऽदाणदाणेसु ।
   विहिनत्तिभावऽभावा मोक्खगं तत्थ विहिभत्ति ।।
   वेसालिवासट्ठाणं समरे जिण पडिम सेट्ठिपासणया।
   अइभत्ति पारणदिणे मणोरहो अन्न हि पविसे।। धर्म0 10-11
10. मिच्छतं सेलकुलिसं अण्णाणतमोहभक्खरब्भूतं।
   चरणरयणायनिभं................तिहुयणपसिद्धं ।। धर्म 0 15-16
11. धारेइ दुग्गतीए पडंतमप्पाणगं जतो तेणं।
   धम्मोत्ति सिवगतीइ व सततं धरणा समक्खाओ।।
   घम्माघम्मक्खयतो.......हेतुम्मि फलोवयारोऽयं।।
   हेऊ उभयखयस्स य धम्मो जं तस्सभुज्जतो नियम।
   कुणइ तयं तदभावे तस्साणुट्ठाणवेफल्लं।। धर्म-20-22 तथा-23-26
12. जीवो अणादिणिहणोऽमुत्तोपरिणामि जाणओ कत्ता ।
   मिच्छत्तादिक तस्स णियकम्मफलस्स भोत्ता उ।। 35
13. जम्हा ण कित्तिमो सो तम्हाऽणादीत्थ कित्तिमत्ते य (उ)।
   वत्तव्वं जेण कत्तो सो किं जीवो अजीवो त्ति।।
   जइ जीवो जेण कतो सो अन्नेणंति एवमणवत्था।
   चरमो अकित्तिमो अह सव्वेसु तु मच्छरो कोणु।। धर्म. 159-160
   करणविरहा परमरिसिवयणतो भणितदोससब्भावा।
   तम्हा अणादिणिहणा जीवा सव्वेऽवि सिद्धमिणं ।। धर्म. 191

14. कम्मविमुक्कसरूवो अणिंदियत्ता अछेज्जभेज्जो उ।।
रूवादि विरहितो वा अणादिपरिणामभावातो।।
छउमत्थाणुवलंभा तहेव सव्वन्नुवयणओ पापं।
लोगादि पसिद्धीतोऽमुत्तो जीवोत्ति णेयव्वो।। धर्म, 192-193
15. परिणामी खलु जीवो सुहादिजोगातो होइ णेयव्वो।
णेगंतणिच्चपक्खे अणिच्चपक्खे ये सोऽजुत्तो।।
एक सहावो णिच्चो स जइ सुही णिच्चमेव तब्भावो।
पावइ तस्स अहदुही दुहभावो दिस्सए चुभयं।। धर्म. 194-195
16. संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।-सांख्यकारिका, का0 62.
17. कत्तति दारमहुणा कत्ता जीवो सकम्मफलभोगा।
अस्स य अणब्भुवगमे लोगादि विरोह दोसोत्ति।।
दट्ठूण कंचि दुहियं सुहियं वा एव जंपती लोगो।
भुंजति सकयफलं णय वडजक्ख निवासतुल्लमिणं॥ धर्म. 546-547
तम्हा निमित्तकारण भूओ कत्तति जुत्तिओ सिद्धो।। धर्म. 580
18. जीवो सुहाभिलासी दुक्खफलं कह करेति सो कम्मं ।
मिच्छत्तदिभिभूओ अपत्थकिरियं व सरुउ त्ति।। धर्म. 567
19. भोत्ता सकडफलस्स य अणु हट्टोव लोगागमप्पमाणातो।।
कतवेफल्लपसङ्गो पावइ इहरा स चाणिट्ठो।
सातासाताणुभवो तक्कारणभोग विरहजो ण सिया।।
मुत्तागासाण जहा अत्थि य सो तेण भोत्तत्ति॥ धर्म. 581-582
20. जच्चिय विवागवेदणरूवा तप्परिणई हवति चित्ता।
सच्चिय भोयणकिरिया नायव्वा होइ जीवस्स।। धर्म. 584
बज्झसहकारिकारणसावेक्खा सा य पायसो जेण।
ता अङ्गणादिजोगे भोगपसिद्धी इहं लोगे।। धर्म 586
21. सम्मत्तनाणचरणामोक्खपहो वन्निओ जिणिंदेहि।।
सो चेवभावधम्मो बुद्धिमता होति नायब्वो। धर्म. 749
22. जइ णाम जीवधम्मा अणादिमंतो य एत्थ रागादी।
सम्भवइ तहवि विरहो इह कत्थई हासभावाओ।।
पडिबक्खभावणाओ अणुहवसिद्धो य हासभावो सिं।
थीविग्गहादितत्तं भावयतो होइ भव्वस्स।। धर्म. 1163-1164
23. सिद्धसुखं-काऊण इमं धम्मं विसुद्धचित्ता गुरूवएसेणं।
पावंति गुणी अइरा सासतसोक्खं धुवं मोक्खं।। धर्म, 1376
24. धर्म. 1386-1391
25. तेऽवि अपरिमाण च्चिय जम्हा तेणं ण तेसिमुच्छेदो।
समयाण व तीतेणं वोच्छेज्जिज्जऽण्णधा ते तु।।
तम्हाऽतीतेणाणादिणाऽवि तेसिं जथा ण वोच्छेदो।
तह चेवऽणागतेणवि अणंतभावा मुणेयव्वो। धर्म, 1393-1394
26. एवमिह समासेणं भणितो धम्मो सुताणुसारेणं।
आताणुसरण हेतु केसिं चि तहोवगाराय।।
काऊण पगरणमिणं पत्तं जं कुसलमिह मया तेण।
दुक्खविरहाय भव्वा लभंतु जिणधम्म संबोधिं।।
27. धर्म. 548-561

पं. आशाधर की सर्वतोमुखी प्रतिभा और उनका सागारधर्मामृत

पण्डित प्रवर आशाधर माण्डलगढ (मेवाड) के रहने वाले थे परन्तु बाद में शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारानगरी जो उस समय विद्वानों का केन्द्र थी, में आकर रहने लगे। आपमें जातीयगत सङ्कीर्णता का अभाव था। अत: व्याघ्रेरवाल (बघेरवाल) जाति में उत्पन्न होने पर भी समूचे जैनधर्म के उत्थान में अपने जीवन को अर्पण कर दिया।[1] आपका कुल राज सम्मान प्राप्त था। अत: यदि आप चाहते तो किसी उच्च राज्य पद पर आसीन होकर ऐश और आराम को जिन्दगी गुजारते परन्तु आपने उस समय फैले हुए अज्ञान को दूर करने के लिए नालछा के नेमिचैत्यालय में एकनिष्ठता के साथ रहकर करीब 35 वर्ष गुजारे। यहीं पर आप स्वयं अध्ययन करते और अध्यापन कार्य के साथ ग्रन्थ रचना भी करते रहते थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम श्रीरत्नी और पत्नी का नाम सरस्वती था। छाहड नाम का एक कुशल राजनैतिक आपका पुत्र भी था जिसकी प्रशंसा में आपने स्वयं लिखा है 'रञ्जितार्जनभूपति: '[2]।

आपका व्यक्तित्व और पाण्डित्य इतना महान् था कि मुनि उदयसेन ने इन्हें 'नयविश्वचक्षु: ' और 'कलिकालीदास'[3] तथा मदनकीर्ति यतिपति ने 'प्रज्ञापुञ्ज'[4] जैसी सम्मानपूर्ण उपाधियों से विभूषित किया। यद्यपि आप आजीवन गृहस्थ ही रहे परन्तु इन्हें संसार से कोई मोह नहीं था। इनका आचरण मुनितुल्य या सच्चे श्रावक का था। उस समय में प्रचलित भ्रष्ट मुनियों के आचरण को देखकर ही शायद आपने मुनिदीक्षा धारण नहीं की थी। यदि आप मुनि-दीक्षा ले लेते तो शायद आप इतना अधिक कार्य न कर पाते जो गृहस्थ होकर कर सके। आपके गृहस्थ होने पर भी साधारण गृहस्थ से बहुत अन्तर है अन्यथा आपके लिए परवर्ती ग्रन्थकार 'सूरि' और 'आचार्य-कल्प' जैसे विशेषण से विभूषित न करते और न मुनि लोग आपकी शिष्यता ही स्वीकार करते। आपको **'पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः। शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्'** इस श्लोक के आधार पर मुनियों का विरोधी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आपने सागारधर्मामृत में स्पष्ट रूप से गृहस्थ के लिए मुनिपद प्राप्ति की भावना भाने के लिए लिखा है। मुनिव्रत को 'महोदधि' शब्द से निरूपित किया है।[5] अत: इस विवेचन से सिद्ध है कि अप कार्य रूप से मुनि भले न रहे हों परन्तु आचरण मुनिवत् अवश्य रहा है। उपर्युक्त श्लोक के आधार पर सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि उस समय मुनियों का आचरण ठीक नहीं था। अत: उन्हें सदुपदेश देने की लिए धर्मामृत की रचना की। इसके प्रथम भाग में मुनियों के कर्तव्यादिकों का और उत्तर भाग में श्रावकों के कर्त्तव्यादिकों का बडा ही सुस्पष्ट, सारगर्भित, मार्मिक, युक्ति प्रधान और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है इसका हम आगे विवेचन करेंगे।

सर्वतोमुखी प्रतिभा

आशाधर जी बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, समन्वयवादी, प्रौढ प्रबन्धकर्ता, तार्किक एवं जैनधर्म के मर्म के प्रकाशक थे। इनकी प्रतिभा काव्य, न्याय, व्याकरण, शब्दकोश, अलङ्कार, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, स्तोत्र, वैद्यक आदि सभी विषयों में चतुर्मुखी एवं असाधारण थी। प्रशस्ति में लिखा है -

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य नयतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः,
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वपुः प्रतिष्ठा न के।। प्र0 अनगार 9।।[6]

आशाधर के प्रिय शिष्यों में ऐसा कौन है जो व्याकरण समुद्र में पारङ्गत न हो, षट्दर्शन के तर्क से प्रतिवादियों पर विजय न प्राप्त करता हो, वचनरूपी धर्मशास्त्र से धर्ममार्ग में निरतिशय रूप से न चलाता हो तथा काव्य-सुधा के रस का पान करने वाले रसिकों में प्रतिष्ठा को न प्रात करता हो। इन विषयों में प्रसिद्धि प्राप्त करने वालों के भी नाम मिलते हैं ?[7] आपकी करीब 20 रचनायें हैं जिनको सूचना हमें उनकी प्रशस्ति से मिलती हैं। वे रचनायें निम्न प्रकार हैं जो विविध विषयों पर लिखी गई हैं -

रचनायें-(1) प्रमेयरत्नाकर (स्याद्वाद विद्या की प्रतिष्ठापना), (2) भरतेश्वराभ्युदय (महाकाव्य भरत के ऐश्वर्य का वर्णन है। इसे सिद्ध्यङ्क भी कहते हैं क्योंकि इस के प्रत्येक सर्ग के अन्त में सिद्धि पद आया है), (3) ज्ञान दीपिका, (4) राजीमती विप्रलम्भ (खण्डकाव्य), (5) अध्यात्मरहस्य (योगग्रन्थ), (6) मूलाराधनटीका, (7) इष्टोपदेश टीका (8) भूपाल चतुर्विंशतिका टीका (9) आराधनासार टीका (10) अमरकोष टीका (11) क्रिया कलाप (12) काव्यालङ्कार टीका (13) सहस्रनामस्तवन सटीक (14) जिनयज्ञकल्प सटीक (दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार-धर्मामृतका एक अङ्ग), (15) त्रिपष्ठि-स्मृति शास्त्र सटीक, (16) नित्यमहोद्योत (अभिषेक पाठ), (17) रत्नत्रय विधान, (18) अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी टीका (वाग्भट के आयुर्वेद ग्रन्थ अष्टाङ्गहृदय की टीका), (19) धर्मामृत मूल (सागार और अनगार दो भाग) (20) भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका (धर्मामृत पर लिखी गई टीका) इस टीका का नाम क्षोदक्षमा था परन्तु विद्वानों ने इसकी सरसता सरलता से मुग्ध होकर भव्यकुमुदचन्द्रिका नाम रखा।[8]

इन सब रचनाओं में अधिकांश अप्राप्य हैं तथा अधिकांश टीका ग्रन्थ हैं। इन्होंने उस समय में प्रचलित मत वैविध्य का समन्वय किया था, अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना नहीं की थी। उनका सिद्धान्त था 'आर्षं सन्दधीत न तु विघटयेत'। इस विषय वैविध्य को देखकर कौन ऐसा महापुरुष होगा जो इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का लोहा न स्वीकार करेगा।

समय-आपके उपलब्ध तीन ग्रन्थों में प्रशस्तियाँ मिलती हैं जिनसे इनके समय-निर्णय, रचना काल आदि का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इन तीनों ग्रन्थों को प्रशस्तियाँ प्राय: समान हैं स्थल विशेष पर थोड़ा अन्तर है।[9] जिनयश कल्प वि. सं. 1285 में लिखा था जिसमें 10 ग्रन्थों का उल्लेख है जिन्हें इसके पूर्व लिखा होगा। द्वितीय प्रशस्ति सागारधर्मामृत की टीका (वि. सं. 1296) में काव्यालङ्कार, सहस्रनाम, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्ठि स्मृति, नित्य महोद्योत इन पाँच ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। तृतीय प्रशस्ति वि. सं. 1300 में अनागारधर्मामृत की टीका की समाप्ति पर लिखी गई। इसके आधार पर आपका कार्यकाल वि. सं. 1235 से वि. सं. 1300 के आसपास रहा होगा ?[10] विन्ध्यवर्मा के सन्धिविग्रह मन्त्रि कवीश विल्हण ने इनकी प्रशंसा की है। इस तरह आपका पण्डित्य न केवल जैन शास्त्रों पर था अपितु जैनेतर शास्त्रों का भी अच्छा ज्ञान था।

महत्त्व-सागारधर्मामृत:- यह धर्मामृत ग्रन्थ का उत्तर भाग है जिसमें श्रावकों के कर्त्तव्य आचार आदि का सम्यक् सदुपदेश दिया गया है। यह ग्रन्थ सागार के धर्म के अमृत तुल्य है अत: इसका नाम सागारधर्मामृत रखा गया है। पं. आशाधर ने स्वयं इसकी टीका लिखते समय लिखा है कि समुद्धर के पुत्र महीचन्द्र की प्रार्थना से श्रावकधर्मप्रदीप टीका लिख रहा हूँ जो मन्द बुद्धियों के प्रबोध के के लिए दीपक का काम करती है।'

श्रीमान् श्रेष्ठि समुद्धरस्य तनय: श्री पौरपाटान्वय-
व्यामेन्दु: सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात्।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं वुधाशाधरो,
ग्रन्थस्यास्य च लेखितोऽपि विदधे येनादिम: पुस्तक:।।[11] (सा. प्र. 22)

आशाधर के रचित सभी ग्रन्थों में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ धर्मामृत ही है। आशाधर स्वयं इस ग्रन्थ की महत्ता को जानते थे। अत: उन्होंने इस पर लिखी गई टीका को कल्पकाल पर्यन्त मुमुक्षुओं के चिन्तनार्थ रहने की अभिलाषा व्यक्त की है -

विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रकेत्याख्ययोदिता।
द्विष्ठाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभि: ।129

धर्मामृत का उत्तर भाग गृहस्थों के लिए लिखा गया है जिससे इसकी उपादेयता और भी अधिक बढ़ जाती है। इसकी उपादेयता को ही दृष्टि में रखकर इसे जैन धर्मशास्त्र की परीक्षा में भी रखा गया है। कवि 'अर्हद्दास'[12] ने आपके इसी ग्रन्थ का अध्ययन करके निर्मल दृष्टि प्राप्त की थी और सन्मार्ग में प्रवृत हुए थे -

धावन्कापथसम्भृते भववने सन्मार्गमेकं परं,
त्यक्त्वा श्रान्ततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवच: क्षीरोदधेरादरात्,
पायं पायमित: श्रम: सुखपथं दासो भवाम्यर्हत:।। (मुनिसुव्रत काव्य-64)

मिथ्यात्वकर्म पटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशे कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदञ्जन-सम्प्रयोगै-
रच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि।।65
सूक्त्यैव तेषां भवभीरवा ये,
गृहाश्रमस्थाश्चरितात्म-धर्माः।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय
धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ।। भव्यजनकण्ठाभरण 236[13]

भावार्थ-1 कुमार्ग में भटकते हुए मैंने सन्मार्ग का परित्याग कर दिया था। अन्त में काललब्धि से जिनवचन रूपी क्षीरसमुद्र से निकाले गये धर्मामृत का पान करके मैं अर्हन्तदेव का दास हो रहा हूँ।

2. कुमार्गगामिनी मेरी दोनों आँखें जो मिथ्यात्व रूपी कर्मपटल से आवृत्त थीं, आज आशाधर की विशिष्टसूक्तियों रूपी अञ्जन से निर्मल हो गई हैं और मैं सन्मार्ग का आश्रय ले रहा हूँ।

3. सूरिश्रेष्ठ आशाधर धन्य हैं जिनकी सूक्तियाँ भवभीरु गृहस्थों और मुनियों के लिए सहायक (पथप्रदर्शक) हैं।

इन पंक्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि धर्मामृत जिनवचनरूपी क्षीरसमुद्र में दुहा गया अमृत है जिसके पान करने में भवभय की पीड़ा शान्त हो जाती है और मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सागारधर्मामृत गृहस्थों के लिए दीपक के समान है। इसमें श्रावकधर्म सम्बन्धी सभी विषयों का विस्तृत, तर्कपूर्ण एवं सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। सदाचार पर चलने से क्या फल होता है और कुमार्ग पर जाने पर क्या दुरवस्था होती है आदि का सचित्र चित्रण सरल और सरस शैली में किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों की शरण ली गई है।

श्रावक के धर्म से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी विषय इसमें छूट नहीं पाया है। आज के युग में उठाये जाने वाले सभी प्रश्नों का भी उत्तर इसमें कहीं सूक्ष्म रूपसे और कहीं कुछ विस्तार से वर्तमान है। जब हम स्वामी समन्तभद्राचार्य के रत्नकरण्ड श्रावकाचार से तुलना करते हैं तो प्रतीत होता है कि जहाँ रत्नकरण्ड में सामान्य लक्षणनिर्देश मात्र किया गया है वहां पर सागारधर्मामृत में तार्किक प्रणाली को भी अपनाया गया है तथा विषय का विस्तार भी किया गया है। यद्यपि स्वामी समन्तभद्र बड़े तार्किक और विद्वान् थे परन्तु उनका रत्नकरण्ड श्रावकाचार सिर्फ सामान्य निर्देश करता है जिसकी पुष्टि आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृत में एक नवनीत के साथ की है। चूँकि आशाधर जी की दृष्टि समन्वयात्मक थी अत: पूर्ववर्ती सभी श्रावक धर्म प्रतिपादक ग्रन्थों का युक्ति सङ्गत-समन्वय युक्ति-प्रदर्शन पूर्वक किया है। जैसे मूलगुणों का वर्णन करते हुए अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का भी उल्लेख कर दिया है -

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्च क्षीरफलानि च।। 2.2

इस श्लोक में मद्य मांस मधु तथा पाँच क्षीर फलों (उदुम्बर फलों) के त्याग को आठ मूल गुण गिनाकर अग्रिम कारिका में सोमदेव, समन्तभद्र और जिनसेन आचार्य के मत का भी विकल्प से उल्लेख करके समन्वय किया है -

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थाने इहैव वा[14] ।। 2-3।।

श्री सोमदेव ने तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को मूल गुण कहा है। श्री स्वामी समन्तभद्र ने तीन मकार और पाँचों पापों (हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह) के त्याग को तथा जिनसेन ने मधु के स्थान में जुआ और पाँच पापों के त्याग को आठमूलगुण कहा है।[15] इसमें आपको समन्वय की भावना तथा इनके प्रभाव की स्पष्ट झांकी देखने को मिलती है। संक्षिप्त रूप में विवेचन शैली का भी परिचय इसी श्लोक में मिलता है जिसमें अपने एक ही श्लोक में तीनों आचार्यों के लक्षणों का समावेश कर दिया है। इसी तरह पद्मनन्दि आचार्य द्वारा बताये गये गृहस्थ के छह कर्तव्यों में सर्व प्रथम देव पूजा का स्थान है।[16] पं0 आशाधर ने भी देवपूजा का विशेष महत्त्व पाक्षिक श्रावक के कर्तव्यों में बताया है। महापुराण के आधार पर पूजा के प्रभेद भी किए हैं।[17]

प्रतिपाद्य विषय -

ग्रन्थ के प्रारम्भ में अर्हन्तों एवं मुनियों को नमस्कार किया गया है जिसमें प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन भी बताया गया है -

अथ नत्वार्हतोऽक्षूण चरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते।। 1.1

प्रथम अध्याय में सागार और श्रावक का अन्तर बताया गया है।[18] द्वितीय अध्याय में सागारधर्म के धारण का अधिकारी एवं अष्टमूलगुणों का वर्णन है। विवाह पद्धति, दान, पूजा तथा भ्रष्टमुनियों को भी दान देने का उपदेश दिया है। तृतीय अध्याय में नैष्ठिक का लक्षण तथा मूलगुणों के अतिचारों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में व्रत प्रतिमा और उत्तर गुणों की व्याख्या की गई है। पञ्चम अध्याय में अवशिष्ट उत्तर गुणों की विवेचना है। षष्ठ अध्याय में श्रावक की बड़ी ही सुन्दर दिनचर्या को बताया गया है। वैसे श्रावक प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में उठकर वैराग्य की भावना भाते हुए सायङ्काल सोवे ? यह अध्याय श्रावकों के लिए बड़ा ही उपयोगी है। आचार्य ने इस प्रकार की दिनचर्या का अवलम्बन करने वाले श्रावक को स्वर्गादिक्रम से मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बताया है। सप्तम अध्याय में सामायिक आदि नौ प्रतिमाओं का विवेचन है तथा अष्टम अध्याय जो कि श्रावक और मुनियों का प्राणभूत अङ्ग है, में सल्लेखना का विचार किया गया है। सल्लेखना की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए आशाधरजी लिखते हैं कि 'अन्त भला सो सब भला' –

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो, विराद्धो मरणे मुधा।
सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्।। 8.16।।
नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽश्रवत्।
युधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थभ्रन्शोऽयशः कटुः।। 8.17।।[19]

सल्लेखना कब धारण करना चाहिए ? कब नहीं धारण करना चाहिए ? विधि क्या है आदि सभी विषयों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है।

इस तरह सागारधर्मामृत में गृहस्थ के सभी धर्मों की झांकी दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की तरह स्पष्ट झलकती है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का प्रभाव देखिए कितना सुस्पष्ट है –

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतना।। 1.4

मिथ्यादृष्टि भी सम्यक्त्वी की तरह क्यों प्रतीत होते हैं –

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्र
प्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वत्,
भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम्।। 1.10

आज के इस सभ्यता के युग में तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को पहचानना बड़ा हो कठिन हो गया है। आपकी प्रतिपादन शैली इतनी तार्किक, मार्मिक, सटीक, और प्रभावोत्पादक है कि देखते हो बनती है। कुछ उदाहरणार्थ प्रस्तुत है –

(1) स्त्री–सम्भोग के दोषों का प्रतिपादन –

सन्तापरूपो मोहाङ्ग–सादतृष्णानुबन्धकृत्।
स्त्रीसंभोगस्तथाप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा।। 4.53

अर्थ–जब ज्वर और स्त्रीसम्भोग दोनों सन्ताप, शिथिलता, तृष्णा आदि के जनक हैं तब क्यों स्त्रीसम्भोग की तरह ज्वर को भी सुखकर माना जावे।

(2) माँस और अन्न में जीवपना समान होने पर भी अन्न क्यों भोज्य है, माँस क्यों नहीं–

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि, जनैर्जायैव नाम्बिका।। 2.10

जब माता, बहिन, पत्नी और लड़की में स्त्रीत्व धर्म समान है तब क्या कारण है कि पत्नी ही भोग्या है माता आदि नहीं ? इसी तरह जीवत्व समान रहने पर भी अन्न भोज्य है माँस नहीं। कितना सटीक एवं तार्किक उत्तर उदाहरण द्वारा कितने सरल और सुस्पष्ट शब्दों में दिया गया है जो देखते ही बनता है। इस तरह सागारधर्मामृत में सर्वत्र यही शैली पाई जाती है। विषय कितना ही कठिन और दुरूह क्यों न हो उसे सरस और सरल बनाने की आपमें अनुपम कला है। यही

कारण है कि आपकी विद्वत्ता का लोहा लेना आसान नहीं था।

विषय की गहराई में जाकर आप त्याज्य वस्तु का इस प्रकार से वर्णन करते हैं कि लगता है कि आजीवन उसका सेवन करने वाला प्राणी भी तत्क्षण छोड़ दे।

परस्त्रीसेवन में सुखाभाव को देखिए –

समरसरसरङ्गोद्गममृते च काचित् क्रिया न निर्वृत्तये।
स कुतः स्यादनवस्थित-चित्ततया गच्छतः परकलत्रम्।। 4.54

अर्थ–समरस रङ्ग का उत्पन्न होना ही रति है जो स्वस्त्री सम्भोग से प्राप्तव्य है। परस्त्री सेवन से वह कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि परस्त्री सेवन के अवसर पर भोक्ता के चित्त में अस्थिरता और भय रहता है कि कहीं कोई आकर देख न ले। फलस्वरूप सम्भोग क्रिया ठीक से नहीं हो पाती है फिर उससे सुख पाना तो दूर की बात है। जिसमें लाभ नहीं उसे करने से क्या प्रयोजन ?

माँस में अपवित्रता का प्रतिपादन–

स्थानेऽश्नन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचि कश्मलाः।
श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिम्मन्याः कथं नु तत् ॥ 2.6

अर्थ–अपने को पवित्र मानने वाले लोग स्वभाव से अपवित्र (सप्त धातु निमित होने से) तथा शिकारी कुत्ते आदि को लार से मिश्रित माँस को कैसे खा सकते हैं ? नीच व्यक्ति ही इसे खा सकते हैं।

उपसंहार

इस तरह जब हम सागारधर्मामृत पर दृष्टिपात करते हैं तो हमारे ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं। आशाधरजी के ग्रन्थों में सर्वाधिक लोकप्रिय यही ग्रन्थ है। इससे आपके अगाध पाण्डित्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता चल जाता है। अन्य ग्रन्थ तो इनके पाण्डित्य में चार चांद लगाने का कार्य करते है। सागारधर्मामृत आपके अगाधज्ञान का भण्डार है। जो ज्ञान की और आयु की परिपक्वावस्था में लिखा गया था। आज के युग की आवश्यकता का अनुपमेय ग्रन्थ है जो प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिए मननीय है।

सन्दर्भ सूची –

1. जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्।
2. सरस्वत्यामिवात्मानं सारस्वत्याजीजनद्।
   यः पुत्रं छाहडं नाम रंजितार्जुनभूपतिम् ।। भूमिका, सागारधर्मामृत प्रशस्ति 2
3. व्याघ्रे रवालवरवंशसरोजहंसः
   काव्यामृतोधरसपानसुतृप्तगात्रः।
   सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु–
   राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः।। 3
4. इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभनन्दितः प्रीत्या।
   प्रज्ञापुञ्जोऽसीत् च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना।। प्र.4 नाथूराम प्रेमी
5. लब्धं यदिह लब्धब्यं, तच्छ्रामण्यमहोदधिम् ।
   मथित्वा साम्यपीयूषं, पिबेयं परदुर्लभम्।
   पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ, मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे।।
   जीविते मरणे मोक्षे, भवे स्यां समधीः कदा।।
   मोक्षोन्मुख–क्रियाकांड–विस्मापितबहिर्जनः।
   कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक्।।
   शून्यध्यानैकतानस्य, स्थाणुबुद्ध्याडुन्मृगैः।
   उद्घृष्यमाणस्य कदा, यास्यन्ति दिवसा मम।। सागारधर्मामृत 6.40–43
6. प्रशस्तिगत श्लोक श्री नाथूराम प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ 358 से लिए गये हैं।
7. पं. देवचन्द्र को व्याकरण शास्त्र, वादीन्द्र विशाल कीर्ति आदि को न्याय शास्त्र भट्टारक विनयचन्द्र आदि को धर्मशास्त्र,

मालवनरेश अर्जुन वर्मा बाल सरस्वती महाकवि मदन आदि को काव्यशास्त्र का अध्ययन कराया। (देखो, सागारधर्मामृत भूमिका, श्री पं0 नाथूरामजी प्रेमी।)

8. विशेष परिचय के लिए देखो प्रशस्तियाँ एवं प्रेमी जी का निबन्ध।
9. 'जैन साहित्य और इतिहास' 'प्रेमी' जी मुख्य प्रशस्ति संग्रह।
10 . देखिये निबन्ध श्री नाथूरामजी प्रेमी भूमिका सागारधर्मामृत।
11. मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना।
    धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता।। अनगार. प्र0 26
12. श्री 'प्रेमी' जी ने जैन साहित्य और इतिहास में अर्हद्दास का मदनकीर्ति द्वितीय नाम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जब वे कुमार्ग से सन्मार्ग में आये थे, तो अर्हद्दास नाम रख लिया।
13. पुरुदेव चम्पू में द्वितीय श्लोक के आँखों के स्थान पर मन को सम्बोधित करके लिखा है-
    मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मि-
    न्नाशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।
    उल्लासितेन शरदा पुरुदेव भक्त्या,
    तच्चम्पुदंभजलजेन समुज्जजृम्भे।।- प्रेमीजी के निबन्ध से उद्धृत।
14. प्रकारान्तर से अथवा अन्य किसी आचार्य सम्मत निम्न आठ मूल गुणों की भोर भी निर्देश किया है -
    मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
    जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः। 2.18
15. मद्यमांस मधुत्यागैर्सहोदुम्बरपञ्चकैः।
    अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतौ।। सोमदेव
    मद्यमांसमधुत्यागैर्सहाणुव्रतपञ्चकम्।
    अष्टौ मूलगुणानाहुगृहीणां श्रमणोत्तमाः। समन्तभद्र
    हिंसासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
    पूतान्मांसन्मद्याद्विरितिगृहिणोऽष्टसन्त्यमी।। जिनसेन
16. देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तथा।
    दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने।। पद्मविंशतिका
17. नित्यमह पूजा (2.25), अष्टाह्निक एवं इन्द्रध्वजपूजा (2.26),महामह पूजा (2.27)तथा कल्पद्रुमपूजा(2.28) ये पाँच प्रकारकी पूजायें हैं। अन्य का इन्हीं पाँच में अन्तर्भाव होता है (2.29), सागार0 मोहनलाल (उत्तरार्द्ध पृ0 212)
18. सागार का लक्षण -
    अनाद्यविद्यादोषोत्थ-चतुःसंज्ञाज्वरातुराः।
    शश्वत् स्वज्ञानविमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः।। 1.2
    अनाद्यविद्यानुस्यूतां, ग्रन्थसंज्ञामुपासितुम्।।
    अपारयन्तः सागराः, प्रायो विषयमूर्च्छिताः।। 1.3
    श्रावक का लक्षण-
    मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
    दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।। 1.15
19. रत्नकरण्ड में लिखा है -
    अन्तःक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
    तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।

आचार्य प्रभाचन्द्र

प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि प्रसिद्ध जैन न्याय-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य प्रभाचन्द्र बहुत बड़े दार्शनिक और तार्किक थे। इनमें वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों का प्रगाढ पाण्डित्य था। ये अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। ये जिस विषय का भी खण्डन या समर्थन करते हैं प्रबल युक्तियों से करते हैं। अत: श्रवणबेलगोला के शिलालेख (संख्या 40) में इन्हें प्रथित 'तर्कग्रन्थकार' और 'शब्दाम्भोरुह- भास्कर' विशेषण से सम्मानित किया है।[1] इससे इनके प्रखर पण्डिय की ख्याति का ज्ञान होता है। इनका समय ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु थे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक।[2] पद्मनन्दि से शिक्षा-दीक्षा लेकर ये उत्तर भारत में धारा नगरी आ गए। यहाँ आद्य जैन न्यायसूत्र परीक्षामुख के रचयिता आचार्य माणिक्यनन्दि का शिष्यत्व स्वीकार कर उनके परीक्षामुख ग्रन्थ पर प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका लिखी।[3] दक्षिण में इनके सधर्मा कुलभूषण मुनि थे जिनकी शिष्य परम्परा का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेख (संख्या 55) में मूल सङ्घ के देशीयगण के देवेन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य चतुर्मुख देव और उनके शिष्य गोपनन्दि का उल्लेख है। वहीं गोपनन्दि के सधर्मा तथा धारानरेश भोज द्वारा पूजित प्रभाचन्द्र का भी उल्लेख है। सम्भवत: ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्डकार ही थे क्योंकि आदिपुराणकार ने लिखा है -'प्रभाचन्द्र धाराधिप भोज के द्वारा पूजित थे। न्यायरूपी कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्तण्ड-सूर्य) थे। शब्दरूपी अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करने को रोदोमणि (भास्कर) के तुल्य थे। पण्डितरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे। रुद्रवादि हाथियों को वश में करने के लिए अंकुश के समान थे तथा चतुर्मुखदेव के शिष्य थे।[4]

यहाँ प्रभाचन्द्र का चतुर्मुखदेव का शिष्य होना विचारणीय है। सम्भव है, धारानगरी में आने के बाद ये प्रभाचन्द्र के द्वितीय गुरु हों। इनके लिए प्रयुक्त पण्डित विशेषण से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में ये गृहस्थ थे परन्तु बाद में मुनि बने थे क्योंकि इनके लिए भट्टारक शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[5] धारानगरी इनकी कर्मस्थली थी और यहीं इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखा।[6]

समय-विचार

इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों के निम्न विचार है -

(1) ई. सन् 8वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 9वीं का पूर्वार्द्ध - इस मत के मानने वाले हैं डॉ. पाठक, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार आदि। इनके द्वारा इस मत को स्वीकार करने का आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण (रचना-काल ई. सन् 840 के आसपास) का निम्न पद्य -

चन्द्रांशु-शुभ्र-यशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्।।[7]

यहाँ चन्द्रोदय का अर्थ न्यायकुमुदचन्द्र किया गया है। इसका खण्डन पं. कैलाशचन्द्र जी ने किया है। हरिवंशपुराण में उल्लिखित प्रभाचन्द्र भी इनसे भिन्न हैं क्योंकि वे कुमारसेन के शिष्य थे और ये पद्मनन्दि के शिष्य।

(2) ई. सन् 850 से 1020 ई. - इस मत के पोषक हैं पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य इनका समय ई. सन् 980 से 1065 मानते हैं। इन दोनों विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में कई प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र की प्रशस्तियों में क्रमश: 'श्रीभोजदेवराज्ये' तथा 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' लिखा है। पं. महेन्द्रकुमारजी इनका कर्ता प्रभाचन्द्र को मानते हैं परन्तु प. कैलाशचन्द्र और मुख्तार जी ऐसा नहीं मानते।

(3) ई. सन् 11वीं शताब्दी - डॉ. दरबारीलाल कोठिया इस मत के पोषक हैं। इन्होंने माणिक्यनन्दि में गुरुशिष्यत्व के साथ समसामयिकत्व को भी सिद्ध किया है। डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री भी इसी मत के पोषक हैं।[8]

'सुदंसणचरिउ (समाप्ति वि सं. 1100) की प्रशस्ति में नयनन्दि ने माणिक्यनन्दि का उल्लेख किया है। अत: इनका समय 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। वादीभदेवसूरि (ई. सन् 1118 के आसपास) ने अपने स्याद्वादरत्नाकर में प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड का उल्लेख किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य

देवसेन के भावसंग्रह (ई. 940 के आसपास) की 'नोकम्मकम्महारो' गाथा उद्धृत है। अत: इनका समय ई. 940 के बाद और ई. 1118 के पूर्व होना चाहिए।

रचनायें

डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ने आचार्य प्रभाचन्द्र की निम्न रचनायें सप्रमाण निर्णीत की हैं[9] -

(1) प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख-व्याख्या)[10]

(2) न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय-व्याख्या)[11]

(3) तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-व्याख्या)

(4) शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरण-व्याख्या)

(5) शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण-व्याख्या)

(6) प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसार-व्याख्या)

(7) गद्यकथाकोश (स्वतन्त्र रचना)

(8) रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका

(9) समाधितन्त्र टीका

(10)क्रियाकलाप टीका

(11) आत्मानुशासन टीका

(12)महापुराण टिप्पण

जुगलकिशोर मुख्तार ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका और समाधितन्त्रटीका को अन्य प्रभाचन्द्रकृत माना है।[12] प्रभाचन्द्र की रचनायें यद्यपि व्याख्यात्मक है परन्तु वे व्याख्या में इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले लिया है। वस्तुत: वे अद्भुत व्याख्याकार हैं। प्रथम दो रचनायें जैन न्याय की प्रौढ़ रचनायें हैं। इन टीका-ग्रन्थों में प्रभाचन्द्र ने विविध विकल्पजालों का प्रयोग करके परपक्ष का खण्डन किया है। जिन परपक्षों का खण्डन किया गया है उनमें कुछ इस प्रकार हैं -

(1) चार्वाक - भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद।

(2) बौद्ध - निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, चित्राद्वैतवाद, साकारज्ञानवाद, शून्यवाद, क्षणभङ्गवाद, अपोहवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद।

(3) वैयाकरण - स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद ।

(4) न्यायवैशेषिक-कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, पाञ्चरूप्यहेतुवाद, षट्पदार्थवाद, ईश्वरवाद।

(5) सांख्य-योग-इन्द्रियवृत्तिवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद।

(6) मीमांसक - शब्दनित्यवाद, वेद अपौरुषेयवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद।

(7) वेदान्त - ब्रह्मवाद।

(8) श्वेताम्बर जैन- स्त्रीमुक्तिवाद, केवलिकवलाहारवाद।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन परिपक्षों के प्रस्तुतीकरण में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है, वे हैं - प्रशस्तपादभाष्य (कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद का भाष्य), व्योमवती (व्योमशिव की भाष्य टीका). न्यायभाष्य (न्यायसूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य), न्यायवार्तिक (उद्योतकरकृत), न्यायमञ्जरी (जयन्तकृत), शाबर भाष्य, श्लोकवार्तिक (कुमारिलभट्टकृत), बृहती (प्रभाकर), प्रमाणवार्तिकालङ्कार (प्रज्ञाकरगुप्त), तत्त्वसंग्रह (शान्तरक्षित) आदि।[13] प्रभाचन्द्र ने इन ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके उनकी ही शैली में प्रबल युक्तियों द्वारा उनका खण्डन किया है। इस तरह जैन न्याय में नवीन शैली को जन्म दिया तथा दर्शनान्तरों में उपलब्ध व्योमवती, न्यायमञ्जरी जैसे प्रौढ़ व्याख्याग्रन्थों की कमी को पूरा किया। जैन-न्याय के विकास में इनका यह योगदान सदैव याद किया जायेगा। जैन-न्याय के अतिरिक्त जैन-व्याकरण आदि के क्षेत्र में किया गया योगदान भी चिरस्मरणीय रहेगा।

सन्दर्भ -

1. प्रभाचन्द्र नाम के अन्य कई आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं। जैसे -

(क) श्रमणबेलगोला के प्रथम शिलालेख में जिन प्रभाचन्द्र का उल्लेख है वे सम्भवत: भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त हैं। इनका समय वि.स. 300 से भी पूर्व है।

(ख) आ. देवनन्दि ने जैनेन्द्रव्याकरण में 'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य' द्वारा जिन प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया है वे सम्भवतः वि. की छठी शताब्दी के पूर्व के हैं।

(ग) चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा प्रथम (शक सं. 489) ने जिन प्रभाचन्द्र को दान दिया था वे विनयनन्दि आचार्य के शिष्य तथा परलुरु के निवासी थे। इनका समय छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है।

(घ) तत्त्वार्थसूत्रकार बृहत्प्रभाचन्द्र के समय आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का संक्षेपीकरण और सरलीकरण किया है। कहीं-कहीं परिवर्द्धन और परिवर्तन भी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्क और पूज्यपाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः इनका समय अकलङ्क के बाद होना चाहिए। इनके नाम के साथ बृहद् विशेषण तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में मिलता है - 'इति बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे'।

(ङ) अर्हत्प्रवचनसूत्रव्याख्याकार प्रभाचन्द्र बृहत्प्रभाचन्द्र के परवर्ती हैं क्योंकि इन्होंने बृहत्प्रभाचन्द्र के तत्त्वार्थसूत्र का अवलोकन किया है। ऐसा इन दोनों ग्रन्थों की तुलना से ज्ञात होता है। आचार्य अकलङ्क देव ने तत्त्वार्थवार्तिक (5.38) में 'उक्तं च अर्हत्प्रवचनेन' लिखकर अर्हत्प्रवचन का उल्लेख किया है परन्तु अर्हत्प्रवचन के साथ जिन प्रभाचन्द्र का नाम है उन्होंने वस्तुतः प्राचीन अर्हत्प्रवचन का व्याख्यान किया है। अतः लिखा है - अथाऽतोऽर्हत्प्रवचनं सूत्रं व्याख्यास्यामः।

(च) चन्द्रोदय के लेखक कवि प्रभाचन्द्र का उल्लेख आदिपुराण में है। देखें पृष्ठ 2, टी.7

2. गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
   नन्दताद्दुरतैकान्तरजाजैनमतार्णवः ।।
   श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
   प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ।। - प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रशस्तिपद्य 3,4 तथा न्यायकुमुदचन्द्र-प्रशस्ति ।
3. वही तथा मङ्गलाचरण 1, 2
4. श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
   च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजात लक्ष्मीधवः ।
   न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि-
   स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीकतरणिश्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः ।।
   श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः ।
   पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ।।- आदिपुराण 1.47
5. आराधना गद्यकोश कथा 89 तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र प्रशस्तियाँ।
6. श्रीभोजदेवराज्ये ... श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योत-परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति। प्रमेय0, अन्तिम प्रशस्ति ।
7. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री) भाग 3, पृ. 48
8. वही तथा भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 89, 91
9. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 3, पृ. 50-51
10. प्रमेयकमलमार्तण्ड - प्रमेयकमलों को उद्घाटित करने में यह ग्रन्थ सूर्य (मार्तण्ड) के समान है। अतः इसका नाम प्रमेयकमलमार्तण्ड रखा गया है। इसमें प्रमाण, प्रमाणाभास आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख में 6 समुद्देश हैं जिनमें 208 सूत्र हैं। उनकी व्याख्यारूप यह ग्रन्थ 1200 श्लोक प्रमाण बतलाया गया है।
11. न्यायकुमुदचन्द्र - न्यायरूपी कुमुदों को विकसित करने में चन्द्रमा के समान है। इसमें अकलङ्कदेव के लघीयस्त्रय की व्याख्या करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड की तरह प्रमाण, प्रमाणाभास और प्रमेय का विशेष विचार किया गया है।
12. रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रस्तावना (जुगलकिशोर मुख्तार कृत)
13. जैनन्याय (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री), पृ. 40.

जयोदय में पदलालित्य

अट्ठाईस सर्गों में व्याप्त आचार्य ज्ञानसागर (महाकवि भूरामल) द्वारा रचित जयोदय महाकाव्य कवि कल्पनाओं का अनुपम भण्डार है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (ई. सन् 1937) में रचित इस ऐतिहासिक एवं पौराणिक महाकाव्य की रचना से पूर्ववर्ती दो शताब्दियों से शुष्क पड़ी जैन संस्कृत महाकाव्य धारा पुनरुज्जीवित हो गई। यह महाकाव्य महाकवि माघ, भारवि और श्रीहर्ष की शैली से विशेषत: अनुप्राणित है तथा काव्य प्रतिभा के चमत्कारों से भरा पड़ा है। इसके कलापक्ष और भाव पक्ष दोनों ही सहृदयों को आह्लादित करते हैं।

कलापक्ष से विशेषत: सम्बन्धित 'पदलालित्य' या 'ललितपदयोजना' जयोदय महाकाव्य में अद्भुत है तथा वह समग्र महाकाव्य में परिव्याप्त है। कवि ने इस पदलालित्य की योजना अनुप्रास, यमक, शब्दश्लेष, विरोधाभास आदि विविध अलङ्कारों के प्रयोग के साथ की है जिस पर कोई कमनीया कामिनी अपने विलासयुक्त पदनिक्षेप द्वारा कामुकों के चित्त को बलात् चुरा लेती है, उसी प्रकार जयोदय महाकाल की ललित पदयोजना युक्त कविता – वनिता सहृदयों के हृदयों को बलात् आकृष्ट कर लेती है। इसका रचना शिल्प कोमल और सरल है। इस काव्य में कवि ने एक शिल्पी के सदृश काव्यसौन्दर्य के लिए चुन-चुनकर ललितपदों के प्रयोग द्वारा अनिर्वचनीय लावण्यराशि की सृष्टि की है। काल में कवि का पदलालित्य विधान श्रुतिसुखद तो है ही साथ ही सहृदयों के हृदय को भी परमानन्द देने में पूर्ण समर्थ है। अतएव इसका पदलालित्य मात्र बाह्य सौन्दर्य तक सीमित नहीं है, जैसाकि अधमकाव्यों में देखा जाता है[1], अपितु कविता के कोमल एवं गम्भीर हृदयपक्ष का भी मर्मस्पर्शी है तथा ध्वनिप्रदर्शन के साथ रसनिष्पत्ति में पूर्णत: समर्थ है।

कवि ने खींच-खींचकर बलपूर्वक शब्दों की तुकबन्दी नहीं की है। कवि की कविता नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा समुत्पन्न है। मात्र अभ्यासजन्य नहीं।[2] वे केवल कला प्रदर्शन तक ही सचेष्ट नहीं हैं प्रत्युत वे मानव के अन्तस् तक रमने के लिए सचेष्ट हैं। इसीलिए इनके पदलालित्य में शृङ्गारादि रसों के अनुकूल माधुर्य आदि गुणों और वैदर्भी आदि रीतियों का सम्यक् सम्मिश्रण मिलता है।[3] पदलालित्य वैदर्भी रीति और माधुर्यगुण के अनुकूल वर्ण योजना में अधिक रमणीयता को प्राप्त करता है।[4] वैदर्भी रीति और माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण चित्त के द्रवीभाव में कारण होने से शृङ्गार, करुण और शान्तरस के अनुकूल माने जाते हैं। शान्तरस में ये वर्ण सर्वाधिक चमत्कारक होते हैं।[5] वीर, वीभत्स और रौद्ररस की रचना में चित्त की विस्तारभूत दीप्ति के कारण गौडी रीति तथा ओजस गुण व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग अनुकूल होता है।[6] पाञ्चाली रीति और प्रसाद गुण के व्यञ्जक वर्ण सभी रसों के अनुकूल माने गए हैं।[7] इससे इतना स्पष्ट है कि पदलालित्य यदि रसानुकूल हो तो अधिक चमत्कारक और हृदयस्पर्शी होता है, अन्यथा वह कलाप्रदर्शनमात्र होता है।

पदलालित्य के क्षेत्र में दण्डी, माघ और श्री हर्ष (नैषधकार) के नाम संस्कृत काव्यजगत् में प्रसिद्ध हैं। जयोदयकार का काव्य भी इसी कोटि का है। नवीन, रमणीय तथा अनवद्य रसानुकूल पद शय्यायुक्त ललितपदावली में श्रुतिमधुरता, सङ्गीतात्मकता और लयात्मकता का सम्यक् विनियोग होता है। ऐसा विनियोग जयोदय महाकाव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

कवि के अन्त:सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पदलालित्य के रूप में

काव्य कवि की वह कृति है जो श्रोता के मनोवेगों को तरङ्गित कर देवे। इसके लिए कवि भाषा के माध्यम से लोकमङ्गलकारी प्रेरणा के कान्तासम्मत प्रेरणा के रूप में सहृदय श्रोताओं तक पहुँचाता है। कवि के अन्त:सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पदलालित्य के रूप में होती है। कवि समाधिस्थ होकर अन्त:चक्षु से उस सौन्दर्य का पान करता है और वह अन्त:सौन्दर्य शब्द का आश्रय लेकर प्रकट होता है। जिसे अन्त:सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं है, वह कैसे शब्दसौन्दर्य से ओतप्रोत पदलालित्य की रसचर्वणा कर सकता है। इसके लिए वर्णसङ्घातरूप ललित पद और ध्वन्यात्मक व रसानुकूल अर्थ दोनों का औचित्य अपेक्षित होता है। इसलिए काव्य को शब्दार्थोभयगत माना गया है।[8] 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेवरूपं रमणीयताया:', यह उक्ति भी पदलालित्य में विशेषरूप से चरितार्थ होती है। जयोदय में अभिनव पदलालित्य-योजना, शोभाकारक अलङ्कारों का सन्निवेश और शान्तरस की माधुरी रूपी त्रिवेणी प्रवाहित हुई है, जिसमें

अवगाहन करके मानव सही रूप में सद्यःपरिनिर्वृतिः प्राप्त कर सकता है।

पदलालित्य के विविध उदाहरण

(1) अनुप्रास अलङ्कार के साथ चतुष्पादान्तव्याप्त पदलालित्य

जयोदय महाकाव्य में अनुप्रास अलङ्कार से अनुप्राणित पदलालित्य प्रयेक सर्ग में बहुलता से व्याप्त है। पदलालित्य के होने पर अनुप्रास स्वभावतः होता है। जैसे –

अमी शमीशानकृपां भजन्ति, जनुर्ह्यनूनं निजमामनन्ति।
पादोदकं पक्षिगणाः पिबन्ति वेदध्वनिं नित्यमनूच्चरन्ति।। 1/87

अर्थ – ये पक्षीगण समतासम्पन्न ऋषियों की कृपा प्राप्त करते हैं तथा उससे अपने जन्म की सफलता मानते हैं। उनके चरणोदक का पान करते हैं। ऋषिप्रोक्त वेदध्वनि (द्रव्यानुयोग शास्त्र) का अनुकरण करते हैं।

यहाँ माधुर्यगुण तथा वैदर्भीरीति है। भजन्ति, आमनन्ति, पिबन्ति और अनूच्चरन्ति इन पदों के द्वारा चारों पदों की तुकबन्दी की गई है। अमी- शमी में तथा नकार, पकार, दकार के प्रयोगों में अनुप्रास अलङ्कार है। इस तरह इस पद्य में चतुष्पादन्याप्त पदान्त तुकबन्दी के साथ पदलालित्य है।

अन्य उदाहरण (सन्ध्याकाल के वर्णन प्रसङ्ग में)

पतत्यहो वारिनिधौ पतङ्ग, पद्मोदरे सम्प्रति मृत्तभृङ्गः।
आक्रीडकद्रोर्निलये विहङ्गः शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्गः।। 15/20

अर्थ – सूर्य समुद्र में गिर रहा है। मत्तभ्रमर कमल के भीतर, पक्षी उद्यानवृक्षस्थ घोंसले में जा रहे हैं। काम धीरे-धीरे स्त्रियों के मन में प्रवेश कर रहा है।

यहाँ पतङ्ग, मत्तभृङ्ग, विहङ्गः, और अनङ्ग पदों के द्वारा चतुष्पाद व्याप्त पदान्त तुकबन्दी के साथ पदलालित्य है प, न और र वर्ग में अनुप्रास भी है। माधुर्य और प्रसाद गुण है।

प्रातःकाल के वर्णन प्रसङ्ग में एक अन्य मनोहारी रचना द्रष्टव्य है –

मन्दत्वमञ्चति विधोर्मधुरे प्रकाशे, पर्याप्तिमिच्छति चकोरकृते विलासे।
सस्पन्दभावमधिगच्छति वारिजाते, सर्वत्र कीर्णकरन्दिनि वाति वाते।। 18/6

अर्थ – जब चन्द्रमा का मधुर प्रकाश मन्दता को प्राप्त हो रहा था, चकोरपक्षियों का नृत्यादि विलास व्यापार शान्त हो रहा था, कमल विकसित हो रहा था और सर्वत्र मकरन्द (पराग) को मिलने वाले वायु बह रही थी जब उषा की लाली फूट रही थी तब पक्षीगण कल कल ध्वनि से अनित्यानुप्रेक्षा को सार्थक कर रहे थे। यहाँ शान्त रस के स्थायी भाव निर्वेद का ध्वनि है। माधुर्य गुणयुक्त इस पद्य के पदलालित्य से कौन मदहोश नहीं होगा।

इसी प्रकार सप्तभङ्गी के 'स्याद् अवक्तव्य' जैसे नीरस विषय की उपमा मधुर पदलालित्य से कवि ने दी है –

नो नक्तमस्ति न दिनं न तमः प्रकाशः, नैवाथ भानुभवनं न च भानुभासः।
इत्यर्हतो नृप! चतुर्थवचो विलासः, सन्देशके सुसमये किल कल्यभासः।। 18/62

अर्थ- हे राजन् ! अर्हन्त के चतुर्थ वचन (स्याद् अवक्तव्य) का संदेश देने वाले इस सुन्दर प्रभातकाल में न रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रों का भान है और न सूर्य की दीप्ति है।

इसी प्रकार अन्य पद्यों में तुकबन्दी रूप पदलालित्य प्रायः प्रत्येक सर्ग में बहुत अनायास प्रयुक्त हुआ है। जैसे – अग्रवर्ति इयर्ति ममेयं मेयं (1.23), मन्यैः –धन्यैः (5.13), अधिकारः– उपचारः (49), पदैर्लालितैः– श्लोकसङ्कलितैः (6.5), भृङ्ग–भृङ्ग (15.8), अतिकाली–कचपाली (14.10), श्रीध्वजवस्त्रपल्लः दीपशिखांशमल्लः (16.7), अभिरामे-यामे (18.5), अर्हतीव–सतीव (18.3), दलित्वा–छलित्वा(18.36), विचारभावा प्रभावा (18.37), अधिकार–प्रचारः (18.65), उत्सवाय–विस्मयाय (18.56) आदि। अधिक क्या कहें प्रथम सर्ग का प्रथम पद्य भी इस पदलालित्य से अछूता नहीं है –

श्रियाश्रितं सन्मतिमात्मयुक्त्याऽखिलज्ञमीशानमपीतिमुक्त्या।
तनोमि नत्वा जिनपं सुभक्त्या, जयोदयं स्वाभ्युदयाय शक्त्या॥ 1/1

कुशल क्षेम पूछते हैं तो भी पदलालित्य की भाषा का प्रयोग करते हैं –

नयनतारक ! मेऽप्युपकारक ! सुहृद् आवृज वैरिनिवारक!

स्वजनसज्जनयोः परिचारक ! चिरतरादुपयासि विचारक।। 20/19

मेरी नेत्रों के तारे, सरलजनों के उपकारक, वैरिनिवारक स्वजन पावन सेवक, बहुत दिनों बाद आ रहे हो

अलङ्कारों के साथ पदलालित्य

कथाप्यथामुष्य यदि श्रुताराऱ्तथा वृथा साऽऽर्य सुधासुधारा।
कामैकदेशक्षरिणी सुधा सा कथा चतुर्वर्ग-निसर्गवासा ॥ 1.3

यहाँ व्यतिरेक, यमक और अनुप्रास अलङ्कारों से अलङ्कृतपदलालित्य के साथ दीर्घपदों के प्रयोग से जन्य पदलालित्य भी है।

विरोधाभास अलङ्कार के साथ पदलालित्य

सदाचारविहीनोऽपि, सदाचारपरायणः।
स राजापि तपस्वी सन्, समक्षोऽप्यक्षरोधकः ॥ 28/5

रूपकालङ्कार के साथ

आकाशनीराशयपुण्डरीकं, वदाम्यदोऽङ्कस्थितचञ्चरीकम् ।
यूनां मनो वर्त्मनि तर्तरीकं, तुरत्यहो कामरमामरीकम् ॥ 15/57

चन्द्रवर्णन में कामदेव का मानो निर्मल आतपत्र है चन्द्रमा, अमृत से पूर्ण देवयाग है।

उत्प्रेक्षा के साथ

स्मरामरस्यामलमातपत्रं शृङ्गारवारस्य च ताम्रपत्रम्।
विराजते सम्प्रति राजसत्रं सुधामयं श्रीद्युसदाममत्रम्॥ 15.59

अनुप्रास के साथ

सारं सतारं लसदङ्गहारं, मञ्जीरशिञ्जानमयोपहारम्।
मित्रैः पवित्रैकतलेऽभिलाष्यं, दृशा दशाङ्गं सुदृशां क्व लास्यम् ॥27.17

उपमा के साथ -जिन देव के गुणों से समवसरण के चारों ओर स्थित वृक्षों की उपमा

सुमनोभिरुपासिता हिता, मनुजेभ्यश्च फलोदयान्विताः।
परितापहरा महीरुहाः परितः श्रीशगुणोपमावहाः॥ 26.56

इसी प्रकार अन्यत्र अलङ्कारों के प्रयोग में पदलालित्य नहीं छूटा है। जैसे – श्लेष के साथ (7.85), दृष्टान्त के साथ (26.73), समासोक्ति के साथ (8.59,14.7) उल्लेख के साथ (16.7), तद्गुण के साथ (14.11), वक्रोक्ति के साथ (14.10), श्लेषोपमा के साथ (14.5), विरोधाभास के साथ (1.12), रूपक के साथ (26.69), उत्प्रेक्षा के साथ (26.9,18) आदि।

रसों में पदलालित्य

(अ) ओजगुण और गौडी रीति के साथ वीररस में पदलालित्य

उद्धूतसद्धूलिघनान्धकारे, शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला, चुकूजुरेवं तु शिखण्डिबालाः ॥ 8.8

(ब) माधुर्यगुण और वैदर्भी रीति के साथ शृङ्गाररस में पदलालित्य

हाला हि लालायितमन्तरङ्गं, करोति बीजग्रहणेष्वभङ्गम् ।
हालाहलं प्राह जने त्रपाला, वालापिनी प्रीतपणस्य बाला॥16.31

(स) माधुर्यगुण और प्रसादगुण के साथ शान्तरस में पदलालित्य

आपातमात्ररमणीयमणीय एतत्
किम्पाकवत् परमपाकरणीयतेतः।
पातुं नृपातुरतया तु न यातु कश्चिद्
धर्म्यं विपाकपटुकं कटुकं विपश्चित् ॥ 27.64

अन्य उदाहरण

धीरवीर जयकुमार ने संसार रूपी सागर के उत्तम तटस्वरूप भगवान् ऋषभदेव के चरणरूप वृक्ष के स्थान को प्राप्त किया। वहां नमस्कार करते हुए उन्होंने सात्त्विक भाव के कारण जाती हुई चञ्चल आंखों से युक्त हो मनोहर मोती

प्राप्त किए। अर्थात् भगवान् ऋषभदेव के चरणों का सान्निध्य पाकर राजा के नेत्रों से हर्ष के अश्रु निकलने लगे जो अश्रु मोती के कणवत् थे।

संसार - सागर - सुतीर- वदादिवीर -
श्रीपादपादप - पदं समवाप धीरः।
तत्राऽऽनमंस्तु झरदुत्तरलाक्षिमत्वा -
न्मुक्ताफलानि ललितानि समाप सत्त्वात्।। 26.69

इस तरह जयोदय महाकाव्य में रसादि के अनुकूल ललितपदयोजना करते हुए कवि भूरामलजी ने कला पक्ष के साथ भाव पक्ष का भी पूरा ध्यान रखा है। अनुप्रास और यमक भिन्न विविध अलङ्कारों में भी पद्य रचना होते हुए भी ललितपदयोजना द्वारा कवि पदलालित्य में प्रसिद्ध दण्डी, माघ और श्रीहर्ष से भी आगे निकल गए हैं। काव्य में केवल पदों की तुकबन्दी नहीं है अपितु कवि का अभिनव ललितपदसन्निवेश सहसा सहृदयों के हृदयों को आवर्जित कर लेता है। पश्चात् अर्थप्रतीति के माध्यम से काव्य रस में डुबो देता है। कैसा भी वर्णनप्रसङ्ग हो कवि पदलालित्य के सन्निवेश के प्रति सजग है। कवि की अन्य काव्य रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है ।

सन्दर्भ -

1. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्गयं त्वरं स्मृतम्। काव्यप्रकाश - 1.5
2. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। का प्र.1.3
   शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । वही टीका
3. देखें, आगे रसों के पदलालित्य।
4. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यिते॥ साहित्यदर्पण 9.2
   गुणों के व्यञ्जक वर्ण -
   मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू। अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ का. प्र. 8.74
   योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोरेण तुल्ययो। टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।। का. प्र. - 8.75
   स्तुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्। साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।। का.प्र. 8.76
   रीतियाँ -
   (क) वैदर्भीरीति, देखें इसी फुटनोट का प्रारम्भ।
   (ख) गौड़ी रीति - 'ओजः प्रकाशकैर्वर्णैबन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी..........। सा.द.-9.3
   (ग) पाञ्चाली रीति -वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयो। समस्तपञ्चपदोबन्धः पाञ्चालिका मता ॥ सा.द. 9.4

5-7. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
   दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।। का.प्र. 8.69
   बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।
   शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।। का. प्र. 8.70
   व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।। का.प्र. 8.7

8. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणानवलङ्कृती पुनः क्वापि।। का.प्र. 1.4
9. देखें, टि. 4,7

वीरोदय (महावीर चरित) काव्य में ऋतु वर्णन

प्राणियों के लिए नवचेतना प्रदान करने वाली प्रकृति ऋतुओं के रूप में नववधू के समान परिणमित होती है। इसीलिए काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य का लक्षण करते हुए उसमें ऋतुवर्णन का सन्निवेश किसी न किसी रूप में आवश्यक माना है, ऋतु प्रकृति-प्रदत्त एक वरदान है।

महाकवि ने वीरोदय काव्य में भगवान महावीर के जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए उनके गर्भ, जन्म आदि

कल्याणकों के समय जो ऋतु थी, उसका वहीं पर चित्रण किया है। वीरोदय काव्य का ऋतुवर्णन कवि सम्प्रदायानुकूल होते हुए भी कहीं कहीं अपनी विशेषता को लिए हुए है। अभिनव कल्पनाओं और अलङ्कारों से समलङ्कृत है। वीरोदय काव्य के ऋतुवर्णन की प्रौढ़ अलङ्कृत शैली का रसास्वादन कीजिए–

(1) वसन्त ऋतु (4.5/6.12-36/12.22)

वसन्त ऋतु को सभी ऋतुओं का सम्राट् कहा जाता है। वीरोदय काव्य में भी वर्षाऋतु के वर्णन प्रसङ्ग में 'वसन्त सम्राट्' (4.5) कहा गया है। इस ऋतु में पुष्पों की समृद्धि होती है, अतः इसे 'पौष्येसमये' (6.16) कहा है। आनन्दोत्पादक एवं सरोजिनी के सौरभसार से सुगन्धित वायु के प्रवाहित होने से इसे ग्रीष्म वर्णन प्रसङ्ग में 'सरोजिनी सौरभसारगन्धिमधौ' (12.22) कहा है। इसके अलावा इसके गुणों के अनुरूप इस ऋतु को 'कुसुमोत्सवः' (6.18), 'नर्मश्री ऋतु' (6.36), 'सुरभिः'(6.12), 'अनङ्गैकसखा' (6.13), 'मधुसमय'(12.22) आदि नामों से उल्लिखित किया है ।

भारतीय संवत्सर के अनुसार इस वसन्त का काल सामान्य रूप से चैत्र-वैशाख मास में जब सूर्य मीन और मेष राशि में रहता है, माना जाता है। वीरोदय काव्य में माघ के बाद आने वाले फाल्गुन मास से इस बसन्त को स्वीकार किया है (समक्ष माघादतिवर्तमाने 6.24 तथा संस्कृत टीका)। यह समय शिशिर ऋतु का है जिसे कवि ने वसन्त का शैशव काल कहा है (6.32)। कवि ने इस ऋतु का वर्णन करते हुए भगवान महावीर के जन्म काल चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक ही वर्णन किया है (6.38) क्योंकि भगवान के जन्मप्रसङ्ग से ही इस वसन्त ऋतु का वर्णन किया गया है ।

वसन्त ऋतु में सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखकर कवि ने हेतु प्रस्तुत किया। है जो बड़ा मनोरञ्जक है –

प्रदाकुदर्पाङ्कितचन्दनाक्तौर्याम्यैः समीरैरिव भीतिभाक्तैः।
कुबेरकाण्ठाऽऽश्रयणे प्रयत्नं दधाति पौष्ये समये द्युरत्नम्॥ 6.16।

चन्दन वृक्षों से लिपटें हुए सर्पों के निःश्वास का विष दक्षिण से आने वाली मलयानिल से मिश्रित रहता है। यह दक्षिणी मलयानिल बसन्त में बहने लगता है कहीं सर्पों के विष का दुष्प्रभाव मेरे ऊपर न पड़े इसी भय से सूर्य दक्षिण दिशा में न जाकर उत्तर दिशा की ओर गमन करने लगता है।

दूसरी ओर कवि दक्षिणानिल बहने का कारण भिन्न प्रकार से बतलाता है–

रविरयं खलु गन्तुमिहोद्यतः समभवद्यदसौ दिशमुत्तराम्।
दिगपि गन्धवहं ननु दक्षिणा वहति विप्रियनिश्वसनं तराम् ॥ 6.33

जब सूर्य दक्षिण दिशा रूपी स्त्री को छोड़कर उत्तर दिशा रूपी स्त्री के पास जाने के लिए उद्यत हुआ तो पतिवियोग से दुःखित दक्षिणदिशा के दीर्घ निःश्वास दक्षिण वायु के रूप में बह रहा है ।

वसन्त राज और वनलक्ष्मी के मणिग्रहण के रूप में वसन्त वर्णन दर्शनीय है –

वन्या मद्योः पाणिधृतिस्तदुक्तं पुंस्कोकिलैर्विप्रवरैस्तु सूक्तम्।
साक्षी स्मराक्षीणहविर्भुगेष भेरीनिवेशोऽलिनिनाद देशः ॥ 6.14

बसन्तराज और वनलक्ष्मी के पाणिग्रहण(विवाद) पर नरकोयल रूप ब्राह्मण के वचन मन्त्रोच्चार हैं, कामदेव की प्रज्ज्वलित अग्नि ही होमाग्नि रूप साक्षी है ओर भौरों का गुञ्जन ही भेरी निनाद (बाजों का शब्द) है। इस वसन्त में वनस्थली वैश्या के समान प्रतिदिन समृद्धि को प्राप्त हो रही है, रागोत्पादक कामदेव चोर की तरह पथिक जनों पर तीक्ष्ण बाण चला रहा है, इस राज शृङ्गार सर्वत्र अतिथि रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है और समस्त बन्धु-जनसमूह वसन्तश्री के कौतुक करने वाले विदूषक के समान हर्ष को प्राप्त हो रहा है (6.37)

विरहिणियों को सन्ताप देकर इस बसन्त ने जो अपरिहरणीय पाप का अर्जन किया है वही उदय में आकर भौरों के गुञ्जन के बहाने मानों बसन्त को दुःखी कर रहा है (6.36)

वसन्त में आम्रवृक्ष की मञ्जरी को देखकर विरही पथिक अपनी प्रिया को याद करके मानो मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् कामवासना की अभिवर्धक यह ऋतु है (6.29)

वसन्त में कामदेव के पाँच बाण इस प्रकार हैं, जो इस समय सक्रिय हो जाते हैं-पुषों को उद्गम, भ्रमर गुञ्जन, दक्षिणानिल का प्रवाह, स्त्रियों की स्वाभाविक चेष्टायें और कोयल की कूक (6.22)।

पुष्प–पराग का विस्तार (6.25); पलाशवृक्ष आम्रवृक्ष, लवङ्गलता, गुलाब, लालकमल का विकास (6.34), कोयल की कूक, भ्रमरगुञ्जन आदि इसी ऋतु की चेष्टाएँ हैं। वसन्त में सूर्य मन्दगति क्यों है ? –मृगनयनी स्त्रियों के मुखकमल को देखने के लिए माना सूर्य ने अपने रथ की गति को मन्द कर दिया है (6.29)। सूर्यगति की मन्दता से दिन बड़े होने की अन्य प्रकार से भी कल्पना की है (21.1)। इसी तरह विविध रूपों में वसन्त को कवि ने चित्रित किया है।

(2) ग्रीष्म ऋतु (12.1–31)

भगवान महावीर के उग्र तपश्चरण काल को उद्देश्य करके ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है। ज्येष्ठ और आषाढ मास में जब सूर्य वृष और मिथुन राशि में रहता है तब ग्रीष्म काल माना जाता है । इन दिनों सूर्य प्रचण्ड रूप से तपता है और दिन बड़े होने लगते हैं कवि ने दिन बड़े होने की अभिनव उत्प्रेक्षा की है –

विलोक्य वीरस्य विचारवृद्धिमिहेर्ष्य येवाथ बभूव गृद्धिः ।
वृषाधिरुढस्य दिवाधिपस्यापि चार आत्तोरुतयेति शस्या ॥ 12.1)

अर्थ – भगवान के सद विचारों की वृद्धि को देखकर उनके प्रति ईर्ष्या करते हुए मानों वृष राशि पर आरुढ सूर्य का सञ्चार भी दीर्घता को प्राप्त हो गया है। अर्थात् दिन बड़े हो गए हैं क्योंकि सूर्य रास्ता अधिक समय में तय कर पाता है। दिन क्यों बड़े होते है वसन्त में ? एक उत्प्रेक्षा यहाँ देखो (6.29)। अब इसी क्रम में गर्मी में दिन क्यों बड़े होते है दूसरी उत्प्रेक्षा देखिए –

प्रयात्यरातिश्च रविर्हिमस्य दरीषु विश्रम्य हिमालयस्य ।।
नो चेत्क्षणक्षीणविचारवन्ति दिनानि दीर्घाणि कुतो भवन्ति ॥ 12.20)

अर्थ – हिम का सहज वैरी सूर्य भी हिमालय की गुफाओं में विश्राम करके आगे बढ़ता है इसीलिए दिन दीर्घ हो रहे हैं । पृथ्वी पर सूखा क्यों पड़ा है?

स्वतो हि सञ्जृम्भितजातवेदा निदाघके रुग्ण इवोष्णरश्मिः।
चिरादथोत्थाय करैरशेषान् रसान्निगृह्णात्यनुवादि अस्मि ॥ 12.2॥

अर्थ – ग्रीष्म में बढ़ी हुई जठराग्नि वाला सूर्य रुग्ण पुरुष के समान आचरण करता हुआ अपने करों (किरणों) से पृथ्वी के समस्त रसों को ग्रहण कर ले रहा है । अत: सूखा पड़ा है । इसी प्रंसग में 12.31.भी देखें।

इसी प्रकार कई अन्य कल्पनायें कवि ने ग्रीष्मकाल से सम्बन्धित की हैं – भैसों की स्थिति (12.13), सर्य की गति (12.11), कुत्तों की लपलपाती जिह्वा (12.7), पथिक जनों की तृष्णा (12.4) पतङ्ग उड़ाती नि:सन्तान स्त्रियाँ (12.25–26) आदि। स्नान, चन्दन–विलेपन, पुष्पमाला धारण (12.25) आदि का वर्णन अन्य कवियों के समान मिलता है, इनसे गर्मी में कुछ राहत तो मिलती है परन्तु कामीजनों के लिए त्राण के लिए तो स्त्रियाँ ही सरोवरी (सरसी) हैं (12.30) क्योंकि शीतलता इन दिनों मात्र स्त्रियों के पयोधरों में विराजती है (12.18)। कवि ने ग्रीष्म के लिए निदाघकाल (12.2) और खरकाल (4.11) का प्रयोग किया है।

(3) वर्षा ऋतु (4.1–26)

भगवान् महावीर जब आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी को पटरानी के गर्भ में आते हैं तो उसके बाद वर्षा ऋतु का प्रारम्भ हो जाता है (4.1, 2)। सूर्य श्रावण और भाद्रपद मास में कर्क और सिंह राशि में रहता है तब वर्षा ऋतु मानी जाती है। इस समय पृथिवी ग्रीष्म जनित सन्ताप से उन्मुक्त होकर हरीभरी हो जाती है और मानो हर्ष से उल्लसित हो जाती है (4.3)। सरकण्डे पैदा हो जाते हैं तथा अनेक प्रकार की औषधियाँ भी अंकुरित होने लगती है (4.4)। मयूर का नृत्य (4.6), मृदङ्गवत् मेघ–ध्वनि (4.5), मेढक की टर्र–टर्र आवाजें (4.17), कुटज वृक्षों के फूल (4.78), नक्षत्रों के रूप में जुगुनुओं की पृथ्वी पर चमक (4.20), नितम्बिनियों का झूलनोत्सव (4.21) आदि इस ऋतु के आकर्षण हैं।

इस ऋतु को कवि ने इसके गुणानुरूप विभिन्न नामों से स्मरण किया है। जैसे – रसायनाधीश्वर (4.4), कलिकाल (4.6–8), दुर्दिनकाल (4.7), नीलाम्बरा प्रावृड् (4.10) आदि।

वसन्त सम्राट् के वियोग से वियोगिनी तथा निष्प्रभ हुई पृथ्वी के उपकार के लिए इस वर्षा ऋतु ने मानो दिशारूपी सहेलियों के सहयोग से मेघों के ब्याज से चारों ओर विशाल कमल–दलों को फैला दिया हैं –

वसन्त सम्राड्विरहादपर्तुं दिशावयस्याभिरिवोपकर्तुम्।
महीमहीनानि घनापदेशाद् धृतानि नीलाब्जदलान्यशेषात् ।। 4.5

ग्रीष्म काल में पृथिवी-पुत्र वृक्ष जलकर नष्ट से हो गए हैं उनको खोजने के लिए दु:खित हुए मेघ वर्षा के बहाने आंसू बहाते हुए बिजली रूप दीपकों को लेकर मानो इधर-उधर खोज रहे हैं -

वसुन्धरायास्तनयान् विपद्य निर्यान्तमारात्खरकालमद्य।

शम्पाप्रदीपैः परिणामवार्द्राग्विलोकयन्त्यम्बुमुचोऽन्तरार्द्राः ।।4/11

मेघ क्यों वर्षा कर रहे हैं ? (4.11-12) कमल क्यों नष्ट हो गए हैं ? (4.15) वियोगिनियों पर कामदेव का क्या प्रभाव है ? (4.16), समुद्र के जल की वृद्धि क्यों हो रही है ? (4.23-24), झूले पर झूलती हुए चन्द्रमुखी नायिकायें ऊपर की ओर और नीचे की ओर क्यों आ रही है ? (4.22) रात्रि और दिन में सदा अन्धकार रहने पर दिन और रात का बोध कैसे होता है (4.25) आदि के सम्बन्ध में मनोहारि उत्प्रेक्षायें की गई हैं। वर्षा ऋतु को एक कमनीया नायिका के रूप में कवि ने चित्रित किया है (4.10)। वर्षाकाल में कामदेव शीतलजल कणों के भय से ही मानो पति वियोग से संतप्त अङ्गनाओं के अन्तरङ्ग में प्रवेश करके उन पर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रहा है।

(4) शरद्ऋतु (21-1-20)

भगवान् महावीर के निर्वाण काल (कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि) के अन्तिम प्रहर में शरद ऋतु का वैभव नवोढा नायिका की तरह शोभायमान था (21,3), कवि ने यहाँ कल्पना की है कि सर्वजनवल्लभ भगवान् महावीर जब शिवलक्ष्मी(मुक्तिरमा) को वरण करने के लिए उद्यत थे तो उस महोत्सव को देखने के लिए ही मानो शरद् ऋतु धरातल पर अवतीर्ण हुई (21.1)। आश्विन और कार्तिक मास में सूर्य जब कन्या और तुला राशि में रहता है, तब शरद् ऋतु का काल माना जाता है (21.11,20)।

इस शरद् ऋतु में सरोवर का जल और आकाशतल एक जैसा हो जाता है (21.7)। आकाश में तारागण मोती के समान और चन्द्रमा दीपक के समान सुशोभित होने लगते हैं (21.4,9)। जल निर्मल हो जाता है (21.4)। मयूर का बोलना बन्द हो जाता है (21.5)। पृथिवी कीचड़ से रहित हो जाती है और कमल खिल जाते हैं (21.6)। साठी धान्य पक जाती है और आकाश बादलों से रहित हो जाता है (21.3)। कृषक अपने घरों में धान्य लाते हैं और खलिहानों में उसे रखते हैं (21.12) कामोद्दीपक सप्तपर्ण और वृक्षों को पुष्प सुगन्धि से युक्त शारदीय हवायें बहने लगती हैं, कमल और कमलिनियों का विकास हो जाता है (21.15)। प्रिया की याद में पथिकों की स्थिति डंवांडोल हो जाती है (21.15)। कामदेव का सर्वत्र साम्राज्य फैल जाता है (21.18,19)। कवि की कुछ अद्भुत कल्पनायें दर्शनीय हैं । जैसे - यह शरद् ऋतु योगियों की सभा के समान आचरण वाली है -

विलोक्यते हंसरवः समन्तान्मौनं पुनर्भोगभुजो यदन्तात्।

दिवं समाक्रामति सत्समूहः सेयं शरद्योगिसभाऽस्मदूहः ।। 21.5

'मेघों की गम्भीर वाणी को जीतने वाले हंसों के शब्दों से हम पराजित हो गए हैं।' ऐसा सोचकर उदास हुए मयूर गण अपने शरीर के पंखों को उखाड़-उकाड़कर फेंक रहे हैं।

जिताजिताम्भोधर सारभासां रुतैरतामी पततामुदासा।

उन्मूलयन्ति स्वतनूरुहाणि शिखावला आश्विनमासि तानि।। 21.11

सूर्य इस ऋतु में उत्तरायण से दक्षिणायन क्यों हो जाता है ?

परिस्फुरत्षष्ठिशरद् धराऽसौ जाता परिभ्रष्ट पयोधरा द्यौः ।

इतीव सन्तप्ततया गभस्तिः स्वयं यमाशायुगयं समस्ति।। 21.3

अर्थ - पृथ्वी रूपी स्त्री को साठ वर्ष (साठी धान्यवाली) की देखकर तथा द्यौ नाम की स्त्री को भ्रष्ट पयोधरा देखकर ही मानो सूर्य सन्तप्त चित्त होकर स्वयं यमपुर (दक्षिणदिशा) जाने के लिए तत्पर है। सूर्य ने सिंह राशि को छोड़कर कन्या राशि में क्यों प्रवेश किया ?

स्मरः शरद्यस्ति जनेषु कोपी तपस्विनां धैर्यगुणो व्यलोपि।

यतो दिनेशः समुपैति कन्याराशिं किलासीमतपोधनोऽपि।। 21.13

अर्थ - तपस्वियों के भी धैर्य को छुड़ाने वाला असीम तपस्वी एवं प्रचुर ताप को धारण करने वाला भी यह सूर्य इस शरद ऋतु में सिंह राशि (सिंह वृत्ति) को छोड़कर कन्याराशि (कन्याओं के समूह) में जा रहा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

(5-6) हेमन्त ऋतु और शिशिर ऋतु (9.18-45, 10.1,2)

प्राय: कवियों ने हेमन्त और शिशिर ऋतु दोनों का समावेश शीत ऋतु में करके एक सा वर्णन किया है। यहाँ एक स्थान पर शिशिर ऋतु को वसन्त का शैशवकाल बतलाया है –

अयि लवङ्गि! भवत्यपि राजते विकलिते शिशिरेऽपि च शैशवे ।
अतिशयोन्नतिमत्स्तवकस्तनी भ्रमरसङ्गवशान्मदनस्तवे॥ 6.32

अर्थ – अयि लवङ्गलते ! तुम सौभाग्यवती हो क्योंकि तुम्हारा शिशिरकाल रूप शैशवकाल बीत चुका है और अब नव यौवनावस्था में पुष्पों के गुच्छों रूपी उन्नत स्तनों से युक्त हो गई हो। भौंरों के सम्पर्क से काम-प्रस्ताव को प्राप्त हो रही हो। शिशिरोचितप्रिया: स्त्रिया: (9.20) कहकर शीत ऋतु का ही वर्णन किया है। अन्यत्र एक स्थान पर शिशिरवायु का भी उल्लेख किया है (9.23)।

भारतीय संवत्सर के अनुसार मार्गशीर्ष और पौषमास में जब सूर्य वृश्चिक और धनु राशि में रहता है तब हेमन्त ऋतु होती है। माघ और फाल्गुन मास में जब सूर्य मकर और कुम्भ राशि में होता है तब शिशिर ऋतु मानी जाती है।

वीरोदय काव्य में शीत ऋतु के आगमन का कारण भगवान् महावीर के द्वारा लोगों की जड़ता दूर करने के लिए किया गया क्रोध युक्त उपक्रम है (9.18)।।

कन्या राशिस्थ सूर्य जब हेमन्त ऋतु में धनुराशिस्थ हो जाता है तो वह कर्ण राजा (कन्या कुन्ती से उत्पन्न और धनुर्विद्या पारङ्गत) के समान पराक्रमी होकर योगियों को भी कँपा देने वाला हो जाता है –

कन्याप्रसूतस्य धनु:प्रसङ्गतस्त्वनन्यमेवातिशयं प्रविभ्रत:।
शीतस्य पश्यामि पराक्रमं जिन श्रीकर्णवत्कम्पकरं च योगिन:॥ 9.19

सूर्य के धनु:राशिस्थ होने पर दूसरी उत्प्रेक्षा देखिए –

रविर्धनु: प्राप्य जनीमनांसि किल प्रहर्तुं विलसत्तमांसि।
स्मरो हिमैर्व्यस्तशरप्रवृत्तिस्तस्यासकौ किङ्करतां बिभर्ति॥ 9.28

अर्थ – हिमपात से अस्तव्यस्त शर सञ्चालन वाले कामदेव की सहायतार्थ ही मानो सूर्य धनुष लेकर (धनु राशि पर)। उसकी किङ्करता (सेवकपने) को प्राप्त हुआ है।

दिन छोटे और रात्रियाँ बड़ी क्यों होती हैं? इस हेमन्त ऋतु में रात्रि रूपा श्यामा स्त्री की शीत-पीड़ा को देखकर यह दिन(सूर्य) उसे प्रीतिवश अधिक अम्बर (वस्त्र, समय) दे देता है। अथवा शीत से आतुर हुआ यह सूर्य रात्रि में अपनी सुन्दर स्त्री के गाढ़ आलिङ्गन में सो जाता है, जिससे वह प्रात: आलस्य के कारण शीघ्र नहीं उठ पाता है।

श्यामास्ति शीताकुलितेति मत्वा प्रीत्याम्बरं वासर एष दत्त्वा।
किलाधिकं सङ्कुचित: स्वयन्तु तस्यै पुनस्तिष्ठति कीर्तितन्तु॥ 9.29
शीतातुरोऽसौ तरणिर्निशायामालिङ्ग्य गाढं दयितां सुगात्रीम्।
शेते समुत्थातुमथालसाङ्गस्ततस्त्वतो गौरवमेति रात्रि:॥ 9.22

इसी प्रकार अन्य विविध उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं आदि के द्वारा इस शीत ऋतु (हेमन्त और शिशिर) का कवि ने चित्रण किया है। जैसे – शीत में दरिद्र पुरुष की स्थिति (9.25), वानरों की स्थिति (9.27), वृक्षों की शोभा का विनाश (9.22), हिमपात होना (9.21), प्रियाविहीन की मरणवत् स्थिति (9.35), प्रियाविहीन पुरुष के लिए तो रात्रियाँ साक्षात् यमयामिनी हैं (9.40), स्त्रियों की कन्दुक क्रीड़ा (9.36-38), ताराततिवत् कुन्दपुष्पों का विकास (9.42), पक्षियों का सञ्चार बन्द होना और शीत वायु का सञ्चार होना (9.35), ठिठुरन का बढ़ना और दाँतो का किटकिटाना (9.43), हिरण के द्वारा पास में पड़ी हुई घास को उठाकर नहीं खा पाना, सम्मुख आते हुए हाथी पर आक्रमण करने में सिंह का असमर्थ होना, ब्राह्मणों के सन्ध्यावन्दन हेतु हाथों का न उठना आदि (9.45) जलाशयों के ऊपर बर्फ की पर्त जम जाने से वह ऐसी लगती है मानो उसने शीत से बचने के लिए चादर ओढली हो (9.41)। इस शीत ऋतु में वे ही सुरक्षित रह सकते हैं, जो स्त्री के आलिङ्गन में बद्ध हों, रजाई हो और अङ्गीठी जलती हुई पास में हो । ऐसे लोगों का शीत कुछ नहीं बिगाड़ सकती है (9.24, 44) भयभीत सूर्य की गर्मी ने स्त्रियों के कुचस्थलों में शरण ले रखी है (9.30, 33)।
कवि ने शीतकालीन वायु को पति के रूप में चित्रित किया है –

रुचा कचानाकलयञ्जनीष्वयं नितम्बतो वस्त्रमुतापसारयन्।
रदच्छदं सीत्कृतिपूर्वकं धवायते दधच्छैशिर आशुगोऽथवा॥ 9.23

शीत से मुरझाये हुए कमलों को देखकर भगवान् महावीर संसार की असारता को जानकर विरक्त हो जाते हैं (10.1, 2)।

इस तरह वीरोदय काव्य में शिशिर ऋतु का पृथक् सङ्केत करते हुए छहों ऋतुओं का सुन्दर एवं अभिनव कल्पनाओं से समन्वित चित्रण किया है। यह ऋतु वर्णन बलात् सन्निविष्ट नहीं किया गया है अपितु कथानक के अनुसार यथाप्रसङ्ग आया है। किसी भी दृष्टि से संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठित कवियों के ऋतुवर्णन से यह ऋतुवर्णन कमजोर नहीं है सभी ऋतुओं का वर्णन सभी महाकाव्यों में प्राय: नहीं मिलता है। इस ऋतुवर्णन को देखने से कवि का ऋतुओं से प्रेम, उनका सूक्ष्म निरीक्षण ज्योतिषशास्त्र एवं कामशास्त्र का परिज्ञान, एक ही विषय को विभिन्नरूपों में प्रस्तुत करने की कल्पना शक्ति, श्लिष्ट पदावली का प्रयोग, रसाभिव्यक्ति की क्षमता आदि का पता चलता है।

पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य-सम्पादित न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन वैशिष्ट्य

ग्रन्थ परिचय

भट्टाकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृत्ति की विस्तृत व्याख्या का नाम है 'न्यायकुमुदचन्द्र'। न्यायकुमुदचन्द्र एक व्याख्या ग्रन्थ होकर भी अपनी महत्ता के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। इसमें भारतीय दर्शन के समग्र तर्क-साहित्य एवं प्रमेय-साहित्य का आलोडन करके नवनीत प्रस्तुत किया गया है। तार्किक-शिरोमणि प्रभाचन्द्राचार्य ने निष्पक्ष भाव से वात्स्यायन, उद्योतकर आदि वैदिक तार्किकों के और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकों के मतों का विवेचन करके उनके ही ग्रन्थों का आधार लेकर खण्डन निष्पक्षता से किया है। साथ ही जैनाचार्यों के मन्तव्यों का प्रस्तुतीकरण किया है। जैन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में उठने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्याओं को उठाकर उनका तार्किक शैली में विशद समाधान प्रस्तुत किया है।

तर्कशास्त्र वह शास्त्र है जो अतीत, अनागत, दूरवर्ती, सूक्ष्म और व्यवहित अर्थों का ज्ञान कराता है। तर्कशास्त्र का विशेषत: सम्बन्ध अनुमान प्रमाण से है। परन्तु कभी-कभी इन्द्रियप्रत्यक्ष और आगम की प्रमाणता में सन्देह होने पर तर्क के द्वारा ही उस सन्देह का निवारण किया जाता है। इस शैली का आश्रय लेकर परवादियों के प्राय: सभी सिद्धान्तों की समीक्षा न्यायकुमुदचन्द्र में की गई है। जिस प्रकार प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रमेयरूपी कमलों का विकास करने के लिए मार्तण्ड (सूर्य) है उसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र भी न्यायरूपी कुमुदों का विकास करने के लिए चन्द्रमा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि न्यायकुमुदचन्द्र भट्टाकलङ्ककृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृति की व्याख्या है। लघीयस्त्रय में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचन प्रवेश इन तीन छोटे-छोटे प्रकरणों का संग्रह है। प्रमाणप्रवेश में चार परिच्छेद हैं, नयप्रवेश में एक तथा प्रवचनप्रवेश में दो। इस तरह लघीयस्त्रय में कुल सात परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भकी दो कारिकाओं पर, पञ्चम परिच्छेद की अन्तिम दो कारिकाओं पर, षष्ठ परिच्छेद की प्रथम कारिका पर और सप्तम परिच्छेद को अन्तिम दो कारिकाओं पर विवृति नहीं है, शेष पर है। विवृति में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेन के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश लिए गए हैं। (न्यायकुमुद प्रस्तावना, प्र.भा.,पृ.5-7)

जैनदर्शन में स्वामी समन्तभद्र (ई0 2री शता0) को जैन तर्क विद्याकी नींवका प्रतिष्ठापक माना जाता है। पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर (वि0 सं0 625 के आसपास)को जैन तर्क का अवतरण कराने वाला और आचार्य भट्टाकलङ्क (ई0-7-8 शता0) को जैन तर्क के भव्यप्रासाद को संस्थापित करनेवाला माना जाता है। अकलङ्क द्वारा संस्थापित सिद्धान्तों का आश्रय लेकर परवर्ती जैन न्याय के ग्रन्थ लिखे गए। आचार्य विद्यानन्द (ई0 9वीं शता0) ने इस तर्कविद्या को प्रौढ़ता प्रदान की ओर आचार्य प्रभाचन्द्र (ई0 980-1065) ने जैन तर्कविद्या की दुरूहता को बोधगम्य बनाया। प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती, न्यायभाष्य, न्यायवातिक, न्यायमंजरी, शाबरभाष्य, श्लोकवार्तिक, बृहती, प्रमाणवार्तिकालङ्कार, तत्त्वसंग्रह आदि जैनेतर प्रौढ़ तर्क ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके आचार्य प्रभाचन्द्र ने उनकी ही शैली में प्रबलयुक्तियों में उनके सिद्धान्त का परिमार्जन किया है। इस तरह जैन तर्क शास्त्र में नवीन शैलीको जन्म देकर न्यायकुमदचन्द्र जैसे ग्रन्थ लिखकर व्योमवती जैसे प्रौढ ग्रन्थों की कमी को पूरा किया है।

सम्पादन और प्रकाशन योजना

माणिकचन्द्र दि0 जैन ग्रन्थमाला के मन्त्री पं0 नाथूराम जो 'प्रेमी' की इच्छा से प्रेरित होकर न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर, जैनप्राचीन न्यायतीर्थ आदि उपाधियों से विभूषित पं0 महेन्द्रकुमार शास्त्री जो श्री स्याद्वाद दि0 जैन

महाविद्यालय, काशी में जैन न्याय के अध्यापक थे, ने पं0 सुखलाल सङ्घवी द्वारा संपादित सन्मतितर्क की शैली में न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन प्रारम्भ किया। यह पं0 महेन्द्रकुमारजी का इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास था। इसके सम्पादन में पं0 सुखलाल सङ्घवी और पं0 कैलाशचन्द्र जी का बहुमूल्य सहयोग रहा है। सम्पादनोपयोगी साहित्योपलब्धि कराने में पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी का औदार्य पूर्ण सहयोग मिला। इसके सम्पादन में पाँच प्रमुख प्रतियों से सहायता ली गई थी और उन प्रतियों के आधार पर जो या तो अशुद्ध थीं या अधूरी थीं, प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन कितना कठिन कार्य है, यह अनुभवी सम्पादक ही समझ सकता है। सम्पादन करते समय जिन-जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए उन सभी का ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत संस्करण माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से ई0 सन् 1938 तथा 1941 में क्रमशः दो भागों में प्रकाशित हुआ है। छपाई में मूलपाठ, विवृत्ति, व्याख्यान, टिप्पण, पाठान्तर, विरामचिह्नों आदि का समुचित प्रयोग किया गया है। विषय की सुबोधता तथा शोधार्थियों के उपयोग के लिए द्वितीय भाग में निम्न 12 परिशिष्ट दिए गए हैं-

(1) लघीयस्त्रय-कारिकानुक्रमणिका, (2) लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृति में आगत अवतरणवाक्यों की सूची, (3) लघीयस्त्रय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, (4) अन्य आचार्यों द्वारा उद्धृत लघीयस्त्रय कारिकायें एवं विवृति अंशों की तुलना, (5) न्यायकुमुदचन्द्र में उद्धृत ग्रन्थान्तरों के अवतरण, (6) न्यायकुमुदचन्द्र में निर्दिष्ट न्यायवाक्य, (7) न्यायकुमुदचन्द्र में आगत ऐतिहासिक और भौगोलिक नामों की सूची, (8) न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची, (9) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत लाक्षणिक शब्दों की सूची, (10) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत कुछ विशिष्ट शब्द, (11) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत दार्शनिक शब्दों की सूची, (12) मूल ग्रन्थ तथा टिप्पणीमें प्रयुक्त ग्रन्थ सङ्केत सूची (पृष्ठ सङ्केत के साथ)।

पं0 महेन्द्रकुमारजीका वैदुष्य

पं0 महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जिन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अकलङ्क ग्रन्थत्रय आदि महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर ग्रन्थों का सटिप्पण सुन्दर सम्पादन किया है, उनकी बराबरी का आज दूसरा कोई सम्पादक नहीं दिखलाई पड़ रहा है। आप जैनविद्या के प्रकाण्ड मनीषी तो थे ही, साथ ही जैनेतर न्यायशास्त्र में भी गहरी पैठ थी। न्यायकुमुदचन्द्र के टिप्पण तथा द्वितीय भागकी 63 पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना आपके वैदुष्यको प्रकट करती है। प्रथम भाग की 126 पृष्ठों की प्रस्तावना पं0 कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित है । इसके बाद भी आपने द्वितीय भाग में प्रभाचन्द्रकी वैदिक और अवैदिक इतर आचार्यों से तुलना करते हुए अभिनव तथ्यों को प्रकट करने वाली प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ सङ्केत सूची, शुद्धिपत्रक आदि के साथ विस्तृत विषयसूची दोनों भागों में दी गई है जिससे विषय की दुर्बोधता समाप्त हो गई है।

सम्पादन की प्रमुख विशेषताएँ

पं0 महेन्द्रकुमार जी के वैदुष्य को तथा सम्पादन कला की वैज्ञानिकता को प्रकट करनेवाली प्रस्तुत न्यायकुमुदचन्द्र के संस्करण को प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं -

1-आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन किया गया है। ग्रन्थसङ्केतसूची, विस्तृत विषयसूची, परिशिष्ट, प्रस्तावना, शुद्धिपत्रक, सहायक ग्रन्थसूची, विराम चिह्नों का समुचित प्रयोग, टिप्पण, पाठान्तर, तुलना आदि सभी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक हैं।

2- द्वितीय भागकी प्रस्तावना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें सम्पादकने अथक श्रम किया है। ऐतिहासिकता के बीजों को उद्घाटित करते हुए तुलनात्मक दृष्टि अपनाई गई है। विषय विवेचनमें सङ्कीर्णता नहीं अपनाई गई है।

3- कुछ टिप्पणियाँ ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने के लिए तथा कुछ पाठशुद्धि के लिए भी दी गई हैं।

4-प्रत्येक विषय के अन्तमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष सम्बम्धी ग्रन्थों की विस्तृत सूची दी गई है जिससे उस विषय के पर्यालोचन में और अधिक सहायता मिलती है।

5-प्रस्तावना में आचार्य अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक और दार्शनिक मन्तव्यों का विवेचन किया गया है। प्रसङ्गतः जैन एवं जैनेतर ग्रन्थकारों की तुलना करते हुए बहुत-सी बातों के रहस्य खोले गए हैं। इसे यदि जैनतर्क युग के इतिहास की रूपरेखा कही जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतः ऐतिहासिकों के लिए यह प्रस्तावना बहुत उपयोगी है।

6-जो पाठ अशुद्ध थे उनको सुधारने का प्रयत्न किया गया है। सम्पादक ने इस बात को इंगित करने के लिए उस कल्पित शुद्ध पाठ को ( ) ऐसे ब्रेकिट में दिया है। इसके अतिरिक्त जो शब्द मूल में त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह

सम्पादक ने जिनशब्दों को अपनी ओर से रखा है उसे [ ] ऐसे ब्रेक्रिटके द्वारा प्रदर्शित किया है ।

7-इसके सम्पादन में ईडर भण्डार की (आ0 संज्ञक) प्रति को आदर्श माना गया है। शेष अन्य चार प्रतियों का यथास्थान उपयोग किया गया है। विवृत्ति की पूर्णता आ0 प्रति के अतिरिक्त जयपुर की प्रति से की गई है।

इस तरह न्यायाचार्य पं0 महेन्द्र कुमार जी का यह प्रथम सम्पादन कार्य इतना महत्त्वपूर्ण और आदर्शदीपक हुआ कि कालान्तर में इन्हें प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों के सम्पादन का उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसे इन्होंने उसी लगन और ईमानदारी से पूर्ण किया। न्यायकुमुदचन्द्र का इन पर इतना प्रभाव था कि इन्होंने इसके सम्पादन काल में उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र का नाम स्मृतिनिमित्त 'कुमुदचन्द्र' रखा जो काल की गति का निशाना बन गया और सम्पादित यह ग्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक बना जिसे पं0 जी ने अपने साहित्य यज्ञ की आहुति माना। ऐसे स्वनामधन्य पं0 महेन्द्रकुमार जी की प्रतिभा जो प्रभाचन्द्राचार्यवत् थी को शतशत वन्दन करते हुए उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने की कामना करता हूँ।

वेद के अपौरूषेयवादत्व की समीक्षा

महर्षि विद्यानन्द (ई0 सन् 775-840) विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार में कहा है -

सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः।
परोपदेशलिङ्गाक्षानप्रेक्षावितथतत्वतः।। 1।।

अर्थात् परोपदेश, इन्द्रियादि लिङ्ग की अपेक्षा न रखते हुए सर्वज्ञ का सूक्ष्मादि पदार्थों का उपदेश प्रामाणिक है तथा उनके उपदेश के अनुसार कथित आगम वचन भी प्रामाणिक हैं। इस श्लोक में समागत 'सर्वज्ञ का उपदेश परोपदेश निरपेक्ष होता है इस विशेषण पर आपत्ति करते हुए मीमांसकों का कहना है कि धर्मोपदेश सदा परोपदेशपूर्वक ही होता है तथा धर्मोपदेश में चोदना (वेद का प्रेरक विधि वाक्य) ही प्रमाण है, अन्य नहीं। वेद किसी पुरुष अथवा ईश्वर की रचना न होने से अपौरुषेय हैं। इस सन्दर्भ में मीमांसकों का कहना है कि अपौरुषेय वेद वाक्यों को सुनकर श्रोता समझता है कि मैं वेद विहित वाक्यों से प्रेरित होकर यागादि धार्मिक क्रिया कर रहा हूँ इसमें किसी पुरुष विशेष या आचार्य की प्रेरणा कारण नहीं है, जिसकी सत्यता के लिए उपक्रम किया जाए। 'वेद वाक्य स्वत: प्रमाण हैं' अत: उनकी सत्यता प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तकी अपेक्षा नहीं होती है परन्तु लौकिक वाक्यों में प्रवृत्ति कराने में पुरुष की प्रेरणा कारण होती है और वहाँ प्रेरक की प्रमाणता हेतु उसके गुणों को देखा जाता है। लौकिक और वैदिक वचनों के उपदेश में यही अन्तर है। जैनों का कहना है कि प्रयत्न के बिना वचनों में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि पदार्थों को बतलाने वाले वचनों की उत्पत्ति सदैव पुरुष-व्यापार से होती है। इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि लौकिक शब्द भले ही पौरुषेय हों परन्तु वैदिक शब्द सदा ही अपौरुषेय और नित्य हैं। इस विषय को समझने के लिए आवश्यक है कि हम पहले मीमांसकों के उन सिद्धान्तों पर दृष्टि डालें जिनके कारण वे वेदों को अपौरुषेय कहते हैं -

1. मीमांसा दर्शन में न्याय-वैशेषिकों की तरह सृष्टिकर्ता अनादि किसी सर्वज्ञ ईश्वर (महेश्वर) की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए वेदों की प्रामाणिकता को ईश्वर रचित कहकर सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अत: उन वेदवाक्यों की सत्यता (प्रामाणिकता) सिद्ध करने के लिए वेदों को अपौरुषेय मानना पड़ता है।

2. जैनों की तरह वे किसी पुरुष विशेष को भी सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते। अत: सर्वज्ञप्रणीत भी वेदों को नहीं कह सकते। वे किसी को सर्वज्ञ नहीं मानते, सर्वज्ञता का खण्डन करते हैं।

3. मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं और वर्ण, पद आदि को नित्य मानते हैं, अनित्य नहीं। स्फोटवादी वैयाकरण भी शब्द को नित्य और व्यापक मानते हैं परन्तु जैन शब्द को अनित्य स्वीकार करते हैं क्योंकि वे ताल्वादि प्रयत्नजन्य (कार्य) हैं। शब्द कार्य हैं क्योंकि ताल्वादि कारणों के होने पर उत्पन्न होते हैं और कारणों के अभाव में उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस प्रकार क,ख,ग आदि वर्ण पुरुष प्रयत्न जन्य हैं उसी प्रकार वर्णो के समुदाय रूप पद तथा पदों के समुदाय रूप वाक्य भी जन्य हैं।

4. शब्द का विषय समान्य मात्र है, जैनों की तरह सामान्य-विशेषरूप वस्तु नहीं। शब्द का विषय यदि केवल सामान्य को माना जायेगा तो व्यक्ति विशेष का बोध कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि सामान्य व्यक्ति विशेष के बिना नहीं रहता, अत: सामान्य से लक्षित व्यक्ति विशेष की प्रतीति लक्षित-लक्षणा से होती है। जैनों का कहना

है कि सङ्केतग्रह सामान्य विशिष्ट विशेष में होता है अन्यथा अर्थक्रिया नहीं बनेगी। यदि सामान्य में शक्ति-ग्रह मानोगे तो उसका विशेष के साथ कौन सा सम्बन्ध होगा? संयोग, तादात्म्य और समवाय सम्बन्ध बन नहीं सकते हैं। मीमांसक समवाय सम्बन्ध स्वीकार भी नहीं करते हैं।

5. मीमांसक यद्यपि स्वत: (प्रमाणान्तर-निरपेक्ष) प्रामाण्यवादी हैं किन्तु अप्रामाण्य परत: (प्रामाणान्तर सापेक्ष) मानते हैं क्योंकि अप्रामाण्य दोषों के कारण आता है। वेद स्वत: प्रमाण हैं क्योंकि वे अपौरुषेय हैं। इस सन्दर्भ में जैनों का कहना है कि जैसे अप्रामाण्य की उत्पत्ति 'परत:' (दोषों से) होती है उसी प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति भी गुणों से होती है। अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है किन्तु 'ज्ञप्ति' अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में 'परत:' होती है। (तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वत: परतश्च) 'वेद अपौरुषेय हैं। इस सन्दर्भ में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं- वेद अपौरुषेय है क्योंकि स्मरण योग्य होते हुए भी उनके कर्ता का कभी भी स्मरण नहीं होता है, जैसे- आकाश।

समीक्षा

यदि वेद का कोई कर्ता होता तो वेदार्थ यज्ञ का अनुष्ठान करते समय यज्ञ-कर्ता उसके प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए उसके कर्ता का स्मरण अवश्य करता। चूंकि बुद्धिमान् लोग विपुल परिश्रम तथा विपुल धन-व्यय साध्य, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र आदि यज्ञों में नि:संशय प्रवृत्त होते हैं, अत: उनकी सत्यता में कोई संशय नहीं है। यदि उनकी सत्यता में संशय होता तो निश्चय ही उन यज्ञों में प्रवृत्त न होते। वेद भी, रामायण, महाभारत आदि की तरह एक वाक्य-रचना है, अत: उसका कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए, भले ही हमें आज उसका स्मरण न हो। ऐसी बहुत सी रचनाएँ हैं जिनके कर्ता का हमें स्मरण करने पर भी पता नहीं चलता है, फिर भी वे किसी न किसी की रचना मानी जाती हैं। कर्ता का स्मरण न होने मात्र से 'वेद अपौरुषेय हैं' यह कथन असङ्गत है।

आप कैसे कह सकते हैं कि वेद के कर्ता का स्मरण नहीं होता? क्या एक पुरुष को स्मरण नहीं होता अथवा सभी पुरुषों को स्मरण नहीं होता? एक असर्वज्ञ पुरुष के स्मरणाभाव से वेद के कर्तृत्वाभाव को नहीं कहा जा सकता। यदि सभी व्यक्तियों की तीनों कालों में स्मरण 'स हि रुद्रं वेद-कर्तारम्' इस वाक्य से रुद्र का वेद कर्तृत्व-सिद्ध होता है। पुराणों में वेद का कर्ता ब्रह्मा को बतलाया गया है। न्याय दर्शन में ईश्वर को वेद का कर्ता कहा गया है। ऐसी स्थिति में 'वेद का कोई कर्ता नहीं है ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

स्मृति पुराण आदि की तरह वेद की कई शाखाएँ हैं- तैत्तिरीय, माध्यन्दिन आदि। यदि वेद अपौरुषेय होते और उनमें कथित शब्द नित्य होते तथा उनका धर्म भी प्रामाणिक होता तो ये शाखाएँ कैसे पल्लवित होतीं? इस अर्थभेद के कारण शंका होती है कि किसका कथन प्रामाणिक है और किसका अप्रामाणिक? किञ्च वेद-वाक्यों का वस्तुत: एक ही प्रकार का अर्थ नहीं है, जैसे 'स्वर्गकामो अग्निहोत्रं जुह्यात्' इसका दूसरा अर्थ भी सम्भव है- अग्निह: = कुत्ता, औत्र = मांस, जुह्यात् = खावे। कुत्ता मांस खावे, यह दूसरा अर्थ आपको भी अनुचित है। वेद के सायण आदि व्याख्याकारों में भी अर्थ-भेद देखा जाता है जबकि आप शब्द को एक, व्यापक और सामान्य को विषय करने वाला मानते हैं। इस कथन के साथ आपकी सङ्गति कैसे बैठेगी?

अविश्वसनीय पुरुष के कथन पर कोई विश्वास नहीं करता और कहने पर प्रवृत्ति भी नहीं करता। आपका कहना है कि वेद-वाक्य विधि रूप (प्रेरक) हैं, अत: यदि उन वेद-वाक्यों में प्रामाणिकता नहीं होती तो कोई भी व्यक्ति यागादि में प्रवृत्त नहीं होता। केवल अपौरुषेय कहने से प्रवृत्ति नहीं बनेगी। जब तक उसके वक्ता के वचनों का प्रमाण सिद्ध न हो।

त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ ही पूर्ण प्रामाणिक हो सकता है और आप वेद-वाक्य सर्वज्ञ द्वारा रचित नहीं मानते, अत: उसे स्वत: प्रमाण भी कैसे कहा जा सकता है? वेद विहित यज्ञादि से मिलने वाला स्वर्गादि फल भी अदृश्य ही है। अत: वेदों को अपौरुषेय और स्वत: प्रमाण कहना सर्वथा अनुचित है।

'नाग्निहोत्रं स्वर्गसाधनं हिंसाहेतुत्वात्'[3] अग्निहोत्र को वेद में स्वर्ग का साधन बतलाया गया है जबकि इसमें पशु-हिंसा होती है। पशु-हिंसा होने से यह धर्म कैसे हो सकता है? यदि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (वेद विहित हिंसा हिंसा नहीं होती है) ऐसा कहा जाएगा तो खारपटिकों का यह कथन कि धनवानों का वध करना चाहिए क्योंकि धनवान् बहुत अधर्म करते हैं। यहाँ भी धनवानों के वध को हिंसा नहीं कहा जा सकेगा। अत: जैसे धनवानों के वध से हिंसा नहीं होती है उसी प्रकार आपका भी कथन हिंसा परक होने से अनर्थ मूलक है। 'धनवानों की हिंसा करने से स्वर्ग मिलता है यह कथन वेद-विहित नहीं होने से हिंसा है और अग्निहोत्र विहित हिंसा वेद-विहित होने से स्वर्ग प्रापक है- ऐसा आपका कथन

कल्पना मात्र है, मिथ्या है। आज भी हम देखते हैं कि धर्मान्ध व्यक्ति धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं और उसे धर्म मानते हैं जो सर्वथा पापाचरण है।

प्रामाणिक पुरुष द्वारा कथित प्रेरक वाक्य को सुनकर श्रोता की क्रिया में प्रवृत्ति होती है। वेद वाक्य उच्चारण मात्र से ही श्रोता को स्वयमेव यज्ञादि में प्रवृत्त कराता है। आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आचार्य के द्वारा प्रेरित होकर 'मैं यज्ञ में प्रवृत्त हो रहा हूँ'- ऐसा सर्वत्र देखा जाता है केवल वचन सुनकर नहीं।[4] यज्ञ ही धर्म है जो विधिवाक्यों से वाच्य है। आपका यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि जैन-बौद्ध आदि अग्निहोत्र यज्ञों को धर्म न मानकर अधर्म ही मानते हैं क्योंकि उसमें हिंसा होती है।[5]

वेद वाक्य संशय-रहित भी नहीं हैं।[6] यज्ञ के सन्दर्भ में जहाँ निषेध का विवेचन किया गया है वहाँ आया है 'नाति रात्रे षोडशिनं गृह्णाति, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'[7]

इस तरह सिद्ध होता है कि न तो शब्द नित्य हैं और न वे अपौरुषेय ही हैं। वेदों में हिंसादि का प्रतिपादन होने से उनमें विहित वेद-वाक्यों को धर्म नहीं माना जा सकता है। वेदों की रचना जब तक किसी सर्वज्ञ द्वारा अथवा किसी प्रामाणिक पुरुष द्वारा नहीं मानी जाएगी तब तक उसमें प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकेगी।

अपौरुषेय कह देने मात्र से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है। विधि वाक्य चूँकि कार्य हैं, अत: वे अनित्य हैं और उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य है, जैसे, लौकिक वाक्य।

सन्दर्भ सूची

1. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, कारिका 9
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ0 62
3. वही, पृ0 63
4. वही, पृ0 61
5. वही, पृ065
6. वही, पृ0 66
7. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, निषेध प्रकरण, मेरा लेख 'मीमांसा में निषेध मीमांसा'।
8. विस्तार के लिए देखें 'न्यायकुमुदचन्द्र', पृ0 721, 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृ0 391-403, 'जैनन्याय', पृ0 260-266, मीमांसकों के पूर्वपक्ष हेतु देखें 'शाबरभाष्य' 1.1.5, 'बृहती' पृ0 177, 'मीमांसाश्लोक 366 आदि।

गुरु पं. जगन्मोहन लाल जी शास्त्री को शत शत वन्दन

मेरे गुरुदेव जिन्होंने मुझ जैसे पाषाण को तराशकर सिद्ध-सारस्वत बना दिया -

(1) **नाम में विरोधाभास** - 'जगन्मोहन' शब्द के चार अर्थ सम्भव हैं—(1) जो जगत् को मोहित करे (जगति य: स्वाकर्षकगुणादिभि: शरीरादिभिर्वा मोहयतीति जगन्मोहन:)। (2) संसार में कामदेव के समान मोहन स्वभावी (ज्रगति मोहनवत् कामवत् मोहन: जगन्मोहन:)। (3) जिसे जगत से मोह नहीं है, ऐसा वीतरागी (जगति मोहो नास्ति यस्य स: जगन्मोहन:)। (4) जगत् के प्राणियों के लिए शिवस्वरूप कल्याणकारी (जगति मोहन: शिव: कल्याणकर: एतन्नामको देवो वा जगन्मोहन:)। इन चार शब्द-व्युत्पत्तियों में से प्रथम दो उनके सरागीपने को सूचित करती हैं जबकि अन्तिम दो उनके वीतरागभाव को प्रकाशित करती हैं। वस्तुत: अपेक्षा भेद (नय भेद) से वे बाहर से सरागी (गृहस्थ) और अन्दर से वीतरागी (साधक) हैं। हिन्दू पुराणों में एक कथा आती है। जब समुद्र-मन्थन से अमृत निकला, तो उसे पाने के लिए देव और राक्षस दोनों में छीना-झपटी होने लगी। तब भगवान् विष्णु ने राक्षसों को ठगने के लिए 'मोहनी' का रूप धारण करके अमृत को राक्षसों से बचाकर देवों को दिया था। इसी तरह पं0 जगन्मोहन ने राक्षसरूपी कर्मशत्रुओं को ठगने के लिए अपना जगन्मोहन रूप बनाकर उन्हें ठगा और अपनी देव-तुल्य ज्ञान चेतना को जागृत किया।

(2) **कार्य क्षेत्र में विरोधाभास** -जिस प्रकार नाम में विरोधाभास दिखता है, उसी प्रकार कार्य क्षेत्र में भी विरोधाभास दिखता है । जैसे—प्रकाश नहीं परन्तु समाज के प्रकाशस्तम्भ हैं, त्रिशलानन्दन (भगवान् महावीर) नहीं, परन्तु त्रिशलानन्दन-पथानुगामी हैं, मृग नहीं, परन्तु **कस्तूरी** (प्रथम पत्नी का नाम, जिनसे सन् 1922 में विवाह हुआ था)

को धारण करते हैं, फूल नहीं परन्तु **फूलमती** (द्वितीय पत्नी का नाम जिनसे सन् 1934 में विवाह हुआ था) से समलङ्कृत हैं, मोहन (कामदेव या कामदेव का वाण) नहीं, परन्तु **जगन्मोहन** हैं, गोकुल नहीं परन्तु **गोकुलप्रसाद** रत्न (पं0 जी के पिता का नाम) हैं, अमर (देव) नहीं, परन्तु **अमरचन्द्र** (पं0 जी के पुत्र) के जनक हैं, देव नहीं परन्तु देवद्वय (पं0 जी के दो पुत्र) से पूजित हैं, भगवान् ऋषभ नहीं परन्तु ऋषभ-**क्षमा** (पं0 जी की पुत्रवधू, भ0 ऋषभ द्वारा प्रतिपादित क्षमा गुण के धारक) से विभूषित हैं, राजनेता नहीं परन्तु राजनीति निष्णात हैं, पलट स्वभावी नहीं; परन्तु पलटूराम जी (पं0 जी के हितैषी) के भक्त हैं, भ0 गौतम बुद्ध नहीं परन्तु **सिद्धार्थ** (पं0 जी का पुत्र) के पिता हैं, रत्नाकर (समुद्र) नहीं परन्तु गुणरत्नों के आकर हैं, आकाश नहीं परन्तु **शशिद्वय** (इन्दु और शशि ये दो कन्यायें हैं, शशि पुत्रवधू भी है) से वेष्टित हैं, ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी) हैं परन्तु मुक्तिरमा के चिरालिङ्गन के अभिलाषी हैं, कर्मठ (भ0 पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला) नहीं, परन्तु कर्मठ हैं, त्यागी नहीं परन्तु रागद्वेष के त्यागी हैं (त्याग पर पदार्थ का होता है, स्व का नहीं। अत: कोई भी त्यागी नहीं है। परन्तु व्यवहार नय से रागद्वेष के त्यागी हैं।)

(3) **विविध गुणों के आकर —** जैसे दीपावली में नगर विविध दीपमालाओं से सुशोभित होता है, वैसे ही उनके चैतन्य नगर में अनेक गुणमालाओं का सदा निवास है। इन्हीं गुणों के कारण आप गाढ़ान्धकार में दीपक हैं, विपत्ति में बन्धु हैं, दु:ख रूपी समुद्र में नौका हैं और समस्याओं के सुलझाने में मन्त्रशक्ति सम्पन्न हैं । इनके अतिरिक्त, स्याद्वाद की साक्षात् प्रतिमूर्ति, समाज सुधारक, अन्तर्जातीय विवाह समर्थक, एकता के अभिलाषी, तेरह-बीस पन्थ में समझौतावादी, विद्वत्परिषद् के प्राण, दि0 जैन सङ्घ के प्राण प्रतिष्ठापक, समुद्रवत् गम्भीर, सौम्यमूति, अनुशासन प्रिय, सादगी की मूर्ति, शान्ति पथ के पथिक, उदार एवं सरल हृदय, तर्क वागीश, संस्कृतप्राकृत आदि भाषाओं के उद्भट विद्वान्, शान्ति निकेतन (कटनी विद्यालय) के निकेतन, स्वाध्याय प्रेमी, कुशल प्रवक्ता, आगमज्ञ, विविध पत्र-पत्रिकाओं के मार्गदर्शक, जैन संदेश के सम्पादक, अनेक संस्थाओं के सक्रिय कार्यकर्ता, अनेक पुरस्कारों एवं सम्मान पत्रों से सम्मानित, देशप्रेमी, राजनीति निष्णात, छात्रों के हितैषी, सर्वधर्म समन्वयवादी, **श्रावकधर्मप्रदीप** ग्रन्थ के प्रदीपक, श्रावकाचार सारोद्धार ग्रन्थ के उद्धारक तथा अध्यात्म अमृत कलश स्वात्मबोधिनी की प्रश्नोत्तरी टीका के रचयिता हैं।

(4) **सप्त संख्या से सम्बन्ध** - सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की जन्म भूमि स्याद्वाद महाविद्यालय काशी में अध्ययन करने के कारण आप में सप्त संख्या का प्रवेश कर गया। फल स्वरूप आप सात प्रतिमाधारी, सप्त व्यसन त्यागी, सात बन्धुओं और पुत्रों से पुत्रवन्त, सात नयों के ज्ञाता, सप्तभङ्गी के व्याख्याता, सात स्थानों से विशेष सम्बन्धित (शहडोल, कटनी, मथुरा, सागर, मोरेना, काशी और कुण्डलपुर), सप्तम वर्ष में मातृ वियोगी, सात कर्मों (आयु कर्म छोड़कर) का प्रतिक्षण प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध करते हुए भी स्थिति और अनुभागबन्ध से विरक्त हो गए।

(5) **परिवार मंडल** - जो **धन्य कुमार** जैसे अनुज सहयोगी से सतत परिवेष्टित हो, वह स्वयं क्यों न धन्य हो ? जो नाम और गुणों से **इन्दु** और **शशि** नामक चन्द्रवदना कन्याओं का जनक हो, वह स्वयं आह्लादकता सुन्दरता, शीतलता आदि चन्द्र गुणों से क्यों न परिपूर्ण हो ? **प्रमोद** और **विनोद** से युक्त **अमरचन्द**, **देवचन्द**, **देवकुमार** जैसे सुरगणों का जो जनक हो, वह **सिद्धार्थ** का जनक क्यों न हो ? **क्षमा**, **समता**, **ममता** मयी **मीना** से जडित तथा **शशि** प्रतिबिम्बित **गुणमाला** से जिसके पुत्र समलङ्कृत हों, वह स्वयं क्यों न गुण-रत्नों की निधि हो ?

(6) **कटनी और कुण्डलपुर निवास में हेतु** - जैसे किसान फसल के तैयार होने पर कटनी करता है, वैसे ही ज्ञानार्जन के बाद रत्नत्रय रूपी फसल की कटनी करने के लिए कटनी में ही रमने वाले, अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों की कटनी फटनी करके ज्ञानस्वभावी आत्मा की रक्षा करने हेतु कटनी को कार्यक्षेत्र चुनने वाले, अथवा दूसरों के अज्ञानान्धकार को काटने हेतु कटनी को निवास स्थान बनाने वाले, अथवा रत्नत्रय की करनी और कर्मों की कटनी में निश्चय-व्यवहार नय के द्वारा समन्वय करने की इच्छा से कटनी को ही कार्य क्षेत्र चुनने वाले गुरुवर्य ने कटनी को ही रणभूमि बनाया। जैसे कुण्डल से कान अलङ्कृत होता है, उसी प्रकार महावीर रूपी कुण्डल से अलङ्कृत सिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर का आश्रय ही सच्चे अलङ्कार का साधन है, ऐसा जानकर पीछे कुण्डलपुर में हो लवलीन हो गए।

ऐसे स्वनाम धन्य वीतरागी, आपाततः विरोधाभासी परम पूज्य गुरुवर्य को मेरा शत शत वन्दन जिनके पदार्पण से न केवल उनका जन्म स्थल शहडोल ग्राम सुदर्शन है अपितु मैं भी शाहगढ़ निवासी होकर सुदर्शन नामधारी बड़कुल बन गया।

मार्गणाओं द्वारा जीवों की स्थिति का ज्ञान

जिनके द्वारा जीवों को खोजा जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। कर्मों के बन्धनों से जकड़ा हुआ यह संसारी जीव किन किन रूपों में कहाँ कहाँ पाया जाता है इसी अन्वेषण का नाम है 'मार्गणा'। कर्म-शत्रुओं को जीतने वाला शुद्ध स्वरूपी आत्मा कर्म- मुक्त होकर 'जिन' कहलाता है। जिन की दो अवस्थायें होती हैं-1. अर्हन्तावस्था (जीवन्मुक्तावस्था) और 2. सिद्धावस्था (विदेहमुक्तावस्था या अशरीरी-अवस्था)। इन अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये जीव रत्नत्रयात्मक धर्मरूपीधनुष,चेतनागुणरूपी प्रत्यंचा (डोरी)तथा चौदह मार्गणाओं रूपी बाणों के द्वारा कर्म-शत्रुओं के राजा मोह को जीतता है। गति, इन्द्रिय आदि 14 मार्गणायें हैं। अन्वेषणा, गवेषणा, खोज और मार्गणा सब एकार्थक हैं। सत्, संख्या आदि अनुयोगों, चौदह गुणस्थानों तथा चौदह जीवसमासों (धर्म विशेषों) के द्वारा भी जीवों का अन्वेषण किया जाता है। नाम, स्थापना आदि निक्षेपों आदि के द्वारा भी जीवों को खोजा जाता है।उनमें मार्गणा विशेष रूप से रूढ है। लोक व्यवहार में पदार्थों के अन्वेषण में चार बातें देखी जाती हैं -

1. मृगयिता (अन्वेषण कर्ता), 2. मृग्य(अन्वेषणीय), 3. मार्गणा (अन्वेषण में सहायक कारण) तथा 4. मार्गणोपाय। यहां पर जीवादि पदार्थों पर श्रद्धान करने वाला भव्य जीव मृगयिता है। चौदह गुणस्थानों में स्थित या देव- गत्यादि में स्थित जीव मृग्य है, तत्-तत् स्थानों में स्थित जीवों के अन्वेषण में अत्यन्त सहायक कारण गति आदि। मार्गणायें हैं तथा गुरु-शिष्य, शास्त्र आदि मार्गणा के उपाय हैं।

चौदह मार्गणायें तथा उनमें स्थित जीवों का संक्षिप्त विवरण निम्न है[1] -1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. काय, 4. योग, 5. वेद, 6. कषाय, 7. ज्ञान, 8. संयम, 9. दर्शन, 10. लेष्या, 11. भव्यत्व, 12. सम्यक्त्व, 13.संज्ञा तथा 14. आहार।

(1) **गति मार्गणा**

गति नामकर्म के उदय से भवान्तर (अगला जन्म)में होने वाली जीव की पर्याय (अथवा मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक इन चार गतियों में गमन के कारण) को गति कहते हैं। इन गतियों में जन्म लेने वाले जीवों की खोज करने को गति मार्गणा कहते हैं।[2] यह जीव जब तक मुक्त नहीं होता है तब तक चारों गतियों की 84 लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। मुक्त होने पर जीव को सिद्धगति या पञ्चम गति की प्राप्ति होती है जहाँ से पुन: संसार में आगमन नहीं होता है। वहाँ आत्मस्वरूप अनन्त ज्ञान सुखादि में लीन रहता है।

(क) **नरक गति** - चित्रा पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं। जहाँ जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं, स्थावर और द्वीन्द्रियादि (2-4 इन्द्रिय वाले) नहीं होते हैं। इनके दाढ़ी मूँछ नहीं होती। शरीर वैक्रियिक होता है जिसे वे छोटा बड़ा आदि अनेक रूप कर लेते हैं। इनका शरीर बैडोल, कुरूप और दुर्गन्धमय होता है। अत्यधिक भूख-प्यास से व्याकुल रहते हैं। इनका शरीर कटने पर पुन: जुड़ जाते हैं जिससे अकालमृत्यु नहीं होती। अशुभलेश्या वाले बहुत आरम्भ-परिग्रह वाले पापी मिथ्यादृष्टि जीव नरकों में जन्म लेते हैं। नरक बद्धायुष्क वाले सम्यग्दृष्टि जीव भी नरक में जा सकते हैं। जघन्य आयु 10 हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु 33 सागर तक होती है। सातवें नरक के नीचे एक राजू का क्षेत्र निगोदिया जीवों का है इसे कलकल या आठवीं पृथ्वी कहते हैं परन्तु यहाँ कोई पृथ्वी नहीं है, खाली क्षेत्र है जहाँ निगोदिया जीव दो प्रकार के हैं नित्य निगोद (जो कभी बाहर नहीं निकलते) और इतर निगोद हैं। एक श्वास में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों को 18 बार जन्म-मरण होता रहता है। पर्याप्तकों का अन्तमुहूर्त्त काल है। यहाँ जीवों की संख्या अक्षय अनन्त है। आगमानुसार 6 मास 8 समय में 608 जीव मोक्ष जाते हैं और उस समय में उतने ही जीव निगोद से निकलकर तिर्यंचादि गतियों में आते हैं।

(ख) **तिर्यञ्च गति** - एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यञ्च गति वाले होते हैं। इस गति में संज्ञी-असंज्ञी दोनों प्रकार के पञ्चेन्द्रिय (जलचर, थलचर और नभचर पशु-पक्षी आदि) भी होते हैं। हाथी, घोड़ा, सिंह आदि में अणुव्रत पालन करने की योग्यता होती है परन्तु मनुष्यगति वालों से बहुत कम। इनका औदारिक शरीर होता है। अकाल मृत्यु सम्भव है। इनकी जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्य की हो सकती है। कर्मभूमि के तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट आयु एक वर्ष कोटि तक सम्भव है। मायाचारी आदि करने से इस गति की प्राप्ति होती है।

(ग) **मनुष्यगति** - यह श्रेष्ठ गति है क्योंकि यहाँ से जीव संयम और तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। पापाचरण करने पर सातवें नरक तक भी जा सकता है। अल्प आरम्भ-परिग्रह वाला जीव इस गति को प्राप्त करता है। यहाँ स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिङ्गों के जीव होते हैं इस गति के सभी जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं इनका भी औदारिक शरीर होता है।

(घ) **देवगति** - ये वैक्रियिक शरीरधारी होते हैं। अत: इनके नाखून, बाल, दाड़ी, हड्डी, मूँछ, खून आदि नहीं होते। अकालमृत्यु नहीं होती, परछाई नहीं पड़ती। पलकें नहीं झपकती, मल-मूत्र भी नहीं होता। भोगों की प्रचुर सामग्री कल्पवृक्षों से मिलती रहती है। ये संयम नहीं पाल सकते। जब भूख लगती है तो कण्ठ से अमृत झर जाता है, अत: मनुष्यों की तरह भोजन नहीं करना पड़ता है। ये पुरुष और स्त्रीलिङ्ग वाले होते हैं, नपुंसक नहीं। ये तीनों लोकों में पाये जाते हैं। इनकी जब मृत्यु आती है तो छ: माह पूर्व उनके गले की माला मुरझा जाती है। ये अवधिज्ञान के धारक होते हैं। सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं। यहाँ सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के होते हैं। संयम धारण करने में असमर्थ होने के कारण ये जैन मुनियों को आहार नहीं दे सकते। तीर्थङ्कर की पालकी नहीं उठा सकते (जब मुनि दीक्षा लेने जाते हैं)।

देवगति के जीव चार प्रकार के होते हैं - 1. भवनवासी (10 भेद), 2. व्यन्तर (8 भेद), 3. ज्योतिष्क (5 भेद) और 4. वैमानिक कल्पवासी या कल्पोत्पन्न 1-16 स्वर्गों के देव और कल्पातीत (9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तर) के भेद से दो प्रकार के हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अनुत्तर विमानवासी देव सर्वोत्तम हैं तथा एक भवावतारी होते हैं। सौधर्म इन्द्र, उसकी इन्द्राणी (शची), लौकान्तिक देव (5वें स्वर्ग ब्रह्मलोक के देव), सौधर्म इन्द्र के सभी लोकपाल तथा सभी दक्षिणेन्द्र ये सभी एक भवावतारी (मनुष्य गति में जन्म लेकर मुक्त होना) देव हैं।अनुदिश और चार अनुत्तर देव द्विभवावतारी होते हैं। फिर देव पुन: मनुष्य होते हैं। एक भवावतारी भी हो सकते हैं। सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क आदि देवों को भवनत्रिक कहते हैं। ये मिथ्यादृष्टि होते हैं। देवियों की उत्पत्ति भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क इन भवनत्रिकों में तथा प्रथम द्वितीय वैमानिक स्वर्गों में ही होती है। आगे के स्वर्गों में देवियों का जन्म नहीं होता। दूसरे स्वर्ग से ऊपर के देव नियोगानुसार अपनी-अपनी देवियों को उठाकर ले जाते हैं। दूसरे ऐशान स्वर्ग तक के देव मनुष्यों की तरह मैथुन करते हैं। इसके आगे 3-4 स्वर्ग के देव आलिङ्गन मात्र (3-4 स्वर्ग) से 5-8 स्वर्ग के देव रूप देखकर, मात्र शब्द सुनकर (9-12 स्वर्ग), मात्र मन में चिन्तन करके (13-16 स्वर्ग के देव) कामवासना की पूर्ति करते हैं। आगे के कल्पातीत देव कामसेवन नहीं करते वहाँ देवाङ्गनायें भी नहीं होती। लौकान्तिक देव (देवर्षि) ब्रह्मचारी तथा द्वादशाङ्ग तथा चौदहपूर्वों के पाठी होते हैं तथा वे तीर्थङ्करों के तप कल्याणक के समय प्रतिबोधन करने आते हैं। ये सारस्वत आदित्य आदि के भेद से 8 प्रकार के हैं। क्रमश: 8 दिशाओं में रहते हैं। इनमें सब स्वतंत्र तथा समान हैं। इन्द्र आदि के अधीन नहीं। घातायुष्क तथा मिथ्यादृष्टि(जैनेतर लिङ्गी) जीव 12 वें स्वर्ग तक जा सकते हैं। द्रव्यलिङ्गी जैनसाधु नवग्रैवेयक तक तथा श्रावक 16 वें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। भावजिनलिङ्गी सर्वार्थसिद्धि तक या मोक्ष तक जा सकते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि भी जिनलिङ्ग धारण करके नवग्रैवेयक तक जन्म ले सकता है। देवों की जघन्य आयु 10 हजार वर्ष और उत्कृष्ट 33 सागर तक है।

विग्रहगति का भी उल्लेख शास्त्रों में मिलता है जिसका तात्पर्य है, एक जीव जब मरकर किसी भी गति में जाकर अन्य शरीर को धारण करता है तब मध्यवर्ती कालविग्रहगति कहलाती है। यह मोड़ा रहित तथा मोड़ा सहित (अधिकतम तीन मोडा) होती है। इस समय कार्मण और तेजस् शरीर रहता है। यह पृथक् गति नहीं है। गतियाँ 4 ही हैं। सिद्धों की गति को पंचमगति भी कहते हैं परन्तु वह गति भेदों में नहीं आती।

(2) **इन्द्रिय मार्गणा**

इन्द्र(ऐश्वर्यशाली) शब्द का अर्थ है 'आत्मा' और आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्र नामकर्म के उदय से जो रची जावे वह इन्द्रिय है। इसके दो भेद हैं[3]- (1) भावेन्द्रिय और (2)द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में विशुद्धि (अर्थ ग्रहण करने की शक्ति) उत्पन्न होती है और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान (शक्ति) भावेन्द्रिय है। आत्म-विशुद्धि को लब्धि (योग्यता) कहते हैं। उस विशुद्धि के द्वारा अपने विषयभूत रूपादि अर्थग्रहणरूप व्यापार उपयोग कहलाता है। लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं। जाति नामकर्म के उदयसहित शरीरनामकर्मोदय से शरीर में स्पर्शनादि भावेन्द्रियों के चिह्न रूप द्रव्येन्द्रियाँ होती हैं। वे बाह्य- निवृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति के भेद से दो प्रकार की हैं। इन्द्रिय संज्ञा को प्राप्त आत्मप्रदेशों में जो पुद्गल-प्रचय चक्षु आदि प्रतिनियत आकार

को ग्रहण करता है वह बाह्यनिवृत्ति है तथा उसमें जो आत्मप्रदेशों की रचना है वह आभ्यन्तर निवृत्ति है। अर्थात् बाह्यरूप में दिखने वाली चक्षु आदि को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं तथा जिन आत्मप्रदेशों से देखने आदि की शक्ति प्राप्त होती है वह आभ्यन्तर इन्द्रिय है। आंख की पुतली आदि बाह्य उपकरण हैं। इन्द्रियों की संख्या पाँच है जो क्रमशः प्रतिनियत स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का ज्ञान कराती हैं। मन को अतीन्द्रिय (ईसत् इन्द्रिय) कहा गया है जो पाँचों इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है। मन सहित जीव को 'संज्ञी' कहते हैं। जिसको केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है उसे एकेन्द्रिय कहते हैं, जैसे भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतियाँ। इनमें चेतनता रूप जीवत्व पाया जाता है। इन्हें स्थावर जीव कहते हैं। स्थावर भी दो तरह के हैं - साधारण (जिनके एक शरीर के आश्रित अनेक जीव रहते हैं तथा नित्य निगोद और इतर निगोद) और प्रत्येक (ये सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित होते हैं)। जब एक जीव के आश्रित होकर कई स्वतन्त्र साधारण वनस्पति-कायिक जीव रहते हैं तो उसे 'सप्रतिष्ठित' कहते हैं तथा जिसमें अन्य साधारण वनस्पति जीव आश्रित होकर नहीं रहते हैं उसे अप्रतिष्ठित। कहते हैं। द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय के जीव 'त्रस' कहलाते हैं। लट, केंचुआ आदि दो इन्द्रिय,चींटी, खटमल आदि तीन इन्द्रिय, मक्खी, मच्छर आदि चार इन्द्रिय तथा पशु, देव, नारकी, मनुष्य आदि पाँच इन्द्रिय वाले जीव हैं। पाँच इन्द्रिय वाले कुछ मन सहित तथा कुछ मन रहित होते हैं। 1-4 इन्द्रिय वाले सभी जीव मन रहित (असंज्ञी) ही होते हैं। इन एकेन्द्रियादि में जीवों का अन्वेषण करना इन्द्रिय मार्गणा है। यहां भावेंन्द्रियाँ ही ग्रहण करना, द्रव्येन्द्रियां नहीं क्योंकि भावेन्द्रियों की अपेक्षा ही इन्द्रियपना स्वीकृत है, इसीलिये द्रव्येन्द्रियों के होते हुये भी 13वें तथा 14 वें गुणस्थान वालों (जीवन्मुक्त अर्हन्तों) को अतीन्द्रिय कहा गया है। अर्हन्तों के मतिज्ञानावरणादि सभी कर्मों का क्षय हो जाता है ,क्षयोपशम नहीं, भावेन्द्रियां मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती हैं, क्षय से नहीं।

(3) काय मार्गणा[4]

जाति नामकर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला त्रस और स्थावर नामकर्म होता है। उनके उदय से उत्पन्न हुई आत्मा की त्रस या स्थावर रूप अवस्था/पर्याय काय कहलाती है। पुद्गल स्कन्धों से काया की संरचना होती है। व्यवहार नय से जीवविपाकी जातिनामकर्म त्रस और स्थावर नाम कर्म का कार्य होने से जीव की पर्याय को भी काय कहा जाता है, शरीर पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म का कार्य होने से शरीर भी काय है। काया में जीवों की खोज करना कायमार्गणा है। यह 6 प्रकार की है - पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। प्रथम पाँच भेद स्थावर के हैं,शेष त्रस काय हैं। सिद्ध जीव काय तथा कर्म दोनों से रहित होते हैं।

शरीर के कई तरह से भेद किये जाते हैं -

(क) दो भेद - बादर(स्थूल) और सूक्ष्म। स्थावर जीव बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं परन्तु त्रस जीव बादर ही होते हैं।

(ख) पाँच भेद - औदारिक, वेक्रियिक, आहारक, तैजस् और कार्मण।

(ग) दो भेद - साधारण और प्रत्येक।

(घ) दो भेद - सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित।[5] आठ प्रकार के जीवों के शरीर अप्रतिष्ठित (जिनके आश्रित बादर निगोद जीव नहीं रहते) होते हैं -पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, अर्हन्त केवलियों के शरीर, आहारक शरीर, देवों का वैक्रियिक शरीर और नारकियों का वैक्रियिक शरीर। इनमें प्रथम चार शरीर स्थावर एकेन्द्रियों के हैं, शेष चार त्रस पञ्चेन्द्रियों के हैं। सप्रतिष्ठित शरीर हैं- वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय (मनुष्यों के भी)। जिस प्रकार कबाडी काबड़ के भार को ढोता है[6] उसी प्रकार यह संसारी जीव शरीररूपी कबाड़ को लेकर कर्मरूपी भार को ढोता है। संसारावस्था में कोई भी जीव एक क्षण भी शरीर के बिना नहीं रहता है। मरण होने पर भी तेजस् तथा कार्मण शरीर सदा रहते हैं।

(4) **योग मार्गणा**[7]

यहां मन, वचन और काय के परिस्पन्द को योग कहा है।[8] योगों में स्थित जीवों की खोज करना योगमार्गणा है। समस्त आत्मप्रदेशों में कर्मों (कर्म-वर्गणारूप पुद्गलस्कन्धों को ज्ञानावरणादिरूप कर्म, नोकर्म रूप) को ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग है। आत्मा में यह शक्ति (परिस्पन्द) पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से मन वचन, काय / वचन, काय / काय से सहित संसारी जीवों को ही होती है। अतः जिनके पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म का उदय नहीं होता है उन्हें यह योग नहीं होता है। जैसे अयोगकेवली (14 वें गुणस्थानवर्ती) जीव को। यह आत्मा का स्वाभाविक गुण न होने

से सिद्धों में भी नहीं पाया जाता है। यह योग कर्म के आस्रव में कारण होता है, कर्मस्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होता है।

योग दो प्रकार का है – द्रव्य योग और भाव योग।

पुद्गलविपाकी अङ्गोपांग नामकर्म और शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन व काय रूप से परिणत और मनोवर्गणा ,वचनवर्गणा व कायवर्गणा का अवलम्बन करने वाले संसारी जीव के लोकमात्र (सर्वत्र) प्रदेशों में रहने वाली जो शक्ति कर्मों को ग्रहण करने में कारण है वह भावयोग है भावयोगरूप शक्ति से सम्पन्न आत्मप्रदेशों में जो हलन चलन रूप परिस्पन्द होता है वह द्रव्ययोग है। योगमार्गणा में भावयोग का ग्रहण है, द्रव्ययोग का नहीं। योग औदयिकभाव है उसे उपचार से क्षायोपशमिक भी कहा जाता है। जीव के गमन मात्र को योग नहीं कहा जा सकता है अन्यथा सभी घाति और अघाति कर्मों का क्षय करने वाले अयोगकेवली का ऊर्ध्वगमन नहीं बन सकेगा। योगमार्गणा औदयिक है क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा व उदय से उत्पन्न होती है। योग के 15 भाग भी किये जाते हैं– 4 मनोयोग (सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा) 4 वचनयोग। (मनोयोगवत्) 7 काययोग (औदारिक, काययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक – काययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग ,आहारक–काययोग, आहारकमिश्र–काययोग और कार्मण–काययोग)।

(5) **वेद मार्गणा**

वेदों में जीवों की खोज करना वेदमार्गणा है। वेद नाम कर्म के उदय से होने वाले भाव (चैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेप) को वेद कहते हैं।[9] वेद दो प्रकार का है – द्रव्यवेद और भाववेद। अङ्गोपांग नामकर्म के उदय से शरीर में जो योनि, लिङ्ग आदि की रचना होती है वह द्रव्यवेद है। वेदनोकषाय नामक मोहनीय कर्म के उदय से जीव का भाववेद होता है ।रमण की अभिलाषारूप आत्मपरिणाम भाववेद है। वेदनोकषाय नामक मोहनीयकर्मोदय तथा उदीरणा से जीव में पुरुष या स्त्री या दोनों से रमण करने का भाव होता है जिससे वह विवेकहीन होकर मोहित हो जाता है। द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः सदृश ही होते हैं परन्तु कहीं कहीं विषम भी होते हैं। जैसे – द्रव्य से पुरुष वेदी है परन्तु भाव से स्त्रीवेदी या नपुंसकवेदी हो सकता है। वेदमार्गणा में भाववेद ग्रहण करना चाहिये क्योंकि नौवें गुणस्थान के बाद जीव अपगतवेदी होता है (सवेदभाग –छठे भाग के बाद) जबकि द्रव्यवेद चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। सभी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (2–4),नारकी, सम्मूर्च्छन (पञ्चेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी भी) जीव नपुंसक वेदी ही होते हैं। देव,भोगभूमिया, असंख्यात वर्ष आयुवाले (भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के भोगभूमि काल में उत्पन्न) तथा सर्व म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न मनुष्य व तिर्यंच दो वेद वाले (स्त्री पुरुष वेद) होते हैं, नपुंसकवेद वाले नहीं तथा इनमें द्रव्य भाव वेदगत वैषम्य नहीं पाया जाता है। शेष संज्ञी और असंज्ञी मनुष्य व तिर्यंच तीनों वेद वाले होते है। इनमें वेदविषमता भी सम्भव है।

परिहारविशुद्धि संयमी, आहारक व आहारकमिश्रकाययोगी, मनःपर्ययज्ञानी, ऋद्धिधारी मुनिराज, तद्भवमोक्षगामी तथा 63 शलाकापुरुषों में नपुंसकवेद नहीं होता है। विग्रहगति में अनाहारक अवस्था में तीनों भाववेद होते हैं क्योंकि भाववेद वेद नोकषाय के उदय में होता है, अनाहारक अवस्था में वहां भौतिक शरीर न रहने पर भी कार्मणकाय योग रहता है और वेदनोकषाय का उदय रहता है।

(6) **कषायमार्गणा**[10]

क्रोधादिकषायों में या अकषाय में जीवों की खोज करना कषायमार्गणा है ।'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो जीव के सम्यग्दर्शन, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र गुण को घाते वह कषाय है। कषाय वस्तुतः मोहनीय कर्म का रूप है। मोहनीयकर्म आत्मा के श्रद्धा गुण और चारित्र गुण को घातता है। कषायें प्रथमतः चार प्रकार की हैं – 1. अनन्तानुबन्धी (यह सम्यग्दर्शन को प्रकट नहीं होने देती), 2. अप्रत्याख्यानावरण (यह देशविरति/देश संयम या देशचारित्र को प्रकट नहीं होने देती), 3. प्रत्याख्यानावरण (यह सकलसंयम या महाव्रतरूप सकलचारित्र को प्रकट नहीं होने देती) और 4. संज्वलन (यह यथाख्यातचारित्र या विशुद्ध परिणामों को प्रकट नहीं होने देती)। ये चारों क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार की हैं। इनमें नौ नोकषायों (ईषत् कषाय) – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद,पुरुषवेद और नपुंसकवेद को जोड़ देने से कषायों के 25 प्रकार हो जाते हैं।

ग्यारह से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव तथा सिद्ध ये सभी जीव कषायों से रहित होते हैं। यहां इतना विशेष है कि ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव को पुनः कषायोदय हो जाता है, अन्य को नहीं। कषायों का वासनाकाल (कषायों का उदय न रहते हुये भी संस्कार रूप में जितने समय तक उनकी स्थिति बनी रहे, वह वासनाकाल होता है)

क्रमशः निम्न प्रकार है – 1. अनन्तानुबन्धी चतुष्क का संख्यात, असंख्यात और अनन्त भवों तक, 2. अप्रत्याख्यान चतुष्क का छह मास तक, 3. प्रत्याख्यान चतुष्क का एक पक्ष या 15 दिन तक, 4. संज्वलन चतुष्क का एक अन्तर्मुहूर्त तक। अनन्तानुबन्धी की शक्ति को द्विस्वभावी(सम्यक्त्व घातक तथा चारित्र घातक) माना गया है।[11] इन कषायों की प्रकृति (स्वभाव) को निम्न उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है – अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये क्रमशः पत्थर की रेखावत् , पत्थर स्तम्भवत् , बांसवत् , किरमिच के रंगवत्। अप्रत्याख्यान चतुष्क क्रमशः पृथिवी रेखावत्, हड्डीवत्, बकरी के शृंगवत् , नील काजलवत्। प्रत्याख्यान चतुष्क क्रमशः धूलिरेखावत् , दारुस्तम्भवत्, गोमूत्रवत्, शरीरमलवत्। संज्वलन चतुष्क क्रमशः जलरेखावत्, लतावत्, मृगरोमवत्, हल्दी के रंगवत्।

(7) **ज्ञान मार्गणा**

सत रूप अर्थ (भूतार्थ) को प्रकासित करने वाला ज्ञान कहलाता है।[12] जो जानता है (आत्मा), जिसके द्वारा जाना जाता है(साधन) और जानना मात्र (क्रिया) ज्ञान है अर्थात् जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य और उनके गुण– पर्यायों को जाने वह ज्ञान है।[13] ज्ञान का कार्य है तत्त्वार्थ में रुचि, श्रद्धा व निश्चय कराना तथा चारित्र धारण कराना। इसके अभाव में मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा है क्योंकि वह मोक्षमार्ग में अनुपयोगी है। विपरीतज्ञान(कुज्ञान) को अज्ञान कहा है। यहां अज्ञान का तात्पर्य सर्वथा ज्ञान का अभाव नहीं है क्योकि प्रत्येक आत्मा सदा ज्ञानरूप है अन्यथा उसका अभाव हो जायेगा। ज्ञान कई रूपों में देखा जाता है –ज्ञान, कुज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान, परोक्षज्ञान, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि। यहां ज्ञान से तात्पर्य सम्यग्ज्ञान से है। ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर जीव का अन्वेषण करना ज्ञान मार्गणा है। ज्ञानमार्गणा आठ प्रकार से सम्भव है – 1. मत्यज्ञानी, 2. श्रुताज्ञानी, 3. विभङ्गज्ञानी (कुअवधि ज्ञानी) 4. आभिनिबोधिकज्ञानी (मतिज्ञानी), 5. श्रुतज्ञानी, 6. अवधिज्ञानी, 7. मनःपर्ययज्ञानी, 8. केवलज्ञानी।[14] यहां ज्ञानमार्गणा में अज्ञान /कुज्ञान का भी ग्रहण करणीय है। जैसे, पुत्रोचित कार्य को न करने वाले पुत्र को कुपुत्र कहते हैं परन्तु इससे उसका पुत्रत्व समाप्त नहीं होता, इसी तरह मिथ्याज्ञान को अज्ञान कहने से उसका ज्ञानत्व समाप्त नहीं होता। विपरीताभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं। यह विपरीताभिनिवेश अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व दोनों के उदय से होता है। सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न रहने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है, अतः उस गुणस्थानवर्ती का ज्ञान अज्ञानरूप ही है।[15] केवलज्ञानाबरण के क्षय तथा क्षायिक लब्धि के होने पर केवलज्ञान होता है जो स्व– स्वरूपोपलब्धिरूप है। इसीलिये केवलज्ञान को क्षायिक नहीं कहा जाता है। एकेन्द्रियों के श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने पर भी श्रुताज्ञान है क्योंकि श्रुताज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय मात्र से नहीं होता अपितु लिंग से लिंगी का ज्ञान (अनुमान) भी श्रुतज्ञान या श्रुताज्ञान है।[16] प्रत्येक जीव में मति और श्रुतज्ञान रहते हैं।

(8) **संयम मार्गणा**

अहिंसादि पाँचों व्रतों को धारण करना, ईर्यादि पाँचों समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन वचन काय रूप तीनों दण्डों का त्याग करना तथा पाँचों इन्द्रियों को जीतना संयम है[17] संयम के द्वारा जीवों की खोज करना संयम मार्गणा है। संयम को कई तरह से विभाजित किया गया है। जैसे 1. **देशसंयम और सकलसंयम** – गृहस्थोचित चारित्र (अणुव्रतादि रूप चारित्र) का पालन करना देश संयम है। दान पूजा, उपवास आदि इसमें होते हैं तथा यह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं (दर्शन से ऐलक तक) तक पाया जाता है। आर्यिकायें भी इसीमें समाहित हैं परन्तु उन्हें उपचार से महाव्रती या सकलसंयमी भी कहा जाता है। ये देशव्रती गृहस्थ पञ्चम गुणस्थानवर्ती होते हैं। जो व्रती नहीं होते हैं वे 1–4 गुणस्थान वाले होते हैं। महाव्रती मुनि का संयम सकल–संयम या सकलचारित्र कहलाता है। ये 6 से 14 गुणस्थान वाले होते हैं, अपनी अपनी संयमरूप अवस्थानुसार। **2. उपेक्षा संयम और अपहृत संयम** – स्वाभाविकरूप से शरीर से विरक्त तथा तीन गुप्तियों के धारक मुनि उपेक्षा संयम वाले होते हैं। राग–द्वेश रूप चित्तवृत्ति का न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। जो मुनि प्रासुक वसति और आहारमात्र साधन वाले होकर स्वाधीन हैं वे उत्कृष्ट अपहृत संयमी हैं। ऐसे साधु बाह्य जन्तुओं के पास आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम का पालन करते हैं, उन्हें वो हटाते नहीं हैं। जो साधु क्षुद्र जन्तुओं का मृदु उपकरण से परिहार करते हैं वे मध्यम हैं तथा जो अन्य उपकरणों की अपेक्षा करते हैं वे जघन्य संयमी हैं। अपहृत का तात्पर्य है जन्तुओं को अपहरण या हटाना। **3. इन्द्रिय–संयम और प्राणिसंयम** – शब्दादि इन्द्रिय–विषयों में राग न करना इन्द्रिय–संयम है और एकेन्द्रियादि प्राणियों को पीडा न पहुंचाना प्राणिसंयम है। **4. सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहारविशुद्धि**

संयम, सूक्ष्मसांपराय संयम, और यथाख्यात संयम के भेद से पाँच प्रकार का संयम है।[18] इनमें प्रथम दो संयम (सामायिक और छेदोपस्थापना) 6 से 9 गुणस्थानों में होते हैं। तीसरा परिहारविशुद्धि संयम 6-7गुणस्थानों में, चौथा सूक्ष्मसांपराय संयम 10 वें गुणस्थान में तथा पाँचवां यथाख्यात संयम 11-14 वें गुणस्थानों में होता है। परिहारविशुद्धि संयम 30 वर्ष की आयु के पूर्व नहीं होता है,

यद्यपि 8वें आदि गुणस्थानों में परिहारविशुद्धि होती है परन्तु वहां परिहार (गमनागमन प्रवृत्ति के अभाव में शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार) नहीं होता है। वे प्राय: मौन रहते हैं तथा यथाख्यात चारित्र वाले जीवों के परिणामों से कुछ ही न्यून परिणामी होते हैं। इनके उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है।

संयम मार्गणा में संयमासंयम और असंयम की दृष्टि से भी विचार किया जाता है। संयमासंयम 5वें गुणस्थानवर्ती श्रावक गृहस्थ का होता है ,असंयमी के प्रथम चार गुणस्थान होते हैं।

(9) **दर्शन मार्गणा**

आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का है -दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। ये दोनों आत्म-द्रव्य की स्वतन्त्र पर्यायें हैं और ये चैतन्य में ही सम्भव है। जैसे एक ही अग्नि में विषयभेद से दाहकता और पाचकता दोनों गुण हैं वैसे ही अभेदनय से चैतन्य के एक होने पर भी भेदनय की अपेक्षा जब वह आत्मा को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है तब उसका नाम दर्शन/ दर्शनोपयोग है और जब वह पर- पदार्थ (घटादि विषय) को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है तब उस चैतन्य का नाम ज्ञान/ ज्ञानोपयोग है। इस तरह चैतन्य ही विषयभेद से दो प्रकार का होता है। वस्तुत: आत्मोन्मुख उपयोग दर्शन है और विषयोन्मुख उपयोग ज्ञान है। स्थूल व्याख्यान की दृष्टि से आचार्यों ने बाह्यविषय में जो सामान्य (निराकार या विशेषरहित) का ग्रहण है वह दर्शन है तथा बाह्य विषय का जो विशेष जानना है वह ज्ञान है। सिद्धान्ततः प्रत्यक्षादि प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है वह 'आकार' है, ऐसा आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है वह उपयोग 'अनाकार' दर्शनोपयोग है।[19] सकल पदार्थों के समुदाय से अलग होकर बुद्धि के विषयभाव को प्राप्त हुआ कर्मकारक घटादि 'आकार' कहलाता है।[20] अर्थात् आत्मविषयक उपयोग दर्शन है। बाह्य और अन्तरङ्ग विषय वाले ज्ञान और दर्शन एकरूप नहीं हैं। ज्ञान-पर्याय भी दो शक्तियों वाली नहीं है क्योंकि पर्याय में स्वतन्त्र अवान्तर पर्याय का अभाव माना गया है अन्यथा पर्याय की पर्याय मानने पर उसे द्रव्य मानना पडेगा। वस्तुत: पदार्थ अपेक्षाभेद से सामान्य - विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष पृथक् पृथक् नहीं हैं न्याय -वैशेषिकों की तरह, क्योंकि सामान्य से अनुबिद्ध ही विशेष की उपलब्धि होती है।

दर्शन के चार भेद हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा प्रकाशित होता है वह चक्षुदर्शन है और जो शेष चार इन्द्रियों से प्रतिभाषित होता है वह अचक्षुदर्शन है। परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त मूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखना अवधिदर्शन है। अन्तरङ्ग आत्मा का उद्योत केवलदर्शन है। दर्शन में दर्शनावरण का और ज्ञान में ज्ञानावरण का क्षयोपशम/ क्षय निमित्त है। छद्मस्थों के ज्ञानोत्पत्ति में दर्शन भी निमित्त होता है क्योकि संसारी छद्मस्थ जीवों का दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग क्रमशः होता है। परन्तु अर्हन्तों, सिद्धों व केवलियों के दोनों उपयोग युगपत् होते हैं। जयधवला में कहा है -

माणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो।
केवलियं व णाणं पुण णाणं त्ति दंसणं त्ति य समाणं।। पु.1, पृ.357-358

मन:पर्ययज्ञान पर्यन्त ज्ञान और दर्शन में भेद है परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा दर्शन और ज्ञान समान हैं। दर्शन का विषय आत्मा होने से दर्शन आत्मप्रमाण है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है। ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय लोकालोकप्रमाण होने से ज्ञान सर्वगत है। ज्ञान के बराबर आत्मा होने से ज्ञान और दर्शन समान हैं। चक्षु और चक्षुदर्शन 1-12 वें गुणस्थान तक हैं। अवधिदर्शन 1 या 3 से 12 वें गुणस्थान तक है। केवल दर्शन 12 वें स्थान के बाद (13-14 व सिद्धों में) पाया जाता है।

(10) **लेश्या मार्गणा**

लेश्या का अर्थ कई तरह से किया जाता है। आत्मा और कर्म का संश्लेष सम्बन्ध कराने में लेश्या निमित्त होती है। मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति रूप योग के विना कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यहां योगरूप प्रवृत्ति को कर्म का पर्यायवाची जानना।[21] कषायोदय से अनरञ्जित योगप्रवृत्ति का नाम है लेश्या। यहां ज्ञातव्य है कि केवल कषायोदय से लेश्या की उत्पत्ति नहीं मानी गई है अपितु शरीर नामकर्मोदय जन्य योग को भी लेश्या कहा है

अन्यथा सयोग केवलियों के शुक्ल लेश्या सम्भव नहीं होगी।[22] कषायानरञ्जित होने पर लेश्या बन्ध चतुष्क (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध) में कारण बनती है। कषायाभाव वाले सयोगकेवलियों को योगनिमित्तक केवल प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है, स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं, कषाय का अभाव होने से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के अभाव में वस्तुत: बन्ध निष्क्रिय या अकिञ्चित्कर है। लेश्या में योग की प्रधानता है और कषाय योगप्रवृत्ति में विशेषण है। 11वें गुणस्थान से केवल सातावेदनीय का बन्ध होता है। लेश्या के निम्न लक्षण मिलते हैं -(1) 'कषायानरञ्जितयोगप्रवृत्तिः'। यहां भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा क्षीणकषाय वालों को उपचार से शुक्ल लेश्या कही है।(2) जो आत्मा को पाप - पुण्यरूप कर्मों से लिप्त करे वह लेश्या है।[23] (3) मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग को भी लेश्या कहा है।[24]

लेश्या दो प्रकार की है-द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। वर्ण नामकर्म के उदय के निमित्त से द्रव्यलेश्या (नामानुरूप शरीर का रंग) होती है। मोहनीय कर्मान्तर्गत कषाय के उदय, क्षयोपशम, उपशम या क्षय होने पर आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग भावलेश्या है।[25] दोनों प्रकार की लेश्यायें 6-6 प्रकार की हैं।[26] उनके नामादि निम्न प्रकार हैं -

क्रम	नाम	कषायनुभाग	वर्ण	दृष्टान्त	फल
1.	कृष्णलेश्या	तीव्रतम	भ्रमरवत्	जड़मूल से वृक्ष काटना	निर्दयी, क्रोधी, रौद्र, चोर
2.	नीललेश्या	तीव्रतर	नीमवत्	स्कन्ध काटना	बुद्धिविहीन, मानी, आलसी
3.	कापोतलेश्या	तीव्र	कबूतरवत्	शाखायें काटना	रुष्ट होना, स्वप्रशंसक, परनिंदक
4.	पीत (तेज)	मन्द	कुङ्कमवत्	उपशाखायें काटना	सरल,विवेकी,दयालु, दानी, समदर्शी
5.	पद्मलेश्या	मन्दतर	पद्मपुष्पवत्	फल तोड़ना	भद्र, त्यागी, गुरुपूजक, धैर्यवान्
6.	शुक्ललेश्या	मन्दतम	हंसवत्	गिरे हुए फल लेना	पक्षपातरहित, निदानरहित, वीतरागी

(11) **भव्य मार्गणा**[27]

जो जीव आगामी काल में सिद्धत्व प्राप्ति की योग्यता रखते हैं वे भव्य हैं तथा जिनमें ऐसी योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं। भव्य दो प्रकार के हैं - 1 भव्यसिद्ध - जो नियम से आगामी काल में सिद्धत्व (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे। ये भी दो प्रकार के हैं - आसन्न भव्य और दूर भव्य। 2 जो आगामी काल में सिद्धत्व प्राप्ति की योग्यता रहने पर भी कभी भी सिद्धत्व को प्राप्त नहीं करेंगे वे अभव्यसम भव्य या अभव्यसिद्ध हैं। अभव्यसम भव्य जीव अभव्य नहीं हैं क्योंकि उनमें सिद्धत्वप्राप्ति की योग्यता होने पर भी अनन्तचतुष्टयप्राप्ति रूप सिद्धत्व प्राप्ति के निमित्त का अभाव रहता है, जैसे ठर्रा मूंग में अंकुरित होने की योग्यता होने पर भी अंकुरित नहीं होती अथवा जैसे पतिव्रता विधवा स्त्री सन्तान पैदा करने की योग्यता होने पर भी परपुरुष संसर्गाभाव होने से कभी भी सन्तान पैदा नहीं कर पाती। अत: इन्हें पूर्णत: अभव्य नहीं कहा जा सकता। अभव्य जीव वे है जो वन्ध्या स्त्री की तरह पुरुष संसर्ग मिलने पर भी सन्तान पैदा नहीं कर पाती है। निश्चय नय की दृष्टि से तो सभी में शक्ति है।

अयोगकेवली के अन्तिम समय में भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है। अत: सिद्ध हो जाने पर भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों से रहित होते हैं। भव्यत्व और अभव्यत्व का व्यवहार संसारियों के ही होता है, सिद्धों के नहीं।[28] जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव दर्शनमेहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है और उसी कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर पुन: सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसी प्रकार भव्य का अभव्य में और अभव्य का भव्य में परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि ये भाव कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोमशम जन्य नहीं हैं। ये पारिणामिक भाव (स्वाभाविक भाव) हैं, जीव के। जैसे अग्नि की उष्णता उसका स्वाभाविक भाव है। जीव का पारिणामिक भाव होने पर भी यह कार्यसिद्धि के बाद (सिद्धत्व प्राप्ति के बाद) नहीं रहते।

(12) **सम्यक्त्व मार्गणा**

सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।[29] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय,नव पदार्थों का उनकी आज्ञा से या अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।[30] जब यह परोपदेशपूर्वक होता है तो इसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जब विना परोपदेश के स्वत: होता है तो इसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व की दृष्टि से जीवों को पहचानना सम्यक्त्व मार्गणा है। यह 6 प्रकार से सम्भव है -

1. **क्षायिक सम्यक्त्व** - सात प्रकृतियों (चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों) के आत्यन्तिक क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह सुमेरुपर्वतवत् निष्प्रकम्प, निर्मल तथा अविनश्वर होता है क्योंकि यह कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता। यह 6 से 10 गुणस्थानों में भी हो सकता है परन्तु 12 से 14 गुणस्थानों में नियम से एकमात्र यह क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।

2. **वेदक सम्यक्त्व या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** -देशघाती सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के उदय में रहते हुये जो चल, मलिन और अगाढ श्रद्धान होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसमें एकदेशघातरूप सम्यक्त्व का वेदन होता है। यह 4-7 गुणस्थानों में प्राय: पाया जाता है। इससे आगे के गुणस्थानों में श्रेणी चढते समय मलरहित सम्यक्त्व चाहिये।

3. **औपशमिक सम्यक्त्व** - चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व (उपशम सम्यक्त्व) होता है। यह कीचड़ के नीचे बैठ जाने पर निर्मल हुये जलवत् होता है जो कालान्तर में मलिन हो जाता है। यह दो प्रकार का है -प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इनमें प्रथमोपशम 4-7 गुणस्थानों में होता है और द्वितीयोपशम 4-11 गुणस्थानों में होता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्व प्रथम होता है। सादि मिथ्यादृष्टि के भी सम्यग्मिथ्यात्व तथा समयक्प्रकृति की उद्वेलना होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यह पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उपशम से होता है। श्रेणी चढते समय क्षयोपशम सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के पूर्व पाँचवीं करणलब्धि (लब्धियां पाँच हैं - क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें प्रथम चार लब्धियां सामान्य हैं जो भव्य अभव्य सभी प्राप्त कर लकते हैं) आवश्य होना चाहिये। करण लब्धि तीन प्रकार की है जो उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणामों का परिपाक है - अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यहां करण का अर्थ परिणाम है। लब्धि का अर्थ है कर्ममलरूप पटल की फलदान शक्ति (अनुभाग) की विशुद्धि, जिससे कर्ममल छट जाता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय में सम्यक्त्वमोहनीय की अन्तिम फालि के द्रव्य के नीचे के निषेकों के साथ क्षेपण करने के अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है।[31] अर्थात् अन्तिम स्थितिकाण्डक के समाप्त होने पर कृत्कृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होता है।[32]

4. **सासादन सम्यक्त्व** - उपशम सम्यक्त्व से पतित होता हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक वह सासादन सम्यक्त्वी कहलाता है। इसका काल बहुत अल्प होता है। जैसे वृक्ष रूपी सम्यक्त्व से पतित होता हुआ फल जब तक जमीन (मिथ्यात्व) पर नहीं पहुँचता है तब तक का काल इसका होता है। यह दूसरे गुणस्थान में ही होता है। इसमें मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव रहने पर भी आत्मा अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय से मलिन हो जाता है, इसीलिये इसे सासादन(स+आसादन) कहते हैं।

5. **सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र सम्यक्त्व** - जो मन्दशक्ति के कारण तत्त्वों पर श्रद्धान तथा अश्रद्धान से युक्त है वह सम्यग्मिथ्यात्वी है। यह तीसरे गुणस्थान वाला होता है।

6. **मिथ्यात्व** - सम्यक्त्व के साथ मिथ्यात्व में स्थित जीवों की भी मार्गणा आवश्यक है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ में अरुचि होना /अश्रद्धान होना मिथ्यात्व है। इसके कई प्रकार के भेद मिलते हैं - 1. निसर्गज मिथ्यात्व (अनादि अगृहीत मिथ्यात्व) और परोपदेशिक मिथ्यात्व (गृहीत सादि मिथ्यात्व)। 2. एकान्त विपरीत, संशय, विनय और अज्ञान मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं। मिथ्यादृष्टि जीव भगवान् की पूजा, जाप, स्वाध्याय आदि करने पर भी धर्मध्यानी नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि हुये विना धर्मध्यान सम्भव नहीं है। मिथ्यादृष्टि की पूजा आदि धार्मिक क्रियायें प्रशस्त आर्तध्यान हैं जो पुण्यवर्धक तथा पूर्वोपार्जित पापनाशक हैं परन्तु संवर में कारण नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि का प्रथम गुणस्थान होता है।

(13) **संज्ञी मार्गणा**[33]

नोइन्द्रिय(मन) आवरण कर्म के क्षयोपशम से जन्य ज्ञान का नाम संज्ञा है उससे जो युक्त हो वह संज्ञी है। असंज्ञी को मात्र इन्द्रियजन्य बाह्यपदार्थों का ज्ञान होता है। संज्ञी को समनस्क/ मनसहित/सैनी कहते हैं तथा असंज्ञी को अमनस्क / असंज्ञी कहते हैं। जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, इच्छापूर्वक हाथ पैर आदि चलाने की क्रिया, उपदेश ग्रहण, आलाप (वार्तालाप, श्लोकपाठ आदि) ग्रहण करता है तथा कर्तव्य -अकर्तव्य का विचार करता है वह संज्ञी है, शेष असंज्ञी हैं। संज्ञी जीव को संज्ञी नामक जातिनामकर्म का उदय रहता है तथा नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम रहता

है। एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय तक के सभी जीव (तिर्यंच) असंज्ञी होते हैं और शेष संज्ञी होते हैं परन्तु उनमें निर्वृत्ति-अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीव की मन संज्ञा पूर्ण नहीं हो पाती और वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। तेरहवें चौदहवें गुणस्थान के जीव तथा गुणस्थानातीत सिद्ध संज्ञी-असंज्ञीपने से रहित होते हैं। मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन पुद्गलविपाकी अङ्गोपाङ्गनामकर्म के उदय से होता है। वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मविशुद्धि होती है वह भावमन है। संज्ञी जीव जब 11वें गुणस्थान से गिरते हैं तो उनके क्रमशः परिग्रहादि संज्ञायें (संज्ञाओं के अन्य प्रकार - परिग्रह, मैथुन, भय तथा आहार हैं) उत्पन्न हो जाती हैं। यदि भवक्षय के कारण गिरते हैं तो एक साथ चारों संज्ञायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(14) **आहार मार्गणा**[34]

आहारवर्गणाओं से तीन प्रकार के शरीर बनते हैं-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक। इन तीन शरीरों और इनसे संबन्धित 6 पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास ,भाषा और मन) के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना आहार है अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक आदि तीन शरीरों में से यथासम्भव किसी शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का तथा वचन (भाषा) व द्रव्यमन के योग्य वर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसे आहार कहते हैं। आहारक और अनाहारक स्थानों में जीवों का अन्वेषण करना आहारमार्गणा है। यहां नोकर्माहार की अपेक्षा से आहारकपना समझना, कवलाहार आदि नहीं। अत; जो नोकर्माहार को ग्रहण करता है वह आहारक है और जो नोकर्माहार ग्रहण नहीं करता है वह अनाहारक है। आहार के 6 प्रकार हैं -

1. **कवलाहार** -जो कवल या ग्रास रूप से मुख द्वारा खाया जाता है वह कवलाहार है। यह मनुष्यों और द्वीन्द्रियादि तिर्यंचों में पाया जाता है। केवली कवलाहार नहीं करते हैं ऐसी दिगम्बर मान्यता है।
2. **लेपाहार** -जो तेल आदि के लेपरूप में ग्रहण किया जाता है वह लेपाहार है। यह मुख्यत वनस्पति आदि में होता है।
3. **ऊष्माहार या ओजाहार** -गर्मी देने रूप आहार। यह पक्षी आदि अपने अण्डे आदि को मुख्यत: भोजनरूप में देते हैं।
4. **मानसिकाहार** -जो मन में कल्पनामात्र से कंठ में अमृतरूप में होता है। यह देवों में पाया जाता है।
5. **कर्माहार** -जहां कर्मफल भोगने की मुख्यत: होती है, यह नारकियों में पाया जाता है।
6. **नोकर्माहार** -मात्र नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण, यह सयोगकेवली भगवान् का होता है।

विग्रहगति में स्थित जीव अधिकतम तीन समय तक, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात अवस्था को प्राप्त सयोगकेवली (केवली समुद्घात में आत्मा के प्रदेश क्रमश फैलते हैं और वापिस आते हैं। क्रमश: दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण, प्रतर, कपाट, दण्ड , मूलशरीर प्रवेश। इनमें से प्रतर, लोकपूरण और पुन प्रतर इन तीन समयों तक), अयोगकेवली (पाँच ह्रस्वाक्षर उच्चारणकाल या अन्तर्मुहूर्तकाल तक) तथा सिद्ध भगवान् अनाहारक हैं, शेष सभी आहारक हैं। केवली समुद्घात के समय तीन समयों में जीव कार्मण काययोग में अनाहारक हैं तथा दण्ड, कपाट अवस्था में आहारक हो जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में पुन: अनाहारक हो जाते हैं। विग्रहगति में वे ही जीव अनाहारक होते हैं जो 1; 2; 4 गुणस्थानवर्ती होते हैं। विग्रह गति में ऋजुगति या इषुगति या मोडारहितगति वाले एक समय में ही नवीन शरीर धारण कर लेते हैं जिससे वे अनाहारक नहीं होते एक मोडावाली गति या पाणिमुक्तागति में एक समय तक अनाहारक रहते हैं। दो मोडेवालीगति या लांगलिका या हलवत्‌गति में दो समय तक तथा तीन मोडे वाली गति या गोमूत्रिकागति में तीन समय तक अनाहारक होते हैं।

इस तरह इन चौदह मार्गणाओं के द्वारा जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है। इससे हम अपने मोक्षमार्ग का रास्ता चुन सकते हैं। इसमें समस्त जैन सिद्धान्त का निचोड समाहित है। इनका यहां पर संक्षिप्त विवेचन ही किया गया है, विशेष के लिये गोम्मटसार,धवला आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना होगा।

पादटिप्पण

1. गइ-इंदियेसु काये जोगे वेदे कसाय-णाणे य।
   संजम-दंसण-लेस्सा भविया- सम्मत्त- सण्णि- आहारे ।। गो0जी0142
2. गो0जी0146
3. गो0जी0164-165
4. गो0जी0181

5. गो0 जी0200
6. गो0 जी0 202
7. गो0जी0 216
8. धवला पु, 7 पृ, 6 मनोवाक्कायावष्टंभबलेन जीवप्रदेशपरिस्पंदो योग इति ।
9. गो0 जी0 271-272; धवला, पु01 पृ 0 141 आत्मप्रवृत्तेमैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः।।
10. गो0 जी0 282-283; त0 सू0,अ0 8 सूत्र 9
11. धवला 6/42
12. भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। धवला, पु0,1 पृ0142
13. गो0 जी0 299
14. धवला 1/355
15. राजवार्तिक 9/1
16. धवला 1; सूत्र 116 टीका
17. गो0 जी0 गाथा, 465
18. त0 सू0 9/18
19. जयधवला, पु. 1, पृ, 331
20. जयधवला, पु. 1, पृ, 338 जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कटुमायारं ।
    अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये।। गो,जी, गा 482, भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
    वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।। गो,जी, गा, 483
21. धवला, पु. 1, पृ , 149-150
22. वही।
23. लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च। जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा।
    गो0 जी0 गा0 489 जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ। तत्तो दण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं।।
    गो0 जी0 गा0 490
24. धवला, पु. 8 पृ,356 ;तथा पु;16पृ, 485; 488
25. गो0 जी0, गा0 493-495; 507-517
26. गो0 जी0, गा0 536
27. गो0 जी0, गा0 557-558
28. गो0 जी0, गा0 559
29. रत्नकरण्डश्रावकाचार
30. गो0 जी0, गा0 561
31. धवला, पु. 6; 248;263
32. वही
33. गो0 जी0, गा0 660-662
34. गो0 जी0, गा0 664-666
35. प्रवचनसार
36. गो0 जी0, गा0 666 तथा 'प्रतर्योलोकपूरणे च कार्मणः। तत्र अनाहारक इति' स्वा. का. अ. गाथा 487

आचार्य विद्यासागर : एक अनुशीलन

आचार्य श्री 108 विद्यासागर का व्यक्तित्व और कृतित्त्व समुद्र सा विराट् और गम्भीर है। उन्हें किन्हीं प्रशंसापरक विशेषणों से मंडित करने का अर्थ है सूर्य को दीपक दिखाना। वे तपश्चर्या और वीतरागता में जितने आगे हैं उतने ही कविता के माध्यम से जैनदर्शन के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने में सक्षम हैं। अध्यात्म की ऊर्जा जितनी सबल है उतनी ही कवित्व प्रतिभा भी अनुपमेय है। उनका निष्परिगृही जीवन और निर्दोष विपुल कृतित्त्व इसका निदर्शन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की त्रिपुटी रूप रत्नत्रय की आभा आपके दर्शन मात्र से आबालवृद्ध को रोमाञ्चित करती है। मातृभाषा कन्नड होने पर तथा कक्षा नौ तक स्कूली शिक्षा होने पर भी आपकी हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अप्रतिम पकड़ है। आपकी कृतियों पर शोधार्थी पी-एच.डी. डिग्री प्राप्त करते हैं। विनयशीलता, गुरुभक्ति, ज्ञानपिपासा, जितेन्द्रियता, सरलता, शुचिता, सत्यनिष्ठा, जिन-शासन-आस्था आदि अनेक गुण अहमहमिकया आपमें विराजमान हैं। भविष्यदर्शी आपके गुरु महाकवि श्री 108 ज्ञानसागर ने आपमें इन सब गुणों को जानकर ही बाल ब्रह्मचारी अवस्था में (22 वर्ष की अवस्था में) मुनिदीक्षा दी तथा स्व सल्लेखना काल में (चार वर्ष बाद ई. 22.11. 1972 को) अपना आचार्यपद देकर महाप्रयाण किया। विद्याधर से विद्यासागर बनकर आपने अनेक मुनिदीक्षायें देकर विशाल वटवृक्ष खड़ा किया है जिसकी छत्रछाया में बैठकर हम सभी अपना कल्याण कर रहे हैं। उनका एक ही लक्ष्य है चेतन निज को जानकर शिवाङ्गना को वरण करना। इसलिये आपने अपने भजनों के शीर्षक दिये - (1) मोक्ष-ललना को जिया कब वरेगा, (2) चेतन निज को जान जरा, (3) बनना चाहता है अगर शिवाङ्गना पति, (4) अब मैं मन-मन्दिर में रहूँगा, (5) परभव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर आदि।

काललब्धि और पुरुषार्थ के विषय में -

समणसुत्तं का पद्यानुवाद करने के प्रसङ्ग में जो अपनी मनोभावना व्यक्त की है वह भाग्य और पुरुषार्थ का सम्यक् समन्वय करती है - 'काल-लब्धि के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता और पुरुषार्थ से मुखमोड़कर काललब्धि की प्रतीक्षा करने से भी काललब्धि नहीं आ सकती है' इनपक्तियों के द्वारा आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि भाग्य के भरोसे बैठे नहीं रहना चाहिए अपना पुरुषार्थ निरन्तर जारी रखना चाहिए क्योंकि बिना पुरुषार्थ के काललब्धि नहीं आती।

काव्यरचना का उद्देश्य - जैनगीता लिखने के प्रसङ्ग में आपने अपने लिखने का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है मन में बहुत काल से विचार करवटें ले रहा था कि एक ऐसा काव्यग्रन्थ का निर्माण किया जाए कि आबालवृद्ध उस ग्रन्थ को सङ्गीत के माध्यम से अल्पकाल में ही पढ़कर जैनदर्शन की उपयोगिता एवं ध्रुवबिन्दु के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकें और जीवन को समुन्नत बना सकें। इसका सीधा अर्थ है कि काव्यरचना (जैनगीता) का उद्देश्य अपनी काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन नहीं था अपितु जैनदर्शन के केन्द्रबिन्दु का आबालवृद्ध को सङ्गीत के माध्य से परिचय और उसकी उपयोगिता बतलाना रहा है। अहिंसा सूत्र के 151वें सूत्र में कितने सरल शब्दों में अहिंसा की आवश्यकता को बतलाया है -

जो अन्य जीव वध है, वध ओ निजी है,
भाई यह परदया, स्वदया रही है।
साधू स्वकीय हित को जब चाहते हैं,
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते हैं।

कितना सुन्दर कथन इस अहिंसा सूत्र में है कि परदया वास्तव में स्वदया है, दूसरे का वध आत्मवध है। अत: अपना हित चाहने वाले कभी भी हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते।

जैनगीता का अर्थ

'जैन गीता' शब्द का अर्थ 'जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का सार' बतलाया है। 'जैन' शब्द जाति वाचक नहीं है

अपितु सहज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर सङ्केत करते हुए विषयकषायों से ऊपर उठकर परम शान्ति के पथ का प्रदर्शन करता है। जो अपनी इन्द्रियों को और आत्मा को पूर्णरूप से जीतता है, उन्हें कुमार्ग में जाने से रोकता है, वह 'जिन' है और 'जिन' ही जैन (जितेन्द्रिय) है- 'जयति स्वकीयानि इन्द्रियाणि आत्मानं स जिन:, जिन एव जैन इति' गी: - वाणी। गी: का भाव या सार अर्थ में 'ता' प्रत्यय करने पर 'गीता' शब्द निष्पन्न होता है। यही 'जैन गीता' का अर्थ है अर्थात् जिनेन्द्र वाणी का सार।

जैनागमों का प्रयोजन -

जैनागमों की रचना केवल पौद्गलिक शब्द परिणति नहीं है। अत: आवश्यक है कि शब्दों में ही न उलझकर शब्दावबोध के बाद उसका अर्थावबोध करें और अर्थावबोध करके ही शान्त न हो जायें अपितु उस परमसत्ता का स्वानुभव करें। उस परमसत्ता का मनन-मन्थन करके जो नवनीत निकले उसका आस्वादन करें। यही जैनागमों का या द्वादशाङ्ग वाणी का प्रयोजन है, अन्य कुछ नहीं। इसी में जीवमात्र का कल्याण है।

शुभोपयोग भी सम-सामयिक क्यों है ?

शुद्धात्मा का स्वरूप लखना तजकर लिखना साधु का कार्य नहीं है। फिर आचार्यश्री ने लिखने में क्यों प्रवृत्ति की ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा चिरानुभूत संकल्प-विकल्प के संस्कार ने चञ्चल मन को लिखने के विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फलस्वरूप आभ्यन्तर परिणति (शुद्धोपयोग) छूटी और बहि:परिणति (शुभोपयोग) प्रवाहित हुई। आगे इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है -'छद्मस्थ का मनोबल इतना निर्बल है कि वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अपने चञ्चल स्वभाव का परिचय दिए बिना नहीं रहता। इसी से इस मन में प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया। यह भी समयोचित ही हुआ। आगमोल्लेख है कि विषयकषाय रूप अशुभोपयोग से बचने के लिए सहज स्वभाव शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिए तत् साधनभूत शुभोपयोग का आलम्बन लेना मुनियों, सत्पथ साधकों एवं सन्तों के लिए भी सामयिक तथा उपादेय है।' इस तरह मन की चञ्चलता (मन एक अन्तमुहूर्त्त से अधिक एक विषय पर स्थिर नहीं रह सकता) को नियन्त्रित करने के लिए तथा अशुभपयोग से बचने के लिए शुभोपयोग भी उपादेय है।

इस कथन के द्वारा उन्होंने ग्रन्थ लेखन में प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट करते हुए तथा निश्चय एकान्तवादियों का खण्डन करते हुए बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। शुद्धोपयोग में निरन्तर लगना एक अन्तर्मुहूर्त से भी अधिक सम्भव नहीं है। अत: उसे विषयकषायों में जाने से रोककर शुभोपयोग में लगाना समयोचित है। इस तरह निश्चय व्यवहारनय का सम्यक् समाधान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार का पद्यानुवाद करते हुए भी यही कहा है -

भूतार्थ शुद्धनय है, निज को दिखाता
भूतार्थ है, न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर, जीव होता
सम्यक्त्व मण्डित, वही मन मैल धोता।।
शुद्धात्म में निरत हो, जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्धनय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत सरागचारित्र वाले
भूले न लक्ष्य, व्यवहार अभी संभाले।। 14।।

इससे स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग रूप शुद्ध निश्चय नय भूतार्थ (सत्यार्थ) हने से उपादेय है परन्तु जब तक यह संभव न हो तब तक व्यवहारनयाश्रित शुभोपयोग को सँभालना चाहिए। शुद्धोपयोगी तो पूर्ण वीतरागी ही हो सकता है।

काव्यरचना का प्रयोजन और उसका कलापक्ष -भावपक्ष -

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्यरचना के 6 प्रयोजन बतलाये हैं -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। का. प्र. 1.2

अर्थ - (1) यश:प्राप्ति, (2) अर्थोपलब्धि, (3) लोक व्यवहार का ज्ञान, (4) शिवेतर क्षति (अनिष्टनाशक), (5) शीघ्र परिनिर्वाण (मोक्ष या परमानन्द) और (6) स्त्री के समान सरस कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश ये 6 प्रयोजन काव्य लिखने के संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम दो प्रयोजन आचार्यश्री विद्यासागर को अभीष्ट नहीं हैं क्योंकि वे इनसे परे

हैं (वीतरागी हैं)। शेष चार प्रयोजनों में भी चौथा और पाँचवा प्रयोजन अधिक अभीष्ट है। अत: आपकी रचनाओं में भक्तिरस या शान्तरस की प्रमुखता है। आपकी रचनाओं में कलापक्ष और भावपक्ष दोनों समाहित हैं। पदे-पदे अनुप्रास आदि शब्दालंकार, उपमा आदि अर्थालंकार तथा शब्दवैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है। इस सन्दर्भ में भावनाशतक के निम्न दो पद्य प्रस्तुत हैं -

असमयवर्षास्तमित धान्यं वासुधातलममनस्तमितम्।
फलति न कमपि स्तमिते ह्यकालिकीनुतिरकास्त! मितम्।।84।।
अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन।। 85।।

अर्थ - हे निर्दोष (हे अकास्त)! हे अमन (मनरहित)! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथ्वीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है उसी प्रकार अकाल (असमय) में की हुई स्तुति निश्चय ही किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं देती है।

हे निर्दोष (हे अदंश)! है पूज्य स्वामिन्! जिस प्रकार दन्तसहित व्यक्ति भोजन से रस-स्वाद प्राप्त करता है तथा जिस प्रकार कवचसहित (सदंशनेन) राजा के द्वारा निश्चय ही विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन् (अदंशनेन) से परम सुख प्राप्त (इतम्) किया जाता है।

इन दोनों पद्यों में शब्दालङ्कार, उपमा, कलापक्ष, पदलालित्य, अर्थगाम्भीर्य और भावपक्ष सभी कुछ है।

संस्कृतसाहित्य में कालिदास की उपमा, दण्डी का पदलालित्य, भारवि का अर्थगाम्भीर्य तथा नैषधकार में इन तीनों गुणों की प्रसिद्धि है -

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

शान्तरस, भक्तिरस या आध्यात्मिकरस प्रधान काव्यों में इन सभी गुणों का एकत्र समावेश अन्यत्र दुर्लभ है।

काव्यनिर्माण के हेतु -

काव्य निर्माण के लिए तीन हेतुओं का होना आवश्यक है -

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। का.प्र. 1.3

(1) शक्ति (नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा), (2) निपुणता (व्युत्पत्ति अर्थात् लोक-व्यवहार, शास्त्र, इतिहास, व्याकरण आदि का व्यापक ज्ञान) तथा (3) अभ्यास (पौन:पुन्येन प्रवृत्ति)। इन तीनों कारणों की समष्टि से ही काव्यरचना होती है। इनमें भी शक्तिरूप प्रतिभा सबमें प्रमुख है क्योंकि इसके विना रचित काव्य उपहास को प्राप्त होता है। आचार्यश्री की प्रतिभा अद्वितीय है। अत: जिस मिट्टी को वे छू देते हैं वह सुवर्णकलशवत् पूज्य हो जाती है। आपकी काव्यरचना में प्रथम दो हेतु ही देखे जाते हैं। प्रतिभा ऐसी है कि शब्द और अर्थ अनायास प्रकट होकर नाचने लगते हैं।

गुरुभक्ति का आदर्श -

निजानुभव शतक (समग्र 3.2 पृ. 307) में गुरु ज्ञानसागर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए लिखा है-

थे ज्ञानसागर गुरु मम प्राण प्यारे, थे पूज्य साधुगण से बुध मुख्य न्यारे।
शास्त्रानुसार चलते, मुझको चलाते, बंदू उन्हें विनय से, शिर को झुकाते।

आपने अपने अमृताक्षर (पृ.3/119), मानस सङ्केत (पृ.3/219), अमिताक्षर (पृ.3/1) मनोभावना (पृ.2/1-3) आदि में अपने वयोवृद्ध-तपोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध आचार्यगुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज को प्रसाद-परिपाक बतलाते हुए। तथा अपने गुरु को गुरुचरणारविन्द चञ्चरीक प्रकट करते हुए ॐ शुद्धात्मने नम:, ॐ निरञ्जनाय नम:, ॐ जिनाय नम: के साथ ॐ निजाय नम: लिखा है। आप कहीं भी चूकते नहीं है अपने गुरु को महत्त्व देने में। आपने जो भी विपुल साहित्य लिखा है उसका श्रेय स्वयं को न देकर गुरु को ही देते हैं।

कर्मोदय होने मात्र से बन्ध नहीं होता - निजानुभवशतक में कर्मोदय का रोना रोने वालों को सचेत करते हुए कहते हैं-

तू ने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप, जो रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लौं, जब लौं न राग, चिंता नहीं उदय से, बन वीतराग।। वही,86

कितने सुन्दर सरल शब्दों में कर्मोदय से न घबराने का तथा उस समय वीतरागी बनकर पुनः कर्मबन्ध से मुक्ति का मार्ग बतलाया है।

संस्कृत शब्दों की अठखेलियों में भरा गूढ़ रहस्य – श्रमणशतकम् का निम्न पद्य द्रष्टव्य है –

निजस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः।। 86 समग्र, पृ. 89

इसी का हिन्दी भावानुवाद –

गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे और भावपूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे, ऐसा जिनेश कहते सुख को गेहेंगे।।

अर्थ – जो यति मद को छोड़कर निजात्मा की स्तुति (ध्यान) करेंगे, वे शीघ्र ही मुक्तिरमा का वरण करके सुख को प्राप्त करेंगे। यहाँ संक्षेप में जैनशास्त्रों का सार (गूढरहस्य) प्रकट किया गया है। शब्दों से सङ्गीत तथा पदलालित्य टपक रहा है।

हिन्दी गद्यकाव्य में अनेकान्त की व्याख्या –

अनेकान्त की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि समता ही अनेकान्त का हार्द है – जो छह दर्शनों को लेकर अलग-अलग भाग रहे हैं उन सभी को एकत्र करके समझने वाला यह जैनदर्शन है। मुनि बनने के उपरान्त समता आनी चाहिए तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो जैनदर्शन को भी नहीं समझ सकोगे। (समग्र 4 पृ. 177-178) यही अनेकान्त का प्रेक्टिकल रूप है। इसी बात को समतारूपी अरुणिमा को लक्ष्य करके अन्यत्र कहा है हिन्दी कविताओं में –

समता अरुणिमा बढ़ी, उन्नत शिखर पर चढ़ी।
निजदृष्टि निज में गड़ी, धन्यतम है यह घड़ी।।
झर झर झरता झरना, कहता चल चल चलना।
उस सत्ता से मिलना पुनि पुनि पड़े न चलना।।

इसमें पदलालित्य और अर्थगाम्भीर्य बहुत ही सुगम शब्दों में निरूपित है। झरना जैसे बहते-बहते जब समुद्र की अथाह परम सत्ता में विलीन हो जाता है तो फिर उसका बना बन्द हो जाता है वैसे ही संसारी जीव संसार में भटकते हुए परमात्म की सत्ता में जब समा जाता है तो उसका पुनरागमन नहीं होता है। इसी परम सत्ता की प्राप्ति हेतु हितमितप्रिय शब्दों के माध्यम से तथा स्व-पर कल्याण के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर साधना पथारूढ साधक-सन्तों को परम सत्ता का मनन मन्थन कर नवनीत के रूप में विपुल साहित्य का निर्माण किया है जो अध्यात्म रस से परिपूरित है।

पूजा के योग्य कौन है ?

आपकी दृष्टि में संसारी जीवों में परिग्रही ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका आदि तथा असंयमी क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि देवियाँ परिग्रह के सद्भाव के कारण न तो परिक्रमा के न पादप्रक्षालन के और न अष्टद्रव्यपूजन के योग्य हैं। केवल निष्परिग्रही मुनि ही पूजा के योग्य हैं। पंच परमेष्ठी सदा पूज्य हैं।

आपकी शब्द-साधना, तपस्साधना, ज्ञानसाधना अद्भुत है। आप शब्दों के नाना अर्थ निकालने में कुशल शिल्पी हैं तथा हृदय के अनुभूत भावों को प्रकट करने में जादूगर हैं। आपके विपुल काव्यसाहित्य को 'महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली' के नाम से तथा 'समग्र' के नाम से चार खण्डों में प्रकाशित किया गया है। 'समग्र' के प्रथम खण्ड में संस्कृत के पाँच शतक (पद्यानुवाद सहित), द्वितीय खण्ड में प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के आध्यात्मिक 18 ग्रन्थों का पद्यानुवाद, तृतीय खण्ड में हिन्दी काव्य, कवितायें, शतक एवं भक्तिगीतों और चतुर्थ खण्ड में गद्यात्मक प्रवचनों का संग्रह है। आपकी हिन्दी पद्य रचनाएँ छन्दोबद्ध तथा आधुनिक उन्मुक्तछन्द वाली हैं परन्तु संस्कृतकाव्य छन्दोबद्ध ही है।

वस्तुतः आप इस युग के मसीहा हैं, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिबिम्ब हैं, जैन श्रमण संस्कृति के संरक्षक हैं, तीर्थ उन्नायक हैं, रत्नत्रय के सजग प्रहरी हैं अध्यात्मरस परिपूरित काव्यकला के चतुर शिल्पी हैं जिनके रिमोट कन्ट्रोल से शब्द नृत्य करते हुए संचालित होते हैं। शब्दों में ओज, प्रसाद, लालित्य, सङ्गीत आदि गुण हैं। आपका एक भी वाक्य या पद्य निरर्थक नहीं है। सभी नीति वाक्यवत् मनन के योग्य हैं। आपकी 'मूकमाटी' तो अद्भुत है, जैनधर्म का सार उसमें समाहित है। साथ ही वर्तमान समाज, संस्कृति, राजनीति आदि पर अच्छे व्यङ्ग्य हैं। सतत पठनीय एवं मननीय है।

आठ योगदृष्टियाँ

(आचार्य हरिभद्रकृत योगदृष्टिसमुच्चय के आलोक में)

आचार्य हरिभद्रसूरि (ई0 सन् 757-827) जैन श्वेताम्बर परम्परा के एक महनीय विद्वान् हैं जिन्होंने जैन परम्परा में प्रचलित 'योग' शब्द का अर्थ मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों[1] के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ में भी किया है। संवर, ध्यान, तप आदि शब्द जो जैन आगमों में मिलते हैं वे इसी आध्यात्मिक योग के बोधक हैं। आज दोनों अर्थ (1. मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तथा 2. मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति को रोककर किसी एक विषय पर केन्द्रित करना अथवा अन्तर्मुखी होकर आत्मलीन होना) जैन परम्परा में प्रचलित हैं।[2] आचार्य हरिभद्रसूरि ने यहाँ द्वितीय अर्थ को दृष्टि में रखकर 'योग' शब्द का प्रयोग किया है और योग-विषयक छः ग्रन्थों की रचना की है- 1. योगशतक, 2. योगविंशिका, 3. ब्रह्मसिद्धान्तसार, 4. योगदृष्टिसमुच्चय, 5. योगबिन्दु और 6. षोडशक। इनमें से प्रथम दो प्राकृत भाषा में हैं और शेष चार संस्कृत में। अन्य आचार्यों की रचनाओं में भी अध्यात्म-ध्यान योग विषयक सामग्री का अवलोकन किया जा सकता है।[3]

अध्यात्म योग के लिए आवश्यक है मन को संयमित करना क्योंकि इन्द्रियों की चंचलता में कारण है 'मन'। मन की चंचलता ही आत्मध्यान में बाधक है तथा एकाग्रता में भटकाव की जननी है। मन की अस्थिरता के कारण ही राग-द्वेष आदि कषायभाव पैदा होते हैं जो कर्मबन्ध में कारण बनते हैं। योग-साधना में मन पर नियंत्रण आवश्यक है। अतः योगदर्शन में पतंजलि ने चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा है।[4] आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय[5] में पातंजल अष्टांगयोग को माध्यम बनाकर आठ प्रकार की योगदृष्टियों (आत्म-विकास की भूमिकाएँ) का वर्णन करते हुए उनकी गुणस्थानों में योजना की है। आत्मशक्ति का विकास या स्वरूपोपलब्धि ही जैन साधना-पद्धति का लक्ष्य है। आत्मशक्ति की अविकसित और विकसित अवस्थाओं की क्रमिक योजना इन्हीं चौदह गुणस्थानों[6] में की गई है।

संसार-परिभ्रमण का मुख्य कारण है 'कर्मबन्ध' और कर्मबन्ध का मुख्य कारण है 'राग-द्वेष रूप कषायें'[7]। कर्मबन्ध के कारण ही शरीर-इन्द्रियों आदि की प्राप्ति होती है और पश्चात् राग-द्वेषवश विषय-भोगों का ग्रहण और पुनः कर्मबन्ध।[8]

कर्म आठ प्रकार के हैं- 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय। इनमें चार (1, 2, 4 और 8) घातिया (आत्म-स्वरूप प्रतिबन्धक) और शेष चार (3, 5, 6, 7) अघातिया (साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं) हैं।[9] इन आठों कर्मों में सबसे प्रधान है 'मोहनीय कर्म' जो आत्म-विकास का प्रबल प्रतिबन्धक है। जैसे-जैसे मोहनीय की शक्ति घटती जाती है जीव आत्म-विकास करते हुए ऊपर की सीढियों पर चढ़ता जाता है। इसके पूर्णतः नष्ट होने पर सर्वज्ञ, केवली, अर्हन्त, योगी और जीवन्मुक्त हो जाता है। आयु पूर्ण होने पर अशरीरी होकर सिद्ध-मुक्त (परमात्मा) हो जाता है। आचार्य हरिभद्र ने गुणस्थानों तथा अष्टांगयोग को ध्यान में रखकर आत्मविकास की आठ योग-दृष्टियाँ बतलायी हैं।

ओघदृष्टि और योगदृष्टि[10]- दृष्टि (बोध) सामान्यतः दो प्रकार की है 1. ओघदृष्टि (असद्दृष्टि) और 2. योगदृष्टि (सद्दृष्टि)। ओघदृष्टि विवेकशून्य तथा अन्धकाराच्छन्न दृष्टि है। सामान्य जनसमुदाय द्वारा परम्परागत मान्यताओं का बिना विचार किए स्वीकार करना ओघदृष्टि है। योगदृष्टि विवेकदृष्टि है। यदि समीचीन श्रद्धायुक्त बोध हो और असत् प्रवृत्तियों से रहित सत्प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति हो तो उसे योगदृष्टि कहते हैं।[11] ये योगदृष्टियाँ यद्यपि आवरण-अपाय के कारण अनेक हैं परन्तु सामान्य से आठ हैं[12]- 1. मित्रा, 2. तारा, 3. बला, 4. दीप्रा, 5. स्थिरा, 6. कान्ता, 7. प्रभा और 8. परा।

इन आठ योगदृष्टियों में से प्रथम चार योगदृष्टियाँ प्रतिपाती हैं जो मिथ्यादृष्टियों और सम्यग्दृष्टियों दोनों को हो सकती हैं। अन्तिम चार योगदृष्टियाँ अप्रतिपाती (वेद्यसंवेद्यपद या स्थिर) हैं तथा सम्यग्दृष्टियों को ही होती हैं। यहाँ डॉ. अर्हद्दास वन्डोवा दिने का यह कथन कि प्रथम चार दृष्टियाँ ओघदृष्टियाँ हैं[13], अनुचित है क्योंकि ये प्रतिपाती (अवेद्य-संवेद्यपद या अस्थिर) तथा मिथ्यादृष्टियों को होने मात्र से ओघदृष्टियाँ नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र ने स्वयं ओघ और

योगदृष्टियों में अन्तर करते हुए आठों को योगदृष्टियाँ कहा है जो उचित भी है[14] क्योंकि ये सत्सङ्गति आदि से प्रगतिपथ पर ले जाती हैं। इन आठ योगदृष्टियों से जीव को किस प्रकार का बोध प्राप्त होता है उसे क्रमश: आठ दृष्टान्तों के द्वारा बतलाया गया है।[15]– 1. तृणाग्नि कण, 2. गोमयाग्नि कण = कण्डे की अग्नि, 3. काष्ठाग्नि, 4. दीपप्रभा, 5. रत्नप्रभा, 6. ताराप्रभा, 7. सूर्यप्रभा और 8. चन्द्रप्रभा। जैसे इन तृणाग्नि आदि की कान्तियाँ उत्तरोत्तर स्पष्टता और स्थिरता लिये हुए हैं उसी प्रकार योगदृष्टियाँ बोध की स्पष्टता और स्थिरता लिये हुए हैं। सूर्यप्रभा की अपेक्षा जो चन्द्रप्रभा को उत्कृष्ट बतलाया है उसका कारण चन्द्रमा की शीतलता और शान्ति-जनकता है जबकि सूर्य में तीव्र उष्णता है जो समस्त कर्मों को भस्म करने में समर्थ है।

इन योगदृष्टियों को पातंजलयोगदर्शन के आलोक में क्रमश: यम-नियमादि अष्टांगयोगों के साथ तथा खेदादि आठ दोषों के परिहारक रूप में भी आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है।[16] इनसे अद्वेष आदि गुणों की क्रमश: प्राप्ति भी बतलाई है। योगदृष्टियों का विवरण इस प्रकार है –

1. मित्रादृष्टि[17]– इसे 'योगबीज' कहा गया है क्योंकि यहाँ बीज रूप में सद्दृष्टि की प्राप्ति होती है जिससे साधक अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों (व्रतों) के पालन करने की इच्छा करता है परन्तु पूर्वजन्म के असद्-संस्कारों के कारण व्रतों का पालन नहीं कर पाता है। सर्वज्ञ को नमस्कार करता है, आचार्य आदि की यथोचित सेवा करता है, स्वाध्याय, पूजा आदि भी करता है। यह मित्रादृष्टि तृणाग्नि-कण की तरह अल्प-स्थायी तथा मन्द है। साधक अनुचित कार्य करने वालों से द्वेष (क्रोध) नहीं करता है और शुभकार्य करने में खेद का अनुभव नहीं करता है। अत: इस दृष्टि वाले में 'अखेद' और 'अद्वेष' गुण पाए जाते हैं। 'यथाप्रवृत्तिकरण' द्वारा ग्रन्थिभेद की ओर अग्रसर होता है। यद्यपि इसका प्रथम गुणस्थान माना गया है परन्तु सामान्य ओघदृष्टि वाले मिथ्यादृष्टि से इसका उन्नत स्वभाव होता है।

2. तारादृष्टि[18]– इसमें शौच (शारीरिक-मानसिक शुद्धि), सन्तोष (आवश्यक आहारादि को छोड़कर संतोषवृत्ति), तप (कष्ट-सहिष्णुता), ईश्वर-प्रणिधान (परमात्म-चिन्तन) रूप नियमों का पालन करते हुए आत्महित के कार्य करने में उद्वेग (अरुचि) नहीं होता है तथा तत्त्व-चिन्तन की जिज्ञासा बलवती होती है। योगियों की कथा सुनने में प्रीति होती है। सम्यग्ज्ञान के अभाव में सत् कार्यों को करते हुए भी राग-द्वेष आदि में प्रवृत्त रहता है। इतना अवश्य है कि मित्रादृष्टि की अपेक्षा इसका राग-द्वेष कुछ कम होता है और चारित्रिक-विकास उससे उन्नत होता है। यह योगबीज के अंकुरण के पूर्व की अवस्था है। इसका ओज कण्डे की अग्निवत् होता है।

3. बलावृष्टि[19]– इस योगदृष्टि में मन की स्थिरता पूर्व की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ हो जाती है। चारित्र-पालन का अभ्यास करते-करते चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने की सामर्थ्य (बल) प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप पद्मासन आदि विविध सुखासनों का आश्रय लेकर आलस्य न करते हुए चारित्र का विकास करता है। जैसे युवक और युवती एक दूसरे में दत्तचित्त होकर आनन्द का अनुभव करते हैं वैसे ही बलादृष्टि वाला साधक शास्त्र-श्रवण, देव-पूजा आदि में आनन्द का अनुभव करता है।[20] पौद्गलिक विषयों की तृष्णा शान्त हो जाती है। कंडे की अग्नि के ओज की अपेक्षा इसका ओज काष्ठ-अग्नि की तरह अधिक होता है। योग-बीज का अंकुरण इसमें होने लगता है। 'शुश्रु षा-शक्ति' प्रकट हो जाती है। शास्त्र-श्रवण न मिलने पर भी शुभभाव के कारण कर्मक्षय करता है।[21] शुभ कार्य में प्राय: विघ्न नहीं आते। यदि विघ्न आते भी हैं तो दूर हो जाते हैं। अर्थात् 'क्षेपदोष' (विघ्न-आना) नहीं रहता है।

4. दीप्रा दृष्टि[22]– इस योगदृष्टि में आध्यात्मिक या भाव-प्राणायाम आवश्यक होता है। आध्यात्मिक या भाव प्राणायाम में रेचक (बाह्य-परिग्रहादि के ममत्व को बाहर निकालना), पूरक (आन्तरिक आत्म-विवेक भाव अन्दर भरना) और कुम्भक (आत्मभावों को अन्दर स्थिर करना) अवस्थाएँ होती हैं।[23] यहाँ योगी तत्त्वश्रवण से संयुक्त होकर 'उत्थान' (चित्त की अशान्ति) नामक दोष से रहित होता है।[24] दीपक के प्रकाश की तरह इसमें स्थिरता तो होती है परन्तु जैसे दीपक हवा से बुझ जाता है वैसे ही तीव्र मिथ्यात्व के उदय होने पर सच्चारित्र नष्ट हो जाता है। जैसे दीपक अपने प्रकाश के लिए पर (तेल) पर आश्रित है वैसे ही यहाँ परावलम्बिता (आत्मा से भिन्न पदार्थ पर आश्रित) है। इसमें पूर्ववर्ती शुश्रूषा गुण 'श्रवण गुण' में परिवर्तित हो जाता है। बोध की स्पष्टता तो होती है परन्तु सत्यासत्य आदि का सूक्ष्मबोध नहीं हो पाता। आसक्ति की विद्यमानता होने से 'अवेद्यसंवेद्यपद' (पूरी परीक्षा किये बिना स्व-अभिनिवेशवश सत्य मानकर अनुसरण करना) की स्थिति है। इसीलिए इस दृष्टि तक प्रतिपात (पतन) स्वीकार किया गया है। यम-नियमादि व्रतों का पालन करने तथा शान्त, विनीत, मृदु, सदाचारी होने पर भी इन चारों दृष्टियों का अन्तर्भाव मिथ्यात्व अवस्था में किया गया है।

वस्तुत: यह सम्यक्त्व-प्राप्ति के पूर्व की अभ्यास-अवस्था अथवा सम्यक्त्व से पतन के बाद की अवस्था है। यह अवस्था एक प्रकार से उपशान्त कषाय जैसी है परन्तु 'यहाँ से पतन निश्चित होगा' ऐसा नियम नहीं है, योगी सम्यग्दृष्टि होकर आगे भी बढ़ सकता है। इसीलिए यहाँ सम्यक्त्व को भजनीय कहा जा सकता है।

5. स्थिरावृष्टि[25]- इस अवस्था में ग्रन्थिभेद से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है जो नित्य है। विषय-विकार-त्यागरूप प्रत्याहार की यह अवस्था है। 'सूक्ष्मबोध' गुण की प्राप्ति होती है। अचंचलता, निरोगता, अकठोरता, मलादि-विषयक अल्पता, सुस्वरता आदि के कारण परमात्म-दर्शन की ओर इन्द्रियों का झुकाव हो जाता है। इस दृष्टि की उपमा रत्न-प्रभा से दी गई है जो सौम्यता प्रदान करती है। इसे 'वेद्यसंवेद्यपद' (सत्य की परीक्षा करके तद्नुरूप आचरण करना) प्राप्ति भी कहा जाता है। यहाँ भ्रमदोष (शंका) नहीं रहता है।

6. कान्तादृष्टि[26]- इस दृष्टि में धारणा (किसी पदार्थ के किसी एक भाग पर चित्त को स्थिर करना) के संयोग से सुस्थिरता आती है। तारागणों के आलोक के समान इसका स्थिर आभामण्डल होता है। पूर्व की दृष्टियों में जहाँ योगी कर्मग्रन्थियों को छेदने में प्रयत्नशील रहता है वह यहाँ आकर अपूर्वता का अनुभव करता है। पूर्ण क्षमाशील बन जाता है। सर्वत्र उसका आदर-सत्कार होता है। परम आनंदानुभूति होती है। स्व-पर वस्तु का सम्यक् बोध हो जाता है। यह दृष्टि आगे की दृष्टियों की आधारशिला होती है। प्रमादजन्य अतिचार-रहित अवस्था है। सूक्ष्मबोध के बाद 'मीमांसा' (चिन्तन-मनन) गुण विशेष रूप से जागृत होता है।

7. प्रभादृष्टि[27]- इसमें सूर्य की प्रभा के समान अत्यन्त स्पष्ट बोध होने लगता है। योगी आत्मसुख की प्राप्ति में तल्लीन हो जाता है। रोगादि क्लेशों से पीड़ित नहीं होता है। असङ्गानुष्ठान (समता) उदित होता है। असङ्गानुष्ठान के चार प्रकार हैं- (क) प्रीति (कषायमुक्त रागभाव), (ख) भक्ति (आचारादि क्रियाओं में स्नेह), (ग) वचन (शास्त्र-वचन) तथा (घ) प्रवृत्ति (वचनानुष्ठान में स्वाभाविक प्रवृत्ति)। यहाँ योगी को सच्चे सुख की अनुभूति होती है। केवलज्ञान-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। चित्त-एकाग्रतारूप ध्यान इसमें प्रवाहरूप और दीर्घकालिक होता है जबकि कान्तादृष्टि में अल्पकालिक और एकदेशीय होता है। प्रतिपत्ति गुण (समाधि) की प्राप्ति होती है। कान्तादृष्टि में मीमांसित तत्त्व का इसमें अमल प्रारम्भ हो जाता है। अपूर्व शान्ति मिलती है। कर्ममल क्षीणप्राय हो जाता है।

8. परादृष्टि[28]- इसमें आत्म-प्रवृत्ति गुण (प्रतिपत्ति गुण की पूर्णता) की प्राप्ति होती है। इसे चन्द्रमा की कान्ति की तरह शान्त और सौम्य अवस्था कहा है। अखण्ड आनन्द मिलता है। प्रभादृष्टि में ध्येय का आलम्बन होता है परन्तु परादृष्टि में ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता है। समस्त दोषों (मोहनीय कर्मों) के नष्ट होने से अनेक लब्धियों की प्राप्ति होती है। इसमें समाधि की सम्प्राप्ति[29] होती है। धारणा से प्राप्त होने वाली एकाग्रता ध्यानावस्था को पार करती हुई समाधि में पर्यवसित होती है। धारणा में अप्रवाह रूप एकाग्रता है, ध्यान में प्रवाह है परन्तु सातत्य नहीं जबकि समाधि में अविच्छिन्न एकाग्रता होती है। कालसीमा अधिकतम अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ परभाव में रंचमात्र भी आसक्ति न होने से 'आसङ्गदोष' नहीं रहता। आत्मसमाधि की अथवा जीवन्मुक्त की यह अवस्था है। निर्वाण-प्राप्ति हेतु अयोग-केवली होकर साधक योग-संन्यास लेता है और अन्तिम समय में पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण मात्र काल में शेष अघातिया कर्मों को नष्ट करके मोक्ष (सिद्धावस्था) प्राप्त कर लेता है।

योगदृष्टिबोधक तालिका (उत्तरोत्तर उत्कृष्टता)

योगदृष्टि	योगाङ्ग	गुणप्राप्ति	दोषाभाव	बोधसादृश्य	गुणस्थान	मुख्यलक्षण
1 **मित्रा**	यम	अद्वेष	खेदत्याग (अखेद)	तृणाग्निकण	प्रथम	अद्वेष, अखेदभाव
2 **तारा**	नियम	जिज्ञासा	उद्वेगाभाव (अनुद्वेग)	कंडे का अग्निकण	प्रथम	धर्मकथा में रुचि
3 **बला**	आसन	शुश्रूषा	क्षेप= विघ्नाभाव	काष्ठ अग्नि	प्रथम	शास्त्रश्रवण, देवपूजादि में आनन्द
4 **दीप्रा**	प्राणायाम	श्रवण	उत्थान(चित्तअशान्ति अभाव)	दीपकप्रभा	प्रथम	आसक्तियुक्त सदाचरण
5 **स्थिरा**	प्रत्याहार	सूक्ष्मबोध	भ्रमाभाव	रत्नप्रभा	4,5,6	अलोलुपता, सम्यक्त्वग्रन्थिभेद
6 **कान्ता**	धारणा	मीमांसा	अन्य- मुदाभाव (स्वानुभव मोद)	ताराप्रभा	4,5,6	पदार्थ पर प्रवाह-हीन चित्त स्थिरता

7 **प्रभा**	ध्यान	तत्त्वप्रतिपत्ति (परिशुद्ध प्रतिपत्ति)	रुक्-त्याग (रागद्वेष व्याधित्याग)	सूर्यप्रभा	7,8	अपूर्व शान्ति, विच्छिन्न प्रवाही ध्यान
8 **परा**	समाधि	आत्मस्वभाव में प्रवृत्ति (पूर्णता)	असङ्गाभाव	चन्द्रप्रभा	8-14	अविच्छिन्न प्रवाही ध्यान, मुक्ति लाभ

गुणस्थान विवेचन की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र ने प्रथम चार दृष्टियों का समावेश प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में किया है। पञ्चम स्थिरा और छठी कान्तादृष्टि का समावेश चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ इन तीन गुणस्थानों में किया है। प्रभा नामक सातवीं दृष्टि का समावेश सातवें और आठवें गुणस्थान में किया है। परा नामक आठवीं दृष्टि का समावेश आठवें से चौदहवें गुणस्थान में किया है। अर्थात् उन-उन गुणस्थानों में यथाकथित योगदृष्टियाँ सम्भव हैं। यदि कथंचित् अपेक्षाभेद से प्रथम चार गुणस्थानों तक प्रथम चार योगदृष्टियों की सम्भावना स्वीकार की जाए तो अनुचित न होगा, ऐसा मेरा विचार है। प्रथम चार योग-दृष्टियों से दर्शन-मोहनीय का क्षय करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तथा अन्तिम चार से चारित्र-मोहनीय का क्षय करके केवलज्ञान एवं मोक्ष-प्राप्ति होती है। ये आठों योगदृष्टियाँ आत्मविकास और वीतरागता की ओर ले जाने में सोपानवत् हैं। सयोग-केवली और अयोग-केवली में भी यही अर्थ है।

सन्दर्भ

1. कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आश्रवः। तत्त्वार्थसूत्र 6.1-2
2. भगवतीआराधना (गाथा 21 की अपराजितसूरि की विजयोदया टीका में 'जोग-परिकम्मं' को स्पष्ट करते हुए योग के अनेक अर्थ बतलाते हुए कहा है- योगशब्दोऽनेकार्थः। 'योग-निमित्तं ग्रहणं' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दं त्रिविध-वर्गणासहायमाचष्टे। क्वचित्सम्बन्ध-मात्र-वचनः 'अस्त्यानेन योग' इति। क्वचिद्ध्यानवचनः यथा 'योगस्थित' इति। इहायं परिगृहीतः। ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत्। रागद्वेषमिथ्यात्वासंश्लिष्टमर्थयाथात्म्यस्पर्शि-प्रतिनिवृत्तिविषयान्तरपञ्चारं ज्ञानं ध्यानमुच्यते।
3. देखें, तत्त्वार्थसूत्र, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, समाधिशतक, ध्यानशतक, मोक्षपाहुड, परमात्मप्रकाश, योगसार, आत्मानुशासन, योगसारप्रभृत, ज्ञानसार, तत्त्वानुशासन, ज्ञानार्णव, अध्यात्मसार, पातंजलयोगसूत्र, योगविंशिका, योगप्रदीप, अध्यात्मकल्पद्रुम आदि।
4. योगश्चित्तवित्तिनिरोधः। पातंजलयोगसूत्र, 1.2
5. योगदृष्टिसमुच्चय में 227 संस्कृत पद्य हैं जिस पर 1175 श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति भी है।
6. चौदह गुणस्थान कमशः इस प्रकार हैं- 1. मिथ्यात्व, 2. सासादन, 3. मिश्र, 4. अविरतसम्यक्त्व, 5. देशविरत, 6. प्रमत्तसंयत, 7. अप्रमत्तसंयत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण या निवृत्तिबादर, 10. सूक्ष्मसाम्पराय, 11. उपशान्तमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगकेवली और 14. अयोगकेवली।
7. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते से बन्धः। त. सू. 8.23
8. पञ्चास्तिकाय, 128-129
9. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग 1, पृ. 90
10. सच्छ्रद्धासङ्गतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
    असत्प्रवृत्तिव्याघातात्सत्प्रवृत्तिपदावहः।। योगदृष्टिसमुच्चय, 17
    समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भ्रकादिवत्।।
    ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया।। योगदृष्टिसमुच्चय, 14
11. वही, 1
12. वही, 13
13. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 204
14. योगदृष्टिसमुच्चय, 13-15
15. वही, 15
16. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः।।
    अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता।। योगदृष्टिसमुच्चय 16, तथा देखें गाथा 16, पृ. 1 फुटनोट

यमनियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
खेदोद्वेगक्षेपोत्थान-भ्रान्त्यन्यमुद्रुगासङ्गैः ।।
युक्तानि चिन्तानि प्रपञ्चतो वर्जयेन् मतिमान् ।।
अद्वेषो जिज्ञासा शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः ।।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिरष्टात्मिका तत्त्वे ।।

17. योग., 21-40
18. योग., 41-48
19. योग., 49-57
20. योग., 52
21. योग., 54
22. योग., 57-151
23. योग. तथा ताराद्वात्रिंशिका, 19
24. योग., 57
25. योग., 152-159
26. योग., 160-167
27. योग., 168-176
28. योग., 177-185
29. समापत्ति (ध्यान या समाधि) के चार प्रकार हैं- सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। इन चारों का समावेश सम्प्रज्ञात-समाधि (सविकल्प-समाधि या सबीज-समाधि) में हो जाता है। निर्विचार-समापत्ति की निर्मलता से अध्यात्मप्रसाद और 'ऋतम्भराप्रज्ञा' प्राप्त होती है। इसके बाद असंप्रज्ञात-समाधि (निर्विकल्प या निर्बीज-समाधि) और तदनन्तर कैवल्य (केवलज्ञान) की प्राप्ति होती है। पतंजलि के अनुसार समाधि के दो भेद हैं- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहते हैं क्योंकि इसमें चित्त-संस्कार पूर्णतः नष्ट नहीं होते हैं। इसके चार प्रकार हैं- वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। यह सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति में कारणभूत है। देखें, योगदर्शन 1.17, 18, 46, 51

पूर्वविद् गुणधराचार्य - विरचित 'कसायपाहुडं'

पूर्वविद् आचार्य गुणधरदेव ने वि. पूर्व प्रथम शताब्दी में 'कषायपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना करके दिगम्बर जैन परम्परा के श्रुतज्ञान-विच्छेद को बचाने का प्रयत्न किया। यह दिगम्बर जैन परम्परा में सिद्धान्त प्रतिपादक सर्वमान्य आगम ग्रन्थ है क्योंकि भगवान् महावीर की अविच्छिन्न आचार्यपरम्परा से गुणधराचार्य को कषायपाहुड का ज्ञान प्राप्त हुआ था। द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान के दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग ग्रन्थ के 14 पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत 'पेज्ज' (पेज्जदोसपाहुड या कम्मपयडिपाहुड या कसायपाहुड) नामक तृतीय पाहुड का विषय इसमें सूत्रात्मक शैली में निबद्ध है।[1] इसका विषय 16000 पद प्रमाण हैं।[2] इसमें मुख्य रूप से मोहनीय कर्म सम्बन्धी विवेचना है। यह ग्रन्थ 180 गाथाओं में रचित है तथा निम्न 15 अधिकारों में विभक्त है[3] -

विषय विवेचन -

(1) **प्रकृति-विभक्ति अधिकार** (पेज्जदोसविभक्ति) - प्रारम्भ के पाँच अधिकारों में केवल तीन गाथायें हैं। इनके पूर्व दो गाथायें ग्रन्थनाम, उद्गम स्रोत, गाथाओं एवं अधिकारों की संख्याबोधक हैं।[4] कषायें राग-द्वेषरूप (पेज्ज या पेज्ज दोसरूप) हैं। इन राग-द्वेषों का विवेचन बारह अनुयोगों (स्वामित्व, काल, अन्तर, भंगविचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम्, कालानुगम्, अन्तरानुगम्, भागाभागनुगम् और अल्पबहुत्व के द्वारा किया गया है।

(2) स्थिति -विभक्ति - आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों का आवरक कर्म पुद्गलात्मक है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार कर्मों की स्थिति (समय-मर्यादा) और अनुभाग (फलदान शक्ति) बन्ध होता है। कर्म अपनी स्थिति

पूरी होने पर उदय में आकर इष्ट अनिष्ट फल देते हैं। कर्मबन्ध चार प्रकार का होता है- (1) प्रकृतिबन्ध (ज्ञान-दर्शनादि को रोकने तथा सुख-दु:खादि देने का स्वभाव पड़ना),(2) प्रदेशबन्ध (कर्म परमाणुओं के बंधने की संख्या का परिमाण), (3) स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इनमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप योग से होते हैं। स्थिति और अनुभाग बन्ध कषायों के कारण होते हैं।

इस स्थिति-विभक्ति नामक द्वितीय अधिकार में स्थितिबन्ध के साथ प्रकृतिबन्ध का भी विवेचन किया गया है। प्रकृति-विभक्ति के दो भेद किये गये हैं - 1. मूलप्रकृति (मोहनीय कर्म) और 2. उत्तर प्रकृति (मोहनीय कार्य की उत्तर प्रकृतियाँ) इसमें विभिन्न अनुयोगों के द्वारा चौदह मार्गणाओं का आश्रय लेकर मोहनीय कर्म की स्थिति का विवेचन किया गया है।

(3) अनुभाग-विभक्ति - कर्मों की फलदानशक्ति का विचार दो प्रकार से किया है - मूलप्रकृति अनुभाग और उत्तरप्रकृति अनुभाग। यह अनुभाग उदयकाल में बन्ध के समय जितना था उतना भी रह सकता है तथा हीनादिक भी हो सकता है। प्रसङ्गत: इस अधिकार में घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा का भी विचार है। घातिसंज्ञा के दो भेद हैं - सर्वघाती और देशघाती। एकस्थानिक आदि घात संज्ञा के चार भेद हैं- एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक। इस तरह इसमें अनुभाग के विभिन्न भेद-प्रभेदों का वर्णन है।

(4) प्रदेश विभक्ति- कर्मों के बन्ध के समय तत्काल बन्ध को प्राप्त कर्मों को जो कर्म-परमाणुओं का द्रव्य मिलता है उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं। इसके दो भेद हैं - प्रथम बन्ध के समय प्राप्त द्रव्य और द्वितीय बन्ध होकर सत्ता में स्थित द्रव्य। कषायपाहुड में द्वितीय प्रकार के प्रदेश बन्ध का विचार है। इस अधिकार में उत्कर्षण, आपकर्षण, संक्रमण प्रभृति कर्मों की स्थितियों का भी विचार है।

(5) बंधक - इस अधिकार में बन्ध और संक्रम इन दो विषयों का कथन है। बन्ध के दो भेद हैं - अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध। जो कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणत नहीं हैं उनका कर्मरूप से परिणत होना अकर्मबन्ध है तथा कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों का एक कर्म से अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमन करना कर्मबन्ध है। यह द्वितीय प्रकार का कर्मबन्ध नामक भेद ही संक्रम है। इसीलिए इस बंधक अधिकार में बन्ध और संक्रम दोनों समाहित हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चाररूपों में कर्मों का परिणमन बंधक अधिकार का विषय है।

(6) वेदक - इस अधिकार में चार गाथायें हैं। इसमें बतलाया है कि संसारी जीव मोहनीय कर्म और उसकी अवान्तर प्रकृतियों का कहाँ और कितने समय तक सान्तर या निरन्तररूप से वेदन (अनुभवन) करता है। उदय और उदीरणा से भेद से यह अधिकार दो भागों में विभक्त है। कर्मों का यथाकाल उदय में आकर फलविपाक होना उदय कहलाता है। जिन कर्मों का उदयकाल नहीं आया है उसे उपाय विशेष से तप आदि द्वारा उदय में लाना उदीरणा है।

(7) उपयोग - इस अधिकार में सात गाथायें है। संसारी जीवों के क्रोधादिरूप चारों कषायों के परिणामों को उपयोग कहा है। एक जीव के एक कषाय का उदय कितने समय तक रहता है ? एक भव में एक कषाय का उदय कितनी बार हो सकता है ? कितने भवों तक हो सकता है ? इत्यादि कषाय सम्बन्धी विविध बातों का इस अधिकार में विवेचन है।

(8) चतु:स्थान- इस अधिकार में सोलह गाथायें हैं। इसमें चारों कषायों की हीनाधिकता के आधार पर उनकी फलदान शक्ति को चार-चार भागों में विभक्त करके क्रमश: एक-स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतु:स्थान कहा गया है। जैसे-क्रोध को क्रमश: हीन क्रम से पाषाण रेखावत्, पृथ्वीरेखावत्, बालुरेखावत् और जलरेखावत् बतलाया है। इसी तरह अन्य कषायों को जनना। इन चारों कषायों के सोलह स्थानों का निरूपण करते हुए कौन स्थान सर्वघाती है और कौन स्थान देशघाती है आदि का भी विचार किया गया है।

(9) व्यञ्जन- इस अधिकार में पाँच गाथायें हैं। कषायों के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए उनके विशेष अर्थ बतलाए हैं। यहाँ व्यञ्जन का अर्थ है पर्यायवाची शब्द।

(10) दर्शनमोहोपशमना - इस अधिकार में 15 गाथायें हैं। दर्शन मोहनीय कर्म का एक अन्तमुहूर्त्त के लिए उपशमन करने पर जीव को एक अन्तमुहूर्त्त के लिए आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इस अवस्था में उसे अनिवर्चनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमकजीव के कैसे परिणाम आदि होते हैं इसका कथन है। दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम चारों गतियों के जीव कर सकते हैं परन्तु वे संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक हों। अन्त में प्रथमोपशमसम्यक्त्वी की विशिष्ट अवस्थाओं का वर्णन है।

(11) दर्शनमोहक्षपणा- इस अधिकार में 5 गाथायें हैं। दर्शन के उपशम से आत्म-साक्षात्कार एक अन्तर्मूहूर्त तक ही

हो सकता है परन्तु जब उस दर्शनमोहनीय का क्षय कर देते हैं तब सदाकाल आत्मसाक्षात्कार बना रहता है। इस अधिकार में दर्शनमोह के क्षपण की प्रक्रिया तथा तत्सम्बन्धी साधनसामग्री का वर्णन है। दर्शनमोह के क्षय का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है और उसकी पूर्णत: चारों गतियों में की जा सकती है। यदि क्षपण क्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही उस मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो वह आयुबन्धानुसार चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है। परन्तु ऐसा जीव अधिकतम तीन भव धारण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(12) संयमासंयमलब्धि - बारहवें और तेरहवें अधिकारों में केवल एक गाथा है। देशसंयमी जीव (पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक) के जो विशुद्धपरिणाम होते हैं उसे संयमासंयमलब्धि कहते हैं। देशसंयम या संयमासंयमलब्धि के लिए आवश्यक साधन-सामग्रियों का इस अधिकार में विवेचन है। देशसंयम की प्राप्ति अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयाभाव में होती है।

(13) संयमलब्धि (चरित्रलब्धि) प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी जब उदयाभाव हो जाता है तब संयमलब्धि प्राप्त होती है और जीव महाव्रतों का धारी मुनि बन जाता है। महाव्रती के परिणामों के कषायों के उदयानुसार उतार-चढाव होता रहता है। तदनुसार छठे-सातवें गुणस्थान में झूला करता है।

(14) चारित्रमोहोपशमना- इस अधिकार में 8 गाथायें हैं। चारित्रमोह का उपशमक (8 से 11 गुणस्थानवर्तीजीव) किस तरह ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है और कषायादि के उदय होने पर कैसे और कहाँ तक पतन कर सकता है। इसका कथन है इतना निश्चित है कि उपशमक (उपशमश्रेणी में आरूढ़) का पतन षष्ठ-सप्तम गुणस्थान तक अवश्य होता है। इसके बाद यदि क्षपक श्रेणी पकड़ लेता है तो उत्तरोत्तर विशुद्धि करते हुए मुक्त हो जाता है। ऐसा न होने पर तीव्र कषायोदय होने पर प्रथम गुणस्थान तक भी पतन हो सकता है।

(15) चारित्र- मोहक्षपणा- इस अधिकार में 28 गाथायें हैं तथा 86 भाष्य गाथायें हैं। चारित्रमोहनीय का क्षय अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण पूर्वक होता है। चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकतियों का क्षय किस क्रम से होता है इसका विवेचन है। इस तरह कषायक्षय की प्रक्रिया और ध्यान का विस्तृत विवेचन इस अधिकार में है। इसके उपरान्त मुक्तिलाभ की प्राप्ति हो जाती है।

गाथा संख्याविचार -

ग्रन्थकार ने यद्यपि 180 गाथाओं को लिखने का उल्लेख (निर्देश) किया है परन्तु वर्तमान में 233 गाथायें मिलती है। इन अतिरि्क 53 गाथाओं की रचना किसने की है। इस विषय में मतभेद हैं। श्री वीरसेन स्वामी इन 53 गाथाओं को गुणधर-प्रणीत मानते हैं परन्तु इन गाथाओं की रचनाशैली की भिन्नता और लेखक के निर्देश को देखते हुए इन्हें गुणधरप्रणीत नहीं माना जा सकता है। कुछ विद्वान् नेमिचन्द्रशास्त्री आदि इन्हें नागहस्ति कृत कहते हैं।[5] इन 53 गाथाओं में से 12 गाथायें विषय संबंध-ज्ञापक हैं, 6 गाथायें अद्धापरिमाण निर्देशक हैं तथा 35 गाथायें संक्रमणवृत्ति से सम्बद्ध हैं। संक्रमणवृत्ति वाली 35 गाथाओं में से 13 संक्रम अधिकार की गाथायें सामान्य पाठभेद के साथ अनुक्रम से श्वेताम्बराचार्य श्री शिवशर्मसूरि कृत (वि.सं.5 या ई.सं. 5 पूर्वार्द्ध) 'कर्मप्रकृति ग्रन्थ में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त दर्शनमोहोपशमना की चार गाथायें भी कुछ पाठभेद के साथ मिलती है। सम्बन्धज्ञापक और अद्धापरिमाण वाली 18 (12+6 = 18) गाथाओं पर यतिवृषभाचार्य की चूर्णि उपलब्ध नहीं है।[6] अत: इन्हें गुणधर प्रणीत नहीं माना जा सकता है। जधवलाकार के कथनानुसार चूर्णिकार को 180 गाथायें ही प्राप्त थी।[7] समस्त 233 गाथाओं की वर्तमान स्थिति निम्न प्रकार है -

क्र.सं.	अर्थाधिकार नाम	मूल गाथायें	भाष्य गाथायें
1	ग्रन्थनाम, स्रोत, गाथासंख्या अधिकार संख्या	02	X
1	प्रकृति विभक्ति	03	X
2	स्थिति विभक्ति		
3	अनुभाग विभक्ति		
4	प्रदेशविभक्ति		
5	बंधक		
6	वेदक	04	

7	उपयोग	07	
8	चतु:स्थान	16	
9	व्यञ्जन	05	
10	दर्शनमोहोपशमना	15	
11	दर्शनमोहक्षपणा	05	
12	संयमासंयमलब्धि	01	
13	चारित्रलब्धि		
14	चरित्र मोहोपशमना	08	
15	चारित्रमोहोपक्षपणा	28	
	क. प्रस्थापक	04	X
	ख. संक्रामक	04	क्रमश: 5,11,4,3 = 23
	ग. अपवर्तना	03	,, 3,1,4 = 08
	घ. कृष्टिकरण	11	,, 3,2,12,3,4,2,4,4,2,5,0= 41
	ङ. कृष्टक्षपणा	04	,, 1,1,10,2 = 14
	च. क्षीणमोह	01	X
	छ. संग्रहणी	01	X
	योग	**94**	**86**

महायोग = 180 गाथायें, अन्य (12+6+35) 53 गाथायें, महायोग 233 गाथायें

व्याख्या साहित्य

आचार्य परम्परा से यह आगम ग्रन्थ आर्यमंक्षु और नागहस्ती (ई.93-162) को प्राप्त हुआ। इन्हीं दोनों के पादमूल में बैठकर यतिवृषभाचार्य (ई. 150-180) को प्राप्त हुआ जिस पर उन्होंने 6000 चूर्णि सूत्रों की रचना की। इन्हीं चूर्णि सूत्रों को आधार बनाकर उच्चारणाचार्य (ई. 180 करीब) ने बारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणवृत्ति लिखी। तदनन्तर आचार्य बप्पदेव (ई. 5-6 शताब्दी) 60000 श्लोक प्रमाण अन्य टीका लिखी। इसी के बाद वीरसेनाचार्य (ई. 816 करीब) ने प्रथम चार विभक्तियों पर 2000 श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी जो पूरी टीका का 1/3 भाग है। इसके बाद वीरसेनाचार्य के दिवंगत हो जाने पर उनके शिष्य जिनसेनाचार्य द्वितीय (ई.837) ने शेष 2/3 भाग पर 40000 श्लोक प्रमाण टीका लिखकर जयधवला टीका को पूरा किया। इस तरह जयधवला टीका 6000 श्लोक प्रमाण हो गई। यह टीका प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में है। कर्णाटक भाषा में भी 84000 श्लोक प्रमाण चूडामणि टीका तुम्बलूराचार्य ने लिखी। इस तरह विपुल व्याख्या साहित्य लिखा गया।

कषायपाहुड़ का वैशिष्ट्य और प्राचीनता -

कर्मग्रन्थविषयक श्वेताम्बराचार्य कृत कम्मपयडि तथा सतक ये दो प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं। इन दोनों का उद्गम स्रोत 'महाकम्मपयडिपाहुड' माना जाता है। जब कषायपाहुड के साथ इनकी तुलना करते हैं तो ज्ञात होता है कि कम्मपयडि में कषायपाहुड की 17 (13+4) गाथायें कथञ्चित् पाठभेद के साथ मिलती है। कम्पयडि और सतक दोनों संग्रहग्रन्थ हैं इसीलिए इनकी चूर्णियों में इन्हें 'कम्मपयडिसंग्रहणी' और 'सतकसंग्रहणी' कहा गया है। कषायपाहुड का विषय व्यापक और प्राचीन है। दिगम्बर परम्परा में गुणधर को प्रथम आगम सूत्रधार माना जाता है। डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री ने 'छक्खंडागम के प्रवचनकर्त्ता धरसेनाचार्य से करीब 200 वर्ष पूर्ववर्ती माना है।[8]

सन्दर्भ -

1. पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए।
   पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि काषायाण पाहुडं णाम।। क. पा. गाथा 1
2. एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंति असीदि सुदमेत्तं गाहाहि असंघारिदं। ज. ध. 1.68.87
3. गाहासदे असीदे अत्थे पाण्णारसधा विहत्तम्मि।
   वोच्छामि जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि।। क. पा. गाथा 2

4. वही
5. असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देससंक्रमणगाहाओ जेण णागहत्थि आइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थि आइरियेण पइज्जा कदा इदि केविवक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे। क.पा. भाग 1,पृ. 183 जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश- भाग-2 पृष्ठ-41, तथा तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग 2 पृ. 33-34
6. पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुह.. चुण्णिसुत्तं कयं। क. पा. प्रथमभाग, जयधवला पृ.183
7. वही, तथा देखें जैन साहित्य का इतिहास पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री भाग-1, पृ0 28-30
8. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड- 2, पृष्ठ - 30

प्राकृत और संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन

भाषाविज्ञान की दृष्टि से संसार की भाषाओं को प्रमुख रूप से 12 परिवारों में विभक्त किया जाता है - (1) भारोपीय, (2) सेमेटिक, (3) हेमेटिक, (4) चीनी, (5) यूराल अल्टाई (6) द्राविड, (7) मैलोपालीनेशियन, (8) बंटू, (8) मध्य अफ्रीका, (10) आस्ट्रेलिया (11) अमेरिका और (12) शेष भाषा परिवार। इन बारह भाषा परिवारों में भारोपीय परिवार के आठ उपभाषा परिवार हैं - (1) आरमेनियम, (2) बाल्टेरबोनिक, (3) अलबेनियम, (4) ग्रीक, (5) भारत-ईरानी (आर्य) (6) इटेलिक, (7) केल्टिक और (8) जर्मन (ट्यूटानिक)। इन आठ उपभाषा परिवारों में आर्य परिवार की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं - ईरानी, दरद और भारतीय आर्य। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का कौटुम्बिक सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषा से है अर्थात संस्कृत और प्राकृत का उद्गम श्रोत भारतीय आर्य भाषा है।

विकास क्रम की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषा का सामान्य रूप से तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है -
(1) प्राचीन काल - (वैदिक काल या कथ्य प्राकृत भाषा काल - ई0 पू0 2000 से ई0 पू0 600) इसका स्वरूप हमें वैदिक या छान्दस् भाषा में मिलता है।
(2) मध्य काल (संस्कृत एवं साहित्यनिबद्ध प्राकृत काल - ई0 पू0 600 से 1000 ई0 तक) इसका स्वरूप हमें संस्कृत एवं साहित्यिक प्राकृत परिवार में मिलता है।
(3) आधुनिक काल (आधुनिक भाषा काल या प्राकृत का परिवर्तित रूप ई0 1000 के बाद) - इसका स्वरूप हमें हिन्दी, गुजराती आदि में मिलता है।

आर्यभाषा के इस विकासक्रम से प्राकृत भाषा के तीन स्तर ज्ञात होते हैं - (1) प्राकृत का कथ्य रूप, (2) प्राकृत का साहित्यनिबद्ध रूप और (3) प्राकृत का परिवर्तित रूप। यहाँ जिस प्राकृत भाषा का विचार किया जा रहा है वह प्राकृत का साहित्यनिबद्ध रूप है जिसका उद्गम कथ्य भाषा से हुआ है और जो हिन्दी आदि भाषाओं की जननी है।

क्या प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है ?

बोलचाल की भाषा सदा परिवर्तनशील होती है। उसमें जब साहित्य लिखा जाने लगता है तब उसे व्याकरण के नियमों से बाँध दिया जाता है। इस तरह बोलचाल की परिवर्तनशील-भाषा साहित्यिक भाषा होकर गतिहीन-सी हो जाती है। ऐसा होने पर भी बोलचाल की भाषा परिवर्तनशील बनी रहती है और कालान्तर में अपने परिवर्तनशील स्वभाव के कारण नवीन भाषाओं की जननी होती है। इस भाषाविज्ञान के नियमानुसार संस्कृत भाषा प्राकृत भाषा की जननी नहीं हो सकती है क्योंकि संस्कृत व्याकरण के नियमों से संस्कार की गई भाषा है। यह अवश्य है कि प्राकृत में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुलता है। विशेषकर उन प्राकृत कृतियों में जो संस्कृत के विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं और जिन्होंने उपलब्ध संस्कृत के प्राकृत व्याकरणों के आधार पर प्राकृत को सीखा है। उन्होंने पहले संस्कृत में विचार व्यक्त किया पश्चात् उसका प्राकृत रूप बनाया। यही कारण है कि जो प्राचीन जैनागम अथवा प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ हैं उनमें प्राकृत की प्रकृति विद्यमान है। प्राकृत जनभाषा के रूप में वैदिक काल में विद्यमान थी जिसकी प्रवृत्तियां वैदिक भाषा (छान्दस्) में प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि की भाषा परवर्ती संस्कृत से भिन्न तथा प्राकृत के तत्त्वों से परिपूर्ण है। अतः साहित्यिक प्राकृत को संस्कृतजन्य न कहकर उसे सहोदरा कहना अधिक न्यायसङ्गत होगा।

प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत के शब्दों को प्रकृति मानकर जो प्राकृत शब्दों की सिद्धि की है उसका कारण है संस्कृतज्ञों को प्राकृत सिखाना। इसीलिए प्राकृत व्याकरण के सूत्र भी संस्कृत में बनाये गये हैं। प्राकृत में ऐसे बहुत से शब्द तथा प्रत्यय हैं जिनका संस्कृत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है उन्हें देश्य कहा गया है या निपात से सिद्ध माना गया है। अत: सभी प्राकृत शब्दों की प्रकृति संस्कृत नहीं मानी जा सकती है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्तिमूलक दो विचारधारायें प्रचलित हैं[1] –

(क) प्राकृत की प्रकृति संस्कृत नहीं, जनभाषा है।

(1) प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्।

(2) प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धभूतं वचनमुच्यते। – पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।

(3) प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्।

(4) प्रकृतिरेव प्राकृतं शब्दब्रह्म। तस्य विकारा विवर्ता वा संस्कृतादय इति मन्यते स्म कवि:।

(5) स्याद्योनि: किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते।[2]

इन व्युत्पत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृत ही सभी भाषाओं की जननी है। जैसाकि वाक्पतिराजकृत गउडवहो में कहा गया है।

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं च्चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाईं॥[3]

यही बात 11 वीं शताब्दी के नमिसाधु ने रुद्रट के निम्न काव्यालङ्कार की व्याख्या करते हुए कही है[4] –

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश:॥

(ख) प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है

(1) प्रकृति: संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।[5]

(2) प्रकृति: संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।[6]

(3) प्रकृते: आगतं प्राकृतम्। प्रकृति: संस्कृतम्।[7]

(4) प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनि:।[8]

(5) प्रकृते: संस्कृतायास्तु विकृति: प्राकृती मता।[9]

(6) प्रकृते: संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्।[10]

यहां प्राकृत की योनि संस्कृत बतलाने का मुख्य कारण है संस्कृत के विद्वानों को तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति समझाना। इससे देश्य शब्दों का अनुशासन नहीं हो सका। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत में कृत्रिमता कालक्रम से बढ़ती गई। वस्तुत: मूल प्रकृति संस्कृत और प्राकृत की एक ही है। प्राकृत को संस्कृत भाषा की जननी कहना उसके कथ्य रूप की अपेक्षा से है, साहित्यिक रूप की अपेक्षा से नहीं।

संस्कृत और प्राकृत का एक दूसरे पर प्रभाव

प्राकृत जनभाषा के रूप में वैदिक काल में थी। विद्वान् ऋषियों ने उस समय की साहित्यिक भाषा को छान्दस् नाम देकर उसे जनभाषा से पृथक् किया होगा। परन्तु उसमें जनभाषा के प्रचुर तत्त्व विद्यमान रह गए होंगे। कालान्तर में पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा संस्कृत व्याकरणग्रन्थ लिखे गए, जिससे जनभाषा और संस्कृत दोनों समानान्तर रूप से चलने लगीं। समानान्तर भाषायें होने से दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संस्कृत नाटकों को देखने से ज्ञात होता है कि राजा आदि सुशिक्षित व्यक्ति संस्कृत में बोलते हैं और अशिक्षित निम्न पुरुष पात्र तथा स्त्रियाँ विभिन्न प्राकृतों में बोलते हैं। राजा आदि प्राकृत समझ लेते हैं और नीच–पात्रादि संस्कृत समझ लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत विद्वानों की साहित्यिक भाषा थी और अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनसमुदाय की भाषा प्राकृत थी, परन्तु वे सभी प्राय: दोनों प्रकार की भाषायें समझते थे। परस्पर व्यवहार होने से दोनों भाषाओं पर परस्पर प्रभाव सुनिश्चित है।

प्राकृत केवल नीचों और स्त्रियों की भाषा नहीं थी

यहाँ इतना विशेष है कि प्राकृत भाषा केवल स्त्रियों, श्रमणों और नीच पात्रों की ही भाषा नहीं थी अपितु वैदिक पण्डितों की भी भाषा थी। इसीलिए प्रवरसेन, वाक्पति, शालिवाहन, राजशेखर आदि वैदिक विद्वानों ने प्राकृत काव्य लिखे तथा वररुचि, लक्ष्मीधर, क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय आदि वैदिक विद्वानों ने प्राकृतव्याकरण ग्रन्थ भी लिखे। इस तरह प्राकृत भाषा सामान्य जन से लेकर विद्वानों तक की भाषा थी। संस्कृत के अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाट्य ग्रन्थ तथा काव्यप्रकाश आदि लक्षण ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। धार्मिक विधियों और शास्त्रसभा में प्राकृत का प्रचलन नहीं था, जिसे भगवान् महावीर और बुद्ध ने प्रारम्भ करा दिया। इस तरह प्राकृत भाषा यद्यपि कथ्यरूप से वैदिक काल में थी, परन्तु उसका साहित्यिक रूप प्रमुख रूप से संस्कृत के बाद विकसित हुआ है। जब प्राकृत भाषा को भगवान् महावीर और बुद्ध ने सम्मान दिया, सम्राट् अशोक ने उसे राज्यभाषा का गौरव प्रदान किया तथा शिलालेखों आदि में उसका प्रयोग किया तो विद्वानों ने उसका भी अनुशासन करके उसे गतिहीन कर दिया परन्तु जो लोकव्यवहार अनुशासनहीन होकर चलता रहा उसने अपभ्रंश आदि के क्रम से आधुनिक लोकभाषाओं को उत्पन्न किया। आज इनका भी अनुशासन हो गया है परन्तु जनभाषा के प्रवाह का नहीं जिससे प्रान्तीय उपभाषाओं का विकास हो रहा है। बुद्ध के अनुयायियों ने अपने धार्मिक ग्रन्थों की भाषा को पृथक् करके पालि नाम से व्यवहृत किया, शेष साहित्य प्राकृत के नाम से विख्यात हुआ।

साहित्यिक प्राकृत भाषा का विकासक्रम की दृष्टि से तीन युगों में विभाजन[11]

(1) **प्रथम युग** (ई.पू. 600 ई. 200) इस काल में त्रिपिटक एवं धम्मपद की पालि, पेशाची, चूलिका पैशाची, अर्धमागधी या प्राचीन धर्मसूत्र ग्रन्थों की प्राकृत, अशोक की शिलालेखी प्राकृत तथा अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत का समावेश किया जाता है।

(2) **द्वितीय युग** (ई0 201 से ई. 600) इस काल में भास एवं कालिदास के नाटकों की प्राकृत, सेतुबन्ध आदि काव्य ग्रन्थों की प्राकृत, परवर्ती जैन काव्य साहित्य की प्राकृत तथा प्राकृत व्याकरणों द्वारा अनुशासित प्राकृत का समावेश किया जाता है।

(3) **तृतीय युग या अपभ्रंश युग** (ई0 601 से ई0 1200) - इस काल में विभिन्न प्रान्तीय अपभ्रंश भाषायें आती हैं। इन्हें प्राकृत से पृथक् भाषा समुदाय भी कह सकते हैं क्योंकि इनका विकास प्राकृत से हुआ है, तथा इनकी प्रवृत्ति सामान्य प्राकृत से कुछ भिन्न है।

प्राकृत भाषाओं का विभाजन

प्राकृत-प्रकाश में आ0 वररुचि ने पालि और अपभ्रंश को छोड़कर प्राकृत भाषा समुदाय को चार प्रमुख प्रकारों में विभक्त करके अनुशासन किया है - महाराष्ट्री (सामान्य प्राकृत), पैशाची, मागधी और शौरसैनी। आ0 हेमचन्द्र ने सिद्धहेम-शब्दानुशासन में चूलिका पैशाची, आर्ष (अर्धमागधी) और अपभ्रंश को जोड़कर 7 भाग करके अनुशासन किया है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में प्रथमत: भाषा के चार भेद करके उनके अवान्तर भेदों को गिनाया है। जैसे (1) **भाषा**- महाराष्ट्री, शौरसैनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। (2) **विभाषा** - शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिकी और शाकी (शाखी)। (3) **अपभ्रंश**- ब्राचड, लाटि आदि 27 प्रकार हैं। आ.हेमन्द्र ने इसे शौरसैनीवत् कहा है। (4) **पैशाची**- कैकेयी, शौरसेनी और पाञ्चाली। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सात प्रकार के प्रान्तों का उल्लेख करके उनके नामों पर विभाग किया है (17-48)- 1. मागधी, 2. अवन्तिजा, 3. प्राच्या, 4. शौरसेनी, 5. अर्धमागधी, 6. बाह्लीका, 7. दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री)। मृच्छकटिक आदि नाटकों में इनके प्रयोग देखे जा सकते हैं। इन सभी भेद-प्रभेदों में से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची में तथा इनके क्रमश: 4 उपभागों में (जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी, अर्धमागधी और चूलिका पैशाची में) पर्याप्त साहित्य उपनिबद्ध है, महाराष्ट्री प्राकृत को प्राय: सभी वैयाकरणों ने (चण्ड को छोड़कर) सामान्य प्राकृत के रूप में स्वीकार किया है।

वैदिक संस्कृत (छान्दस्) के साथ प्राकृत का साम्य[12]

छान्दस् संस्कृत में साहित्यिक प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियाँ बहुतायत से मिलती हैं। जैसे -

1. अपवाद स्थल अधिक होने से दोनों में 'बहुलम्' सूत्र का प्रयोग। ('बहुलं छन्दसि' 2.4.39, 73, 'बहुलम्' हेम. 8.12)
2. प्राकृत में सर्वत्र और वैदिक संस्कृत में कहीं-कहीं द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग मिलता है। जैसे- वै0 मित्रावरुणा, अश्विना, इन्द्रावरुणा। **प्राकृत** में - नयणा, हत्था आदि।

3. अन्त्य व्यञ्जन का लोप प्राकृत में सर्वत्र (लोप न होनेपर स्वरभक्ति या अनुस्वार), वेदों में क्वचित् । जैसे – **वै**0 पश्चात् पश्चा, उच्चात् > उच्चा, नीचात् > नीचा । **प्राकृत** में–तावत् > ताव, यावत् > जाव, दिश् > दिशा, शरद् > सरओ, भगवान् > भगवं।

4. धातुओं में गणभेद का अभाव। जैसे –

लौकिक संस्कृत	**वैदिक संस्कृत**	**प्राकृत**
हन्ति	हनति	हणति, हणइ
म्रियते	मरते	मरते, गरए
भिनत्ति	भेदति	भेदति, भेदई
शेते	शयते	सयते, सेयए

5– आत्मनेपद–परस्मैपद का भेद नहीं है। जैसे –

लौकिक संस्कृत	**वैदिक संस्कृत**	**प्राकृत**
इच्छति	इच्छति, इच्छते	इच्छति, इच्छते
युध्यते	युध्यति, युध्यते	जुज्झति जुज्झते

6. वर्तमानकाल और भूतकाल के क्रियापदों में प्रयोगों की अनियमितता। **वै0 संस्कृत** – म्रियते के स्थान पर 'ममार' (वर्तमान के स्थान पर परोक्षभूत)। **प्राकृत**–प्रेक्षांचक्रे के स्थान पर पेच्छइ (परोक्ष के स्थान पर वर्तमान), श्रृणोति के स्थान पर सोहीअ (वर्तमान के स्थान पर भूतकाल)।

7. नामरूपों में विभक्ति व्यत्यय, चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी, तृतीया के स्थान पर षष्ठी या सप्तमी। जैसे –

लौकिक संस्कृत	**वैदिक संस्कृत**	**प्राकृत**
राज्ञः	रायो	रायो
तस्मात्	ता	ता

8. अन्य समानता के बीज (देखें, प्राकृत मार्गोपदेशिका, वेचरदास जीवराज दोशी)। जैसे – (1) स्वरमध्यवर्ती क, च का लोप – **वै.** याचामि > यामि। **प्रा.** शची > सई। (2) संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य में स्वरागम – **वै.** तन्वम् > तनुवम्, स्वर्गः > सुवर्गः, रात्र्या > रात्रिया। **प्रा.** – लघ्वी > लघुवी, क्रिया > किरिया। (3) ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना और दीर्घस्वर का ह्रस्व होना।

लौकिक संस्कृत	वैदिक संस्कृत	प्राकृत
हरिः	हरी	हरी
वायुः	वायू	वायू
युवाम्	युवम्	–
अमात्र	अमत्र	–
दुर्लभ	दूळभ	–
विश्वासः	विश्वासः	वीसासो

(4) हेत्वर्थ कृदन्त के प्रत्यय में समानता – **वै0** कर्तुम् > कर्तवे। **प्रा0** कातवे। (5) संज्ञा शब्द रूपों के प्रत्ययों की समानता – **वै0** देवेभिः, पतिना। **प्रा0** देवेभि, देवेहि, पतिना। (6) ऋ > र, उ, होना – **वै0** वृन्द > वुन्द, ऋषिष्टम् > रजिष्टम्। **प्रा0** वृन्द > वृन्द, ऋषभ > उसभ, ऋद्धि > रिद्धी, (7) अन्य परिवर्तन – द > ड, क्ष > छ, स्प > फ, ह > ध, द्य > ज, इ> ल, आदि। (8) क्रियाओं में सीमित लकारों का प्रयोग। (6) विभक्ति रूपों में वैकल्पिक रूपों का प्रयोग, आदि।

संस्कृत और प्राकृत में समानता और विषमता

प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों में संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मानकर कुछ विषमताओं को बतलाया गया है जिससे स्पष्ट है कि उन विषमताओं को छोड़कर शेष समानतायें हैं। समानतायें अधिक होने से उन्हें छोड़कर यहां कुछ प्रमुख विषमतायें द्रष्टव्य हैं

संस्कृत	प्राकृत
1. ऐ, औ, ऋ ॠ लृ, ष, श, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, प्लुत स्वर के प्रयोग।	1. ऐ आदि का प्रयोग नहीं। (मागधी में ष, स > श। महाराष्ट्री में सर्वत्र 'स')। एँ, ओं इन नई ध्वनियों का प्रयोग।
2. उद्‌वृत्त स्वर नहीं परन्तु प्रकृति एवं प्रगृह्य संज्ञा होने पर सन्ध्यभाव का विधान है।	2. उदवृत्त स्वरों की स्थिति तथा उनके होने पर सन्ध्यभाव का विधान।
3. 'य' श्रुति नहीं।	3. 'य' श्रुति (स्वर मध्यवर्ती क ग आदि का लोप होने पर)।
4. चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग।	4. चतुर्थी के स्थान पर षष्टी का प्रयोग।
5. कारक प्रयोग में व्यत्यय नहीं।	5. कारक प्रयोग में व्यत्यय।
6. एक, द्वि और बहुवचने का प्रयोग।	6. द्विवचन छोड़कर शेष दो वचनों का प्रयोग।
7. परस्मैपद - आत्मनेपद प्रयोग में नियमितता।	7. परस्मैपद प्रयोग की बहुलता।
8. व्यञ्जनान्त पद-प्रयोग।	8. कोई व्यञ्जनान्त पद नहीं। सभी स्वरान्त पद हैं।
9. पदादि में संयुक्त व्यञ्जन हैं।	9. पदादि में संयुक्त व्यञ्जन नहीं।
10. समानवर्गीय और असमानवर्गीय संयुक्त व्यञ्जनों का सद्भाव।	10. केवल समानवर्गीय संयुक्त व्यञ्जन हैं।असमानवर्गीय संयुक्त, व्यञ्जन नहीं।
11. 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग खास स्थान पर ही होता है।	11. सर्वत्र 'न' के स्थान पर 'ण', परन्तु तवर्ग के साथ न का प्रयोग होता है। (पदादि में न का प्रयोग हेमचन्द के मत से होता है, अन्यत्र 'ण' होगा।
12. 'न' का निषेध अर्थ।	12. 'न' का निषेध और 'सादृश्य' अर्थ।
13. शब्दरूपों और क्रियारूपों की जटिलता।	13. शब्दरूपों और क्रियारूपों का सरलीकरण।
14. 'बहुलम्' सूत्र का प्रयोग नहीं।	14. 'बहुलम्' सूत्र की प्रायः सर्वत्र प्रवृत्ति।
15. संस्कृत नाटकों में उच्च पात्रों की भाषा।	15. संस्कृत नाटकों में स्त्रियों और निम्न पात्रों की भाषा।
16. भाषा संश्लेषणात्मक है।	16. संश्लेषणात्मक होकर भी विश्लेषणात्मकता की ओर झुकाव।
17. स्वरों का समानुपातिक प्रयोग।	17. स्वरों का अधिक प्रयोग होनेसे कहीं-कहीं अर्थभेद में दिक्कत।
18. भूतकाल के तीन भेद हैं।	18. भूतकाल का केवल एक प्रकार रह गया है।
19. स्वरमध्यवर्ती 'क ग च ज त द प य व' का लोप नहीं।	19. स्वरमध्यवर्ती क ग आदि का प्रायः लोप जिससे कहीं-कहीं शब्द घिसकर स्वरमात्र रह गए हैं। जैसे ऋतु > उउ
20. स्वरमध्यवर्ती 'ख घ थ भ सुरक्षित हैं'।	20. स्वरमध्यवर्ती 'ख घ थ भ के स्थान पर 'ह' ध्वनि।
21. स्वर मध्यवर्ती 'ट > ड, में ठ > ढ' में परिवर्तित नहीं होते।	21. परिवर्तन होता है । जैसे - घटः > घडो, पठ > पढ।

लौकिक संस्कृत में प्राकृत के बीज[13]

प्राकृत शब्दों के साथ संस्कृत के उन शब्दों की समानता जिनका उल्लेख प्राचीन संस्कृत कोशों (अमरकोश, हेमचन्द्र अभिधान-नाममाला, पुरुषोत्तमप्रणीत द्विरूपकोश, शब्दरत्नाकरकोश, शब्दकल्पद्रुमकोश आदि) में मिलता है तथा जिनका प्रयोग प्राचीन पुरोहितों की पण्डिताऊ संस्कृत में होता था जिसे अवैदिक संस्कृत भी कहा जाता है। जैसे - (1) 'अ' लोप (अलावू > लावू ; **अ** > आ (पति > पाति); **अ** > इ (कन्दुक > गिन्दुक), **आ** > अ, **इ** > अ, **इ** > ए, **ई** > ए, **ऋ** > रि, **औ** > उ। (2) व्यञ्जनों में **अन्त्य व्यञ्जन** लोप, (सोमन् > सोम, चर्मर्न > चर्म); **क** > ग, **ख** > ह, **घ**> ह, **द** > ज, **ट** > इ, **इ** > ल, **ण** > ल, त त > थ, र; थ > ध, द > त; प > ब, व; भ > ब, म > व, य > ज. र > ल, व > ब, म, श > स; ष> स, ह> घ। (3) **संयुक्त व्यञ्जनों में** - क, द, य, र, ल, व, स लोप, अनुस्वारगम, र्थ, र्भ, म्र, र्ष ह्न में अकार या इकारागम (कम्र > कमर), **क्ष** > ख, **क्ष** > च्छ, **त्त** > ट्ट, **त्स** > च्छ, श्च > छ, श्म > म्भ, ष्ट्र > ढ आदि।

प्राकृत साहित्य की विविधता और विशेषता

वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का भाषाविज्ञान की दृष्टि से परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इसका विचार किया गया। इतना विशेष रूप से ज्ञेय है कि संस्कृत की ऐसी कोई भी विधा नहीं है जिस पर प्राकृत में साहित्य न लिखा गया हो। जैसे - महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, मुक्तक, चम्पू, कथा, सट्टक (नाटक), शिलालेख,

व्याकरण, दर्शन, अध्यात्म, छन्द, कोश, अलङ्कार आदि। इसके अतिरिक्त संस्कृत के नाट्य साहित्य का तो अधिकांश भाग प्राकृत में ही उपनिबद्ध है। नाट्य की सट्टकविधा केवल प्राकृत में है। भाषा की मधुरता तथा भावाभिव्यक्ति जितनी अधिक प्राञ्जल प्राकृत में है उतनी संस्कृत में नहीं। इसीलिए संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में प्राकृत के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। आचार्य राजशेखर ने अपने सट्टक (कर्पूरमंजरी) में संस्कृत और प्राकृत की तुलना करते हुए लिखा है -

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेतिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं॥ (1.8)

देश की प्राचीन चिन्तनधारा, सदाचार, संस्कृति, इतिहास, काव्यकला आदि की संवाहिका भाषायें प्राकृत और संस्कृत हैं। आज की जनभाषा की कड़ी विना प्राकृत और संस्कृत के नहीं जोड़ी जा सकती है । भाषा का प्राचीनतम रूप भी इन्हीं के द्वारा खोजा जा सकता है। प्राकृत भाषा को संस्कृत के माध्यम से प्रस्तुत करके प्राकृत व्याकरण-लेखकों ने एक बड़ी गलती की जिससे प्राकृत के मूलरूप में भ्रम हो गया। पालिव्याकरणवत् यदि प्राकृत व्याकरण को प्राकृत में प्रस्तुत किया होता तो अच्छा था।

उपसंहार :

इस तरह दोनों भाषाओं की परस्पर तुलना करने पर निम्न तथ्य प्रकट होते हैं - (1) दोनों का उद्गम स्रोत एक होने से दोनों सहोदरा हैं, परन्तु संस्कृत नियमादि से संस्कार की गई भाषा है और प्राकृत जनभाषा का प्रतिनिधित्व करती है। (2) लौकिक संस्कृत तथा छान्दस् संस्कृत में प्राकृत के तत्त्वों का समावेश है। दोनों भाषाओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। (3) प्राकृत लौकिक संस्कृत की अपेक्षा छान्दस् के अधिक निकट है। (4) संस्कृत नाटकों का आधा भाग प्राकृत का है, कहीं कहीं तो 3/4 भाग प्राकृत है । (5) उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों के अध्ययन के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। (6) काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिलालेख आदि विषयों से सम्बन्धित साहित्य दोनों भाषाओं में है। (7) आधुनिक भाषाओं में दोनों भाषाओं के तत्सम और तद्भव शब्द पाए जाते हैं । (8) दोनों संश्लेषणात्मक भाषायें हैं परन्तु प्राकृत में वियोगात्मकता की ओर झुकाव परिलक्षित होता है। (9) संस्कृत में नामरूप, धातुरूप आदि में जटिलता अधिक है जबकि प्राकृत में सरलीकरण। (10) कथ्य भाषा की दृष्टि से प्राकृत प्राचीन है परन्तु साहित्यनिबद्ध भाषा की दृष्टि से संस्कृत प्राचीन है। (11) संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं जबकि प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत में न लिखकर संस्कृत में लिखे गए हैं। (12) प्राचीन धर्म संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, गणित, विज्ञान, कला आदि विविध विषयों के ज्ञानार्थ दोनों का ज्ञान आवश्यक हैं। (13) प्राकृत की प्रकृति संस्कृत मानना एक भूल है। वस्तुत: संस्कृतज्ञों को प्राकृत समझाने के लिए प्राकृत वैयाकरणों का वह एक प्रयत्नमात्र है जिसमें तद्भव शब्दों की मात्र व्याख्या की गई है। (14) प्राकृत में जितनी विविधरूपता और आर्ष प्रयोग हैं उतने संस्कृत में नहीं हैं। (15) संस्कृत केवल विद्वानों की और प्राकृत केवल स्त्रियों एवं नीच पात्रों की भाषा नहीं थी अपितु दोनों एक दूसरे की भाषा को समझते थे। धार्मिक कार्यों, साहित्यिक प्रयोगों और शास्त्र सभा आदि में संस्कृत का प्रयोग होता था और सामान्य व्यवहार में प्राकृत का। (16) प्रवरसेन, राजशेखर आदि संस्कृत विद्वान् प्राकृत के अच्छे ज्ञाता थे। अत: उन्होंने प्राकृत में विपुल साहित्य लिखा। (17) णत्वविधान एवं मूर्धन्य ध्वनियों की प्रवृत्ति द्रविड़ भाषा के प्रभाव से दोनों में आई है। प्राकृत पर इसकी प्रभाव अधिक है। (18) वैदिक साहित्य केवल संस्कृत में मिलता है जबकि श्रमण साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत दोनों में मिलता है। (19) संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में माधुर्य, भावाभिव्यक्ति, व्यङ्ग्य एवं सांसारिक जीवन की झांकी अधिक स्पष्ट है। (20) व्यञ्जनान्त प्रयोगों को अभाव, असमानवर्गीय संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव उदवृत्त स्वरों का प्रयोग, श्रुति आदि प्राकृत की विशेषतायें संस्कृत में नहीं हैं। (21) ऋ, लृ, ऐ, औ, विसर्ग प्रभृति वर्णों का प्रयोग संस्कृत में तो है परन्तु प्राकृत में नहीं है।

सन्दर्भ -

1. देखें, मेरी पुस्तक 'प्राकृत दीपिका' भूमिका, पृ. 7-9
2. राजशेखर, बालरामायण 48
3. गउडवहो।
4. रुद्रटकृत काव्यालङ्कार 2.12 पर आ0 नमि साधु (11वीं शताब्दी) की व्याख्या।
5. सिद्धहेम-शब्दानुशासन 8.1.1

6. मार्कण्डेय, प्राकृतसर्वस्व 1.1
7. धनिक दशरूपकवृत्ति 2.60
8. कर्पूरमंजरी, 1.8,9 वासुदेव टीका
9. लक्ष्मीधर षड्भाषाचन्द्रिका, श्लोक 25
10. वाग्भटालङ्कार 2.2 टीका सिंहदेव गणि
11. देखें, मेरी पुस्तक प्राकृत दीपिका, भूमिका, पृ. 12-13
12. मूल सन्दर्भ के लिए देखें, प्राकृत मार्गोपदेशिका, पृ0 111-125
13. वही, पृ0 126-135

महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृतस्थ मूल 'य' वर्ण का अभाव

प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत के शब्दों को मूल मानकर प्राकृत भाषा का अनुशासन किया है। महाराष्ट्रीप्राकृत में संस्कृत के मूलवर्ण 'य' का अभाव है क्योंकि संस्कृत शब्दों में जहाँ भी 'य' वर्ण आता है उसका सामान्यरूप से-आदि वर्ण होने पर 'ज' हो जाता है, संयुक्तावस्था में तथा दो स्वरों के मध्य में होने पर लोप हो जाता है। साहित्यिक महाराष्ट्रीप्राकृत में जहाँ कहीं भी 'य' वर्ण दिखलाई देता है वह मूल संस्कृत का 'य' नहीं है अपितु लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर होने वाली लघुप्रयत्नोच्चारित 'य' ध्वनि (श्रुति - श्रुतिसुखकर) है। इसकी पुष्टि प्राकृत-व्याकरण के नियमों से तथा प्राचीन लेखों से होती है। महाराष्ट्रीप्राकृत में वर्ण-लोप सर्वाधिक हुआ है जिससे कहीं-कहीं स्वर ही स्वर रह गए हैं।

मूल संस्कृत के 'य' वर्ण में होने वाले परिवर्तन निम्न हैं-

1. पदादि 'य' को 'ज' होता है।[1] जैसे—यशः > जसो, युग्मम् > जुग्गं, यमः > जमो; याति > जाइ, यथा > जहा, यौवनम् > जोव्वणं। 'पदादि में न होने पर 'ज' नहीं होता' इसके उदाहरण के रूप में आचार्य हेमचन्द्र अपनी वृत्ति में अवयवः > अवयवो और विनयः > विणओ इन दो उदाहरणों को प्रस्तुत करते हैं।[2] यहाँ 'विनय' के 'य' का लोप स्पष्ट है जो आगे के नियम से (दो स्वरों के मध्य होने से) हुआ है। अवयव में जो 'य' दिखलाई पड़ रहा है वह वस्तुतः 'य' श्रुति वाला 'य' है जो 'य' लोप होने पर हुआ है। अतः इसका रूप 'अवअओ' भी होता है । यहाँ दो स्वरों के मध्यवर्ती 'य' लोप में तथा 'य' श्रुति में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है।

यहीं आचार्य हेमचन्द्र बहुलाधिकार से सोपसर्ग अनादि पद में भी 'य' के 'ज' का विधान भी करते हैं। जैसे-संयमः > संजमो, संयोगः > संजोगो, अपयशः > अवजसो।[3] वररुचि ने भी इस सन्दर्भ में अयशः > अजसो यह उदाहरण दिया है।[4] हेमचन्द्र आगे इसका प्रतिषेध करते हुए (सोपसर्ग 'य' का 'ज' नहीं होता) प्रयोगः > पओओ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें 'य' का लोप हुआ है।[5] यहीं पर पदादि 'य' लोप का भी उदाहरण आर्षप्रयोग के रूप में दिया है यथाख्यातम् > अहक्खायं; यथाजातम् > अहाजायं।[6] 'यष्टि' शब्दस्थित पदादि 'य' को 'ल' विधान किया गया है। जैसे-यष्टिः > लट्ठी। खड्गयष्टि और मधुयष्टि में भी य को ल हुआ है। जैसे- खग्गलट्ठी, महुलट्ठी[7]। अन्यत्र भी 'य' का 'ज' होता है, इसके उदाहरण आगे विशेष परिवर्तन में दिखलायेंगे।

2. स्वर-मध्यवर्ती 'य' का लोप होता है। जैसे-दयालुः > दयालू; नयनम् > नयणं (णयणं); वियोगः > विओओ। ये तीन उदाहरण हेमचन्द्र ने 'य' लोप के दिए हैं।[8] यहाँ 'दयालू' और 'नयणं' इन दो उदाहरणों में स्थित 'य' को देखकर लगता है मानो 'य' लोप नहीं हुआ है, मूल संस्कृत का 'य' ही है, जबकि स्थिति यह है कि यहाँ दृश्यमान 'य' लघुप्रयत्नोच्चारित 'य' श्रुति वाला है जो 'य' लोप के बाद 'अ' उद्वृत्त स्वर के रहने पर हुआ है। इसीलिए इन दोनों उदाहरणों को हेमचन्द्र 'य' श्रुति में भी देते हैं।[9]

इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर मध्यवर्ती 'क, ग' आदि वर्णों का लोप तो प्रायः होता है। परन्तु 'य' का नित्य लोप होता है यदि कोई अन्य परिवर्तन न हो। 'य' की स्थिति अन्य वर्णों से भिन्न है। संस्कृत से प्राकृत में परिवर्तित होते समय संयुक्त व्यञ्जन वर्गों के बलाबल के सन्दर्भ में भाषा वैज्ञानिकों ने 'य' को कमजोर वर्ण माना है। सिर्फ 'र' ही ऐसा वर्ण है जो 'य' से कमजोर बतलाया है (ल स व य र क्रमशः निर्बलतर)।[10] परन्तु जब 'य' और 'र' का संयोग होता है

तब वहाँ भी 'य' हट जाता है अथवा य को सम्प्रसारण (इ) हो जाता है। जैसे-भार्या > भज्जा (भारिआ), सौन्दर्यम् सुन्दरिअं, सुन्देरं।

इसीलिए हेमचन्द्राचार्य ने सूत्र में प्रयुक्त 'प्रायः' की व्याख्या करते हुए वृत्ति में लोपाभाव के जो उदाहरण दिए हैं उनमें 'य' लोपाभाव का एक भी उदाहरण नहीं दिया है जबकि 'ग' और 'व' के लोपाभाव के तीन-तीन उदाहरण दिए हैं तथा शेष वर्णों के लोपाभाव का एक-एक उदाहरण दिया है। वहाँ 'पयागजलं' (प्रयागजलम्) जो उदाहरण दिया गया है वह क्रमप्राप्त 'ग' लोपाभाव का उदाहरण है, न कि 'य' लोपाभाव का।

वररुचि ने प्रायः शब्द की व्याख्या में 'य' से सम्बन्धित लोपाभाव का एक उदाहरण दिया। है 'अयशः > अजसो।[11] यहाँ 'य' का 'ज' हुआ है। वस्तुतः यह नञ् समासगत पदादि वर्ण है।

3 'य' श्रुति-'क, ग' आदि वर्णों का लोप होने पर यदि वहाँ 'अ, आ' शेष रहे तथा अवर्ण परे (पूर्व में) हो तो लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर लघु-प्रयत्नतर 'य' श्रुति भी होती है।[12] जैसे-तीर्थङ्करः > तित्थयरो, तित्थअरो; नगरम् > रयरं, नअरं; काचमणिः> कायमणीः, रजतम > रययंः, मदनः > मयणो, मअणो; विपुलम् > वियुलं, विउलं; दयालुः>दयालू; लावण्यम् > लायण्णं। यह 'य' श्रुति नियम 'अ' स्वर शेष रहने पर ही लागू होता है, अन्य स्वर शेष रहने पर प्रायः नहीं होता है। जैसे-वायूः > वाऊ, राजीवम् > राईव। कभी-कभी अवर्ण पूर्व में न रहने पर भी श्रुति होती है। जैसे-पिबति-पियइ।

वस्तुतः यह जैनमहाराष्ट्री की विशेषता है तथा वैकल्पिक है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि वररुचि ने 'य' श्रुति विधायक सूत्र नहीं बनाया है। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त उदाहरणों में एक भी 'य' वाला उदाहरण नहीं है।

मूल 'य' और लघुप्रयत्नतर 'य' वर्ण के उच्चारण में भिन्नता रही है, अतः दोनों एक नहीं हैं। वस्तुतः यहाँ 'य' श्रुति कहने का यही तात्पर्य है 'जो सुनने में 'य' जैसा लगे, वस्तुतः 'य' न हो, संस्कृत वैयाकरणों ने इसे अधिक स्पष्ट किया है।[13]

4. सम्प्रसारण-'य' की गणना अर्धस्वरों में की जाती है। अतः कभी-कभी संयुक्त और असंयुक्त उभय अवस्थाओं में 'य' का सम्प्रसारण (य > इ) हो जाता है।[14] जैसे-चोरयति > चोरेइ (चोर+ इति > इइ= चोरेइ), कथयति > कहेइ, व्यतिक्रान्तम् > वीइक्कतं, प्रत्यनीकम् > पडिणीयं, सौन्दर्यम् > सुन्दरिअं।

5. संयुक्त 'य' का लोप- संयुक्त 'य' का लोप होता है। प्राकृत की प्रकृति के अनुसार प्राकृत में भिन्नवर्गीय संयुक्त व्यञ्जन नहीं पाए जाते । उनमें से या तो एक का लोप करके और दूसरे का द्वित्व करके समानीकरण कर दिया जाता है या स्वरभक्ति। जैसे-**लोप**-मन्त्र > मन्त, शस्त्र > सत्थ, अभ्यन्तर > अभ्यंतर। स्वरभक्ति-स्मरण > सुमरण, द्वार > दुवार। यह स्वरभक्ति प्रायः अन्तःस्थ या अनुनासिक वर्णों के संयुक्त होने पर ही देखी जाती है।

6. संयुक्त 'य' का प्रभाव—(क) यदि संयुक्त वर्ण समान बल वाले होते हैं तो पूर्ववर्ती वर्ण का लोप करके परवर्ती वर्ण का द्वित्व कर दिया जाता है।[15] यदि असमान बल वाले वर्ण होते हैं तो कम बलवाले का लोप करके अन्य वर्ण का द्वित्व कर दिया जाता है।

जैसे—उत्पलम् > उप्पलं, काव्यम् > कव्वं, शल्यम् > सल्लं, वयस्य > वअस्स, अवश्यम् > अवस्सं, चाणक्य > चाणक्क।

(ख) यदि लोप होने पर द्वितीय या चतुर्थ वर्ण का द्वित्त्व होता है तो पूर्ववर्ती वर्ण को क्रमशः प्रथम या तृतीय वर्ण में बदल दिया जाता है । जैसे—व्याख्यानम् > वक्खाणं, अभ्यन्तर > अब्भंतर।

(ग) ऊष्मादेश-ऊष्म और अन्तःस्थ वर्णों का संयोग होने पर अन्तःस्थ को ऊष्मादेश होता है (य र व श ष स इन वर्णों का लोप होने पर यदि इनके पहले या बाद में श ष स वर्ण हों तो उस सकार के आदि स्वर को द्वित्वाभाव पक्ष में दीर्घकर दिया जाता है) । जैसे शिष्यः-सीसो,

(घ) तालव्यादेश-त्य थ्य द्य ध्य को क्रमशः च छ ज झ आदेश होते हैं।[16] पश्चात् द्वित्त्वादि कार्य। जैसे—अत्यन्तम् > अच्चन्तं। प्रत्यक्षम् > पच्चक्खं, मिथ्या > मिच्छा, रथ्या > रच्छा, उद्यानम् > उज्जाणं, विद्या > विज्जा, उपाध्यायः > उवज्झाओ।

(ङ) आदि वर्ण के संयुक्त होने पर कमजोर वर्ण का लोपमात्र होता है, द्वित्त्व नहीं। यदि कमजोर वर्ण का लोप नहीं होता है तो स्वरभक्ति कर दी जाती है । जैसे—न्यायः > णायो, स्वभावः > सहावो, व्यतिकरः > बइयरो, ज्योत्स्ना > जोण्हा, त्यजति > चयइ, श्यामा > सामा, स्नेहः > सणेहो, स्यात् > सिया, ज्या > जीआ।

7. विशेष परिवर्तनः (जहाँ 'य' भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित हुआ है)

(क) य > ज्ज–उत्तरीय शब्द में, अनीय, नीय तथा कृदन्त के 'य' प्रत्यय को विकल्प से ज्ज होता है।[17] जैसे–उत्तरीयम् > उत्तरिज्जं, उत्तरीअं, करणीयम् > करणिज्जं, करणीअं, यापनीयम् जवणिज्जं, जवणीअं, द्वितीयः > बिइज्जो, बीओ। तृतीयः > तइज्जो, तइओ, प्रेया > पेज्जा, पेआ।

(ख) य > ह–परछाईं अर्थ में छाया शब्द के 'य' को विकल्प से 'ह' होता है।[18] जैसे वृक्षस्य छाया > वच्छस्स छाही वच्छस्स छाया। कान्ति अर्थ में नहीं हुआ। जैसे– मुखच्छाया > मुहच्छाया।

(ग) य > व, आह (डाह)–'कतिपय शब्द के 'य' को पर्यायक्रम से 'आह' और 'व' आदेश होते हैं।[19] जैसे– कतिपयम् > कइवाहं, कइअवं।

(घ) य > ल–यष्टि' के 'य' को 'ल होता है।[20] जैसे–यष्टिः > लट्ठी ।

(ङ) य > त– 'तुम' अर्थ में 'युष्मद्' शब्द के 'य' को 'त होता है।[21] जैसे– युष्मादृशः > तुम्हारिसो, युष्मदीयः > तुम्हकेरो। 'तुम' अर्थ न होने पर 'त' नहीं होगा। जैसे—युष्मदस्मत्प्रकरणम् (अमुक-तमुक से सम्बन्धित) > जुम्ह-दम्ह-पयरणं।

(च) य > स्वरसहित लोप– 'कालायस' के 'य' का विकल्प से अकारसहित लोप होता है।[22] जैसे—कालायसम् > कालासं, कालाअसं, किसलयम् > किसलं किसलअं।

(छ) स्त्य > ठ–'स्त्यान' के 'स्त्य' को 'ठ विकल्प से होता है।[23] जैसे—स्त्यानम् > ठीणं, थीणं।

(ज) न्य > ज, ञ्ञ– अभिमन्यु के 'न्य' को 'ज' 'ञ्ञ' आदेश विकल्प से होते हैं।[24] जैसे—अहिमज्जू, अहिमञ्ञू अहिमन्नु।

(झ) थ्य > छ–ह्रस्व स्वर परे रहते 'थ्य' को 'छ' होता है।[25] जैसे—पथ्यम् > पच्छं, मिथ्या > मिच्छा, सामर्थ्यम् > सामच्छं (सामत्थं भी होता है)।

(ञ) थ्य–>च–आर्ष प्राकृत में थ्य को च होता है।[26] तथ्यम् > तच्चं।

(ट) य्य, र्य द्य > ज्ज– य्य, र्य और द्य को 'ज्ज' होता है।[27] जैसे– जय्य > जज्जो, शय्या > सेज्जा, भार्या > भज्जा (भारिआ), कार्यम्– कज्जं, पर्यायः > पज्जाओ सूर्यः > सुज्जो, मर्यादा > मज्जाया, मद्यम् > मज्जं, वेद्यः > वेज्जो, द्युतिः > जुई।

(ठ) र्य > र (ज का अपवाद)– ब्रह्मचर्य, तूर्य, सौन्दर्य और शौण्डीर्य के 'य' को 'र' होता है।[28] जैसे—ब्रह्मचर्यम् > बह्मचेरं, तूर्यम् > तुरं, सौन्दर्यम् > सुन्दरं (सुन्दरिअं), शौण्डीर्यम् > सोण्डीरं। ['एत' परे रहते – पर्यन्तः > पेरन्तो (पज्जन्तो)]।

(ड) र्य > रं – धैर्य के 'र्य' को 'रं' विकल्प से होता है।[29] जैसे–धैर्यम् > धीरं, धिज्जं। [एत परे रहते–आश्चर्यम् > अच्छेरं]।

(ढ) र्य > रिअ, अर, रिज्ज, रीअ–आश्चर्य शब्द में विकल्प से 'र्य' को 'रिअ' आदि आदेश होते हैं।[30] जैसे—अच्छरिअं, अच्छअरं, अच्छरिज्जं, अच्छरीअं।

(ण) र्य > ल्ल पर्यस्त, पर्याण और सौकुमार्य शब्दों के र्य' को 'ल्ल होता है।[31] जैसे–पर्यस्तम् > पल्लट्टं, पल्लत्थं; पर्याणम् > पल्लाणं; सौकुमार्यम् > सोअमल्लं। (पल्यङ्क > पल्लङ्क पलिअंक ये भिन्न–प्रक्रिया के उदाहरण हैं)।

(त) ध्य, ह्य > झ।[32] जैसे–ध्यानम् > झाणं, उपाध्यायः > उवज्झाओ, बध्यते > वज्झए, स्वाध्यायः > सज्झाओ, मह्यम् > मज्झं, गुह्यम् > गुज्झं, नह्यति > णज्झइ, सह्यम् > सज्झं, अनुग्राह्या > अणुगेज्झा।

उपसंहार–

इस तरह हम देखते हैं कि महाराष्ट्रीप्राकृत में संस्कृत के मूल 'य' वर्ण का अभाव है। उसमें लघुप्रयत्नोच्चारित 'य' श्रुति रूप से जो 'य वर्ण दिखलाई देता है वह जैन महाराष्ट्री का परवर्ती प्रभाव है। यह 'य' श्रुति वस्तुतः मूल 'य वर्ण नहीं है अपितु तत्सदृश सुनाई पड़नेवाली भिन्न ध्वनि है जिसे लघुप्रयत्नोच्चारित श्रुति कहा गया है और जो 'अ' उद्वृत्तस्वर (लुप्त ध्यञ्जन वाला स्वर) के स्थान पर होती है। संस्कृत वैयाकरण पाणिनि आदि ने भी 'य' और लघुप्रयत्नोच्चारित 'य' में भेद किया है।

जिन संस्कृत शब्दों में 'य' वर्ण पाया जाता है वे महाराष्ट्रीप्राकृत में परिवर्तित होते समय 'य'–विहीन हो जाते हैं। पदादि में, पदान्त में तथा संयुक्तावस्था में तो 'य' वर्ण दिखलाई ही नहीं पड़ता है। यदि कहीं दिखलाई देता भी है तो वह दो स्वरों के मध्य में, वह भी अवर्ण परे अवर्ण स्वर के साथ जहाँ 'य' श्रुति हो सकती है। अतः शंका ऐसे स्थलों पर ही

अवशिष्ट रहती है। इस सन्दर्भ में निम्न हेतुओं से उस शंका का निवारण कर लेना चाहिए-

(1) हेमचन्द्र ने स्वरमध्यवर्ती 'य' लोप के जो दो उदाहरण (दयालु और नयणं) दिए हैं उनमें 'य' विद्यमान है जो वहाँ 'य' लोप के बाद पुन: होने वाली 'य' श्रुति का द्योतक है, मूल यकार का नहीं।

(2) हेमचन्द्र 'प्राय:' की व्याख्या करते समय 'य' लोपाभाव का एक भी उदाहरण नहीं देते जबकि 'क, ग' आदि के लोपाभाव के उदाहरण देते हैं।

(3) वररुचि ने जो 'य' लोपाभाव का उदाहरण दिया है वहाँ भी य > ज में परिवर्तित हो गया है।

(4) वररुचि ने महाराष्ट्रीप्राकृत में न तो 'य' श्रुति का विधान किया है और न 'य' युक्त किसी पद को उदाहरण के रूप में अपने ग्रन्थ में दिया है। हेमचन्द्र जहाँ 'य' श्रुति का प्रयोग करते हैं वहाँ वररुचि उद्‌वृत्त 'अ' का प्रयोग करते हैं। हेमचन्द्र से वररुचि पूर्ववर्ती हैं। 'य' श्रुति बाद का विकास है। अत: 'य' का नित्य लोप होना चाहिए।

(5) संस्कृत व्याकरण में भी लघुप्रयत्नोच्चारित 'य' का उल्लेख मिलता है जिससे 'य' श्रुति की मूल 'य' से भिन्नरूपता सिद्ध होती है।

(6) प्राचीन महाराष्ट्रीसाहित्यिक भाषा में 'य' श्रुति का प्रयोग नहीं है। 'य' श्रुति सुखोच्चारणार्थ आई है जिसकी ध्वनि 'य' से मिलती-जुलती है, परन्तु 'य नहीं है। अत: श्रुति शब्द का प्रयोग उसके साथ किया गया है, 'य' होता है ऐसा नहीं कहा गया।

(7) 'य' का नित्यलोप होता है ऐसा न कहने का कारण है 'य' में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को बतलाना तथा सूत्रों को लघुरूपता देना।

(8) 'र' जो कि सबसे कमजोर वर्ण है उसके साथ संयुक्त होने पर भी 'य' या तो 'इ' स्वर में बदल जाता है या हट जाता है और 'र' रह जाता है।

(9) समानवर्गीय वर्ण संयुक्तावस्था में पाए जाते हैं परन्तु दो य् संयुक्त (य्+य्) भी नहीं पाए जाते। अन्त:स्थ ल और व स्ववर्गीय वर्ण के साथ संयुक्त पाए जाते हैं।

(10) 'य' के साथ कहीं भी स्वरभक्ति नहीं देखी जाती। 'त' श्रुति का भी विधान है अन्य प्राकृत में।

इन सभी सन्दर्भो से सिद्ध है कि महाराष्ट्रीप्राकृत में मूल संस्कृत के 'य' वर्ण का सर्वथा अभाव है। मागधी आदि प्राकृत भाषाओं की स्थिति भिन्न है। मागधी में न केवल मूल 'य' पाया जाता है अपितु वहाँ 'ज' का भी 'य' होता है।

सन्दर्भ -

1. आदेर्यो ज:। हेम0 8.1.245 । वर0 2. 31
2. हेम0 8.1.245 वृत्ति।
3. वही, वृत्ति
4. वर0 2.2
5. हेम 8.1.245 वृत्ति।
6. वही।
7. यट्यां ल:। वर0 2. 32 तथा वृत्ति (भामहकृत)। हेम0 8.1.247
8. कगचजतदपयवां प्रायो लुक् । हेम0 8.1.177। वर0 2.2
9. अवर्णो यश्रुति:। हेम0 8.1.180
10. प्राकृत-दीपिका, पृ0 16
11. वर0 2.2 वृत्ति
12. हेम0 8. 1. 180
13. व्योर्लघुप्रयत्नतर: शाकटायनस्य। अष्टाध्यायी 8.3.18
    पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघुच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारण:। वही, भट्टोजिदीक्षितवृत्ति। लघु: प्रयत्न: यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्न:। अतिशयित: लघुप्रयत्न: लघुप्रयत्नतर:। प्रयत्ने लघुतरत्वं चैषां शैथिल्यजनकत्वमेव ।।
14. प्राकृत दीपिका, पृ0 8

15. बलाबल का निम्न क्रम स्वीकृत है -

(क) वर्ग के प्रथम चार वर्ण-सबसे अधिक बलवान् परन्तु परस्पर समान बलवाले।

(ख) वर्ग के पञ्चम वर्ण-प्रथम चार वर्णों से कम बल वाले परन्तु परस्पर समान बल वाले।

(ग) ल स व य र- सबसे कम बल वाले तथा क्रमशः निर्बलतर।

16. त्यथ्यद्यां च छ ज।
17. वोत्तरीयानीय-नीयकृद्ये ज्यः। हेम0 8. 1. 248
18. छायायां ह कान्तौ वा। हेम0 8. 1. 249
19. डाह वौ कतिपये। हेम 8, 1.250
20. यष्ट्यां लः। वर0 2.32 तथा वृत्ति भामहकृत। हेम0 8-1-247
21. युष्मद्यर्थपरे तः। हेम0 8. 1. 246
22. वर0 4.3 तथा वृत्ति
23. स्त्यान-चतुर्थार्थे वा। हेम0 8.2.33
24. अभिमन्यौ जञ्जौ वा। हेम0 8.2.25
25. ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले। हेम0 8.2.21 तथा वृत्ति। सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा। हेम0 8.2.22
26. वही
27. द्यय्यर्यां जः। हेम0 8.2.24
28. ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः। हेम 0 8.2.63। एतः पर्यन्ते। हेम 0 8.2.65
29. धैर्ये वा। हेम0 8.2.64। आश्चर्ये। हेम0 8.2.66
30. अतो रिआर-रिज्ज-रीअं। हेम 0 8.2.67
31. पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः। हेम 0 8.2.68
32. साध्वस ध्य-ह्यां झः। हेम0 8.2.26

क्या बौद्धदर्शन में आत्मा और पुनर्जन्म है ?

भगवान बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. हुआ था। उनतीस वर्ष की आयु में वे गृहत्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। उन्होंने अनेक गुरुओं से ध्यान, योग सीखा किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली। बाद में छः वर्षों की साधना के बाद गया में निर्वाण का मार्ग मिला गया। उन्होंने सारनाथ-वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम उपदेश देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान बुद्ध के समय में 62 अन्धविश्वासों के मत प्रचलित थे। इसी काल में जैनधर्म में 363 मतवादों का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध के उपदेश को उनके अनुयायियों ने विभिन्न प्रकार से व्याख्यायित किया जिससे वह अठारह मतवादों में विभक्त हो गया। कुछ मतवाद इस प्रकार है- स्थविरवाद (थेरवाद), महीशासक, सर्वास्तिवाद, हेमावत, वात्सीपुत्रीय, सौत्रान्तिक आदि।

बौद्ध दर्शन के विभाजन का द्वितीय प्रकार हीनयान और महायान के रूप में है। हीनयान बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक रूप (प्राचीनतम रूप) है जिसमें व्यक्तिगत निर्वाण को महत्त्व दिया गया है। महायान शब्द का अर्थ है- बड़ी गाड़ी इसमें व्यक्ति की अपेक्षा सामूहिक समाज कल्याण पर महत्त्व दिया गया है। हीनयान का प्रचार लङ्का, थाईलैण्ड व वर्मा में हुआ और महायान का प्रचार जापान, कोरिया में।

बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त वे सिद्धान्त जो सभी बौद्धानुयायिओं को मान्य हैं -

चार आर्य सत्य और मध्यम मार्ग

भगवान् बुद्ध ने बोधिलाभ के बाद मध्यम मार्ग (दो अन्तों का त्याग) को यथार्थ बतलाया अर्थात् इन्द्रिय सुखों की अति आसक्ति प्रथम अन्त है तथा संसार से विरक्त होकर अतीन्द्रिय स्वर्गादि सुख की कामना से कठोर कष्टदायक तपश्चरण दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों में आसक्ति (कामना) का साम्राज्य है। इन दोनों अन्तों के बीच का मार्ग मध्यम

मार्ग है। यह मध्यम मार्ग ही चार आर्य सत्यों का सही मार्ग है- (1) दु:ख, (2) दु:ख-समुदाय, (3) दु:खनिरोध और (4) दु:खनिरोध मार्ग। इसमें न तो स्त्री-पुरुष लिङ्ग का और न उच्च-नीच जाति का भेदभाव है। कोई भी इस मार्ग से निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

निर्वाण को उन्होंने दु:खों की परम्परा (जन्म-मरण की द्वादशनिदानरूप कारणकार्य परम्परा) का निरोध मात्र बतलाया, उसे सुखप्राप्ति का स्थान नहीं कहा। इसके लिए उन्होंने क्षणिकवाद (अनित्यवाद), अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद (आत्मा की नित्यता का निषेध) का सहारा लिया। उन्होंने अनुभव किया यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर माना जायेगा तो वह भी हमारी तरह रागी-द्वेषी होगा। यदि संसार के पदार्थों को कूटस्थ नित्य माना जायेगा तो दृश्यमान परिवर्तन तथा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। जो आज जैसा है वह कल भी वैसा ही रहेगा जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसी तरह यदि आत्मा को नित्य माना जायेगा तो हम कभी भी दोनों अन्तों (इहलौकिक और पारलौकिक सुखभोगों) की आसक्ति (कामना, राग, इच्छा, तृष्णा, मोह आदि) से विरक्त नहीं कर सकेंगे। जहाँ आसक्ति है वहाँ दु:ख है और आसक्ति (इन्द्रिय सुखों की अथवा अतीन्द्रिय सुखों की)के रहने पर दु:खनिरोध सम्भव नहीं है। इसीलिए उन्होंने आत्मा की भी नित्यता तथा उसकी स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किया परन्तु विज्ञान की सन्तान-परम्परा मानकर तथा पुनर्जन्म आदि को स्वीकार करके प्रकारान्तर से न होते हुए भी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को जैनों की तरह मान लिया। जैन आत्मा को पर्याय दृष्टि से क्षणिक मानकर भी द्रव्यदृष्टि से नित्य मानते हैं। इसी तरह बौद्धों को भी सन्तान-परम्परा की दृष्टि से नित्यता मानना पड़ेगी क्योंकि ऐसा माने बिना उनके सिद्धान्त (संस्कार रूप कर्मवाद, पुनर्जन्म, बुद्ध की महाकरुणा, दु:खनिरोध-मार्ग की आवश्यकता आदि) निरर्थक हो जायेंगे। विज्ञानाद्वैतवाद का आलयविज्ञान तो इसी दिशा में सङ्केत दे रहा है। त्रिक्रियावाद भी यही कह रहा है। त्रिक्रियावाद से तो अवतारवाद (ईश्वरावतारवाद) की गन्ध भी आती है।

चार आर्यसत्य

संसार में सभी प्राणी 'तृष्णा' के कारण अतृप्त हैं, अत: दु:खी हैं। इच्छायें अनन्त हैं जो कभी पूर्ण नहीं होतीं। इच्छाओं का होना ही दु:ख है। संसार दु:ख रूप है ऐसा सभी आध्यात्मिक दर्शन स्वीकार करते हैं। इन दु:खों का एक कारण-कार्य परम्परा है क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने अपने चार आर्य सत्यों में से प्रथम दो सत्य बतलाए- दु:ख और दु:ख समुदाय।

प्रतीत्यसमुत्पाद (मध्यमा प्रतिपदा) - भगवान् बुद्ध ने द्वितीय आर्य सत्य दु:ख समुदाय को कारण समुदाय कहा है। यही कारण-कार्य शृङ्खला, 'द्वादशनिदान', प्रतीत्यसमुत्पाद तथा जन्म-मरण चक्र भी कहलाती है। प्रत्यय अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति का नियम प्रतीत्यसमुत्पाद है, जो बौद्धदर्शन का आधारस्तम्भ है।

य: प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति।
दु:खं समुदयं चैव निरोधमार्गमेव च।। - मा.का. 24.40

संख्या में बारह होने से 'द्वादशनिदान' कहलाते हैं जो निम्न प्रकार है -

(1) अविद्या (अज्ञान या मोह)।

(2) संस्कार (कुशल-अकुशल कर्म/पूर्वजन्म की कमवस्था)।

(3) विज्ञान (चेतना)।

(4) नामरूप (पञ्च-स्कन्ध)।

(5) षडायतन (पाँच इन्द्रियाँ और मन)।

(6) स्पर्श (इन्द्रिय-मन-विषय का संयोग)।

(7) वेदना (सुख-दु:खादि का अनुभव)।

(8) तृष्णा (विषय-भोग-आसक्ति/अविद्या के बाद यही जन्म में प्रमुख कारण है)

(9) उपादान (विषय सामग्री का ग्रहण/इसमें आत्मोपादान भी है, उसे नित्य मानकर आसक्ति/ ये 4 हैं- काम, दृष्टि, शीलव्रत और आत्मा)।

(10) भव (इस जन्म के कर्म)।

(11) जाति (जन्म- शरीर धारण की क्रिया या पञ्चस्कन्धों का स्फुरण)।

(12) जरा-मरण (बृद्धावस्था) और मृत्यु/स्कन्धों का टूटना जीवितेन्द्रिय का उच्छेद मरण है)।

इन 12 भेदों में प्रथम अविद्या और संस्कार अतीत जीवन से सम्बन्धित हैं, अन्तिम दो भविष्य जीवन से तथा दो मध्यवर्ती वर्तमान जीवन से। इनमें पूर्ववर्ती कारण हैं और उत्तरवर्ती कार्य हैं। यदि जन्म की शृङ्खला को तोड़ना है तो भव के प्रत्ययों का उच्छेद करना होगा अर्थात् भव के निरोध से उपादान, तृष्णा आदि सभी प्रत्ययों का उच्छेद हो जायेगा। प्रतीत्य-समुत्पाद को मध्यमा-प्रतिपदा (नित्यता तथा उच्छिन्नता से रहित) भी कहते हैं।

अष्टाङ्गमार्ग या रत्नत्रय (दुःखनिरोध मार्ग)

जिस तरह दुःख है तो दुःख के कारण हैं उसी तरह दुःखों से निवृत्ति (निर्वाण) है और उस दुःख निवृत्ति के उपाय (कारण) भी हैं। दुःख निवृत्ति के लिए अष्टाङ्गमार्ग का अनुसरण आवश्यक है। इसके क्रमशः आठ अङ्ग हैं-

(1) सम्यग् दृष्टि (यथार्थ दृष्टि, क्षणिक दृष्टि, आर्य सत्य दृष्टि)

(2) सम्यक् सङ्कल्प (दृढ़ निश्चय, प्राणिमात्र के प्रति करुणा व प्रेम)

(3) सम्यग् वाक् (यथार्थ वचन या सत्य बोलना)

(4) सम्यक् कर्मान्त (पाप कर्मों को त्यागकर सदाचरण करना)

(5) सम्यग् आजीव (पाप क्रियाओं को छोड़कर अहिंसक वस्तुओं द्वारा आजीविका का निर्वाह करना)

(6) सम्यग् व्यायाम (बुरे कर्मों का त्याग व शुभ विचारों का समादर/ यथार्थ पुरुषार्थ)

(7) सम्यक् स्मृति (यथार्थ चिन्तन/सतत् जागरूकता)

(8) सम्यक् समाधि (कुशल-चित्त की एकाग्रता)

इन आठ अङ्गों में प्रथम दो प्रज्ञा से, अन्तिम दो समाधि से तथा मध्यवर्ती चार शील से सम्बन्धित हैं। प्रज्ञा, शील और समाधि को 'त्रिरत्न' भी कहा जाता है, क्योंकि ये निर्वाण में रत्नवत् उपादेय (ग्राह्य) है। यह आचरण का मार्ग है। इसी से तृष्णा का निरोध होता है। पश्चात् क्रमशः स्रोतापन्न (प्रवाह में प्रवेश) सकृदागामी (एक जन्ममात्र), अनागामी और अर्हत्व को प्राप्त करता है।

नामरूपात्मक पञ्चस्कन्ध (आत्मा)

बौद्धदर्शन के अनुसार व्यक्ति नामरूपात्मक पञ्चस्कन्धों का समुदाय है। जैसे रथ की सत्ता रथाङ्गों की सत्ता से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की सत्ता पञ्चस्कन्धों से भिन्न नहीं है। व्यक्ति दो अवस्थाओं का पुञ्ज है- शारीरिक (रूप) और मानसिक (नाम)। इन दोनों अवस्थाओं को नामरूप कहते हैं। स्थूल पुञ्ज (भौतिक शरीर) 'रूप' कहलाता है और सूक्ष्मपुञ्ज 'नाम' कहलाता है। नाम चार अवस्थाओं वाला है- वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। पञ्चस्कन्धों का स्वरूप निम्न प्रकार है-

(1) **रूप स्कन्ध** - पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत रूप स्कन्ध कहलाते हैं। इनसे सत्त्व (जीव) की शारीरिक संरचना होती है।

(2) **वेदना स्कन्ध** - सुख, दुःखादि अनुभूतियों को वेदना कहते हैं। मधुर आदि रसों का वेदन भी वेदना है।

(3) **संज्ञा स्कन्ध** - गुणों के आधार पर वस्तु का नामकरण। यह पहचान या परिचय ही संज्ञा स्कन्ध है। संज्ञा राग-द्वेष के उदय में निमित्त है।

(4) **संस्कार स्कन्ध** - कुशल-अकुशल, धर्म-अधर्म रूप संस्कार स्कन्ध हैं। ये 3 प्रकार के हैं- कायसंस्कार (श्वास-प्रश्वास), वाक् संस्कार और चित्त संस्कार।

(5) **विज्ञान स्कन्ध** - बाह्य और आभ्यन्तर (चैतन्य, अहं, मैं) का ज्ञान-विज्ञान स्कन्ध है। विज्ञान सन्तान ही अन्य दर्शनों में आत्मा है। आत्मा को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत, अप्रयोजनीय कहा है। विज्ञानाद्वैतवादियों ने विज्ञान के दो भेद किए हैं- आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान। मनोविज्ञान, तर्क-वितर्क रूप है।

इन पाँचों स्कन्धों से रूप स्थूल है शेष सूक्ष्म हैं, जो क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। वस्तुतः विज्ञान विजानन को कहते हैं। पूर्वजन्म के किए गए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप चित्तधारायें प्रकट होती हैं, जिनके कारण ही प्राणी विषयों को जानता है।

क्षणिकवाद (अनित्यवाद)

प्रत्येक वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में अन्य को उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है। नित्य या सनातन कुछ भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु एक क्षण ही ठहरती है, द्वितीयादि क्षणों में तदाकार अन्य-अन्य वस्तु उत्पन्न होती रहती है।

उसकी इस सन्तान परम्परा को देखकर लोग उसे नित्य समझ लेते हैं। बौद्धदर्शन में अर्थक्रियाकारित्व (कार्योत्पादन का सामर्थ्य) को ही 'सत्' कहा गया- **'अर्थ क्रियाकारित्वं सत्'** नित्यता में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद (हेतु-प्रत्ययवाद) इसका अर्थ है- 'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्मिन् असति इदं न भवति' (विशुद्धिमग्ग 17.11) अर्थात् कारण के रहने पर कार्य का उत्पन्न होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना। यह कारणोत्पन्नता और अर्थक्रियाकारिता ही सभी वस्तुओं की और धर्मों की क्षणभंगुरता (अनित्यता) सिद्ध करती है। जिस प्रकार दीपक की प्रथम क्षणवर्ती शिखा दूसरी शिखा को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, उसी तरह एक संस्कार (या स्मृति) अन्य संस्कार को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है। यह प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। इसी से नित्यता का भ्रम होता है। इसी प्रकार कर्म और कर्मफल की परम्परा चलती रहती है। यह प्रवाह भी क्षणिक है। यहाँ सत्ता के अस्तित्त्व का निषेध नहीं है अपितु उसकी सतत-नित्यता का निषेध है। अनित्यता होने पर भी उसकी सन्तति बनी रहती है।

अनात्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

बौद्धदर्शन में आत्मवाद को 'सत्कायदृष्टि' कहा है। नित्य और अपरिणामी आत्मा को स्वीकार करना 'सत्कायदृष्टि है। जब तक यह सत्कायदृष्टि रहेगी तब तक न तो राग-द्वेष (ममकार) छूटेगा और न निर्वाण (मोक्ष) होगा। निर्वाण प्राप्ति के लिए सब प्रकार की कामनाओं (अहं भाव, आत्मभाव, विषय-वासनाओं) का त्याग आवश्यक है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया क्योंकि आत्मा के सुख के लिए ही सब प्रकार की ऐहलौकिक और पारलौकिक कामनायें होती हैं। यहाँ अनात्मवाद से तात्पर्य है 'आत्मसन्ततिवाद' या विज्ञान सन्ततिवाद या चैतन्य सन्ततिवाद अर्थात् जैसे अन्य पदार्थ प्रतिक्षण नवीन-नवीन रूपों में परिवर्तित होते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन रूपों में परिवर्तित होता रहता है। उसकी सन्तति चलती रहती है। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि चैत्र की सन्तति में चैत्र की सन्तति को ही कर्म का फल मिलेगा अनुभूत विषय की स्मृति होगी, मैत्र की सन्तति को नहीं। मैत्र के अनुभव की स्मृति मैत्र की सन्तति में ही होगी, चैत्र की सन्तति में नहीं। क्योंकि चैत्र की बुद्धि मैत्र की बुद्धि से अत्यन्त भिन्न धारा है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो कर्मफल व्यवस्था, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, पुनर्जन्म वगैरह कुछ भी सम्भव नहीं होगा।

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी के मध्य एक-सन्तान-परम्परा नहीं बनती क्योंकि ये सभी परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। उपादान कारण में ही एक सन्तानता होती है। क्योंकि उनमें उपादान-उपादेय भाव सम्बन्ध है, सहकारी कारणों में एक सन्तानता नहीं होती। जैसे मिट्टी से घड़ा बनने में मिट्टी उपादन कारण है, कुम्भकार आदि नहीं।

आत्म-विज्ञान या चैतन्य की अनिवार्यता

भगवान् बुद्ध वस्तुतः आत्मा को 'अव्याकृत' और 'अप्रयोजनीय' मानते थे। उनका कहना था कि यदि किसी को काँटा चुभ गया है तो उसको निकालने के बारे में सोचना चाहिये, न कि ये काँटा किसका है, किसे लगा, क्यों लगा आदि? इसी तरह संसार में जीव (पुद्गल) दुःखों से पीड़ित हैं। अतः उनके दुःखों को दूर करने का उपाय सोचना चाहिए। आत्मा की नित्यता का निषेध करके भी उन्होंने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। महायान के अनुसार बुद्ध ने जनकल्याणार्थ परमकारुणिकतावश कई अवतार (जन्म) लिए और व्यक्तिगत निर्वाण की उपेक्षा की। आत्मा के क्षणिक होने पर भी उसकी सन्तति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से संसारावस्था में चलता रहता है इसीलिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि की व्यवस्था बन पाती है।

सन्तति को कथञ्चित् नित्य न मानने पर पुनर्जन्म कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में भदन्त नागसेन राजा मिलिन्द से कहते हैं। जैसे एक युवक वृद्धावस्था के आने पर न तो वही रहता है और न अन्य हो जाता है, वैसे ही जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह न तो वही रहता है और न सर्वथा अन्य हो जाता है। वस्तुतः नामरूपात्मक सन्ततिप्रवाह ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। मृत्युकाल में जो नामरूप रहता है, वही पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता है, अपितु उसी नामरूप से उत्पन्न अन्य नामरूप पुनर्जन्म को ग्रहण करता है। धर्म-सन्तति संसरण करती है परन्तु शाश्वत रूप से नहीं। वस्तुतः प्रथम जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस तरह न तो वही रहता है और न सर्वथा दूसरा होता है। उसमें एक कारण-कार्य भाव या सन्ततिप्रवाह का सम्बन्ध रहता है। इस तरह विज्ञानों की प्रवाही धाराओं (सन्ततियों) का सातत्य ही आत्मा है। जिसे अन्य दर्शनों में नित्य कहा गया है। जैनदर्शन में भी आत्मा को कूटस्थ नित्य न मानकर प्रतिक्षण (पर्याय दृष्टि से) उत्पत्ति-विनाश वाला स्वीकार किया है, परन्तु वहाँ बौद्धदर्शनवत्

सर्वथा क्षणिक न मानकर कथञ्चित् (द्रव्यापेक्षया) नित्य भी माना है। यदि बौद्धदर्शन सन्तति को कथञ्चित् नित्य मान लें तो जैनदर्शन से काफी साम्य हो जायेगा।

आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर अथवा सर्वथा क्षणिक मानने पर बन्धमोक्ष, कर्म-कर्मफल आदि की व्यवस्था सम्भव नहीं है। सर्वथा नित्य मानने पर 'ममकार' (अहंभाव) से छुटकारा नहीं मिलेगा इसीलिए, भगवान् बुद्ध ने आत्मा को अनित्य, क्षणिक, अव्याकृत, अनात्म कहा। विज्ञान जो चेतनारूप है, वही वस्तुत: आत्मा है। नाम चाहे जो दिया जाए। स्वरूप भिन्न हो सकता है जैसे अन्य दर्शनों में आत्मा के स्वरूप में भिन्नता देखी जाती है। चार्वाक दर्शन का अनात्मवाद है, क्योंकि वे चार भौतिक तत्त्वों से भिन्न चैतन्य को नहीं मानते। बौद्धदर्शन में रूप-स्कन्ध (चार भौतिक तत्त्वों से निर्मित शरीर) से पृथक् नाम स्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध) को भी पृथक् स्वीकार किया है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध ने आत्मा में होने वाली प्रबल आसक्ति (मोह) को हटाने के लिए अनात्मवाद कहकर भी विज्ञान, कर्म, सत्ता, कर्मफलविपाक, वासना, स्मृति, प्रत्यभिज्ञन, प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक-व्यवस्था, उपादान-कारण व्यवस्था, करुणा, अष्टाङ्गमार्ग आदि का उपदेश दिया। यदि उन्हें आत्मतत्त्व (चेतना या ज्ञान) स्वीकार्य नहीं होता तो ये प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता। सभी तत्त्व क्षणिक हैं, यह तो प्रत्यक्षगम्य है, परन्तु वह सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसका अवस्थान्तरण होता है, मूलस्वरूप (मूल गुण) सुरक्षित रहता है। 'विज्ञान' गुण है तो उसका कोई आधार भूत द्रव्य होना चाहिए क्योंकि गुणी (द्रव्य = ज्ञाता) के बिना गुण नहीं रह सकता। यदि उसे गुण न मानें तो भी वह ज्ञान ही आत्मा होगा। जैन दर्शन में ज्ञान और आत्मा में कथञ्चित् अभेद माना है। वेदान्त में भी ज्ञानरूप आत्मा है। न्याय वैशेषिक दर्शन में ज्ञान गुण को आत्मा से पृथक् मानकर समवाय सम्बन्ध माना है, वेदान्तियों ने अभेद सम्बन्ध माना है।

उपसंहार

भगवान् बुद्ध की जीवनी से पता चलता है कि दु:खों से कैसे छुटकारा पाया जाए? इसके लिए वे घर छोड़कर ध्यान-साधना करते हैं। उन्होंने जाना गीली लकड़ी से आग नहीं उत्पन्न हो सकती, वैसे ही विषय-भोग तृष्णा या आसक्ति से गीले आत्मा को दु:ख से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके साथ ही उन्होंने यह जाना कि आत्मा में आसक्ति सबसे बड़ा रोड़ा है तो उन्होंने उस पर प्रहार किया। अत: आत्म-विचार को अव्याकृत तथा अप्रयोजनीय मानकर क्षणिकवाद, अनीश्वरवाद का उपदेश दिया। तत्कालीन उच्छेदवाद आदि का निराकरण करके मध्यममार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों को ठीक से न समझने के कारण उनके कई सैद्धान्तिक मत-मतान्तर बन गए।

मीमांसादर्शन में निषेध-मीमांसा

मीमांसा-दर्शन कर्मकाण्डप्रधान दर्शन है। सामान्यत: कर्म विधि-निषेधात्मक दो प्रकार के हैं-1. **विधिरूप कर्म**--जिस कर्म के करने से मनुष्य का कल्याण होता है या जिससे मनुष्य के जीवन का प्रयोजन (लक्ष्य) सिद्ध होता है। जैसे-स्वर्ग प्राप्ति का साधन याग। 2.**निषेधात्मक कर्म**-जिस कर्म के करने से मनुष्य का अहित (अनर्थ) हो या जिससे मनुष्य के जीवन का प्रयोजन सिद्ध न होता हो। जैसे -नरक प्राप्ति का साधन ब्रह्महत्या।

कर्मकाण्ड को दृष्टि में रखते हुए वेद के पाँच भाग किए जाते हैं--(1) विधि, (2) मन्त्र, (3) नामधेय, (4) निषेध और (5) अर्थवाद। इन पाँचों में भी प्रधानता विधि और निषेध की है। निषेध का ज्ञान 'नञ्' से कराया जाता है जिसके अन्तिम वर्ण 'ञ्' का लोप करके वाक्य में 'न' का प्रयोग किया जाता है। उत्तरपद के रहने पर 'न' को 'अ' हो जाता है और अजादि उत्तरपद रहते 'अन्' हो जाता है।[1] जैसे - अब्राह्मण:, अनीश्वर: आदि।

विधिवाक्यों से प्रवर्तन का और निषेध वाक्यों से निवर्तना का प्रतिपादन और उनको प्रयोजनवत्ता-

विधिवाक्य मनुष्य को स्वर्गादि इष्ट-प्राप्ति हेतु प्रेरित करते हैं और बतलाते हैं कि स्वर्गादि इष्टों के साधन याग आदि कर्म हैं जिन्हें अवश्य सम्पन्न करना चाहिए। इस प्रेरणा के कारण ही विधिवाक्यों की सार्थकता है। इसी प्रकार निषेधवाक्यों की भी सार्थकता है क्योंकि वे मनुष्य को उन कर्मों से निवृत्त करते हैं जिनसे नरकादि अनिष्ट की प्राप्ति सम्भव है। इस तरह विधिवाक्य जहाँ स्वर्गादि इष्ट के साधनभूत कर्मों में प्रवृत्त करके कल्याण-सम्पादन करते हैं वहीं

निषेधवाक्य नरकादि अनिष्ट के साधनभूत कर्मों से निवृत्त करके कल्याण-सम्पादन करते हैं।[2]

अब प्रश्न यह है कि विधिवाक्यों से हमें प्रवर्तना की और निषेधवाक्यों से निवर्तना की प्रतीति कैसे होती है ? मीमांसा दर्शन के अनुसार क्रियापद में प्रधानता प्रत्ययार्थ के लिङ् अंश की होती है और उससे प्रवर्तना (शाब्दी भावना) का ज्ञान होता है। अत: जब नञ् का योग उस लिङ् अंश से किया जाता है तो निवर्तना का ज्ञान होता है। जैसे-'न कलञ्जं भक्षयेत्'। पलाण्डु, लशुन आदि को कलज कहते हैं, ऐसे कलज का भक्षण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे पदार्थ का भक्षण करने से प्रत्यवाय-अनिष्ट सम्भव है। इस वाक्य में 'न भक्षयेत्' का विभाजन निम्न प्रकार होगा-

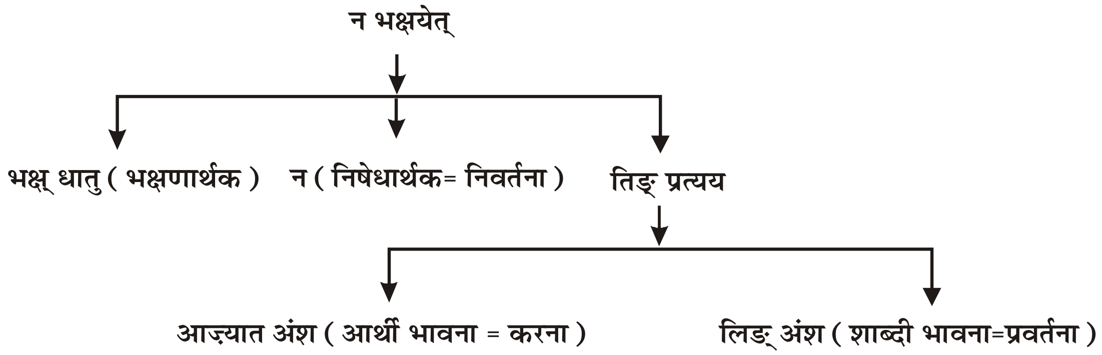

इस तरह 'न' का अन्वय सर्व प्रधान 'लिङ्' अंश से होने पर प्रवर्तनाविरोधी निर्वतना अर्थ होगा । 'भक्ष्' धातु 'तिङ' प्रत्यय का उपसर्जन, उपपद या विशेषण सा होने से गौण है। 'तिङ' में भी 'लिङ्' अंश की प्रधानता होने से 'न' का अन्वय लिङ्र्थरूपा शाब्दीभावना से ही होगा। शाब्दीभावना प्रवृत्ति कराती है। अत: 'नञ्' से अन्वित होने पर वह निवृत्ति करायेगी। गौण रूप से उपस्थित पद या पदार्थ अपने से भिन्न प्रकार के पद या पदार्थ से अन्वित नहीं हो सकता है। जैसे-'राजपुरुषमानय' (राजपुरुष को लाओ)। यहाँ 'राजा' पद पुरुष का उपार्जन, उपपद या विशेषण है, अत: गौण है । 'आनयन' क्रिया पुरुष के साथ होती है, राजा के साथ नहीं। यदि गौणभूत राजा पद का भी 'आनय क्रिया के साथ अन्वय किया जायेगा तो राजा को भी लाना पड़ेगा जो व्यवहार में असङ्गत है। इसी प्रकार प्रकृत में 'भक्ष्' धातु 'तिङ्' प्रत्यय का और 'तिङ्' अंश लिङ् का उपसर्जन है। अत: नञ् का अन्वय लिङ् अंश से ही होगा और तब उससे निवर्तना का बोध होगा।

नञ् का स्वभाव-नञ् जिस पद के साथ अन्वित होता है वह उस अन्वित पद के अर्थ के विरोधी अर्थ का ज्ञापक होता है। ऐसा उसका स्वथाव है। जैसे - 'घटो नास्ति' (घट नहीं है) में 'अस्ति' पद के साथ अन्वित 'नञ् घट' की सत्ता की विरोधिनी घट की असत्ता का ज्ञान करा रहा है। 'न' का घट के साथ अन्वय करने पर 'न घट:' - अघटोऽस्ति। ऐसी प्रतीति होगी और तदनुसार 'नञ्' घटविरोधी पटादि को सत्ता का ज्ञापक होगा, जो अनुचित है)। विरोधी शब्द अभाव का वाचक नहीं है अपितु स्वरूपभिन्नता का बोधक है। इस प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' में 'लिङ्' के साथ अन्वित 'न' लिङ् की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना का बोध कराता है। जैसे- 'यजेत स्वर्गकाम:' (स्वर्गाभिलाषी याग करे) इस विधिवाक्य के सुनने पर 'अयं मां प्रवर्तयति' की प्रतीति होती है। उसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधवाक्य के सुनने पर 'अयं मां निवर्तयति' की प्रतीति सर्वानुभवगम्य है।

लिङ्-भिन्न के साथ 'नञ्' का अन्वय

सामान्य रूप से 'नञ्' का अन्वय लिङर्थ के साथ किया जाता है परन्तु वेद में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ 'नञ्' का अन्वय बाध उपस्थित होने पर धात्वर्थ या सुबन्त पद के साथ भी किया जाता है। ऐसे दो प्रकार के उदाहरण मीमांसा में मिलते हैं - (1) 'तस्य व्रतम्' के प्रकरण में अर्थ सङ्गति न होने पर लक्षणा (पर्युदास) से 'नञ्' का अन्वय धात्वर्थ के साथ किया गया है। (2) 'यजतिषु ये यजामहे', में विकल्प: प्राप्ति से बचने के लिए 'नञ्' का अन्वय लक्षणा (पर्युदास) से सुबन्त पद के साथ किया गया है। जैसे -

धात्वर्थ से 'नञ्' का अन्वय -

स्नातक के कर्तव्य कर्मों के प्रकरण का प्रारम्भ 'तस्य व्रतम्' (ये स्नातक ब्रह्मचारी के अनुष्ठेय कर्म हैं) कहकर किया गया

है और उस प्रकरण में 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' (उगते हुए और अस्त होते हुए सूर्य को न देखें) वाक्य आया हुआ है। यहाँ 'तस्य व्रतम् से प्रवर्तना का बोध हो रहा है और 'नेक्षेत0' से निवर्तना का। इस तरह यहाँ व्रत की करणीयता के साथ एकवाक्यता नहीं बन रही है। यदि यहाँ 'ईक्षेत' पद होता तो एकवाक्यता बन जाती। 'तस्य व्रतम्' में कर्म-सम्पादन पर जोर दिया गया है जबकि 'नेक्षेत' में सम्पादन के लिए कुछ भी नहीं है। अत: दोनों वाक्यों में एकवाक्यता बैठाने के लिए यहाँ लक्षणावृत्ति (पर्युदास)[3] का आश्रय लेकर ईक्षण-विरोधी 'अनीक्षण-सङ्कल्प अर्थ करेंगे अनीक्षण सङ्कल्प एक मानस व्यापार है जिसे सम्पन्न किया जा सकता है। इस तरह यहाँ 'नञ्' का धात्वर्थ के साथ अन्वय करने पर अंभिधावृत्ति से अनीक्षण अर्थ हुआ और लक्षणावृत्ति से 'सङ्कल्प' अर्थ आया। यह 'अनी ण सङ्कल्प' ब्रह्मचारी का कर्तव्य कर्म बन गया और इससे प्रवर्तना का बोध, हुआ-'आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्पेन भावयेति वाक्यार्थ:' (आदित्यविषयक अनीक्षणसङ्कल्प से भावना करे)। किसकी भावना करे ? ऐसी साध्याकांक्षा होने पर कहा है 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' (ऐसी भावना से पापमुक्त होता है)। इस तरह एकवाक्यता करने के लिए 'नञ् का अन्पय यहाँ लिङ् से न कर के धात्वर्थ के साथ किया गया है। यहाँ लक्षणा से अनीक्षणसङ्कल्प अर्थ के स्थान पर कायिक व्यापार रूप 'नयनपिधान' (नेत्र ढकना वस्त्रादि से) अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि नयनपिधान शाब्दी भावना का विषय नहीं बन सकता है। शाब्दी भावना का विषय वही बन सकता है जिसका विधान : किसी स्वतन्त्र विधिवाक्य से हो। नयनपिधान% किसी विधिवाक्य से यहाँ विहित नहीं है। अत: अनीक्षणसङ्कल्प अर्थ ही ठीक है।

सुबन्त से 'नञ्' का अन्वय

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (24.13.5) में 'यजतिषु ये यजामहं करोति, नानुयाजेषु' (यागों में ये यजामहे' मन्त्र का पाठ करना चाहिए, अनुयाजों में नहीं) वाक्य आया है। श्रोत सूत्र ग्रन्थ भी वैदिक साहित्य का अंश होने से यह एक शास्त्रवाक्य है। मीमांसकों के सामान्य नियम के अनुसार एक शास्त्र वाक्य से प्राप्त अर्थ का दूसरे शास्त्र वाक्य से बाध होने पर वहाँ बाध नहीं माना जाता अपितु विकल्प स्वीकार किया जाता है। विकल्प मानना एक दोष है परन्तु शास्त्रप्राप्त होने से अगत्या विकल्प मानना पड़ता है। यदि उस विकल्प से बचा जा सके तो अवश्य बचना चाहिए। 'विकल्प' वाक्य दोष है और 'लक्षणा' पद दोष। वाक्य दोष से पददोष छोटा होता है। अब यहाँ यदि विकल्प स्वीकार करके 'नञ्' का अन्वय 'लिङ्' से करते है तो वैकल्पिक प्रयोग इस प्रकार होंगे-(1) 'अनुयाजेषु 'ये यजामहं' करोति। और (2) 'अनुयाजेषु 'ये यजामहं न करोति'। इस तरह किसी एक विकल्प को स्वीकार करने पर अन्य का अप्रामाण्य निश्चित बनेगा। इसके अतिरिक्त दो अदृष्टों की कल्पनारूप गौरव दोष भी होगा क्योंकि वैकल्पिक स्थिति में जैसे एक से अनुष्ठान करना अभीष्ट होता है उसी प्रकार दूसरे से न करना भी अभीष्ट होता है। अर्थात् विकल्प में विधि और विषेध दोनों पुरुषार्थ हैं।[4] इस विकल्पप्रसक्ति से बचने के लिए यहाँ 'नञ्' का अन्वय सुबन्त पद के साथ करके पर्युदास लक्षणा से अनुयाजव्यातिरिक्त अर्थ करेंगे-'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु 'ये यजामहं' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोध:' (अनुयाजों से भिन्न यागों में ये यजामहं इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए)। कहा है -

यत एव विकल्पोऽयं प्रतिषेधे प्रसज्यते ।
अतस्तत्परिहाराय पर्युदासाश्रयो वरम् ।।[5]

वस्तुत: विकल्प वहीं माना जाता है जहाँ बाध्यबाधकभाव हो और बाध्यबाधकभाव निरपेक्ष (अपनी अर्थपूर्ति के लिए दूसरे पर निर्भर न रहना) वाक्यों में होता है, सापेक्ष वाक्यों में नहीं । 'यजतिषु0' वाक्य सापेक्ष वाक्य है। अत: उसमें बाध्यबाधकभाव नहीं है । 'पदे जुहोति' (गाय के सप्तम पदचिन्ह पर हवन करना चाहिए), 'आहवनीये जुहोति (आहवनीय नामक अग्नि में हवन करना चाहिए) इनमें विकल्प है क्योंकि ये निरपेक्ष वाक्य हैं। इसी तरह 'ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा (व्रीहिभिर्यजेत, ययवैजेत) में बिकल्प है। यहाँ पर्युदास से काम नहीं बन सकता है।

विकल्प में लिङर्थ से नञ् का अन्वय

विकल्प होने पर 'नञ्' का लिडर्थ से अन्वय करके प्रतिषेध का ही आश्रय लिया जाता है क्योंकि वहाँ दूसरी कोई गति नहीं होती।[6] जैसे 'अतिरात्र' नामक याग में 'षोडशी' (ग्रह - पात्र विशेष) ग्रहण विहित भी हैं और निषिद्ध भी। चाहे तो षोडशी का ग्रहण करे और यदि न चाहे तो न करे। दोनों परिस्थितियों में पृथक्-पृथक् अपूर्व (अदृष्ट) उत्पन्न होगा, अनर्थ नहीं होगा। दोनों अपूर्वों से इष्ट की सिद्धि होगी। पूरा उदाहरण इस प्रकार है-

'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति (अतिरात्रयाग में षोडशी को ग्रहण करता है। अतिरात्रयाग में

षोडशी को ग्रहण नहीं करता है)। यहाँ विकल्प को बचाने के लिए पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जा सकता क्योंकि पर्युदास से न का अन्वय या तो षोडशी से करना पड़ेगा या अतिरात्र से षोडशी से नञ् का अन्वय करने पर अर्थ होगा 'अतिरात्र में षोडशी–व्यतिरिक्त पदार्थ को ग्रहण करता है)। अतिरात्र से नञ् का अन्वय करने पर अर्थ होगा 'अतिरात्र से भिन्नयाग में षोडशी का ग्रहण करता है ये दोनों ही अर्थ सङ्गत न होने से (प्रत्यक्ष विधिविरोधी होने से) अगत्या विकल्प स्वीकार करना पड़ता है। विकल्प होने पर नञ् का अन्वय लिङ् से ही करना होगा।

रागप्राप्त में निषेध ही पुरुषार्थ

जहाँ राग से प्राप्त का निषेध होता है वहाँ प्रतिषेध ही पुरुषार्थ होता है, विकल्प नहीं । जैसे–'न कलञ्जं भक्षयेत्' में कलजभक्षण जो राग से प्राप्त है, का भक्षणनिषेध ही पुरुषार्थ है। निषेध पुरुषार्थ होने से ना का अन्वय लिङर्थ के साथ ही होगा।

शास्त्रप्राप्त का निषेध कहीं–कहीं विकल्प नहीं होता –

सामान्यत: शास्त्रप्राप्त अर्थ का निषेध होने पर विकल्प माना जाता है परन्तु कुछ ऐसे भी स्थल हैं जो परिस्थिति विशेष में विकल्प नहीं माने जाते। वहाँ निषेध ही पुरुषार्थ माना जाता हैं। जैसे–दान देना, होम करना आदि दैनन्दिन जीवन के कुछ कृत्य शास्त्रों में श्रेयस्कर कहे गए हैं परन्तु 'दीक्षितो न ददाति, न जुहोति' (यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति को न दान देना चाहिए और ने होम करना चाहिए) में दान और होम का निषेध किया गया है। 'दान देना' और 'होम करना' शास्त्रसम्मत कर्तव्यकर्म है परन्तु दीक्षित व्यक्ति के लिए इनका निषेध किया जा रहा है। यहाँ निषेध ही पुरुषार्थ है अन्यथा अनर्थ का कारण बन सकता है। इसी प्रकार स्वस्त्री के साथ भोग जैसे शास्त्रसम्मत होने पर भी यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान करने वाले के लिए उसका निषेध है क्योंकि स्त्रीभोग से यज्ञ में वैगुण्यप्राप्ति सम्भव है। इस तरह यहाँ दो शास्त्र वाक्यों में विकल्प न मानकर निषेध ही माना गया है।

उपसंहार

इस तरह इस विवेचन से सिद्ध होता है कि जिस तरह विधि इष्ट सम्पादक होने से पुरुषार्थ है उसी प्रकार निषेध भी अनिष्टनिवारक होने से पुरुषार्थ है। विधि से जैसे प्रवर्तना का बोध होता है वैसे ही निषेध से निवर्तना का बोध होता है। इस निवर्तना का बोध तभी सम्भव है जब 'नञ्' का अन्वय लिङर्थ से किया जाए। कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ नञ् का अन्वय लिङर्थ से करने पर बाध उपस्थित होता है तब वहाँ पर नञ् का अन्वय एक वाक्यता लाने के लिए धातु के साथ या विकल्प प्राप्ति रोकने के लिए सुबन्त के साथ किया जाता है। ऐसे स्थलों में निवर्तना की प्रतीति नहीं होती अपितु विधि बन जाने से प्रवर्तना की प्रतीति होती है।[7] अन्यत्र सर्वत्र नञ् का लिङर्थ से अन्वय करके प्रतिषेध (निवर्तना) का ही आश्रय लिया जाता है। 'नातिरात्रे' आदि में पर्युदास से अर्थसङ्गति न बैठने पर अगत्या विकल्प माना गया है। विकल्प होने पर नञ् से निषेध ही अर्थ करना होगा। विकल्प में विधि और प्रतिषेध दोनों क्रत्वर्थ होने से अनर्थ हेतु नहीं है। रागत: प्राप्ति में निषेध ही पुरुषार्थ है।

टिप्पणी

1. न लोपो नञ्.। तस्मान्नुऽचि। पा0 अ0 6.37, 74
2. मीमांसान्यायप्रकाश, (काशी संस्कृत सीरीज) पृ0 155–156
3. पर्युदास–इसमें विशेष को छोड़कर सामान्य की ओर प्रवृत्ति होती है। इसमें कार्य का सङ्कोच विशेष से भिन्न में होता है। जैसे–अनुयाज विशेष कर्म हैं, याग सामान्य कर्म। अत: पर्युदास से 'ये यजमाहे 0' मन्त्र का विधान सीमित अनुयाजों से भिन्न समस्त यागों में होता है। मीमांसान्यायप्रकाश में लिखा है–'पर्युदास: स: विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्। पृ0 160, 172, अर्थसंग्रह में कहा है–पर्युदास तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति ततो भेद:। पृ0 202
4. विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, विधिनिषेधोभयस्यापि कृत्वर्थत्वात्। अर्थसंग्रह,(चौखम्भा) पृ0 206
5. अर्थसंग्रह (उद्धृत्, कामेश्वर टीका) पृ0 184
6. कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। अर्थसंग्रह, पृ0 202
7. नामधात्वर्थयोगी तु नैव न प्रतिषेधक:।
   वदत्यब्राह्मणधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।। उद्धृत, मीमांसान्यायप्रकाश, पृ0 162

श्रीमता शुभचन्द्रेण प्रणीतो ज्ञानार्णवः

परं शान्तिप्रदं पवित्रं ध्यानशास्त्रमिदं दिगम्बरजैनाचार्येण संसारविरक्तयोगीश्वरेण श्रीशुभचन्द्रेण सांख्यसिद्धान्त-मुररीकृत्य महर्षिपतञ्जलिप्रणीतयोगसूत्रं मनसि निधाय यमनियमादीनामष्टयोगाङ्गानां जैनपद्धतिमनुसृत्य विरचितम्। ध्यानस्य यादृशं सुन्दरं विस्तृतं साङ्गं च वर्णनमत्र प्रपञ्चितं न तादृशमन्यत्र दृश्यते। ध्यातृ-ध्येय-ध्यानादिकं सर्व-विषयमवलम्ब्य अत्र विवेचनं कृतं ग्रन्थकारेण सरल-सरस-सालङ्कारया भाषया पद्यबद्धकाव्यरूपेण। बाणभट्टप्रणीतकादम्बरीगद्यशैलीमनुसरता एकोनविंशतितमे प्रकरणे गद्यचमत्कारश्चापि प्रदर्शितः ग्रन्थकारेण। तद्यथा--

विरहिणीनिःश्वासमांसलीकृतकायैः, केरलकुरलान्दोलनदक्षैरुत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः। परिगतसुरतखेदोन्मिषितलाटीललाटस्वेदाम्बुकणिकापानदोहदवद्भिरासादितानेकनिर्झरशिशिर-शीकरैर्बकुलामोदसन्दर्भनिर्भरैः।

ग्रन्थोऽयं यद्यपि दिगम्बर जैनाचार्येण लिखितः, परन्तु अत्र सम्प्रदायगतं किमपि बीजं नास्ति। ध्यानाङ्गभूतानां तेषामपि विषयाणां वर्णनमत्र दृश्यते येषां दर्शनमन्यत्र दुर्लभम्। सम्पूर्णजैनसिद्धान्तस्य रहस्यमस्मिन् ग्रन्थे निःस्यूतम्। अद्वितीयोऽयं ग्रन्थः। अस्य पठनेन मननेन च या आनन्दानुभूतिर्भवति सा वागगोचरी। अस्य अध्ययनेन न केवलं मुमुक्षव आत्मकल्याणं कर्तुं शक्नुवन्ति अपितु साधारणजनोऽपि स्वोन्नतिं कर्तुं शक्नोति। अस्मिन् अनुष्टुब्-आर्या-इन्द्रवज्रा-इन्द्रवंशा-उपजाति-उपेन्द्रवज्रा-पृथ्वी-मन्दाक्रान्ता-मालिनी-वसन्ततिलका-वंशस्थ-शार्दूलविक्रीडित-शालिनी-शिखरिणी-स्रग्धराच्छन्दसां प्रयोगः कृतः। हृदयस्पर्शीणि रूपकाद्यलङ्कारबहुलानि पद्यानि अस्य काव्यत्वं द्योतयन्ति। खेदोऽयं यत् संसारविरक्तस्य यशोवाञ्छारहितस्य अस्य योगीश्वरस्य परिचयादिकं नोपलभ्यते। यदि प्रकरणान्ते सर्गान्ते वा पुष्पिकायां रचनाकारस्य नाम न स्यात्तर्हि अस्य नामज्ञानमपि कठिनं स्यात्। उपलब्धप्रमाणैरस्य समयः सामान्येन एकादशशताब्दी विद्वद्भिः स्वीक्रियते। कलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्राचार्यप्रणीतयोगशास्त्रस्य ज्ञानार्णवेन सह साम्यं दृश्यते। केन कस्य अनुवर्तनं कृतमित्यत्र यद्यपि केषाञ्चित् मतभेदः, तथापि अन्तःपरीक्षणेन ज्ञानार्णवः प्राचीनतरः सिध्यति। जनश्रुत्यनुसारेण परमयोगिनः शुभचन्द्रस्य राजर्षिभर्तृहरिणा सह सहोदरसम्बन्धः आसीत्। भर्तृहरिप्रबोधाय शास्त्रमिदं प्रणीतं शुभचन्द्रेण इत्यपि तत्रास्ति, परन्तु ज्ञानार्णवे स्पष्टरूपेण कथितं यदस्य प्रणयनं न कवित्वाभिमानेन, न च कीर्तिप्रसरेच्छया कृतम् अपितु केवलं स्वबोधाय। यथोक्तम्-

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्।।

निरभिमानोऽयं योगीश्वरः सर्वविधशास्त्राध्ययनात् बहुश्रुतविद्वान्, सिद्धान्तमर्मज्ञः प्रतिभासम्पन्नः कविश्चासीत्।

जैनमतानुसारेण निश्चयनयेन आत्मज्ञानयोः तादात्म्य, गुण-गुणिनोरभेदाद् न्यायदर्शनवत् ज्ञानसम्बन्धादात्मनि ज्ञानं नास्ति। शाश्वतिकं सुखं समस्तकर्मक्षयाद् भवति, कर्मक्षयः सम्यग्ज्ञानरूपं केवलज्ञानं विना न भवति, सम्यग्ज्ञानस्य सिद्धिः ध्यानं विना न भवति, ध्यानस्य सिद्धिः मोह-विषयासक्तित्यागं विना न भवति। इत्थं पूर्वं तावत् विषयासक्तित्यागः, पश्चात् ध्यानप्राप्तिः, तदनु सम्यग्ज्ञानलाभः, तदनन्तरं सकलकर्मक्षयः, अन्ते च स्व-स्वरूपोपलब्धिरूप-शाश्वतिक-ज्ञानसुखे ज्ञानस्यार्णवे वा निमज्जनम्। इत्थं ज्ञानार्णवोपलब्धिरूपं शास्त्रमिदं ज्ञानार्णवमिति।

ज्ञानोपलब्धिसाधनस्य ध्यानस्य प्राधान्येन प्रतिपादनात् ध्यानशास्त्रमपि अस्य नाम अन्वर्थमेव। ग्रन्थकारेण प्रारम्भे ज्ञानार्णवस्य, अन्ते च ध्यानशास्त्रस्य प्रयोगः कृतः। तद्यथा-

ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सत्तामानन्दमन्दिरम् ।।
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।।

अस्यालोडनेन दुस्तरोऽपि भवार्णवः भव्यः तीर्यते। यथोक्तम्-

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः॥

ग्रन्थस्य प्रत्येकप्रकरणस्य अन्तिमपुष्पिकायां 'ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे' इति लिखितं तस्मात् योगाय ध्यानाय प्रदीपतुल्योऽयं ग्रन्थ: 'योगप्रदीप' इत्यपि कथ्यते। यद्यपि जैनपरम्परायां ध्यानाय योगशब्दस्य प्रयोगो नोपलभ्यते यतो जैनागमे मनोवचनकायप्रवृत्ति: योगशब्देन व्यवह्रियते; न चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति, तथापि लोके एकाग्रचिन्तानिरोधरूपध्यानं योगेनैव व्यवहियते। तस्मात् योगप्रदीपशास्त्रमिदमित्यपि चारुतरम्।

संसारावस्थायां रागद्वेषाभिभूत: आत्मा मनसा इन्द्रियैश्च रागादिव्यापारेषु प्रवृत्तो भवति। यावन्न रागद्वेषोपरि नियन्त्रणं भवति तावन्न चित्तचञ्चलता नियन्त्रिता भवति। यावन्न चित्तचञ्चलता नियन्त्रिता भवति तावन्नात्मादर्शन भवति। यथोक्तं समाधितन्त्रे–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जन:।।

इत्थं चलचित्तत्वमेव चिन्ता, चिन्ता नाम चलचित्तत्वम्। तस्या अवलम्बनं नैको अर्थ:, अपितु अनेकार्था:। अतोऽनेकार्थेभ्यो मन: आकृष्य एकस्मिन्नर्थे नियमनम् एकाग्रचिन्तानिरोधरूपध्यानम्। आत्मनि यदा ज्ञानमूला चारित्रधारा प्रवहति तदा रागद्वेषजन्यक्रोधादिकषायै: सह मनोवचनकायप्रवृत्तिरूपयोगस्यापि निरोधो भवति। एतस्मिन्नेव काले स: सम्यग्ध्याता भवति। यथा-तत्र प्रवहमाना ध्यातृध्येयादिविकल्परहिता ज्ञानधारा अभेदनिश्चयतां याति। इत्थं ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं शुद्धं ध्यानमिति। एवं ध्यानज्ञानयोरैक्यमपि वक्तुं शक्यते। अतो ग्रन्थकारेण ज्ञानार्णव: ध्यानशास्त्रं च पर्यायत्वेन प्रयुक्तम्। नात्र कापि विप्रतिपत्तिरिति। ग्रन्थोऽयं ऊनचत्वारिंशत्प्रकरणेषु विभक्तो यत्र त्रिंशदधिकद्वाविंशशतसंख्याकानि पद्यानि सन्ति। श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालासंस्करणे द्विचत्वारिंशत् सर्गास्सन्ति, यत: तत्र अष्टादशतमं प्रकरणं त्रिषु सर्गेषु, षड्विंशतितमं प्रकरणं च द्वयो: सर्गयो: विभक्ते। एवं तत्र सर्गसंख्या द्विचत्वारिंशदस्ति। अधुना प्रकरणक्रमेण विषयनिर्देश: क्रियते –

प्रथमप्रकरणे अनुबन्धचतुष्टयनिरूपिका पीठिका, द्वितीयप्रकरणे ध्यानसोपानसमारोहणाय संसार वैराग्यार्थं च अनित्यत्वादयो द्वादश भावना:, तृतीयप्रकरणे चतुर्विधपुरुषार्थेषु केवलं मोक्षपुरुषार्थ उपादेय इति प्रतिपादनं ध्यानलक्षणञ्च, चतुर्थप्रकरणे ध्यानगुणदोषविचार:, पञ्चमे योगिप्रशंसा, षष्ठे दर्शनविशुद्धि:, सप्तमे ज्ञानोपयोग:, अष्टमे अहिंसाव्रतं, नवमे सत्यव्रतं, दशमे चौर्यपरिहार:, एकादशे कामप्रकोप:, द्वादशे स्त्रीस्वरूपम् , त्रयोदशे मैथुनं, चतुर्दशे स्त्रीसंसर्ग:, पञ्चदशे वृद्धसेवा, षोडशे परिग्रहदोषविचार:, सप्तदशे आशापिशाची, अष्टादशे अक्षविषयनिरोध:, एकोनविंशे त्रितत्त्वम्, विंशे मनोव्यापारप्रतिपादनम्, एकविंशे रागादिनिवारणम्, द्वाविंशे साम्यवैभवम् (समताभाव:), त्रयोविंशे अशुभमार्तध्यानम्, चतुविंशे अशुभं रौद्रध्यानम्, पञ्चविंशे ध्यानरुद्धस्थानानि, षड्विंशे प्राणायाम:, सप्तविंशे प्रत्याहार:, अष्टाविंशे सवीर्यध्यानम्, ऊनत्रिंशे शुद्धोपयोगविचार:, त्रिंशे शुभम् आज्ञाविचयधर्मध्यानम्, एकत्रिंशे शुभम् अपायविचयधर्मध्यानम्, द्वात्रिंशे शुभं विपाकविचयधर्मध्यानम्, त्रयस्त्रिंशे शुभं संस्थानविचयधर्मध्यानम्, चतुस्त्रिंशे पिण्डस्थधर्मध्यानम्, पञ्चत्रिंशे पदस्थधर्मध्यानम्, षटत्रिंशे रूपस्थधर्मध्यानम्, सप्तत्रिंशे रूपातीतधर्मध्यानम्, अष्टात्रिंशे धर्मध्यानफलम्, एकोनचत्वारिंशे चतुर्विधशुद्धसविकल्पकनिर्विकल्पकसबीजनिर्बीजसमाधितुल्यं शुक्लध्यानस्वरूपं फलञ्च वर्णितम्।

जैनसिद्धान्तानुसारेण जीव: कर्मबद्ध: सन् अनादिकालात् संसारे परिभ्रमति। यदा परमात्मरूपं विज्ञाय स्वस्मिन्नात्मनि लीयते तदा कर्मबन्धाद् मुच्यते। तपसा कर्मक्षयो भवति। तपो द्विविधम् – बाह्यम्, अभ्यन्तरञ्च। तत्र अभ्यन्तरतपोभेदेषु ध्यानमेकं प्रधानम् तप:। ध्यानं चतुर्विधम्-आर्तरौद्रधर्मशुक्लभेदात्। अनिष्टसंयोगादिजन्यार्तध्यानेन क्रोधादिरौद्रपरिणाम-जन्यरौद्रध्यानेन संसारपरिभ्रमणं भवति। अशुभे एते सर्वसाधारणे, तस्मान्नोपादेये। धर्मशुक्लध्याने शुभे तस्मादुपादेये। धर्मध्यानं ध्येयविषयभेदेन चतुर्विधम्-आज्ञाविचय:, अपायविचय:, विपाकविचय:, संस्थानविचयश्च। ध्येयविषयभेदमेवाधिकृत्य पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थरूपातीतभेदाश्च निरूपिता:। शुक्लध्यानमपि चतुर्विधम्-पृथक्त्ववितर्कसविचार-एकत्ववितर्कअविचार-सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिभेदेन योगसूत्रप्रणीत-सविकल्पकनिर्विकल्पक-सबीज-निर्बीज समाधिवत्। समुच्छिन्नक्रिया (व्युपरतक्रिया)-निवर्ति-रूपशुक्लध्यानानन्तरम् जीव: पूर्णमुक्तो भवति। ध्यानस्य शुभाशुभत्वं ध्यातृध्यानाधीनम्। यदि ध्याता विषयकषायग्रस्तस्तर्हि अशुभं ध्यानं भवति, यदि विषयकषायविरक्तस्तर्हि शुभध्यानं भवति इति विवेक:। ध्यानं पूर्वोत्तराभिमुखीभूय कायोत्सर्गादिना कर्तव्यम्। लौकिक कार्यसिद्ध्यर्थं ध्यानं न करणीयम्। चित्तस्थैर्यार्थं प्राणायामस्य आवश्यकता भवति। ध्यानं साम्यभावं विना न भवति; तयोरविनाभावसम्बन्धात्।

कतिचित् सुभाषितपद्यानि। यथा –

(1) यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः, साधुवेशच्छलेन जीविकोपार्जनं घृणितकार्यम्।
मातुः पणमिवालम्ब्य यथा केचिद् गतघृणाः।।

(2) अनियन्त्रितचित्तस्य तपः श्रुतियमादिसहि-तस्य साधोः का गतिः ?
तपः श्रुतयमज्ञानतनुक्लेशादिसंश्रयम्। अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्डनम्।।

(3) संसारविषयाभिलाषा कीदृशी –
बह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम्। विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधीः।।

(4) चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः। धर्मध्यानसिद्ध्यर्थं मैत्र्यादिभावानामावश्यकता–
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मसिद्धये।।

(5) ध्यातृस्वरूपम्–
संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः। सर्वावस्थासु सर्वत्र सदैव ध्यातुमर्हति ।।

(6) ध्यानसिद्धिः कदा भवति–
अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत्। मुनेस्तदेवं निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता।।

(7) ध्यानस्थानविषये निष्कर्षः –
विजने जनसङ्कीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा। यदि धत्ते स्थिर चित्तं न तदास्ति निषेधनम्।।
इत्थं दुःखपरिपूर्णस्य दुस्तरस्य भवार्णवस्य संतरणाय ध्यानविमानमारुह्य अनन्तसुखपरिपूर्णस्य परमशान्तिप्रदस्य ज्ञानसुधार्णवस्य रसपानं करणीयम्।

भारतीयदर्शनेषु ईश्वरविचारः

ईश्वरोऽस्ति न वा, यद्यस्ति तर्हि तस्य कि स्वरूपम् ? यदि नास्ति तर्हि कथं जगद्व्यवस्था ? इत्यादयः प्रश्नाः प्रायशः सर्वेषां प्रेक्षावतां मनसि समुद्यन्ति। भारतीयदर्शनेषु विभिन्नेषु तत्प्रस्थानेषु चैतद्विषये कथाङ्कारा विचाराः प्रवृत्ताः, किञ्च तत्र ईश्वरस्वरूपमिति विषयमधिकृत्य भारतीय दार्शनिकाः पञ्चसु भागेषु विभक्ताः। तथा हि–

(1) नास्ति कोऽपि सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वरः परमेश्वरो वा–एतन्मतानुयायिनश्चार्वाकाः। ते खलु पुरोदृश्यमानं जगदेव स्वीकुर्वन्ति, न तदतिरिक्तमात्मानं स्वर्गमीश्वरं वा। स्वभावादेव जगद्व्यवस्था, न कोऽपि तन्नियामकः।

(2) जगतः पृथक् ईश्वरोऽस्ति सर्वलोकान्तर्यामी जगतः कर्ता चेति नैयायिकानां विचारसरणिः।

(3) परं ब्रह्म निर्गुणम् सगुणब्रह्मरूपः ईश्वरश्च, परन्तु नास्ति तयोर्द्वैतत्त्वम्। परापरब्रह्मणी न भिन्ने, परन्तु स्थितिभेदेनैव तयोर्भेदः प्रतिभाति विवर्तवादसिद्धान्तानुसारेण वेदान्तिनो मतमेतदभिप्रयन्ति।

(4) जगन्नियन्ता ईश्वरो नास्ति। जीवा एवं मुक्तावस्थायामीश्वरपदवाच्या भवन्ति। एतन्मतवादिनो बौद्धा जैनाश्च।

(5) कतिपये दार्शनिका मूलतोऽनीश्वरवादिनः, किन्तु तेषां मतेषु ईश्वरविषयकः कोऽपि निषेधो नास्ति। अत्र सांख्यवैशेषिकमीमांसाप्रस्थानानां समावेशः कर्तुं शक्यते।

भारतीयदर्शने यादृशं स्वरूपमीश्वरस्य उपलभ्यते तत् साम्प्रतं क्रमेण प्रस्तूयते–

(1) **संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सु ईश्वरः** – संहितासु ईश्वरसम्बन्धिनी दृष्टिः बीजविचाररूपा लभ्यते। ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्ते सदसदविलक्षणतत्त्वस्य पुरुषसूक्ते च विराट्रूपस्य परमेश्वरस्य वर्णनमुपलभ्यते। सामवेदे यजुर्वेदेऽथर्ववेदे चापि ईश्वरविषयकं चिन्तनं वर्तते। अथर्ववेदे तु माया शक्तिसम्पन्नस्य ब्रह्मणः सुस्पष्टं वर्णनं विद्यते। एवमेव ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि ईश्वरसिद्धिरनायाससाध्या। ऐतरेयारण्यके प्रजापतिरूपेणेश्वरवर्णनं समुपलभ्यते। उपनिषत्सु ईश्वरस्य जगन्नियन्तृत्वम् अन्तर्यामित्वं सर्वेश्वरत्वं च वहुशो विवृतमस्ति, यथा–'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिः। **श्रीमद्भगवद्गीतायामप्युक्तम्**– 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' इति।

(2) **वेदान्तदर्शने** – शङ्कराचार्येण ईश्वरविषयको विचारः सर्वाङ्गतया निरूपितः। अद्वैतवादं द्रढयन् आचार्यशङ्करः परापरब्रह्मरूपेण ब्रह्मवादं निरूपयति। तत्र अपरब्रह्मरूपः सगुण ईश्वर एव। अत्र स्थितिभेदेनैव द्वैतत्त्वं तयोः, न

परमार्थतः। सगुणब्रह्मरूप ईश्वरः सर्वलोकान्तर्यामी नियन्ता मायाशक्तिमांश्च। स जीवानां कृते माया प्रसारयति, परन्तु तया मायया स्वयं स्पृष्टो न भवति। यथा ऐन्द्रजालिकः स्वयं प्रसारितया मायया न स्पृश्यते, एवमेव शङ्कराचार्योऽपि ईश्वरस्वरूपं वर्णितवान्।

'एकोऽहं बहु स्याम्' 'सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेय' इत्यादिश्रुतिभिः परमात्मनः कर्तृत्वं वर्णितम्। आप्तकामे परमात्मनि सृष्टेः कामः कथम् ? इत्याशंका निराधारा; यतो जगत्सृष्टिरीश्वरस्य लीलाया एव फलम्। लीला तु ईश्वरस्य स्वभाव एव। जगति विषमतायाः कारणं जीवानां पूर्वकृतकर्माण्येव। ईश्वरस्तु निष्पक्षफल-दातृत्वेन जीवानां प्रियाप्रिये सम्पादयति। एतेन सिध्यति यत् सोऽपि निरंकुशो न। ईश्वरो यदि लोककर्माणि आश्रित्येव कार्यं करोति तर्हि तस्योपासना व्यर्थ इति चेन्न, ईश्वरोपासनाया जीवानामन्तःकरणस्य पवित्रीकरणस्यैव फलत्वात्। शाङ्करवेदान्ते जीव ईश्वरो वा द्वावपि मायिकौ। साक्षित्वात् ईश्वरो जीवस्य सर्वविध-क्रियाकलापं पश्यन्नपि केनापि कर्मणा स्पृष्टो न भवति।

(3) **न्यायदर्शने** - ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः- जीवात्मा, परमात्मा च। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। उदयनाचार्येण न्यायकुसुमाञ्जलौ ईश्वरसिद्धौ प्रमाणानि समुपन्यस्तानि। तथा हि -

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।। न्या0 कु0 5/1

'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्', 'परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात्, अस्मदादिशरीरकर्मवत्' इत्यादिभिरनुमानैः नित्य ईश्वरोऽनुमितो भवति।

अत्रेदं ध्येयं यत् न्यायदर्शने ईश्वरो जगतो निमित्तकारणं नोपादानकारणम्, परन्तु वेदान्ते ईश्वरो निमित्तोपादानकारणे। एवं वेदान्तानुसारेण जगतः सत्ता ईश्वरात् पृथक् नास्ति। न्यायदर्शने तु जगतः सत्ता ईश्वराद् पृथग् वर्तते।

(4) **सांख्यदर्शने** - यद्यपि सांख्यदर्शने ईश्वरस्य आवश्यकता नानुभूयते, सांख्यकारिकायाम् ईश्वरस्य चर्चा कुत्रापि न मिलति, तथापि सांख्यसूत्रस्य 'ईश्वरासिद्धेः' (1/92) 'तत्सन्निधानाददधिष्ठातृत्वं मणिवत्' (1/96), 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता' (3/56), 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' (3/57) एतानि सूत्राणि अवलोक्य सांख्यदर्शने ईश्वरसिद्धिः क्रियते विज्ञानभिक्षुप्रभृतिभिराचार्यैः।

(5) **योगदर्शने** - सांख्य दर्शन परिपोषके योगदर्शने स्पष्टरूपेण ईश्वरस्योल्लेखो मिलति। तत्र 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इत्युक्त्वा ईश्वरतत्त्वं परिभाषितम्। एवम् 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशेति पञ्चक्लेशैः पुण्यकर्मभिश्च असंस्पृष्टः पुरुषविशेष एव ईश्वरः'। अयं प्रणवसंज्ञयाऽप्युदीर्यते। ईश्वरो यद्यपि पुरुषविशेषः तथाप्ययं मुक्तकेवलपुरुषाद् भिन्नः। अतः पतञ्जलिमहर्षिणा 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति सूत्रेण ईश्वरस्य सगुणत्वं साधितम्।

(6) **पूर्वमीमांसा दर्शने** - वेदानां कर्मकाण्डात्मकभागस्य पोषिका जैमिनिमीमांसा पूर्वमीमांसेति कथ्यते। तत्र यागकर्मणः प्राधान्यप्रतिपादनमेव प्रयोजनम्। अतस्तत्र क्वचिन्नेश्वरप्रसङ्गः। जैमिनिमतानुसारेण तु विविधफलदायको धर्म एव नेश्वरः, परन्तु परवर्तिभिः मीमांसकैः लौगाक्षिभास्करादिभिः ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः इत्युक्त्वा ईश्वरसिद्धिरभ्युपगता।

(7) **वैशेषिकदर्शने** - यद्यपि वैशेषिकदर्शनम् अनीश्वरवादिदर्शनं परन्तु वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपादभाष्यस्य सर्गोत्पत्तिप्रसङ्गे जगत्कर्तृत्वरूपेण ईश्वरस्योल्लेखो वर्तते।

एवं सर्वेष्वपि वैदिकदर्शनेषु यथाकथञ्चित् ईश्वरसिद्धिः समुपलभ्यते।

अवैदिकदर्शनयोः बौद्धजैनयोरपि ईश्वरे महती भक्तिर्दृश्यते, परं न तत्र जगत्कर्तृत्वरूपेण अनादिमुक्त ईश्वरः स्वीक्रियते।

इत्थं भारतीयदर्शनेषु ईश्वरविचारोऽवाप्यते। यद्यपि ईश्वरस्वरूपविषये मतभेदाः सन्ति, तथापि चार्वाकं परित्यज्य सर्वे दार्शनिका ईश्वरभक्तिं विदधत्येव। ईश्वरभक्त्या परमः सन्तोषो जायते। स पुरुषविशेषः स्यात् अनादिर्मुक्तो वा स्यात्!

श्रमणबेलगोलायां गोम्मटेश्वरस्य मूर्तेः निर्माणेतिहासः

आद्यतीर्थङ्करस्य ऋषभदेवस्य पुत्रेषु सुनन्दातनयः 'बाहुवली' द्वितीयपुत्रः (कनिष्ठः) 'प्रथमकामदेवः' इत्यपि नाम्ना प्रसिद्ध आसीत्। अस्य ज्येष्ठभ्राता यशस्वतीतनयः अयोध्यानरेशः 'भरत'(अनेनैव नाम्ना भारतदेशः विख्यातः) आसीत्। एकदा भरतेन चक्रवर्तित्वलाभाय स्वानुजे बाहुवलिना शासिते पोदनपुरनगरे आक्रमणं कृतम्। अहिंसायुद्धेन भरतः पराजितः। संसारस्य असारतां विचिन्त्य बाहुवली प्रव्रजितवान् उग्र-तपश्च तप्तवान्। कालान्तरे केवलज्ञानं प्राप्य मुक्तिं लब्धवान्। अस्य भगवत एवं सुरम्या मूर्तिः दक्षिणप्रान्तस्य कर्नाटकप्रदेशस्य श्रमणबेलगोलायां विन्ध्यगिरौ विराजते।

श्रवणवेलगोलशब्दः कन्नडभाषायाः शब्दः। आदौ इयं नगरी 'श्रवणबिलिकोला' नाम्ना ख्याता आसीत्। कालान्तरे 'श्रवणवेलगोला' इति जाता। जैनसाधवः 'श्रमः' (श्राम्यन्ति बाह्याभ्यन्तरतपश्चरन्तीति श्रमणाः), श्रमणशब्द एव अपभ्रंशे श्रवणः। 'विलि' शब्दः श्वेतार्थकः 'गोल' शब्दश्च सरोवरार्थकः। इत्थं श्रवणवेलगोलशब्दः 'जैनसाधूनां श्वेतसरोवरः' इत्यर्थे पर्यवसन्नः। अनेन ज्ञायते यदियं नगरी जैनानां तपोभूमिरासीत्। अस्याः नगर्याः उत्तरदशि चन्द्रगिरिः दक्षिणदिशि विन्ध्यगिरिः शोभेते। नगर्याः मध्यभागे 'कल्याणी' सरोवरो विलसति। श्रूयते भगवतोऽमृतोपसममभिषेकजलमस्मिन्नेव सरोवरे गुप्तमार्गेण आगत्य पुञ्जीभूतम्।

हिन्दूसमाजे काशी-रामेश्वरयोः, ईसा-धर्मानुयायिषु यरुशमलवैतुलहमयोः मुसलिममनुरागिषु मक्का-मदीनास्थानयोः यथा महत्त्वं प्रसिद्धं तथैव जैनानां कृते श्रवणबेलगोला-सम्मेदशिखरयोः। श्रवणबेलगोलायाः प्रसिद्धिः 'जैनवद्री' 'जैनकाशी' इति नामद्वयेनापि अस्ति। 'ग्रेनाइट' प्रस्तरविशेषनिर्मितविन्ध्यागिरौ अनावृत्ताकाशे वर्तमाना सप्तपञ्चाशत् फीटपरिमितोन्नता खड्गासना भव्या विशाला शान्तिप्रदा मनोज्ञा समस्तसंसार शिल्पकलायाश्चादभुता बाहुवलिमूर्तिः जैन-जैनेतराणां सर्वेषां तीर्थयातृणां कृते आकर्षणकेन्द्रम्। अस्याः स्थापना एकसहस्रवर्षपूर्वं दशमशताब्दौ अभूत्। गङ्गनरेशस्य राचमल्लचतुर्थस्य (ई0 सन् 974-984) शासनकाले तस्य सेनापतिना चामुण्डरायेण कृता। अस्याः प्रतिष्ठापकाचार्यः नेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्ती आसीत्। शिल्पकारः कः ? इति निश्चितं नास्ति। अस्या मूर्तेः निर्माणस्येतिहासः इत्थमस्ति-

श्रूयते यत् चामुण्डरायस्य माता काललादेवी एकदा आदिपुराणकथाप्रसङ्गे भरतचक्रवर्तिनिर्मितायाः 525 धनुषाकारपरिमितायाः पञ्चमणिमय्याः बाहुवलिनो मूर्तिविषये श्रुतवती। धर्मवत्सलायाः मातुः हृदि तस्याः मूर्तेः दर्शनस्योत्कण्ठा बलवती जाता। मातृभक्तः चामुण्डरायः मातुरिच्छामनुसृत्य सपरिकरेण पोदनपुरनगरं (पेशावरप्रान्ते, पाकिस्तानप्रदेशे) प्रति प्रस्थितवान्। मार्गे 'कटिवप्र' नगरं (श्रवणबेलगोलाम्) प्राप्य विश्रान्तः। अत्र चन्द्रगिरौ नेमिचन्द्राचार्यः। (चामुण्डरायस्य गुरुः) विराजमानः आसीत्। कथ्यते यत् क्षेत्रस्थायाः शासनदेव्याः कूष्माण्डल्याः प्रभावः रात्रौ चामुण्डरायेण नेमिचन्द्राचार्येण काललादेव्या च सदृशं स्वप्नं दृष्टम्-'पोदनपुरं दूरतरं वर्तते, पन्थाश्च वक्रः। तत्र स्थिता बाहुवलिनः मूर्तिः कुक्कुटसर्पविशेषैरावृता सती अदृश्या जाता। अतः तस्याः दर्शनलाभाभावात् तत्र गमनं निरर्थकं भविष्यति। हे चामुण्डराय! प्रातः उत्थाय उत्तराभिमुखीभूय पृष्ठभागे दक्षिणदिशि शरसन्धानं कुरु। यत्र शरः निपतेत् तत्रैव भगवतो बाहुवलिनो दर्शनं भविष्यति। तथानुष्ठिते शरः विन्ध्यगिरौ शिखरभागे वृहत्पाषाणखण्डे अपतत्। तदा तत्र निर्मलीकृते पाषाणे रेखाभिः चित्रितस्थ-बाहुवलिनो दर्शनं जातम्। तं रेखाचित्रमनुसृत्यैव वर्तमानमूर्तेः निर्माणं कृतं कुशलशिल्पकारिभिः। पश्चात् महामस्तकाभिषेको विहितः। तद्दिनादारभ्य अद्यावधि महामस्तकाभिषेकस्य परिपाटी प्रचलिता अस्ति।

तस्मिन् पाषाणखण्डे बाहुबलिनो रेखाचित्रं कथम् आगतम् ? अत्रापि एका किंवदन्ती प्रचलिता अस्ति यत् पुरा भगवान् मर्यादापुरुषोत्तमः श्रीरामचन्द्रः लङ्कां विजित्य अयोध्यां प्रति प्रस्थितवान्। मार्गे अत्र विश्राममकरोत्। सत्या सीतादेव्या स्वसन्निहितपन्नगरत्ननिर्मितबाहुवलिनो मूर्तिः विन्ध्यगिरौ तमिन्नेव पाषाणखण्डे संस्थाप्य पूजिता। प्रस्थानकाले सा मूर्तिः तत्र स्थिरा जाता। तदा श्रीरामचन्द्रेण स्वधनुषा बाहुबलिनो मूर्तेः चित्रं तस्मिन् शिलाखण्डे रेखाङ्कितम्। रेखाङ्किता सा मूर्तिरेव बहुकालानन्तरं चामुण्डरायेन वर्तमानरूपं प्राप्तवती। पुरातत्त्वविद्फर्ग्युसनमहोदयेन इयं मूर्तिः विश्वस्य सर्वोत्कृष्टकृतिरुद्घोषिता।'गोम्मटः' चामुण्डरायस्य अपर नाम् आसीत् तस्मात् गोम्मटस्य ईश्वरः गोम्मटेश्वरः 'बाहुवली'त्यर्थः। अयमेव मूर्तिनिर्माणस्येतिहासः संक्षिप्तः। तस्मैः नमः -

श्री वत्सादिमहालक्ष्मलक्षितोत्तुंगविग्रहम्।
नाम्नामष्टशतेनाहं स्तोष्ये श्रीगोम्मटेश्वरम्॥

जैनदर्शनानुसारं नारीणां स्थितिः

समुद्रवीचीचपलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निपीडितालक्तकवत् त्यजन्ति।(उत्तरा0 चूर्णि, पृ0 65)
दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्।
भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते।। (सूत्रकृताङ्गविवरणम् 1.4.23)
सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सट्ठुवि लद्धपरासु।
अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्वो॥ (तदेव)

इत्यादीनि कानिचित् श्वेताम्बराचार्यवचनानि पुरस्कृत्य भूयोभूयो जैनसंस्कृतिं स्त्रीजातिविरोधिनीम् उद्घोष्य साऽऽक्रोशं निन्दन्ति पाश्चात्त्यसभ्यताप्रभाविता भारतीया नरा नार्यश्च। सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तौ स्पष्टमेवोक्तम् ''एए चेव य दोसा पुरिस-समाये वि इत्थियाणं पि' अर्थात् ये ये चारित्रगताः शीलप्रध्वंसका दोषाः नारीषु प्रदर्शितास्ते सर्वे पुरुषेष्वपि सन्ति। अतो वैराग्यमार्गगामिनीभिः नारीभिः पुरुषेभ्यः स्वकीयं शीलरक्षणं कर्तव्यम्। एवं जैनाचार्यैः वैराग्यभावनाप्रवर्द्धनाय एव नारीषु दोषाः दर्शिताः। वस्तुतस्तु ते दोषाः कामवासनागताः। विलासिनो नरा आचार्यवचनानि अन्यथा प्रकटयन्ति।

प्राणिमात्रं प्रति समतायाः प्रचारो जैनदार्शनिकैः कृतः। समतावादपरिपोषकजैनदर्शनानुसारं सर्वे प्राणिनः समानधर्माणः। स्वकृतकर्मानुसारं ते संसारे विभिन्न-योनिषु परिभ्रमन्ति। सदाचारसाधनैः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः यदा ते पूर्वबद्धकर्माणि सर्वाणि निर्जीर्णयन्ति तदा ते संसाराद् विमुक्ता भवन्ति। तत्र नरो वा नारी वेति प्रकारभेदो नास्ति। यद्यपि इतरधर्मापेक्षया नारीणां स्वातन्त्र्यविषये जैनधर्मस्य व्यवस्था व्यावहारिकी उदारा चावलोक्यते परन्तु सहवर्तिधर्मपरम्परायाः प्रभावात् नारीणां स्वातन्त्र्य विषये क्रमशः अवमूल्यनं जातम्। धार्मिकक्षेत्रे सामाजिकक्षेत्रे च सर्वत्र पुरुषैः सह नारीणां समकक्षता स्वीकृता जैनैः। नारीनरयोः यो भेदो दृश्यते स तु कर्मकृतः। स्त्रीणां विषये मूलतः कापि गर्हिता भावना नासीत्। कालान्तरे स्वार्थसिद्धये विलासिभिः नरैः पत्नीसम्पत्तिरूपोऽधिकारः स्वीकृतः परन्तु एवं नानुमतम् जैनदर्शने। पुरुष-तुल्या एवाऽधिकाराः स्त्रीणामपि स्वीकृता जैनदर्शने । तस्या लिङ्गभेदकृताः सर्वा अप्यनर्हताः समाप्ताः। योग्यतानुसारं सा सर्वाण्यपि पदान्यधितिष्ठति। ब्राह्मी-सुन्दरी-राजीमती-चन्दना-प्रभृतयो वन्दनीया नार्यः आसन्। यथोक्तम् ऋषिमण्डलस्तवे-

अज्जा वि बंभि-सुन्दरि-राइमई चन्दणा पमुक्खाओ।
कालत्तए वि जाओ ताओ य नमामि भावेणं ।। 208

महानिशीथसूत्रे सदाचारसम्पन्ना नारी धन्या, पुण्यावहा, वंदनीया, दर्शनीया, सर्वकल्याणकारिका, सर्वोत्तममङ्गलप्रदा, साक्षात् श्रुतदेवता, सरस्वतीप्रभृतिशब्दैः प्रशंसिता। श्वेताम्बरपरम्परायां तु मल्लिनाथतीर्थङ्करः स्त्रीपर्यायगतः स्वीकृतः। जैनदर्शने तीर्थङ्करपदं सर्वोत्कृष्टपदम्। ईश्वरप्रतिरूपम्। दिगम्बरपरम्परायां मल्लिनाथ-तीर्थङ्करः पुरुषपर्यायगतः स्वीकृतः, तत्र स्त्रीणां मुक्तिः स्त्रीपर्यायेण न सम्भवति, ताः खलु जन्मान्तरे पुरुषपर्यायं प्राप्य निर्वाणं लभन्ते। वस्तुतस्तु निर्वाणप्राप्तिकाले लिङ्गभेदो नास्ति। एवं दिगम्बरपरम्परायामपि स्त्रियः निर्वाणलाभान्न वञ्चिताः। स्त्रीपर्यायगतदोषात् ताः पूर्णनग्नदिगम्बरमुद्रां न धारयन्ति। एतस्मात् कारणात् ताः जन्मान्तरं गृहीत्वा तीर्थङ्करादिपदं प्राप्नुवन्ति सदाचारबलात्। सदाचारस्य एव प्राधान्यं जैनदर्शने। अत संन्यासिन्यः स्त्रियः उपासकैः नरैः पूज्याः। अधुना अपि अनेकाः स्त्रियः भिक्षुण्यः सन्ति याः खलु परमपूज्या सन्ति जैनसमाजे।

जैनदर्शने चतुर्विधसङ्घव्यवस्था स्वीकृता-भिक्षुसङ्घः, भिक्षुणीसङ्घः श्रावकसङ्घः श्राविकासङ्घश्च। सांसारिकसुखवैभवादिकं परित्यज्य तपःप्रधानपथानुसारिण्यः स्त्रियः भिक्षुण्यः, तासां सङ्घः, भिक्षुणीसङ्घः। गार्हस्थजीवनपथानुसारिण्यः सदाचारपरायणाः स्त्रियः श्राविकाः। तासां सङ्घः श्राविकासङ्घः। एवं दृश्यते यत् नर-नार्योः कोऽपि भेदो नास्ति। जातिवर्ण-वर्गभेदं विनैव कापि स्त्री भिक्षुणीसङ्घे प्रवेशार्हा। विधवा, परित्यक्ता, कुमारी वा स्यात् सर्वासां स्त्रीणां कृते, सदाचारसाधनानि सुलभानि। ता एव तत्र अयोग्याः या बालिकाः अतिवृद्धाः, गर्भिण्यः, उन्मत्ताः, संक्रामकरोगपीडिताः, अङ्गहीना वा सन्ति। शीलरक्षायाः तत्र विशेषप्रबन्धो वर्तते। तासां सुरक्षा सुनिश्चिता अस्ति। अतो भिक्षुणीनां कृते तत्र सङ्घे विशेषनियमास्सन्ति। स्त्रीभिः सह बलात्कारादिसम्भावनां विलोक्य तासां कृते नग्नदिगम्बरदीक्षा

वर्जिता। तासां प्रकृति सामाजिकपरिवेशं च विलोक्य पुरुषाणां स्वाभाविकरूपेण प्राधान्यं जातम्। ताः रक्षितुं क्षमाः पुरुषा एव! अतः मनुस्मृतिवद् व्यवहारभाष्ये कथितम् –

जाया पित्तिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा।।

इयमुक्तिस्तासां रक्षार्थमेव न तु स्वातन्त्र्यहननाय।

जैनधर्मे वैदिकपपम्परावत् स्त्रीणां कृते धार्मिकदृष्टया विवाहबाध्यता नास्ति। विवाहविषये जैनधर्मे किमपि नोक्तम्। तत्र तु वैदिकपरम्परावत् सामाजिक-व्यवस्था आसीत्। अधुना दिगम्बरजैनैः जैनविवाहविधिः लिखितः। स विवाहविधिः वैदिकपरम्पराया नामान्तरमेव। केवलं तत्र संशोधन कृत्वा जैनतीर्थङ्करस्तुतिः योजिता।

नारी समाजस्य जननी, तस्या पदं नितरां गुरुतरम्। माता सा सती निर्व्याजं वात्सल्यम् अस्मान् पाययति, पितामही सती विविधकार्ये व्यापृतानाम् अस्माकं शिशुन् परिपालयति, पत्नी सती प्रणयरसधारया जीवनमरुस्थलम् अस्मदीयं सरसयति। भगिनी सती स्नेहप्रदानेन पावयति, पुत्रीरूपेण चोत्सङ्गदुर्ललिता मनसि तरङ्गयति वात्सल्यगङ्गाम्। इत्थं को नाम पक्षो यस्तया नाधिक्रियते। तस्या एतादृशम् अनन्यभजनीयं महत्त्वमनुभूयैव प्राचीनैराचार्यैः सा पत्युः सहधर्मचारिणी प्रोक्ता। तस्या शुद्ध्या सकलस्यापि कुलस्य समाजस्य च शुद्धिः। सा यदि चरित्राद् भ्रश्यते, भ्रष्टो नाम सर्वोऽपि समाजः। अत एव नारीमर्यादा सर्वदैव रक्षणीया घोषिता जैनाचार्यैः।

ब्रह्मचर्यसाधनार्थं सहायकरूपेण विवाहविधिः जैनैः स्वीकृतः। विवाहः कामवासनासंयमार्थमेव, अन्यथा सर्वत्र व्यभिचारः प्रसज्येत। जैनैः स्वपत्नीसन्तोषव्रतं पुरुषाणां कृते तथा स्वपतिसंतोषव्रतं स्त्रीणां कृते विहितम्। बहुविवाहप्रथा यद्यपि पूर्वकाले प्रचलिता परन्तु सा नानुमोदिता जैनाचार्यैः। विवाह एवं यदा धार्मिककर्तव्यरूपेण न स्वीकृतः तदा किमर्थं बहुविवाहप्रथा। एवमेव नियोगप्रथा, सतीप्रथा, विधवाविवाहप्रथा अपि नानुमोदिता जैनाचार्यैः। विधवानां कृते भिक्षुणीसङ्घशरणं न्याय्यम्। तत्र संयमधनाय सर्वेषां कृते उद्घाटितानि द्वाराणि सन्ति। अत्र आगत्य ताः पुरुषैरपि वन्दनीया भवन्ति। अत्र परतन्त्रता नास्ति।

नारीशिक्षाविषये जैनाः उदारवृत्तयः। जैनभिक्षुणीनां विद्वत्ताविषये प्रमाणानि न केवलं जैनग्रन्थेषु, अपितु बौद्धग्रन्थेष्वपि प्राप्यन्ते। ताः खलु आगमविदः स्वाध्यायपरायणास्सन्ति। ब्राह्मीसुन्दरी-प्रभृतयः भिक्षुण्यः ज्ञानविज्ञानेषु निष्णाता आसन्। अन्तकृद्दशाप्रभृति-आगमग्रन्थैः वर्ण्यते यत् भिक्षुण्यः एकादशाङ्गग्रन्थेषु पारङ्गताः आसन्। स्त्रीणां पुरुषाणाञ्च शिक्षाक्षेत्रे समानाधिकारोऽस्ति जैनदर्शने।

एवं सर्वेषु क्षेत्रेषु नार्यः पुरुषसमानधर्माः आसन्, सन्ति च जैनधर्मानुसारम्। तत्र कर्मानुसारिणी व्यवस्था वर्तते। यद्यपि तदानीं दोषा अपि आसन् परन्तु ते न आगमसम्मताः। यथा भवभूतिकृते उत्तररामचरिते ब्रह्मविद्याध्यायिन्यः स्त्रियः उल्लिखिताः सन्ति तथैव जैनशास्त्रेषु अपि जैनविदुषीणामुल्लेखो मिलति। एतादृशेषु सत्सु प्रमाणेषु को नाम कथयेद् यत् न यस्य पुराऽपि नारीणां जैनागमाऽध्ययने अधिकार आसीत्। दृष्टिवादविषये यद्यपि अध्ययनस्य परम्परा आसीत् किन्तु लौकिकतन्त्रमन्त्रादीनां शिक्षा सर्वेषां कृते नानुमता आसीत्। सा शिक्षा दृढसन्मार्गगामिनामेव, न सर्वेषां लोभात् पतनसम्भवात्। वस्तुतः जैनदर्शने वैराग्यभावनायाः प्राधान्यं, तस्मात् तत्र तथा व्यवस्था दृश्यते यथा सन्मार्गच्युतिः न भवेत्। अपेक्षाभेदेन योग्यताधारेण च सांसारिकी व्यवस्था स्वीकृता। एवं जैनदर्शने पुरुष-तुल्या एवाऽधिकाराः स्वीकृताः स्त्रीणामपि। ये दोषाः समागताः ते समसामयिकपरिस्थितिवशात् समायाताः। इति शम् ।

किं जैनदर्शनं नास्तिकम् ?

जैनदर्शनमास्तिकं नास्तिकं वेति विचारोऽत्र प्रस्तूयते। तत्र 'नास्तिको वेदनिन्दक' इत्याचार्यमनुना प्रणीतं (2.11) मनुस्मृतिवाक्यमनुसृत्य केचन वेदपक्षपातिनस्साम्प्रदायिका आस्तिकनास्तिकदर्शनभेदेन भारतीयदर्शनपरम्परां द्विधा विभाजयन्ति। तत्रास्तिक-नास्तिकदर्शनयोः परिगणितानि दर्शनानीमानि-

(क) **आस्तिकदर्शनम्** - वेदान्तदर्शनं (उत्तरमीमांसा वा), मीमांसादर्शनं (पूर्वमीमांसा वा), सांख्यदर्शनं, योगदर्शनम्, न्यायदर्शनं, वैशेषिकदर्शनञ्च।

(ख) **नास्तिकदर्शनम्** - जैनदर्शनम्, बौद्धदर्शनम्, चार्वाकदर्शनञ्च। वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचारमाध्यमिकाभिधानानि बौद्ध दर्शनस्य चत्वारि प्रस्थानानि संयोज्य षड् नास्तिकदर्शनान्यपि भवन्ति।

विभागोऽयं साम्प्रदायिक:। स च युक्त्या न सङ्गच्छते । यथा हि -

(1) अस्ति नास्ति दिष्टं मति: (अ0 4.4.60) इति पाणिनीयसूत्रं हृदि निधाय 'अस्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स आस्तिक:, नास्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स नास्तिक:' इति व्याख्यानुसारेण जैनदर्शनं कथमपि नास्तिकं न भवितुमर्हति न । तत् न केवलं स्वर्गनरकादिरूपपरलोकं स्वीकरोति अपितु, तत्सिद्ध्यर्थं पुष्कलप्रमाणान्यप्युपस्थापयति। बौद्धदर्शनमपि परलोकस्वीकरणान्न नास्तिकम्। अनया दिशा केवलं चार्वाकदर्शनमेव नास्तिकदर्शनकुक्षौ समायाति।

(2) 'आत्मनो कूटस्थ-नित्यत्वाभावे कथं स्वर्गनरकादिरूपा परलोकव्यवस्था सम्भवेत्' इति चेन्न, जैनदर्शनं न नास्तिकम्, यतो हि जैनदर्शने द्रव्यात्मना (द्रव्यार्थिकनयापेक्षया निश्चयनयापेक्षया वा) नित्यत्वमेव स्वीकृतमात्मन:। उक्तञ्च कुन्दकुन्दाचार्येण पञ्चास्तिकायग्रन्थे -

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो॥17॥
सो चैव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ॥18॥

एवं मनुष्यादिपर्यायेषु जीवभावो न नश्यति, न चान्यरूपेण जायते। उत्पादव्ययभावौ मनुष्यादिपर्यायेषु भवत:। अपेक्षाभेदेन कथञ्चिदनित्यत्वमपि स्वीकृतमन्यथा बन्धमोक्षादिव्यवस्था न सम्भवेत्। इयं व्यवस्था सर्वैरास्तिकदर्शनैरपि स्वीकरणीया स्वीकृता च प्रकारभेदेन। इत्थं जैनदर्शनमास्तिकमिति न कापि विप्रतिपत्ति:।

(3) 'ईश्वरं जगत: कर्तारं पालकं संहारकञ्चेति त्रिधा यस्स्वीकरोति स आस्तिकस्तद्भिन्नो नास्तिक:' -अनेन प्रकारेण यद्यास्तिकनास्तिकयोविभागो भवेत्तर्हि सांख्यदर्शनं मीमांसादर्शनञ्च नास्तिकतामापद्येतामीश्वरस्यानङ्गीकारात् एतादृशस्य। किञ्च, ईश्वरं स्वीकुर्वतामपि मतैक्यं नास्ति। यथा योगदर्शने क्लेशादिमुक्त: पुरुषविशेष रूप ईश्वरस्स्वीकृत:। वेदान्तमते परमब्रह्मणो विवर्तरूपात्मकोऽभ्युपगत:। नैयायिकमते असौ सष्टिकर्ता मत:। नास्तिकदर्शनेषु जैनाचार्या अर्हन्तं (तीर्थङ्करम्=कर्मविप्रमुक्त पुरुषविशेषम्), बौद्धाश्च भगवन्तं बुद्धम् ईश्वररूपेण अहर्निशं पूजयन्ति। इत्थञ्च न जैनदर्शनं नास्तिकम्। यदि चेत् सृष्टिकर्तरीश्वरस्यानङ्गीकरणाज्जैनदर्शनं नास्तिकं तर्हि मीमांसका: सांख्याश्च कथं नाम न नास्तिका भवेयु:। वस्तुतो वेदान्तमतेऽपि शुद्धब्रह्मतत्त्वं सृष्ट्यादिक्रियां न करोति।

(4) 'ये वेदं प्रमाणत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति ते आस्तिकास्तदन्ये सर्वे नास्तिका:' इत्यास्तिकनास्तिकयो: परिभाषाऽपि नाव्यभिचारिणी। यतो हि शङ्कराचार्यप्रभृतिभिस्सांख्यानां वैशेषिकप्रभृतीनाञ्च मतानि वेदबाह्यत्वेन खण्डितानि, सा चेयं वेदबाह्यश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। केचित्सांख्ययोगव्यपाश्रया: कल्पयन्ति। प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षण: प्रधानपुरुषेश्वर इति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति (वेदान्तदर्शनम् 2.2.37.)। जैनदर्शनस्य खण्डनं कुर्वद्भि: कश्चिदपि विद्वद्भि: जैनदर्शनं नास्तिकदर्शनमिति नोक्तम्, यथा तत्रैव भाष्यरत्नप्रभाटीकायाम् (2.2.37)- 'कर्मफलं सपरिकराभिज्ञसपरिकराभिज्ञदातृकं कर्मफलत्वात् सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च' इत्यभिहितम्। न चात्र नास्तिकसंज्ञया दिगम्बराणां जैनानामुल्लेख:। एवं रीत्या सांख्यादयो नास्तिकतामापद्येरन्। परमेतावतापि न ते नास्तिका अपितु आस्तिका एव कथ्यन्ते इति महच्चित्रम्। एवञ्च जैन दर्शनस्यास्तिकत्वे क: खलु प्रद्वेष आस्तिकाभिमानिनामिति न विद्म:।

(5) किञ्च, यदि वेदप्रामाण्यवादिन आस्तिकास्तर्हि कथं वेदप्रामाण्यवादिन: परस्पर विवदन्ते ? यथा केचन विधिवादिन:, अन्ये भावनावादिन:, अपरे विनियोगवादिन:। तथा च परस्परभिन्नं द्वैताद्वैत रूपं तत्त्वं स्वीकुर्वन्त: कथं ते वेदप्रामाण्यवादिन: ? अत्र तु साम्प्रदायिकाग्रह एव कारणं न किञ्चित्तात्त्विकम्। किञ्च, यत्र विरोधो नास्ति तत्र जैना अपि वेदं प्रमाणत्वेन स्वीकुर्वन्ति। यत्र तु विरोधो दृश्यते तत्र ते (अनेकान्तवादिनो जैना:) प्रकारान्तरेण (नयभेदेन) समन्वयदृष्ट्या व्याख्यान्ति। अतो हेमचन्द्राचार्येण कथितम्-

भव-बीजाङ्कुरजनना रागाद्या: क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमतस्मै॥

इयमेव प्रवृत्ति: स्वीकृताऽऽस्तिकदर्शनेष्वपि विलोक्यते। अत: कथं नाम जैनदर्शनं नास्तिकमिति ?

(6) किञ्च, यदि 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्येव नास्तिकस्य लक्षणं स्वीकुर्याम तथापि जैनदर्शनस्यास्तिकत्वमेव समायाति न नास्तिकत्वम्। यतो हि वेदस्य प्रमुख रूपेणायमुद्घोषः **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** तन्मूलभूतवैदिकं विषयमङ्गीकृत्य जैनदर्शनं स्वमतं प्रावर्तिष्ट। अतएव जैनदर्शने अहिंसायाः प्राधान्यं सर्वत्रैव विलोक्यते। किं बहुना, संसारस्य प्रतिकणं जीवमवगम्य जैनमहात्मानो महता प्रबन्धेन अवन्ति। अतः वेदे प्रतिपादितस्य अहिंसारूपस्य प्रधानविषयस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपेण परिपोषकं प्रचारकञ्च जैनदर्शनमेव इति सिद्ध्यति तस्यास्तिकत्वम्। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्याभाणकस्य त्वन्यः कश्चनान्तर्भूत आधारः स चोपेक्ष्यते। धर्मसूत्र-श्रीमद्भागवत्महाभारत-गीता-प्रभृतिवैदिकाभिमतग्रन्थेष्वपि हिंसाप्रधानवैदिकयज्ञादीनां निन्दा विहिता। उक्तं भागवतपुराणे-

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥11.21.27॥
हिंसा-विहाराह्यालब्धः पशुभिः स्वसुखेच्छया॥
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥ 11.21.30॥

उक्तञ्च 'महाभारते कृष्णमुखेन युधिष्ठिरं प्रति -

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥

किञ्च 'योगवाशिष्ठे' रामो जैनयतेः स्थितिं कांक्षति-

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

एवमेव भतृहरिरपि 'वैराग्यशतके' निवेदयति-

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥3.86॥

अपि च उदयनाचार्येण 'न्यायकुसुमाञ्जलौ' 'निरावरणदिगम्बर' इत्यनेन जैनदर्शनस्यास्तिकत्वमेव समर्थितम्। किं बहुना-

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

एवमेव मानतुङ्गाचार्येण 'भक्तामरस्तोत्रे' अभिहितम्-

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥25॥

एतावता सिद्धं भवति यत् पूर्वस्मिन् काले जैनदर्शनं न नास्तिकम्। पुरं परवर्तिनि काले साम्प्रदायिकाग्रहात अस्य गणना नास्तिककोटौ कृता। जीव-परलोक-पुण्य-पापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं कृत्वा आचार्यो हरिभद्रसूरिः 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रन्थे उपसंहरन्नाह -

एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥77॥
नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥78॥

धर्माधर्मौ न विद्येते, पुण्यपापयोः फलं न स्तः, जीवः, तस्य अस्तित्त्वं संसारात् निवृत्तिश्च नास्ति इत्येवंवादिनो लोकायता नास्तिका इति सर्वं षड्दर्शनसमुच्चयस्य (कारिका 7-9-60) तर्करहस्यदीपिकायां श्रीगणरत्नसूरिणा उद्घाटितम्। 'प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते। कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजाताश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च पुण्यपापादिकं न मन्यन्ते.............लोकायता नास्तिका एवम् इत्थं वदन्ति।' बौद्धदर्शनेऽपि नागार्जुनकृतरत्नावल्यां धार्मिकाधार्मिकभेदमनुसृत्य आस्तिकनास्तिकयोर्विभागो दृश्यते-

नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिःसृतः ॥57॥

(7) अपि च, जैनदर्शनस्य शिरोमौलिभूतो विषयो अनेकान्तवाद एव इति न तिरोहितं शेमुषीजुषाम् । स च अनेकान्तवादो वेदे बहुधा प्रपञ्चित इति परिशीलनेन प्रतिभाति। तत् किञ्चित् प्रदर्यते। यथा नासदीयसूक्ते–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासोद्रजो नो व्योमापरो यत्।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद् धान्यन्न परः किं च नास ।।10.129.1-2॥

अथ च– तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (ईशा 0 5)। किञ्च, **अणोरणीयान् महतो महीयान्** (कठो0 1.2-20) इत्यादिभिः प्रचुरैर्मन्त्रैरनेकान्तवाद एव प्रपञ्चितो वर्तते। स एव अनेकान्तवादो जैनदर्शनस्य प्राणभूतं तत्त्वम्। एतेनापि न जैनदर्शनस्य वेदबाह्यत्वमपितु वेदाभ्यन्तरत्वमेव इति सिद्धं जैनदर्शनस्यास्तिकत्वम्।

(8) अपि च, 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्यत्र यदि 'वेद' पदस्य (ज्ञानार्थक विद्धातोनिष्पन्नत्वात्) 'ज्ञानम् अर्थः स्वीक्रियेत तर्हि का हानिः। एवं च **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय0 5.4 तथा आत्मप्रबोधोपनिषद्) **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**।**'प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्'** (कठो0 12.24) **'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रे प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्'** (ऐत0 5.3) इत्यादीनामुपनिषद्मन्त्राणां सिद्धिर्भवेत्। जैनदर्शनेऽपि प्रत्येकमात्मा अनन्तज्ञानस्वरूपः स्वीकृतः। मोक्षमार्गप्रसङ्गे च **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** (तत्त्वार्थसूत्र0 1.1) इत्यत्र मध्ये सम्यग्ज्ञानस्योल्लेखः कृतः। तेन च प्रकटितं यद् ज्ञानं विना चारित्रं निष्फलम्। वेदा ज्ञानपुञ्ज इत्यत्रापि नास्ति विरोधः । पुनः कथं जैनदर्शनस्य नास्तिकत्वम् ?

उपसंहारः -

एतावता सर्वैः सन्दर्भैः सिद्धं भवति यद् जैनदर्शनमास्तिकमेव, न नास्तिकम्। अतो निश्चीयते यदयमास्तिकनास्तिकयोविभागः केवलं साम्प्रदायिक एव, न तात्त्विकः। तथा च परलोकादिकं स्वीकुर्वतां जैनानां 'अहिंसा परमो धर्म', इति वेदप्रतिपादितधर्मविषयिण्या बुद्धेः सद्भावाच्च ते कथं नाम नास्तिकाः ? वस्तुतस्तु **'धर्मविषयिणी बुद्धिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतश्च नास्तिक'** इति विभागस्तु यौक्तिकः। इत्थञ्च जैनदर्शनं परममास्तिकदर्शनमेवेत्यलम्।

भारतीयदर्शनेषु भ्रमज्ञानविचारः (ख्यातिवादः)

'शुक्तौ रजतम्', 'रज्जौ सर्पः', 'मरीचिकायां जलम्', स्थाणौ पुरुषः, इत्यादिरूपं भ्रमज्ञानं (विपर्ययज्ञानं) ख्यातिशब्देन व्यवह्रियते भारतीयदर्शनग्रन्थेषु। 'ख्या' प्रकथने + क्तिन् प्रत्ययनिष्पन्नोऽयं ख्यातिशब्दः (ख्यापनं ख्यातिः) ज्ञानार्थको दर्शनशास्त्रे। ख्यातिविषयिका विचारधारा नैकरूपा। अत्र प्राधान्येन नव वादास्सन्ति। यथा-(1) अख्यातिवादः, (2) असत्ख्यातिवादः, (3) आत्मख्यातिवादः, (4) प्रसिद्धार्थख्यातिवादः, (5) सत्ख्यातिवादः, (6) अलौकिकार्थख्यातिवादः, (7) विवेकाख्यातिवादः, (स्मृतिप्रमोषवादः, अख्यातिवादो वा), (8) अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादः, (9) विपरीतार्थख्यातिवादः (अन्यथाख्यातिवादः)। तत्र तत्त्वोपप्लवसिंहचार्वाका अख्यातिवादम्, शून्यवादिनो माध्यमिकबौद्धाः बाह्यानुमेयवादिनः सौत्रान्तिकबौद्धाश्च असत्ख्यातिवादम्, विज्ञानाद्वैतवादिनो योगाचारबौद्धा आत्मख्यातिवादम्, सांख्याः प्रसिद्धार्थख्यातिवादम्, विशिष्टाद्वैतवादिनो रामानुजाः सत्ख्यातिवादम्, केचनाज्ञातदार्शनिका अलौकिकार्थख्यातिवादम्, प्रभाकरमीमांसकाः विवेकाख्यातिवादम्, शाङ्करवेदान्तिनोऽनिर्वचनीयख्यातिवादम्, नैयायिक-वैशेषिक-भाट्टमीमांसक-वैभाषिकबौद्धाः जैनाश्च विपरीतार्थख्यातिवादम् स्वीकुर्वन्ति।

अधोलिखितायां कारिकायां केवलं पञ्च ख्यातिवादानामुल्लेखो दृश्यते-

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्।।

अर्थः - आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अख्यातिः (स्मृतिप्रमोषः), अन्यथाख्यातिः, अनिर्वचनीयख्यातिरेतत् ख्यातिपञ्चकं प्रसिद्धम्। अधुना सर्वेषां ख्यातिवादानां विचारः प्रस्तूयते -

(1) **अख्यातिवादः**[1]- तत्त्वोपप्लववादिनः चार्वाका भ्रमज्ञानं निरालम्बमिति विचार्य अख्यातिवादं प्रतिपादयन्ति। तद्यथा- मृग मरीचिकायां जलावभासिनि ज्ञाने जाते तत्र जलं नालम्बनम्, अभ्रान्तत्त्वप्रसङ्गात्। जलाभावो न तज्ज्ञानस्य विषयो,

विधिपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः। मरीचयोऽपि नालम्बनं, तद्ग्रहणेऽभ्रान्तत्त्वप्रसङ्गात्। एवञ्च विपर्ययज्ञानं सत्यज्ञानं भवेत्। सूर्यकिरणसम्पर्कात् जलाकारेण मरीचिग्रहणमपि न युक्तं, तदन्यत्वात्। न खलु पटाकारेण तदन्यस्य घटादेर्ग्रहणं भवति। एवं भ्रमज्ञानस्थले जलादिविपर्ययज्ञानं निरालम्बनमिति। अस्मिन् ज्ञाने किमपि न प्रतिभासते तस्मादख्यातिवादोऽयम्।

सिद्धान्तोऽयमविचारितरमणीयं, न सम्यगिति, निरालम्बनत्वाद् विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गाच्च। एवं खलु विशेषाभावाद् भ्रान्ति–सुषुप्तावस्थयोरविशेषत्वप्रसङ्गः स्यात्।

प्रभाकरमीमांसका अपि अख्यातिवादिनः[2] परन्तु तेषां सिद्धान्तो भिन्नः। ते खलु स्मृतिप्रमोषवादिनो विवेकाख्यातिवादिनो वा। अतः तेषां विचारः तत्रैव करिष्यामि।

(2) **असत्ख्यातिः**[3]– शून्यवादिनो माध्यमिकबौद्धाः बाह्यानुमेयवादिनः सौत्रान्तिकबौद्धाश्चासत्ख्यातिं स्वीकुर्वन्ति भ्रमज्ञानस्थले। शुक्तौ रजतप्रतिभासिज्ञाने योऽर्थः सद्रूपेण प्रतिभासते स विचार्यमाणे न सद्रूपेण तिष्ठति। नास्तीत्यसख्यातिरेवासौ। अर्थात् शुक्तौ न शुक्तिकादिप्रतिभासः, अपितु रजतप्रतिभासः। रजतश्च तत्र नास्तीति तस्माद् असत्ख्यातिरेव वरम्। अधिष्ठानरूपा या शुक्तिस्तत्र रजतस्यासत्त्वात् शुक्तौ रजतप्रतिभासो विपरीतधर्मकल्पनामात्रम्। तद्यथा–शुक्तौ 'इदं रजतम् प्रतिभासेऽस्मिन् वस्तुस्वरूपो ज्ञानस्य धर्मोऽर्थस्य वा। न प्रथमः, अहमाकारप्रतीतिरभावाद् बहिः (इदम्) रूपेण प्रतीयमानत्वाच्च। न द्वितीयः, अर्थक्रियासाफल्यरहितत्त्वादुत्तरकाले बाधकज्ञानसद्भावाच्च। अतः 'इदं रजतम्' इति ज्ञाने असदेव प्रतिभासते।

शून्यवादिनां मते 'सर्व शून्यमिति तस्मान्न कस्यापि पदार्थस्य सद्रूपेण प्रतीतिर्भवति। इदं सर्वं विश्वम् अध्यासरूपं, पुनः कथं भ्रमज्ञानमसत्ख्यातिर्न स्यात्।

आकाशकुसुमवदसत्प्रतिभासकल्पना नोचिता, असतः प्रतिभासासम्भवाद्, भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गाच्च। असत्ख्यातिवादे नार्थगतं नापि ज्ञानगतं वा वैचित्र्यं सम्भवति येनानेकप्रकारा भ्रान्तिर्भवेत्।

(3) **आत्मख्यातिः**[4]– ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्योपप्लवसामर्थ्याद् बहिरिव प्रतिभासतेति विज्ञानाद्वैतवादिनो योगाचारबौद्धाः। अनादिविचित्राविद्यावासनाविपाकेन अनेकाकाराणि ज्ञानानि स्वाकारमात्रसंवेद्यानि क्रमेण भवन्तीत्यात्मख्यातिरेवेति। अर्थात् शुक्तिगतं यद् रजतज्ञानं भवति तद् आन्तरं बुद्धिस्थमेव, न बाह्यम्। अतो बुद्धिस्थं रजतं न सन्नासत्।

सिद्धान्तेऽस्मिन् स्वात्ममात्रसंवित्तिनिष्ठत्वे अर्थाकारत्वे च ज्ञानस्य आत्मख्यातिसिद्ध्येत। एवं सति भ्रान्ताभ्रान्तविवेको बाध्यबाधकभावश्च न भवत्यविशेषात्। शुक्त्याधारितं रजतज्ञानमान्तरमिति चेत् किं नामाऽयं भ्रमः। आत्मनि क्रियाविरोधात् प्रतिपत्ता च तदुपादानार्थं बहिः प्रवृत्तिः करोति तस्मादात्मख्यातिवादो न सुन्दरः।

(4) **प्रसिद्धार्थख्यातिः**[5] – सत्कार्यवादिनः सांख्याचार्या भ्रमज्ञानस्थले प्रसिद्धार्थख्यातिं स्वीकुर्वन्ति। तन्मतानुसारेण भ्रमज्ञाने प्रतीतिसिद्धार्थस्यैव प्रतिभासो भवति। अर्थात् सत्पदार्थ एव कारणरूपेण भ्रमज्ञाने प्रतीयते। उत्तरकाले बाधसम्भवेऽपि यावत् प्रतिभासो भवति तावत् यथार्थ एव। यः प्रतीयते सोऽस्त्येव। करतलादेरपि प्रतिभासबलेनेव सत्त्वम्। अन्यथा (उत्तरकाले बाधान्न तस्य सत्तेति सति) विद्युदादेरपि उत्तरकाले असत्वात् प्रतीयमान कालेऽपि सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्। तस्मात् प्रसिद्धार्थख्यातिरेवाभ्युपगन्तव्यम्। अत्र सांख्यसूत्रे 'सदसत्ख्यातिवादः'[6] निरूपितः। इदं शुक्तिज्ञानं सत्, रजतेतिज्ञानमसदिति 'नेदं रजत' मिति उत्तरकालिकज्ञानेन बाधितत्त्वात्।

सिद्धान्तेऽस्मिन् भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवहाराभावो दृश्यते, सर्वत्र यथावस्थितार्थगृहीतित्त्वाविशेषात्। किञ्च, विद्युदादिज्ञाने बाध्यबाधकभावो न प्रतीयते, मरीचिकादौ जलज्ञाने तु उत्तरकाले बाध्यबाधकभावो भवति। अन्यथा उत्तरकाले उदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नभूतस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भः स्यात्, न खलु विद्युदादिवदुदकादेरप्याशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते। सर्वज्ञानानां यथार्थविषयत्वाद् भ्रमज्ञानस्याभावो भवेत्।

(5) **सत्ख्यातिः**[7] – विशिष्टाद्वैतवादस्य संस्थापको श्रीरामानुजाचार्यो भ्रमज्ञानस्थले सत्ख्यातिवादं साधयति। तन्मतानुसारेण शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानं न मिथ्या, यतः 'सर्वं सर्वात्मकम्' इति सिद्धान्तदिशा रजतनिर्माणकाः केचन तत्त्वांशाः शुक्तावपि सन्ति। अतो न सर्वथाऽभावो शुक्त्यादिषु रजतादीनाम्। अत्र पञ्चीकरणप्रक्रियामपि प्रमाणरूपेण उपस्थापयत्याचार्यः, नायं सिद्धान्तः तर्कसङ्गतः। एवं सति पयसि क्षीरे च, काञ्चने लौहे च, घटे पटे च, घृते मृत्तिकायाञ्च न कोऽपि भेदः स्यात्। पञ्चीकरणमपि सूक्ष्मभूतानामेव भवति न भौतिकपदार्थानाम्। किञ्च यदि शुक्तिः रजतमप्यस्ति तदा भ्रमे दूरीभूते सति 'शुक्तिरियं नेदं रजतम्' इति ज्ञानं कथं स्यात् ?

(6) **अलौकिकार्थ-ख्यातिः**[8] –यस्यार्थस्य स्वरूपस्य बाह्यरूपेण निरूपणं कर्तुं न शक्यते तस्यार्थस्य

ख्यातिरलौकिकत्वादलौकिकार्थख्यातिः। अस्य मतस्योल्लेखो जैनन्याये वर्तते परन्तु तत्र दर्शनविशेषस्य नामोल्लेखो नास्ति। सिद्धान्तोऽयमविचारितरमणीयं, तत्र अलौकिकत्वं किमपि नास्ति।

(7) **विवेकाख्याति**[9] - (अख्यातिः, स्मृतिप्रमोषः, भेदाग्रहः) प्रभाकरमीमांसकमतानुसारेण भ्रमज्ञानस्थले न भ्रमः, अपितु द्विप्रकारकं ज्ञानं तत्र जायते; एकं तु प्रत्यक्षज्ञानं पुरोवतनो यथार्थस्य शुक्तिपदार्थस्य, द्वितीयं स्मरणरूपं रजतज्ञानम्। एवम् 'इदं रजतम्' इत्यत्र इदमिति प्रत्यक्षज्ञानम्, पूर्वदृष्टरजतसंस्कारजन्यसादृश्यमाश्रित्य जातं शुक्तौ रजतसम्बन्धिज्ञानं स्मृतिमात्रमेव, ज्ञानद्वयस्य कारणविषयभेदोऽपि वर्तते। तद्यथा-प्रत्यक्षज्ञानस्य कारणमिन्द्रियं, स्मरणज्ञानस्य कारणं संस्कार इति। प्रत्यक्षस्य विषयो दृश्यमाना शुक्तिः, स्मरणस्य विषयः पूर्वदृष्टं रजतम्। अतो विषयभेदात् कारणभेदाच्च ज्ञानद्वयं स्वीकरणीयम्। तत्र यथार्थज्ञानस्य स्मृतिस्थरजतस्य च भेदाग्रहादेव शुक्तिः रजतवदावभासते। एवमेतेषां मते शुक्तिरजतयोर्भेदाग्रह एव रजतज्ञाने हेतुः। द्वावपि शुक्तिरजतौ प्राभाकरमते सत्यौ एवाङ्गीकृतौ। यदा भेदग्रहो जायते तदा न शुक्त्यादौ रजतादिज्ञानम्।

'इदं रजतम्' इत्यत्र 'इदम्' हि पुरो व्यवस्थितार्थप्रतिभासनं, 'रजतम् इति सादृश्यादेः कुतश्चिन्निमित्तातु पूर्वावगतरजतस्मरणम्। एतत् स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते। यत्र हि 'स्मरामि इति प्रत्ययस्तत्र न स्मृतिप्रमोषः। स्मृतिप्रमोषस्य कारणं भेदाऽग्रह एव। इन्द्रियादिगतदोषात् सादृश्यादिबलाच्च अतीतरूपेण रजतप्रतिभासो न भवति। जैनन्यायस्य न्यायकुमुदचन्द्रादिग्रन्थेषु 'विवेकाख्यातिः' शब्दस्य प्रयोगो दृश्यते, भेदाऽग्रहाद् विवेकाभावो भवति, तस्मादियं विवेकाख्यातिः। अत्र भेदाग्रहरूपा या कारणता प्रदर्शिता प्रभाकरमीमांसकेन सा नोचिता। प्रभाकरमते विवेकाख्यातिर्न सम्भवति। तत्र हि 'इदम्' इति प्रत्यक्षं, 'रजतम्' इति च स्मरणमिति संवित्तिद्वयम् अन्योन्यभेदग्रहणेनैव संवेद्यते, घटपटादिसंवित्तिवत्। किञ्च, विवेकख्यातेः प्रागभावो विवेकाख्यातिः। न चाभावः प्रभाकरमतेऽस्ति। पुनः कथं विवेकाख्यातिवादः सम्भवति ?

(8) **अनिर्वचनीयख्यातिः**[10] (अनिर्वचनीयार्थख्यातिः)-शङ्कराद्वैतवादिनो भ्रमज्ञाने यत् शुक्तौ रजतमाभासते न तत् सत्, नाऽसत्, नोभयम् अपित्वनिर्वचनीयमिति स्वीकुर्वन्ति। तद्यथा—यो यस्मिन् ज्ञाने प्रतिभाति स तस्य विषयः। प्रातिभासिकरजतस्योत्तरकाले निषेधो दृश्यते। निषेधोऽयं रजतस्य अनिर्वचनीयतामेव प्रकटयति। तदेवानिर्वचनीयं वस्तु यन्न त्रैकालिकं सत्, न च त्रैकालिकमसत्, न वा सदसदुभयम्। शुक्तौ रजतज्ञाने जाते रजतस्य इयमेव स्थितिः-रजतं न स वक्तुं शक्यते भ्रमनिवृत्तौ अनवभासनात्, नासद् भ्रमकालेऽवभासनात्, न चोभयं, सदसदुभयात्मकस्य पदार्थस्य बोधाभावाद् उभयदोषानुषङ्गाच्च। तस्मादयं बुद्धिसंदर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनान्येन वा धर्मान्तरेण वक्तुं न शक्यते, इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिर्सिद्धा।

अनिर्वचनीयख्यातिवादे न केवलं सद्विलक्षणतैव अपेक्ष्यते सा तु असति शशशृङ्गे बन्ध्यापुत्रेऽपि वर्तते; न वा असद्विलक्षणतैव अपेक्ष्यते, सा तु सति परमात्मनि ब्रह्मणि अपि वर्तते। अतः प्रातिभासिकं रजतं व्यावहारिकं जगदिव अनिर्वचनीयं, नान्यत् किञ्चिदिति। न सतो ब्रह्मणो निषेधो युज्यते, न वा असतः शशशृङ्गस्य। परन्तु भ्रमनिवृत्तौ रजतं निषिध्यते। अतो रजतमनिर्वचनीयमिति।

अत्र इदमपि ज्ञेयं यत् सामान्यरूपेण शुक्ति रजतोदाहरणे प्रतिभासिकस्यैव रजतस्य भ्रमनिवृत्तौ बाध उच्यते। वस्तुतस्तु व्यावहारिकस्यैव रजतस्य निषेधो भवति, न प्रातिभासिकस्य। यतो रजतार्थी भ्रमात् शुक्तिं व्यावहारिकं रजतमिति मत्वैव प्रवर्तते, न प्रातिभासिकं रजतं मत्वा। भ्रमनिवृत्तौ नेदं व्यावहारिकं रजतमपितु प्रतिभासिकमिति मन्यते। निषेधस्तु त्रैकालिक एव भवति, नांशिकः, स च व्यावहारिकस्यैव रजतस्य भवितुमर्हति, न प्रातिभासिकस्य। यतः प्रातिभासिकं रजतं तु भ्रमकाले दृश्यत एव। व्यावहारिकं रजतं तु शुक्तौ न कदापि आसीत्, न अस्ति, न च भविष्यति। अतएवोक्तमिष्टिसिद्धिकारेण-'यत् हि यद्रूपं प्रतियोगि न तत् तेनैव रूपेण निषेध्यम्। किन्तु रूपान्तरेण'। इयमेव अनिर्वचनीया ख्यातिः या शुक्त्यादौ रजतादीनाम् अनिर्वाच्या अपि स्थितेनिर्वचनं विधत्त इति। अद्वैतवादसिद्धिं विना न हि एतत् सिद्ध्येत्।

(9) **अन्यथाख्यातिः**[11](विपरीतार्थख्यातिः)-सादृश्यादिकारणसद्भावात् कस्यापि वस्तुनो धर्माणाम् इतरवस्तुनि आरोपोऽन्यथाख्यातिः विपरीतार्थख्यातिर्वा। यथा शुक्तौ रजतधर्माणामारोपोऽन्यथाख्यातिः। अत्र पूर्वदृष्टस्य रजतस्य स्मरणमेव द्रष्टुः नेत्रयोः दूरस्थरजतेन सह सम्बन्धं स्थापयति। एवमिदं रजतमित्यादौ दूरवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्तिना 'इदम्' इत्यनेन सम्बन्ध एव शुक्तौ रजतस्य अन्यथाभ्रमस्य कारणम्।

अत्र रजतविपरीतार्थे शुक्तौ 'इदं रजतम्' इत्याकारकं ज्ञानं विपरीतार्थख्यातिः। ज्ञानेऽस्मिन् शुक्तिरेव ज्ञानस्य

विषयः किन्तु तद्रूपस्यानवधारणात् सादृश्यादिकारणाद् इन्द्रियदोषवशाच्च रजतायाकारेण अध्यवसीयते। बाधोत्तरकालं हि प्रतिसन्धत्ते शुक्तिरियं, न रजतम्, इत्येवं प्रतिभात इति। अतो विपरीतार्थख्यातिरेव आश्रयणीया।

नैयायिकाः, कुमारिलभट्ट-मण्डनादयो मीमांसकाः, जैनाः, निम्बार्कमतानुयायिनः, चैतन्यसम्प्रदायिनश्च अन्यथाख्यातिं विपरीतार्थख्यातिं वा स्वीकुर्वन्ति। तत्र कथञ्चित् प्रकारभेदोऽपि दृश्यते। यथा जैनमते नेदं प्रत्यक्षज्ञानमपितु प्रत्यभिज्ञानम्। किञ्च, अस्य ज्ञानस्यालम्बनं स्मृत्युपस्थापितं रजतमथवा स्वाकारं गुह्य रजताकारं धृतवती शुक्तिरेव। यतो भ्रमकाले शुक्तिगतं त्रिकोणादिकं विशिष्टाकारं न प्रतिभाति, चाकचिक्यादिसाधारणधर्मसद्भावात् पूर्वदृष्टरजतस्मरणं भवति। अतः स्वाकारं गुह्य रजताकारं धृतवती शुक्तिरालम्बनं भवितुमर्हति।

उपसंहारः- एवं प्रकारेण भारतीयदर्शनस्य विविधैस्तत्त्वान्वेषकैः भ्रमज्ञानविषये ये विचाराः प्रकटितास्तेषामनुशीलनेन ज्ञायते यदेषां सर्वेषां वादानां मूले दार्शनिकानां परमतत्त्वसिद्धान्तः कारणरूपेण समुल्लसति। परमतत्त्वानुगामी कारणकार्यसिद्धान्तश्च तत्र हेतुरूपेण कार्यमनुतिष्ठति। तद्यथा-

विज्ञानाद्वैतवादे योगाचारबौद्धमते एकमात्रं विज्ञानं तच्चान्तरमेव सत्, न बाह्यपदार्थस्य तदतिरिक्ता सत्ता वर्तते। अनाद्यविद्यावासनाबलादेव आन्तरं विज्ञानं बाह्यवदावभासते। शुक्ति-रजतादिबाह्यपदार्थानां विज्ञानातिरिक्तास्तित्वाभावाद् भ्रमज्ञाने कथं न सः सिद्धान्तः स्यात्तर्हि तत्र आत्मख्यातिः स्वीकृता। एवमेव शून्याद्वैतवादे 'सर्वं शून्यम्' इति सिद्धान्तादसत्ख्यातिभिप्रेता। शाङ्करसिद्धान्ते एकस्मिन् ब्रह्मणि मायया 'अतस्मिस्तद्बुद्धिः' भवति यथा व्यवहारजगति तथैव भ्रमस्थलेऽपि 'अतस्मिन् (रजतभिन्ने शुक्तिपदार्थे) तद्बुद्धिः (रजतबुद्धिः) भवति। माया खलु सदसदोभयभिन्ना अनिर्वचनीया स्वीकृता, तस्मात् भ्रमज्ञानमपि तथैव अनिर्वचनीयख्यातिरूपमिति। विशिष्टाद्वैतवादे रामानुजमते माया ब्रह्मणः सद्रूपा शक्तिवर्तते, तस्मात् भ्रमज्ञानमपि 'सत्' कथं न स्यात्, जगत्वत्। अतः तत्र सत्ख्यातिरिति। मीमांसकाः स्वतःप्रामाण्यवादिनस्तस्माद् भ्रमज्ञानमपि कथं न स्यात् प्रामाण्यात्मकं, तच्च ज्ञानद्वयस्वीकारे सम्भवति। अतः ते स्मृतिप्रमोषवादिनः। सांख्यसिद्धान्ते सत्कार्यवादः स्वीक्रियते। इदं जगत्प्रकृतेः परिणामो वर्तते। प्रकृतिरेव विभिन्नरूपेण परिणमति, सतो विनाशो न भवति। तस्मात् प्रसिद्धार्थख्यातिरेव वरा तेषाम्। वस्तुवादिन्यायजैनसिद्धान्तेषु विपरीतख्यातिरन्यथाख्याति प्रसिद्धा। आधुनिक वैज्ञानिकदृष्ट्या इयमेव सरणिः श्रेयस्करी। अलौकिकार्थख्यातिवादः चार्वाकानामख्यातिवादश्च न विचारार्हौ।

इदं तु विशेषः, सर्वेषु सिद्धान्तेषु भ्रमज्ञानं प्रति सादृश्यमिन्द्रियगतदोषादयश्च कारणानि। स्मरणमपि तत्र कारणम् अन्यथा पूर्वदृष्टादृष्टपदार्थस्मरणाभावे भ्रमज्ञानोदय एव न स्यात्। एवं सादृश्यादिकारणबलाद् अतस्मिस्तद्बुद्धिरूपं ज्ञानं भ्रमज्ञानमिति दिक्।

सन्दर्भाः -

1. न्यायमुकुन्दचन्द्रः, पृ0 60, प्रमेयकमलमार्तण्डः (जिनमती-संस्करणम्), पृ0 142
2. डा0 राममूति शर्मा, अद्वैतवेदान्त, पृ0 202
3. न्यायकुमुदचन्द्रः, पृ0 60, प्रमेयकमल0 पृ0 144
4. Hiriyanna Introduction to इष्टसिद्धिः; प्रमेयकमलमार्त्तण्डः पृ0 146.
5. प्रमेयकमलमार्त्तण्डः, पृ0 144, न्यायकुमुदचन्द्रः, पृ. 61
6. सांख्यसूत्र 5.56
7. डा0 राममूर्तिशर्मा : वेदान्तदर्शनम्, पृ0 202
8. पं0 कैलाशचन्द्रशास्त्री : जैनन्यायः, पृ0 83
9. जैनन्यायः, पृ0 73, बृहती, पृ0 53-55 प्रमेयकमल0, पृ0 151-152
10. प्रमेयकमलमार्त्तण्डः, पृ0 147, वेदान्तदर्शनम् पृ0 203-204
11. वेदान्तदर्शनम् पृ0 202, प्रमेयकमलमार्त्तण्डः, पृ0 146-149 ।

ब्रह्मवैवर्तपुराणम् : संक्षिप्तः परिचयः

भारतीयवाङ्मये इतिहास-संस्कृति-धर्मकाव्यसाहित्यप्रभृतिदृष्ट्या पुराणानां महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। विषयदृष्ट्या पुराणानि वेदैः सह प्रादुर्भूतानि। यथोक्तमथर्ववेदसंहितायाम्-'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह' (71.7.24) शतपथब्राह्मणेऽपि उक्तम्-'पुराणं वेद'(13.4.3.13) इति। अत्र पुराणशब्दात् विषय विशेषो गृहीतः, न अष्टादशपुराणग्रन्थाः। विषयविशेषः खलु सृष्टि-विवेचनम्, भौतिकविज्ञानस्य रहस्योद्घाटनं, प्राचीनाख्यानानामुपनिबन्धनं च।

पुरा वेदसंहितावत् विपुलकाया पुराणसंहिता आसीत्। भारतीयपरम्परानुसारं पुराणानामाद्यप्रवचनकर्ता ब्रह्मा मन्यते। तदनन्तरं वैदिकयुगीनां पुराणविद्यायाः ज्ञानपरम्परा महर्षिवेदव्यासं प्राप्ता। महर्षिणा वेदव्यासेन वेदसंहितावत् पुराणसंहिता अपि विभक्ता। वेदव्यासेन सूतजातीय-लोमहर्षणशिष्याय पुराणसंहितायाः क्रमबद्धसंहितारूपेण उपदेशः कृतः। लोमहर्षेण तस्य शिष्यपरम्परया च परवर्तिनाम् अष्टादशपुराणानाम् उपपुराणानां च रचना कृता। एवं वेदव्यासो वर्तमानपुराणानां कर्ता स्वीक्रियते। मत्स्य-मार्कण्डेय-भविष्य-भागवत-ब्रह्मब्रह्माण्ड ब्रह्मवैवर्त-वामन-वराह-वायु-विष्णु-अग्नि-नारद-पद्म-लिङ्ग-गरुड कूर्म-स्कन्दपुराणानि अष्टादश। यथोक्तम्-

म-द्वयं भ-द्वयं चैव ब्र-त्रयं व-चतुष्टयम्।
अ-ना-प-लिंग-कू-स्कानि पुराणानि प्रचक्षते।।

कुत्रचित् वायुपुराणस्थाने शिवपुराणमित्यपि मिलति। पुराणानां वर्गीकरणं सात्त्विक-राजस-तामसरूपेणापि क्रियते। यथा विष्णु-नारद-भागवतगरुड-पद्म-वराह पुराणेषु विष्णुर्भगवान् सर्वोत्कृष्टदेवरूपेण स्वीक्रियते, अत एव एतानि षट् सात्त्विक पुराणानि; ब्रह्म-ब्रह्माण्ड-ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेय वामन भविष्यपुराणेषु ब्रह्मा सर्वोत्कृष्टदेवरूपेण प्रख्याप्यते, अत एव एतानि षट् राजसपुराणानि; मत्स्यकूर्मलिङ्गशिव-स्कन्द-अग्निपुराणेषु शिवः सर्वोत्कृष्टदेवरूपेण आराध्यते, अत एव एतानि षट् तामसपुराणानि। इदं वर्गीकरणं न वैज्ञानिकं, यतः सर्वेषु पुराणेषु ईदृशी व्यवस्था न दृश्यते।

पुराणानां रचनाकालविषये नैकमत्यं वर्तते। एतेषां पुराणानां केचिदंशा अतिप्राचीनाः, केचिच्च परवर्तिनः। तत्र ब्रह्मवैवर्तपुराणस्य रचना यद्यपि सप्तशतईसवीये संजाता, परन्तु वर्तमानं रूपं षोडशशताब्दीकालिकं ज्ञायते।

भागवत-विष्णु-नारदपुराणवत् ब्रह्मवैवर्तपुराणमपि वैष्णवधर्मानुकूलं पुराणम्। वैष्णवधर्मे श्रीकृष्णः सर्वोत्कृष्टः। पुराणेऽस्मिन् ब्रह्मवैवर्तपुराणे शक्तिस्वरूपया राधया सहितः श्रीकष्ण एव आराध्यः। श्रीकृष्ण एवं ब्रह्म, नान्यो देवः। विवर्तस्य भावः वैवर्तम्, ब्रह्मणो वैवर्तम् ब्रह्मवैवर्तम्, तदधिकृत्य रचितं पुराणं ब्रह्मवैवर्तपुराणम्।

भागवत-शिवनारद-मत्स्यपुराणानुसारं ब्रह्मवैवर्तपुराणस्य श्लोकसंख्या अष्टादशसहस्रमिती अस्ति। मत्स्यपुराणादिषु अस्य पुराणस्य विषये यद् वर्णनं मिलति तन्न उपलब्धसंस्करणे। ब्रह्मप्रकृति-गणेशकृष्णजन्मभेदेन पुराणमिदं चतुःखण्डेषु विभक्तम्। एषु चतुर्षु खण्डेषु श्रीकृष्ण एव व्याप्तः।

तत्र ब्रह्मखण्डे सृष्टिवर्णनम्, ब्रह्म-परब्रह्मणोः स्वरूपनिरूपणञ्च। सृष्टिवर्णनम् अलौकिकम् अद्भुतम् आकस्मिकञ्च। ब्रह्मशब्दोऽत्र कृष्णवाचकः। यथोक्तं पुराणेऽस्मिन् प्रथमखण्डे -

स चात्मा परम ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।। 1 3.24
कृषिस्तद्भक्तिवचनो नश्च तद्दास्यवाचकः। भक्तिर्दास्यप्रदाता यः स कृष्णः परिकीर्तितः ।। 13.25
कृषिश्च सर्ववचनो नकारो बीजवाचकः। सर्वबीजं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।। 13 26
सः कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षुरेक एव च। सृष्ट्युन्मुखस्तदंशेन कालेन प्रेरितः प्रभुः ।। 13.29
स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।। स्त्रीरूपा वामभागांशा दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।। 13.29

एवमिदं ब्रह्मवैवर्तपुराणं वस्तुतः श्रीकृष्णवैवर्तपुराणमिति। तस्यैव विवर्तो जगत्, यथोक्तं प्रकृतिखण्डे प्रकृतिस्वरूपम् -

त्रिगुणात्मकस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता। प्रधानसृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।। 12.1
सा च ब्रह्मस्वरूपा च माया नित्यसनातनी। यथात्मा च यथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्मृता॥ 12.9

अत एव हि योगीन्द्र स्त्रीपुंभेदेन मन्यते। सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् पश्यति नारद।। 12.10

एवं द्वितीये प्रकृतिखण्डे प्रकृतेः स्वरूपं निरूप्य देवदेव्युत्पत्तिः निरूपिता वर्तते। ब्रह्मा-विष्णु-महेश अग्नि-वरुण-वायुप्रभृतिदेवानां, दुर्गा-लक्ष्मी-सरस्वतीसावित्रीप्रभृतिदेवीनामुत्पत्तिः श्रीकृष्णादेशात् तच्छरीराद् भवति। राधा तु श्रीकृष्णस्य वामांशरूपा एव। सर्वप्रथमं तु सैव जायते। तज्जातायां सत्यां निराकारब्रह्म साकारतां याति। तदनन्तरमेव रासलीला सङ्गच्छते। अस्मिन्नेव खण्डे गङ्गा-सावित्री-लक्ष्मी-स्वाहा-स्वधा-राधिका-दुर्गाप्रभृत्युपाख्यानानि सन्ति। शिवशङ्खचूड-युद्धम्, श्रीकृष्णगुणकीर्तनम्, कर्मविपाकः, इन्द्रं प्रति दुर्वाससः शापः, राज्ञसुरथस्य वैश्यसमाधेश्च वृत्तान्तः, तुलसीवृक्षस्य तत्पत्राणाञ्च माहात्म्यमपि अस्ति। श्रीकृष्णकृतदुर्गास्तोत्रमपि अस्य खण्डस्य अन्तिमे भागे वर्तते।

तृतीये गणेशखण्डे गणपति गणेशदेवस्य आख्यानम् अस्ति। अत्र गणेशः श्रीकृष्णावताररूपेण चित्रितः। अस्मिन् खण्डे गणेशस्य जन्मविषयको विचारः, पार्वतीं प्रति हरिव्रतकरणाय शिवस्योपदेशः, स्तवप्रीतेन कृष्णेन पार्वत्यै निजरूपप्रदर्शनं वरप्रदानञ्च, गणेशमस्तके गजमुखयोजनहेतुकथनम्, गणेशस्य एकदन्तत्त्वे विवरणं, परशुरामस्य राजसमीपं दूतप्रेषणम् चास्ति। गणेशस्य एकदन्तत्त्वे कारणं यथा-

एकदा परशुरामः क्षत्रियान् विजित्य शिवपार्वत्योः दर्शनार्थं गतः, तदा श्रीगणेशेन द्वारे वारितोऽसौ। कथितञ्च श्रीगणेशेन-

क्षणं तिष्ठ क्षणं तिष्ठ शृणु भ्रातरिदं वचः। रहःस्थलनियुक्तो न द्रष्टव्यः स्त्रीयुतः पुमान्।। 57.4

श्रीगणेशस्य एतद्वचनं श्रुत्वा रागतः परशुहस्तः परशुरामो निर्भयं गन्तुमद्यतः। श्रीगणेशकृतं मार्गावरोधं वीक्ष्य परशुरामेण परशुः श्रीगणेशं प्रति चालितः। तेन परशुना श्रीगणेशस्य एकदन्तक्षयो जातः यथोक्तम् -

पितुरव्यर्थमस्त्रञ्च दृष्ट्वा गणपतिः स्वयम्। जग्राह वामदन्तेन नास्त्रं व्यर्थञ्चकार ह ।। 57.35
निपत्य पशुवेगेन छित्त्वा दन्तं समूलकम्। जगाम रामहस्तञ्च महादेवबलेन च।। 57.36

गजाननस्य कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणे अभिनवकल्पनाप्रसूता दृश्यते । यथा-

पारिजातप्रसूनं यद्दत्तं नारायणेन वै। तच्च दत्तं महेन्द्राय मुनीन्द्रेण महात्मना ।। 53.20
सर्वविघ्नहरं पुष्पं नारायणनिवेदितम्। मूर्ध्नीदं यस्य देवेन्द्र जयस्तस्यैव सर्वतः।। 53.22
ज्ञानेन तेजसा बुद्ध्या विक्रमेण बलेन च। सर्वदेवाधिकः श्रीमान् हरितुल्यपराक्रमः ।। 53.24
शक्रो रम्भान्तिके पुष्पं संस्थाप्य गजमस्तके। शक्रो भ्रष्टश्रियं दृष्ट्वा सा जगाम सुरालयम्।। 5326
हरिस्तन्मस्तकं छित्त्वा युयोज तेन बालके।। 53 29

चतुर्थे करुणजन्मखण्डे कृष्णस्य जन्मना सह युद्धविजयस्य रासलीलायाश्च सरसं वर्णनमस्ति। राधा अत्र कृष्णस्य अभिन्न शक्तिरूपेण, उपस्थिता। यद्यपि विष्णुपुराणेऽपि कृष्णस्य जीवनं चित्रितं तथा गोपीभिः सह कृष्णस्य रासलीलाया अपि विस्तरेण वर्णनमस्ति, तथापि तत्र राधायाः नामोल्लेखो नास्ति। ब्रह्मवैवर्तपुराणे सैव सर्वत्र व्याप्ता, सर्वदेवदेवीभ्यः सर्वोत्कृष्टा दृश्यते च। पुराणेऽस्मिन् तस्याः साकाररूपं वर्णितं, भक्तिमार्गीयसिद्धान्तानुसारम् आध्यात्मिकं रूपं च प्रदत्तम्। रासविलासप्रसङ्गे यद्यपि लौकिकजारवत् शृङ्गारस्य पराकाष्ठा चित्रिता, तथापि विचारकाले 'सा परमेश्वरस्य निराकारा शक्तिः एतस्मात् कारणात् तयोः रासलीला न भौतिकी, अपितु अद्वैततत्त्वनिरूपिका। यथा राधाकृष्णयोः रासलीला -

कटाक्षकामबाणैश्च विद्धः क्रीडारसोन्मुखः। मूर्च्छां प्राप्य न पपात न तस्थौ स्थाणुसमो हरिः॥ 74.62
क्षणेन चेतनां प्राप्य ययौ राधान्तिकं मुदा।। कृत्वा वक्षसि तां प्रीत्या समाश्लिष्य चुचुम्ब सः।। 64
मनो जहार राधायाः कृष्णस्तस्य च सा मुने। जगाम राधया सार्धं रसिको रतिमन्दिरम्।। 66

परमेश्वरादभिन्ना राधादयो, यथा-

एतस्मिन्नन्तरे दुर्गे द्विधारूपो बभूव सः। दक्षिणाङ्गश्च श्रीकृष्णो वामार्द्धाङ्गश्च राधिका।। 39. 21
बभूव गोपीसङ्घश्च राधाया लोमकूपतः। श्रीकृष्णलोमकूपेभ्यः बभूवुः सर्ववल्लभाः।। 39.29

राधाशब्दस्य व्याख्याऽपि एतस्मिन् प्रसङ्गे द्रष्टव्या-

रा-शब्दोच्चारणाद् भक्तो, याति मुक्तिं सुदुर्लभाम्। धा-शब्दोच्चारणाद् दुर्गे धावत्येव हरेः पदम् ।।29.26
रा- इत्यादानवचनो धा च निर्वाणवाचक। ततोऽवाप्नोति मुक्तिञ्च सा च राधा प्रकीर्तिता।। 26.28

अस्मिन् खण्डे केचित् वर्णित विषयाः, यथा-श्रीकृष्णजन्मपूर्वोपक्रमः, पूतनामोक्षः, श्रीकृष्णस्य बाललीला, विवाहः, गोपीवस्त्रापहरणं, जयदुर्गाव्रतकथनम्, इन्द्रयागवर्णनम्, श्रीकृष्णप्रभावकथनम्, रुक्मिणीविवाहे युद्धम्, वाणासुर-

युद्धम्, रासक्रीडा, गोलोकगमनम्, पुराणपठनश्रवणादिमाहात्म्यम्।

इत्थं ब्रह्मवैवर्तपुराणम् अष्टादशपुराणेषु प्रायः सर्ग-प्रतिसर्गप्रभृतिपञ्चपुराणविषयाणां प्रमुखरूपेण वर्णनं मिलति, परन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराणे सृष्टेरुत्पत्तिविषये किञ्चिदुक्त्वा पुराणकारः कथा-उपासनासाधनाप्रभृतीन् विषयान् अभिनवरूपेण चमत्कारपूर्णया अलङ्कारिकशैल्या प्रतिपादयति।

अन्यपुराणापेक्षया भिन्नताया प्रवृत्तिः ब्रह्मवैवर्तपुराणे न केवलं राधावर्णनप्रसङ्गे दृश्यते, अपि तु अन्यासु कथासु अपि अवलोक्यते। यथा-पूतनाया निन्दा सर्वत्र मिलति, परन्तु न तथा अत्र, अपितु कृष्णप्रेमवशादेव तथा तथाचरणं कृतम्। पूर्वजन्मनि सा बलिराजस्य कन्या रत्नमाला आसीत्। यथोक्तम् -

बलियज्ञे वामनस्य दृष्ट्वा रूपं मनोहरम्। बलिकन्या रत्नमाला पुत्रस्नेहं चकार तम्।। 64.41
मनसा मानसं चक्रे पुत्रस्य सदृशो मम। भवेद् यदि स्तनं दत्त्वा करोमि तञ्च वक्षसि।। 64.42
हरिस्तन्मानसं ज्ञात्वा पपौ जन्मान्तरे स्तनम्। ददौ मातृगति तस्यै कामपूरः कृपानिधिः।। 64.43
दत्वा विषस्तनं कृष्णं पूतना राक्षसी मुने। भक्त्या मातृगतिं प्राप कं भजामि विना हरिम्॥ 64. 44

एवमेव मथुरायां वृद्धा कुब्जा श्रीकृष्णस्य दृष्टिपातमात्रेण द्वादशवर्षीया मनोहरा कन्या संजाता। श्रीकृष्णस्य अन्तिमकालस्य वृत्तान्तमपि भिन्नमेव। गणेशखण्डे आगता गणेशजन्मकथा अपि अपूर्वा श्रुतिवेदसुदुर्लभा च। अत एव सर्वत्र विचारपूर्वका अर्थसङ्गतिः करणीया। अन्यथा अतत्त्वश्रद्धानं भविष्यति। पुराणमिदं सर्वेषु पुराणेषु सारभूतं, वेदसम्मतं, कल्पवृक्षरूपं, सर्वतत्त्वज्ञानविवर्द्धकं भक्तिप्रदं चोपवर्णितं पुराणकारेण। यथोक्तम्-

सारभूतं पुराणेषु ब्रह्मवैवर्तमुत्तमम्। पुराणोपपुराणानां वेदानां भ्रमभञ्जनम्।।
हरिभक्तिप्रदं सर्वतत्त्वज्ञानविवर्द्धनम्। कामिनां कामदं चेदं मुमुक्षूणाञ्च मोक्षदम्।
भक्तिप्रदं वैष्णवानां, कल्पवृक्षस्वरूपकम्।। 1.39-41॥ इति।।

स्वरूपसम्बोधनदेशनायाः परिशीलनम्

आगमानुसारमध्यात्मरहस्य प्रकाशकं कालजयीपञ्चविंशति पद्यात्मकं स्वरूपसम्बोधननामकं शास्त्रं स्वानुभूत्या जनकल्याणार्थं जैनदर्शनस्य प्राणभूतमनेकान्तसिद्धान्त-प्रख्यापनार्थञ्च परमपूज्य-न्यायचूडामण्याचार्य-भट्टाकलङ्कदेवेन विरचितं सप्तमशताब्दौ ख्रिष्टाब्दस्य। तस्य महत्त्वमवलोक्य सत्यान्वेषिणा न्यायशास्त्रविशारदेन अध्यात्मरसपानलोलुपेन विमलविरागविशुद्धेन श्री १०८ आचार्यविशुद्धसागरेण सरलरीत्या तस्य गूढरहस्यं स्वकीयेन परिशीलनेन सम्यगुद्घाटितम्।

निजात्मनि परस्परविरोधीगुणानामविरोधेन अपेक्षाभेदात् स्थितिः कथं भवतीति ग्रन्थेऽस्मिन् निजात्मतत्त्वस्य प्ररूपणम्। यथा - सः चिदानन्दैकस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तः, ग्राह्याग्राह्यः, अनाद्यनन्तः, एकानेकः, चिदाचिद्स्वरूपः, वक्तव्यावक्तव्यः, स्वदेहप्रमाणः सर्वगतः, ज्ञानाद्भिन्नाभिन्नः प्रभृतयः।

मूलग्रन्थकारः भट्टाकलङ्कः

आचार्यभट्टाकलङ्कस्य भाषाशैली पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यवत् भर्तृहरिकृत-वाक्यपदीयवत् अतिगम्भीरा वर्तते। पं. कैलाशचन्द्रशास्त्रिणा अस्य जन्मसमयः ६२०-६८० ईसवीयः निर्धारितः किन्तु पं. महेन्द्रकुमारन्यायाचार्येण तु ७२०-७८० सुनिश्चितः।

जैनपरम्परायां जैनन्याय-संस्थापकरूपेण समन्तभद्राचार्यः ख्यातः तदनन्तरं भट्टाकलङ्काचार्यः जगति प्रति-प्रतिष्ठापकः। कौटिल्यमतेन न्यायविद्या सर्वविद्यानां प्रदीपतुल्या अस्ति। सा च धर्म-संस्थापनाय आधारभूता। न्यायविद्या, हेतुविद्या, प्रमाणविद्या, तर्कविद्या, आन्वीक्षिकीविद्या इति पर्यायार्थाः। मल्लिषेण-प्रशस्त्यनुसारेण एकदा भट्टाकलङ्केन न्यायशास्त्रविशारदाः सर्वे बौद्धपण्डिताः जैनन्यायविद्यया पराजिताः राष्ट्रकूटवंशीय-साहस्रतुंग-सभायाम् (अन्यत्र कलिङ्गदेशस्य रत्नसंयपुरस्य राज्ञः हिमशीतलसभायां लिखितम्।) एकदा शास्त्रार्थसभायां बौद्धपण्डिताः गोपनीयरूपेण तारादेवीमाराध्य तां च घटे संस्थाप्य तन्मुखेन भट्टाकलङ्कस्य प्रश्नानानामुत्तराणि ददति स्म। एकरात्रौ कूष्माण्डिनी देवी भट्टाकलङ्कस्य स्वप्ने आगत्य रहस्यमुद्घाटितवती, तदा अन्येद्युः भट्टाकलङ्केन तारादेवीस्थं घटं प्रस्फोट्य विजयश्रीलब्धा। प्रकुपितैः बौद्धपण्डितैः भट्टाकलङ्कस्य हत्या करणाय सैनिकाः प्रेषिताः, तेषामाक्रमणं विलोक्य निकलङ्कः भ्रातुरकलङ्कस्य प्राणरक्षणार्थं जैनधर्मस्य संस्थापनार्थञ्च बौद्धसैनिकैः सह युद्धं कृत्वा दिवङ्गतः। विस्तृतघटनावलोकनार्थं श्रीनेमिदत्तस्य आराधनाकोषो द्रष्टव्यः।

राजावलिकथेग्रन्थे काञ्चीनगरस्थ-जिनदास-ब्राह्मणपुत्रः कथितः। तत्त्वार्थवार्तिकस्य प्रशस्त्यनुसारेण लघुहव्यनृपतिपुत्रः प्रतीयते।

बौद्धधर्मस्य समृद्धिकाले मान्यखेटस्य राजा शुभतुंग आसीत्। तस्य मन्त्री पुरुषोत्तमः तथा तस्य भार्या पद्मावती आसीत्। बालब्रह्मचारी अकलङ्क-निकलङ्कनामकौ द्वौ पुत्रौ आस्तां तयोः।

अन्या कथा-

प्रभाचन्द्राचार्यरचितकथाकोषे लिखितं यत् एकदा अष्टाह्निकापर्वे १०८ श्री रविगुप्तमुनिराजसमक्षं अष्टदिवसपर्यन्तं ब्रह्मचर्यव्रतं स्वीकृतं ताभ्याम्। परन्तु तदा समयसीमा नोक्ता, अतः विवाहं कृत्वा आजन्मब्रह्मचर्यव्रतं धारयति निकलङ्केन सह। तदनन्तरं महाबोधिविद्यालयं गत्वा बौद्धन्यायाध्ययने तौ संलग्नौ। एकदा लिपिदोषात् सप्तभङ्गीन्यायस्य व्याख्या कर्तुमशक्तस्य गुरोः बर्हिगते सति अकलङ्कः सप्तभङ्गीपाठं संशोधितवान्। गुरुः तौ जैनं विदित्वा कारागारे प्रक्षिप्तवान्। येन केन प्रकारेण तौ कारागारात् बहिरागतौ। तदा बौद्धसैनिकैः प्राणरक्षणार्थं सरोवरे प्रविष्टौ परन्तु रजकमेवाकलङ्क इति मत्वा रजकेन सह निकलङ्कं हतवान्। पश्चाद् अकलङ्कः बहिरागत् जैनन्यायस्य पताकां प्रसारितवान्। श्रीविद्यानन्दस्वामिना सः 'शास्त्रार्थविशारद-सकलतार्किकचूडामणिरकलङ्कः' निगदितः। कविधनञ्जयेन स्वनाममालायां लिखितम् -

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

रचितग्रन्थाः -

भट्टाकलङ्केन लिखिताः ग्रन्थाः अधोलिखिताः सर्वे खलु संस्कृतभाषायामुपनिबद्धाः तर्कशैलीप्रधानाश्च -

(क) स्वतंत्रग्रन्थाः - (1) स्वोपज्ञवृत्तिसहितः लघीयस्त्रयः (अत्र त्रयः ग्रन्थाः समाविष्टाः- प्रमाणप्रवेशः, नयप्रवेशः, निक्षेपप्रवेशश्च) (2) विवृत्तिसहितः न्यायविनिश्चयः (अत्र त्रयः प्रस्तावाः प्रत्यक्ष-अनुमान-प्रवचन इति) (3) विवृत्तिसहितः सिद्धविनिश्चयः (अत्र द्वादश-प्रस्तावाः) (4) विवृत्तिसहितः प्रमाणसंग्रहः (अत्र नवप्रस्तावाः)

(ख) टीकाग्रन्थाः - (5) सभाष्यतत्त्वार्थवार्त्तिकः राजवार्तिको वा। (उमास्वाम्याचार्यकृत-तत्त्वार्थसूत्रस्य टीका, दशाध्यायात्मिका), (6) अष्टशती देवागमविवृत्तिः वा (समन्तभद्रकृत-आप्तमीमांसायाः टीका, आचार्यविद्यान्दकृत-अष्टसहस्त्रीटीका आदि। आप्तमीमासायाः प्रसिद्धा। तत्र अष्टशती समाविष्टा। अष्टशत (८००) श्लोकपरिमितत्त्वात् अष्टशती निगदिता।

(ग) अन्यग्रन्थाः - (7) स्वरूपसम्बोधनम् (न्यायमिश्रित विवेच्य अध्यात्मग्रन्थः), (8) न्यायचूलिका, (9) बृहत्त्रयम्, (10) अकलङ्कस्त्रोत्रम्

आचार्य- श्रीविशुद्धसागरस्य देशनाकारस्य संक्षिप्त-जीवनपरिचयः

सर्वेषु साधुषु लोकप्रियः दिगम्बराचार्यः श्री १०८ विशुद्धसागरः। तत्र अन्तःकरणस्य निर्मलता, चारित्रस्य शुद्धता, वचनेषु मधुरता-सरलता-निर्भीकता, निःसङ्गतः, निश्चलता, निष्कलुषता आत्म-ध्यानसंलीनता प्रभृतिगुणगणाः अहमहमिकया सुशोभन्ते। सूर्यवदेतेषां सान्निध्यमात्रेण भक्तजनहृदयकमलानि विकसन्ति। अनादिकालात् संलिप्तकर्मकलङ्कमलीमसं आत्मशोधने निपुणः। समीचीनतर्कशास्त्रविशारदः, आत्मज्ञः, वात्सल्यप्रभृतिगुणसंपूरितः। अनेकान्तवादस्य स्याद्वादस्य च सम्यग्-दिग्दर्शकः-आत्मानात्मभेदकः विवेकपूर्वक-एकान्तनिश्चयः- व्यवहारोभयपक्षमाश्रित्या नेकान्तसिद्धान्तप्रतिपादकः, जीवने प्रतिदिनघटितसर्वजनसुलभघटनाप्रसङ्गमाध्यमेन विषयप्रतिपादने निपुणः। अध्यात्मसमयसारस्य विशुद्धदेशनामाध्यमेन रहस्योद्घाटकः। मोक्षप्रापक सम्यग् रत्नत्रयमार्गारूढः। शब्दब्रह्मव्याजेन आत्मब्रह्मानन्दप्रदायकः। भूतार्थाः भूतार्थवाद-विवादस्य सम्यक्-समन्वयकर्त्ता जैन-जैनेतर-शास्त्राणि सम्यगालोड्य परिष्कृतनवनीतस्य आविष्कर्त्ता, आधुनिकवैज्ञानिकधिया अध्यात्मविद्याप्रदर्शकः, मनोविज्ञान-भाषाविज्ञान-चिकित्साविज्ञान-ध्यानविज्ञान-ज्योतिषविज्ञानप्रभृतिविषयेषु अप्रतिहतगतियुक्तः आचार्यश्रीविशुद्धसागरः जम्बूद्वीपस्य भरतक्षेत्रे, भारतदेशस्य मध्यप्रदेशे भिण्डमण्डलस्थरूरग्रामे १८-१२-१९७१ ईशवीये अवतरितः। स्वजन्मना स्वपितरौ (श्रीरामनारायणः समाधिस्थः मुनिश्रीविश्वजीतसागरः, श्रीमती रत्तीबाई च) अलंकृतवन्तः। श्रीराजेन्द्रनाम्नाख्यातेन अनेन २१-११-१९९१ ईशवीये विंशतिवर्षे युवावस्थायाः प्रारम्भकाले एव आचार्य विरागसागरात् मुनिदीक्षां गृहीत्वा ३१-११-२००७ (सपाद पञ्चदशवर्षानन्तरम्) ईशवीये तीर्थङ्करमहावीर जयन्त्यवसरे औरंगाबादे महाराष्ट्रप्रान्ते अल्पे वयसि एव आचार्यपदमलंकृतम्। ज्ञानीजनानां मध्ये विशुद्धात्मदेशनां प्रसारयन् तेन बहवः ग्रन्थाः विरचिताः। यथा- 1. शुद्धात्मतरंगिणी (हिन्दी-अंग्रेजी-मराठी अनुवादः), 2. निजानुभवतरंगिणी (हिन्दीमराठी

अनुवादः), 3. स्वानुभावतरंगिणी, 4. पञ्चशीलसिद्धान्तः, 5. आत्मबोधः, 6. प्रेक्षादेशना (वारसाणुपेक्खा), 7. पुरुषार्थदेशना, 8. तत्त्वदेशना (तत्त्वसारः)(हिन्दीमराठी अनुवादः) 9. आत्मबोधः,10. शुद्धात्मकाव्यतरंगिणी, 11. प्रकृष्टदेशना (प्रवचनसारः) 12. अध्यात्मदेशना (योगसारः), 13. इष्टोपदेशभाष्यः, 14. बोधिसंचयः, 15. समाधितन्त्रानुशीलनम्, 16. स्वरूपसंबोधनपरिशीलनम्, 17. श्रवणधर्मदेशना, 18. सर्वोदयीदेशना, 19. अर्हत्सूत्रम्, 20. अमृतबिन्दुः, 21. शुद्धात्मकाव्याञ्जलिः, 22. समयदेशना, 23. नियमदेशना, 24. सद्देशना इत्यादयः बहवः ग्रन्थाः।

दीक्षितशिष्याः - 1. मुनिश्री 108 मनोज्ञसागरः, 2. प्रमेयसागरः, 3. प्रशमसागरः, 4. प्रत्यक्षसागरः, 5. सुप्रभसागरः, 6. सुव्रतसागरः, 7. सुयशसागरः, 8. अनुत्तरसागरः, 9. अनुपमसागरः, 10. अरिजित् सागरः, 11. आदित्यसागरः, 12. अप्रमितसागरः, 13. आस्तिक्यसागरः, 14. आराध्यसागरः, 15. प्रमेयसागरः, 16. प्रणीतसागरः, 17. प्रणवसागरः, 18. प्रणतसागरः, 19. प्रणुतसागरः प्रभृतयः।

मदीय सातिशयपुण्यवशादेव गुरुणा अस्य संस्कृतानुवादकरणार्थं मां नियोजितम्। अज्ञोऽस्मि अहं तथापि गुरुरादेशात् कृतमिदम्। अत्र गुरुकृपा एव बलवती भूत्वा नर्तते।

स्वरूपसम्बोधनस्य संक्षिप्तविषयपरिचयः

आर्षपरम्परानुसारं मंगलं विधाय परमात्मानं नमस्कृत्य च विदधाति आत्मनः स्वरूपम्। सम्पूर्णे ग्रन्थेऽस्मिन् तर्कभूषितप्रज्ञया मिथ्यैकान्तग्रहग्रसितान् जनान् सम्यक् प्रतिबोधयन्त्याचार्यः भट्टाकलङ्कः श्लोकक्रमेण विषयपरिचयः अधोलिखितः -

1. मुक्तामुक्तैकरूपः परमात्मा - सर्वकर्मसम्बन्धरहित्वात् मुक्तः। ज्ञानादिगुणसहितत्त्वाद् अमुक्तः परमात्मा।
यदि सर्वथा मुक्त एव स्यात्तर्हि तत्र ज्ञान- सुखादिगुणानामपि अभावः स्यात् न्यायवैशेषिकदर्शनवत्। यदि सर्वथा अमुक्तः स्यात्तर्हि जीवात्मा कर्मबद्धत्वात् कदापि मोक्षं न प्राप्स्यति,एवं मोक्षस्य अभावो भवेत्। प्रदीपस्य प्रकाश-प्रतापवद् युगपत् मुक्तामुक्तः परमात्मा। दग्धबीजवत् कर्मनाशः अनन्त-अक्षयज्ञानादिगुणोद्यतश्च युगपद् भवति,न क्रमेण। एवं विद्यस्य अक्षय ज्ञानरूपं परमात्मानं नमति ग्रन्थकारः। विरोधाभासालंकारमुखेन स्याद्वादमुखेन वा अपेक्षामुखेन वा परमात्मनि मुक्तामुक्तत्वोभयस्य स्थितिः सम्यगेव, तत्र नास्ति कोऽपि विरोधः संशयो वा।

2. सोपयोगोऽयमात्मा, ग्राह्योऽग्राह्यानाद्यन्तः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः- टंकोत्कीर्णज्ञायकस्वभावी आत्मा मुक्तावस्थायां संसारावस्थायाञ्च त्रैकालिकचैतन्यस्वभावत्वाद् ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। काणसदृशं कार्यं भवति इति नियमात् क्रमाद्धेतुफलावहः, उपादानकारणमेव कार्यरूपेण परिणमति। यो परिणमति सः कर्त्ता। संसारदशायां द्रव्यभावकर्मसम्बन्धरूप-निमित्तकारणवशाद् भेदज्ञानाभावात् संसारसागरे परिभ्रमति आत्मा। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकाषाययोगाः बन्धहेतवः। एतेषां बन्धहेतवानामभवात् निर्वाणरूपफलप्राप्तिर्भवतीति समयसारः।

ग्राह्योऽग्राह्याश्चात्मा - अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण केवलज्ञानेन अनुभवगम्योऽयमात्मा ग्राह्यः, पर्यायरूपेणोत्पत्तिविनाशो भवति। इन्द्रियगम्यत्वाभावाद् अग्राह्यः।

अनाद्यनन्तः- अनादि-अनन्तरूप-आत्मा सप्रतिपक्षत्वात् तत्त्वस्य। द्रव्यापेक्षया वस्तुनः कदापि विनाशो न भवति। यथोक्तम् - 'सद्-द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' (त.सू.5.29)। किञ्च, पंचास्तिकाये-भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। गुणपज्जयेसु भावा उपपाद-वए पकुव्वंति।। 15

स्थित्युपत्तिव्ययात्मकः - द्रव्यापेक्षया नोत्पादो भवति, न च व्ययः परन्तु पर्यायापेक्षया प्रतिक्षणं उत्पादव्ययोभयात्मकः। यथा स्वर्णत्वरूपेण नित्यत्वेऽपि स्वर्णे, कट-कुंडलादिपर्यायेण अनित्यता तत्र।

3. चेतनाचेतनात्मकः - आत्मनि प्रेमयत्व- अगुरुलघुत्वप्रदेशत्व-चेतनत्व-अचेतनत्व-मूर्तत्व-अमूर्तत्व-अस्तित्त्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वमिति सामान्यदशगुणाः। एतेषु अचेतनत्वं मूर्तत्वञ्च विहाय शेषा अष्टगुणाः सर्वेषु जीवेषु वर्तन्ते सदा। संसारदशायां कर्मबन्धापेक्षया आत्मनि अचेतनता मूर्तता च संघटते परन्तु स्व-स्वभावापेक्षया चेतनोऽयमात्मा अमूर्तश्च सदा। यथोक्तं तत्त्वार्थसूत्रे - '**अर्पितानपितसिद्धे**' सूत्रानुसारेणोभयत्वमात्मनि अन्यथा बद्ध-मुक्तव्यवस्था न स्यात्। यथोक्तं द्रव्यसंग्रहे-

वण्ण-रस-पंचगंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो।। गाथा-7

व्यवहारेण असद्भूतव्यवहारानयेन इति।

4. पूर्वापरीभूतज्ञानरूपात्मा न ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नः - न्यायवैशेषिकदर्शनानुसारं ज्ञानगुणादात्मा भिन्नः, तयोः गुण-

गुणिनो समवायसम्बन्धत्वादैक्यं प्रतीयते, न वस्तुतः ऐक्यम्। वेदान्तदर्शनानुसारं ज्ञानात्मनोरैक्यमस्ति अभेद-तादात्म्यसम्बन्धात्। जैनदर्शनानुसारं गुणगुणिनोरयुतसिद्धत्वाद् आत्मा ज्ञानगुणाद् सर्वथा भिन्नो नास्ति न चाभिन्नः। ज्ञानस्य आत्मना सह पूर्वापरीभावेरभेदस्वभावो वा। संज्ञादिनामभेदतः (गुण-गुणिनो भेदतः) तयोः नानात्वं भिन्नत्वम् चापि)। यथोक्तम् आप्तमीमांसायाम् - संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः। प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा।। 72

आत्मा ज्ञानाद् सर्वथा भिन्नः स्यात्तर्हि पुद्गलवत् अचेतनो भवेत्। यदि अभिन्न एव स्यात्तर्हि गुण-गुणिनो व्यवहारः कथं भवेत्। अतः पूर्वापरीभूतज्ञानरूपात्मा कथञ्चिद् ज्ञानाद् अभिन्नः, कथञ्चिद् भिन्नः स्वीकार्यः।

5. आत्मा स्वदेहप्रमितः, सर्वथा न ज्ञानमात्रः न सर्वगतः न च विश्वव्यापी- जैनदर्शनानुसारमात्मा व्यवहारनयापेक्षया असमुद्धातदशायां स्वदेहप्रमाणमस्ति। सप्रविधसमुद्धातदशायां तु स्वदेहमपरित्यज्य देहाद्बहिर्गच्छति आत्मा। निश्चयनयापेक्षया असंख्यातप्रदेशत्वाद् लोकप्रमाणम्। व्यवहारनयेन स्वदेहमपरित्यज्य केवलज्ञानापेक्षया लोकालोकं जानाति, निश्चयनयेन स्व-स्वरूपं जानाति। अर्थात् व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया आत्मानि सर्वगतत्त्वमस्ति, वेदान्तदर्शनवत् प्रदेशापेक्षया न सर्वगतत्त्वम्। आत्मा खलु ज्ञानप्रमाणम्, ज्ञेयं लोकालोकम्। यथोक्तं कुन्दकुन्दाचार्येण प्रवचनसारस्य ज्ञानतत्त्वाधिकारे-

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं। णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।

त्रयोदशगुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी लोकपूरणसमुद्घातकाले विश्वव्यापी (लोकाकाशव्यापी) भवति, न सर्वदा, एतत् सर्वं नयापेक्षया संघटते। एवमेव आत्मा न ज्ञानमात्रः, अन्यथा गुण-गुणिनो भेदाभावो भवेत्।

6. एकानेकात्मकः - व्यवहारनयेन संसारी-जीवनाम् अनेकविधज्ञानस्वभावत्वादनेकात्मकः निश्चयेन चेतनैकस्वभावात्वादेकः। अतः अपेक्षावशाद् आत्मा एकानेकात्मकरूपः। वेदान्तदर्शनवदेकत्वं नास्ति अपितु प्रत्येक जीवानामात्मा पृथक्-पृथक् अस्ति, तत्र सर्वदा चेतनतायाभावाभावाद् एकत्वमुक्तम्। सर्वे खलु जीवाः परमात्मस्वरूपाः निश्चयेन तत्र नास्ति कोऽपि भेदः। भेदेऽपि तत्र नास्ति दास्यादिभावः (स्व-स्वामिभावः, पूज्य-पूजकभावः)। यथोक्तं देवस्वामिना आलापपद्धतौ -

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः। एकस्याप्येनक-स्वभावोपलम्भादनेक-स्वभावः।। 110-111

तथा चोक्तं समन्तभद्राचार्येण आप्तमीमांसायाम् -

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्। प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारदैः।। 23

अर्थात् नयविशारदैः विरोधे सति सर्वत्र नयभङ्गिनी-प्रक्रिया योज्या।

7. वाच्यावाच्यः वक्तव्यावक्तव्यः - स्व-स्वरूपापेक्षया आत्मा वाच्यः वक्तव्यः, परन्तु परभावापेक्षया निर्वाच्योऽवक्तव्यश्च। एकान्तत आत्मा सर्वथा नावक्तव्यः न च वक्तव्यः। व्यवहारनयेन वाण्यापेक्षया वाच्यः। कथनं शब्दाश्रितं, शब्दाश्च पुद्गलपर्यायाः, पर्यायाः परिणमनशीलाः। अनुभूतिस्तु आत्माश्रितः। शब्देषु नैतादृशि शक्तिः यया आत्मानुभवो वचनविषयो भवेत्। आत्मानुभवः शब्दैरगोचरः निर्विकल्परूपश्च। यदा आत्मा कर्माधीनो भवति तदा रागादिकषायवेदनं पराश्रितं भवति परन्तु रागादिशून्यदशायां स्वाश्रितत्त्वात् स्वसंवेदनमवाच्यम्, वचनव्यापारशून्यम्।

यत्र सद्रूपता तत्रैव वाच्यवाचकभावः। स्वचतुष्टये (स्वद्रव्यक्षेत्र-काल-भावे सति) सद्रूपता भवति। परचतुष्टये कथं वाच्यवाचकभावः ? एवमात्मा कथञ्चिद् वाच्यः कथञ्चिदवाच्यः, अनेकान्तरूपत्वात्।

8. विधिरूपः-निषेधरूपः मूर्तिकामूर्तिकरूपाश्च - स्वधर्मापेक्षया (स्वद्रव्यक्षेत्र-काल-भावापेक्षया) आत्मा विधिरूपः, अस्ति रूपः, परधर्मापेक्षया निषेधरूपः नास्ति रूपः। निश्चयनयेन आत्मनि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाभावादमूर्तिकः। तथा च, बन्धापेक्षया व्यवहारनयेन मूर्तिकः। तथा च, व्यवहारेण संसारदशायां ज्ञानस्य साकारत्वाद् (सविकल्पत्वात्) ज्ञानमूर्तिकः। मुक्तावस्थायां शुद्धात्मस्वभावात्वादमूर्तिकः। अपरं च, आत्मा ज्ञान-दर्शन-वीर्यस्वभावात्वाद् विधिरूपः, स्पर्शादिरहितत्वाद् निषेधरूपः। यदि एवं न स्वीकुर्यात् तर्हि वस्तु-व्यवस्था न स्यात्। यथोक्तमात्ममीमांसायाम् -

सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्ट्यात्। असदेव विपर्यासान्त चेन्न व्यवतिष्ठते।। 15

9. चेतनाचेतनाद्यनेकधर्मात्मकः - चेतनाचेतनत्व-मूर्तिकामूर्तिकत्व-प्रभृति-प्रतीयमानपरस्परविरुद्धानेकधर्मत्वं आत्मानि स्वयमेव स्वीकुरुते। एवमेव बन्धमोक्षयोः, बन्ध-मोक्षफलयोः, बन्धकारण-मोक्षकारणयोश्च आत्मा स्वयमेव स्वीकुरुते।

निश्चयनयेन सर्वाणि षड्द्रव्याणि एकत्वविभक्तरूपाणि। आत्मा यदा ज्ञानमयभावं करोति तदा ज्ञानमयो भवति। यदा व्यवहारेण कर्मोदयवशाद् विभावभावं (राग-द्वेषादिरूपभावं) करोति तदा कर्मबन्धं प्राप्य संसारे परिभ्रमति। यदा विभावभावानामभावो भवति तदा मोक्षलाभो भवति। एवं विभावभावाः बन्धकारणानि तेषामभावः मोक्षकारणम्। अत्र

ईश्वरकर्तृत्वं किमपि नास्ति, अन्यथा लोकव्यवस्था न स्यात्, पुरुषार्थस्याभावश्च स्यात्।

10. निजस्वभावकर्त्ता - निश्चयनयेन आत्मा निजस्वभावमात्रस्य कर्त्ता, न परद्रव्याणां न च परद्रव्याणि आत्मनः कर्त्ता सन्ति। सः तु टंकोत्कीर्ण-परमज्ञायकस्वभावः। व्यवहारनयेन आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोदयस्य निमित्तं प्राप्य रागद्वेषादि-विभावभावैः ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबन्धं करोति तथा स्वकर्मानुसारं शुभाशुभफलं भुङ्क्ते। मिथ्यात्वाविरति प्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः। स्वोपादानशक्तिः अन्तरङ्गहेतुः, जैनेश्वरीदिगम्बरदीक्षातपादिबहिरङ्गहेतवः। एतैः बहिरङ्गान्तरङ्गोपायैः जीवः कर्ममुक्तो भवतीति।

11-15 शुद्धात्मोपलब्धेरूपायाः - शुद्धात्मोपलब्धेरूपायाः बहिरङ्ग-अन्तरङ्गभेदाद् द्विविधाः। उपायाः कारणानि वा। मोक्षस्तु आत्मनः साध्यम्। तत्र शुद्धस्वात्मोपलब्धये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि उपादानकारणानि। देशनालब्धि-काललब्धि-व्रत-तपादीनि बाह्यकारणानि भवन्ति। इत्थं बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग-साधनोभयसाध्यं शुद्धस्वात्मोपलब्धिः। जिनोपदिष्ट-जीवादित्त्वार्थानां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तेषामेव संशय-विपर्ययानध्यवसायरहितं निजात्मस्वरूपज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। संसारकारणनिवृत्तिमूलकं विशुद्धचारित्रं सम्यक्चारित्रम् अथवा कर्मादाननैमित्तकक्रिययोपरमः सम्यक्चारित्रम्, अथवा उत्तरोत्तरभाविषु सम्यग्दर्शनज्ञानपर्यायेषु स्थिरालम्बनं सम्यक्चारित्रम्, अथवा सुखदुःखयोः माध्यस्थ्यं सम्यक्चारित्रम्, अथवा सुखदुःखसमुपस्थिते सति 'एकोऽहं ज्ञाता-द्रष्टा नचापरः' इति भावनया दार्ढयं सम्यक्चारित्रम्,अथवा समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् सकलकषायविमुक्तं विशुद्धमुदासीनमात्मस्वरूपं सम्यक्चारित्रम् अथवा मोहक्षोभविहीनः साम्यभावरूपात्मपरिणामः सम्यक्चारित्रम् अथवा एकत्वविभक्त-शुद्धचैतन्यरूप-भगवद्स्वरूपेऽवस्थानं सम्यक्चारित्रम्।

निश्चयचारित्रस्य प्राप्त्यर्थं व्यवहारचारित्रस्याराधना अनिवार्या। पूर्वं तावत् व्यवहारचारित्रेण निश्चयचारित्रं साध्यं तदनन्तरं शुद्धात्मोपलब्धिः। अतः न केवलं व्यवहारचारित्रेण, न च केवलनिश्चयचारित्रभावनया शुद्धात्मोपलब्धिरूपो मोक्षः। तत्र उभयविधचारित्रस्योपयोगिता।

16. अनुकूल-प्रतिकूलपरिस्थित्यौ किं भावयेत् ?

यादृशी शुभाशुभभावना भवति तादृशी तस्य सिद्धिर्भवति। चित्तस्य विशुद्धिः अशुद्धिः वा जीवस्य चिन्तनालम्बिता। अतः सत्यार्थस्य अधिगमानन्तरं पौनःपुन्येन शुद्धात्मानमेव भावयेत्। अर्थात् कर्मविनष्टिकारणभूतोपायान् परिज्ञाय अनुकूल-प्रतिकूलपरिस्थित्यौ कषायमूलं राग-द्वेषं विहाय शुद्धात्मानमेव भावयेत्।

17. कषायसहितात्मचिन्तने दोषः कः ?

रागद्वेषकषायैः रञ्जितात्मा शुद्धात्मस्वरूपावगाहनं कर्तुं न शक्यते। यथा नीलीरक्ताम्बरे कुंकुमरागः दुराधेयः तथैव कषायरञ्जितान्तःकरणे शुद्धात्मभावः दुराधेयः। स्त्रीपुत्रादयः निजात्मनः भिन्नाः, तत्र राद्वेषादिकषायभावाः सन्ति। कषायभावाः परभावाः विभावभावाः, न स्वभावभावाः। आत्मस्वभावं खलु परभावभिन्नं ध्येयम्। अतः परमदिगम्बरमुन्यवस्थायामेव स्वभावभावस्य चिन्तनं शक्यम्।

18. तत्त्वचिन्तनपरः कीदृशः ?

रागद्वेषादिभ्यः विनिर्मुक्त्यर्थं सर्वथा निर्मोही भव, तथा सांसारिक-विषयभोगेषु उदासीनत्वमाश्रित्य आत्मचिन्तनपरो भव। 'नाहं पुत्रादीनां परेषां अस्मि, न च पुत्रादयः मे सन्ति, अहमेको ज्ञानस्वभावोऽस्मि' एवं ध्यातव्यम्। यथोक्तम् कुन्दकुन्दाचार्येण प्रवचनसारे -

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को। इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा।। 203

19. आत्मतत्त्व एव आश्रयणीयः -

हेयोपादेयतत्त्वानां स्वरूपं विज्ञाय स्वात्मभिन्नान् सर्वान् हेयान् परित्यज्य एकमात्रोपादेयात्मतत्त्वम् आश्रीयताम्। ज्ञानी आत्मा ज्ञाता-दृष्टा तु अस्ति परन्तु रागादिविभावभावानां कर्त्ता नास्ति। शुभाशुभपदार्थेषु इष्टानिष्टकल्पनां परित्यज्य तत्र केवलं ज्ञाता दृष्टा भव। तदा एव अतीन्द्रियानन्त सुखसागरे निमज्जति।

20. शिवत्वप्राप्तेरुपायः कः ?

शिवत्वप्राप्त्यर्थं सहजोपायः खलु सर्वत्रोपेक्षाभावोऽस्ति। स्व-परपदार्थान् वस्तुरूपेण भावयित्वा परमुपेक्षाभावः माध्यस्थभावो वा समाश्रयणीयः। अपेक्षायां रागादयः भवन्ति पराधीनता च। उपेक्षाभावो माध्यस्थभावश्चमोक्षमार्गे प्रयोजनभूतौ। कुशकर्त्तव्येषु उपेक्षा उदासीनता वा न मोक्षमार्गः। मोक्षमार्गः खलु संवेगीभावः। धर्मं प्रति हर्षितभावः संवेगीभावः। उत्कृष्टोपेक्षाभावनया शिवत्वप्राप्तिः सहजा।

21-22. किं मोक्षतृष्णा फलवती ? किं भावनामात्रेण आत्मोपलब्धिः संभवति ? -

मोक्षप्राप्त्यर्थं नातितृष्णा करणीया। यतः यावत् तृष्णा तिष्ठति तावन मोक्षप्राप्तिः। अतः मोक्षतृष्णापि त्याज्यः। सर्वप्रकारकीतृष्णा भवकारिणी, न मोक्षदायिनी। अतः मोक्षभावनामात्रेणापि न कार्यसिद्धिर्भवति। प्रारम्भिकावस्थायां मोक्षभावनामाश्रित्य अन्ते सापि त्याज्यः। यतः आकांक्षा वीतरागतायाः विनाशिनी तर्हि त्याज्या। यथोक्तं योगीन्दुदेवेन परमात्मप्रकाशे -

मोक्खु म चिंतहि जोइया, मोक्खु चिंतउ णहोई। जेण णिवद्धउ जीवड़डउ, मोक्खु करेसइ सोई।। 2.1

23. माध्यस्थभावः स्वाधीनः पराधीनो वा -

माध्यस्थभावप्राप्त्यर्थं किं करणीयम् ? यत्र अन्तरङ्गविशुद्धिः तत्रैव माध्यस्थभाव उदेति। माध्यस्थभावः स्वाधीनः, न पराधीनः। अतः स्वात्मनि एव रमणीयम्। यावत् माध्यस्थभावो नोदेति तावदेव चत्वारः मंगलोत्तमः शरणभूत-। माध्यस्थभावे जाते स्वात्मा एव शरणभूतः। जगति सर्वेषां कल्याणकारीभावः माध्यस्थभावः। आत्मलीनता एव माध्यस्थभावप्राप्तिः।

24. स्व-परभेदज्ञानानन्तरं किं करणीयम् ?

स्व-परभेदज्ञानानन्तरं मोहो त्याज्यः। द्रव्यश्रुतज्ञानेन पुण्यस्य स्वर्गस्य च प्राप्तिः संभवति, न भवसागराद् मुक्तिः। स्वसंवेदने स्थितः योगी स्वं 'परभावेभ्यः भिन्नं' ज्ञात्वा सर्वभावविकल्पभिन्नो भवति। अर्थात् यदा स्व-परभेदविकल्पाभावो भवति तदा एव अनाकुलस्वसंवेदनभावो भवति शुद्धनिश्चयेन। 'अस्यामवस्थायामेव निराकुलस्वसंवेदनं भवति तत्रैव तिष्ठतु इति भट्टाकलङ्कस्य निवेदनम्। इयमेवावस्था सर्वोत्कृष्टावस्था।

25. अभेदषट्कारकस्वरूपध्यानस्य किं फलम् ?

स्वः - निजात्मा, स्वम् - स्वात्मरूपम्, स्वेन - निजात्मेन, स्वस्मैः - निजात्मैः, स्वस्मात् - निजात्मनः, स्वस्य - निजात्मनः, स्वस्मिन् - स्वात्मनि, स्वोत्थम् - निजात्मजन्यम्, अविनश्वरम् - अखण्डम्, आनन्दामृतम् - अमृततुल्यसुखं, लभते - प्राप्नोति। अर्थात् कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरणकारकाणि षट् भवन्ति। तत्र स्व-स्वामिभावादिसम्बन्धेन सह सप्तविभक्तयः भवन्ति। सम्बन्धस्य गणना कारकेषु न भवति, साक्षात् क्रियान्वयत्वाभावात्। अत्र सप्तविभक्तीनां प्रयोगमुखेन आत्मनि तेषां संगतिः प्रदर्शिता। इत्थमभेदकारकत्वं घटते भेदाभावात्। भेदकारकव्यवस्था परसापेक्षा भवति, स च व्यवहारधर्मनिर्वहणाय समादरणीया। अभेदकारकव्यवस्था उपादानप्रधाना परनिरपेक्षया च। भेदकारकव्यवस्था निमित्तप्रधाना। कार्यसिद्ध्यर्थमुभयविधा कारकव्यवस्था समाश्रयणीया। परमानन्दो न परकृतः, न च परस्मिन् अस्ति अपितु स्वकृतः स्वस्मिन्नेव चास्ति, परनिरपेक्षत्वात्। अतः स्व एव आश्रयणीयः। स्वं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्य स्वस्मिन् ध्यात्वा स्वोत्थमानन्दामृतपदं लभेत। वेदान्तदर्शनेऽपि एवमेव ब्रह्मणि षट्कारकव्यवस्था दृश्यते। अमृतचन्द्राचार्येण कथितं समयसारकलशे कर्त्ता-कर्म-क्रिया त्रयमपि न भिन्नं वस्तुतया -

यः परिणमति सः कर्त्ता, यः परिणामो भवेत् तत्कर्म, या परिणतिः सा क्रिया, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।। 51.139

26. स्वरूपसंबोधनग्रन्थस्य स्वाध्यायफलं किम् ?

ग्रन्थेऽस्मिन् स्वात्मतत्त्वस्य सम्यग्-व्याख्यानमस्ति। यो जनः सम्यग् विचार्य सादरं पठति शृणोति वा तस्मै परमात्मपदप्राप्तिर्भवति। अतः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावशुद्धिं विचार्य विनयोपचार सहितेन प्रयत्नपूर्वकेन अध्येतव्यमिदं शास्त्रम्। अत्र द्वादशाङ्गी जिनवाणी साररूपेण उपनिबद्धा।

स्वरूपसंबोधनदेशनायाः रचनाकालः -

अस्य स्वरूपसम्बोधनपरिशीलनस्य (स्वरूपसम्बोधनदेशनायाः) लेखनक्रिया जबलपुरनगरस्थ आदिनाथजिनालये २५३४ वीरनिर्माणसंवत्सरे आषाढमासस्य शुक्लपक्षे अक्षयतृतीयातिथौ परमपूज्य श्री १०८ आचार्यविशुद्धसागरेण प्रारब्धा। अस्य मंगलाचरणं कृतं मध्यप्रदेशस्थिते दमोहमण्डलान्तर्गते कुण्डलगिरौ (कुंडलपुरे) श्रीधरकेवलीनिर्वाणस्थले नाभेय-आदीश्वरजिनालये। समयः कः अस्य परिपूर्णता सोनागिरतीर्थे श्रमणगिरौ सिद्धभूमिप्रस्तरे अष्टमतीर्थङ्करचरणसम्मुखे जाता। तदानीम् १७-१२-२००८ ईशवीय संवत्सरः वी.नि.२५३५ संवत्सरः, २०६५ विक्रमसंवत्सरः पौषकृष्णषष्ठीतिथिः मघानक्षत्रः बुधवासरस्य मध्याह्नकालः आसीत्। अस्य ग्रन्थस्य व्याख्याप्रसङ्गे विविधागमग्रन्थसंदर्भाः प्रमाणरूपेण समुपस्थापिता आचार्यवर्येण। मया च लेखोऽयम् अप्रैलमासस्य प्रथमे दिवसे 2015 ईसवीये लिखितः।

रत्नत्रय की अनुपम प्रकाशिका : 'देव, शास्त्र और गुरु' की समीक्षा

'देव, शास्त्र और गुरु' कृति एक ऐसी कृति है जिसमें इसके कृतिकार प्रो. सुदर्शनलाल जी ने जैनागम का सार निबद्ध कर दिया है। हमारी श्रद्धा की संशुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि हमें हमारी आस्था और श्रद्धा के केन्द्र देव-शास्त्र और गुरु के स्वरूप का समीचीन ज्ञान होना चाहिए। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति यथार्थ श्रद्धा जहाँ सम्यक्त्व को जन्म देती है वहीं देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप के सन्दर्भ में व्याप्त भ्रान्ति हमारे अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व का घोर तिमिर भर देती है।

देवत्व की प्राप्ति जहाँ हमारा लक्ष्य है वहीं शास्त्र उस लक्ष्य की प्राप्ति के पथ को प्रदर्शित करते हैं और गुरु उस पथ पर चलकर आदर्श बनकर हमारा मार्गदर्शन करते हैं। वर्तमान समय में धर्म में बढ़ने वाले आडम्बर और प्रदर्शन के पीछे एक बड़ा कारण यही है कि वर्तमान पीढ़ी को धर्म के मूलाधार देव-शास्त्र-गुरु की वास्तविक पहचान नहीं है। यही कारण है कि धर्म क्षेत्र में पाखण्ड और अनाचार बढ़ता जा रहा है और उसका वर्तमान परिदृश्य विकृत होता जा रहा है। इस गम्भीर समस्या को देखते हुए मिथ्यात्व के उन्मूलन के लिए अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् ने 15 नवम्बर 1992 को सतना (म.प्र.) में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया था कि परिषद् के द्वारा एक ऐसी कृति प्रकाशित की जाए जिसमें देव-शास्त्र और गुरु का समीचीन स्वरूप वर्णित हो और यह कृति आगम के आलोक में भी पूर्ण प्रामाणिक हो।

अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ने अपने उपर्युक्त निर्णय के अनुरूप कृति लेखन का गम्भीर उत्तरदायित्व विद्वद्वरेण्य प्रो. सुदर्शनलाल जैन को प्रदान किया। प्रो. साहब ने इस सारस्वत कार्य को श्रद्धापूर्वक अथक परिश्रम के द्वारा छह माह में पूर्ण कर दिया। इसके बाद पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री एवं डॉ. दरबारी लाल कोठिया जैसे वरिष्ठ विद्वानों ने इस कृति का सूक्ष्म परीक्षण किया और उन्होंने इस कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रदान किये। प्रो. सुदर्शनलाल जी ने सभी महत्त्वपूर्ण सुझावों के अनुरूप इस कृति को जून 1994 में अन्तिम रूप प्रदान किया।

परिमाण और विषयवस्तु की दृष्टि से यदि इस कृति को देखें तो यह कृति एक सौ बयालीस पृष्ठों में प्रकाशित है और इसकी विषय वस्तु चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में देव (अर्हन्त और सिद्ध) का स्वरूप वर्णित है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में क्रमशः शास्त्र और गुरु के स्वरूप को प्रकाशित किया गया है। अन्तिम अध्याय में कृतिकार ने उपसंहार के रूप में शास्त्रीय सन्दर्भों का विश्लेषण करते हुए अपना मौलिक चिन्तन भी व्यक्त किया है। चार अध्यायों के उपरान्त प्रो. साहब ने इस कृति में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्टों का योजन भी किया है। इन परिशिष्टों में दिगम्बर जैन परम्परा के सभी महत्त्वपूर्ण आचार्यों के नाम एवं समय के साथ-साथ उनके द्वारा रचित शास्त्रों का नामोल्लेख किया है। इन परिशिष्टों ने इस कृति की उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया है।

प्रो. साहब ने इस कृति का लेखन शोधात्मक दृष्टि से किया है। उन्होंने इस कृति की प्रत्येक पंक्ति को शास्त्रीय संदर्भों से पुष्ट किया है। इस कारण यह कृति भी एक शास्त्र की तरह समादृत हो गयी है। इस कृति में विवेचित विषयवस्तु जहाँ एक ओर पूर्णतः प्रामाणिक है वहीं दूसरी ओर नितान्त प्रासङ्गिक भी है। इस कृति में देव-शास्त्र और गुरु के सम्यक् स्वरूप को प्रकाशित करने वाले अनेक उल्लेखनीय प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। इन शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर 'देव, शास्त्र और गुरु' के लेखक प्रो. सुदर्शनलाल जी ने अनेक विशिष्ट विचार और निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। इनमें से कुछ प्रमुख निष्कर्ष और विचारों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है -

'पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि को मन्दिरों में भगवान् के सेवक के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। ये भगवान् की तरह पूज्य नहीं हैं। जिनेन्द्र भक्त होने से क्षेत्रपालादि में साधर्म्य-वात्सल्य रखा जा सकता है, पूज्य देवत्व मानना मूढता (अज्ञान) है। सरागी देवों से अनर्घ्यपद (मोक्षपद) प्राप्ति की कामना करके उन्हें मन्त्र पढ़कर अर्घ्य चढ़ाना अज्ञान नहीं तो क्या है? इनके अलावा संसार में कई कल्पित देव (अदेव) हैं। जिन क्षेत्रपाल आदि के नाम जैन सम्मत देवगति के जीवों में आते हैं उन्हें कुदेव (अधम या मिथ्यादृष्टि देव) कहा गया है तथा जिनका नाम जैनसम्मत देवगति में कहीं नहीं

आता है ऐसे कल्पित देवों को अदेव (अदेवे देवबुद्धिः) कहा गया है।' (पृ.2)

देवस्तुति का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए प्रो. साहब ने लिखा है कि– 'वीतरागी अर्हन्त और सिद्धों की भक्ति किसी सांसारिक–कामना की पूर्ति हेतु नहीं की जाती, अपितु उन्हें आदर्श पुरुषोत्तम मानकर केवल उनके गुणों का चिन्तवन किया जाता है और वैसा बनने की भावना भायी जाती है। फलतः भक्त के परिणामों में स्वभावतः निर्मलता आती है, इसमें ईश्वरकृत कृपा आदि अपेक्षित नहीं है। देवमूर्ति, शास्त्र एवं गुरु के आलम्बन से भक्त अपना कल्याण करता है। अतः व्यवहार से उन्हें कल्याण का कर्ता कहते हैं, निश्चय से नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है, सभी द्रव्य अपने–अपने कर्ता हैं। (पृ.4)

देवत्व की पूज्यता को परिभाषित करते हुए प्रो. साहब ने लिखा है कि – 'पूज्य वही है जो देव हो और देवत्व (ईश्वरत्व) वहीं है जहाँ रत्नत्रय अथवा रत्नत्रय का अंश अथवा शुद्ध रत्नत्रय प्राप्ति की हेतुता हो।'(पृ.7)

देव, शास्त्र और गुरु कृति में प्रो. साहब ने सम्यक् शास्त्र की प्रामाणिकता का आधार स्पष्ट करते हुए लिखा है कि– जो ग्रन्थ अनेकान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों के अनुसार वीतरागता का अथवा रत्नत्रय आदि का प्रतिपादन करते हैं वे ही प्रामाणिक हैं, अन्य नहीं। शास्त्रकार ने जिस बात को जिस सन्दर्भ में कहा है, हमें उसी सन्दर्भ की दृष्टि से अर्थ करना चाहिए, अन्यथा मूलभावना (मूल सिद्धान्त) का हनन होगा, जो इष्ट नहीं है।' (पृ.28)

गुरु के गुरुत्व को प्रकाशित करते हुए प्रो. साहब ने लिखा है कि– वास्तव में 'गुरु' शब्द का अर्थ है 'महान्'। 'महान्' वही है जो अपने को कृतकृत्य करके दूसरों को कल्याणकारी मार्ग का दर्शन कराता है। जब तक व्यक्ति स्वयं वीतरागी नहीं होगा तब तक वह दूसरों को सदुपदेश नहीं दे सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि गुरु जब मुख से उपदेश देवे तभी गुरु है अपितु गुरु वह है जो मुख से उपदेश दिये बिना भी अपने जीवनदर्शन द्वारा दूसरों को सन्मार्ग में लगा देवे। (पृ.47)

साधुता के आभ्यन्तर पक्ष को उद्घाटित करते हुए प्रो. साहब ने लिखा है कि–'हर्ष और विषाद दोनों अवस्थाओं में समभाव वाला ही सच्चा साधु है, अन्य नहीं। ऐसा समदर्शी साधु ही हमारा आराध्य है, गुरु है। क्योंकि उसने शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त कर ली है। कष्टों का कारण है राग और जहाँ राग है वहीं द्वेष है। राग द्वेष के होने पर क्रोधादि चारों कषाएँ और नौ नोकषाएँ होती हैं। अतः साधु को वीतरागी कहा है, क्योंकि जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेषादि तथा कष्ट भी नहीं होते हैं।' (पृ.118)

निर्ग्रन्थ गुरुओं की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। वर्तमान में हो रहे इस प्रतिष्ठा के ह्रास को रोकने के लिए प्रो. साहब ने अपने महत्त्वपूर्ण चिन्तन को प्रकट करते हुए लिखा है कि 'साधु तभी बने जब साधुधर्म का सही रूप में पालन कर सके। अपरिपक्व बुद्धि होने पर अथवा आवेश में दीक्षा न स्वयं लेवे और न दूसरों को देवें। पापश्रमण न बने। पापश्रमण बनने की अपेक्षा पुनः गृहस्थ धर्म में आ जाना श्रेष्ठ है। साधुधर्म बहुत पवित्र धर्म है। अतएव जो इसका सही रूप में पालन करता है वह भगवान् कहलाता है। (पृ.115)

प्रो. साहब ने देव,शास्त्र और गुरु कृति में आगम का आलोडन करते हुए ऐसे ही अनेक महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। इस कृति में प्रो. साहब का समग्र चिन्तन परम्परागत शास्त्रीय भूमि पर ही प्रकट हुआ है उन्होंने कहीं भी जिनागम की आज्ञा के विपरीत कोई कथन नहीं किया है। इस कारण यह कृति सभी के लिए संग्रहणीय, पठनीय एवं अनुकरणीय बन गयी है। प्रो. सुदर्शन लाल जी ने इस अद्वितीय कृति का लेखन करके जिनागम के भण्डार की श्रीवृद्धि में महनीय अवदान दिया है। उनके इस सारस्वत अवदान के लिए साहित्य जगत् सदैव कृतज्ञ रहेगा।

विद्वानों के अभिमत –

1. पं. जगन्मोहन शास्त्री कटनी – डॉ. सुदर्शन लाल जैन, जो वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के मंत्री तथा श्री गणेश वर्णी दि. जैन शोध संस्थान के कार्यकारी मंत्री भी हैं, ने जैन शास्त्रों का सम्यक् आलोडन करके सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की यथार्थ परिभाषा को तथा उसके नग्न स्वरूप को उजागर किया है। देव, शास्त्र और गुरु के सत्यार्थ की जानकारी समाज के बच्चे–बच्चे के लिए आवश्यक है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़कर न केवल जैन समाज अपितु सत्यान्वेषी जैनेतर समाज को भी लाभ मिलेगा।

2. डॉ. दरबारी लाल कोठिया, बीना – लेखक ने किसी भी विषय पर बिना शास्त्रीय प्रमाणों के लेखनी नहीं चलाई है। सधी हुई लेखनी के अतिरिक्त गहरा विचार भी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। कोई विषय विवाद का नहीं है।

'श्रावकाचार' पर भी इसी प्रकार की एक रचना डॉ. जैन से तैयार कराई जाए। लेखक की लेखनी बड़ी परिमार्जित, सधी हुई तथा शोध को लिए हुए है।

3. प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी - डॉ. जैन ने आधुनिक शोध प्रक्रिया को अपनाकर प्रकृत रचना की है। डॉ. जैन का प्रयास श्लाघ्य है।

4. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच - डॉ. जैन ने श्रम करके एक उत्तम संकलन पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है जो स्वागत योग्य है।

डॉ. पंकज कुमार जैन 'ललित'

प्राध्यापक- जैनदर्शन, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल, म.प्र.

प्राकृत दीपिका - एक प्राकृतभाषा-ज्ञान-प्रदीप

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से दो संस्करणों में प्रकाशित 'प्राकृत-दीपिका' प्राकृत ज्ञान के लिए अनुपम ज्ञान-दीप है, हैण्डबुक है।

प्राकृत स्वाभाविक भाषा है। भारतीय भाषाओं के विकास में इन प्राकृतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, मराठी, बङ्गला, उड़िया आदि अनेक भाषाओं का विकास इन्हीं प्राकृतों से हुआ है। युग-युग तक प्राकृत ही जन-जन की भाषा रही है। जिस तरह आज हिन्दी सभ्य वर्ग की एक साहित्यिक भाषा होते हुए भी घर-घर में भोजपुरी, बुन्देली, मालवी, मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि लोकभाषाएँ ही प्रचलित हैं, जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों एवं आचार्यों ने अपने को जन-जन से जोड़ने के लिए प्राकृतों को अपनाया। आज प्राकृत का ज्ञान, अध्ययन एवं अध्यापन- धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। सम्पूर्ण देश में पालि एवं प्राकृत के विद्वानों की संख्या अङ्गुलियों पर गिनने योग्य है। इस पुस्तक से प्राकृत के जानने वालों की संख्या बढ़ रही है।

जो लोग संस्कृत के अध्ययन में निरत हैं और जो संस्कृत की शैली में प्राकृत सीखने के इच्छुक हैं। प्राकृत दीपिका - दोनों ही प्रकार के लोगों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयी कृति है।

जैनों का आगम-साहित्य अर्धमागधी प्राकृत तथा शौरसेनी प्राकृत में मिलता है। वैदिक संस्कृत में साहित्यिक प्राकृत की प्रवृत्तियाँ भी बहुतायत में मिलती हैं। जैसे- (1) अपवाद स्थलों का बाहुल्य, (2) द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग, (3) अन्त्य व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति, (4) धातुओं में गणभेद का अभाव, (5) आत्मनेपद-परस्मैपद के भेद का अभाव, (6) वर्तमान काल और भूतकाल के क्रियापदों में प्रयोगों की अनियमितता (7) नामरूपों में विभक्ति-व्यत्यय (चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी तथा तृतीया के स्थान पर षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग) आदि। इस तरह वैदिक काल से ही हमें प्राकृतभाषा के बीज मिलते हैं।

तीन भागों- (व्याकरण, अनुवाद और संकलन) में विभक्त 'प्राकृत दीपिका' प्राकृत के ज्ञान के लिए अति उत्तम कृति है।

विद्वानों के अभिमत -

1. डॉ. नेमिचन्द जैन, सम्पादक, तीर्थङ्कर, इन्दौर- पुस्तक उपयोगी और प्राकृत का आरम्भिक (विशिष्ट भी) अध्ययन करने वालों के लिए एक उल्लेख्य आधार है।

2.डॉ. सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - डॉ. सुदर्शनलाल जेन का यह ग्रन्थ दोनों ही प्रकार के लोगों (असंस्कृतज्ञ और संस्कृतज्ञ) की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

- प्रो0 विजय कुमार जैन

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, लखनऊ

मुनिसुव्रतकाव्य : एक समीक्षा

'मुनिसुव्रतकाव्य' में बीसवें तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ का जीवन-दर्शन चित्रित है। इसके प्रणेता महाकवि श्री अर्हद्दास हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न प्रथम बार जैन सिद्धान्त भवन आरा (बिहार) से 1999 ई. में स्वोपज्ञ 'सुखबोधा' संस्कृत टीका सहित प्रकाशित हुआ था। अति जीर्ण अवस्था में इसकी प्रति श्री सिङ्घई टोडरमल जैन के संग्रह में सुरक्षित थी। श्री सिङ्घई के अनुरोध पर डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने उन्हीं के द्वारा प्रदत्त जीर्ण मुद्रित प्रति के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ की स्वोपज्ञ- 'सुखबोधा' संस्कृत टीका सहित सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन स्वयं श्री सिङ्घई ने स्वस्तिक लाइम इन्डस्ट्रीज, शिवधाम, कटनी, मध्य प्रदेश से 1997 ई. में किया है। डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने भूमिका में समीक्षात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है और अन्त में श्लोकों की अनुक्रमणिका प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर उपलब्ध स्वोपज्ञ 'सुखबोधा' संस्कृत टीका से श्लोकों के अर्थ को आसानी से समझा जा सकता है। श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों को बोधगम्य बनाने के लिये ग्रन्थ- प्रणेता तथा टीकाकार श्री अर्हद्दास ने वैजयन्ती, धनञ्जय, अमरकोष, विश्वकोष तथा नानार्थरत्नकोष से पर्यायवाची शब्दों को उद्धृत किया है। इसके साथ ही टीकाकार ने व्याकरण के सूत्रों को भी उद्‌धृत किया है। इसलिए टीका का 'सुखबोधा' नामकरण समीचीन है। डॉ. जैन ने प्राक्कथन में पर्यायवाची शब्दों के अनन्तर (=) तथा समास पूर्व (-) चिह्न दिए हैं। इस प्रकार यह सटीक सुसम्पादित संस्करण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न एक महाकाव्य है, जो दस भागों में विभक्त है। यह महाकाव्य के सभी लक्षणों से उपेत है। ग्रन्थ-प्रणेता के अनुसार इसका मुख्य प्रयोजन जिनेन्द्रदेव (तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ) के चरित्र का वर्णन करना है। क्योंकि वे ही प्राणियों के लिए चिन्तामणि और हृद्यार्थ रूपी रत्न की एकमात्र निधि हैं -

यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिर्भव्यजनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयमेतत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु।।

इसके अतिरिक्त अति पराक्रमी तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत के पिता सुमित्र तथा तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत की माता पद्मावती के चरित्र का भी इस महाकाव्य में चित्रण है। तीर्थङ्कर जिनेन्द्रदेव मुनिसुव्रत का चरित्र ही सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि चतुर्थ अङ्क के अनन्तर सुमित्र और पद्मावती के दर्शन नहीं होते हैं।

भूमिका में प्रस्तुत समीक्षात्मक अध्ययन नितान्त मौलिक एवं शोधपरक है। इसमें डॉ. जैन ने जैन संस्कृत-काव्य-साहित्य के उद्भव और विकास पर विस्तृत चर्चा करने के साथ ही महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्री अर्हद्दास के जीवन एवं कृतित्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

डॉ. जैन ने प्रस्तुत महाकाव्य के महाकाव्यत्व को साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रदत्त महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर सिद्ध किया है। विद्वानों का मन्तव्य है कि इसमें देवियों द्वारा पद्मावती की सेवा, कुबेर द्वारा रत्न-वृष्टि, विशद मङ्गलाचरण, सज्जन -प्रशंसा, दुर्जन - निन्द्रा आदि प्रबन्ध रूढ़ियों के कारण इसे पौराणिक महाकाव्य मानना उचित होगा।

समीक्षा में ग्रन्थ के भावपक्ष तथा कलापक्ष का प्रस्तुतीकरण भी ग्रन्थ के महत्त्व को उजागर करता है। इसमें नारी-सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन, पुरुष-सौन्दर्य में राजा सुमित्र का आभ्यन्तर सौन्दर्य तथा मुनिसुव्रत का बाह्य-सौन्दर्य विशेष महत्त्व का है। प्रकृति कहीं आलम्बन-विभाव के रूप में और कहीं उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रित है। प्रथम और नवम सर्ग में प्रकृति चित्रण से कवि की वर्णन शैली का परिज्ञान होता है, जिसका निरूपण डॉ. जैन द्वारा किया गया है। अपनी समीक्षा में डॉ. जैन का कथन है कि वीभत्स, रौद्र एवं भयानक रसों को छोड़ सभी रसों का परिपाक प्रस्तुत महाकाव्य में हुआ है। सर्गों में प्रयुक्त होने वाले अलंकारों और छन्दों का उल्लेख डॉ. जैन ने पृष्ठ 56 और 57 पर किया है। इस ग्रन्थ-रत्न की भाषा सरस एवं प्रौढ़ है। टवर्ग तथा कर्णकटु वर्णों का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष के वर्णन में डॉ. जैन की मौलिक प्रतिभा झलकती है।

डॉ. जैन ने ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद भी किया है, जो बीसवें तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के जीवन एवं

शिक्षा दर्शन को गहराई से समझने में सहायक एवं उपयोगी है। ग्रन्थ में आगत पारिभाषिक शब्दों की हिन्दी में व्याख्या भी डॉ. जैन ने यथा स्थान प्रस्तुत कर दी है।

सम्पादन तथा अनुवाद कार्य प्रशंसनीय है। भूमिका में दिया गया जैन संस्कृत-काव्य का इतिहास बहुत उपयोगी है।

प्रो. सत्यदेव कौशिक
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

साहित्य-समाराधना का निस्यन्दमुनिसुव्रतकाव्य

बीसवें जैन तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतस्वामी के जीवन का चित्रण करने वाले इस महाकाव्य को पुन: प्रकाशन में लाने का श्रेय जैन दर्शन एवं साहित्य के गहन अध्येता श्रद्धेय गुरुवर प्रो. सुदर्शनलाल जैन, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग एवं पूर्व कला सङ्कायाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी को है। एक बार प्रो. जैन अपने चचेरे मामा श्री सिंघई टोडरमल जैन जी से मिलने उनके घर गये। उन्होंने अपने पिता के पास संरक्षित जैन सिद्धान्त भवन, आरा से 1929 ई. में प्रकाशित इस मुनिसुव्रत महाकाव्य की एक प्रति दिखलाकर उसे पुन: छपवाने की इच्छा प्रकट की। प्रो. जैन के विद्यानुराग एवं जैनधर्म के प्रति श्रद्धा भाव ने उन्हें इस रचना को गहनता से देखने हेतु प्रवृत्त किया। काव्यग्रन्थ की जीर्णता तथा भाषागत अशुद्धियों को देखकर उसे शुद्ध भाषा में सम्यक् रूप में सम्पादित करने के तथा हिन्दी अनुवाद के दायित्व को स्वीकृति दे दी। जिनवाणी में प्रगाढ आस्था रखने वाले श्रीटोडरमल जी ने ग्रन्थ के प्रकाशन में आने वाले आर्थिक व्यय का बोझ सहर्ष उठाने हेतु सम्मति प्रदान की। इस प्रकार जुलाई 1997 में यह ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर विस्तृत भूमिका तथा स्वोपज्ञ 'सुखबोधा' संस्कृत टीका एवं हिन्दी भाषानुवाद के साथ नवीनरीत्या सुसज्जित होकर सामने आया।

मुनिसुव्रत महाकाव्य के सम्पादन में प्रो. सुदर्शनलाल जैन जी ने विस्तृत भूमिका भाग में जैन संस्कृत काव्य साहित्य का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है। यह विवेचन विशाल जैन संस्कृत वाङ्मय का संक्षिप्त में बहुत प्रामाणिक एवं स्पष्ट विश्लेषण करने वाला है, जिससे पाठक सहजरूप में अल्प समय में प्रमुख संस्कृत जैन काव्यों, काव्यप्रभेदों, काव्यकारों एवं काव्य के वर्ण्य विषय से सुपरिचित हो जाता है। स्वयं जैनमतानुयायी होने पर भी आचार्यप्रवर का यह विवेचन अपने पन्थ के प्रति विशेष आग्रह का प्रदर्शन नहीं करता। उन्होंने तटस्थ समालेचक की दृष्टि से यह भूमिका भाग बखूबी लिखा है। उन्होंने जैन संस्कृत काव्यों की विशेषताओं का परिगणन कराते हुए अनेक जैन पौराणिक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय महाकाव्यों, सन्देश काव्यों, लघुकाव्यों, गीतिकाव्यों, समस्यापूर्ति काव्यों, सुभाषित काव्यों, गद्यकाव्यों, कथाकाव्यों, चम्पूकाव्यों एवं दृश्य काव्यों की रचना एवं रचनाकार के समय एवं नाम निर्देशपूर्वक विवरण उपस्थित किया है। आपने विवरण को अधिक युक्ति संगत बनाने हेतु कतिपय प्रमुख जैन संस्कृतकाव्यों एवं काव्यकारों का अलग से विवरण प्रस्तुत किया है। यह समग्र लेखन आचार्य सुदर्शन लाल जैन की समालोचकीय एवं सम्पादकीय प्रतिभा का सुन्दर निदर्शन है।

उद्देश्य और कथानक -

दस सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत जी के जन्मकल्याणक से लेकर मोक्ष कल्याणक तक की कथा बहुत सुन्दर ढंग से निबद्ध है। तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत इस महाकाव्य के नायक हैं। इस महाकाव्य के प्रणयन का उद्देश्य स्वयं कवि अर्हद्दास ने स्पष्ट किया है - तीर्थङ्कर स्वामी के प्रति भक्तिभाव, इसका उल्लेख उनके इन दो श्लोकों से स्वत: हो जाता है -

सरस्वतीकल्पलतां स को वा संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातम्।
विमुच्य काञ्जलीरतरूपमेषु व्यारोपयेत् प्राकृतनायकेषु।।
गणाधिपस्यैव गणेयमेतत् भवामि चोद्यन्भगवच्चरित्रे।
भक्तीरितो नन्वगचालनेऽपि शक्तो न लोके ग्रहिलो न लोकः।।[1]

अर्थात् सरस्वती रूपी कल्पलता के संवर्धन हेतु भला कौन विद्वान् जिनेन्द्र रूप कल्पवृक्ष को छोड़कर विषवृक्ष

के समान अधम प्राकृत पुरुषों का आलम्बन करेगा? अर्थात् कल्पलतिका जैसे विषवृक्ष का तिरस्कर कर कल्पवृक्ष का आश्रय लेती है, वैसी ही मेरी श्रोयाभिलाषिणी वाणी अधम नायक की उपेक्षा कर जिनेन्द्र भगवान् को ही चरित नायक बनाएगी। उनका स्पष्ट वक्तव्य है कि भगवच्चरित्र से प्रेरित होकर ही वे इस काव्य का प्रणयन कर रहे हैं। उनका यह प्रयास वैसे ही है, जैसे पिशाचग्रस्त व्यक्ति बड़े बड़े पर्वतों को कम्पित करने में समर्थ हो जाता है, वैसे ही बहुज्ञानसाध्य यह कार्य अल्पज्ञ होने पर भी मेरे द्वारा सम्पन्न हो सके।

वि.सं. 1300–1400 के प्रारम्भिक भाग में विद्यमान अर्हद्दास का यह काव्य साहित्यिक समीक्षा के निष्कर्ष पर कसे जाने पर उत्तम काव्यरत्न सिद्ध होता है। प्रो. सुदर्शनलाल जैन ने अपने विस्तृत भूमिका भाग में काव्यशास्त्रीय समालोचना के विभिन्न मानकों के अनुसार इस काव्य के विभिन्न पक्षों का बहुत सुन्दर एवं व्यवस्थित विश्लेषण किया है।

मुनिसुव्रत काव्य का कथानक पौराणिक है, जिसकी मूल कथा गुणभद्रकृत जैन उत्तरपुराण से ली गई है। दस सर्गों एवं 408 पद्यों में निबद्ध इस महाकाव्य के नायक सत्कुलोत्पन्न मुनि सुव्रतस्वामी हैं, जो काव्यशास्त्रीय मानदण्डों के अनुसार वीरप्रशान्त कोटि के नायक हैं। काव्य का अङ्गीरस शान्त हैं तथा प्रसङ्गानुसार शृङ्गारादि अन्य रस अङ्गरूप में आगत हैं। चार पुरुषार्थों में परिगणित धर्म एवं मोक्ष इसके उद्देश्य हैं। कथानक पञ्च सन्धियों से युक्त है एवं सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन है। इसमें स्थान–स्थान पर विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर संयोजन है। नगर, उपवन, पर्वत, नदियों, ऋतुओं आदि नाना प्रकार के वर्ण्य विषयों का इसमें समावेश है, जो इसे एक उत्कृष्ट काव्य की संज्ञा से विभूषित करते हैं।

इस महाकाव्य के नायक मुनिसुव्रतस्वामी मगध देश की राजधानी राजगृह के राजा सुमित्र के पुत्र हैं। सज्जनों के रक्षण एवं दुर्जनों का दमन करने के कारण सुमित्र अन्वर्थ नाम वाले थे।[2] उनकी पद्मावती नामक अनन्य सुन्दरी रानी थी जिनके गर्भ से मुनिसुव्रत का जन्म हुआ। कथाक्रम के अनुसार ये पूर्वजन्म में अङ्गदेश के चम्पापुर नामक नगर में हरिवर्मा नामक राजा थे, जिनका यश समग्र भूमण्डल में व्याप्त था।[3] इस मनीषी राजा ने अन्तरङ्ग भाव से भोग एवं शरीर के राग को तुच्छ जानकर स्वयं अपने राजपद को उपेक्षित कर जिनेन्द्र मुनि अनन्तवीर्य के चरणों में दिगम्बर जिनदीक्षा ले ली।[4] नाना प्रकारक तपश्चरण करते हुए आभ्यन्तर एवं बहिरङ्ग तप साधनों से प्रभूत पुण्यार्जन कर वे प्राणत स्वर्ग के प्राणत नाम वाले विमान में प्राणतेन्द्र नामक देवेन्द्र हुए।[5] बीस सागर प्रमाण आयु वले वे प्राणतेन्द्र ही सुमित्र एवं पद्मावती के घर पुत्ररूप में जन्मे एवं बाद में बीसवें तीर्थङ्कर के रूप में विख्यात हुए।

महाकाव्य में अनेक अलौकिक जीवन–चक्र का सुन्दर वर्णन किया गया है। उनके गर्भ में आने से पूर्व देवगण अलौकिक सिद्धियों का प्रदर्शन करने लगे। स्वयं देवाङ्गनाएँ देवराज इन्द्र के आदेश से उनकी माता पद्मावती के पास पहुँची। उन्होंने राजा–रानी के समक्ष उनकी भावी सन्तान के पूर्वजन्म का वृत्त एवं कल्याणकारी भविष्यफल भी सुनाया। रानी पद्मावती का नाना प्रकारक अलङ्करण किया। रानी ने क्रमशः– सोलह स्वप्न देखे जो मानों स्वयं उसके गुणों के आख्यापक थे– 1. गजेन्द्र, 2. वृषभेन्द्र, 3. सिंह, 4. लक्ष्मी, 5. मालायुगल, 6. चन्द्र, 7. सूर्य, 8. मीन युगल, 9. कलश युगल, 10. वापी, 11. समुद्र. 12. सिंहासन, 13. विमान, 14. नागभवन, 15. रत्नराशि, निर्धूम और 16. अग्नि।[6]

राजा सुमित्र ने रानी से इन स्वप्नों को सुनकर उनकी व्याख्या की –रानी पद्मावती तुम्हें तीनों लोकों के भव्य जीवों का एकमात्र मित्र रूप विविध गुण सम्पन्न तीर्थङ्कर पुत्र होगा। जो गजेन्द्र दर्शन से उन्नत चरित्र वाला, वृषभ दर्शन से धर्मोद्धारक, सिंहदर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मीदर्शन से अत्यधिक श्रीसम्पन्न, मालायुगल दर्शन से सबका शिरोधारी, चन्द्रदर्शन से संसारतापहर्ता, सूर्य दर्शन से अति तेजस्वी, मीनदर्शन से सुन्दर आकृति वाला, कलशदर्शन से कल्याणास्पद, सरोवर दर्शन से वात्सल्य रस युक्त, समुद्रदर्शन से गम्भीर बुद्धि वाला, सिंहासन दर्शन से राज्य सिंहासनाधिपति देवविमान दर्शन, नागभवन दर्शन, रत्नराशिदर्शन तथा निर्धूम अग्निदर्शन से क्रमशः देवागमन युक्त नागागमन युक्त, त्रिरत्न गुणों का उद्गम एवं अष्टकर्म दहन करने वाले गुणों से युक्त होगा।[7]

स्वाभाविक है ऐसे गुणों के पुञ्जरूप पुत्र के आगमन की कल्पना मात्र से दम्पती सुमित्र व पद्मावती अत्यन्त हर्षित हुए। समयानुसार प्राणत स्वर्ग से आकर श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तिथि को श्रवण नक्षत्र तथा शिवयोग में रात्रि के अन्तिम प्रहर में गजाकार रूप से मुख विवर द्वारा पद्मवती के शरीर में हरिवर्मा का जीव प्रविष्ट हुआ।[8]

भावी तीर्थङ्कर पुत्र का यह अलौकिक प्रभाव था कि कुबेर राजनगरी में पन्द्रह मास पर्यन्त तीनों सन्ध्याओं में

रत्नों की वृष्टि करने लगा जिससे वहाँ के राजप्रसाद अत्यन्त शोभायमान हुए।[9] अनन्तर चैत्रमास के कृष्ण पक्ष की पञ्चमी तिथि को श्रवण नक्षत्र में रानी पद्मावती ने मुनिसुव्रत पुत्र को उत्पन्न किया।

जिनेन्द्र मुनिसुव्रत के जन्म के समय नाना प्रकारक अलौकिक प्राकृतिक दृश्यों एवं मङ्गल कार्यों के होने का सुन्दर चित्रण महाकाव्य में प्राप्त होता है। उनके जन्म के प्रभाव से भवनवासी देवों के घरों में शंखनाद, वनवासी देवों के घरों में भेरीनाद, ज्योतिष्क देवों के घरों में सिंहनाद व कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टानाद अपने आप होने लगा। आकाश से रत्नवृष्टि एवं पुष्प वृष्टि होने लगी, पृथ्वी सस्यश्यामला हो उठी, अप्सराएँ नृत्य एवं गान करने लगीं।[10] देवों, दिक्पालों, गन्धर्वों से युक्त इन्द्र ने अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ शची सहित जिनेन्द्र के दर्शनार्थ प्रस्थान किया।[11] इन्द्राणी ने माता पद्मावती के पास मायावी बालक को रखकर उस बालक को इन्द्र को सौंप दिया। इन्द्र ने जिनेन्द्र के चरणों में प्रणाम कर उस नवजात को अपने हाथों में लेकर सम्मानपूर्वक ऐरावत के कन्धे पर बिठाया।[12] ईशानेन्द्र ने उन पर छत्र लगाया। वे आकाश मार्ग से पाण्डुकवन लेकर गए। वहाँ देवताओं ने जिनेन्द्र का समारोह पूर्वक जन्माभिषेक किया। तदनन्तर देवेन्द्र ने जिनेन्द्र को उनके माता-पिता के पास पहुँचाकर उनसे सब समाचार निवेदित कर दिया।[13] तत्पश्चात् उनके जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न होने पर इन्द्र ने ये जिनेश्वर समस्त मुनियों को सुव्रती बनायेंगे एवं स्वयं भी सुव्रती बनेंगे, ऐसा विचारकर इनका मुनिसुव्रत यह नाम रखा।[14] जिनेन्द्र मुनिसुव्रत का यह अलौकिक प्रभाव था कि उन्होंने माता के स्तनपान की इच्छा नहीं की। स्वयं उनके हाथ के अंगुष्ट में क्षुधा तृप्ति के लिए अमृत (अमृत-तुल्य दुग्ध) था।[15]

जिनेन्द्र स्वामी का 7500 वर्ष का कुमार काल रहा।[16] उनके शरीर में सदा नि:स्वेदिता, निर्मलता, श्वेतरुधिरता, समाकृति, वज्रवृषभनाराच-संहनन तथा एण नामक मृग की नाभि में विद्यमान कस्तूरी की सुगंध को तिरस्कृत कररने की सुगन्धिमत्ता थी।[17] वे कमल, शंख, मत्स्य और श्रीवत्स आदि एक सौ आठ उत्तम लक्षणों तथा मसूरिकादि नौ सौ उत्तम व्यञ्जनों (लक्षणों) से सम्पन्न थे।[18]

इस तरह राजकुमार मुनिसुव्रत स्वाभाविक अतिशयों से युक्त थे। इनकी आयु तीस हजार वर्ष थी। बीस धनुष प्रमाण ऊँचाई थी। विष, अग्नि, शस्त्रादि के विघात से दूर थे। वात, पित्त, कफ जन्य व्याधियों से रहित थे तथा विकसित अलसी के पुष्प के समान वर्ण वाले थे। युवावस्था प्राप्त होने पर पिता ने इनका विवाह एवं यौवराज्याभिषेक किया। इनके शासनकाल में सर्वत्र सुख शान्ति थी। राज्य सिंहासन पर रहते हुए उन्होंने दस हाजर पाँच सौ वर्षों तक शासन किया। तदनन्तर जैन मुनि के मुख से गजवृत्तान्त सुनकर इनकी वैराग्य भावना प्रबल हो गई। इन्होंने अपने पुत्र विजय को राज्यभार सौंप दिया। माता-पिता, बन्धुवर्ग एवं अमात्यादिकों से निवेदन करके गृह-त्यागार्थ उन्होंने अपराजिता नामक पालकी पर आरूढ होकर नीलवन में प्रवेश किया। अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग समस्त परिग्रहों का त्याग कर पद्मासन में स्थित रहकर वे मन्त्र जाप करने लगे। तदनन्तर केशलुञ्चन कर वैशाख कृष्णदशमी को चन्द्रयुक्त श्रवण नक्षत्र में उन्होंने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। मुनि सुव्रतस्वामी ने पूर्णचारित्र, शील तथा संयम के धारक होकर समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लिया। वे उग्र तपस्या करने लगे। सहस्र मुनियों से युक्त वे मुनिसुव्रतनाथ उसी प्रकार सुशोभित हए जैसे हजार-नेत्रों से इन्द्र, हजार किरणों से सूर्य, हजार पत्रों से कमल, हजार आरों से चक्ररत्न, हजार फणों से शेषनाग तथा हजार यक्षों से निधि शोभित हैं।[19]

इसके बाद 'राजगृह' नामक राजधानी में 'वृषभसेन' नामक राजा ने श्रद्धा तथा भक्ति के द्वारा मुनिसुव्रत स्वामी को पारणा (आहार) कराई। पारणा के समय पाँच आश्चर्य हुए। 1. रत्नवृष्टि, 2. पुष्पवृष्टि, 3. देवदुन्दुभि, 4. प्रशंसा ध्वनि, 5. सुगन्धित शीतल मन्द गन्ध ध्वनि।

तपश्चरण एवं साधना के इसी क्रम में मुनिसुव्रतनाथ ने शुद्धात्मतत्त्व पर्याय वाला पापविनाशक शुक्ल ध्यान लगाया। इसमें उन्होंने मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन कर्मप्रकृतियों का क्षय कर क्रमश: स्त्यानत्रय, तेरह नामकर्म तथा अवशिष्ट इक्कीस मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को नष्ट करते हुए क्षीणकाय नामक बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की सोलह कर्मकृतियों को भस्म किया। उनके योगखड्ग से समस्त घातिया कर्म नष्ट हो गये। इस प्रकार उन तीर्थङ्कर ने वैशाख कृष्ण दशमी को श्रवण नक्षत्र में अपराह्न वेला में कर्मक्षय से उत्पन्न नवलब्धियों सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, दस अतिशयों तथा आकाश में पाँच हजार धनुषप्रमाण उन्नत स्थान एक साथ प्राप्त किया। उनकी समवसरण सभा में अद्भुत दैवी आभा थी। अन्तत: सम्मेदाचल पर तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ जी का सोल्लास मोक्ष

कल्याणक सम्पन्न हआ।

साहित्यिक समीक्षा –

मुनिसुव्रत महाकाव्य साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से अत्युतम रचना है। मुनिसुव्रत स्वामी के जीवनवृत्त का निरूपण करने के क्रम में जैनदर्शन के सिद्धान्तों का भी सुन्दर प्रख्यापन है। मुनिसुव्रत स्वामी के जीवनानुक्रम का चित्रण अलङ्कृत साहित्यिक भाव–भूमि पर किया गया है। वर्णन को भावपूर्ण ढंग से उपस्थापित करने में अनेक सुन्दर अलङ्कार अनायस ही कविलेखनी को समलङ्कृत करते हैं। काव्य का प्रारम्भ कालिदास एवं नलचम्पूकार त्रिविक्रम भट्ट शैली का अनुकरण करता है। कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ में कहते हैं –

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले शोभादुद्बाहुरिव वामनः।। रघुवंश 1/3

नलचम्पूकार इसी भाव को इस प्रकार कहते हैं–

सोऽहं हंसायितुं मोहाद् बकः पङ्गुर्यथेच्छसि।
मन्दधीस्तद्वदिच्छामि कविवृन्दारकायितुम्।।[20]

इसी शैली का अनुकरण करते हुए आचार्य अर्हद्दास कहते हैं–

मनः परं क्रीडयितुं ममैतत्काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः।
न लाभपूजादिरतः परेषां न लालनेच्छाः कलभारमन्ते।।[21]

अर्थात् अल्पज्ञ मैं अर्हद्दास अपने मनोरञ्जन हेतु ही इस काव्य का प्रणयन करूँगा, न कि दूसरों से अर्थलाभ एवं सम्मान पाने की कामना से। हाथी के बच्चे, अपनी उमंग से ही जलक्रीडा करते हैं, दूसरों को प्रसन्न करने की अभिलाषा से नहीं। पुनश्च मेरा यह काव्य यदि पूर्ववर्ती कवियों के समान नहीं होगा, यह मानकर सज्जनगण हंसते हैं, तो हँसे। जड़ एवं तुच्छ शुक्ति क्या आज भी अमूल्य मोती पैदा नहीं करती ?

श्रव्यं करोत्येष किल प्रबन्धं पौरस्त्यवन्नेति हसन्तु सन्तः।
किं शुक्तयोऽद्यापि महापरार्ध्यं मुक्ताफलं नो सुवते विमुग्धाः।।[22]

कवि इस तथ्य से भी सुपरिचित है कि इस संसार में महाकवियों के प्रबन्ध को सुनकर कोई कोई महापुरुष ही प्रमुदित होते हैं, जड़ नहीं। जैसे चन्द्रोदय को देखकर समुद्र ही वृद्धि को प्राप्त होता है, जलाशय नहीं–

प्रबन्धमाकर्ण्य महाकवीनां प्रमोदमायाति महानिहैकः।
विधूदयं वीक्ष्य नदीन एव विवृद्धिमायाति जडाशया न।।[23]

मुनिसुव्रत काव्य का प्रबल पक्ष है, इसकी काव्यात्मकता। मगध देश एवं राजगृह का यहाँ अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। अलङ्कारों की मनोरम छटा अनेकत्र दिखाई देती है।

मुनिसुव्रत के जन्म देश मगध के वर्णन प्रसङ्ग में परिसंख्या अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग वहाँ के प्राकृतिक एवं मानसिक सौन्दर्य का सहज चित्रण कर देता है –

यत्रार्तवत्वं फलिताटवीषु पलाशितताद्रौ कुसुमे परागः।
निमित्तमात्रे पिशुनत्वमासीद् निरोष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता च।।[24]

जिस मगध देश में आर्तवत्व (षड्ऋतुओं का होना, मानसिक दुःख) फले हुए जंगलों में था, मगधवासियों में नहीं पलाशिता (पत्तों वाला होना या मांस भक्षण) पर्वतों में था, मगधवासियों में नहीं, पराग (पुष्परज, बड़ा अपराध) फूलों में था, मनुष्यों में नहीं पिशुनत्व। (शकुन विचार, चुगलखोरी) निमित्तशास्त्रों में थी, मनष्यों में नहीं। अपवादिता (पवर्गोक्तिराहित्य, निन्दाभाव) ओष्ठ्याक्षर रहित काव्यों में था, मनुष्यों में नहीं।

जहाँ माल्यता (पुष्पमालाएँ, मलिनता) स्त्रियों के केशपाशों में थी, न कि मगधवासियों में। श्याम–आननत्व स्त्रियों के स्तनों में था, लोगों के हृदय में नहीं। जड़ता (गठीलापन, मन्दता) स्त्रियों की जंघाओं म ें थी, मगध निवासियों की बुद्धि में नहीं। अपाङ्गता (कटाक्ष–ईक्षण, अङ्गहीनता) स्त्रियों के नेत्रों में थी, न कि मगधवासियों में। नास्तिवाद (अतिकृशता, नास्तिकता) स्त्रियों के कटि भाग में था, मगधनिवासियों में नहीं –

स्त्रीणां कचे माल्यमुरोजभारे श्यामाननत्वं जघने जडत्वम्।
अपाङ्गता केवलमक्षिसीम्नोर्मध्यप्रदेशेषु च नास्तिवादः।।[25]

इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में राजा सुमित्र के पराक्रम एवं पद्मावती के सौन्दर्य का मोहक चित्रण कवि प्रतिभा के प्रकर्ष का सूचक है। यहाँ रानी पद्मावती के अनिर्वचनीय सौन्दर्य का चित्रण है।[26]

काव्य में उपमा , उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रान्तिमान्, अर्थान्तरन्यास, परिसंख्या, अतिशयोक्ति, विरोधाभास आदि अलङ्कारों के बड़े सुन्दर प्रयोग हैं। प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन जी ने इस काव्य की साहित्यिकसमालोचना करते हुए अलङ्कृति, सौन्दर्य का विधिवत् निरूपण किया है। प्रकृति के आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव के अनेक रमणीय चित्र नवम सर्ग के ऋतु वर्णन एवं प्रथम सर्ग के मगध देश एवं राजगृह के वर्णन में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है, राजगृह में नीलमणि एव स्फटिक मणि से जटित जिनालयों की कान्ति आकाश में प्रतिबिम्बित हो रही थी, इससे हरी घास एवं जल की भ्रान्ति से आकृष्ट होकर दौड़ते हुए घोड़ों को रोकने में असमर्थ होकर मानो सूर्य ने उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन किया -

यत्रास्मगर्भार्कजिनालयत्विच्छत्रेऽभ्रमध्ये तपनो हठेन।
दूर्वाम्बुबुद्धया द्रवदश्वरोधक्लेशासहः किं कुरुतेऽयने द्वे।।[27]

काव्य की भाषा सहज, सरल, सानुप्रासिक एवं प्रवाह युक्त है। प्राय: वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीति के स्थल प्राप्त हैं।[28]

इसी प्रकार मगध देश की वृक्ष-पंक्तियों का वर्णन करते हुए कवि की पदशय्या दर्शनीय है[29] -

तरङ्गिणीनां तरुणान्वितनाञ्मतुच्छपद्मच्छदलाच्छितानि।
पृथूनि यस्मिन् पुलिनानि रेजुः काञ्चीपदानीव नखाल्पिता।।

अर्थात् मगध देश में वृक्ष पंक्तियों से युक्त विशाल पुलिन विकसित कमलपत्रों से चिह्नित हैं, फलत: नायिका के नखक्षत युक्त जघन प्रदेश के समान शोभायमान हो रहे हैं।

संक्षेप में मुनिसुव्रत काव्य जैनधर्म में महनीय स्थान प्राप्त तीर्थङ्कर परम्परा के विशिष्ट रत्न मुनिसुव्रत स्वामी के जीवन का काव्यात्मक शैली में निबन्धन करने वाला श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसकी भावपूर्ण कल्पनाएँ, रुचिर प्रस्तुति, चित्ताकर्षक वर्णन क्षमता, प्रवाहयुक्त पदशय्या एवं मोहक अलङ्कृति सौन्दर्य इसे जैन संस्कृत महाकाव्य परम्परा का एक उत्कृष्ट हीरक रत्न सिद्ध करने में समर्थ है।

सन्दर्भ -

1. मुनिसुव्रतकाव्य 1/12-13
2 मुनिसुव्रतकाव्य 2/1
3 मुनिसुव्रतकाव्य 2/10
4 मुनिसुव्रतकाव्य 2/7-8
5 मुनिसुव्रतकाव्य 2/11
6 मुनिसुव्रतकाव्य 3/23-25
7 मुनिसुव्रतकाव्य 3/28-30
8 मुनिसुव्रतकाव्य 3/32
9 मुनिसुव्रतकाव्य 4/13
10 मुनिसुव्रतकाव्य 4/23-40
11 मुनिसुव्रतकाव्य 4/42-47
12 मुनिसुव्रतकाव्य 5/1-10
13 मुनिसुव्रतकाव्य 6/43
14 मुनिसुव्रतकाव्य 7/2-3
15 मुनिसुव्रतकाव्य 7/11
17 मुनिसुव्रतकाव्य 7/12
18 वही 7/13
19 मुनिव्रतकाव्य 8/17
20 नलचम्पू 1/21-22
21 मुनिव्रतकाव्य 1/15
22 मुनिव्रतकाव्य 1/14
23 मुनिव्रतकाव्य 1/16
24 मुनिव्रतकाव्य 1/34
25 मुनिव्रतकाव्य 1/35
26 मुनिव्रतकाव्य 2/24
27 मुनिव्रतकाव्य 1/52
28 मुनिव्रतकाव्य 1/41
29 मुनिव्रतकाव्य 1/26 तथा 39,50

प्रो. डॉ.मनुलता शर्मा
पूर्व अध्यक्ष संस्कृतविभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संस्कृतभाषा प्रशिक्षुओं की राजपद्धति 'संस्कृत प्रवेशिका'

महामहिम राष्ट्रपति के द्वारा सम्मानित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के कला संकाय के पूर्व प्रमुख एवं संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष आचार्य प्रवर प्रो. सुदर्शन लाल जैन की संस्कृत व्याकरण, अनुवाद निबन्ध की पुस्तक 'संस्कृत प्रवेशिका' बहुधा प्रशंसित एवं प्रचलित है। आपने विश्वविद्यालयीय अध्यापन की दीर्घ अवधि में प्राप्त अनुभव एवं अपनी अन्तर्गत शास्त्रप्रज्ञा का यह समवेत उन्मेष है।

अध्येताओं के संस्कृतभाषा शिक्षण हेतु प्रथम प्रवेश से लेकर उत्तरोत्तर उनके ज्ञान एवं प्रयोग में क्षमतावृद्धि को ध्यान में रखकर उक्त पुस्तक में तीन भाग दिये गये हैं। तथा एक विविध विषयक परिशिष्ट है।

प्रथमभाग : व्याकरण –

इस भाग में दश अध्याय हैं – (1) वर्णमाला (Alphabet), (2) सन्धि (Euphonce combination of letters), (3) कृत् प्रत्यय (Primary Suffixes), (4) तद्धित प्रत्यय (Secondary Suffixes), (5) स्त्री प्रत्यय (Formation of feminine bases), (6) अव्यय (Indelinable words), (7) कारक एवं विभक्ति (Case and case-ending), (8) समास (Compound) एवं (9) शब्दरूप (Declension) और (10) धातुरूप (Conjugation of verbs)

द्वितीय भाग : अनुवाद –

इसमें 26 पाठ हैं, जिनमें व्याकरण के विविध विषयों के आधार पर नियमों को दर्शाते हुए हिन्दी के वाक्य संस्कृत में अनुवाद करने हेतु पूछे गये हैं। इस प्रकार प्रत्येक पाठ में पहले व्याकरण से सम्बद्ध कोई नियम, उसके कतिपय हिन्दी से संस्कृत में अनूदित उदाहरण वाक्यों को दर्शाने के पश्चात् उन वाक्यों में प्रयुक्त व्याकरण का कोई नियम दर्शाया गया है। उसके बाद उस नियम से सम्बद्ध (अनुवाद करने हेतु कतिपय हिन्दी वाक्य दिये गये हैं जिससे सम्बद्ध व्याकरण नियमों के अनुसार अनुवाद किया जा सके। इस प्रकार छात्रों में अनुवाद के माध्यम से व्याकरण एवं संस्कृत भाषा के प्रयोगों की क्षमता में वृद्धि होती है।

तृतीय भाग : संस्कृत निबन्ध –

सरल एवं मानक संस्कृत भाषा में निबन्ध लेखन से भाषाज्ञान की समृद्धि का बोध त्वरित हो जाता है। इस उद्देश्य से इस भाग में 20 शीर्षकों में साक्षात् निबन्ध लिखे गये हैं। वे इस प्रकार हैं – (1) काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, (2) गङ्गा, (3) वाराणसी, (4) भगवान् बुद्धः, (5) महामना–मदनमोहनमालवीयः, (6) महात्मा–गांधिः, (7) महाकविकालिदासः, (8)सत्सङ्गतिः, (9) सदाचारः, (10) परोपकारः, (11) संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्, (12) मातृभक्तिः देशभक्तिश्च, (13) अनुशासनम्, (14) विद्यार्थिकर्त्तव्यम्, (15) आधुनिकं विज्ञानम्, (16) विद्या, (17) सत्यम्, (18) उद्योगः, (19) अहिंसा, (20) गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

यथोचित विविध सम्बद्ध श्लोक एवं गद्य आदि के उद्धरणों के साथ लिखे गये ये सरल संस्कृतनिबद्ध निबन्ध छात्रों के लिए तो उपयोगी सिद्ध हुए हैं। शिक्षक एवं अभिभावकों के लिए भी मार्गदर्शक बने हैं।

चतुर्थभाग : विविध विषयक परिशिष्ट –

संस्कृत प्रवेशिका में दिये गये परिशिष्ट में गणीय कतिपय धातुओं के रूपों के कोष, वाग्व्यवहार शब्दकोष, णिच्, सन् आदि प्रत्ययान्त धातुएँ, कर्मवाच्य एवं भाववाच्य की क्रियायें, आत्मनेपद–परस्मैपद विधान, मूर्धन्यीकरण (णत्व विधि तथा षत्व–विधि), प्रकृति–प्रत्यय, अभ्यास–संग्रह, कतिपय अन्य संस्कृत निबन्ध इस पुस्तक की पूर्णता प्रामाणकिता एवं प्रयोगार्हता को ही साक्षात् संकेतित कर रहे हैं।

संस्कृत विभाग के तत्कालीन प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प्रो. डॉ. वीरेन्द्रकुमार वर्मा के निर्देशन में 1974 ई. में प्रथम वार सिद्ध–सरस्वती प्रकाशन, वाराणसी से यह संस्कृत–प्रवेशिका प्रकाशित हुई। इसकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि शीघ्र ही इसके चार संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुए। बाद में इसका प्रकाशन तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी

को दे दिया गया।

इस पुस्तक की विशिष्टता यह भी है कि इसकी शुभाशंसा लिखने वालों में प्रोफेसर डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. सुरेश चन्द्र पाण्डेय, डॉ. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, डॉ. रामजी उपाध्याय, डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, डॉ. कपिलदेव पाण्डेय, डॉ. प्रभाकर शास्त्री, डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य, जैसे स्वनाम धन्य विद्वान् हैं, डॉ. कपिलदेव पाण्डेय ने इस पुस्तक की शुभाशंसा में जो कहा है, वह सर्वथा अन्वर्थ है –

उत्तरीतुं परीक्षाब्धिं संस्कृतं शिक्षितुं तथा।
प्रकामं सेव्यतां छात्रैः संस्कृतैषा प्रवेशिका।।
सुधिया सुहृदा सम्यग् ग्रन्थरत्नमकारि यत्।
कण्ठे कृत्वा तु तत् प्रेम्णा सर्वे सन्तु सुदर्शनाः।।

वस्तुतः संस्कृत भाषा को सरल एवं सहज भाव से सीखने एवं स्नातकादि परीक्षा में सहजता से संस्कतभाषा व्याकरण एवं अनुवाद को लिख पाने की क्षमता की जनक यह संस्कृत प्रवेशिका ऐसा विस्तृत एवं प्रशस्त राजमार्ग है जिसमें बिना बाधा एवं आयास के कोई भी छात्र प्रवेश करने में समर्थ है।

विद्वानों के अभिमत –

डॉ. विद्या निवास मिश्र, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी–संस्कृत–प्रवेशिका पाश्चात्य व्याकरण पद्धति से लिखी गयी उपयोगी पुस्तक है। संस्कृत वाक्य–विन्यास, पद–विन्यास और वर्ण–विन्यास को सुगम ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। मुझे विस्वास है कि यह संस्कृत–अध्येताओं के बड़े काम की पुस्तक होगी।

डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–विद्वान् ग्रन्थकार ने अध्यापक के रूप में विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संस्कृत व्याकरण के दुरूह तत्त्वों का सुबोध प्रतिपादन किया है। संस्कृत–प्रवेशिका का यह चतुर्थ संस्करण इसकी व्यापक उपयोगिता को सप्रमाण करता है।

डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री', निदेशक, अनुसन्धान संस्थान, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी– डॉ. सुदर्शनलालजैनमहोदयविरचिता संस्कृत–प्रवेशिका तावदद्याधिप्रकाशितेषु व्याकरणानुवादनिबन्धग्रन्थेषु प्रवरा कृतिर्विभाति या खलु शैक्षाणां कोविदानां च नूनमुपकारिका सेत्स्यतीति वाढं प्रत्येति।

प्रो. डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डेय, संस्कृत विभाग, इलाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद – मैंने डॉ. जैन की संस्कृत–प्रवेशिका को पढ़ा है। पुस्तक छात्रों के लिए परम उपयोगी है, पठनीय है तथा संग्रहणीय है।

प्रो. डॉ. हरिनारयण दीक्षित, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल– डॉ. जैन ने संस्कृत भाषा को सीखने और सिखाने के उद्देश्य से बहुत ही अच्छी पुस्तक लिखी है। इससे छात्रों और अध्यापकों को बड़ी सुविधा होगी।

डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी, संस्कृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर– डॉ. जैन अनुभवी विद्वान् हैं उनकी यह रचना निःसन्देह बहुत अच्छी है। स्नातक छात्रों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होगी।

प्रो. डॉ. सत्यप्रकाश सिंह, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़– मैंने संस्कृत–प्रवेशिका का भली–भाँति अवलोकन किया है। इसमें संस्कृत व्याकरण सभी अङ्गों का सुबोध शैली में प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पे. डॉ. रामजी उपाध्याय, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर– संस्कृत व्याकरण सीखने की प्राचीन और नवीन पद्धतियों का समीकरण करने में डॉ. जैन को अद्भुत सफलता मिली है। इस पुस्तक से संस्कृत व्याकरण का अभ्यास करने वालों की संख्या निरन्तर बढ़ेगी।

Dr. S. Bhattacharya, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय - Although the book is an Introduction to sanskrit it contains copious notes and is authenticated with original references at the footnotes. I have therefore no doubt to recommend the book for use by University and Institutions.

डॉ. कपिलदेव पाण्डेयः,अध्यक्ष संस्कृत विभाग, आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी –

उत्तरीतुं परीक्षाब्धिं संस्कृतं शिक्षितुं तथा।

प्रकामं सेव्यतां छात्रैः संस्कृतैषा प्रवेशिका।।
सुधिया सुहृदा सम्यग् ग्रन्थरत्नमकारि यत्।
कण्ठे कृत्वा तु तत् प्रेम्णा सर्वे सन्तु सुदर्शनाः।।

प्रो. डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली -संस्कृत-प्रवेशिका संस्कृत व्याकरण और रचना की अद्वितीय पुस्तक है।

डॉ. राय अश्विनी कुमार, प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, मगध विश्वविद्यायलय, बोध गया- डॉ. जैन द्वारा लिखित संस्कृत-प्रवेशिका को मैं बी.ए., एम.ए., शास्त्री तथा आचार्य कक्षाओं के लिए संस्तुत करता हूँ।

डॉ. शिवबालक द्विवेदी, प्राध्यापक, डी.ए.वी. कालेज, कानपुर- संस्कृत-प्रवेशिका देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें संस्कृत व्याकरण, अनुवाद और निबन्धों को सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है।

डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, रीडर, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर- संस्कृत व्याकरण, अनुवाद और निबन्ध के लिए डॉ. जैन की संस्कृत-प्रवेशिका एक आदर्श पुस्तक है।

प्रो. प्रभाकर शास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर- गम्भीर विषय को सरल ढंग से प्रस्तुत करने में डॉ. जैन सिद्धहस्त हैं। संस्कृत-प्रवेशिका, प्राकृत-दीपिका, तर्कसंग्रह आदि उसके निदर्शन हैं।

प्रो. गोपबन्धु मिश्र
कुलपति, सोमनाथ विश्वविद्यालय, सोमनाथ

तर्कसंग्रह : एक समीक्षा

भारतीय दर्शन की आस्तिक परम्परा में न्याय-वैशषिक दर्शन की प्रमुख भूमिका रही है। महर्षि गौतम के न्यायसूत्र से न्यायदर्शन का उद्गम हुआ। इस पर वात्स्यायन आचार्य द्वारा लिखा गया न्यायभाष्य, उद्योतकर रचित 'न्यायवार्तिक', वाचस्पति मिश्र प्रणीत 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' और उदयनाचार्य कृत 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकापरिशुद्धि' जैसे ग्रन्थ न्यायदर्शन की सुदृढ परम्परा को दर्शाते हैं। यह परम्परा आगे बढ़ते हुए एक नये उत्कर्ष को प्राप्त करती है। यह वह समय था जब भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का समापन हो चुका था। ऐसे समय में एक नवीन विचाराधारा वाले न्याय सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'नव्य न्याय' की संज्ञा दी गई।

न्याय दर्शन में जहाँ प्रमाण तथा प्रमेयादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है वहीं इसके समान तन्त्र वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवम् अभावरूप सात पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान से (तत्त्वज्ञान द्वारा) निःश्रेयस् की प्राप्ति का सिद्धान्त वैशेषिकाचार्य कणाद मुनि का है।

न्याय दर्शन के प्रारम्भिक ज्ञानहेतु 'तर्कभाषा' के सदृश 'तर्कसंग्रह' का भी विशेष महत्त्व है। तर्कसंग्रह में प्रमाणों की विवेचना में न्याय दर्शन और प्रमेयों के चिन्तन में वैशेषिक दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अन्नम् भट्ट विरचित तर्कसंग्रह की समीक्षा तब तक पूर्ण नहीं हो पाती है जब तक संस्कृत की 'दीपिका' टीका के साथ इसका अध्ययन न कर लिया जाय किन्तु संस्कृत टीका सर्वबोधगम्य न होने के कारण इसकी हिन्दी टीका की आवश्यकता बनी रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन जी (भूतपूर्व कला सङ्काय प्रमुख एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) ने तर्कसंग्रह पर व्याख्या लिखी है। न्याय-वैशेषिक का आद्य ग्रन्थ होने पर भी इसके पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट विवेचना के बिना इसके विषय विद्यार्थियों के लिए जटिल ही होते हैं। प्रो. जैन जी ने 'बालानां बोधाय' को ध्यान में रखते हुए तर्कसंग्रह की अत्यन्त सरल शब्दों में व्याख्या कर इसे सुबोध बना दिया है। दुरूहस्थलों पर दार्शनिक सिद्धान्तों को भी स्पष्ट किया है। आचार्य वात्स्यायन की 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' इस पंक्ति के अनुसार (प्रमाण और तर्क (युक्तियों) के द्वारा किसी सिद्धान्त (अर्थ) की परीक्षा करना न्याय है) न्याय की इस परिभाषा को साकार करने में अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में न्याय शास्त्र में अनुमान प्रमाण की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अनुमान प्रमाण अपने स्वरूप, भेदों तथा हेत्वाभासों की विवेचना से अत्यन्त क्लिष्ट हो जाता है। अनुमान के दुरूह स्वरूप का प्रो. जैन जी ने सरलीकरण करके इसकी विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के जिज्ञासु छात्रों के लिए 'तर्कसंग्रह' की यह व्याख्या अत्यन्त

उपादेय है।

मुझे पूर्ण आशा और विश्वास है कि तर्कसंग्रह की आचार्य जैन द्वारा रचित हिन्दी व्याख्या की लोकप्रियता सतत् बनी रहेगी।

विद्वानों के अभिमत -

1. प्रोफेसर महाप्रभुलाल गोस्वामी, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - दीपिकान्यायबोधिन्यादिपूर्वाचार्य-व्याख्यानग्रन्थानां सारमवलम्ब्य काचिन्नूतन एवार्थावबोधस्य वैज्ञानिकी-सरणिरवलम्बिता

2. डॉ. सागरमल जैन, निदेशक, पी.वी.इन्स्टीट्यूट, वाराणसी- यह हिन्दी व्याख्या अत्यन्त सुबोध तथा विषय को गहराई के साथ स्पष्ट करती है। 'दीपिका' पदकृत्य आदि संस्कृत-टीकाओं का सारतत्त्व गृहीत होने के कारण सामान्य पाठक भी इसके अध्ययन से न्याय जैसे गम्भीर विषय को आत्मसात् कर सकता है। ग्रन्थ में बीच-बीच में प्रश्नोत्तर शैली अपनायी गई है तथा विषय को तालिकाओं द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

3. प्रोफेसर धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला- आपने अत्यन्त परिश्रम करके इस ग्रन्थ का सरल-विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

प्रो. उमा देवी जोशी

भूतपूर्व प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

सुदर्शनलाल जैन कृत व्याख्या से सरल बनी कर्पूरमञ्जरी

महाकवि राजशेखर कृत 'कर्पूरमञ्जरी' 'सट्टक' परम्परा में रचित महान् नाट्यकृति है; जिसके उल्लेख के बिना संस्कृत नाट्य साहित्य की चर्चा पूरी नहीं होती। प्राकृत और संस्कृत के भाषासौष्ठव की दृष्टि से यह महनीय कृति है। यहाँ उल्लेखनीय है कि महाकवि राजशेखर मूलत: संस्कृत के कवि हैं जिसका प्रताप उनके संस्कृत श्लोकों में देखने को मिलता है। उन्होंने 'कर्पूरमञ्जरी' में प्रमुख रूप से प्राकृत भाषा का आश्रय लिया है। यह प्राकृत साहित्य (काव्य) सृजन के क्षेत्र में उनका महनीय योगदान है। प्राकृत भाषा में लिखित उनकी उक्तियां भी विलक्षण हैं। एक प्रयोग यहाँ दृष्टव्य है-

रुवेण मुक्का वि विहूसअंति ताणं अलंकार वसेण सोहा।
णिसग्गचंगस्स वि माणुसस्य सोहा समुम्मीलइ भूसणेहिं।।

अर्थात् युवतियाँ रूप से विहीन होकर अलंकार धारण करती हैं, उनकी सुन्दरता अलंकारों के अधीन होती है; किन्तु जो स्वभाव सुन्दर है; उनकी शोभा में अलंकारों से उत्कर्ष आता है।

महाकवि राजशेखर का समय विद्वानों ने ईस्वी 885 से ईस्वी 975 तक के मध्य माना है। 'कर्पूरमञ्जरी' एक 'सट्टक' है। सट्टक के विषय में कवि ने स्वयं लिखा है कि -

सो सट्टओ त्ति भण्णइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरई।
किं पुण पवेसअ-विक्कंभकाइं इह केवलं णत्थि।।

अर्थात् उस दृश्य काव्य का नाम सट्टक है जो नाटिका नामक दृश्यकाव्य से मिलता-जुलता है। नाटिका से सटक में केवल यह अन्तर होता है कि सट्टक में प्रवेशक और विष्कम्भक नामक दो अर्थोपक्षेपक नहीं होते हैं। साहित्यर्पण के रचयिता श्री विश्वनाथ ने सट्टक का स्वरूप इस प्रकार बताया है -

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
न च विष्कम्भकोप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः।।
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिका समम्।

उन्होंने 'सट्टक' की चार विशेषताएं बतलायी हैं-

1. सम्पूर्ण दृश्यकाव्य का प्राकृत भाषा में उपनिबन्धन।
2. अद्भुत रस का प्रचुर प्रयोग।
3. अङ्कों के स्थान पर जबनिका का प्रयोग।

4. प्रवेशक और विष्कम्भक का अभाव।

'सट्टक' के उक्त लक्षण 'कर्पूरमञ्जरी' में विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सट्टक' के स्वरूप-निर्धारकों ने 'कर्पूरमञ्जरी' को आधार बनाकर ही यह स्वरूप निर्धारण किया है क्योंकि 'कर्पूरमञ्जरी' से पूर्व अन्य 'सट्टक' उपलब्ध नहीं था। बाद में 'सट्टक' रचयिताओं ने 'कर्पूरमञ्जरी' का ही अनुकरण प्राय: किया है।

कर्पूरमञ्जरी की कथा

महाकवि राजशेखरकृत 'कर्पूरमञ्जरी' में चार जवनिका हैं। इसका कथासार इस प्रकार है –

प्रथम जवनिकान्तर – राजा चन्द्रपाल, देवी विभ्रमलेखा, विदूषक और परिजनवर्ग रङ्गमंच पर आते हैं। राजा और देवी वसन्त ऋतु की शोभा का वर्णन करते हुए एक दूसरे को बधाई देते हैं। वैतालिक भी राजा और देवी को बधाई देते हैं। विदूषक भी अपने को विज्ञ बतलाते हुए कहता है–'तुम सबमें मैं ही एक 'कालाक्षरिक (मूर्ख या विद्वान्) हूँ।' इस पर विचक्षणा व्यंग्य करती है। उन दोनों में काफी कहा सुनी होती है। विदूषक के काव्य कौशल की अपेक्षा विचक्षणा के काव्य कौशल की जब प्रशंसा होती है तो विदूषक अप्रसन्न होकर चला जाता है परन्तु थोड़ी देर बाद योगीश्वर भैरवानन्द के साथ पुन: प्रवेश करता है। योगीश्वर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए विदूषक के परामर्श से विदर्भ नगर की अद्भुत सुन्दरी राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी को स्नानावस्था में सबके समक्ष योगबल से उपस्थित करता है। राजा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। कर्पूरमञ्जरी के परिचय से जब पता लगता है कि यह देवी विभ्रमलेखा की मौसी शशिप्रभा और मौसा वल्लभराज की पुत्री है तो देवी मौसेरी बहिन समझकर बहुत प्रसन्न होती है। देवी के अनुरोध पर योगीश्वर कर्पूरमञ्जरी को देवी के पास रहने के लिए कुछ दिनों को छोड़ देता है। साज-सज्जा करने हेतु देवी उसे अन्त:पुर में ले जाती है। तभी वैतालिक-गण से संध्याकाल की सूचना पाकर सभी संध्यावन्दना हेतु चले जाते हैं।

द्वितीय जवनिकान्तर- राजा और प्रतिहारी का प्रवेश होता है राजा कर्पूरमञ्जरी की याद में विह्वल होकर निरंतर उसके रूपसौन्दर्य का स्मरण करता है। प्रतिहारी राजा का ध्यान हटाना चाहता है परन्तु असफल रहता है। तभी विदूषक और विचक्षणा एक साथ उपस्थित होते हैं। उन दोनों में दोस्ती हो चुकी है। विचक्षणा केतकी दल पर लिखा कर्पूरमञ्जरी का प्रेम-पत्र राजा को देती है। स्वयं विचक्षणा भी राजा के वियोग से दीनहीना कर्पूरमञ्जरी की विरहदशा का वर्णन करती है। इसी प्रसङ्ग में विदूषक भी राजा के विरह सन्ताप का उद्घाटन करता है। पश्चात् राजा के द्वारा यह पूछने पर कि देवी ने कर्पूरमञ्जरी को अन्त:पुर में ले जाकर किस प्रकार अलंकृत किया ? विचक्षणा उसके अङ्ग-प्रत्यंग के शृंगार का वर्णन करती है। विदूषक भी सर्वालंकारों से अलंकत उसके सर्वांग का वर्णन करता है परन्तु राजा उसके स्नात सौन्दर्य के ध्यान में ही डूबा रहता है। विदूषक राजा का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कहता है–'मैंने उसे सर्वालंकारों से अलंकृत बतलाया है और तुम उसके स्नातसौन्दर्य में ही मस्त हो। अलंकारों से अलंकृत रूप की ओर ध्यान दो।' राजा इस बात पर कहता है कि स्वाभाविक सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। साज सज्जा से वह सौन्दर्य ढक जाता है। क्या द्राक्षारस को शर्करा से मीठा बनाया जाता है? विचक्षणा राजा का पक्ष लेती है। विचक्षणा कर्पूरमञ्जरी की विरहदशा की ओर पुन: संकेत करती है तथा विदूषक से समझकर शेष कार्य पूरा करने का आग्रह करती है।

विदूषक राजा को शेष कार्य बतलाते हुए कहता है–'आज हिन्दोलन चतुर्थी के दिन महारानी गौरीपूजा के बाद कर्पूरमञ्जरी को झूला में झुलायेंगी। उस समय आप मरकतकुंज में बैठकर कर्पूरमञ्जरी को झूलती हुई देखेंगे। पश्चात् राजा और विदूषक दोनों कटलीगृह में स्थित मरकतकंज से कर्परमञ्जरी को झूलते हुए देखते हैं। राजा पुन: विह्वल हो जाता है। विदूषक शिशिरोपचार सामग्री लेने जाता है। रास्ते में शिशिरोपचार सामग्री हाथ में लिए हुए विचक्षणा से मुलाकात होती है। वार्तालाप से दोनों को एक दूसरे के दर्शन तथा विरहसन्ताप का पता लगता है। राजा और कर्पूरमञ्जरी के विरह सन्ताप के निवारण का कारण ज्ञात होने पर शिशिरोपचार सामग्री को फेंक दिया जाता है। योजनानुसार राजा मरकतकुंज से तमाल वृक्ष की आड़ से देवी के द्वारा आदिष्ट कर्पूरमञ्जरी को कुरवक, तिलक और अशोक वृक्षों का आलिङ्गनादि के द्वारा दोहद कर्म करते हुए सानुराग देखता है। पश्चात् संध्याकाल हो जाने पर सभी लोग चले जाते हैं।

तृतीय जवनिकान्तर- राजा और विदूषक का प्रवेश होता है। राजा कर्पूरमञ्जरी के रूप का चिन्तन कर रहा है। विदूषक के पूछने पर राजा स्वप्न में कर्पूरमञ्जरी के मिलन का उद्घाटन करता है। इस पर विदूषक राजा का ध्यान वहाँ से हटाने के लिए कल्पित प्रतिस्वप्न का वर्णन करता है। विदूषक स्वप्न में देखता है कि बह गङ्गा जी की धारा में सो रहा है और मेघों ने उसे जल से साथ निगल लिया है; फिर मेघ के गर्भ में स्थित हुआ ताम्रपर्णी नदी के सङ्गम स्थल समुद्र के ऊपर पहुँचता

है। वहाँ तेज वर्षा होने पर विदूषक भी समुद्र की मुक्तासीपियों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। पश्चात् वह सुन्दर और बड़े-बड़े 64 मोतियों के रूप में बाहर निकाला जाता है जिसे सागरदत्त सेठ मोल लेकर हार बनवाता है। पश्चात् पांचाल देश के राजा श्री बज्रायुध को एक करोड़ मुद्राओं में वह हार बेच देता है। राजा उस हार को रानी के गले में पहिना देता है। चाँदनी रात को राजा ने जब रानी का आलिङ्गन किया तो स्तनों के मध्य में हार के दब जाने से विदूषक की निद्रा टूट जाती है। राजा विदूषक के स्वप्न का तात्पर्य समझ जाता है। पश्चात् दोनों में प्रेम, यौवन और सौन्दर्य में अलंकारों की स्थिति पर विस्तृत विचार होता है। इसी समय नेपथ्य से कुरंगिका कर्पूरमञ्जरी के विरहसन्ताप का वर्णन करती है। राजा और विदूषक आगे बढ़ते हैं और कर्पूरमञ्जरी के पास पहुँच जाते हैं। जब कर्पूरमञ्जरी स्वागतार्थ उठती है तो राजा उसका हाथ पकड़कर रोकता है। कर्पूरमञ्जरी को पसीने से भीगा देखकर विदूषक वस्त्रांचल से हवा करता है जिससे दीपक बुझ जाता है। अंधकार में राजा कर्पूरमञ्जरी का हाथ पकड़े हुए स्पर्श सुख का अनुभव कर ही रहे थे कि नेपथ्य से वैतालिक चन्द्रोदय की सूचना देता है। सभी चन्द्रोदय का वर्णन करते हैं। इधर देवी को राजा और कर्पूरमञ्जरी के प्रणय व्यापार की सूचना मिल जाती है परन्तु देवी के आने के पूर्व ही कर्पूरमञ्जरी सुरङ्गद्वार से रक्षा गृह में चली जाती है। राजा और विदूषक भी चले जाते हैं।

चतुर्थ जवनिकान्तर - राजा और विदूषक का प्रवेश होता है। राजा ग्रीष्म ऋतु में विरह सन्ताप से व्याकुल है। विदूषक अपने को ग्रीष्म सन्ताप और विरहसन्ताप दोनों से परे बतलाता है, इस पर नेपथ्य से एक शुक विदूषक की चोटी उखाड़ने को कहता है। विदूषक क्रोधित होकर उसे गालियां देता है जिससे शुक उड़ जाता है। राजा विरह सन्ताप से पीड़ित होकर ब्रह्मा को ही क्षुरी के द्वारा खण्डित करने की बात करता है। प्रसङ्गतः ग्रीष्म ऋतु कब सुखद होती है और कब दुःखद होती है ? इसकी भी चर्चा राजा करता है।

राजा के द्वारा कर्पूरमञ्जरी का हाल पूछने पर विदूषक कहता है कि देवी ने उसे कड़े पहरे वाले कारागार में बंद कर दिया है। सुरङ्गद्वार भी पत्थरों से बंद कर दिया गया है। इसी बीच देवी की सखी सारंगिका राजा से देवी की ओर से निवेदन करती है-'आज चौथे दिन होने वाले वटसावित्री के महोत्सव को महाराज विमान प्रासाद पर चढ़कर देखें।' राजा वैसा ही करता है। महोत्सव में नृत्यांगनाएं विविध प्रकार के नृत्य करती हैं। इसी बीच सारंगिका पुनः प्रवेश करके देवी का दूसरा निवेदन राजा को सुनाती है-'आज सायंकाल तुम्हारा विवाह होगा। गोरी की प्रतिमा बनवाकर योगीराज भैरवानन्द से उसमें प्राणप्रतिष्ठा कराई थी तथा उनसे स्वयं दीक्षा भी ली थी। देवी ने जब योगीराज से गुरुदक्षिणा लेने का बहुत आग्रह किया तो योगीराज ने गुरु दक्षिणा में लाट देश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमंजरी के साथ राजा का विवाह करने को कहा। साथ ही यह भी कहा कि जो इसके साथ विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा बनेगा। देवी ने इसे स्वीकार करके मुझे आपके पास सूचनार्थ भेजा है।' यथा समय राजा का विवाह होता है। विवाहोपरान्त देवी को पता चलता है कि कर्पूरमञ्जरी का ही दूसरा नाम घनसारमंजरी है। भैरवानन्द जब राजा से और प्रिय करने को कहता है तब राजा कहता है कि देवी प्रसन्न हैं, त्रिभुवन सुन्दरी कर्पूरमञ्जरी का समागम हो गया है और मैं चक्रवर्ती राजा बन गया हूँ; अब और क्या चाहिए? इसके बाद भरतवाक्य के साथ सभी चले जाते हैं।

व्याख्या का वैशिष्ट्य- कर्पूरमञ्जरी की अभिनव एवं परिष्कृत व्याख्या संस्कृत-प्राकृत साहित्य के प्रमुख अध्येता डॉ. सुदर्शनलाल जैन, एम.ए., पी-एच.डी. आचार्य (साहित्य, प्राकृत, जैनदर्शन) तत्कालीन प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने की। वे बाद में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बने और उन्होंने विद्यार्थियों में संस्कृत विभाग के प्रति अभिरुचि जगाने एवं शोधकार्य की दिशा में प्रशंसनीय योगदान दिया। भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने उन्हें उनकी उल्लेखनीय सेवाओं के लिए सम्मानित किया।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने अपने अनुसंधित्सु स्वभाव एवं अध्यापकीय दृष्टि को ध्यान में रखकर कर्पूरमञ्जरी की व्याख्या लिखी है। मूल के अनुसार व्याख्या करना और मूल के भाव को सुरक्षित रखना इस व्याख्या की विशेषता है। श्री विश्वनाथ भट्टाचार्य ने कर्पूरमञ्जरी के प्राक्कथन में राजशेखर के विषय में लिखा है कि-वे सिद्धहस्त कवि हैं और स्थान-स्थान पर भावों के सूक्ष्म चित्रण में वे उच्चकोटि का अनायास स्पर्श कर जाते हैं। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में ऐसे अनेक श्लोक हम पाते हैं जो कविदृष्टि की विलक्षण सूक्ष्मता और भावप्रकाशन की निपुणता के द्योतक हैं। समीक्षक प्रायः सफल कवि नहीं होते, कवि भी सार्थक समीक्षक नहीं होते पर राजशेखर एक सफल कवि और सार्थक समीक्षक हैं-यह स्मरणीय तथ्य उनकी अद्वितीयता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

ऐसे कवि की नाट्यकृति की व्याख्या भी सरल कार्य नहीं था किन्तु डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने अपने वैदुष्य के बल पर यह कार्य सुगम और सफल बनाया। एक शिक्षक के नाते उन्हें अपने विद्यार्थियों की माँग पता थी अत: व्याख्या करते समय उन्होंने विद्यार्थियों के हितों को ध्यान में रखा।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने कर्पूरमञ्जरी की व्याख्या से पूर्व इस कृति में 46 पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना लिखी है जिसमें कथासार, राजा चन्द्रपाल, कर्पूरमञ्जरी, देवी (विभ्रमलेखा), भैरवानन्द (योगीश्वर), विदूषक (कपिञ्जल ब्राह्मण), विचक्षणा (दासी)आदि पात्रों के चरित्र चित्रण, कर्पूरमञ्जरी में सौन्दर्य और प्रेम विषयक दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रेम समीक्षा, सट्टक का स्वरूप, उद्भव और विकास, प्रकृति चित्रण,काव्य सौन्दर्य, भाषा, कृतिकार राजशेखर का परिचय, उनकी कृतियां तथा ग्रन्थ योजना पर वैदुष्यपूर्ण प्रकाश डाला है। इससे कृति का मूलभाव तथा कृतिकार का व्यक्तित्व पाठकों तथा विद्यार्थियों के सामने आ जाता है।

डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने कर्पूरमञ्जरी की व्याख्या का नामकरण अपनी सुयोग्य पत्नी 'मनोरमा' के नाम पर 'मनोरमा' नाम दिया है। जो 'यथा नाम तथा गुण:' की उक्ति को चरितार्थ करता है। आपने व्याख्या लिखकर कृति को सुपाच्य बनाया है। इससे आपके भाषा-ज्ञान का भी पता चलता है और वैदुष्य का भी। टिप्पणी के अंतर्गत विभिन्न विद्वानों के पारिभाषिक विचार, सूक्तियां, लक्षण ग्रन्थों के आधार पर लक्षण आदि तथा लोक प्रचलित धारणाओं के आधार पर संक्षिप्त कथाओं का अङ्कन या सूचना देकर विषय को बोधगम्य बनाया है। भाषागत विविध रूपों की चर्चा भी उपयोगी है। कवि राजशेखर कर्पूरमञ्जरी के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि -

दूरे किज्जउ चंपअस्स कलिआ कज्जं हलिद्दीअ किं
उत्तत्तेण अ कंचणेण गणणा का णाम जच्चेण वि।
लावण्णस्य णवुगएंदुमहुरच्छाअस्स तिस्सा पुरो
पच्चग्गेहि वि केसरस्य कुसुमक्केरेहि किं कारणं।।

नवोदित चन्द्रमा की तरह मधुर कांतिवाले उसके लावण्य के समक्ष चम्पा की कली को दूर करो, हल्दी का भी क्या प्रयोजन? शुद्ध और तपाए हुए सोने की भी क्या गिनती ? ताजे केशर के फूलों के ढेर से भी क्या प्रयोजन ?

इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने लिखा है कि- चम्पा, हल्दी, तप्तसुवर्ण और ताजे केशर की अपेक्षा कर्पूरमञ्जरी का लावण्य अधिक चमकीला है। अतएव चम्पा आदि के उपमानत्व का निराकरण करने से यहाँ 'आक्षेप' अलंकार है। प्रतिषेधपुर:सरोक्तिराक्षेप:। उपमा अलंकार की ध्वनि होने से अलंकार से अलंकार ध्वनि भी है। 'उत्तत्तेण' के स्थान पर 'ओल्लोल्लाइ' (आर्द्रया) पाठ करने पर भी वही अर्थ निकलेगा क्योंकि सुवर्ण तपाये जाने पर आर्द्र (तरल) हो जाता है।

इस तरह कवि राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के माध्यम से जो भाव व्यक्त किया है उसकी रक्षा करते हुए डॉ. सुदर्शनलाल जैन द्वारा यह मनोरमा टीका लिखना कर्पूरमञ्जरी जैसे सट्टक को चर्चित बनाने की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण योगदान साहित्य जगत के लिए माना जायेगा; ऐसा मैं मानता है। व्याख्याकार डॉ. सुदर्शनलाल जैन इस श्रमसाध्य कार्य के लिए बधाई एवं साधुवाद के पात्र हैं।

अभिमत -प्रोफेसर विश्वनाथ भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-
विद्वान् सम्पादक ने अद्यावधि उपलब्ध सभी विद्वानों की विचारधारा का मन्थन कर नवनीत के रूप में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। प्राकृत भाषा का विशेष अध्ययन करने वाले डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने इस सट्टक की जिस प्रकार छानबीन की है उसमें कवि और कविकृति के बारे में कोई भी प्रश्न अमीमांसित नहीं है।

डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'
महामन्त्री, श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् बुरहानपुर (म.प्र.)

उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन की समीक्षा

'उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन' जैन धर्म-दर्शन के महामनीषी तथा प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन द्वारा रचित एक पुस्तक है जिसमें लेखक ने उत्तराध्ययन सूत्र का विशेष अध्ययन कर तथा उस पर अपना विशेष अभिमत प्रदान कर कृति को और भी उत्कृष्ट बना दिया है। उत्तराध्ययनसूत्र की गणना जैन आगमों के अन्तर्गत मूलसूत्रों में की जाती है। दिगम्बर परम्परा में भी उत्तराध्ययन की गणना अङ्गबाह्य ग्रन्थों में की जाती है। यह माना जाता है कि भगवान् महावीर के अन्तिम उपदेश इसमें संग्रहीत हैं। अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध तथा छत्तीस अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ पद्य और गद्य दोनों में मिश्रित रूप में प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्याय इस प्रकार हैं- विनयश्रुत, परीषह, चतुरङ्गीय, असंस्कृत, अकाममरण, क्षुल्लक निग्रन्थीय, एलय, कापिलीय, नमिप्रवज्या, द्रुमपत्रक, बहुश्रुत पूजा, हरिकेशीय, चित्तसम्भूतीय, इषुकारीय, सभिक्षु, ब्रह्मचर्य, समाधिस्थान, पापश्रमणीय, संजय, मृगापुत्रीय, महानिग्रन्थीय, समुद्रपालीय, रथनेमीय, केशिगौतमीय, समितीय, यज्ञीय, समाचारी, खलुंकीय, मोक्षमार्गगति, सम्यक्त्व, पराक्रम, तपोमार्ग, चरणविधि, प्रमादस्थानीय, कर्मप्रकृति, लेश्या, अनगार एवं. जीवाजीव-विभक्ति। इन सभी अध्ययनों में सामान्य रूप से साधु के आचार एवं तत्त्वज्ञान का सरल एवं सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसकी तुलना वैदिक परम्परा के सर्वमान्य ग्रन्थ भगवद्गीता तथा बौद्ध परम्परा की जातक कथाओं के साथ की जाती है।

प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन ने इस ग्रन्थ पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ के शोधछात्र के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की। सन् 1970 में प्रथम बार यह ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ। इसकी लोकप्रियता और महत्ता के कारण इसे पुन: प्रकाशित करना पड़ा। इसकी लोकप्रियता के कारण ही बाद में प्रो. अरुण शान्तिलाल जोशी (व्याख्याता शामणदास कालेज, भावनगर, गुजरात) ने इसका गुजराती अनुवाद किया जो सन् 2001 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित हुआ। इसके हिन्दी संस्करण की अत्यधिक मांग को देखते हुये प्राकृत भारती, जयपुर के सहयोग से 2012 में इसका पुन: प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ से किया गया।

उत्तराध्ययनसूत्र पर अन्य जैन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा विपुल व्याख्यात्मक सहित्य उपलब्ध है। शार्पेन्टियर, हर्मन याकोबी, एम. विन्टरनित्ज आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसके साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं के महत्त्व की ओर संकेत किया किन्तु इन विद्वानों ने उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तरङ्ग विषय का सर्वांगीण समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया जो समालोचनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक और समाजोपयोगी है। प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन ने इस अधूरे कार्य को पूरा किया और इसकी समालोचनात्मक व्याख्या कर इस ग्रन्थ की महत्ता को और भी बढ़ा दिया। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रास्ताविक सहित कुल आठ प्रकरण और चार परिशिष्ट हैं। प्रबन्ध के अन्त में सहायक ग्रन्थ-सूची, अनुक्रमणिका, तालिकायें एवं वृत्तचित्र दिये गये हैं। अन्तिम प्रकरण में प्रबन्ध का परिशीलनात्मक उपसंहार प्रस्तुत होने से ग्रन्थ का नाम '**उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन**' रखा गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध के **प्रास्ताविक** में जैन आगम साहित्य में उत्तराध्ययन का स्थान, विषय-परिचय, रचयिता एवं रचनाकाल, नामकरण का कारण, भाषा शैली और महत्त्व तथा टीका साहित्य के साथ उत्तराध्ययन के प्रकाशित विविध संस्करणों की सूची दी गयी है। विषय की दृष्टि से प्रथम प्रकरण में विश्व की भौगोलिक संरचना, द्रव्य-लक्षण विचार, षट् द्रव्य, लोक रचना, सृष्टि तत्त्व आदि का निरूपण किया गया है। **द्वितीय प्रकरण** में संसार की दु:खरूपता और उसके कारणों पर विचार करते हुये सुखदु:ख की विषमता का कारण कर्म सिद्धान्त को मानकर उनके प्रमुख भेद-प्रभेदों तथा बन्धन-कारणों का वर्णन किया गया है। **तृतीय प्रकरण** में मुक्ति मार्ग अथवा त्रिरत्न का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार किसी कार्य की सफलता के लिये, इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न इन तीन बातों का संयोग आवश्यक होता है उसी प्रकार संसार के दु:खों से निवृत्ति हेतु विश्वास, ज्ञान और सदाचार का संयोग आवश्यक है जिन्हें क्रमश: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा गया है। **चतुर्थ प्रकरण** में साधुओं के आचार का वर्णन किया गया है जिसमें सामान्य साध्वाचार तथा विशेष साध्वाचार इन दो प्रकार के आचारों में सामान्य साध्वाचार जिसमें दीक्षा की उत्थानिका, बाह्य उपकरण (उपधि), महाव्रत, प्रवचन-मातायें, आवश्यक, सामाचारी, वसति या उपाश्रय तथा आहार आदि पर विचार किया गया है।

उत्तराध्ययन में चारित्र और ज्ञान की पूर्णता के लिये संन्यास को आवश्यक माना गया है। इस आश्रम में रहनेवाले को साधु या श्रमण कहा गया है जिसका अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है। इस प्रकरण में श्रमणत्व को अङ्गीकार करने से लेकर मुक्ति की पात्रता तक का वर्णन किया गया है। **पञ्चम प्रकरण** में साधुओं के विशेष साध्वाचार का वर्णन किया गया है जिसमें तपश्चर्या, परीषह-जय, साधु-प्रतिमायें तथा समाधिमरण पर विचार किया गया है। **षष्ठ प्रकरण** में सम्पूर्ण साधना के प्रतिफल रूप 'मुक्ति' का वर्णन किया गया है जिसमें प्रमुख रूप से जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति का वर्णन किया गया है। **सप्तम प्रकरण** में समाज और संस्कृति का विवेचन किया गया है। वस्तुतः कोई भी साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण होता है। उत्तराध्ययन मुख्यतः धर्म और दर्शन का प्रतिपादन करता है किन्तु इससे तत्कालीन समाज और संस्कृति का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अन्तिम **अष्टम प्रकरण** में ग्रन्थ की उपयोगिता का वर्णन करते हुये प्रबन्ध का परिशीलनात्मक सिंहावलोकन किया गया है। यह बताया गया है कि भले ही उत्तराध्ययन मुमुक्षु के लिये जिस तत्त्वज्ञान, मुक्ति और मुक्ति-पथ का उल्लेख करता है वह विशेष रूप से श्रमणों के लिये है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह केवल साधुओं के लिये उपयोगी है क्योंकि इसमें सरल, साहित्यिक कथात्मक शैली में व्यवहारोपयोगी गृहस्थ धर्म का भी प्रतिपादन होने से यह जनसामान्य के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है।

इस प्रकार **'उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन'** एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिस प्रकार से लेखक ने सरल, सुबोधगम्य भाषा शैली में उत्तराध्ययन की विषयवस्तु को एक नये कलेवर में अपने परिशीलन से गुम्फित कर प्रस्तुत किया है, उसके लिये वह बधाई के पात्र हैं। मैं प्रो. सुदर्शन लाल जैन के दीर्घजीवन की कामना करता हूँ ताकि इस प्रकार के कुछ और ग्रन्थ प्रकाश में आ सकें।

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय

संयुक्त निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-221005

पूजा का वैज्ञानिक अनुशीलन : एक अनुपम कृति

जैन गृहस्थ के छः आवश्यक कर्तव्य बतलाए गए हैं जिनमें 'जिनदेव-पूजा' सर्वप्रथम है। जिन-मन्दिर समो शरण (अर्हन्त भगवन्तों की दिव्यदेशना सभा स्थल) के प्रतिरूप हैं जहाँ पञ्चकल्याणकों से प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। ऐसी जिन-प्रतिमाओं का दर्शन और पूजन (भक्तिभाव निवेदन) प्रतिदिन प्रातः उठकर करणीय है। ऐसा करने से एक विशिष्ट ऊर्जा वीतराग प्रतिमा से उत्सर्जित होकर दर्शनार्थी/पूजार्थी के अन्तःकरण में वीतरागभाव जागृत करती है। पूर्वोपार्जित पापकर्मों का क्षय होता है तथा मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। प्रभूत पुण्यकर्मों का लाभ तथा अनायास बिना मांगे सांसारिक अभीष्ट फल का लाभ भी होता है। देवपूजा का अभीष्ट फल प्राप्त हो एतर्थ आचार्यप्रवर 108 श्री निर्भयसागर जी ने अनुपम कृति का सृजन किया है जिसका नाम है - 'पूजन का वैज्ञानिक अनुशीलन'। इसमें पूज्य कौन है ? पूजक कौन है ? पूजा क्या है ? पूजा का फल क्या है, देवदर्शन क्या है ? यन्त्र-मन्त्र-वास्तु, होना बीजाक्षर आदि का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ को विषयानुसार नव अध्यायों में विभक्त किया गया है। अन्त में प्रयुक्त संदर्भ-ग्रन्थ-सूची भी दी गई है। सिका सुन्दर सम्पादन प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन ने किया है जो स्वयं जैनागमवेत्ता हैं। आपने इस ग्रन्थ को ग्रन्थों के संदर्भ देकर शोधग्रन्थ का रूप दे दिया। विस्तृत (17 पृष्ठीय) प्रस्तावना भी लिखी है जो विषय को सरल और संक्षेप विधि से स्पष्ट करती है।

यह ग्रन्थ जैन पूजा-विधि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। समस्त पारिभाषिक शब्दों, बीजाक्षरों तथा उनमें निहित वैज्ञानिकता को समझने के लिए उपादेय है।

डॉ. मनोरमा जैन

जैनदर्शनाचार्य, पी-एच.डी.,जैन नगर, भोपाल

अपराजेय व्यक्तित्व के धनी : आचार्य कुन्दकुन्द

(कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में निश्चय-व्यवहार नय का समन्वय करने वाला आलेख 'आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शनों में निश्चय और व्यवहार नय' जो प्रो. सुदर्शन लाल जैन का है इसी ग्रन्थ में छपा है, द्रष्टव्य है)

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जैन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष पूर्व से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते आ रहे हैं।

भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द को समस्त दिगम्बर आचार्य परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में स्मरण किया जाता रहा है। मङ्गलाचरण के रूप में प्रतिदिन बोले जाने वाला छन्द मूलतः इस प्रकार है -

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान जगमग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिन प्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्दकुन्दाम्नाये' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बताने वाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इस प्रकार हैं -

'कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर हैं और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा बन्द्य नहीं हैं।

यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रज:स्थान पृथ्वी-तल को छोड़कर चार अङ्गुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता रखते थे (अर्थात् वे अन्तरङ्ग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पष्ट थे)।

उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्ति पत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोड़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार इस प्रकार है -

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कोण्डकुन्दपुर में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था? - यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसङ्घ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् 46 में आप नन्दिसङ्घ के आचार्य पद पर आसीन हुये और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये। अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों के गाँव के नामों या उपनामों से सम्बोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति-मधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं। इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है -

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा।।

उक्त सभी नामों में 'कुन्दकुन्दाचार्य' नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है।

इस युग के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उस समय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखर प्रशासक आचार्य

की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह जैन परम्परा के विभाजन का आरम्भकाल था। इस समय बरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल परम्परा के सर्वसामान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध रूप परमागम (अध्यात्म शास्त्र) को लिखित रूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अत: उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे आचार्य कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार से मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक।

समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके सभी महान् ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं तथा आगे भी रहेंगे।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासक रूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में इस परम सत्य का उद्घाटन किया है, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

आध्यात्मिक शान्ति और सामाजिक क्रान्ति का जैसा अद्भुत सङ्गम इस अपराजेय व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

आत्मा के प्रति अत्यन्त सजग आत्मोन्मुखी वृत्ति एवं शिथिलाचार के विरुद्ध इतना उग्र सङ्घर्ष आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के ही वश की बात थी। आत्मोन्मुखी वृत्ति के नाम पर विकृतियों की ओर से आँख मूँद लेने वाले पलायनवादी एवं विकृतियों के विरुद्ध जेहाद छेड़ने के बहाने जगत प्रपञ्चों में उलझ जाने वाले परमाध्यात्म से पराङ्गमुख पुरुष तो पग-पग पर मिल जावेंगे, पर आत्माराधना एवं लोककल्याण में समुचित समन्वय स्थापित कर, सुविचारित सन्मार्ग पर स्वयं चलनेवाले एवं जगत को ले जानेवाले समर्थ पुरुष विरले ही होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे ही समर्थ आचार्य थे, जो स्वयं तो सन्मार्ग पर चले ही, साथ ही लोक को भी मङ्गलमय मार्ग पर ले चले। उनके द्वारा प्रशस्त किया वह आध्यात्मिक सन्मार्ग आज भी अध्यात्मप्रेमियों का आधार है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म एवं आचरण सम्बन्धी निर्देशों की आवश्यकता जितनी आज है, उतनी कुन्दकुन्द के समय में न रही होगी, क्योंकि अध्यात्म विमुखता और शिथिलाचार जितना आज देखने में आ रहा है, उतना कुन्दकुन्द के समय में सम्भवत: नहीं था और किसी भी युग में नहीं रहा होगा। अत: आज आध्यात्मिक जागृति और साधु व श्रावकों के निर्मल आचरण के लिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का अध्ययन गहराई से किया जाना उपयोगी ही नहीं, अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का नियमित स्वाध्याय एवं विधिवत् पठन-पाठन न केवल आत्महित के लिए आवश्यक है, अपितु सामाजिक शान्ति और श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा कुछ श्रावकों में समागत असदाचार और कुछ श्रमणों में समागत शिथिलाचार सामाजिक शान्ति को तो भङ्ग कर ही रहे हैं, श्रमण संस्कृति की दिगम्बर धारा भी छिन्न-भिन्न होती जा रही है। श्रद्धा और चारित्र के इस संकटकाल में आचार्य कुन्दकुन्द के पञ्च परमागमों में प्रवाहित ज्ञानगङ्गा में आकण्ठ निमज्जन (डुबकी लगाना) ही परम शरण है।

यदि हम जिन-अध्यात्म की ज्योति जलाये रखना चाहते हैं, श्रावकों को सदाचारी बनाये रखना चाहते हैं, सन्तों को शिथिलाचार से बचाये रखना चाहते हैं, तो हमें कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचाना ही होगा, केवल स्वाध्याय ही नहीं, उसे आचरण में भी लाना होगा।

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री, टोडरमल स्मारक, जयपुर

जिन-प्रतिमा पर सूरिमन्त्र क्यों ?

जिन-प्रतिमा का महत्त्व

साक्षात् तीर्थङ्कर और कैवली भगवन्तों के अभाव के बाद उनकी सान्निध्यता की पूर्ति के लिये जिनबिम्ब की रचना का उपदेश हमारे परम्पराचार्यों ने किया है। तीर्थङ्कर और केवली भगवान केवली अवस्था में स्वात्मलीन आनन्द में रहते हुये उनकी वीतराग मुस्कान और वीतराग मुद्रा कैसी थी ? तद्रूप प्रतिमा का निर्माण करना और उसकी स्थापना नय-निक्षेप से मन्त्रोच्चार पूर्वक संस्कार कर गुणों का रोपण करना, पश्चात् प्रत्यक्ष आराध्य के रूप में स्थापित कर प्रतिमा को प्रत्यक्ष तीर्थङ्कर मानकर आराधना करने का विधान पूर्व परम्पराचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया। मन्त्र एक ऐसी शक्ति है जो जीव और अजीव द्रव्य को प्रभावित करती है। इसीलिए तीर्थङ्कर भगवान के द्वारा दिव्य ध्वनि रूप द्वादशांग वाणी के दशवें अङ्ग में विद्यानुवाद का भी उपदेश है। जिसमें मन्त्र रूप बीजाक्षरों का निर्माण, मन्त्र-रचना, मन्त्र-साधन विधि आदि निरूपित किया गया है। मन्त्र के द्वारा इच्छित कार्यों की साकारता प्राप्त होने से व्यक्ति की मन्त्र के प्रति निरन्तर महत्ता और आदर श्रद्धा बढ़ती गयी। आत्म-कल्याण में भी मन्त्र एक ऐसा साधन है जो साधक को साध्य की ओर ले जाता है तथा जो जीव के परिणामों में विशुद्धि, निर्मलता, एकाग्रता और कर्म-निर्जरा में सहकारी बनता है।

जैन-प्रतिमा की निर्माण विधि

प्रतिमा विज्ञान में प्रतिमा निर्माण के अनेक रूपों का प्रतिपादन है। उनके माप और आकृतियों में भी विभिन्नतायें हैं, जैसे आर्त-रूप, रौद्र-रूप, वीर-रूप, हास्य-रूप, सौम्य वीतराग रूप ध्यान मुद्रा। इनमें जैन-प्रतिमा विज्ञान का पृथक एवं उसके माप के निर्माण का पृथक् स्वरूप है। रूप वीतराग हो, ध्यान मुद्रा हो, वीतराग मुस्कान हो (वीतराग मुस्कान की एक विलक्षणता निर्मित है) आचार्यों ने जैन-प्रतिमा के विषय में लिखा है- सरल, लम्बा, सुंदर संस्थान युक्त तरुण अवस्थाधारी नग्न यथाजात मुद्राधारी श्री वत्स लक्षण भूषित हृदयवाला जानुपर्यंत लम्बी भुजा सहित 108 भाग प्रमाण जिनेन्द्र बिम्ब, काँख मुख दाड़ी के केश रहित बनाने का उल्लेख है। श्रेष्ठ धातु या पाषाण की प्रतिमा को बनाने का उल्लेख हैं। जिस प्रमाण में जिन बिम्ब का निर्माण करना हो उस प्रमाण कागज में बीच से मोड़कर अर्द्ध रेखा करें। उसमें 108 भाग प्रमाण रेखाएँ करें। उसमें 2 भाग प्रमाण मुख, 4 भाग प्रमाण ग्रीवा, उससे 12 भाग प्रमाण हृदय, हृदय से नाभि तक 12 भाग प्रमाण, नाभि से लिङ्ग के मूल भाग पर्यन्त 12 भाग प्रमाण, लिङ्ग के मूल भाग से गोड़ा (घुटना) तक 24 भाग प्रमाण जांघ करें। जांघ के अंत में 4 भाग प्रमाण गोंडा करे, गोंडा से टिकून्या 24 भाग प्रमाण पीडी बनाएँ, टिकून्या (पंजा की गाँठ) से पादमूल पर्यन्त 4 भाग पर्यन्त एड़ी करें। इस प्रकार 108 भागों में सम्पूर्ण शरीर की रचना 9 विभागों में बनायें। यह विभाग मस्तक के केशों से लेकर चरणतल पर्यन्त हैं। मस्तक के ऊपर गोलाई केश से युक्त शोभनीक करें। चरणतल के नीचे आसन रूप चौकी बनाना चाहिये।

सामान्य जीव तथा जिन प्रतिमा का संस्कार और उसका प्रभाव

जिनेन्द्र -प्रतिमा को मन्त्रोच्चार पूर्वक साविधि संस्कार करने से अचेतन द्रव्य भी इतना प्रभावी और सातिशय बन जाता है कि जिसकी सान्निध्यता से जीव द्रव्य अपना उपकार करने में पूर्ण सक्षम हो जाता है। प्रतिमा दर्शन से स्वात्म-परिणामों में विशुद्धि एवं संसार की असारता का बोध जीव को होता है, इसी हेतु की साकारता के लिये तीर्थङ्कर के काल में भी पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की प्रतिकृति रूप प्रतिमायें निर्मित कर मन्त्रोच्चार पूर्वक उनका संस्कार किया जाता रहा है। वास्तु सर्वेक्षण से प्राप्त प्रतीक इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

प्राय: देखा गया है कि व्यक्ति के जीवन की शुभ और अशुभ प्रवृत्तियाँ उसके संस्कारों के अधीन हैं। जिनमें से कुछ वह पूर्वभव से अपने साथ लाता है और कुछ इसी भव में सङ्गति और शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न करता है। इसीलिये गर्भ में आने के पूर्व से ही बालक में विशुद्धि संस्कार उत्पन्न करने के लिए संस्कार क्रिया का भी विधान बताया गया है। गर्भावतरण से लेकर निर्वाण-पर्यन्त यथावसर श्रावक को जिनेन्द्र पूजन एवं मन्त्र संस्कार सहित 53 प्रकार की क्रियाओं का वर्णन शास्त्रों में प्रतिपादित है। इन क्रियाओं की सम्पन्नता से बालक के संस्कार उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए अर्हत दशा तक पहुँचकर निर्वाण-सम्पत्ति प्राप्त करने की पात्रता पा लेता है। सिद्धिविनश्चय ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में

लिखा है –'वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कार: स्मृतिबीजमादधीत' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही संस्कार है जिसे स्मृति का बीज माना गया है। पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ की तात्पर्य वृत्ति में पृष्ठ 251 पर लिखा है कि निज परम आत्मा में शुद्ध संस्कार करता है वह आत्मसंस्कार है। आत्म–संस्कार ही जीव की कर्म–शृंखला को निर्मूल करने में साधक है और यही उसकी चरमोपलब्धि है।

श्री बट्टकेर अचार्य प्रणीत मूलाचार ग्रन्थ में पृष्ठ 286 पर लिखा है कि पठित ज्ञान के संस्कार जीव के साथ जाते हैं। विनय से पढ़ा हुआ शास्त्र किसी समय प्रभाव से विस्मृत हो जाये तो भी वह अन्य जन्म में स्मरण हो जाता है। संस्कार रहता है और क्रम से केवलज्ञान को प्राप्त कराता है। अत: जीव के कल्याण में संस्कार का ही सर्वोपरि महत्त्व है।

धवला ग्रन्थ पुस्तक 7 खण्ड 4 पृष्ठ 82 में भगवंत पुष्पदन्त भूतवली स्वामी ने लिखा है कि चार प्रकार की प्रज्ञाओं में जन्मान्तर में चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनय पूर्वक 12 अङ्गों का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्य में उत्पन्न होने पर इस भव में पढ़ने सुनने व पूंछने आदि के व्यापार से रहित जीव की प्रज्ञा औत्पात्तिकी कहलाती है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में जीवाधिकार पृष्ठ 45 में धवला की उपर्युक्त वर्णित कथनी की पुष्टि करते हुए आचार्य भगवन लिखते हैं कि नरकादि भवों में जहाँ उपदेश का अभाव है वहाँ पूर्व भव में धारण किए हुए तत्त्वार्थ ज्ञान के संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आचार्यकल्प टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ 283 पर लिखते हैं कि इस भव में अभ्यास कर अगली पर्याय तिर्यञ्च आदि में भी जाय तो वहाँ संस्कार के बल से देव शास्त्र गुरु के बिना भी सम्यक्त्व हो जाय।

'स्वाध्याय एव तप:' की बात पूर्व से ही हमारे आगम आचार्यों एवं भव्यों को सम्बोधते आए हैं। स्वाध्याय का संस्कार केवलज्ञान होने तक सहकारी होता है। लोक में जीव के आत्मर हित में यह सर्वोपरि है। द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की टीका में पृष्ठ 159/160 पर लिखा है कि सम्यग्दृष्टि शुद्धात्म भावना भाने में असमर्थ होता है तब वह परम भक्ति करता है पश्चात् विदेहों में जाकर समवशरण को देखता है। पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट भेदज्ञान के संस्कार के बल से मोह नहीं करता और दीक्षा धारण कर मोक्ष पाता है। जैनागम ग्रन्थों में वर्णित इन प्रसङ्गों से स्पष्ट है कि मनुष्य भव के सम्यक् संस्कार एवं स्वाध्याय उसे मोक्ष तक पहुँचाने में पूर्ण सहकारी हैं। यह कथन जीव द्रव्य के संस्कारों का है।

प्रतिमा प्रतिष्ठा निर्देशक ग्रन्थ

पञ्चसंग्रह ग्रन्थ में धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा, प्रतिष्ठा इन सभी को एकार्थ वाची कहा गया है जिनमें विनाश बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

प्रतिमा–प्रतिष्ठा का विधान सर्व प्रथम आचार्य नेमिचन्द देव ने अपने प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रन्थ में किया है। आचार्य नेमिचन्द्र देव के गुरु आचार्य अभयचन्द्र और आचार्य विजयकीर्ति थे, इनके प्रतिष्ठा तिलक ग्रन्थ का प्रचार दक्षिण भारत में व्यापकता के साथ है। यह ग्रन्थ विक्रम संवत् 950 से 1020 के मध्य रचा गया है। विक्रम सम्वत् दश में ही आचार्य नेमिचन्द्रदेव के शिष्य आचार्य बसुनन्दि हुए इन्होंने प्राकृत भाषा में उपासकाध्ययन श्रावकाचार नाम के ग्रन्थ की रचना की उसी के अन्तर्गत प्रतिष्ठा विधान का वर्णन संक्षिप्त रूप में संस्कृत भाषा में किया जो महत्त्वपूर्ण है। पश्चात् आचार्य इन्द्रनन्दि महाराज ने विक्रमसंम्वत् 10/11 वीं शताब्दी में अपने प्रतिष्ठा ग्रन्थ में प्रतिमा प्रतिष्ठा, वेदी प्रतिष्ठा और शुद्धि विधान का वर्णन किया है। लगभग इसी समय सम्वत् 1042–1053 में आचार्य श्री वसुविन्दु अपरनाम जयसेनाचार्य जी ने एक स्वतंत्र प्रतिष्ठा ग्रन्थ की रचना की, जिसमें 926 श्लोक हैं। प्रतिमा प्रतिष्ठा का यह प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। श्री जयसेन स्वामी भगवन्त कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। कहा जाता है कि इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ की रचना मात्र 2 दिन में ही की थी। इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ का प्रचार उत्तर भारत में है। वि.सं. 1292–1333 के मध्य आचार्य ब्रह्मदेव हुए इन्होंने प्रतिष्ठा तिलक नामक ग्रन्थ की रचना की जो शुद्ध संस्कृत भाषा में है। और प्रतिमा प्रतिष्ठा का एक विशिष्ट हदयग्राही वर्णन इसमें लिखा है। इसी समय वि. सम्वत्।। 73–1243 में आचार्य कल्प पं. आशाधर जी का प्रणीत प्रतिष्ठा–सारोद्धार ग्रन्थ प्रकाश में आया। समय और काल की परिस्थितियों के अनुसार इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ में अनेक देवी–देवताओं की उपासना का प्रसङ्ग आया है। इसी समय वि.सं. 1200 में नरेन्द्र सेनाचार्य हुए इन्होंने 'प्रतिष्ठादीपक' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह जयसेन आचार्य के वंशज थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में मात्र 350 श्लोक हैं। मूर्ति मंदिर निर्माण में तिथि नक्षत्र योग आदि का अच्छा वर्णन किया है। ग्रन्थ में स्थाप्य, स्थापक और स्थापना का वर्णन है। इसके अलावा आचार्य हस्तिमल्ल जी द्वारा रचित जिनेन्द्र

कल्याणाभ्युदय, वि.सं. 1376 जिनसंहिता, वि.सं. 1292/1333 में आचार्य माघनन्दि कृत प्रतिष्ठाकल्प, आचार्य ब्रह्मदेव रचित प्रतिष्ठा सारोद्धार, आचार्य कुमुदचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत आचार्य अकलंक भट्टारक के प्रतिष्ठा

कल्प ग्रन्थ एवं राजकीर्ति भट्टारक प्रणीत प्रतिष्ठादर्श ग्रन्थ भी देखने में आए जो संक्षिप्त और सामान्यत: प्रतिष्ठा प्रकरण की साकारता में लिखित परम्परागत निर्देशों से युक्त हैं।

इन वर्णित सभी आचार्यों ने प्रतिमा और उसकी रचना संस्कार शद्धि के जो निर्देश मन्त्र और आराधन विधियाँ वर्णित की हैं, उनसे प्रतिमा-प्रतिष्ठा की पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है।

जिन-प्रतिमा कैसी हो - प्रतिमा-प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि प्रतिमा सर्वांग सुन्दर और शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध से तात्पर्य यदि पाषाण की प्रतिमा है तो एक ही पत्थर में जिसमें कहीं जोड़ न हो, पत्थर में चटक, दराज, भदरङ्गता, दाग-धब्बे न हों। साथ ही वीतराग मुद्रा में स्वात्म सुख की जो मुस्कान होती है उसकी झलक मुख-मुद्रा पर होना आवश्यक है। इसी को वीतराग-मुस्कान कहते हैं। मुस्कान के दो रूप होते हैं एक इन्द्रिय जन्य सुख में जो मुस्कान आती है उसमें ओंठों का फैलना खुलना या ऊपर उठना होता है। लेकिन आत्मोपलब्धि या आत्मगुणों के अभ्युदय में जो अन्तर में आत्म-आनन्द की अनुभूति होती है उसकी आभा समग्र मुखमण्डल पर व्याप्त होती है। ऐसी मुखमुद्रा के साथ प्रतिमा की दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम पद्मासन और दूसरी खड्गासन। ऊपर वर्णित नाप अनुसार निर्मित प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना चाहिए ।

जिन-प्रतिमा की संस्कार शुद्धि

प्रतिमा की प्रतिष्ठा तथा संस्कार शुद्धि के लिए उसे निर्मित वेदी के ईशान कोण में स्थापित करना चाहिए। तदनन्तर छ: प्रकार की शुद्धि का विधान हमारे आचार्यों ने प्रतिपादित किया है उसे सविधि सम्पन्न करना चाहिए।

1. **आकर प्रोक्षण विधि**- सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा तीर्थ मिट्टी से प्रतिमा पर लेप करना।
2. **शुद्धि प्रोक्षण विधि**- सर्वोषधियों तथा सुगंधित द्रव्यों से युक्त जल से प्रतिमा को शुद्ध करना।
3. **गुणारोपण विधि**- तीर्थङ्कर के गुणों का संकल्प पूर्वक आरोपण करना।
4. **मन्त्र न्यास**- प्रतिमा के विभिन्न अङ्गों पर चंदन केशर से बीजाक्षरों का लिखना। आचार्यों ने पन्द्रह स्थानों पर बीजाक्षर लिखने का निर्देश किया है लेकिन पं. आशाधर जी ने प्रतिमा में 40 स्थानों पर वर्ण बीजाक्षरों के लिखने का उल्लेख किया है।
5. **मुखपट्ट विधि**- प्रतिमा के मुख को वस्त्र से ढकना।
6. **मन्त्रोच्चार विधि**- कंकण-बंधन, काण्डक-स्थापन, नैवेद्य, दीप, धूप, फल, यव, पञ्चवर्ण, इशु, वलिवर्तिका, स्वर्णकलश, पुष्पांजलि, मुखोद्घाटन, नेत्रोन्मीलन की क्रिया मन्त्रोच्चार पूर्वक करने का विधान दिया गया है। इसके बाद पञ्चकल्याणक रोपण की क्रिया को सम्पन्न करते हुए कन्वयादि की सप्त क्रियाएँ करने के बाद केवलज्ञान प्रगट होता है।

गर्भाधान आदि 16 क्रियाओं के संस्कार के लिए प्रत्येक विधि में पृथक् पृथक् यंत्राभिषेक पूजन एवं तद्रूप विविध मन्त्र पाठों का जाप प्रतिमा के समक्ष आवश्यक है। दीक्षा संस्कार के पूर्व दीक्षान्वय की 48 क्रियाएँ प्रतिमा में संस्कारित करना चाहिए।

सूरिमन्त्र विधान तथा तत्सम्बन्धी जिज्ञासाऐं

प्रतिमा में सूरि मन्त्र देने का विधान पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत प्रतिष्ठा ग्रन्थों में कहीं भी नहीं दिया है। सूरि मन्त्र क्या है ? कैसा है ? प्रतिमा में कैसे सूरिमन्त्र देना चाहिए। इसका क्या विधि-विधान है ? ऐसी जानकारी किसी पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ में देखने में नहीं आई। दक्षिण भारत में तो आज भी प्रतिमा में सूरि मन्त्र देने की परम्परा नहीं है। सूरि-मन्त्र देने के का प्रथम संकेत वि.सं. 1042-1053 में आचार्य जयसेन ने अपने प्रतिष्ठा ग्रन्थ में दिया है। 'अथ सूरि मन्त्र' ऐसा लिखकर आगे जो मन्त्र लिखा है वह यह है -

ॐ ह्रीं णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, चत्तारि मङ्गलं, अरिहंता मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साहू मङ्गलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मङ्गलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो चत्तारि शरणं पव्वज्जामि, अरिहंते शरणं पव्वज्जामि, सिद्धे शरणं पव्वज्जामि साहू शरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं शरणं पव्वज्जामि, क्रों ह्रीं स्वाहा ।।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने अपने संग्रह-प्रतिष्ठासार में यही सूरिमन्त्र दिया है। पं. गुलाबचंद जी ने अपने प्रतिष्ठा-संग्रह ग्रन्थ प्रतिष्ठा-रत्नाकर में पं.मन्नूलाल प्रतिष्ठाचार्य की डायरी से संगृहीत कर लिखा लेकिन वह ब्र. शीतलप्रसाद की यथावत नकल है।

आचार्य जयसेन के पूर्व एवं परवर्ती आचार्यों ने कहीं भी किसी प्रकार के सूरिमन्त्र का उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया। प्राण-प्रतिष्ठा मन्त्र भी परवर्ती विद्वानों ने अपने संगृहीत ग्रन्थों में जो सूरिमन्त्र लिखे हैं वे विभिन्न प्रकार के हैं जैसे, प्रतिष्ठादर्पण में गणधराचार्य श्री कुन्थसागरजी ने लिखा- 'ॐ ह्रीं क्ष्रूं हूँ सुं स: क्रौं ह्रीं ऐं अर्हं नम:'।
पं. नाथूलाल जी ने प्रतिष्ठा प्रदीप ग्रन्थ में लिखा है -ॐ ह्राँ ह्रीं हूँ ह्रीं ह्र: अ सि आ उसा अर्हं ॐ ह्रीं स्म्ल्व्र्यूं ह्मल्व्र्यूं जम्ल्व्र्यूं तम्ल्व्र्यूं ल्म्ल्व्र्यूं म्ल्व्र्यूं फ्ल्व्र्यूं म्ल्व्र्यूं भ्म्व्र्यूं क्ष्म्ल्व्र्यूं क्म्लव्र्यूं हूँ ह्राँ णमो अरिहंताणं ॐ ह्री णमो सिद्धाणं ॐ हूँ णमो आइरीयाणं ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ॐ ह्र: णमो लोए सव्वसाहूणं अनाहत-पराक्रमास्ते भवतु ते भवतु ते भवतु ह्रीं नम:।
'प्रतिष्ठा चंद्रिका' में पं. शिवराजजी पाठक ने लिखा है -ॐ ह्रीं ऐं श्रीं भू ॐ भुव: ॐ स्व: ॐ मा: ॐ ह्रा: ॐ जन: तत्सविहुवरे एयं गर्भो देवाय धी महीधि योनि असिआ उसा णमो अरिहंताणं अनाहत-पराक्रमस्ते भवतु ते भवतु। यही प्रतिष्ठाचार्य श्री सोंरया जी ने अपने 'प्रतिष्ठा दिवाकर' ग्रन्थ में लिखा है।

आचार्यकल्प पं. आशाधरजी ने अपने प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रन्थ में सूरि मन्त्र का निर्देश तो नहीं किया लेकिन केवलज्ञान होने पर निम्नांकित मन्त्र पाठ का निर्देश दिया-

ॐ केवलणाणदिवायर किरण कला वप्पणासि यण्णाणो। णव केवल लद्धागम सुजणिय परमपरा ववएसो। असहायणाण दंसणसहिओ इदि केवली हु जोएण। जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणि हणारिसे उत्तो। इत्येषो र्हत्साक्षद् त्राव तीर्णो विश्वं पात्विति स्वाहा।

इसके अलावा हमारे पास 6 प्रकार के सङ्गहीत प्रतिष्ठा ग्रन्थ हैं उनमें ब्र. शीतलप्रसाद जी और पुष्पजी ने तो आचार्य जयसेन का ही मन्त्र संगृहीत किया। बाकी पं. शिवराजजी पाठक के प्रतिष्ठा चंद्रिका गणधराचार्य श्री कुन्थसागर के संगृहीत प्रतिष्ठा विधि दर्पण एवं पं. नाथूलालजी शास्त्री के प्रतिष्ठा प्रदीप एवं श्री सोंरया जी के 'प्रतिष्ठा दिवाकर' संग्रह ग्रन्थों में पृथक-पृथक सूरिमन्त्र दिए हैं। उन्होंने ऐसे किसी भी ग्रन्थ का निर्देश नहीं दिया कि यह सूरिमन्त्र उन्होंने कहाँ से संगृहीत किया है। मैंने आचार्य श्री विमलसागर जी से सूरिमन्त्र प्राप्त होने का निर्देश दिया है।
गणधराचार्य श्री कुन्थसागरजी द्वारा संगृहीत प्रतिष्ठा ग्रन्थ 'प्रतिष्ठा-विधि-दर्पण' में द्वितीय खण्ड पृष्ठ 292 पर लिखा है कि गुरु परम्परा से प्राप्त आचार्यों ने सूरि मन्त्र को गोप्य रखा इसलिए शास्त्रों में वर्णन नहीं मिलता। सूरिमन्त्र देने के संदर्भ में गणधराचार्य जी ने दिगम्बर मुनि महाव्रती द्वारा ही सूरि मन्त्र देने की बात लिखी है। 'दिगम्बर होकर प्रतिष्ठाचार्य को सूरिमन्त्र नहीं देना' ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया। मैं नहीं कह सकता यह निर्देश उन्होंने कहाँ से प्राप्त किया। पञ्च कल्याणकों के समस्त संस्कार प्रतिष्ठाचार्य करें और फिर जहाँ मुनि सम्भव न हो वहाँ फिर प्रतिष्ठाचार्य सूरि मन्त्र दे या न दे इसका समाधान नहीं दिया, दिगम्बर होकर प्रतिमा संस्कार करना अलग बात है और दिगम्बर होकर महाव्रत धारण करना अगल बात है।

प्रतिष्ठा-प्रदीप संगृहीत प्रतिष्ठा ग्रन्थ में **पं. नाथूलालजी शास्त्री** ने ग्रन्थ में द्वितीय भाग पृष्ठ 185 पर लिखा है कि सूरिमन्त्र का 108 बार जाप प्रतिष्ठाचार्य करें। पश्चात् उसी मन्त्र को मुनि से प्रतिमा में दिलाने का निर्देश दिया है।

प्रतिष्ठा चंद्रिका संगृहीत ग्रन्थ के पृष्ठ 236 पर पं. श्री शिवरामजी पाठक लिखते हैं कि मुनि ब्रह्मचारी के अभाव में स्वयं नग्न होकर प्रतिष्ठाचार्य 108 बार जाप करके समस्त प्रतिमाओं को मंत्रित करे।

यद्यपि मैंने जीवन में अनेकों बार महाव्रती मुनिराजों के अभाव में प्रतिमाओं को दिगम्बर होकर सूरिमन्त्र दिए हैं मुझे नहीं लगता कि यह गलत है। क्योंकि सूरिमन्त्र का पाठ अंतरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रह का कुछ समय के लिए त्याग कर मूर्ति का संस्कार किया गया है। सूरि मन्त्र देना भी एक संस्कार की ही क्रिया है। मेरे देखने में यह नहीं आया कि किसी आगम में आचार्य ने ऐसा कहीं उल्लेख किया हो कि सूरिमन्त्र किस विधि से कौन, कैसे दे। अगर परम्परागत सूरिमन्त्र प्रतिमा में देने की बात आई है तो मेरी दृष्टि में भी यह अच्छी परम्परा है कि सम्पूर्ण संस्कारों के बाद प्रतिमा में एक निर्ग्रन्थ सूरिमन्त्र दें। इससे दो लाभ हैं एक तो निग्रन्थ जिन प्रतिमा की तीर्थङ्कर जैसी सम्पूर्ण पात्रता के लिए सूरिमन्त्र से आभाषित करना। दूसरे महाव्रताचरण जैसा महामागी पूज्यशाली व्यक्ति ही महाव्रताचरण की अंतिम श्रेणी में अवस्थित होने की पात्रता का संस्कार दे। इस दृष्टि से भी सार्थक है। लेकिन महाव्रती के अभाव में प्रतिष्ठाचार्य उसको संस्कारित करें! इसमें मेरी दृष्टि में कहीं दोष नहीं है। श्रेष्ठता और पूज्यता की दृष्टि से महाव्रती सूरिमंत्र देवें, यह उचित है।
इस लेख के लेखन में निम्न ग्रन्थों का आलोडन किया गया है -
प्रतिष्ठातिलक (आचार्य नेमिचंद्र जी), प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य जयसेन जी, वसुविन्दु), प्रतिष्ठा दीपक (आचार्य नरेन्द्र सेन जी), प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य वसुनंदि जी), प्रतिष्ठा-सारोद्धार (आचार्य कल्प पं. आशाधर जी), जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय

(आचार्य हस्तिमल्ल जी), प्रतिष्ठाकल्प -(आचार्य माघनंदि जी), जिनसंहिता (श्री कुमुदचन्द्राचार्यजी), प्रतिष्टा-सारोद्धार (श्री ब्रह्मसूरि जी), प्रतिष्ठा- कल्प (श्री अकलंक भट्टारक), प्रतिष्ठादर्श-(श्री राजकीर्ति भट्टारक), प्रतिष्ठा पाठ - (आचार्य इन्द्रनन्दि जी), सिद्धान्तविनैश्चय (भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन), प्रतिष्ठासार सङ्ग्रह (ब्र. सीतलप्रसादजी), मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) प्रकाशन), प्रतिष्ठा- चन्द्रिका (श्री शिवराम पाठकजी), पञ्चालिका (परमश्रुत प्रभावक मण्डल) मुम्बई, प्रतिष्ठा विधि दर्पण (श्री आ. कुन्थसागरजी), षट्खण्डागम (अमरावती में प्रकाशन), प्रतिष्ठा प्रदीप (श्री नाथूलाल जी), तत्त्वार्थसार - (जैन सिद्धान्त प्रकाशक संस्था,कलकत्ता), प्रतिष्ठा रत्नाकर (श्री गुलाबचंद जी), 1. द्रव्य सङ्ग्रह टीका (वीतरागवाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़), प्रतिष्ठा दिवाकर (श्री विमलकुमार सोंरया), मोक्षमार्ग-प्रकाशक (वीतरागवाणी ट्रस्ट टीकमगढ़)

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया
एम. ए. (द्वय) शास्त्री - प्रधान सम्पादक-वीतरागवाणी, मासिक, टीकमगढ़ (म.प्र.)

जैन आगम के आलोक में पूजन विधान

प्रस्तावना- जिनेन्द्र देव की पूजा-परम्परा भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद से मौखिक (कठगत) रूप में प्रचलित रही है। सर्वप्रथम पांचवी शताब्दी में प.पू. आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी का जैनाभिषेक प्राप्त होता है। नौवीं शताब्दी में आचार्य श्री नयनन्दी स्वामी का सकल विधि विधान एवं 10-11वीं शताब्दी में आचार्य अभयनन्दी स्वामी का शान्तिचक्र पूजा, आचार्य श्री मल्लिषेण का बज्रपंजर विधान तथा आचार्य कल्प श्री आशाधर जी का जिन-यज्ञ कल्प देखने को मिला। बारहवीं सदी में आचार्य श्री पद्मनन्दी जी का देवपूजा एवं पार्श्वनाथ विधान तथा 14 वीं शदी में आचार्य श्री श्रुतसागर जी का सिद्धचक्राष्टक एवं श्रुतस्कन्ध पूजा महाभिषेक आदि ग्रन्थ हैं। इसके बाद विद्वानों ने हिन्दी पद्यान्तर पूजा ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन सभी के आधार पर तथा आगम के सैद्धान्तिक ग्रन्थों के परिप्रेक्ष में जो देखा है उसके आधार पर इस आलेख को प्रस्तुत कर रहा हूँ। अनेक पौराणिक ग्रन्थों तथा प्रतिष्ठा ग्रन्थों के आधार पर ही अर्हत् के पादमूल में भक्ति पूजा-विधान करना उपादेय है।

पूजा का हेतु- राग प्रचुर होने के कारण गृहस्थों के लिए जिनेन्द्र की पूजा करना प्रधान और प्रथम कर्त्तव्य है। इसमें पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमाओं का आश्रय होता है। परन्तु स्वयं के परिणामों की प्रधानता है जिसके कारण पूजक के द्वारा पूज्य के प्रति की गई भक्ति से असंख्यात-गुणी कर्म की निर्जरा होती रहती है। नित्य - नैमित्तक भेद से पूजा अनेक प्रकार की है। वाद्य, गान-नृत्य के द्वारा की गई पूजा प्रचुर फलदायी होती है। याग, यज्ञ, ऋतु, पूजा, इज्या, अध्वर, यह सब पूजा के ही पर्यायवाची शब्द है। अत: पूजा-विधान आगमोक्त विधि से युक्त होकर करना चाहिए।

आत्महित में पूजा की आवश्यकता -

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दाञ्चेति गृहस्थाणां षट् कर्माणि दिने दिने॥ (आ.समन्तभद्र)

श्रावक के दैनिक षट् कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम कर्त्तव्य भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करना है। भावों की प्रधानता के कारण पूजक की असंख्यात गुणी पाप कर्मों की निर्जरा होती है और असंख्यात गुणा शुभ कर्मों का आश्रव होता है। जैन आगम में भगवान जिनेन्द्र देव के साथ निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी की पूजा का भी विधान है। श्रावक के षट् कर्त्तव्यों में देव पूजा को प्रथम कर्त्तव्य के रूप में हमारे परम्पराचार्यों ने निहित किया है। जिनेन्द्र भक्ति से हम अशुभ से बचकर शुभ में प्रवृत्त होते हैं। शुभ से ही शुक्ल की ओर बढ़ा जाता है। अशुभ से शुक्ल की ओर नहीं बढ़ते। अत: जिनेन्द्र देव की पूजा परम्परा से मोक्ष का कारण कही गई है। मुनि हो या श्रावक दोनों को जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने का विधान है। मुनिराजों को भाव पूजा करने की आज्ञा है जबकि श्रावकों को द्रव्य पूजा करने का ही विधान है। मनुष्य जीवन की सार्थकता जिनेन्द्र भक्ति ही है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने इसे प्रधानता प्रदान की है।

पूजा के प्रकार

श्रावक और मुनि की अपेक्षा से पूजा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की कही गई है। श्री जिनसेन स्वामी ने

आदिपुराण में द्रव्य पूजा के चार प्रकार कहे हैं –

1. सदार्चना (नित्यमह)– प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत, फल आदि ले जाकर जिनालय में श्री जिनेन्द्र देव की पूजा करना सदार्चन है। भक्तिपूर्वक अर्हतदेव की प्रतिमा और मंदिर का निर्माण करना, दान-पत्र पर खेत खलिहान भवन आदि श्री जिन मंदिर की व्यवस्था हेतु देना भी सदार्चन ही है।

2. चतुर्मुख (सर्वतोभद्र)– मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है वह चतुर्मुख यज्ञ कहलाता है।

3. कल्पद्रुम– चक्रवर्ति के द्वारा किमिच्छिक दान देते हुए जो पूजा की जाती है वह कल्पद्रुम है। इसमें तीर्थङ्कर के समवशरण की रचना कर उसके पार्श्व में विधिवत् तीर्थङ्कर की पूजा की जाती है।

4. आष्टाह्निक– अष्टाह्निका पर्व में जो पूजा की जाती है वह अष्टाह्निक पूजा है। इसमें सभी श्रावक अष्टाह्निक पर्व में विशेष आराधना करते हैं। इसके सिवाय इन्द्र के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है वह 'इन्द्रध्वज' विधान है। इसके अलावा जो अन्य प्रकार की पूजाऐं हैं वे इन्हीं भेदों में अर्न्तभूत हैं।

धवला पुस्तक 8 खण्ड 3 में लिखा है कि अष्टद्रव्य से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम पूजा है। वसुनन्दी श्रावकाचार में लिखा है कि जिनेन्द्र पूजन के समय जिन भगवान के आगे जलधारा छोड़ने से पापरूपी मैल का संशोधन हो जाता है। इसी प्रकार एक एक द्रव्य के अर्पण से अनेक अनेक सौभाग्यों का प्राप्त करना कहा है।

पूजा के भेद– श्री सोमदेव आचार्य ने छह प्रकार से पूजा करने का निर्देश दिया है–

1. प्रस्तावना–जिनेन्द्र देव का गुणानुवाद करते हुए जिनेन्द्र प्रतिमा पर जल के द्वारा अभिषेक विधि सम्पन्न करना प्रस्तावना है।

2. पुराकर्म–जिस पात्र में अभिषेक के लिए प्रतिमा स्थापित की जाती है उसके चारों कोनों पर चार जलपूर्ण ंकलश स्थापित करना पुराकर्म है।

3. स्थापना– अभिषेक के लिए जिन प्रतिमा को थाली में स्थापित करना स्थापना है।

4. सन्निधापन– भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक करने के लिए तैयार हो जाना।

5. पूजा– अभिषेक के बाद जिन-पधि सम्पन्न करना।

6. पूजाफल– समस्त जीवों के कल्याण की भावना करना पूजाफल है।

आचार्य श्री वसुनन्दी स्वामी ने वसुनन्दी श्रावकाचार में भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा के छह भेद कहे हैं–

1. नाम– अरिहंत आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किए जाते हैं उसे नाम पूजा जानना।

2. स्थापना– आकार आदि में या आकारवान वस्तुओं में अरिहंतादि के गुणों का आरोपण करना भाव पूजा स्थापना है। तथा अक्षत आदि में अमुक देवता है ऐसा संकल्प कर उच्चारण करना असद्भाव पूजा स्थापना है। हुण्डापसर्पिणी काल में असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करना चाहिए क्योंकि कुलिङ्गमतियों से मोहित इस लोक में सन्देह हो सकता है।

3. द्रव्यपूजा– जल आदि द्रव्यों से प्रतिमा की जो पूजा की जाती है उसे द्रव्यपूजा कहते हैं। अर्थात् अरिहंतादि के लिए गंध, पुष्प, दीप, धूप, अक्षत, फल आदि समर्पण करना द्रव्य पूजा है।

4. क्षेत्रपूजा– जिनेन्द्र भगवान के प्रत्येक कल्याणक युक्त भूमि की अष्टद्रव्य से की गई पूजा क्षेत्रपूजा कहलाती है।

5. कालपूजा– जिस दिन तीर्थङ्करों के कल्याणक हुए हैं उस दिन तीर्थङ्कर प्रतिमा का अभिषेक कर पूजन करना अथवा नन्दीश्वर आदि की अष्टाह्निक पर्वों में जो जिन-महिमा की जाती है वह कालपूजा जानना चाहिए।

6. भावपूजा– मन से अरिहंतादि के गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है अथवा णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करे या स्तोत्र का पाठ करे यह भावूपजा है।

पूजा की महत्ता– आचार्यश्री पदमनन्दी स्वामी ने ''पद्मनंदि पञ्चविंशाति'' नामक ग्रन्थ में लिखा है –

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवनं तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥

जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न तो दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उन गृहस्थों को धिक्कार है। इसी प्रकार पञ्चाध्यायी ग्रन्थ में लिखा है कि –

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वर-व्यञ्जनादि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ।। 732

उत्तम बुद्धि वाला श्रावक प्रतिमाओं में अर्हत की बुद्धि से अहंत भगवान की और सिद्ध यंत्र में स्वर व्यञ्जन आदि रूप से सिदों की स्थापना करके पूजा करे। विवेकी जीवभाव पूर्वक अरिहंत को नमस्कार करता है। वह अतिशीघ्र समस्त दु:खों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि अर्हत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा का कारण है। भगवंत पुष्पदन्त भूतवली स्वामी ने धवला ग्रन्थ में लिखा है कि -

''जिणविंव-दंसणेण णिधत्तादि काचिदस्स-वि मिच्छत्तादि-कम्म-कलावस्स खयदंसणादो''

अर्थात् जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप कर्म भी मिथ्यात्वादि कर्म-कलाप का क्षय हो जाता है। अर्हंत भगवान की पूजा के महात्म्य से सम्यग्दर्शन से पवित्र पूजक को पूजा आज्ञा आदि उत्कर्ष कारक सम्पत्तियाँ आवश्यक रूप से प्राप्त होती हैं। फिर व्रत सहित व्यक्ति का तो कहना ही क्या है। जो व्यक्ति भक्ति से जिनवाणी को पूजते हैं वे पुरुष वास्तव में जिन भगवान को ही पूजते हैं। क्योंकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं है।

पूजा की वैज्ञानिकता -

ज्ञानपूर्वक श्री अरिहंत के पादमूल में की गई पूजा ही उत्तमफल और सिद्धियों को देने वाली होती है। जिस थाली में द्रव्य चढ़ाते हैं उसमें बीजाक्षरों को अङ्कित करते हैं उनका हेतु हमें अवश्य जानना चाहिए। क्योंकि बिना कारण के कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। विवेक पूर्वक की गई पूजा-प्रवृत्ति ही मोक्षसिद्धि में साधक होती है।

द्रव्य चढ़ाने वाली थाली में सर्वप्रथम चन्दन या केशर से ? बीजाक्षर लिखें उसके नीचे ''श्री'' तथा उनके नीचे स्वास्तिक बनाएँ। दाएं हाथ की तरफ खड़े में 5 बिन्दु और बाएं हाथ की तरफ खड़े में चार बिन्दु, स्वास्तिक के नीचे तीन बिन्दु रखें तथा धापना (ढोना) के ऊपर अष्टपंखुण्डी का कमल बनाएँ।

जब हम पूजन आरंभ करें तो बाएं हाथ की तरफ थाली में बनी चार बिन्दुओं पर ही पुष्प चढ़ाएं यह चार बिन्दु अर्हत सिद्ध साधू तथा इनके कहे हुए धर्म की प्रतीक हैं। ये तीन लोक में उत्तम हैं, मङ्गलमय हैं, तथा शरणभूत हैं। अत- उत्तम कल्याणक शरणभूत के लिए अर्हत के पादमूल में इन्हीं 4 बिन्दुओं पर पुष्प चढ़ाकर कल्याण की भावना साकार करते हैं। पूजन के आरंभ में 'अपवित्र: पवित्रो वा पद' बोल कर पूजक को यंत्र की, कल्याणकों की, द्वादशांग वाणी की, तीर्थङ्कर के 1008 गुणों की एवं तत्त्वार्थसूत्र की पूजा करना चाहिए। अत: पांच बिन्दुओं पर पांचों पूजाएँ या 5 अर्घ उपर्युक्त हेतुओं की आराधना के अर्थ अर्पित करते हैं।

हमारे पूर्वाचार्यों ने प्राकृत या संस्कृत भाषा में जिन पूजाओं की रचना की है पूर्व विद्वान कवियों ने हिन्दी पद्यान्तर में उसी अनुरूप पूजाएँ लिखकर महान उपकार किया। वर्तमान कवियों ने नवीन नवीन प्रकार की अक्रमिक पुजाएँ लिखकर पूजा-पद्धति में विकृति प्रदान की है। सर्वप्रथम देवशास्त्र गुरु की पूजा करना चाहिए और इस पूजा की अष्ट द्रव्य ॐ बीजाक्षर पर ही अर्पित करना चाहिए। प्रत्येक बीजाक्षर को आत्मभूत करने (सिद्ध करने) के लिए उस बीजाक्षर रूप की गई आराधना की अष्ट द्रव्य चढ़ाने की आवश्यकता है। इससे ही वह बीजाक्षर आत्मभूत होता है। जब तक बीजाक्षर आत्मभूत नहीं होगा आत्मा की पात्रता मोक्षरूप सम्भव नहीं है। ॐ बीजाक्षर पञ्च परमेष्ठी के प्रथम मूल अक्षरों का संयुक्त रूप है। अत: इस बीजाक्षर के आत्मभूत होने पर पञ्चपरमेष्ठी पद की प्राप्ति सुनिश्चित है। यह पद ही मोक्ष सिद्धि का हेतु है। देव के अन्तर्गत सिद्ध भगवान भी आते हैं। अत: देव, शास्त्र गुरु और सिद्ध भगवान की आराधना सामग्री ॐ पर ही अर्पित करते हैं। जब तीर्थङ्कर विशेष या सामूहिक तीर्थङ्कर मात्र की पूजन करें तो 'श्री' बीजाक्षर पर ही आठों द्रव्य अर्पित करें। 'श्री' बीजाक्षर श्रेय का प्रतीक कहा गया है। अत: जो श्रेय तीर्थङ्कर की आत्मा ने प्राप्त किया है वैसा ही श्रेय उनकी आराधना से मुझे प्राप्त हो। इस आकांक्षा की साकारता में हम 'श्री' बीजाक्षर को आत्मभूत करते हैं।

स्वास्तिक कल्याण का प्रतीक बीजाक्षर है। अत: व्रत निर्वाण भूमि, तीर्थ मंदिर आदि की आराधना से हमारा कल्याण होता है। इसलिए इन सभी की पूजाओं में द्रव्य स्वास्तिक पर ही अर्पित करते हुए कल्याण की आकांक्षा साकार करते हैं।

थापना (ठोना) पर आठ पंखुडी का कमल बनाते हैं, सिद्धप्रभु के आठ गुण हैं। अत: उन गुणों की प्राप्ति हेतु आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण के पुष्प ठोना पर अर्पित करते हैं। स्वास्तिक के नीचे जो आडे में तीन बिन्दु हैं-उसमें समस्त पूजाऐं करने के बाद जिस ग्राम/नगर में हम पूजा कर रहे हैं उस नगर के अन्य समस्त जिनालयों में विराजे जिन भगवन्तों के साथ उस नगर की सीमा में जमीन के अन्दर यदि कोई जिन मंदिर या प्रतिमा दबी हो अथवा उस नगर की

सीमा में आकाश में कोई व्यंतर अपना चैत्यालय लिए घूम रहा हो उसमें विराजे जिन भगवंतो की आराधना का अर्घ अन्त में चढ़ाकर शान्तिपाठ/विसर्जन करना चाहिए। पूजाभक्ति में इन परिणामों के साथ पूज्य की आराधना कर पूजक अपार शुभाश्रव के साथ निर्जरा भी करता है।

द्रव्य अर्पण की महत्ता –

श्री वसुनन्दी आचार्य ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में लिखा है कि जल से पूजा करने से पाप रूपी मैल का संशोधन होता है। चन्दन चढ़ाने से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है। अक्षत चढ़ाने से अक्षय निधि रूप मोक्ष को प्राप्त करता है तथा अक्षीण-लब्धि प्राप्त कर मुक्त होता है। पुष्प से पूजन करने वाला कामदेव के समान समर्चित देहवाला होता है। नैवेद्य चढ़ाने से शक्ति कान्ति और तेज से सम्पन्न होता है। दीप से पूजन करने वाला केवलज्ञानी होता है। धूप से पूजन करने से त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है। फल से पूजन करने वाला निर्वाण सुख रूप फल को प्राप्त करना है। अर्घ आठों अक्षय निधियों की प्राप्ति का प्रतीक है।

निर्माल्य- जिनेन्द्र भगवान की आराधना के निमित्त लाई गई सामग्री अथवा चढ़ाई गई सामग्री को किसी भी रूप में श्रावक को ग्रहण नहीं करना चाहिए। अष्ट द्रव्यादि सामग्री असहाय जीवों तथा पशु-पक्षियों को डाल देना चाहिए। जो मूल्यवान साज सज्जा या पुनः उपयोगी वस्तुएं हैं उन्हें मंदिर जी के भण्डार गृह में ही रखें। और पुनः पुनः उपयोग के बाद अनुपयोगी होने पर किसी नदी तालाब में उन्हें विसर्जित कर देना चाहिए। जिससे उस वस्तु के प्रति ममकार अथवा ग्राह्यता की भावना न रहे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार ग्रन्थ की गाथा 32 में लिखा है कि जिनशासन के आयतनों की रक्षार्थ एवं अपनी आराधना के निमित्त प्रदान किए हुए दान को जो मनुष्य लोभ बस ग्रहण करे तो वह पुरुष नरकगामी महापापी है। राजवार्तिक ग्रन्थ में भी लिखा है- मंदिर के गन्ध, माल्य, धूप आदि का चुराना अशुभ नाम कर्म के आश्रव का कारण है। अथवा देव के लिए निवेदित या अनिवेदित किए गए द्रव्य का ग्रहण अन्तराय कर्म के आश्रव का कारण है। धवलादि ग्रन्थों में भी इसी तरह निर्माल्य के संदर्भ में विशेष विवेचन आया है।

इस लेख के आधार ग्रन्थ हैं –

जैनाभिषेक (आ. पूज्यपाद), शान्तिचक्र (आ.अभयनन्दी), बज्रपंजर (आ. मल्लिषेण), जिन- पूजा विधि (शोध-निबंध, श्री सोंरया जी), नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य), राजवार्तिक, जिनयज्ञ-कल्प (पं.आशाधरजी), देवपूजा (आ. पद्मनन्दीजी), सिद्धचक्राष्टक (आ. श्रुतसागर), श्रुतस्कन्ध पूजा (आ.श्रुतसागर), रत्नकरण्डकश्रावकाचार (आचार्य, समन्तभद्र), आदिपुराण (श्री जिनसेन स्वामी), पद्मनन्दी पञ्चविंशति (आ.पद्मनन्दीजी), धवला पुस्तक 8 (आ.भूतवली स्वामी), पूजा के प्रकार (आ.सोमदेव), वसुनन्दी श्रावकाचार (आ.वसुनन्दी)।

लेखक-प्रतिष्ठाचार्य पं. बर्द्धमान कुमार जैन सोरया
प्राचार्य टीकमगढ़

मोक्षमार्ग-पाथेय : सल्लेखना

(इस सन्दर्भ में सुदर्शन लाल जैन द्वारा लिखित आलेख 'सल्लेखना क्यों और कैसे' जो इसी ग्रन्थ में छपा है द्रष्टव्य है:)

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। खिले हुए फूल और पके हुए फल कभी डाल पर लगे नहीं रह सकते। सूर्य और चन्द्रमा भी उदय और अस्त होने की प्रक्रिया से प्रतिदिन ही गुजरते हैं। प्राणी मात्र का जन्म और मृत्यु के कालचक्र से बचना असम्भव है अर्थात् जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है।

कबीरदासजी की निम्न पंक्तियाँ इस अटल सत्य को स्वीकार कर रही हैं –

माली आवत देख करि, कलियन करी पुकार।
फूले-फले चुन लिए, काल हमारी बार।।

जैनाचार्यों ने श्रावकाचार में मृत्यु को मृत्यु-महोत्सव के रूप में व्याख्यायित किया है। जैनागम में इसप्रकार की मृत्यु को सल्लेखना, समाधिमरण, पण्डितमरण या संथारा नामों से भी अभिहित किया है। इसे जीवन की अन्तिम साधना के रूप में माना गया है जिसके आधार पर साधक अपने आपको मृत्यु के समीप देखकर सब कुछ शनैः-शनैः त्यागकर

मृत्यु का वरण करता है इस प्रकार की मृत्यु को निष्प्रतिकार मरण कहा गया है। इसके अनुसार जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक अहिंसक विधि से इलाज कराना चाहिए परन्तु जब डॉक्टरों के अनुसार किसी भी प्रकार बचना सम्भव ही न हो तब शान्ति परिणामों से आत्मचिन्तन पूर्वक जीवन के अन्तिम क्षण तक सुसंस्कारों के प्रति समर्पित रहते हुए सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए। इस विधि को धैर्यपूर्वक अन्तिम समय तक ससम्मान जीने की कला के रूप में निरूपित किया गया है।

सल्लेखना या समाधिमरण संयमपूर्ण आचरण का अन्तिम पडाव है। मनुष्य जीवन में संयम और व्रतों की आराधना इसी सल्लेखना प्राप्ति के लिये की जाती है। जहाँ पाक्षिक, नैष्ठिक एवं साधक की श्रेणियों में विभक्त जैन श्रावक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार समाधिमरण प्राप्ति की भावना भाते हुए इस नश्वर देह का परित्याग करते हैं वहीं श्रमणचर्या में रत साधु आहार और कषायों को कृश करते रहने का उद्यम करते हैं। गुप्ति, समिति, मूलगुण आदि का निरतिचार पालन करते हुए वे अपनी चर्या के माध्यम से भावों की शुद्धि का निरन्तर प्रयास करते हैं।

जैनदर्शन में सल्लेखना का शाब्दिक अर्थ है - सत्+लेखना=सल्लेखना। इसका अर्थ है। सम्यक् प्रकार से काय एवं कषायों को कृश करना। क्षु. जिनेन्द्र वर्णी ने शान्तिपथ प्रदर्शक में सल्लेखना का अर्थ अपने त्रिकाली स्वभाव को सम्यक् प्रकार से देखना बताया है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने काय एवं कषायों को भली प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना, कमजोर करना सल्लेखना माना है।

जैनसिद्धान्त कोश के अनुसार - जिसने सल्लेखना धारण करके कषायों को कृश किया है, समताभाव धारण करके वीतराग धर्मरूपी अमृतपान किया है - ऐसा धर्मात्मा साधक असंख्यात काल तक स्वर्ग का भौतिक सुख भोगता है फिर मनुष्यों में उत्तम राजा आदि के वैभव को पाकर पश्चात् उन संसार-शरीर भोगों से विरक्त होकर शुद्ध संयम अङ्गीकार करके नि:श्रेयस्रूप निर्वाण का आस्वादन करता है, अनुभव करता है।

तात्पर्य यह है कि स्व शुद्धात्मा की आराधना अर्थात् निर्मल रत्नत्रय परिणति का होना समाधि है और उस समाधिपूर्वक देह का परित्याग करना समाधिमरण है।

आ. समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक 130 में लिखते हैं -

नि:श्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दु:खैरनालीढः।।

अर्थात् समाधिमरण धारण कर जिन्होंने धर्मामृत पान करते हुए आत्मा को पवित्र किया है वे स्वर्ग में अनुपम अभ्युदय के स्वामी बनकर अन्त में सम्पूर्ण दु:खों से रहित हो - जिसका कभी विनाश नहीं ऐसे अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति स्वरूप सुखसागर के पान में निमग्न हो जाते हैं। अर्थात् समाधिमरण द्वारा अर्जित धर्म के प्रसाद से स्वर्ग के साथ अन्त में अनुक्रम से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है। अत: प्रत्येक विचारशील गृहस्थ को जैनधर्म के अनुसार समाधिमरण की विधि और उसकी महत्ता पर विचार कर लाभ उठाना चाहिए।

आगम-ग्रन्थों में स्थिरता के साथ आत्मा के स्वभाव में रहना धर्म बताया है। राग-द्वेषादि विकारी भावों से अन्तरङ्ग में महान् क्षोभ की उत्पत्ति होती है जिससे धर्म का अभाव होता है। वे विकारी भाव प्रत्येक क्षण चित्त को चञ्चल करते हैं जो मोह के सागर में डुबोने वाले हैं इनको रोक पाना कठिन है। अत: धर्म की स्थिति बनाए रखने के लिए प्रसन्नतापूर्वक देहादि से ममत्व बुद्धि छोड़कर समाहित होना ही समाधिमरण का प्रथम सोपान बताया है। इस सम्बन्ध में आ. अमितगति (द्वितीय) मरणकण्डिका में लिखते हैं -

समाहितं मनो यस्य वश्यं त्यक्ताशुभास्त्रवम् ।
उह्यते तेन चारित्रमश्रान्तेवापदूषणम् ।।5/139

अर्थात् जिसका मन अशुभ आस्त्रव के प्रवाह से रहित है तथा अपने वश में है, वह समाहित कहा जाता है। समाहित चित्तवाला ही निर्दोष चारित्र को धारण करता है।

समाधि का अर्थ है - ऐसे ज्ञानानन्द जीवन की उपलब्धि जो आज तक कभी एक बार भी प्राप्त नहीं हुई। अनादिकाल से लेकर अब तक संसारी जीव ने मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से क्लेशकारक एवं सन्तापजनित सुखाभास रूप जिस इन्द्रिय सुख को अनन्तबार प्राप्त किया है वह आकुलता किंवा दु:खदायक ही सिद्ध हुआ है। अत: सुख क्या है? वह परमसुख आज तक क्यों प्राप्त नहीं हुआ? इसका विचार कर! जन्म-जन्मान्तरों में किए गए तप से भी आज तक

जन्म-मरण का अभाव क्यों नहीं हुआ ? आ. समन्तभद्र कहते हैं कि अन्तक्रिया रूप जो सन्यास-मरण होता है, उससे ही तप सार्थक होता है। तप करने वाले के यदि अन्त समय में सन्यास मरण नहीं होता है तो उसका तप निष्फल कहा जाता है। – (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा, पृष्ठ-453)

आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना में सल्लेखना के महत्त्व को निम्न प्रकार दर्शाया गया है –

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हुं सो हिंसादि बहुसो सत्तट्ठ भवे पमत्तूण ।।

अर्थात् जो भद्र एक पर्याय में समाधिमरण पूर्वक मरण करता है, वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नहीं करता।

आ. समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक 124-125 में सल्लेखना विधि निम्न प्रकार बतलाई है –

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमना।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्ताक्षमयेत् प्रियैर्वचनैः।।
आलोच्यसर्वमेनः कृत्कारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थापि निःशेषम्।।

अर्थात् स्नेह, बैर, परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और कर्मचारियों से भी क्षमाभाव करावे और आप भी सबको क्षमा करें। छलकपट रहित होकर, कृतकारित-अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापों की आलोचना करके मरणपर्यन्त उपचरित महाव्रतों को धारण करे। क्रम-क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध-छाछ को बढ़ावे और पीछे दुग्धपान को छोड़कर गरमजल को बढ़ावे। तत्पश्चात् गरमजल पान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पञ्च नमस्कार मन्त्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।

आत्मघात नहीं है सल्लेखना – जो लोग सल्लेखना अथवा समाधि को नहीं समझते वे इसे आत्मघात कहने से नहीं चूकते। इस सम्बन्ध में आत्मख्याति के रचयिता आ. अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में स्पष्ट लिखा है –

मरणेऽवश्यंभाविनि कषाय-सल्लेखनातत् करणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नाऽत्मघातोऽस्ति।।

अर्थात् मरण अवश्यम्भावी है – ऐसा जानकर कषाय का त्याग करते हुए, राग-द्वेष के बिना ही प्राणत्याग करने वाले मनुष्य को आत्मघात नहीं हो सकता। उक्त श्लोक की टीका करते हुए पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने लिखा है – यहाँ कोई कहेगा कि सन्यास में तो आत्मघात का दोष आता है ? अर्थात् सल्लेखना करने वाला पुरुष जिस समय अपने मरण को अवश्यम्भावी जानता है, तब संन्यास अङ्गीकार करके कषाय को घटाता है और रागादि को मिटाता है; इसलिए आत्मघात का दोष नहीं है।

आ. अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक 177-178 में आत्मघात का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

यो हि कषायाऽविष्टः कुम्भकजलाधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः।।

अर्थात् जो जीव क्रोधादि कषायसंयुक्त होकर श्वास-निरोध करके अर्थात् फाँसी लगाकर जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष भक्षण कर या शस्त्रादि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है; उसको सदाकाल अपघात (आत्मघात) का दोष लगता है।

अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनके शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य जो प्रभाचन्द्राचार्य के नाम से विख्यात हुए वे दक्षिण भारत के कटवप्र पर्वत पर सल्लेखना व्रत का पालन करते हुए समाधिमरण को प्राप्त हुए। यह वृत्तान्त श्रवणबेलगोल स्थित शिलालेख संख्या 182 शक सम्बत् 522 में उत्कीर्ण है।

उनके पश्चात् क्रमशः सात सौ मुनियों ने भी चन्द्रगुप्त की समाधिस्थल पर रहकर तप किया और उन्होंने भी वहीं से समाधिमरण किया। उनके पश्चात् शान्तिसेन मुनि ने श्रवणबेलगोल पर्वत पर अशन आदि त्याग कर पुर्नजन्म को जीत लिया। सल्लेखना की यह महत्त्वपूर्ण वार्ता शिलालेख संख्या 17-18 (31) शक सम्वत् 572 में निम्न शब्दों में अङ्कित है।

श्रीभद्रबाहु स चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मदिनोप्पेवल् ।
भद्रमागिद् धर्म्ममन्दु बलिक्के वन्दिर्निसल्फली।।

विद्रुमाधर शान्तिसेन मुनीश नाक्किए बेल्गोल।
अदिमेलशनादि विट्ट पुनर्भवक्के रे आगि... ।।

जैनागम के अनुसार समाधि सल्लेखना एक विशिष्ट क्रिया थी जिसकी आराधना के लिए प्राचीनकाल में यापज्ञापक लोग नियुक्त रहते थे। कलिङ्ग सम्राट खारवेल के प्रसिद्ध हाथीगुफा वाले शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि - सम्राट खारवेल ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में व्रत पूरा होने पर उन यापज्ञापकों को जो कुमारी पर्वत पर समाधियों पर याप और क्षेम की क्रियाओं में प्रवृत्त थे वहाँ राजभृतियों को नियुक्त किया। इससे सल्लेखना समाधि का प्राचीन रूप स्पष्ट होता है। इसके पश्चात् भी श्रवणबेलगोल तथा अन्य अनेक स्थानों से आचार्यों व मुनियों के समाधिमरण के वृतान्त आगम में वर्णित हैं।

राजा-महाराजाओं में राष्ट्रकूट वंश के सम्राट इन्द्र चतुर्थ व गङ्गवंश के सम्राट मारसिंह गुत्तिय गङ्ग के सल्लेखना के वृत्तान्त उल्लेखनीय हैं। राठोड़ नरेश इन्द्रराज ने भी सल्लेखना व्रत धारण किया और सन् 982 में समाधिमरण को प्राप्त किया। महारानी शान्तलदेवी होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन की पटरानी थीं। वे आदर्श जैन महिला थीं और उन्होंने ही शिवगङ्गा में सल्लेखना विधि धारण कर समाधिमरण को प्राप्त किया। इस प्रकार जैनागम में सल्लेखना की प्राचीन परम्परा रही है जो अब तक निर्बाध गति से चली आ रही है। वर्तमान समय के प्रमुख आचार्य शान्तिसागरजी (दक्षिण) ने भी सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया। इसके साथ ही आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी ने भी सल्लेखना व्रत धारण कर समाधिमरण किया।

इससे यह सिद्ध होता है कि जैन समाज में आत्मघात को कभी प्रश्रय नहीं दिया गया अपितु यह अन्तिम समय एक सुनिश्चित रीतिपूर्वक देहत्याग की अनुपम कला है जिसे सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण कहा जा सकता है।

श्री अखिल बंसल
सम्पादक - समन्वयवाणी, जयपुर, महामन्त्री - अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्

वैय्यावृत्ति : कहाँ, कैसे और क्यों ?

प्राय: जैन श्रावक-श्राविकाओं अथवा सद्गृहस्थ वैय्यावृत्ति शब्दार्थ के सामान्य अर्थ से तो सभी परिचित हैं। परन्तु इसके विशेष संदर्भों को जाने बिना क्रिया में ले आने से दोषपूर्ण परिणति की संभावना निर्मूल नहीं होती। अतएव इस वैय्यावृत्त संज्ञक शिक्षाव्रत के स्वरूप का वर्णन और इसका मूलाधार- कहाँ, कैसे और क्यों ? आदि पर समझने के लिए लेख लिखना आवश्यक समझा गया है। आसान सी दिखने वाली क्रिया अतिगम्भीर एवं इतनी महत्त्वपूर्ण है कि अपनी काल-लब्धि पर भवसागर से पार करा देती है। षोडशकारण पूजन की जयमाला में आता है -

'निश-दिन वैय्यावृत्त करैया, सो निहचै भव-नीर तिरैया' इसी प्रकार जयमाला में आगे आता है, 'वत्सल अंग सदा जो ध्यावै, सो तीर्थंकर पदवी पावै'। दरअसल जैनधर्म व दर्शन दोनों ही वैज्ञानिक हैं। मोक्षप्राप्ति या सांसारिक जन्म-मरण से पूर्ण छुटकारा इसका लक्ष्य है, जो अति दुरूह है, असंभव नहीं है। पूजा, भक्ति, वात्सल्य, दान, वैय्यावृत्ति आदि उसी दिशा में बढ़ने के उपाय हैं। जब तक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बताये गये तत्त्व सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास नहीं होगा, सभी कुछ मिथ्या लग सकता है। ऐसा लगने से निष्फल हो ही जायेगा। अत: पहली शर्त है - सम्यग्दर्शन का होना। यह तभी होगा जब तत्त्वों पर श्रद्धान होगा। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय का दूसरा सूत्र है - 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय की संज्ञा दी गई है। वस्तुत: ये रत्नाभूषणों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हैं। चूँकि जिनेन्द्र भगवान् के बताए गए मोक्षमार्ग का निर्देशन भी करते हैं -

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:'

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का युगपद् होना मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन के बिना नियमत: सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होतें। इसीलिए रत्नत्रय में इसका प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसा भी शास्त्रोक्त कथन है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो मुनि धर्म सम्भव है और न ही सागारधर्म। अतएव ऐसा मानना भी युक्तियुक्त है कि सम्यक्त्व से बढ़कर न कोई मित्र है और न ही सम्पदा। इसी प्रकार मिथ्यात्व से बढ़कर न कोई शत्रु है और न रोग

आदि। सागारधर्मामृत नामक ग्रन्थ में पंडित आशाधर जी ने लिखा है –

नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्त-चेतसः।।2/4।।

संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि सम्यक्त्व से ज्ञान सम्यक् होता है और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से तत्त्वों की उपलब्धि होती है। पदार्थों की उपलब्धि होने पर श्रेय तथा अश्रेय का ज्ञान होता है। श्रेय व अश्रेय को जानकर व्यक्ति दु:खशील आचरण को छोड़कर सम्यक्स्वभावयुक्त होकर अभ्युदयपूर्वक परमपदों को प्राप्त होता हुआ निर्वाण प्राप्त करता है। ऐसा दर्शन पाहुड़ में उल्लेख मिलता है।

पूजा, भक्ति, वात्सल्य, वैय्यावृत्ति आदि के सही स्वरूप को जानने/पहचानने के लिए रत्नत्रय के महत्त्व का प्रतिपादन करना – विशेषरूप से सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि का विवेचन आवश्यक था। पहले संकेत किया जा चुका है कि जैनदर्शन में तत्त्वों को बहुत बारीकी से समझाया गया है। हम उस विस्तार में तो नहीं जायेंगे, फिर भी सम्यग्दर्शन के अंगों के नाम आदि का उल्लेख कथनीय है।

निशंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। संवेग, निर्वेग, आत्मनिन्दा, आत्मगर्हा, उपशम, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकंपा ये आठ गुण हैं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के 25 दोष भी गिनाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं – मूढ़ता (लोक, देव और गुरुमूढ़ता), ज्ञान, पूजा, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, तप, रूप, ऐश्वर्य ये आठ मद हैं। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इनके आराधक की पूजा, भक्ति, प्रशंसा ये छ: आनायतन हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोषों को मिलाकर 25 दोष हैं। गुणों सहित तथा दोष रहित सम्यग्दर्शन का पालन करना विहित है।

उमास्वामी के श्रावकाचार में लिखा है कि साधुओं, साधुओं जैसी वृत्ति वाले श्रावकों एवं साधर्मी जनों की यथायोग्य प्रतिपत्ति करने को पूजा भक्ति, आदर-सम्मान आदि करने को ज्ञानियों ने वात्सल्य कहा है। आदर, वैय्यावृत्य, मिष्टवचन बोलना, सत्कार करना, साधुओं का सहकार करना आदि कार्यों को भी वात्सल्य कहा गया है। जैनधर्माचरण करने वालों के लिए सागार तथा अनगार के भेद से करणीय-अकरणीय का सैद्धान्तिक विवेचन है जिसे आगमग्रन्थों, विद्वानों, मुनियों, आचार्यों के प्रवचनों से जाना जा सकता है। सद्गृहस्थों, श्रावकों के लिए प्रतिदिन छह आवश्यक कार्य बतलाए गए हैं, जिन्हें सम्यग्दृष्टि बिना किसी फलाकांक्षा के करते हैं। वे षडावश्यक हैं –

देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने।।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव का पूजन, सद्गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छ: कर्म नित्य-नियम से अवश्य करणीय हैं। इन सब छहों की विस्तृत परिभाषाएँ हैं।

अब सीधे-सीधे वैय्यावृत्ति शीर्षक से प्रारम्भ किये गए लेख पर आते हैं। 'व्यावृत्ति: – दु:निवृत्ति: प्रयोजनं यस्य तत् वैय्यावृत्यम्' – (रत्नकरण्डश्रावकाचार से) अर्थात् दु:खनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है, उसे वैयावृत्ति कहते हैं। अन्य आचार्यों ने इसके स्थान पर अतिथिसंविभाग व्रत शब्द रखा है। इस व्रत में जिस प्रकार अतिथि के लिए दान की प्रधानता है उसी प्रकार वैयावृत्य में भी दान की प्रधानता है। क्योंकि आहार आदि दान के द्वारा अतिथि के दुखनिवारण का ही प्रयोजन होता है। इसलिए अतिथिसंविभाग व्रत शब्द पर आपत्ति होना अधिक संगत नहीं है। चूँकि इसमें चार प्रकार के दानों का तो समावेश हो जाता है, इसके अतिरिक्त संयमीजनों, मुनियों की सेवा-शुश्रूषा का समावेश नहीं होता है। अत: आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'वैयावृत्य' शब्द की व्यापकता के कारण इसे मान्यता प्रदान की है। इसमें दान और सेवा-सुश्रुषा आदि सभी का समावेश हो जाता है।

अपात्र एवं पात्र की पहचान किए बिना दान देने का कोई महत्त्व नहीं है। अत: दान देते समय पात्र का विचार करना आवश्यक है। पात्र वही हो सकता है, जो तपस्वी हो, सम्यग्दर्शनादि गुणों का धारक हो, गृहत्यागी हो। साथ ही दान देते समय रत्नत्रय की वृद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्यसिद्धि का भाव नहीं होना चाहिए। मुनीश्वर से मन्त्र-तन्त्र, सन्तान कामना अथवा वैभवादि की याचना नहीं होना चाहिए। अपनी सामर्थ्यानुसार आहारादि चारों प्रकार के दान देने से संक्लेशी परिणामों से बचा जा सकता है। दान के बदले में प्रतिदान की इच्छा अतिचार में आती है।

ऐसा ध्यातव्य है कि न केवल दान ही वैयावृत्ति कहलाता है बल्कि संयमी जनों, व्रतियों, मुनियों की सेवा भी

वैयावृत्य कहा जाता है। संयमी दो प्रकार के हैं – देशव्रती और सकलव्रती। इनके ऊपर यदि बीमारी या अन्य विपत्तियाँ आई हैं तो गुणानुराग से प्रेरित होकर उन्हें दूर करना, उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना तथा समयानुसार अन्य सेवा करना वैयावृत्य शिक्षाव्रत के अन्तर्गत आता है। वैयावृत्ति मात्र गुणानुराग अथवा भक्ति के वश से की जाती है, किसी स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं। मुनियों के योग्य छह अन्तरंग तपों में एक वैयावृत्य नामक तप है। शास्त्रोक्त कथन है कि बालक, वृद्ध अथवा म्लान रूग्ण मुनियों आदि की सेवा करते हुए उन्हें मार्ग में स्थिर रखना। परस्पर की सहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनिसंघ का निर्वाह होता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति करने से वैयावृत्ति तप के दस भेद होते हैं। किसी नगर/स्थान पर किसी देशव्रती अथवा महाव्रती के ऊपर कोई कष्ट आया है तो वहाँ के गृहस्थ को आवश्यक है कि वह पूर्ण तत्परता से उसे दूर करने का उपाय करे। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रत में सभी दानों का समावेश होता है। सागार को स्मरण रखना होता है– 'दान चार परकार, चार संघ को दीजिए'।

श्रावकों के लिए प्रतिदिन छह आवश्यक कर्मों के करने का नियम बताया गया है। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यह भी लिखा जा चुका है कि वैयावृत्य का प्रचलित अर्थ दान है। पूज्यपाद स्वामी, अकलंक स्वामी, समन्तभद्राचार्य आदि ने जो दान के प्रकार बताएँ हैं उनमें नाम का भेद हो सकता है, विषय की भिन्नता नहीं। 1. आहार दानं, 2. औषधदान, 3. ज्ञानदान अथवा उपकरणदान, 4. अभयदान अथवा आवास या वसतिका दान नामक चार दानों को करणीय कहा गया है। चतुर्विध वैयावृत्य दान किसने किस प्रकार दिए, उनके क्या फल हुए ? सभी संदर्भों की विस्तृत कथाएँ हैं। संक्षेप में आहारदान के कारण ही मलयदेश के रत्नसंचयपुर के राजा श्रीषेण परंपरा के अनुसार तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए। इसी प्रकार औषधदान में वृषभसेना का दृष्टान्त दिया जाता है। श्रुतदान के फलस्वरूप कौण्डेश नामक मुनि शास्त्रों में पारगामी ज्ञाता बने। वसतिका दान की फलकथा के रूप में सूकर की कथा आती है।

हम सभी जानते हैं कि षडावश्यक कर्मों में पूजा का प्रथम स्थान है। वैयावृत्ति करने वाले श्रावक को देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना चाहिए। इसमें पूज्य और पूजक दो हैं। तीसरा शब्द पूजा है। देव, शास्त्र, गुरु के गुणों के प्रति अत्यधिक आदर भाव होने के कारण ये पूज्य हैं। परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते हैं और समस्त दु:खों को दूर होना पूजा का फल है। इस सम्बन्ध में एक मेढक की कथा बड़ी प्रसिद्ध कथा है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है– राजगृहनगर में राजा श्रेणिक, सेठ नागदत्त और भवदत्ता नाम की उसकी सेठानी रहते थे। एक बार वर्धमान स्वामी वैभार पर्वत पर पधारे थे। राजा श्रेणिक उनके दर्शनों को वहाँ गए। भगवान की वंदना लक्ष्य था। नागदत्त सेठ भी अपने परिवार के साथ वन्दना करने के लिए भक्तिपूर्वक निकल पड़े। उनके घर की वावड़ी में रहने वाला मेंढक भी वावड़ी से एक कमल पुष्प मुख में दबाकर पूजा का अन्तरङ्ग भाव बनाकर प्रसन्नता पूर्वक उछलता हुआ मार्ग पर निकल पड़ा। जाता हुआ वह मेंढक हाथी के पैर से कुचलकर मर गया। पूजा के भाव से वह सौधर्म स्वर्ग में ऋद्धिधारक देव बना। पूजा के प्रभाव के अतिशय को वर्धमान स्वामी से जानकर राजा श्रेणिक एवं अन्य श्रावक श्रोताओं को श्रद्धान हुआ। सभी प्रकार से वैयावृत्य मोक्षमार्ग चुनने वाले भक्त श्रावकों के लिए साधक सिद्ध होने वाला व्रत है। इसमें संदेह नहीं है। अन्त में एक बार पुन: स्मरण कराते चलें कि वैयावृत्ति गुणानुराग भाव से ही करना है, किसी स्वार्थपूर्ति की कामना से नहीं। सम्यग्दृष्टि भव्यात्माओं के लिए ऐसा बोध स्वत: ही हो जाता है।

डॉ. प्रेमचन्द्र जैन 'नगला'
नजीवाबाद

योगसार में 'ध्यानयोग' का स्वरूप

'योगविद्या' भारतीय धर्म दर्शन की अति प्राचीन काल से चली आ रही अध्यात्म विद्या है। परमतत्त्व पारगामी मनीषी अर्हत् पुरुषों एवं तीर्थंकरों ने अन्तरात्मम क्षितिजों के पार स्वयं आनन्द मूर्ति ज्ञानधन के रूप में अपने को विकसित किया था। उन्होंने योग–विज्ञान को प्राणी जीवन के परिष्कार हेतु निर्मल सत्य आनन्द के रूप में प्रकट किया।

वस्तुत: समग्र मानवजीवन का विशिष्ट आध्यात्मिक रूप यह योग सम्पूर्ण विश्व में भारत की प्राचीनतम विद्या है। इसमें आत्मा की निर्मलता, अनेकान्त दृष्टियुक्त सम्यग्भाव, दर्शन–ज्ञान चारित्र का समवायत्व है, जो मानव के

अन्तस्थल में प्रस्फुटित होता है।

कायवाङ्मनःकर्मयोगः - मन-वचन-काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन योग है। परन्तु मन-वचन-काय की एकीकारिता को ध्यानयोग कहा है। ध्यान की कक्षा से ही आत्म-साधना प्राणवान होती है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' मनकी चंचल वृत्तियों का निरोध ही ध्यान योग है। यह योग विद्या सम्प्रदायातीत है। एक योगविद्या ही ऐसा स्थल है, जहाँ सभी सम्प्रदाय आकर एक हो जाते हैं। एक समान सूत्र की तरह यह योग सर्वधर्म सम्प्रदायों की एकता को प्रकट करता है। मानवमात्र के लिये यह उपयोगी है। योग के प्राणदायी तत्त्वों को अपनी-अपनी धारणानुसार सर्वत्र ग्रहण किया गया है।

जैन साधना का मूलसूत्र ही ध्यान है। अर्हन्त भगवान् आत्म ध्यान से ही अष्टकर्मों से मुक्त हुए हैं। अर्हन्तों की सभी प्रतिमाएँ ध्यानावस्थित हैं-चाहे पद्मासन हो या खड्गासन। गीता में आत्मध्यान योगी का चित्रण इसी प्रकार का है-

समकायं शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्। 6-13।।

शरीर, सिर और गर्दन को सीधा रखकर, निश्चल हो, इधर-उधर न देखते हुए, स्थिर मन से अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगावें।

यह प्रशान्तात्मा आत्मध्यानस्थ योगी की प्रतिमा है, जहाँ न राग है और न द्वेषभाव। गीता का षष्ठ अध्याय योग ध्यानावस्था के चित्रण से अनुस्यूत है जो अर्हन्त की ध्यानवावस्था से मेल खाता है-

उद्धरेतात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धु आत्मैव रिपुरात्मना।।

आत्म-चिन्तन रूप योगचर्या से ही अध्यात्म का द्वार खुलता है। अन्तश्चेतना का रूपान्तरण जो अध्यात्म में उपादेय है, ध्यानयोग से ही संभव है। योगचर्या इन्द्रिय, प्राण एवं मन बुद्धि के स्तरों को वेध करके, चेतना की अन्तर्दृष्टि उन्मुक्त करके अन्तःअनुभव के लोक में ले जाती है- जिसे उपनिषद् में 'आत्मानं विद्धि' कहा है। दार्शनिक सुकरात भी यही कहता है- Know thyself - अपने को अपने आपसे जानो। स्वयं को स्वयं से जानो।

आचार्य योगीन्दुदेव विरचित 'योगसार' ध्यानयोग का परम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता रूप शुद्ध आत्म-साधना या शुद्धात्मयोग का सार भलीभाँति प्रकट करने वाला होने से इसका योगसार नाम सार्थक है। इसमें एक सौ आठ अपभ्रंश भाषा के दोहे हैं। जो आत्मस्वरूप के बोधार्थ रचित हैं।

नवीं शताब्दी के आचार्यवर्य श्री योगीन्दु ने संसार से भयभीत और आवागमन से मुक्ति के लिए उत्सुक प्राणियों की आत्मा को जगाने के लिये योगसार की रचना की है। 'योगसार' में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए परमात्मा के ध्यान पर बल दिया है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों के त्याग का आदेश दिया है। मनुष्य सांसारिक बन्धनों और पाप-पुण्यों को त्यागकर आत्म-ध्यान में लीन हो मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। जीव पुण्यकर्म से स्वर्ग को पाता है और पापकर्म से नरक निवास को। जब दोनों का परित्याग कर आत्मा को जानता है तब ही शिवत्व को प्राप्त करता है -

पुण्णि पावइ सग्गं, जिउ पावए णरय णिवासु।
वे छांडिवि अप्पा मुणइ, सो लब्भइ सिव-वासु।।32।।

आयु क्षीण होती जाती है, परन्तु न तो मन क्षीण होता है और न आशा ही। मोह स्फुरित होता है, आत्म-हित नहीं। इस प्रकार जीव भ्रमण करता रहता है -

आयु गलइ णवि मणुगलइ, णवि आसा हु गलेइ।
मोह फुरइ णवि अप्पहिउ, इम संसार भमेइं।। 49।।

योगीन्दुदेव कहते हैं - जिस प्रकार मन विषयों में रमता है, उसी प्रकार यदि आत्मचिन्तन करें तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त होवे -

जेइउ मणु विसयहं रमइ, तिम ुजइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइं।।50।।

योगीन्दु के परमात्म प्रकाश का प्रतिपाद्य भी योगसार के समान ही है। तदनुसार- वह परमात्मा देह भिन्न है,

किन्तु इसी देह में स्थित है। उसी की अनुभूति से पूर्व कर्मों का क्षय होता है। वह आत्म-तत्त्व न देवालय में, न शिला में, न लेप्य में और न चित्र में है। वह तो अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव समचित्त में है। रागादि से मलिन चित्त में शुद्धात्म स्वरूप के दर्शन नहीं होते। उसी शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। रागरंजित हृदय में शांतदेव उसी प्रकार नहीं दिखते, जिस प्रकार मलिन दर्पण में प्रतिबिम्ब। ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानियों के मन में नहीं सुहाती, नहीं लगती। जिसने मरकत मणि जान लिया, उसे काँच से क्या प्रयोजन ?

ध्यानयोग का स्वरूप - आत्मस्वरूप का चिन्तन ही ध्यान योग है। आत्मार्थी अपने आत्मा के परम आत्म-स्वरूप को जानते हुए यह विचार करता है कि मैं एक चेतन स्वरूप ज्ञान-दर्शन गुण से युक्त हूँ। मेरे गुण और मेरे असंख्य आत्म-प्रदेश ही मेरी वस्तु है। पुद्गल अचेतन है। यह जानकर आत्म-ध्यानी पुरुष पर पदार्थों से निज एकत्व-बुद्धि हटा लेता है और परभावों को छोड़कर स्व-स्थित कर्मक्षय कर भव-भ्रमण का अंत कर देता है।

ध्यान और चिन्तन निज भावना का करना कहा है। जिन और शुद्ध आत्मा एक ही वस्तु है। अत: ध्यान जिन के अवलम्बन से निज आत्मा का करना ही अभीष्ट है। शुद्ध आत्मा के ध्यान से ही मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।

जो निज नासिका पर दृष्टि रखकर ध्यान करते हैं और शरीर रहित अन्तर-आत्मा के दर्शन करते हैं, वे पुरुष फिर नर-जन्म धारण नहीं करते -

णासग्गि अब्भिंतरहं, जे जीवहि असरीरु।
बाहुहि जम्मिणि संभवहि, पिवहिं ण जणणी खीरु।।60।।

आत्मा शरीर से रहित अमूर्तिक है। वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता। मन भी केवल विचार कर सकता है। आत्मा का ग्रहण आत्मा के ही द्वारा होता है। बाहरी साधन ध्यान का अभ्यास है।

दोहा सं.62 में आचार्य योगेन्दु का कथन है - आत्मा ही ज्ञापक है, आत्मा ही ज्ञान है और आत्मा ही ज्ञेय है। इस ज्ञान से कौनसा फल नहीं मिलता? आत्मा के ज्ञान-ध्यान से केवलज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। गीता में कहा है -

ध्यानाग्नि ज्ञानाग्नि वा सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणः।

ज्ञान ध्यान की अग्नि से सब प्रकार के कर्म भस्म हो जाते हैं। जो केवलज्ञानी होने से लोक-अलोक दोनों को हस्तामलकवत् जानते हैं और जो परभावों की उत्पत्ति से रहित हैं ऐसे सुपण्डित जो भगवान् हैं, वे धन्य हैं। हम उन्हें शाश्वत नमन करते हैं।।64।।

जिन्होंने आत्मा को जाना है उसका अनुभव किया है, वे यदि आत्मस्थित होकर रहते हैं तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। जो गृहस्थ हो या मुनि, कोई भी हो, जो अपनी आत्मा के भीतर वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धि के सुख को प्राप्त करता है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है -

सागारु विणागारु कु वि जो अप्पणि वसेइ।
सोलहु धावइ सिद्धि, सुहु जिणवरुएम भणेइ।। 65।।

आत्म ध्यान पर बल देते हुए आ. योगीन्दु देव का उपदेश है - हे जीव। यदि तू अकेला ही जायेगा, तो परभाव (राग, द्वेष, मोहादि) को त्याग दे। ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर और मोक्ष सुख को प्राप्त हो।

एक्कलउ जइजाइ सिहितो परभाव चरहि।
अप्पा झायहि णाणमहि तहु सिव-सुक्ख लहेहि।। 70।।

आत्मा-ध्यान में यह मनन करे कि जो जिनेन्द्र परमात्मा हैं वह मैं हूँ। मोक्ष का उपाय यही है(75) 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी तथ्य को उद्घाटित किया है -

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत गुणत्त पज्जयंत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि लयं।। 80।।

जो अरहंत भगवानको द्रव्य, गुण, पर्याय स्वभाव के द्वारा यथार्थ रूप से जानता है वही अपनी आत्मा को पहिचानता है और उसके दर्शन मोह मिथ्यात्वभाव दूर हो जाता है। जो राग-द्वेष-मोह से रहित होकर, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सहित आत्मा में निवास करता है वह अविनाशी सुख का भाजन है। दोहा 78। यह आत्मा मल रहित शुद्ध व महान परमात्मा है। ऐसा श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। ऐसा जानना सो ज्ञान है और बार-बार आत्मा का चिन्तवन पवित्र चारित्र

है। 84। मैं पर-द्रव्य और पर-भावों से पृथक् एक शुद्ध आत्मा हूँ। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ, जो निजात्मा में स्थित होकर रमण करता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो सिद्धालय में निवास करता है। जो ज्ञानी समता सुख में लीन होकर बार-बार आत्मध्यान में संलग्न रहता है, वह पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त होता है। 93।। हे जीव। इस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणों की खान व निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिए। 94। राग-द्वेष के सम्पूर्ण विकल्पों को छोड़कर जो आत्म-ध्यान-चिन्तन में लीन रहते हैं, उन्हें परम समाधि में लीन कहा गया है। जैसे मैले वस्त्र को ध्यानपूर्वक रगड़ने से मैल साफ हो जाता है, वैसे ही यह अशुद्ध आत्मा ध्यान-योग से शुद्ध हो जाता है।

योगसार का मूल प्रतिपाद्य आत्म-दर्शन है। एतदर्थ ग्रन्थकार ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। दोहा 98।। मंत्र वाक्यों का चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। अपने आत्मा का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान है। शुद्ध चिद्रूप में स्थित अरहंत परमेष्ठी का स्मरण रूपस्थ ध्यान है और रूप से रहित संसारातीत सिद्धपरमेष्ठी का ध्यान रूपातीत ध्यान है। इनमें पिण्डस्थ ध्येय है, शेष ध्यानमार्ग है।

स्वानुभव होना या आत्मस्थ रहना ही सामायिक है। हिंसादि पाँच पापों और क्रोधादि चार कषायों को त्याग कर, जो निज आत्मा को जानकर अन्तर्मुखी होकर ध्यान करते हैं, वे छेदोपस्थापना चारित्र पालते हैं। निश्चयनय से जिसने आत्मा का अनुभव कर लिया, उसने पाँचों परमेष्ठियों का अनुभव कर लिया – ये पाँचों पद आत्मा की विकसित अवस्था को ही दिये गये हैं। आत्मदर्शन तथा आत्मज्ञान से बड़ा न कोई तत्त्व है और न द्रव्य। आत्मा स्वयं अपना ईश्वर है, नियामक है। अत: वही एकमात्र शरण है। पञ्चपरमेष्ठी इस आत्मा के ही विकसित शुद्धावस्था के स्वरूप हैं। जो परमस्वरूप आत्मा में अवस्थित है, वही परम इष्ट है। और यही पुरुष-आत्मा का प्राप्तव्य है। योग-विज्ञान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अखण्डता है। चारित्र ही सारे योगाभ्यास की चरम परिणति है। आत्म योग ही चारित्र को शुद्ध करता है। यही ध्यान का उपादेय है। यही मुक्ति का राजमार्ग है। यही योगीन्दुदेव का मन्तव्य है।

डॉ. प्रेमचन्द्र जैन 'रांवका'
जयपुर

निमित्त-उपादान : चिन्तन के कुछ बिन्दु

दर्शन-जगत में कारण-कार्य व्यवस्था हमेशा से एक विमर्षणीय विषय रहा है। ईश्वरवादी तो इस जगत को एक कार्य मानकर कारण की खोज 'ईश्वर' तक कर डालते हैं। जैनदर्शन में कारण-कार्य-मीमांसा पर बहुत गहरा चिन्तन किया है। कार्योत्पत्ति में पाँच कारणों के समवाय की घोषणा करते हुए जैनाचार्य वैज्ञानिकता का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही 'पर-अकर्तृत्व' के सिद्धान्त की पुष्टि भी करते हैं। ईसा की दूसरी-तीसरी शती के महान आचार्य सिद्धसेन 'सन्मतिसूत्र' में लिखते हैं –

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होति सम्मत्तं।। (3/53)

इसमें काल, स्वभाव, नियति, निमित्त (पूर्वकृत आदि) और पुरुषार्थ- इन पाँचों के समवाय से किसी कार्य की उत्पत्ति होती है- यह स्वीकार किया गया है। इन पाँचों में से किसी एक कारण को ही कारण मान लेना एकांत है, मिथ्यात्व है। पाँचों को बराबर महत्त्व देकर उन्हें कारण मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है।

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज प्राय: एक वाक्य अनेकान्त-स्याद्वाद दृष्टि से कहते हैं- '**निमित्त कुछ करता नहीं, निमित्त के बिना कुछ होता नहीं।**' यह वाक्य हमें वस्तु-स्वभाव समझाने का प्रयास कर रहा है। मैं मानता हूँ जो यह कहता है कि निमित्त से कुछ नहीं होता- वह जैनदर्शन को नहीं जानता और जो यह कहता है कि निमित्त ही सब कुछ करता है, वह भी जैन दर्शन को नहीं जानता।

यहाँ धैर्य से समझने की आवश्यकता है। प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना उपादान होता है। उपादान में शक्ति न हो- क्षमता, योग्यता न हो तो लाखों-करोड़ों निमित्त भी मिल जाये, आ जाये तो भी द्रव्य को अपने अनुरूप परिणमा नहीं सकते। इसीलिए कहा गया कि '**निमित्त कुछ करता नहीं**'। दूसरी तरफ उपादान में कितनी ही सामर्थ्य हो यदि निमित्त उपस्थित नहीं है तो वह परिणमन कर ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है कि- '**निमित्त के बिना कुछ होता नहीं**'। ये

दोनों बातें सही हैं। हमें अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिए।

वर्तमान में समाज में दो तरह के लोग दिखाई दे रहे हैं जो अपनी रुचि और प्रियता के कारण किसी एक को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे दो तरह के लोग निम्न प्रकार से हैं –

1. निमित्त प्रिय लोग,

2 उपादान प्रिय लोग

1. निमित्त प्रिय लोग–

ये वो लोग हैं जिन्हें निमित्त के गीत गाने में आनन्द आता है। मजबूरी में ये 'उपादान' की हाँ तो भरते हैं, पर उस पर ज्यादा ध्यान नहीं देते, बाहरी क्रिया–काण्डों से ही कल्याण मानने के कारण रात–दिन उसी में मग्न रहते हैं, आत्मा की शुद्धता और उपादान की तरफ देखने या विचार करने का समय ही नहीं निकाल पाते हैं।

2. उपादान प्रिय लोग–

ये वो लोग हैं जो बाह्य क्रियाकाण्डों में आलसी होते हैं और उपादान के ही गीत गाकर निमित्त को ज्यादा महत्त्व नहीं देते। कई शास्त्र–प्रमाण देने पर निमित्त का निषेध तो नहीं कर पाते हैं किन्तु उपादान के आगे उसे कुछ खास नहीं समझते हैं। कई बार तो अतिरेक में 'निमित्त' की सत्ता तक को चुनौती दे डालते हैं।

हम अपनी निजी प्रियता–अप्रियता के कारण रुचि–अरुचि के कारण ही वस्तु का जो मूल स्वभाव है वह समझ नहीं पाते हैं। उसका कारण यह है कि मनुष्य स्वभाव से कर्मशील होता है और हम क्या करें ? की हड़बड़ी वाली जिद उसे पहले हम क्या व कैसे जानें, समझें ? से कोसों दूर कर देती है। यदि हम कुछ समय के लिए क्या करें ? वाली कर्तृत्व भावना आदि को दूर कर दें और पहले सिद्धान्त की और उसकी निरूपण शैली को समझने की कोशिश करें तो शायद क्या करें ? का समाधान मिल सकता है।

स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र ने 'अनेकान्तोप्यनेकान्तः' कहकर 'अनेकान्त' को भी अनेकान्त स्वरूप बतलाया है। निमित्त और उपादान इन दोनों को स्वीकारना अनेकान्त द्दष्टि है और किसी एक को ही मानकर दूसरे का सर्वथा निषेध कर देना, एकान्त दृष्टि है। यह तो सही है, पर अकेले निमित्त में भी एकान्त और अनेकान्त दोनों घटित हो सकते हैं, और अकेले उपादान में भी, धैर्य के साथ थोड़ा गहराई में जायें तो शायद कोई नई बात समझ में आ जाये।

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त –

जो अनेकान्त की 'अस्ति–नास्ति' वाली स्यादाद–सप्तभङ्गी को जानते हैं वे विचार करें कि निमित्त और उपादान– ये दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, अतः –

(1) दोनों पदार्थ अपने–अपने स्वरूप से अस्ति रूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्ति रूप हैं।

(2) अतः निमित्त स्व–रूप से अस्तिरूप है और पर–रूप से नास्ति रूप है।

(3) अतः उपादान में निमित्त का अभाव है, इस अपेक्षा से उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता।

निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता, यह निमित्त का अनेकान्त स्वरूप है। इस माध्यम से निमित्त का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

निमित्त–सम्बन्धी एकान्त –

यदि कोई माने उपादान उपादान का कार्य भी करता है और उपादान निमित्त का कार्य भी करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपने रूप से अस्ति रूप है और पर रूप से भी अस्तिरूप है। ऐसा मानना एकान्त हैं।

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले हम निमित्त और उपादान इन दोनों की ही स्वयं में पृथक्–पृथक् पूर्ण स्वतंत्र सत्ता समझ लें, फिर इन दोनों के आपसी सम्बन्धों का विचार करें। इतना समझ लेने पर ही कुछ समाधान की तरफ आगे बढ़ सकते हैं।

निष्कर्ष –

मैं मानता हूँ– इन तथ्यों को समझने के लिए आग्रह–रहित अत्यन्त धैर्य की आवश्यकता है। निमित्त उपादान में कुछ करता है या नहीं ? ये दोनों ही बातें चिन्तन–सापेक्ष हैं, दार्शनिक दृष्टि तो यही है कि निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि के अपने अलग मापदण्ड हैं। अध्यात्म में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करके जीव अपने पौरुष को पूर्ण स्वतन्त्र देखता है। परम शुद्ध स्वरूप होकर निमित्त का मुहताज नहीं है। शुद्ध द्रव्य की सच्चाई यह है कि निमित्त का

निषेध नहीं वरन् उसका स्वरूप समझकर उसकी गुलामी से इन्कार कर देना। कथन तो यहां तक है कि निमित्त स्वत: अनुकूल परिणमन करेंगे, किन्तु तभी जब द्दष्टि स्वभावसन्मुख होगी। निमित्त की सत्ता को स्वीकारना किन्तु इस स्वीकारोक्ति में उपादन की स्वतंत्रता को पराधीन कर देना, सम्भवत: न्याय नहीं। यही अपेक्षा समयसार को भी दृष्टिप्रधान ग्रन्थ के रूप में मान्यता देती है।

जरा सोचें! द्रव्य में किस समय परिणमन नहीं है? जगत में किस समय निमित्त नहीं है? हमारे मानने या न मानने से वस्तु-स्थिति तो बदलती नहीं है। स्पष्ट है कि जगत के प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है, तब फिर चिन्तन करें कि इस निमित्त के कारण यह हुआ- यह बात कहां तक टिकती है? और निमित न हो तो नहीं हो सकता, यह प्रश्न भी कहाँ तक टिकता है? यहाँ कार्य होने में और निमित्त होने में कहीं भी समय-भेद नहीं है।

यहाँ निमित्त का अस्तित्व कभी भी नैमित्तिक कार्य की पराधीनता नहीं बतलाता है। वह मात्र अपनी अपेक्षा नैमित्तिक कार्य को प्रकट करता है, जैसे- पूछा जाय कि निमित्त किसका? तब उत्तर दिया जायेगा कि जो नैमित्तिक कार्य हुआ उसका। यह सब बातें दृष्टि की हैं। हम संयोगी दृष्टि से भी देख सकते हैं, वियोगी दृष्टि से भी।

अनेकान्त का आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह है कि वहाँ मुख्यत: गौणता का चिन्तन उपादेयता और हेयता के रूप में होने लगता है। यहाँ आत्मानुभव की प्रबल विधेयात्मकता से शेष समस्त बन्धन स्वरूप प्रतीत होने वाले तत्त्वों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति का सहज कारण बन जाती है।

सिद्धान्त तथा शास्त्रीयता का सहारा लेकर वस्तुस्वरूप को तो यहाँ भी समझा जाता है, किन्तु उसमें से आत्माराधना में जो साधक तत्त्व हैं उनको उपादेय तथा शेष अन्य को हेय बतलाया जाता है। इस क्षेत्र में **सार-सार को गहि लहे, थोथा देइ उड़ाय** वाली सूक्ति का सहारा लिया जाता है। यहाँ जिसे हेय करना है, अतिरेक में उसके प्रति निषेध की भाषा भी मुखरित होने लगती है जो विवाद उत्पन्न करती हैं। पुत्र की धृष्टता से रुष्ट पिता उसे 'तू मेरे लिए मर गया' तक कह देते हैं। यहाँ मात्र दृष्टि-परिवर्तन अर्थ है, वस्तु-परिवर्तन नहीं।

इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि का कथन 'निमित्त कुछ नहीं करता' का भी अभिप्राय समझना चाहिए कि निमित्त मेरे लिए कुछ नहीं। व्यवहार झूठा, जगत मिथ्या जैसे वाक्य मात्र दृष्टि- परिवर्तन की अपेक्षा से कहे जाते हैं, वस्तु-परिवर्तन की अपेक्षा से नहीं। अध्यात्म में भी निमित्ताधीन दृष्टि का निषेध है, निमित्त का नहीं ! निमित्त को कर्ता कहा जाता है, क्योंकि भाषा अक्सर कर्तृत्त्व वाली होती है, किन्तु यह व्यवहार है। वास्तव में वह सिर्फ उपरिथति के शाश्वत नियम के कारण आरोपी बन जाता है या हमारे द्वारा मान लिया जाता है कि यह भी एक सापेक्ष सत्य ही है।

वस्तु-स्थिति क्या है?

निमित्त स्वतंत्र है, वह अपना कार्य करता है। उपादान स्वतंत्र है, वह भी अपना कार्य करता है। दोनों एक साथ रहते हैं और अपना-अपना काम समय पर करते हैं। दोनों पदार्थ एक-दूसरे के लिए परिणमन नहीं कर रहे हैं, मात्र परस्पर उपकार कर रहे हैं। उपकार का अर्थ हमेशा कर्ता नहीं होता है।

दिखाई क्या देता है?

निमित्त उपादान को परिणमा रहा है, उपादान निमित्त को परिणमा रहा है। दोनों एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते- यह शाश्वत नियम है। निमित्तप्रिय लोग सिर्फ निमित्त को देखते हैं तो उन्हें दिखाई देता है कि निमित्त चाहे तो कुछ भी बदल दे, उपादान तो निमित्ताधीन है। उपादानप्रिय लोग सिर्फ उपादान को देखते हैं तो उन्हें दिखाई देता है कि उपादान निमित्त को परिणमा देता है, अत: वही बलवान है, निमित्त तो उसका नौकर है, इसलिए निमित्त तो उपादान के आधीन है।

हम वो मानते हैं जो दिखाई देता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दोनों को सिर्फ देखता है, पर मानता वह है जो वस्तु-स्थिति है।

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन
अध्यक्ष-जैनदर्शन, श्री ला.ब.शा.रा.संस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली।

'अहिंसा' महाव्रत : प्रतिपाद्य

धर्म का मुख्य स्वरूप है 'सदाचार'। 'सत्' का अर्थ है अच्छा। अच्छा यानी नियत में अच्छा। नियत खराब तो उसका आचार भी ऊपर से अच्छा दिखने पर भी अच्छा नहीं। नियत कैसी है यह केवल आचार-पालन करने वाले की अन्तरात्मा ही जान सकती है।

दुर्योधन की नियत साफ नहीं थी, नहीं तो वह कुटिल मामा शकुनि से द्यूत (जुआ) में छल न कराता। इसलिए उसका आचरण छल यानी सत्य से उल्टा था। उसमें भी कारण था 'कामभाव'। काम यानी चाह। राज्य की चाह। शकुनि के पाशे दुर्योधन के पक्ष में ही पड़े, यह तो भीष्म ने भी देखा और द्रोण ने भी, किन्तु यह किसी ने नहीं देखा कि पाशे कूट पाशे थे। उनका प्रयोग छल से भरा था, तथापि उस क्रीडा को भी क्षत्रियधर्म ही समझा गया। गलती पर गलती होती गई और नीचता की हद हो गई जब राजसभा में द्रौपदी के वस्त्र हटाने का अधिकार ठहराया गया, ठहराने वाले थे भीष्म और द्रोण। परिणति अत्यन्त निन्दनीय और अतीव लज्जास्पद रही।

अर्जुन ने क्षात्रधर्म में क्रूरता देखी और उसके कारण महाभारत युद्ध में होने वाले नरसंहार की जो भविष्यवाणी गीता के प्रथम अध्याय में की थी, वही सत्य हुई। इतने नरसंहार को हिंसा का ताण्डव ही कहा जाएगा। हिंसा हिंसक को भी खाती ही है । विषधर सर्प का घातक विष सपेरे के लिए भी विष ही ठहरता है।

हिंसा होती है द्रोह नामक चित्तवृत्ति से। अत: कहा गया- अद्रोह है अहिंसा। द्रोह मानस् धर्म है, अत: यदि मन में द्रोह अङ्कुरित हुआ तो वह बढ़ेगा ही और हिंसा में भी परिणत होगा। महर्षि पतञ्जलि ने मानसिक हिंसा को भी हिंसा नामक प्रायश्चित्तीय पातक (पाप) माना और लिखा सर्वथा अनभिद्रोह है अहिंसा। हिंसा में वध की ही गणना नहीं, वध के संकल्प की भी गिनती है। हिंसा में किसी की भी हिंसा न करने का प्रतिबन्ध है- **सर्वथा, सर्वदा, सर्वभूताऽनभिद्रोह: अहिंसा** (पातञ्जल योगशास्त्र)। तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म द्वारा मान्य अहिंसाव्रत का भी यही रूप है। जैनशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में अहिंसा को एक व्रत कहा गया-

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।।7।।

अहिंसा के लक्षण को तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस प्रकार अपनाया और आगे लिखा- जन्तु अणु भी होते हैं और महत् भी। देश और काल की दृष्टि से आएगा अणुत्व या महत्त्व। अहिंसा व्रत में सर्वथा और सर्वदा विशेषणों से हिंसा के सभी प्रकार अपना लिए गए। उपाय भी बतलाया कि हिंसा से कैसे बचा जाए। लिखा इसके लिए करना चाहिए भावना-

1. सभी जीव मेरे मित्र और हितकारी बन्धु हैं, उनके प्रति करुणा का भाव रखना चाहिए और उनके साथ सङ्घर्ष से दूर रहना चाहिए।

2. यह भी सोचना चाहिए कि हिंसा से पाप होगा और वह परलोक में यातनाकारी होगा।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँच प्रकार की एतदर्थ भावनायें बतलाई हैं -हिंसा का अर्थ भी तत्त्वार्थसूत्र में दिया- **प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**।।7.8॥ 'आवेग से अविवेक में डूबने से होती है हत्या, यानी किसी के प्राणों की समाप्ति। इस प्रकार के अविवेक का अवसर न आए, इसके लिए भावना करनी चाहिए कि अधिक लाभ हो भी गया, तो क्या? है तो यह नश्वर ही। स्वयं भोक्ता भी नश्वर है।

भावनाएँ पाँच पाँच प्रकार की हैं। जैन व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या में कलम तोड़ दी। सिद्धसेन दिवाकर ने पाँच प्रकार की पाँच पाँच चर्या बतलाईं -

(1) वाड्मनोगुप्तीर्यादान-निक्षेपण-समित्यालोकित-पानभोजनादीनि पञ्च।

(2) क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च।

(3) शून्यागारविमोचितावास-परोपकारोद्याकारण-भैक्ष्यशुद्धि-सद्धर्माऽविसंवादाश्च पञ्च।

(4) स्त्रीरोगकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरताऽनुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्व-शरीर-संस्कारत्यागा: पञ्च।

(5) मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रियविषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च।

(सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक 7.3 के व्याख्यान ।)

इस प्रकार 'अहिंसा', एक सामाजिक सङ्गठन का प्रथम सोपान है, इस विषय पर वैदिक योगशास्त्र तथा जैन तत्त्वार्थचिन्तन एकमत सिद्ध है। दोनों आचार्य अतिप्राचीन हैं।

प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी

पूर्व डीन, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, इमेरिटस प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काशी चार जैन तीर्थङ्करों की जन्मभूमि

काशी सर्वधर्म समभाव की नगरी है। यहाँ वैदिक धर्मों में शैव, वैष्णव, शाक्त के अतिरिक्त जैन, बौद्ध आदि धर्मों के अनुयायियों के साथ भक्ति सम्प्रदाय की सन्त परम्परा में कबीरदास, तुलसीदास, रविदास, कीनाराम आदि अनेक सन्त भी हुए। इन्हीं में ही जैन परम्परा के अनेक तीर्थङ्करों का काशी से सम्बन्ध रहा। 24 में से चार तीर्थङ्करों का काशी तथा काशी के समीपवर्ती क्षेत्र में आविर्भाव के लिए हुआ।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्करों की उपासना सुप्रसिद्ध है। इसमें प्रथम तीर्थङ्कर हैं भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थङ्कर हैं महावीर स्वामी। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या में हुआ था तथा चौबीसवें तीर्थङ्कर का वैशाली के कुंडग्राम में। ऋषभदेव जी का चिह्न है बैल और महावीर स्वामी का सिंह। हिन्दू देवीदेवताओं के समान प्रत्येक तीर्थङ्कर का अपना स्वतन्त्र चिह्न माना गया है जो पशु, पक्षी, पुष्प, मत्स्य, शंख, स्वस्तिक इत्यादि के रूप में अङ्कित है।

तीर्थ के निर्माता को तीर्थङ्कर कहा जाता है- **तरति पापादिकं यस्मात् तत् तीर्थम्** - जिससे संसार समुद्र या पापादि को पार किया जाय उसको तीर्थ कहा जाता है और इस प्रकार के तीर्थ के उपदेष्टा को तीर्थङ्कर। संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष तीर्थङ्कर कहलाते हैं। जैन धर्म के तीर्थङ्करों की जन्मभूमि को अत्यन्त पवित्र माना गया है। जैन धर्मावलम्बी इन स्थानों पर जाकर पुण्य लाभ करते हैं।

काशी क्षेत्र का जैन धर्म के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि चौबीस तीर्थङ्करों में से चार तीर्थङ्करों का जन्म काशी तथा काशी के पास के क्षेत्र में हुआ। चौबीस तीर्थङ्करों में सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ, आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ, ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ तथा तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की जन्मस्थली होने का सौभाग्य काशी तीर्थ को प्राप्त है।

1. तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ- जैन परम्परा में सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का जन्म काशी में गङ्गा तट पर स्थित भद्रवनी (भदैनी) में हुआ था। आप इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा सुप्रतिष्ठ के पुत्र थे। इनकी जन्मभूमि में दो दिगम्बर तथा एक श्वेताम्बर परम्परा के भव्य मंदिर बने हुए हैं। भदैनी के समीप स्थित गङ्गातट के घाट को जैन घाट कहा जाता है। यहाँ पर मुख्य रूप से जैन शास्त्रों तथा जैन धर्म से जुड़े ग्रन्थों के अध्ययन तथा अध्यापन हेतु स्यादवाद महाविद्यालय विगत सौ वर्षों से भी अधिक समय से चल रहा है। तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के तीन/चार कल्याणक - **गर्भ, जन्म, तप** और **ज्ञान** काशी तीर्थ में सम्पन्न हुए। जैन धर्म में ज्ञान के पाँच भेद हैं- **मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय** और **केवलज्ञान**। इनमें से पूर्वोक्त ज्ञान के तीन भेद - मति, श्रुत और अवधि इनमें जन्म से ही उपस्थित थे। आपका चिह्न है स्वस्तिक। इनकी प्रतिमाओं में पाँच फणों वाले सर्प को भी कहीं-कहीं अङ्कित किया गया है। जबकि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं में सात फणों वाले नाग का अङ्कन मिलता है। सुपार्श्वनाथ ने अपनी कुल परम्परा से राज्य प्राप्त किया तथा उसका सुचारु रूप से सञ्चालन किया। अपने समस्त संसारिक दायित्वों को अच्छी प्रकार से निभाते हुए एक सफल गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। जीवन की तृतीय अवस्था में सुपार्श्वनाथ जी को वैराग्य की प्राप्ति हो गई। उन्होंने अपने शासकीय दायित्व को अपने पुत्र को सौप दिया और ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को मुनिदीक्षा ग्रहण की। संयम साधनापूर्वक आत्मकल्याण की प्राप्ति के अनन्तर आपने अनेक प्राणियों के कल्याण की कामना से 'समवशरण' नामक धर्मसभा से देशना (उपदेश) प्रारम्भ की। काशी, कोशल, मथुरा, मगध आदि प्रमुख गणराज्यों में प्रचार किया। तत्त्वोपदेश तथा अनेक मङ्गलकारी कार्यों द्वारा सर्वाधिक लोकप्रिय हुए और आपने अनेक जैन मन्दिरों में प्रतिमाएँ स्थापित करायीं। जैन धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश करने के क्रम में अनेक मोक्षाभिलाषी जन आपके अनुयायी बने। हजारों की संख्या में मुनि, आर्यिकाएँ, श्रावक तथा श्राविकाएँ आपके अनुनायी बनते चले गए। इनके 95 गणधर थे। 300ई0 के जैन मुनि समन्तभद्र की स्तुति के अनुसार आप सभी तत्त्वों का प्रामाणिक ज्ञान रखने वाले मुनि हैं। आप हितोपदेश करते हुए माता के समान प्रजाजनों की रक्षा करते रहे।

आपने गुणवान् व्यक्तियों को नेतृत्व प्रदान किया। ऐसे आपका हमारे द्वारा भक्तिपूर्वक स्तवन किया जाता है –

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य।।

जीवन के अन्तिम समय में तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में स्थित सम्मेदशिखर पर पहुँच फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि को विशाखा नक्षत्र में निर्वाण को प्राप्त हुए।

2. तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ– जैन धर्म के तीर्थङ्करों की परम्परा में आठवें तीर्थङ्कर हुए चन्द्रप्रभ जी, जिनका चिह्न चन्द्रमा है। पौषमास के कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन आपका जन्म हुआ। वाराणसी जनपद में गङ्गातट पर चन्द्रपुर में आपकी जन्मस्थली है जो वर्तमान में चन्द्रावती चन्दौली जिले के अन्तर्गत आती है। इसके अन्य नाम चन्द्रानन या चन्द्रमाधव भी हैं।

आपके पिता चन्द्रपुर के इक्ष्वाकुवंशीय कश्यपगोत्रीय महाराज महासेन थे। तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के समान गृहस्थ जीवन व्यतीत कर आप मुनिदीक्षा की ओर उन्मुख हुए। अपने पिता से सम्पूर्ण राज्य का दायित्व उत्तराधिकार में प्राप्त कर राज्य का सुचारु रूप से संचालन किया। विवाह के अनन्तर आपको पुत्र की प्राप्ति हुई। राज्य के परित्याग के पूर्व अपने समस्त सांसारिक दायित्वों का पूरी जिम्मेदारी के साथ निर्वाह किया। आप अन्तर्मन से वैराग्य सम्पन्न ही रहे। भौतिक संसार, पांचभौतिक शरीर और सांसारिक सुखोपभोग की क्षणभङ्गुरता का आभास होने पर आपको परम वैराग्य की प्राप्ति हुई और परम वैराग्य की इस अवस्था में सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया। मुनिदीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपने प्रजाजनों से कहा –

वह सुख ही क्या जो अपनी आत्मा से उत्पन्न न हो।
वह लक्ष्मी ही क्या जो चञ्चल हो।
वह यौवन ही क्या जो नष्ट हो जाने वाला हो।

चन्द्रप्रभ पहाड़ी पर एकमाह तक प्रतिमायोग धारण करने के बाद फाल्गुन कृष्ण सप्तमी तिथि को ज्येष्ठा नक्षत्र में मोक्ष हुआ। आपके यक्ष और यक्षी का नाम क्रमशः विजय या श्याम और ज्वालामालिनी है।

आपकी जन्मभूमि पर दो जैन मन्दिर स्थित हैं जिनमें से एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर जैन परम्परा से सम्बन्धित है।स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में आपका वर्णन करते हुए कहा है –

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तं।
वन्देऽभिवन्द्यं महतां ऋषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्।।

चन्द्रमा की गौर वर्ण की किरणों के समान गौरवर्ण, पृथ्वी पर विचरण करने वाले द्वितीय चन्द्रमा के समान प्रसन्नमना, मुनियों, सिद्धों तथा महात्माओं के द्वारा बन्दनीय, ऋषियों में श्रेष्ठ, समस्त कर्मबन्धनों के विनाशक, अन्तरङ्ग के कालुष्यों को वश में कर लेने वाले भगवान् चन्द्रप्रभ को हम प्रणाम करते हैं।

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः समस्तदुःखक्षयशासनाश्च।।

सम्पूर्ण विश्व में तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ ने जीवन के सर्वोच्च आदर्श को स्थापित किया। उन्होंने सत्य की दिव्य ज्योति अर्जित की। वे अद्भुत कर्म और प्रकाश से सम्पन्न रहे। उन्होंने अनन्त शक्ति के स्रोत केवलज्ञान को प्राप्त किया। उनके उपदेशों में प्राणिमात्र के समस्त दुःखों को समाप्त करने का सामर्थ्य रहा। ऐसे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र मेरी मति को भी शुद्ध करें।

3. तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ– आपका जन्म वाराणसी के समीप स्थित सारनाथ (सिंहपुर) में हुआ था जो बौद्ध धर्म का सुप्रसिद्ध तीर्थ है। आपका चिह्न है गैंडा। आपके पिता इक्ष्वाकुवंशीय महाराज विष्णु थे और माता नन्दा। आपका जन्म फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी को हुआ था। मुनिदीक्षा प्राप्त करने के पूर्व आपने गृहस्थ आश्रम के अपने समस्त सांसारिक दायित्वों का पूरा किया। अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में राजकीय वैभव तथा सुशासन को प्राप्त कर आपने 42 वर्षों तक शासन किया। आपके सुशासन में प्रजा सुखी और समृद्ध रही। विवाह के उपरान्त पुत्रप्राप्ति और उस योग्य पुत्र को सुशासन सौंप कर आप प्रव्रज्या पर निकल पड़े।

प्रतिक्षण ऋतुओं के रूप में प्रत्यक्ष गोचर काल में होने वाले परिवर्तनों को देख इनके चित्त में विचार आया कि कुछ भी स्थायी या नित्य नहीं है। अनित्य पदार्थों के भोग में निरन्तर आसक्त रहने वाला प्राणी स्वयं के अस्तित्त्व को भी

अनित्यता की ओर ले जाता है और विनाश को प्राप्त होता है। वैराग्य की इस अवस्था में श्रेयांसनाथ जी ने माना कि यथार्थत: समस्त संसार विनाशशील है अत: इससे आसक्ति को दूर करना ही उचित होगा। वे परम वैराग्य की अवस्था को प्राप्त हो गए और उन्होंने एकमात्र मोक्षपद को अनश्वर माना जिसकी प्राप्ति मुनिदीक्षा से ही सम्भव थी। उन्होंने अपने सम्पूर्ण राज्य के सुशासन को अपने योग्य पुत्र श्रेयस्कर को उत्तराधिकार में सौंप दिया।

श्रेयांसनाथ जी को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान जन्म से ही प्राप्त थे जो जीवन की एक अवस्था में पहुँचने पर उनमें परम वैराग्य की उत्पत्ति के कारण बने। उन्होंने समस्त सांसारिक बन्धनों या मोहमाया का पूर्णत: परित्याग कर मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनिदीक्षा ग्रहण करते ही उनको मन:पर्यायज्ञान प्राप्त हुआ और उसके दो वर्ष बाद श्रावण मास की पूर्णिमा तिथि पर केवल्यज्ञान की प्राप्ति हुई। केवल्यज्ञान की प्राप्ति के पूर्व आप हजारीबाग जिले में स्थित सम्मेद शिखर पर पहुँच वहीं समाधिस्थ हो गए। अपने समस्त कर्मों को समाधि की इस अवस्था में समाप्त कर स्वयं को पुनर्जन्म के कारणों से मुक्त किया और एक महिने तक योगसाधना करते हुए केवल्यज्ञान को प्राप्त कर पांचभौतिक शरीर का परित्याग किया। इस समाधि प्राप्ति के अवसर को जैन धर्मावलम्बी मोक्षकल्याणक के रूप में पूर्ण श्रद्धा और उत्साह से मनाते हैं।

आपका विशाल मन्दिर वाराणसी के समीप भगवान बुद्ध की तप:स्थली सारनाथ में धमेख स्तूप के बगल में स्थित है। बौद्ध धर्म के सर्वोच्च तीर्थ सारनाथ में स्थित आपका मन्दिर काशी में धार्मिक समन्वय का अभूतपूर्व सन्देश देता है। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् श्रेयांसनाथ की स्तुति करते हुए कहा है –

श्रेयान् जिन: श्रेयसि वर्त्मनीमा: श्रेय: प्रजा शासदजेयवाक्य:।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान्।।

बादलों से रहित सूर्य के समान तेजस्वी श्रेयांसनाथ कल्याण के मार्ग पर निरन्तर गतिशील रहते हुए तीनों लोकों में सुशोभित हो रहे हैं। आप सभी प्रकार के शत्रुओं के विनाशक हैं। आपने प्रजाजनों के चित्त पर शासन किया अपने अजेय उपदेशवाक्यों से।

4. तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ – चौबीस तीर्थङ्करों की महान् परम्परा में वर्धमान महावीर के आविर्भाव के 200 वर्ष पूर्व तेइसवें तीर्थङ्कर के रूप में अवतार हुआ पार्श्वनाथ जी का, काशी के मध्य में स्थित भेलूपुर क्षेत्र में। आपका चिह्न सर्प (नाग) है। आपके पिता थे उग्रवंशीय क्षत्रिय महाराज अश्वसेन या विश्वसेन। आपकी माता थी वामादेवी। वैशाख मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया के दिन विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में माता वामादेवी को 16 मांगलिक लक्षणों का स्वप्न हुआ। माता ने पार्श्वनाथ के पूर्वजन्म आनतेन्द्र की आत्मा को अपने अन्दर धारण किया। आनत स्वर्ग से नौ महिने गर्भ में रहने के उपरान्त पौष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन माता वामादेवी ने एक बालक को जन्म दिया। उस समय अनिल योग था और नक्षत्र था विशाखा। यही बालक बाद में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। बालक पार्श्वनाथ ने अपने जीवनकाल के 30 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया और पौष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन 300 राजाओं के साथ मुनिदीक्षा को प्राप्त कर गए। तपश्चर्या के मार्ग पर अनेक समस्याएँ आयीं परन्तु वे अविचलित रहे तब तक जब तक कि उनको केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो गयी।

आपने काशी, कोशल, पांचाल, मगध, अवन्ती, अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग आदि जनपदों में व्यापक रूप से भ्रमण करते हुए जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। आपका प्रधान उद्देश्य था सांसारिक कष्टों से आक्रान्त जनमानस को आत्मकल्याण की ओर प्रेरित करना। आपके अन्दर जन-जन के कल्याण की भावना कूट कूट कर भरी हुई थी।

आपने जैन धर्म के अनुसार जनकल्याण के लिए स्थापित किए गए अहिंसा, सत्य, आदि के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रचार किया। धर्मान्धिता, पाखंड, ऊँच-नीच की भावना का निषेध करते हुए इनको समाज के एकीकरण तथा उसकी उन्नति में बाधक मान त्याज्य माना।

काशी में जन्म लेने वाले तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ जी को बिहार के हजारीबाग में स्थित सम्मेद शिखर पर प्रतिमायोग से मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हुई। इसके पूर्व उन्होंने समाधि की अवस्था को प्राप्त कर अपने समस्त कर्मों को विनाश किया। आपकी पहचान है सप्तफणावली (नव तथा सहस्र फणालियाँ) और पादपीठ के मध्य सर्पचिह्न। आपकी आज उपलब्ध अधिकांश मूर्तियों में ये चिह्न अङ्कित प्राप्त होते हैं। इनसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की पहचान होती है। वैदिक वाङ्मय के प्रधान ग्रन्थ उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का काफी प्रभाव रहा है। काशी के